सामाजिक विघटन और भारत

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन-भवन, कदमकुआँ
पटना—८००००३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार (शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ११३

प्रथम संस्करण : जुलाई, १९७४
२०००

मूल्य : २५·००

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन-भवन, कदमकुआँ,
पटना-८०००३

मुद्रक
रामनरेश सिंह
वाल्मीकि प्रेस
पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्व-विद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशत: केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकारों द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक 'सामाजिक विघटन और भारत' श्री श्रीकृष्ण दत्त भट्ट की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। समाज-विज्ञान के छात्रों के लिए इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

पटना
दिनांक १०-७-७४

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
शिक्षा मंत्री, बिहार सरकार

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ—"सामाजिक विघटन और भारत" श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट की मौलिक कृति है। भट्ट जी इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र पर समान अधिकार से लिखते हैं। इनके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हैं। "सामाजिक विघटन और भारत" समाज विज्ञान विषयक ग्रंथ है। हिंदी में ऐसे ग्रंथों की कमी है। आशा है इस ग्रंथ से समाज विज्ञान के विद्यार्थियों को लाभ होगा।

इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य वाल्मीकि प्रेस में हुआ है और इसके प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री सदानन्द झा ने किया है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना
दिनांक-१०-७-७४

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

भूमिका

आज हम देखते हैं कि व्यक्ति टूट रहा है, परिवार टूट रहा है, समुदाय टूट रहा है और कुल मिलाकर समाज टूट रहा है। सामाजिक विघटन की यह प्रक्रिया अत्यंत तीव्र गति से चालू है। यह विघटन कितना व्यापक और सर्वगामी है, इसने समाज के ढांचे को किस प्रकार जर्जरित कर दिया है, इसने कौन-कौन विषम सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं, उन समस्याओं के कारण क्या हैं और उनका समाधान क्या हो सकता है,—प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं सब बातों का भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

× × ×

पुस्तक ३ खंडों और ३० अध्यायों में विभाजित है। प्रथम खंड में विषय-प्रवेश है। द्वितीय खंड में सामाजिक विघटन की समस्याएँ हैं। तृतीय खंड में पुनर्निर्माण के साधनों, कार्यों और उपायों का विवेचन है।

विषय-प्रवेश दो भागों में विभाजित है—(क) सामाजिक पृष्ठभूमि, और (ख) भारतीय समाज।

सामाजिक पृष्ठभूमि में सामाजिक चिंतन, सामाजिक संगठन, सामाजिक विघटन, सामाजिक समस्या और सामाजिक व्याधिकी की चर्चा है।

भारतीय समाज के अंतर्गत भारत के सामाजिक संगठन और विघटन की चर्चा है।

पहला अध्याय सामाजिक चिंतन पर है। चिंतन की ही आधारशिला पर वैचारिक प्रासाद खड़ा होता है। यही विचार आगे चलकर मूर्तिमंत होता है। यों तो एकदेशीय चिंतन भी हो सकता है, परंतु वह अधूरा रहता है। लोकचिंतन, धार्मिक चिंतन, दार्शनिक चिंतन, भौतिक चिंतन, मनोवैज्ञानिक चिंतन, सामाजिक चिंतन,—ऐसी चिंतन की अनेक धाराएँ आदिकाल से प्रवाहित होती आ रही हैं। परंतु केवल किसी एक धारा से जीवन का काम नहीं चलता। जब चिंतन सर्वव्यापी बनता है, तभी उसका परिपाक होता है और तभी उससे यथेच्छ लाभ उठाया जा सकता है।

समाजशास्त्र में चिंतन को अधिकतम व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। इसका क्षेत्र अत्यंत विशाल है। आत्मज्ञान और विज्ञान, सभी इससे सम्बद्ध हैं। सबके संयुक्त प्रयास से ही सामाजिक चिंतन समग्र चिन्तन का स्वरूप ग्रहण करता है। जीवन कोई 'वायुनियंत्रित' (एयरटाइट) कम्पार्टमेंट नहीं है। उसके खंड नहीं किये जा सकते। कहने के लिए कुछ विभाग भले ही बना लिये जायँ, परंतु उसके विकास के लिए यह आवश्यक है कि जीवन को समग्र रूप में देखा जाय और उसी दृष्टि से उसकी समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया जाय।

जब हम समाज और सामाजिक संगठन पर विचार करते हैं तो हमें उसके विभिन्न प्रकारों और स्वरूपों पर भी विचार करना होता है। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संगठन की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, उसकी संरचना की विशेषताएँ बतायी है, सामाजिक संगठन के तत्व निर्धारित किये हैं, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन, उसके परिणाम और सामाजिक अंतःक्रियाओं के प्रश्नों पर विशद चर्चा की है। दूसरे अध्याय में इसी का विवेचन करते हुए सामाजिक संगठन की आधुनिक स्थिति बतायी गयी है।

तीसरे अध्याय में सामाजिक विघटन की चर्चा है। सामाजिक विघटन की परिभाषाएँ देने के उपरांत विघटन की विशेषताएँ और विघटन के लक्षण बताये गये हैं। जब एकमत्य का अभाव होता है, रूढ़ियों और संस्थाओं में द्वंद्व छिड़ जाता है, सामूहिक आदर्शों का ह्रास होने लगता है, सामाजिक नियंत्रण की पकड़ ढीली हो जाती है, सामाजिक परिवर्तन में तीव्रता आ जाती है और व्यक्तिवाद तथा स्वार्थवाद खुल खेलने लगता है तो स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विघटन आरंभ हो गया।

इस अध्याय में सामाजिक विघटन की प्रकृति, क्षेत्र, प्रकार और प्रभावों की चर्चा करते हुए विघटन के विभिन्न कारणों का विवेचन किया गया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, संवैधानिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा ऐसे ही अन्य कितने कारक विघटन के लिए उत्तरदायी होते हैं। समाजशास्त्रियों ने विघटन के कितने ही सिद्धांत, खोज निकाले हैं। जैसे, सामाजिक समस्या सिद्धांत, मनोजैवकीय सिद्धांत, भौगोलिक सिद्धांत, सांस्कृतिक सिद्धांत, सावयवी सिद्धांत, धार्मिक सिद्धांत, अध्यात्मवादी सिद्धांत आदि। इन सभी सिद्धांतों का अपना-अपना महत्व है। इनकी चर्चा करते हुए विघटन के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन किया गया है।

व्यक्ति, परिवार और समुदाय से बढ़ते-बढ़ते विघटन जब अंतर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है तो क्रांति और युद्ध के रूप में उसका विस्फोट होता है। क्रांति क्यों होती है, कैसे होती है, उसका लक्ष्य, उसकी परिभाषा, उसके प्रकार और उसकी प्रक्रिया का वर्णन करने के उपरांत क्रांति का प्रभाव बताया गया है। साथ ही युद्ध, उसकी परिभाषा, प्रकृति और प्रकार बताते हुए युद्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। कभी आर्थिक लाभ के लिए, कभी विजय की दुंदुभि बजाने के लिए और कभी अपने विशिष्ट मत का विस्तार और प्रचार करने के लिए रक्त की जो नदियाँ बहायी जाती हैं, करोड़ों ही नहीं अरबों रुपये यों ही फूंक दिये जाते हैं, लाखों सधवाओं का सिंदूर पोंछ दिया जाता है, करोड़ों बच्चे अनाथ बना दिये जाते हैं, लाखों व्यक्ति सदा के लिए अपंग हो जाते हैं—इसका कोई उपचार नहीं है क्या? उपचार तो है, पर युद्धोन्मादी राष्ट्र उस ओर ध्यान दें तब तो!

चौथे अध्याय में सामाजिक समस्या की प्रकृति, परिभाषा, उत्पत्ति, उसके प्रकार और अध्ययन-पद्धतियों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि किस प्रकार अध्ययन और विवेचन द्वारा सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। भारत की सामाजिक समस्याओं की सामान्य चर्चा करते हुए समाधान के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्याय में सामाजिक व्याधिकी का विवेचन है। उसकी अवधारणा, क्षेत्र, उपयोगिता आदि की चर्चा करते हुए अपराध की अवधारणा उसके प्रकार, अपराधी और अपराधियों के वर्गीकरण का विवेचन किया गया है। नैतिकता से और पाप से अपराध का संबंध बताते हुए उसके विभिन्न संप्रदायों और उसकी अनेक धाराओं की चर्चा की गयी है। बताया गया है कि शास्त्रीय, भौगोलिक, परिस्थितिकी, समाजवादी, प्रारूपवादी और समाजशास्त्रीय संप्रदायों में किन तथ्यों पर जोर दिया गया है तथा लोम्ब्रोसियन, मानसिक परीक्षण और मनोवैकारिकीय धाराओं की क्या विशेषताएँ हैं। अपराधों के वैयक्तिक, वंशानुक्रमीय, शारीरिक, मानसिक, भौगोलिक, पारिवारिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कारणों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि अपराधशास्त्र क्या है, उसकी परिभाषा, क्षेत्र, महत्त्व और अध्ययन-पद्धतियाँ क्या हैं। अपराधनिरोध के उपायों की चर्चा करते हुए दंड, दंड की परिभाषा, प्रायश्चित्त, प्रतिशोध, प्रतिरोध, निरोध, सुधार आदि के दंड सिद्धांतों और संप्रदायों का वर्णन किया गया है। तीव्रतम दंड प्राण-

दंड, उसकी परिभाषा, विशेषता और उसकी विधियों की चर्चा करते हुए उसके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। दंड के प्रकार, बंदीगृह, उसके तत्व, उद्देश्य, उसकी आवश्यकता और उसका इतिहास बताते हुए अपराध-निरोधक कानून और सुधार-संस्थाओं की चर्चा की गयी है तथा अपराध-निरोध के लिए प्रेममार्ग का सुझाव दिया गया है।

छठे अध्याय में भारत के सामाजिक संगठन का विस्तृत विवेचन है। आध्यात्मिकता की आधारशिला पर खड़े भारत के सामाजिक संगठन में पुरुषार्थ और मानव के सर्वांगीण विकास की ही मूल योजना थी। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि वैदिक कल्पना का मुक्त पुरुष ही स्थितप्रज्ञ है, भक्त है, गुणातीत है और वही ब्राह्मण है।

× × ×

द्वितीय खंड में सामाजिक विघटन की समस्याओं का विवेचन है। उसके तीन भाग हैं—(क) वैयक्तिक विघटन की समस्याएँ, (ख) पारिवारिक विघटन की समस्याएँ और (ग) सामुदायिक विघटन की समस्याएँ।

सातवें अध्याय में वैयक्तिक विघटन, उसका अर्थ, परिभाषा, प्रक्रिया और विघटन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक कारक देते हुए भारत में वैयक्तिक विघटन की स्थिति बतायी गयी है।

आठवें अध्याय में बाल-अपराध का विवेचन है। अपराधों की उत्तरोत्तर वृद्धि सभी के लिए चिंता का विषय है। यहाँ बाल-अपराधों की परिभाषा, प्रकृति, लक्षण आदि देकर बाल-अपराधियों का वर्गीकरण किया गया है। बाल-अपराधों के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामुदायिक कारकों पर प्रकाश डाला गया है। युद्ध भी इन अपराधों की वृद्धि का एक कारण है। बाल-अपराधों के निवारण के उपाय बताते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि बालकों का लालन-पालन उचित रीति से हो, उनकी शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था हो। बाल मनोविज्ञान का अध्ययन करके इस क्षेत्र में उसका समुचित उपयोग किया जाय। उत्तम संग-साथ, उत्तम पर्यावरण, स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था हो। मनोवैज्ञानिक उपचार की उत्तम व्यवस्था रहे, परिवीक्षण अधिकारी अच्छे हों, सुधार-संस्थाएँ अपने कर्त्तव्य का पालन करें और क्षमा की भावना का विकास करके बाल-अपराधों को मिटाने का प्रयत्न किया जाय।

अध्ययन दल की रिपोर्ट की मुख्य बातों की चर्चा करके नशा-निवारण के उपाय बताये गये हैं और इस व्यसन से मुक्त होने के लिए 'एलकोहोलिक्स एनोनीमस' का उदाहरण देकर आत्मोद्धार के निमित्त शिव संकल्प की महत्ता बतायी गयी है ।

बारहवें अध्याय में आत्महत्या की शाश्वत समस्या का विवेचन है । आत्महत्या के प्रकार, उसकी प्रकृति, उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए समस्या की गहनता बतायी गयी है। आत्महत्या के धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, उसकी परिभाषा, उसके संबंध में समाजशास्त्रियों के विभिन्न सिद्धांत देकर आत्महत्या के वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय कारणों पर प्रकाश डाला गया है । भारत में आत्महत्याओं के आंकड़े और उनके कारण देकर निवारण के उपाय बताये गये हैं।

× × ×

अध्याय १३ से लेकर १६ तक में पारिवारिक विघटन की समस्याओं का विवेचन किया गया है। परिवार मानव समाज की मूल इकाई है, पर आज यह इकाई स्वार्थ के प्राबल्य के कारण विघटन की दिशा में बढ़ रही है। तेरहवें अध्याय में परिवार का महत्त्व बताते हुए इस विषय के शोधों के परिणाम दिये गये हैं। परिवार की उत्पत्ति, उसके प्रकार्य, प्रकार, लक्षण और गुण-दोष बताते हुए पारिवारिक विघटन का अर्थ दिया गया है तथा विघटन के प्रकार और उसके कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इस विघटन को रोकने के लिए सामंजस्य, त्याग, सहयोग और प्रेम पर बल दिया गया है। यही वह मार्ग है जिससे परिवार पुनः आनंद के केंद्र बनाये जा सकते हैं।

भारत में गृहस्थ धर्म को जो महत्ता प्राप्त थी, उसका विवेचन करते हुए चौदहवें अध्याय में भारत के पारिवारिक विघटन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों पर प्रकाश डाला गया है। चित्त की अव्यवस्थित स्थिति, पति-पत्नियों की शिकायतें, अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधाएँ, वासना, मूल्यों में संघर्ष, नारी स्वातंत्र्य, आर्थिक परवशता, औद्योगीकरण, कुशिक्षा, उत्तराधिकार के कानून, परस्पर विरोधी कार्य आदि अनेक कारण भारतीय परिवार को विघटन की ओर ढकेल रहे हैं। त्याग और प्रेम के पुट से ही इस विघटन को रोका जा सकता है।

पंद्रहवें अध्याय में भारतीय नारी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताते हुए उसकी वर्तमान अवहेलना पर प्रकाश डाला गया है। पर्दा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज आदि के भयंकर परिणामों की चर्चा करते हुए स्थिति सुधारने के उपाय बताये गये हैं। स्वातंत्र्य काल में नारी की स्थिति धीरे-धीरे सुधर रही है, पर उसे उत्तम दिशा में मोड़ना आवश्यक है।

सोलहवें अध्याय में विवाह-विच्छेद की समस्या का विवेचन किया गया है। वेद-स्मृति, कुरान-बाइबिल के विवाह संबंधी मंत्रों और आयतों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि विवाह-संस्कार में सभी ने पावित्र्य पर सर्वाधिक बल दिया है। आज उस पावित्र्य पर सभी दिशाओं से प्रहार हो रहा है। विवाह-विच्छेद की अवधारणा और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर भारत में विवाह-विच्छेद की स्थिति बतायी गयी है। विवाह-विच्छेद के आँकड़े देकर विच्छेद कानून के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। विच्छेद टालने के उपाय सुझाते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि नारी की विवशता का लाभ न उठाकर दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य बढ़ाने के भरपूर प्रयत्न होने चाहिए, तभी इस समस्या का निराकरण संभव है।

× × ×

अध्याय १७ से २७ तक में सामुदायिक विघटन की समस्याओं का विवेचन किया गया है। इनमें जातिवाद, अस्पृश्यता, सांप्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, औद्योगीकरण, नागरीकरण, बेकारी, श्रमसमस्या, भिक्षावृत्ति, निर्धनता, अपराध और भ्रष्टाचार जैसी सर्वस्पर्शी समस्याओं का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है।

सत्रहवें अध्याय में समुदाय, उसका अर्थ, परिभाषा और उसकी विशेषताएँ बताते हुए सामुदायिक विघटन की अवधारणा स्पष्ट की गयी है। उसके स्वरूप का वर्णन करके विघटन के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। भारत में सामुदायिक विघटन की प्रमुख समस्याएँ, उनके कारण, प्रभाव और परिणाम की चर्चा की गयी है।

जातिवाद भारत की प्रमुख सामुदायिक समस्या है। संविधान में हमने जातिवाद मिटाने की प्रतिज्ञा ली है, पर वह पूरी कहाँ हो पायी है? अठारहवें अध्याय में जातिवाद, उसका अर्थ, परिभाषा, विशेषता, उसकी उत्पत्ति का इतिहास, ऊँचनीच का भेद, विषैली लोकोक्तियाँ, भ्रामक धारणाएँ

अध्ययन दल की रिपोर्ट की मुख्य बातों की चर्चा करके नशा-निवारण के उपाय बताये गये हैं और इस व्यसन से मुक्त होने के लिए 'एलकोहोलिक्स एनोनीमस' का उदाहरण देकर आत्मोद्धार के निमित्त शिव संकल्प की महत्ता बतायी गयी है ।

बारहवें अध्याय में आत्महत्या की शाश्वत समस्या का विवेचन है । आत्महत्या के प्रकार, उसकी प्रकृति, उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए समस्या की गहनता बतायी गयी है । आत्महत्या के धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, उसकी परिभाषा, उसके संबंध में समाजशास्त्रियों के विभिन्न सिद्धांत देकर आत्महत्या के वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय कारणों पर प्रकाश डाला गया है । भारत में आत्महत्याओं के आंकड़े और उनके कारण देकर निवारण के उपाय बताये गये हैं ।

अध्याय १३ से लेकर १६ तक में पारिवारिक विघटन की समस्याओं का विवेचन किया गया है । परिवार मानव समाज की मूल इकाई है, पर आज यह इकाई स्वार्थ के प्रावल्य के कारण विघटन की दिशा में बढ़ रही है । तेरहवें अध्याय में परिवार का महत्त्व बताते हुए इस विषय के शोधों के परिणाम दिये गये हैं । परिवार की उत्पत्ति, उसके प्रकार्य, प्रकार, लक्षण और गुण-दोष बताते हुए पारिवारिक विघटन का अर्थ दिया गया है तथा विघटन के प्रकार और उसके कारणों पर प्रकाश डाला गया है । इस विघटन को रोकने के लिए सामंजस्य, त्याग, सहयोग और प्रेम पर बल दिया गया है । यही वह मार्ग है जिससे परिवार पुनः आनंद के केंद्र बनाये जा सकते हैं ।

भारत में गृहस्थ धर्म को जो महत्ता प्राप्त थी, उसका विवेचन करते हुए चौदहवें अध्याय में भारत के पारिवारिक विघटन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आर राजनीतिक कारणों पर प्रकाश डाला गया है । चित्त की अव्यवस्थित स्थिति, पति-पत्नियों की शिकायतें, अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधाएँ, वासना, मूल्यों में संघर्ष, नारी स्वातंत्र्य, आर्थिक परवशता, औद्योगीकरण, कुशिक्षा, उत्तराधिकार के कानून, परस्पर विरोधी कार्य आदि अनेक कारण भारतीय परिवार को विघटन की ओर ढकेल रहे हैं । त्याग और प्रेम के पुट से ही इस विघटन को रोका जा सकता है ।

पंद्रहवें अध्याय में भारतीय नारी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताते हुए उसकी वर्तमान अवहेलना पर प्रकाश डाला गया है। पर्दा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज आदि के भयंकर परिणामों की चर्चा करते हुए स्थिति सुधारने के उपाय बताये गये हैं। स्वातंत्र्य काल में नारी की स्थिति धीरे-धीरे सुधर रही है, पर उसे उत्तम दिशा में मोड़ना आवश्यक है।

सोलहवें अध्याय में विवाह-विच्छेद की समस्या का विवेचन किया गया है। वेद-स्मृति, कुरान-बाइबिल के विवाह संबंधी मंत्रों और आयतों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि विवाह-संस्कार में सभी ने पावित्र्य पर सर्वाधिक बल दिया है। आज उस पावित्र्य पर सभी दिशाओं से प्रहार हो रहा है। विवाह-विच्छेद की अवधारणा और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर भारत में विवाह-विच्छेद की स्थिति बतायी गयी है। विवाह-विच्छेद के आंकड़े देकर विच्छेद कानून के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। विच्छेद टालने के उपाय सुझाते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि नारी की विवशता का लाभ न उठाकर दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य बढ़ाने के भरपूर प्रयत्न होने चाहिए, तभी इस समस्या का निराकरण संभव है।

× × ×

अध्याय १७ से २७ तक में सामुदायिक विघटन की समस्याओं का विवेचन किया गया है। इनमें जातिवाद, अस्पृश्यता, सांप्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, औद्योगीकरण, नागरीकरण, बेकारी, श्रमसमस्या, भिक्षावृत्ति, निर्धनता, अपराध और भ्रष्टाचार जैसी सर्वस्पर्शी समस्याओं का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है।

सत्रहवें अध्याय में समुदाय, उसका अर्थ, परिभाषा और उसकी विशेषताएँ बताते हुए सामुदायिक विघटन की अवधारणा स्पष्ट की गयी है। उसके स्वरूप का वर्णन करके विघटन के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। भारत में सामुदायिक विघटन की प्रमुख समस्याएँ, उनके कारण, प्रभाव और परिणाम की चर्चा की गयी है।

जातिवाद भारत की प्रमुख सामुदायिक समस्या है। संविधान में हमने जातिवाद मिटाने की प्रतिज्ञा ली है, पर वह पूरी कहाँ हो पायी है? अठारहवें अध्याय में जातिवाद, उसका अर्थ, परिभाषा, विशेषता, उसकी उत्पत्ति का इतिहास, ऊँचनीच का भेद, विषैली लोकोक्तियाँ, भ्रामक धारणाएँ

गया है, इसका विवेचन करते हुए जाति-प्रथा के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला गया है। आज जाति-प्रथा सामाजिक असमानता, महिलाओं की उपेक्षा, श्रमतिरस्कार और राष्ट्रीय एकता में वाधक के रूप में खड़ी है। माना इधर जाति के बंधन कुछ शिथिल हुए हैं, जातिविरोधी आंदोलनों का कुछ प्रभाव पड़ा है पर जाति-प्रथा की जड़ें वहुत गहरी हैं। जातिवाद का उन्मूलन करने के लिए चतुर्मुखी प्रयत्न करना पड़ेगा, अन्यथा जातिवाद भारत के गणतंत्र को निगल जायगा।

उन्नीसवें अध्याय में जाति-प्रथा की देन अस्पृश्यता का विवेचन है। अस्पृश्य जातियों के संवंध में उच्चनामधारी जातियाँ आज भी अपने मानस में कैसी धारणाएँ वसाए वैठी हैं, इसका उदाहरण देते हुए बताया गया है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति कैसे हुई और अब उसका निवारण कैसे किया जा सकता है। इस कार्य में गाँधीजी के योगदान की चर्चा करते हुए अस्पृश्यता-निवारण के उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

बीसवें अध्याय में सांप्रदायिकता की विषम समस्या का विवेचन है। साम्प्रदायिकता का अर्थ, परिभाषा और इतिहास देते हुए गाँधीजी के बलिदान की चर्चा की गयी है। साम्प्रदायिकता की प्रकृति और उसके स्वरूप का वश्लेषण करते हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है ध और बाजे का प्रश्न, देवस्थानों की अवमानना, धार्मिक जुलूस, परस्पर वास, पूर्वाग्रह, संदेह, भय, आर्थिक कारण, संकीर्ण राजनीति, अराजक व, अफवाहें आदि मिल कर जो गजब ढाती हैं और उसके प्रवाह में ष्य कैसे विना सोचे-समझे रक्त की होली खेलने लगता है,—इसका विवेचन हुए राउरकेला और काशी के दंगों के अध्ययन का सारांश दिया गया है। साम्प्रदायिकता के क्षेत्र और प्रभाव का वर्णन करते हुए बताया गया है कि एकता की प्रतिज्ञा, आत्माहुति की तैयारी, प्रशासनिक कड़ाई, सहजीवन और धार्मिक एकता के लिए सक्रिय प्रयत्न द्वारा विषम समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

इक्कीसवें अध्याय में भाषावाद और क्षेत्रवाद की समस्या का विवेचन है। भारतीय भाषाओं और भाषावाद की चर्चा करते हुए भाषावाद की परिभाषा बतायी गयी है। भाषावाद का इतिहास वताते हुए भाषावार प्रांतों की मांग और विभिन्न आयोगों के निर्णयों पर प्रकाश डाला गया है। तत्संवंधी आंदोलन और उपद्रवों का वर्णन करते हुए विनोबा के अनशन और आज की

अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद पुस्तक देखकर आशीर्वाद के दो शब्द लिख भेजे।

पुस्तक के प्रकाशन के लिए लेखक बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के प्रति और उसके (स्वर्गीय) अध्यक्ष डॉक्टर लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'; पूर्व सचिव डॉक्टर शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न, डी० लिट० और वर्तमान कार्यकारी अध्यक्ष श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता है, जिनकी कृपा से यह पुस्तक इतनी शीघ्रता से प्रकाश में आ सकी।

वाराणसी—२
१५ अगस्त, १९७४ ई०

विनीत
श्रीकृष्णदत्त भट्ट

खंड १

विषय-प्रवेश

(क) सामाजिक पृष्ठभूमि

अध्याय : १

सामाजिक चिंतन

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहवर।
अरे रामा, तेहि तर ठाढ़ि हरिनियां त मन अति अनमनि ॥
धरतँ चरन हरिन के त हरिनवां पूंछइ।
हरिनी ! का तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ।
नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझेंउ।
हरिना आजु राजा जी की छट्ठी तुम्हहिं मारि डरिहैं।
मचियै बैठीं कौसल्या रानीं, हरिनी अरज करइ।
रानी, मँसवा त सिझहि करहिया, खलरिआ हमें देतिउ ॥
पेड़वा त टंगतिउँ खलरिआ, ता हेरि-हेरि देखतिउँ।
रानी देखि-देखि मन समझइतिउँ, जनुक हिरना जियतइ ॥
जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देवइ।
हरिनि, खलरी के खंजड़ी मढउवइ त राम मोर खेलिहँइ ॥
जब-जब बाजै खंजड़िआ सबद सुनि अनकइ।
हरिनी ठाढ़ि बकुलिया के नीचे हिरन के विसूरइ ॥

सर्वव्यापी चिंतन—

कितना भावना-प्रवण है यह छोटा-सा लोकगीत। हरिण उदासीन हरिणी को देखकर उसकी उदासी का कारण पूछता है, तो वह कहती है कि "आज दशरथ के महल में राम की छठी का उत्सव है, जिसमें तुम्हें मार डाला जायगा।'

कड़ाही में हरिण का मांस पक रहा है। मचिया पर बैठी रानी कौशल्या से हरिणी प्रार्थना करती है—'रानी, मुझे हरिण की खाल ही दे दो। पेड़ पर उसे लटकाकर मैं अपने जी को संतोष दे लिया करूँगी—कहीं पल भर को उसमें प्राण का संचार हो जाय !'

रानी उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं करतीं। कहती हैं—'जा हरिणी, तू अपने घर। इस खलड़ी से मैं खंजड़ी मढ़वाऊँगी। हमारे राम उससे खेलेंगे।'

जब-जब खंजड़ी की आवाज हरिणी के कानों में पड़ती है, तब-तब वह ढाक के वृक्ष के नीचे खड़ी होकर हरिण के लिए रोती है।

पशु-जगत के साथ मानव हृदय के तादात्म्य की यह भावना कितनी करुण है। प्रेम के इस कोमल तार की झनझनाहट में सारा प्राणीजगत एक हो जाता है। यह है मानव का सर्वव्यापी चिंतन।

चिंतन की धाराएँ

मानवीय चिंतन की अनेक धाराएँ हैं। अनादि काल से मानव चिंतन करता आया है। भौतिक से लेकर आध्यात्मिक तक, धार्मिक से लेकर दार्शनिक तक, आर्थिक से लेकर सामाजिक तक, पारिवारिक से लेकर राजनीतिक तक नाना धाराओं में उसकी चिंतन प्रक्रिया प्रवाहित होती रही है। सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर मानव चिंतन करता आया है, स्थूल का तो कहना ही क्या !

चिंतन, मनन और निदिध्यासन ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग हैं। भारतीय विचारकों ने इस दिशा में जितना गहन और गंभीर चिंतन किया है, उसका उदाहरण अन्यत्र प्राप्त होना कठिन है। चिंतन की प्रमुख धाराएँ इस प्रकार रही हैं—
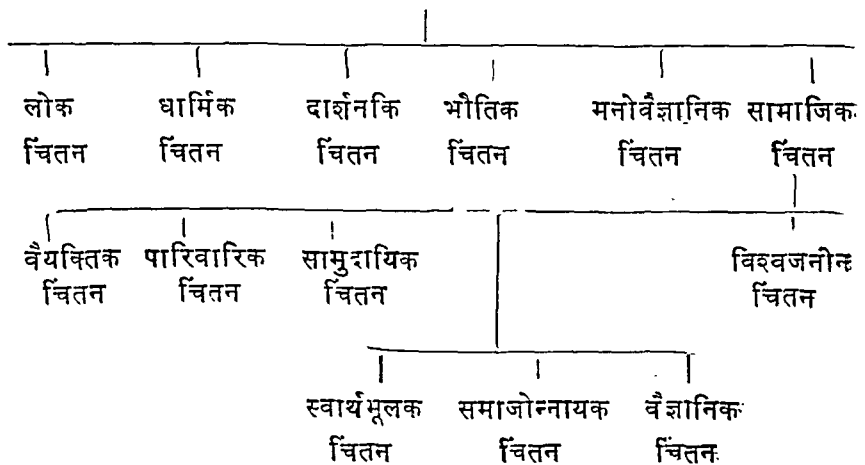
पृथ्वी पर पदार्पण करते ही, आँखें खोलते ही मानव शिशु के समक्ष एक ओर प्रकृति का मनोहारी दृश्य उपस्थित था, दूसरी ओर उसकी माँ, पिता, भाई, बहन आदि परिवार के अन्य सदस्यों के स्नेहसिक्त चेहरे थे। दोनों की छत्र-छाया में वह दिन-दिन प्रस्फुटित होता चला। पुष्ट होता चला। बढ़ता चला।

दिन-दिन उसकी जिज्ञासा बढ़ने लगी। जिज्ञासा ठहरी ज्ञान की जननी। जिज्ञासा के विना ज्ञान नहीं होता। 'कोऽहं' 'कस्त्वं' 'कुत आयातः'—'मैं कौन', 'तू कौन', 'कहाँ से आना हुआ मेरा ?'—जिज्ञासा की यह आदि भूमिका पुष्पित- पल्लवित हो उठी। इसी जिज्ञासा की गोद से ज्ञान एवं विज्ञान की शत-शत धाराएँ फूटने लगीं।

आधुनिक समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि मानव का चिंतन लोकचिंतन से, लोकगीतों से, लोककथाओं से आरंभ होता है।

लोकचिंतन

लोकचिंतन के अंग हैं—विश्वास एवं आचरण-अभ्यास, रीति-रिवाज, लोकगीत, लोककथाएँ और लोकोक्तियाँ।

लिवरपूल विश्वविद्यालय के नृविज्ञान के प्राध्यापक सर जेम्स फ्रेजर (१८५४-१९४१) ने तो बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—'आज के वैज्ञानिक अनुसंधान पूरी शक्ति से इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि विश्व की प्रत्येक सभ्य नस्ल की यात्रा का श्रीगणेश आदिम बर्बर अवस्था से हुआ है जिसके अवशेष आज भी आदिम जातियों में दृष्टिगोचर होते हैं।'[१] टायलर का कहना है कि 'अत्यंत प्राचीन काल में अदिम मानव की समग्र जाति में जो विश्वास आदि उद्भूत हुए, वे आज भी लोकवार्ता के रूप में परंपरया चले आते हैं।'[२] ओरेलियो एम० ऐसपिनोजा ने संक्षेप में ही इस तथ्य की अभि-व्यक्ति की है—'लोकवार्ता को आदिमकालीन मानव के मानस की सत्य एवं प्रत्यक्ष अनुभूति का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है।'

लोकवार्ता में लोकमानस का चिंतन प्रकट होता है। उसका धार्मिक चिंतन से घनिष्ठ संबंध बताया जाता है। आदिम मानव के समक्ष सूर्य एवं चन्द्र, जल एवं वायु, पत्र एवं पुष्प, नदी एवं पर्वत जैसी आकर्षक एवं उपयोगी प्रकृति मूर्ति-मान है, दूसरी ओर उसके समक्ष थी विद्युत् एवं बाढ़, तूफान एवं झंझावात, रोग एवं मृत्यु। प्रकृति के सौंदर्य को देखकर जहाँ उसका हृदय

धार्मिक चिंतन

---

१. फ्रेजर : मैन, गॉड एण्ड इम्मार्टेलिटी, १९२७, पृष्ठ ४२।

२. टायलर : प्रिमिटिव कल्चर, खण्ड १, पृष्ठ २८३।

आनंद एवं श्रद्धा से ओतप्रोत हो उठता था, वहीं प्राकृतिक आपत्तियों-विपत्तियों को देखकर मृत्यु एवं सर्वनाश के भय से वह भयभीत हो उठता था।

इस द्वंद्वात्मक स्थिति ने धार्मिक चिंतन-धारा को विकसित किया। उसका प्रारंभिक विकास जादू-टोना, भूत-प्रेत, दैवी आत्मा आदि के रूप में हुआ। प्रकृति पूजा, जादू और पूर्वजों की पूजा आदि अनेक रूप उसने ग्रहण किये। ईश्वर, परमात्मा, दैवी शक्ति उसका परिष्कृत स्वरूप है। धर्म संबंधी चिंतन के विषय में नृवैज्ञानिकों ने, पुरातत्व शास्त्रियों ने अनेक सिद्धांत विकसित किये हैं। जैसे—हर्बर्ट स्पेंसर का जीववाद का सिद्धांत; लैंग का नृवैज्ञानिक सिद्धांत; मैरेट का जीववाद-पूर्व का सिद्धांत; वैन गैन्नेप का मन' (Mana) का सिद्धांत; वुंट का दानवी आत्माओं का सिद्धांत; यूसेनेर का ईश्वर-विकास का सिद्धांत; वीर पूजा का सिद्धांत; श्रीदेर का परमसत्ता का सिद्धांत; रीनेक का टोटम का सिद्धांत; फ्रेजर का टोना सिद्धांत; गिलबर्ट मरे का स्थानावाद का सिद्धांत आदि।

मानव की चिंतन-धारा उत्तरोत्तर आगे बढ़ने लगी। धार्मिक चिंतन ने दार्शनिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त किया। मानव ने संपूर्ण ब्रह्मांड के साथ अपना संबंध जोडने का प्रयास आरंभ कर दिया। उसने दर्शन की अनेक तर्कसम्मत धारणाएँ प्रस्तुत कीं। पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के गहन एवं गूढ़ सिद्धांत विश्व की चिंतनधारा के अनमोल रत्न हैं। सामान्य बुद्धिवाले व्यक्तियों की परिधि से कहीं ऊपर उठे ये सिद्धांत बड़े-बड़े विचारकों को चक्कर में डाल देते हैं।

दार्शनिक चिंतन

धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतन की धाराएँ नाना दिशाओं में विकसित होती चलीं; परंतु इसका यह अर्थ नहीं था कि मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओं को सर्वथा भुला बैठा था। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ तो उसके जीवन के साथ लगी ही थीं। भौतिक सुख-सुविधाओं का उसने पर्याप्त चिंतन किया। भोजन एवं वस्त्र, मकान एवं नाना प्रकार की कलाकृतियों आदि के संबंध में मानव ने जो चिंतन किया, उसी में से सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ तथा ज्ञान एवं विज्ञान की अमर वेलि में नाना प्रकार के पुष्प खिल उठे।

भौतिक चिंतन

धर्म, दर्शन और भौतिक जीवन संबंधी चिंतन के साथ ही मनोवैज्ञानिक चिंतन भी जुड़ा हुआ है। पहले तो मनोविज्ञान दर्शन का ही एक अंग माना जाता था, परंतु इधर उसका एक शास्त्र ही बन गया है। मनोविज्ञान है—मन और मन की क्रियाओं का अध्ययन। कोई इसे आत्मा का विज्ञान मानता रहा है, कोई मस्तिष्क का, कोई चेतना का। मनोवैज्ञानिक चिंतकों ने उसकी अनेक परिभाषाएँ की हैं।

मनोवैज्ञानिक चिंतन

सी० वुडवर्थ कहता है कि 'मनोविज्ञान वातावरण के अनुरूप व्यक्ति के कार्यों का अध्ययन करता है।' स्किनर कहता है कि 'मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है। इन प्रतिक्रियाओं में सभी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ, समायोजन, कार्य एवं अनुभव आ जाते हैं।'[1] जेम्स ड्रेवर ने मनोविज्ञान को 'अंतर्जगत के मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करनेवाले व्यवहार' की संज्ञा दी है। उसने ('स्टडी ऑफ मैंस माइंड' में) कहा है कि 'संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के प्रति मानव तथा पशु की प्रतिक्रिया ही व्यवहार है।'

मनोविज्ञान आज के युग में अत्यंत प्रभावशाली विज्ञान बन गया है। मानव का चिंतन इस दिशा में बढ़ता ही चला जा रहा है। उसी का यह परिणाम है कि मनोवैज्ञानिक चिंतन की प्रमुख धारा में से अनेक शाखा-प्रशाखाएँ फूटती चल रही हैं। कुछ शाखाएँ इस प्रकार हैं—

१. चार्ल्स ई० स्किनर: एजूकेशनल साइकॉलाजी, पृष्ठ १.

सामाजिक चिंतन

मानव के चतुर्मुखी चिंतन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कड़ी है—सामाजिक चिंतन। इस चिंतन की प्रमुख धारा यह है कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ किस प्रकार सामंजस्य एवं समंजन स्थापित करे। इस दिशा में किया गया वैज्ञानिक चिंतन ही सामाजिक चिंतन है।

आधुनिक समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि अगस्त कोंत से ही सामाजिक चिंतन ने मुख्यतः वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण किया। कोंत (१७९८-१८५७) ही वह प्रथम आधुनिक समाजशास्त्री है जिसने 'समाजशास्त्र' की नींव डाली और उसकी 'पाजिटिव फिलासॉफी' ही वह प्रथम रचना है जिससे समाजशास्त्रीय चिंतन को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ है।[१] इसी कारण कोंत को 'समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है।

समाजशास्त्र

यों समाज का जन्म तो उसी समय से हो गया, जबसे मानव का विस्तार हुआ। सामान्य व्यक्ति मानवों के किसी भी समुदाय को 'समाज' कहते हैं, और मानव ही क्यों, पशुओं के समाज को भी वे 'समाज' की संज्ञा देते हैं। पशुओं का समाज, पक्षियों का समाज, प्राणियों का समाज—सभी दैनिक बोलचाल के शब्द हैं। किसी भी प्राणी का बाहुल्य उसके समाज का द्योतक माना जाता है। परंतु आधुनिक समाजशास्त्री समाज को इस रूप में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने समाज की विशिष्ट परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ की हैं और समाजशास्त्र के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द गढ़े हैं। जैसे, समाज, समुदाय, समिति, संस्था, संस्कृति, जनरीति, प्रथा, रूढ़ि आदि। प्राथमिक समूह, द्वैतियक समूह, समाजीकरण, सामाजिक संगठन, सामाजिक विघटन, सामाजिक समंजन, सामाजिक परिवर्तन-जैसे अनेक पदों की रचना करके समाजशास्त्र का एक व्यापक शास्त्र खड़ा किया है।

अर्थ और परिभाषा

हमें सामाजिक चिंतन पर ही अपना ध्यान केंद्रित करना है। अतः सबसे पहले हमें आधुनिक समाजशास्त्रियों की दृष्टि से ही इस संबंध में विचार करना है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह जन्म से ही समाज के पर्यावरण में रहता और विकसित होता आया है। अंग्रेजी में 'सोशियोलाजी' (Sociology)

---

१. एमरी एस० बोगर्डस : दि डेवलपमेंट ऑफ सोशल थॉट, १९६०, पृष्ठ २३२

तो मनुष्यों के इस पारस्परिक संबंधों के ज्ञान का जिस शास्त्र में व्यापक अध्ययन किया जाता है, उस शास्त्र का नाम है—समाजशास्त्र। समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के संबंध में समाजशास्त्रियों

क्षेत्र

की दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारावाले—मेकाइवर तथा पेज, मेरिल तथा एलरिज, ग्रीन, क्यूबर, लिंडबर्ग आदि मानते हैं कि समाजशास्त्र वह शास्त्र है जो मानव के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। दूसरी विचारधारावाले—वार्ड, जिसबर्ग, ओडम, मेक्स वेबर, ओकोनर आदि मानते हैं कि समाजशास्त्र संपूर्ण समाज का अध्ययन करनेवाला शास्त्र है।

समाजशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं एवं उसकी विषय-सामग्री की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका क्षेत्र अत्यंत

व्यापक है। समाजशास्त्र समाज का शास्त्र है। समाज का विज्ञान है। वह सामाजिक संबंधों का, सामाजिक जीवन एवं घटनाओं का, व्यक्ति का, समाज का, संस्कृति का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है।

दुर्खिम के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन को ३ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. सामाजिक स्वरूपशास्त्र—मानव जीवन के भौगोलिक आधार एवं सामाजिक संगठन के स्वरूपों का अध्ययन।

२. सामाजिक शरीरशास्त्र—धर्म, भाषा, परिवार, न्याय आदि के समाज-शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन।

३. सामान्य समाजशास्त्र—परंपराओं, रीतिरिवाजों तथा जीवन संबंधी आदर्शों का, सामाजिक नियमों का अध्ययन।

जिसबर्ग के अनुसार समाजशास्त्र के अध्ययन को ४ भाग में विभाजित किया जा सकता है—

१. सामाजिक स्वरूपशास्त्र—जनसंख्या एवं समस्त सामाजिक ढाँचे का अध्ययन।

२. सामाजिक प्रक्रिया—सामाजिक संगठन, सहयोग, संघर्ष, सहकारिता आदि का अध्ययन।

३. सामाजिक नियंत्रण—समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने वाले तत्त्वों—धर्म, कानून, प्रथा, रूढ़ियों आदि का अध्ययन।

४. सामाजिक व्याधिकी—सामाजिक अपराधों, बाल अपराधों, प्रौढ़ अप-राधों तथा विघटनकारी अन्य तत्त्वों का अध्ययन।

आगबर्न और निमकाफ के अनुसार समाजशास्त्र के अध्ययन को ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. प्राकृतिक पर्यावरण का अध्ययन।

२. वंशानुक्रमण का अध्ययन।

३. मानव के सामूहिक जीवन का अध्ययन।

४. मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन।

५. संस्कृति का अध्ययन।

पितिरिम सोरोकिन ने समाजशास्त्र के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए कहा कि 'समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं की सभी श्रेणियों की सामान्य विशेषताओं का, उनके पारस्परिक संबंधों और सहसंबंधों का विज्ञान है। यदि

समाजशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत ये सभी बातें नहीं रहेंगी, तो उसके अस्तित्व का कोई अर्थ ही नहीं है।'

विज्ञान है अथवा नहीं ?

समाजशास्त्र विज्ञान है कि नहीं, इस विषय पर समाजशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग उसे विज्ञान मानते है और कहते हैं कि उसके अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया जाता है । जैसे, समस्या का निर्धारण, अवलोकन, वर्गीकरण, पूर्व कल्पना, तथ्यों की जांच, सिद्धांतों का निर्माण, भविष्यवाणी आदि। समाजशास्त्र कोरी कल्पनाओं पर आधृत नहीं रहता। प्रमाणों के आधार पर वह समस्या का विश्लेषण करता है और सिद्धांतों का निर्माण करता है। कुछ लोग उसे विज्ञान नहीं मानते। वे कहते हैं कि समाजशास्त्र के पास प्रयोगशालाएं नहीं हैं। उसमें कर्मविषयकता का अभाव रहता है ।सामाजिक विश्लेषक जिस मानव समाज का अंग रहता है, उसीका अध्ययन करता है। उसके अध्ययन पर उसकी पूर्वधारणाओं का भी प्रभाव रहता है। सामाजिक घटनाएं अमूर्त रहती हैं। भौतिक शास्त्रों की तुलना में समाजशास्त्र एक परिशुद्ध विज्ञान नहीं है।

समाजशास्त्र के संबंध में इस प्रकार के विवाद का कोई अर्थ नहीं है। इसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। परिशुद्ध विज्ञान की कसौटी पर भले ही वह शत-प्रतिशत खरा न उतरे, परंतु उसके महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता को कौन अस्वीकार कर सकता है ? दैनिक जीवन, दैनिक व्यवहार और दैनिक जगत ही समाजशास्त्र की प्रयोगशालाएं हैं।

अन्य विज्ञानों से संबंध

समाजशास्त्र का इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ संबंध है। इन सभी विज्ञानों के अपने विशिष्ट क्षेत्र हैं। वे एक दृष्टि से व्यापक हैं और एक दृष्टि से एकांगी। समाजशास्त्र इन सबका समन्वय करके संपूर्ण जीवन का अध्ययन करता है। बार्न्स तथा बेकर ने कोंत, हर्बर्ट स्पेंसर, वार्ड, गिडिंग्स, और सोरोकिन आदि के मतों की चर्चा करके ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि 'समाजशास्त्रीय विचारधारा न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृह-स्वामिनी है, न दासी। वह है उनकी बहन। छोटी बहन होते हुए भी प्रभाव में वह सबसे बड़ी है। इसका विशेष गुण यह है कि यह सबमें समन्वय स्थापित करती है।'

अध्याय : २

सामाजिक संगठन

झीनी झीनी हो बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया ।।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ।।...

रात-दिन ताना-भरनी में व्यस्त रहनेवाले संत कबीर ने मानव शरीररूपी चादर के निर्माण की यह रहस्यमयी कहानी कितने सुंदर शब्दों में गूँथ दी है कि आज भी हम इसे पढ़-पढ़ कर मुग्ध हो उठते हैं। कबीर के शब्दों में—

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन तें ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ।।

जीवन की यह चादर स्वच्छ और निर्मल बनी रहे, उसमें कोई दाग न लगे, उसपर कोई धब्बा न लगे—यह है मानवीय आदर्श। कबीर जैसे बिरले ही भाग्यवान ऐसे समर्थ होते हैं जो अपना समस्त जीवन निष्कलंक और पवित्र, स्वच्छ और सुंदर बनाये रख पाते हैं। सामान्य श्रेणी के मानव तो चादर को मैला ही नहीं करते, उसे इतना मलिन बना देते हैं कि उस ओर दृष्टिपात करने में भी लज्जा लगती है।

जो हाल व्यक्ति का है, वही समाज का। व्यक्ति के जीवन की चादर समाज के जीवन की चादर से भिन्न थोड़े ही है। व्यक्ति से ही तो समाज बना है। यहाँ इंगला, पिंगला और सुषुम्ना का ताना बना है और वहाँ मानव की सत् और असत् प्रवृत्तियों का, पारस्परिक संबंधों और अंतःक्रियाओं का ताना-बाना है। बाह्य शरीर की भाँति है समाज का बाह्य रूप, बाह्य संगठन। आभ्यंतर शरीर की भांति, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना जैसी नस-नाड़ियों के जाल की भांति है, समाज का आभ्यंतर रूप, आंतरिक प्रक्रियाओं का जाल। नाना प्रकार के रंग-बिरंगे, छोटे और बड़े, पूरे और अधूरे धागों

समाज की संरचना

से जिस प्रकार चादर और खेस बनते हैं, उसी प्रकार नाना प्रकार के तत्वों से समाज की संरचना और उसका संगठन होता है।

'सामाजिक' और 'संगठन' : दो शब्द

सामाजिक संगठन में दो शब्द हैं—'सामाजिक' और 'संगठन'। 'सामाजिक' और 'असामाजिक'—दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। जिनमें सामाजिकता है, वे हैं सामाजिक। जिनमें सामाजिकता नहीं है, वे हैं असामाजिक अथवा समाजविरोधी।

सामाजिक होने के लिए सबसे पहले समाज चाहिए, फिर उद्देश्यों की समानता चाहिए और उसी के साथ चाहिए चेतना या जागरूकता। समाज होता है अंतःक्रियाओं का जाल। उसके लिए दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों की उपस्थिति आवश्यक मानी गयी है। अकेले व्यक्ति की क्रियाएँ सामाजिक नहीं हो सकती हैं। अतः यह आवश्यक है कि सामाजिकता के लिए दो या अधिक व्यक्ति हों, जिनकी अंतःक्रियाएँ समाज के अस्तित्व को सार्थक बनायें। उनका एक समान उद्देश्य भी वांछनीय है और चेतना भी।

'संगठन' कहते हैं ऐसी संरचना को जिसमें विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ एक सूत्र में आबद्ध हों—'सूत्रेमणिगणा इव'। संगठन कार्यात्मक संबंध के आधार पर इन इकाइयों को इस प्रकार सुव्यवस्थित करता है कि उसकी एक अद्भुत रचना दृष्टिगत होने लगती है। विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ जब सुसंबद्ध रीति से परस्पर एकाकार होती हैं तो संगठन का जन्म होता है। यह कार्यात्मक संतुलन संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति को चालना देता है।

मानव शरीर का संगठन समाज के संगठन से मिलता-जुलता है। एक-एक नस और नाड़ी, एक-एक अंग, एक-एक इंद्रिय, अस्थि, चर्म, मांस, मज्जा सब कैसे सुव्यवस्थित हैं कि कलाकार की इस अनुपम कृति को देखकर सभी आश्चर्यचकित होकर रह जाते हैं। इसका नाम है संगठन।

इसी प्रकार जब समाज की विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ नियमित तथा क्रमबद्ध होकर एक निश्चित प्रतिमान उपस्थित करती हैं, सब में कार्यात्मक संबंध होता है, तब संगठन का जन्म होता है।

सामाजिक संगठन

जैसा कि बताया जा चुका है, समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। इन संबंधों के बिना समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है। इस समाज के कुछ मूल तत्व हैं। जैसे—

१. समरूपता
२. विपमरूपता
३. अमूर्तता
४. सहयोग तथा संघर्ष
५. अन्योन्याश्रितता
६. जीवन या चेतना

सजातीयता, समरूपता के विना सामाजिक संबंध स्थापित ही नहीं हो सकते। पर समरूपता ही पर्याप्त नहीं है, विषमरूपता भी आवश्यक तत्व है। लिंग, आयु आदि की विपमरूपता समाज के अस्तित्व के लिए उपयोगी होती है। सामाजिक संबंध अमूर्त होते हैं। अतः समाज को अमूर्त माना जाता है। समाज में जहाँ सहयोग परम आवश्यक तत्व होता है, वहाँ संघर्ष भी चलता है। संघर्ष के उपरांत फिर सहयोग आ जाता है। आवश्यकताएँ अगणित होती हैं। कोई भी कितना ही समर्थ व्यक्ति स्वयं ही सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः परस्पर आश्रय लेना पड़ता है। समाज के लिए इसी प्रकार जीवन अथवा चेतना भी परम आवश्यक मानी गयी है। प्राणीजगत के साथ तादात्म्य की भावना से ही समाज का विकास ठीक ढंग से हो सकता है।

समाज की अनेक निर्मायिक इकाइयाँ होती हैं। जैसे, परिवार, विवाह, आर्थिक संस्थाएँ, सामाजिक संस्थाएँ, नाना प्रकार के समूह, ग्राम, नगर आदि। इन सभी निर्मायक इकाइयों के सुसंबद्ध संतुलन से ही समाज का संगठन परिपुष्ट होता है।

संगठन के प्रकार

संगठन के अनेक प्रकार होते हैं। समान उद्देश्य से गठित संगठन स्वैच्छिक भी हो सकते हैं, अनिवार्य भी। क्लब जैसे संगठन स्वैच्छिक होते हैं, राज्य जैसे संगठन अनिवार्य। परिवार या नस्ल जैसे संगठन प्राणिशास्त्रीय होते हैं। रेलवे कंपनी जैसे संगठन मिश्रित। उनका उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होता और हो सकता है। किसी का उद्देश्य स्पष्ट होता है, किसी का अस्पष्ट। किसी का ज्ञात होता है, किसी का अज्ञात। संगठन सैनिक भी हो सकता है, राजनीतिक भी, आर्थिक भी और धार्मिक भी। शैक्षणिक भी हो सकता है, खेलकूद का भी।[1] पर संगठन चाहे वैयक्तिक हो, चाहे सार्वजनिक, व्यक्ति पर उसका भला-बुरा प्रभाव पड़ता ही है।[2]

---

१. बर्ट्रेण्ड रसेल : पावर, ए न्यू सोशल एनेलेसिस, लंदन, १९३८ पृष्ठ २१३
२ वही, पृष्ठ २११—२१२

संगठन सामाजिक जीवन की आधारशिला है। ग्रेहम वालेस ने संगठनों को तीन भागों में विभक्त कर दिया है—(१) वैचारिक संगठन, जैसे विवाद गोष्ठी से लेकर सामान्य म्युनिसिपल कमेटी। इन संगठनों में लोग उसी प्रकार चले जाते हैं जैसे गिरजा घर में यह सोचकर जाते हैं कि वहाँ जाना भी कुछ-न-कुछ लाभ करेगा। अपना उदाहरण देते हुए वालेस कहता है कि म्युनिसिपल कमेटियों की कोई ३००० बैठकों में उसने भाग लिया होगा। उनमें लगभग आधे स्त्री-पुरुषों को इस बात का कोई भान ही नहीं था कि उनका भी इस दिशा में कोई कर्तव्य है।[1] (२) स्वेच्छा प्रेरित संगठन। ये संगठन सामाजिक तंत्र की अपूर्णता के कारण बनते हैं। जैसे व्यक्तिगत संपत्ति की संस्था, व्यक्तिवादी लोगों का संगठन; राज्य, समूहवादी लोगों का संगठन; श्रम संगठन, मजदूरों के हितों के उद्देश्य से संगठन। (३) सुखमूलक संगठन। अभी इनका विशेष विकास नहीं हो सका है। अभी धनोपार्जन ने ही सुखपर वरीयता प्राप्त कर ली है। वालेस के मत से सुख-मूलक संगठन में न दारिद्र्य रहेगा और न विपुलता। किसी भी क्षेत्र में अति न होकर समाज मध्यम मार्ग से चलेगा।[2]

संगठन का स्वरूप

संगठन के नानाविध रूपों से संगठन से स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट स्थान है। उसका अपना विशिष्ट पद है। उसका अपना विशिष्ट कार्य है। इन स्थानों, पदों, कार्यों का संतुलन होने पर ही जीवन व्यवस्थित होता है। संतुलन न रहने पर स्थिति विषम होकर विघटन की दिशा में बढ़ने लगती है। यह संतुलन केवल बाह्य होने से काम नहीं चलता। उसके लिए आभ्यंतर संतुलन अंतःक्रियाओं का संतुलन भी अत्यंत आवश्यक है। पारस्परिक संबंधों, संस्थाओं, पदों, कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता, उनकी एकमितता से ही सामाजिक संरचना होती है। यही है सामाजिक संगठन का स्वरूप।

यह संगठन जितना व्यवस्थित एवं संतुलित रहता है, उसी मात्रा में समाज संगठित माना जाता है। यह संतुलन जितना कम होता है उसी मात्रा में समाज विघटित माना जाता है।

---

१ ग्रेहम वालेस : दि ग्रेट सोसाइटी, १९१४, पृष्ठ २७०

२. वही, पृष्ठ ३१९, ३६८।

सामाजिक संगठन का परिभाषाएँ

सामाजिक संगठन का विषय जितना जटिल है, उसकी परिभाषाएँ भी उतनी ही जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। जैसे,

इलियट और मेरिल लिखते हैं—'जब किसी सामाजिक पद्धति के विभिन्न तत्वों का संतुलित व्यवहार होता है, जब कोई समूह संतुलित ढंग से अपना कार्य करता है, तो हम कहते हैं कि वह (अपेक्षाकृत) संगठित है। इस प्रकार हम परिवार, समुदाय, राजनीतिक इकाई अथवा किसी राष्ट्र के संगठन की बात कह सकते हैं। सामाजिक संगठन सामाजिक लक्ष्यों तथा उनकी प्राप्ति के स्वीकृत कार्यक्रम की संयुक्त परिभाषाओं पर निर्भर करता है।'[१]

आगबर्न और निमकाफ लिखते हैं—'विभिन्न कार्यों को करने वाले विभिन्न अंगों की सक्रिय संबद्धता का नाम संगठन है। कोई कार्य कराने के लिए यह एक प्रभावशाली साधन है।[२]

जेनसेन लिखते हैं—'सामाजिक संगठन के अंतर्गत उन सभी प्रक्रियाओं को सम्मिलित कर सकते हैं, जो सामूहिक जीवन की रचना करती हैं और उसे ऐसा समर्थ बनाती हैं जिससे वह संकटों और संघर्षों की स्थितियों का सामना कर सके।'[३]

कार लिखते हैं—'संगठन की ऐसी परिभाषा की जा सकती है कि वह एक ऐसा संघ है जो किसी अधिकारी के निर्देशन में श्रम-विभाजन द्वारा किसी सामान्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ चुने हुए व्यक्तियों के कार्यों को समन्वित करता है।'[४]

ब्रूम और सेल्जानिक लिखते हैं—'सामाजिक संगठन का विद्यार्थी अन्योन्याश्रित समूहों तथा क्रियाओं में रुचि रखता है और जिनके द्वारा एक-सी सामाजिक प्रणालियों का निर्माण होता है।'

---

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, न्यूयार्क, १९६१, पृष्ठ ४,

२. ऑगबर्न और निमकाफ : एक हैंडबुक आफ सोशियोलाजी, लंदन, १९६०. पृष्ठ ५३४,

३. डॉ० एम० जेनसेन : एन इंट्रोडक्शन टू सोशियोलाजी एण्ड सोशल प्राब्लेम्स, पृष्ठ १९१,

४. लोवेल कार : एनेलैटिक सोशियोलाजी, पृष्ठ १९७।

मेकाइवर और पेज लिखते हैं—'समुदाय, वर्ग, समूह तथा समितियाँ सामाजिक संरचना के अंग हैं और उनमें परस्पर सामंजस्य रहता है। इन्हें ही क्रियात्मक प्रणालियाँ (संगठन) कहा जाता है।'

हर्ट्जलर लिखते हैं—'समाज का संपूर्ण संगठन असंख्य समूहों का एक सहयोगात्मक रूप है। इन समूहों के कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं और इनमें परस्पर विभिन्न मात्राओं में संगठन होता है।'

के० मोतवानी लिखते हैं—'सामाजिक संगठन प्रक्रिया भी है, स्थिति भी। स्थिति के रूप में समाज की विभिन्न इकाइयाँ परस्पर अंतःसंबंधित हैं। प्रक्रिया के रूप में समाज की विभिन्न इकाइयों में सहअस्तित्व विकसित हुआ है।'

भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में की गयी इन परिभाषाओं से मूल बात यह निकाली जा सकती है कि सामाजिक संगठन समाज-व्यवस्था की ऐसी संतुलित स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न इकाइयाँ समन्वयात्मक रूप में बिना किसी बाधा के अपने निर्धारित कार्यों को करती रह सकें जिसके कारण समाज के सदस्य अपने सामाजिक उद्देश्यों की अधिकाधिक पूर्ति में समर्थ हो सकें।

विशेषताएँ

अबतक के विवेचन से सामाजिक संगठन की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट होती हैं—

१. एक से अधिक निर्मायक इकाइयाँ सामाजिक संगठन की आधार-शिला हैं।
२. इन निर्मायक इकाइयों में नियमितता एवं क्रमबद्धता होने से संगठन बनता है।
३. इन निर्मायक इकाइयों में इस प्रकार का क्रमबद्ध सहयोग वांछनीय है जिसके कारण कोई निश्चित प्रतिमान बन सके।
४. इन निर्मायक इकाइयों में कार्यात्मक संबंध होना चाहिए, जिसके फलस्वरूप वे एक सूत्र में बंध सकें।
५. ये निर्मायक इकाइयाँ यद्यपि अनेक होती हैं, तथापि उनकी अनेकता से एकता उत्पन्न होती है, जो कि संगठन की प्रमुख विशेषता मानी जाती है।
६. ये निर्मायक इकाइयाँ अपनी पूर्वनिश्चित स्थिति पर स्थिर रहते हुए, उस स्थिति के अनुरूप कार्य करती रहती हैं।

७. सामाजिक संगठन की अवधारणा स्थिर नहीं है, जड़ नहीं है। वह एक गतिशील व्यवस्था है।

सामाजिक संगठन की गतिशीलता का क्रम निश्चित नहीं है। किसी समाज में वह तीव्र गति से होती है, किसी में मंद गति से। मावरर का कहना है कि 'सामाजिक संगठन ऐसी कोई स्थिर व्यवस्था नहीं हैं कि एक बार स्थापित हो गयी तो फिर उसमें कभी कोई परिवर्तन ही नहीं होगा। एक प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन ऐसी उपकल्पना अथवा ऐसी आदर्श रचना है जो प्रत्येक समाज में सतत विद्यमान सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिवर्तनशील पक्षों के विपरीत अपरिवर्तनशील पक्षों पर बल देती है।'[१] सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति जिस प्रकार की होती है, उसी के अनुकूल सामाजिक संगठन में तीव्र अथवा मंद गतिशीलता आती है।

सामाजिक संगठन के तत्व

सामाजिक संगठन के अंतर्गत कुछ विशेष तत्व रहते हैं। उनमें कुछ संरचनात्मक होते हैं, कुछ कार्यात्मक होते हैं और कुछ सामाजिक प्रक्रिया संबंधी होते हैं।

सामाजिक संरचना—जिंसबर्ग का मत है कि 'सामाजिक संरचना का अध्ययन समाजों का निर्माण करनेवाले, सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों—अर्थात् समूहों, समितियों, संस्थाओं तथा उनके सबके संकुल से संबद्ध है।'[२]

समूह—सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों से मिलकर बनता है। उनमें एक सामान्य समझौता, आदान-प्रदान तथा पारस्परिक जागरूकता होती है। आगबर्न और निमकाफ के शब्दों में 'जब कभी दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं और परस्पर प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।'[३] क्यूबर का कथन है कि 'पारस्परिक संचार करनेवाले मानवों की किसी भी संख्या को 'समूह' कहा जा सकता है।'[४] मेकाइवर और पेज ने भी यही बात कही है—'मनुष्यों का वह जुटाव

---

१. अर्नेस्ट आर० मावरर : डिसआर्गेनाइजेशन – पर्सनल एण्ड सोशल, न्यूयार्क, १९४२, पृष्ठ ३,

२. एम० जिंसबर्ग : रीजन एंड अनरीजन इन सोसाइटी, १९४७, पृष्ठ १।

३. आगबर्न और निमकाफ : ए हैंड बुक ऑफ सोशियोलाजी, पृष्ठ १७२।

४. जान एफ. क्यूबर : सोशियोलाजी, पृष्ठ २९९।

'समूह' कहलाता है जिसमें वे परस्पर सामाजिक संबंध रखते हैं।'[1] गिलिन और गिलिन ने अंत:क्रियाओं को समूह के लिए आवश्यक बताया है।[2]

ये समूह अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे, प्राथमिक, माध्यमिक, द्वितीयक; अंतः समूह, बाह्य समूह; उदग्र और क्षैतिजिक; रक्त-संबंधी, शारीरिक्त विशेषता संबंधी; ऐच्छिक, अनैच्छिक; धार्मिक, राजनीतिक आदि। इनमें मुख्य बात यह रहती है कि कोई-न-कोई स्वार्थ समूह के सभी सदस्यों को एक सूत्र में आबद्ध रखता है।

समिति—समितियों का निर्माण मनुष्य अपनी किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। उसका कोई निश्चित ढाँचा नहीं होता है। मनुष्य उसके सदस्य होते हैं। समिति पारस्परिक सहयोग पर आधृत होती है। उसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। उसकी प्रकृति अस्थायी होती है। उसके नियम अनिवार्य रूप से लागू नहीं होते।

संस्था—समिति का स्वरूप जहाँ मूर्त होता है, संस्था का स्वरूप अमूर्त होता है। संस्था का निर्माण नहीं किया जाता। आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह क्रमशः विकसित होती है। उसका एक निश्चित सामाजिक ढाँचा होता है। वह एक विधि होती है। वह सामूहिक क्रियाओं पर निर्भर रहती है। संस्था के नियम अनिवार्य रूप से मानने पड़ते हैं। उसकी सदस्यता ऐच्छिक नहीं होती। संस्था की प्रकृति स्थायी होती है।

समिति और संस्था में इस प्रकार भेद रहता है। जब किसी पाठशाला को हम उसके सदस्यों-प्रधानाध्यापक, अध्यापक, छात्रों के रूप में देखते हैं तो उसका रूप समिति का होता है। पर जब हम उसकी कार्य-पद्धति को देखते हैं तो उसका रूप संस्था का हो जाता है।

पद तथा कार्य

सामाजिक संरचना के अंतर्गत प्रत्येक इकाई के कुछ पद एवं कार्य पहले से निश्चित रहते हैं। ये पद एवं कार्य विभिन्न संस्थाओं, रीतिरिवाजों, प्रथाओं, धर्मों, कानूनों, रूढ़ियों आदि द्वारा निर्धारित होते हैं। परंपरागत ये पद और कार्य जबतक लोगों को स्वीकार्य रहते हैं, उनका पालन होता चलता है, तबतक समाज संगठित बना रहता है, अन्यथा उसका विघटन प्रारंभ हो जाता है।

---

१. मेकाइवर और पेज : सोसाइटी, पृष्ठ २१३।
२. गिलिन और गिलिन : कल्चरल सोशियोलाजी, पृष्ठ १९६।

व्यक्ति का पद या उसकी स्थिति, उसके लिंग, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुणों, कृतियों, कर्तव्यों आदि के अनुरूप बनती है। उक्त पद पर आसीन होने के कारण वह जिन कार्यों को करता है वे उसके कार्य (Role) माने जाते हैं। पद या स्थिति कुछ तो प्रदत्त होती है, कुछ अर्जित। परंपरागत रूप से, बिना किसी प्रयास के प्राप्त होनेवाला पद 'प्रदत्त' पद है। जैसे, माता, पिता, भाई, बहन, पति, पत्नी, राजा, नागरिकता आदि। ये पद स्वतः प्राप्त होते हैं। अपने गुणों, योग्यताओं, प्रयासों के आधार पर प्राप्त होनेवाले पद 'अर्जित' पद होते हैं। कोई सामान्य मनुष्य अपने गुणों से कोई विशिष्ट पद प्राप्त कर लेता है तो वह उसका 'अर्जित' पद कहलाता है। इलियट और मैरिल के शब्दों में 'अमेरिका एक ऐसे समाज का विशिष्ट उदाहरण है जहाँ पर अधिकांश व्यक्ति 'अर्जित' पदों वाले हैं।'[1] प्रत्येक व्यक्ति अपने पद के अनुरूप कार्य करता है। उससे वैसी ही अपेक्षा भी रखी जाती है। सभी समूह, समितियाँ और संस्थाएँ, उनके सदस्य व्यक्ति, स्त्री और पुरुष, यदि अपने कार्य और पद के अनुरूप व्यवस्थित रीति से कार्य करते हैं तो समाज संगठित माना जाता है, अन्यथा विघटित।

कानून

समाज की प्रथाओं, रीतियों, चलनों, नैतिक मूल्यों आदि के आधार पर राज्य की ओर से कानून बनाये जाते हैं। राज्य की सत्ता, राज्य की दंड-शक्ति इन कानूनों की पीठ पर होती है। समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों पर कानून अपनी मुहर लगा कर उन्हें वैधता प्रदान करता है। सामाजिक संगठन में कानून की महत्ता कम नही है।

एकमत्य

एकमत्य सामाजिक संगठन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसके बिना समाज के संगठन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। टॉकीविल कहता है कि 'किसी भी समाज का अस्तित्व केवल तभी संभव है जब अधिकांश व्यक्ति अधिकांश विषयों पर एक ही दृष्टि से विचार करते हों और जब एक ही प्रकार की घटनाएं उनके मस्तिष्क पर एक-सी ही छाप डालती हों।'[2] समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों के अनुरूप चलने वालों को समाज स्वीकार करता है,

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १०।
२. एलेक्सिस द टॉकीविल : डेमोक्रेसी इन अमेरिका, न्यूयार्क, १८६८, खंड १, पृष्ठ ३९८।

उनके अनुरूप न चलने वालों को अस्वीकार। ऑल्वर्थ का कहना है कि 'ऐसा कोई भी समाज नहीं है जिसमें मूल्यों, उद्देश्यों, वरीयताओं आदि पर मतैक्य न हो और जहाँ लोग समाज के नियमों का पालन न करते हों।[1] जहाँ मनुष्यों का इन उद्देश्यों में मतैक्य नहीं होता, वहाँ पर स्थिर-स्थिति बनाये रखने में मशीनगनें और पुलिस भी विफल हो जाती है। मतैक्य का अर्थ है—धर्म. शासन, आर्थिक संबंध और पारिवारिक पद्धति के संबंध में अधिकांश लोगों का एक ही दृष्टि से विचार करना। अधिकांश विषयों में यदि मतैक्य नहीं रहता, तो सामाजिक संगठन ढीला पड़ने लगता है और विघटन प्रारंभ हो जाता है।[2] पार्क तथा बर्जेस ने भी इस तथ्य पर बल देते हुए कहा है कि 'समाज संगठित आदतों, भावनाओं और सामाजिक मनोवृत्तियों का, संक्षेप में, मतैक्य का ही एक संकुल है।'[3]

सामाजिक नियंत्रण

आरंभ में भले ही सामाजिक नियंत्रण का लक्ष्य एक समूह के सदस्यों की अन्य समूह के सदस्यों से रक्षा करना रहा हो, परंतु क्रमशः उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया। अब तो ऐसा माना जाता है कि सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत वे सभी मूल्य एवं आदर्श आते हैं जिनके माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के बीच उत्पन्न होनेवाले तनावों तथा संघर्षों को दूर करके समूह की सुदृढ़ता बनाये रखी जाती है।

आगबर्न और निमकाफ कहते हैं कि 'दबाव का वह प्रतिमान जो कोई समाज व्यवस्था तथा स्थापित नियमों को बनाये रखने के लिए उपयोग में लाता है, सामाजिक नियंत्रण कहलाता है।'[4] रॉस ने सामाजिक नियंत्रण में वे सभी शक्तियाँ स्वीकार की हैं जिनके द्वारा समूह व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है। मेकाइवर और पेज के अनुसार सामाजिक नियंत्रण द्वारा समस्त सामाजिक व्यवस्था संयोजित तथा निर्वाहित होती है और परिवर्तनशील संतुलन के रूप में वह एक समष्टि बनकर कार्यशील होती है। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि सामाजिक नियंत्रण नैतिक दबाव द्वारा मनुष्य को इस बात के लिए

---

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १४।

२. इलियट और मैरिल, वही, पृष्ठ १५।

३. राबर्ट ई० पार्क और ई० डब्लू० बर्जेस : इंट्रोडक्शन टु दि साइंस ऑफ सोशियोलाजी, शिकागो, १९२४, पृष्ठ १६३।

४. आगबर्न और निमकाफ : ए हैंड बुक ऑफ सोशियोलाजी, पृष्ठ १८८।

प्रेरित करता है कि वह समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं एवं प्रतिमानों के अनुरूप कार्य करे।

सामाजिक नियंत्रण सामाजिक संगठन की स्थिरता बनाये रखने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है। उसमें व्यक्ति को बाह्य एवं मानसिक सुरक्षा प्राप्त होती है, समूह में एकरूपता बनी रहती है। परंपराओं और संस्कृति की रक्षा होती है तथा व्यक्ति के समाजीकरण में सहायता प्राप्त होती है। सामाजिक जीवन में संतुलन बनाये रखने में सामाजिक नियंत्रण का बड़ा हाथ रहता है।

वर्गीकरण—सामाजिक नियंत्रण के कई प्रकार हैं। कार्ल मैनहीम ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण, ऐसे दो विभाग किये हैं। 'प्रत्यक्ष' नियंत्रण माता-पिता और पास-पड़ोसी आदि निकटवर्ती लोग, प्राथमिक समूह वाले लोग लगाते हैं। सुझाव, आलोचना, सम्मान प्रशंसा और बहिष्कार आदि इसके साधन हैं। अप्रत्यक्ष नियंत्रण द्वितीयक समूहों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है। दूरवर्ती लोग इस प्रकार का नियंत्रण लगाते हैं।

किम्बाल यंग ने सकारात्मक तथा नकारात्मक, पुरस्कार और दंड ऐसे दो विभाग किये हैं। बाह्य पक्ष से संबंधित कानून जैसा औपचारिक और आंतरिक पक्ष से संबंधित अनौपचारिक नियंत्रण भी एक वर्गीकरण है। गुरविच तथा मुरे ने संख्यात्मक या संगठित और असंगठित नियंत्रण तथा सहज नियंत्रण, ऐसे दो भाग किये हैं। संगठित नियंत्रण में धर्म, आर्थिक जीवन, राज्य और शिक्षा आदि माने गये हैं, असंगठित नियंत्रण में सरकार, लोकरीतियाँ आदि आती हैं। सहज सामाजिक नियंत्रण का आधार व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ, आदर्श, मूल्य, विचार आदि होते हैं।

साधन—सामाजिक नियंत्रण के साधन अनेक हैं। जैसे, धर्म, जाति, विश्वास, नैतिकताएँ शक्ति, मानव चिह्न, सामाजिक आदर्श, सामाजिक उत्सव, लोकरीतियाँ, लोकाचार, प्रथाएँ, शिक्षा, कला, प्रचार, नेतृत्व, कानून आदि। सामाजिक नियंत्रण के ये साधन नाना प्रकार से मानव को नियंत्रित करते हैं। सामाजिक संगठन को स्थिर रखने में इनका महत्त्वपूर्ण भाग रहता है।

मानव के निर्माण, उसके सामाजिक संबंधों तथा व्यवहारों के निर्माण पर पर्यावरण का भी समुचित प्रभाव पड़ता है। पर्यावरणवादी इस बात पर बहुत

बल देते हैं कि यदि उचित पर्यावरणीय तत्वों की प्रेरणा प्राप्त हो तो व्यक्ति समाज का अत्यंत उपयोगी सदस्य बन सकता है।[१]

पर्यावरण

यह बात तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि संसार की सभी वस्तुओं पर पर्यावरण का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। सामाजिक संगठन भी पर्यावरण से अछूता नहीं रह सकता।

पर्यावरण के दो प्रकार हैं—भौतिक पर्यावरण तथा सामाजिक पर्यावरण। भौतिक पर्यावरण के भी दो भाग किये जा सकते हैं—(१) जलवायु आदि जिसका संशोधन मनुष्य के हाथ में नहीं है। (२) मनुष्य द्वारा संशोधित अथवा संशोधनीय। जैसे, भौतिक, रासायनिक, भूमि, सड़क, औजार, भवन, प्रतीक, प्रलेख, कला; भावयवी पालतू जानवर तथा पौधे परिवर्तित जीवन का संतुलन। सामाजिक पर्यावरण हैं संस्थाएँ, लोकरीतियाँ, जातीय समूह, समुदाय, सामाजिक विरासत आदि।

प्राकृतिक या भौगोलिक पर्यावरण की—क्षिति, जल, पावक गगन, सीमीरा, जैसी वस्तुएँ प्रकृति की देन हैं परंतु मानव जीवन पर उनका जो प्रभाव है उसे कौन अस्वीकार कर सकता है? 'जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं'—उस धरित्री को, जन्मभूमि को - 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'—कहकर मानव के मानसिक एवं व्यावहारिक जीवन के साथ जोड़ दिया गया है। सामाजिक पर्यावरण में मानव द्वारा निर्मित सभी सामाजिक संबंधों का समावेश होता है। विज्ञान, कला, धर्म, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, व्यवहार, सभ्यता संस्कृति आदि सभी इसके अंतर्गत आ जाते हैं। संपत्ति के उत्पादन, विनिमय, वितरण, उपभोग आदि की समस्त आर्थिक क्रियाएँ मानव के सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं।

सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्र का अत्यंत महत्त्वपूर्ण विभाग है। सामाजिक संगठन और सामाजिक विघटन पर उसका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक जीवन में, समाज के स्वरूप, उसकी संरचना, उसकी व्यवस्था, उसके संगठन, उसके मूल्यों और संस्थाओं में सतत परिवर्तन की प्रक्रिया चालू है। आज से ही नहीं अनंत काल से। यह बात दूसरी है कि कभी उसकी गति धीमी रहती है, कभी तीव्र।

---

१ एमरी एस० बोगर्डस : दि डेवलपमेंट ऑफ सोशल थॉट, पृष्ठ ३५६।

कहीं किसी समाज में सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है, कहीं वह दिखाई नहीं पड़ता।

परिवर्तन तो एक शाश्वत तत्व है। उसका चक्र अविराम गति से चलता रहता है। उसके फलस्वरूप सामाजिक संबंधों में, सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होता चलता है। गतिशील समाज में कोई भी सामाजिक संगठन स्थिर एवं स्थायी रह नहीं सकता।

परिभाषा

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'जीवन की स्वीकृत पद्धतियों में परिवर्तन का नाम है—सामाजिक परिवर्तन। यह बात दूसरी है कि ये परिवर्तन भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन के कारण हुए हैं कि सांस्कृतिक कारणों से; जनसंख्या की रचना या उसके सिद्धांतों में परिवर्तन के कारण हुए हैं अथवा समूह के अंतर्गत ही आविष्कार या विस्तार के कारण हुए हैं।'[1] डेविस ने सामाजिक परिवर्तन में केवल उन्हीं परिवर्तनों को माना है 'जो सामाजिक संगठन अथवा समाज की संरचना तथा उसके प्रकार्यों में घटित होते हैं।'[2]

मेकाइवर और पेज ने कहा है कि 'हमारा संबंध सामाजिक संबंधों मात्र से है, अतः हम केवल सामाजिक संबंधों में होनेवाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन मानेंगे।[3] जेंसन कहते हैं कि 'लोगों के कार्य करने की तथा विचार करने की पद्धतियों में होनेवाले परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन हैं।'[4] मैरिल और एलड्रेज ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा इस प्रकार की है, 'ठोस अर्थ में कहें तो सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि अधिकांश व्यक्ति ऐसे कार्य कर रहे हैं जो उनके निकट के पूर्वजों के कार्यों से भिन्न हैं। समाज कुछ प्रतिमानित मानवीय संबंधों का एक ऐसा विशाल तथा जटिल जाल है, जिसमें सभी मनुष्य फँसे हुए हैं। जब मानव व्यवहार में रूपांतरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है तो हम कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।'[5]

---

१ गिलिन और गिलिन : कल्चरल सोशियोलाजी, पृष्ठ ५११, ५६२

२. किंग्स्ले डेविस : ह्यूमेन सोसाइटी, न्यूयार्क, १९५९, पृष्ठ ६२०।

३. आर०एम० मेकाइवर और सी०एच०पेज : सोसाइटी, लंदन १९५३, पृ० ५११।

४. एम० डी० जेन्सन : इंट्रोडक्शन टु सोशियोलाजी एंड सोशल प्रोब्लेम्स, पृष्ठ ११०।

५. मैरिल और एलड्रेज : कल्चर एंड सोसाइटी, पृष्ठ ५१२—५१३।

सामाजिक परिवर्तन की इन परिभाषाओं से इतना ही स्पष्ट होता है कि जब व्यक्तियों एवं समूहों के पारस्परिक संबंधों, पदों, कार्यों तथा सामाजिक नियंत्रण के साधनों में कुछ परिवर्तन होता है, जिससे समाज या तो आगे बढ़ता है या विघटन की दिशा में जाता है, तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। सामाजिक परिवर्तन अच्छी दिशा में जायेगा तो सामाजिक प्रगति होगी। जब वह बुरी दिशा में जायेगा तो सामाजिक विघटन होगा।

परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक हो सकते हैं। जैसे, भौतिक पर्यावरण, जैविक कारक, सांस्कृतिक कारक, प्रौद्योगिक कारक, मनोवैज्ञानिक कारक आदि। ये कारक नाना प्रकार से सामाजिक संगठन को प्रभावित करते हैं।

तूफान और बाढ़, अतिवृष्टि और अनावृष्टि, हिमपात, दुर्भिक्ष और भूकंप-जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। कहीं पर कोई खनिज पदार्थ निकल आये तो आनन-फानन में सामाजिक ढाँचा बदलने लगता है। कहते हैं कि आस्ट्रेलिया में जब सोना निकल पड़ा तो गवर्नर महोदय के जूते का फीता कसनेवाला चपरासी तक गायब हो गया। सोना लूटने के फेर में जो जहाँ था वहीं से भाग पड़ा। ऐसी घटनाओं का मानव जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जिससे सारा सामाजिक संगठन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

जनसंख्या में वृद्धि या ह्रास, जन्म दर, मृत्यु दर, वंशानुसंक्रमण जैसे जैविक कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होते हैं।

नये मूल्य, नयी धारणाएं, नये रीति-रिवाज, नये सामाजिक नियम पुराने मूल्यों, धारणाओं, रीति-रिवाजों, नियमों आदि पर अपना प्रभाव डालते हैं। शिक्षा, विज्ञान और नवजागरण आदि के कारण सांस्कृतिक मूल्यों एवं धारणाओं में परिवर्तन होता चलता है।

औद्योगीकरण और नागरीकरण ने सामाजिक संगठन में जो क्रांति ला दी है, उससे कौन अनभिज्ञ है? दानवी यंत्रों ने ग्रामीण उद्योगों का जिस प्रकार नाश किया है, निर्धनता तथा बेकारी की समस्याओं को जिस प्रकार प्रोत्साहन दिया है, उसके परिणाम हमारे सामने हैं।

मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन लाने में मनोवैज्ञानिक कारकों का महत्व कम नहीं है। मानव की जिज्ञासा-वृत्ति तथा नित-

नवीनता की आकांक्षा नाना रूपों में विकसित होती चल रही है। उसके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होते चलते हैं।

परिणाम—सामाजिक परिवर्तन के इन कारकों का परिणाम चतुर्मुखी होता है। सामाजिक धारणाओं, सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक संस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं आदि सब पर इसकी छाप पड़ती है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सार्वभौमिक होती है। उसका स्वरूप चक्रीय भी हो सकता है, विकासवादी एवं प्रगतिशील भी। जब सामाजिक परिवर्तन चरम सीमा पर पहुंच जाता है तो वह क्रांति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। संघर्ष, युद्ध, सत्ता-हस्तांतरण, दलबंदी, चुनाव-पद्धति में परिवर्तन, क्रांति, सैनिक शासन-जैसी राजनीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। शोषण, निर्धनता, बेकारी, अपराध, वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद जैसी आर्थिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का ह्रास, प्राचीन आदर्शों एवं विश्वासों की समाप्ति-जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इन सब स्थितियों का प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि समाज विघटन की दिशा में तीव्रता से बढ़ने लगता है। सामाजिक संगठन टूटने लगता है और सामाजिक विघटन उसका स्थान लेने लगता है। शांति, संतोष और व्यवस्था के स्थान पर सर्वत्र अशांति, असंतोष एवं अव्यवस्था का बाहुल्य दीखने लगता है।

समाज की मूल इकाई है—समूह। दो व्यक्तियों से लेकर लाखों-करोड़ों की संख्यावाले भी समूह होते हैं। छोटे और बड़े, स्थायी और अस्थायी, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि नाना प्रकार के समूह होते हैं। इन समूहों के सदस्य जब परस्पर मिलते हैं तो उनके व्यवहारों की जो प्रक्रियाएँ होती हैं, वे ही सामाजिक प्रक्रियाएँ कहलाती हैं। पारस्परिक अंत:प्रक्रियाएँ ही सामाजिक प्रक्रियाओं को जन्म देती हैं।

सामाजिक अंत:-प्रक्रियाएँ

पार्क और बर्जेस ने इन सामाजिक प्रक्रियाओं को इन पाँच विभागों में विभक्त किया है[१]—

१. संदेशवाहन,

२. संघर्ष,

१. पार्क और बर्जेस : इंट्रोडक्शन टु दि साइंस आफ सोशियोलाजी, पृष्ठ ५१।

३. प्रतिस्पर्द्धा,

४. व्यवस्थान तथा

५. सात्मीकरण ।

इलिएट और मैरिल ने इनमें एक प्रक्रिया और जोड़ दी है। वह है—सहयोग ।[१]

संदेशवाहन—जान डेवे मानता है कि 'समाज का अस्तित्व ही संदेशवाहन पर निर्भर करता है।'[२] संदेशवाहन का अर्थ है अपने विचार, अपनी भावनाएँ अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाना तथा उनके विचारों और भावनाओं से अवगत होना । मौखिक वार्तालाप से, इंगितों से तथा अन्य साधनों से ऐसा किया जाता है ।

संघर्ष—वाणी दुधारी तलवार है । उससे जहाँ व्यक्तियों और समूहों के बीच मधुर संबंध स्थापित किये जा सकते हैं, वहाँ लड़ाई-झगड़ा और कलह अर्थात् संघर्ष भी किया जा सकता है । संघर्ष का मूल कारण होता है स्वार्थ । कार्वर ने संघर्ष का व्यापक विश्लेषण किया है । वह कहता है कि 'अभाव के कारण संघर्ष होता है । संपत्ति, परिवार और राज्य के चलते संघर्ष विशेष रूप से पनपता है ।'[३] व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जब संघर्ष होने लगता है तो वह वैयक्तिक विघटन की भूमिका प्रस्तुत करता है । पति-पत्नी के बीच जब तनाव और संघर्ष बढ़ने लगता है तो पारिवारिक विघटन की नींव पड़ जाती है । समाज में संघर्ष बढ़ता है तो सामाजिक विघटन होने लगता है ।

प्रतिस्पर्द्धा—पार्क का मत था कि प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वंद्विता मुख्यतः पशुजीवन की प्रक्रिया है । मानव जीवन में इसका प्रवेश तब होता है जब मनुष्य-मनुष्य के बीच अथवा समूह-समूह के बीच अनिश्चित संघर्ष चलता है ।[४] सोरोकिन ने स्वार्थवादी प्रतिद्वंद्विता की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा है कि 'स्वार्थवादी व्यक्ति और समूह सभी प्रकार के कार्य क्षेत्रों में सफलता के लिए दूसरे व्यक्तियों और समूहों से होड़ ले रहे हैं, फिर वह चाहे खेल का मैदान हो चाहे लड़ाई का मैदान । हमारी आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं का मूल आधार ही है—स्वार्थवादी प्रतिद्वंद्विता । ऐसी घोषणा

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ५ ।
२. जान डेवे : डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन, १९१६, पृ० ५ ।
३. टामस निक्सन कार्वर : एसेज इन सोशल जस्टिस, पृ० ४९-५० ।
४. पार्क और बर्गेस; वही, पृष्ठ ५०७-५०८

की जाती है कि यह प्रतिद्वंद्विता मनुष्यों और समूहों की मूल प्रकृति है, सारे मानवीय कार्यों का मूल कारण है, सारे आविष्कारों और उपलब्धियों का सूत्र है और सामाजिक प्रगति और व्यवस्था का प्रेरक बल है। प्रतिद्वंद्विता, सफलता और विजय को हमारी सामाजिक पद्धति की आत्मा बताया गया है। पालने से लेकर अरथी तक प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी भावना भरी रहती है कि वह अपने प्रतिद्वंद्वियों और विरोधियों पर विजय प्राप्त करे। यह सिद्धांत प्रकृत्या ही व्यक्ति-व्यक्ति में, समूह-समूह में और राष्ट्र-राष्ट्र में अविराम संघर्ष उत्पन्न करता है।'[1]

व्यवस्थान—संघर्षशील व्यक्ति और समूह, संघर्ष से ऊब कर अथवा संघर्ष के कुपरिणामों से बचने के लिए समझौते की दिशा में बढ़ते हैं। मोटर, इस्पात, कोयला-जैसे बड़े उद्योगों के स्वामी सशक्त श्रमसंघों के साथ संघर्ष का निपटारा करने के लिए पंच की शरण लेते हैं। पार्क के अनुसार व्यवस्थान में 'आदतों, मनोवृत्तियों अथवा संबद्ध सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन को स्वीकार कर लिया जाता है। व्यवस्थान में अनेक बार ऊपर और नीचेवाली जैसे, स्वामी और सेवक, पिता और पुत्र जैसी स्थिति होती है, जिसमें नीचेवाले को अधिक दबना पड़ता है।' यह स्थिति अच्छी नहीं होती और इसमें भीतर-भीतर संघर्ष पनपता रहता है।'[2] यों व्यवस्थान या पारस्परिक सामंजस्य अच्छा है। प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष करते-करते जब दोनों पक्ष इस दिशा में बढ़ते हैं तो कुछ समय के लिए स्थिति सुधर जाती है। प्रतिकूल परिस्थितियों को सुधारने में व्यवस्थान से सहायता मिलती है।

सात्यीकरण—व्यवस्थान के बाद की स्थिति है सात्यीकरण। इसमें दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ मिलकर एक हो जाती हैं। व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों और समूहों के दृष्टिकोणों, विश्वासों और धारणाओं को स्वीकार कर उनमें अपने को एकाकार कर देते हैं। भारत में जिस प्रकार शक और हूण आदि यहाँ की जनता से मिलकर एकाकार हो गये, उसी प्रकार अनेक देशों में शरणार्थी आदि सात्यीकरण की प्रक्रिया द्वारा उन देशों की संस्कृति से एकाकार हो जाते हैं।

सहयोग—समाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग का स्थान सबसे ऊँचा है। सामाजिक संगठन की नींव सहयोग से ही दृढ़ होती और हो सकती है।

---

१. पितिरिम ए० सोरोकिन: मानवता की नवरचना, १९६१, पृष्ठ १६९-१७० ।
२. बोगर्डस: दि डेवलपमेंट ऑफ सोशल थॉट, पृष्ठ ५६६-५६८ ।

समाज का अस्तित्व संघर्ष पर नहीं, सहयोग पर ही है। जहाँ सहयोग कम पड़ता है अथवा सहयोग जाता रहता है, वहीं से विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। घर-परिवार, पास-पड़ोस, समूह, समाज, राष्ट्र—सभी के सुव्यवस्थित होने का आधार सहयोग है।

ये सभी प्रक्रियाएँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी समाजों में पायी जाती हैं। गतिशील समाज में सभी का स्थान है। समूह छोटे हों या बड़े, संगठन के तत्व सबमें एक ही हैं। सामाजिक प्रक्रियाएँ जहाँ सहयोगाभिमुखी होती हैं, वहाँ सामाजिक संगठन दृढ़ एवं शसक्त होता है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहां सामाजिक विघटन प्रविष्ट होकर समाज को खंड-खंड करने लगता है।

प्राचीनकाल में सामाजिक संगठन बहुत कुछ स्थिर-जैसा था। परंतु आधुनिक युग में मुख्यतः यांत्रिक क्रांति के कारण तथा स्वार्थवादी प्रवृत्ति के विस्तार के कारण सामाजिक संगठन की स्थिति दयनीय हो चली है। नस्ल, जाति आदि के, परिवार के रक्त संबंध ढीले पड़ने लगे हैं। प्रथाओं, परंपराओं विश्वासों, रूढ़ियों आदि का महत्त्व घट रहा है। पुराने नैतिक मूल्य समाप्त से हो रहे हैं। सामाजिक विभेद्र बढ़ रहे हैं। कानून का महत्त्व बढ़ रहा है। व्यक्तिवाद, श्रमविभाजन, विशेषीकरण का विकास हो रहा है। इन सब कारणों के चलते सामाजिक जीवन की आधुनिक स्थिति अच्छी नहीं है। अर्थ की महत्ता बढ़ती चल रही है और उसके समक्ष अन्य गुणों को वरीयता नहीं मिल रही है। सामाजिक परिवर्तन हो अवश्य रहा है, परंतु उसकी दिशा भ्रामक है। समाज में तनाव और संघर्ष बढ़ रहे हैं। उन्हें मिटाने का उपाय जबतक नहीं किया जायगा और सामाजिक विघटन की समस्याओं का निराकरण नहीं किया जायगा, तबतक न व्यक्ति सुखी होगा, न समाज। व्यक्ति और समाज के जीवन में जब सुख, शांति और आनंद की त्रिवेणी प्रवाहित होगी, तभी सामाजिक संगठन की चरितार्थता हो सकेगी।

आधुनिक स्थिति

●

अध्याय ३

सामाजिक विघटन

जाहिद शराब पीने दे मसजिद में बैठकर,
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो !

इसलाम में मद्यपान का निषेध है। साथ ही यह भी कहा गया है कि ईश्वर सर्वव्यापी है। अब शराबी मुल्ला से कहता है कि "खुदा जब हर जगह मौजूद है तो वह शराबखाने में भी है, मसजिद में भी है। फिर मैं क्यों न मसजिद में बैठकर मद्यपान करूँ ?"

प्रश्न एकदम बेतुका नहीं कहा जा सकता। पीना है तो चंडूखाने में ही क्यों पियें, धर्मस्थान पर क्यों नहीं ? यहाँ ईश्वर की सर्वव्यापकता पर तो श्रद्धा व्यक्त की गयी है, परंतु मद्यनिषेध के धार्मिक आदेश को उठाकर ताक पर रख दिया गया है। कुरान शरीफ में मद्यपान का तीव्र निषेध है। कहा है—

"इन्नमा युरीदुऽश्शैतानु
अँय्यूक़िअ़ बैनकुमुऽल्-अ़दावत वऽल् बग़ूदाअ फ़िऽल् खम्रि
वऽल् मैसिरि व य सुद्दकुम् अ़न् ज़िक्रिऽल्लाहि,
व अ़निऽस्सलाति, फ़हल् अतुम्मुन्तहून-०" (५।९१)

'शराब और जुए के द्वारा शैतान तुमको एक-दूसरे से लड़ाना और तुम्हारे बीच घृणा फैलाना चाहता है, जिससे तुम अल्लाह की याद और उसकी प्रार्थना से दूर रहो। खबरदार !'

इस आयत में शराब और जुआ शैतान के दो अस्त्र बताये गये हैं और उनसे खबरदार रहने, सावधान रहने की चेतावनी दी गयी है। इसमें से ऐसा कोई अर्थ निकाला ही नहीं जा सकता कि चंडूखाने में शराब पीने की छूट है और मसजिद में छूट नहीं है। निषेध सब जगह के लिए है फिर वह चंडू-खाना हो, घर हो, मैदान हो, मसजिद हो।

परंतु आज के स्पष्टवादी, यथार्थवादी कहलानेवाले शैतान के बंदे इस प्रकार के भ्रामक तर्क उपस्थित करके अपनी भोग-लालसाओं को वैधता का जामा पहनाना चाहते हैं। धर्म और नैतिकता का नाम लेना और उसके

मूल्यों पर प्रहार भी करना आधुनिक समाज की परिपाटी-सी बनती जा रही है। हमारा रहन-सहन, हमारी शिक्षा-दीक्षा, हमारा आचार-व्यवहार, हमारा व्यक्तिगत जीवन, हमारा सामाजिक जीवन तीव्र गति से विश्रृंखलता की ओर, विघटन की ओर अग्रसर होता चल रहा है। प्रेम, सहयोग, सद्भाव, सत्य, ईमानदारी-जैसे समाज को संगठित करनेवाले मूल्यों का ह्रास होता चल रहा है। उनके स्थान पर संघर्ष, असत्य, बेईमानी भ्रष्टाचार का प्राधान्य हो रहा है। हमारा रोम-रोम सिनेमा के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा है—'जय बोलो बेईमान की!'

नैतिकता पर प्रहार

संगठन की अवधारणा के विपरीत अवधारण व्यक्त करने के लिए समाजशास्त्रियों ने 'विघटन' शब्द प्रचलित किया है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के संदर्भ में जब ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि सामूहिक संबंध टूटने लगते हैं, पारस्परिक तनाव बढ़ने लगते हैं, समंजन और सामंजस्य होने लगता है तब सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक संगठन का संतुलन बिगड़ते ही सामाजिक विघटन आरंभ हो जाता है।

विघटन का अर्थ

घड़ी हो, साइकिल हो, रेडियो हो—उसके पुर्जे यदि व्यवस्थित रहते हैं, तो घड़ी ठीक समय देती है, साइकिल आने-जाने का काम देती है और रेडियो 'यह आकाशवाणी है' सुनाता है। कोई भी पुर्जा बिगड़ा, टूटा, नष्ट हुआ कि घड़ी बंद, साइकिल बेकार, रेडियो गुमसुम। समाज की घड़ी की भी यही स्थिति है। जबतक उसके पुर्जे व्यवस्थित हैं, संगठित हैं तबतक समाज में सुख, संतोष और आनंद के दर्शन होंगे। जहाँ उनमें विसंगति आयी कि सर्वत्र दुःख, असंतोष और हाहाकार सुनाई पड़ने लगेगा। इसी असंतोषपूर्ण स्थिति का नाम है—सामाजिक विघटन।

सामाजिक विघटन की परिभाषाएँ

सामाजिक विघटन की समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। जैसे,

इलियट और मैरिल कहते हैं कि 'जब सामाजिक अंतःक्रियाओं की व्यवस्थित पद्धति और किसी समूह की प्रभावशाली ढंग से कार्य करने की व्यवस्था टूट जाती है तो सामाजिक विघटन होने लगता है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समूह के पारस्परिक संबंध टूटने लगते हैं।'[1]

---

१. इलियट और मैरिलः सोशल डिस्आर्गेनाइजेशन, पृ० २३

फेरिस के अनुसार 'सामाजिक विघटन मनुष्यों के बीच कार्यात्मक संबंधों के इस मात्रा तक टूट जाने की स्थिति को कहते है, जिसमें समूह के स्वीकृत कार्यों में बाधा पड़ने लगती है।'[१] तथा 'समाज के विभिन्न अंग अपनी समन्वयता खो बैठते हैं और अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पाते।[२]

लेंडिस कहता है कि 'सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था का भंग होना और विश्रृंखलता उत्पन्न हो जाना ही सामाजिक विघटन हो।'[३]

न्यूमेयर ने सामाजिक विघटन की परिभाषा करते हुए कहा है कि जब समूह का एकमत्य तथा उसके उद्देश्य की एकता भंग हो जाय, सामूहिक रचना का संतुलन अस्तव्यस्त हो जाय और समाज के क्रियाशील संबंध टूट जाय तो मानना चाहिए कि सामाजिक विघटन के लक्षण उपस्थित हो गये हैं।'[४]

फेयर चाइल्ड के अनुसार 'सामाजिक विघटन व्यवस्थित संबधों एवं कार्यों के क्रम-क्रम से भंग होने की स्थिति है। तब व्यवस्थित और समग्र व्यवहार-शृंखला में बाधा पड़कर भ्रांति एवं अव्यवस्था आ जाती है।

लेपियर के कथनानुसार 'विघटन मुख्यतः सामाजिक संरचना के संघट-नात्मक पक्ष में आ जानेवाले असंतुलन की ओर संकेत करता है।'

लेमर्ट कहता है कि 'सामाजिक संस्थाओं तथा समूहों के बीच असंतुलन और व्यापक संघर्ष उत्पन्न हो जाने का नाम सामाजिक विघटन है।'

आगबर्न और जिमकाफ के अनुसार 'समूह, संस्था, अथवा समुदाय-जैसी सामाजिक इकाइयों के कार्यों का भंग होना ही सामाजिक विघटन है।'

टायस और जनेनिकी कहते हैं कि समूह के सदस्यों पर व्यवहार के नियमों का प्रभाव कम होने लगे तो ऐसा मानना चाहिए कि सामाजिक विघटन हो रहा है।'

कुइन, बोदनहाफर और हार्पर कहते हैं कि 'सामाजिक संगठन का अर्थ यदि मनुष्य और समूह के संबंधों का संतोषजनक होना है तो सामाजिक विघ-टन का अर्थ है मानवीय संबंधों में दुःख, निराशा और असंतोष का बढ़ जाना।

---

१. राबर्ट ई० एल० फेरिस : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, न्यूयार्क, १९४८, पृ० १९.

२. फेरिस, वही, पृ० ४९

३. पी० एच० लेंडिस : एन इंट्रोडक्शन टु सोशियोलाजी, पृ० ६१२।

४. मार्टिन एच० न्यूमेयर : सोशल प्रोब्लेम्स एण्ड दि चेंजिंग सोसाइटी, न्यूयार्क, १९५३ पृ० १६।

सारांश : सामाजिक विघटन की इन परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसमें किसी समूह के सदस्यों के पारस्परिक संबंध, आदर्श तथा नियम टूटने लगते हैं, जिससे सामाजिक संगठन की विशाल भवन लड़खड़ाने लगता है। मानवीय अभिवृत्तियों एवं मूल्यों में गिरावट आने लगती है जिससे सामाजिक संरचना का संतुलन बिगड़ने लगता है। सामाजिक परिवर्तन, समूह, संस्था, समुदाय के सामंजस्य में बाधा डालकर सामाजिक इकाइयों की स्थिति शोचनीय बनाने लगता है। समाज में उसके कारण असंतोष, कलह, संघर्ष की प्रबलता होने लगती है।

कुछ समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि सामाजिक संगठन कोई स्थिर व्यवस्था नहीं है। गतिशील समाज में सामाजिक संगठन को पग-पग पर परिवर्तन के धक्के लगते चलते हैं जिनके कारण उसका स्वरूप न्यूनाधिक मात्रा में बदलता चलता है। नाना प्रकार के समूह नाना प्रकार के स्तरों पर रहते हैं। कुछ संगठित रहते हैं, कुछ कम संगठित। शत-प्रतिशत संगठित समाज अथवा पूर्ण रूप से संगठित समाज केवल कल्पना में रहते हैं। उसी प्रकार ऐसे समाज भी नहीं हैं जो पूर्णतः विघटित ही हों। ऐसे समाज कल्पना लोक की ही वस्तु माने जायंगे जिनमें सभी निर्मायक इकाइयां पूर्ण 'कुशलता के साथ परस्पर सहयोग' की भावना से अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रियाशील हों।

संगठन और विघटन

परिवर्तन की प्रक्रिया सतत चालू रहने के कारण शत-प्रतिशत संगठित समाज यदि कोई हो भी तो उसपर विघटन का प्रभाव पड़नेवाला ही है। उससे उसकी आदर्शात्मक स्थिति में अंतर आयेगा। 'संघटन' और 'विघटन' सापेक्षिक शब्द हैं। समाज में दोनों का ही अस्तित्व रहता है। संगठन में विघटन घुस आता है, विघटन में संगठन। दोनों में अंतर केवल मात्रा का रहता है। जिस समाज में संगठन के तत्व अधिक मात्रा में रहते हैं, उसे संगठित समाज कहा जाता है। जिसमें विघटन के तत्व अधिक मात्रा में रहते हैं, उसे विघटित समाज कहा जाता है।

सामाजिक विघटन की अपनी कुछ विशेषताएँ रहती हैं। जैसे, सामाजिक परिवर्तन ही मुख्यतः सामाजिक विघघटन का आधार रहता है। सामाजिक विघटन किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा नहीं होता। वह अज्ञात अथवा अवैयक्तिक शक्तियों का परिणाम होता है। सामाजिक विघटन की स्थिति अवांछनीय

विघटन की विशेषताएँ

एवं दुर्भाग्यपूर्ण मानी जाती है। उसमें सामाजिक मूल्यों एवं अभिवृत्तियों का ह्रास होता है।

विघटन के लक्षण

फेरिस ने सामाजिक विघटन के ८ प्रमुख लक्षण बताये हैं—(१) औपचारिकता, दिखावापन, (२) पवित्र तत्वों का ह्रास, (३) स्वार्थों और रुचियों में व्यक्तिभेद (४) व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा वैयक्तिक अधिकारों पर बल, (५) सुखवादी व्यवहार (६) जनसंख्या में विभिन्नता, (७) पारस्परिक अविश्वास और (८) अशांतिपूर्ण प्रपंच।

समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैयक्तिक,—ये तीन पक्ष रहते हैं। किसी भी समूह का संगठन इन तीनों पक्षों के आदर्शों मूल्यों एवं विश्वासों की अनुभूति, उपयोग और उपभोग के लिए होता है। जब तक इनमें सामंजस्य रहता है, तबतक संगठन रहता है। सामंजस्य मिटते ही विघटन आरंभ हो जाता है। जबतक सामंजस्य है तबतक हार्दिकता है, प्रेम है, सहयोग है, त्याग है, कष्ट-सहन है, पावित्र्य है, परार्थवाद है। जहाँ यह सामंजस्य मिटा कि स्वार्थवाद चारों ओर से घेर लेता है। फिर दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए स्वयं कष्ट झेलने की बात समाप्त हो जाती है। उसके विपरीत यह भावना बढ़ने लगती है कि 'मैं' और 'मेरा' सुख ही सर्वोपरि है। दूसरे मुझे सुख पहुँचायें, भले ही उसके लिए उन्हें कैसा भी कष्ट क्यों न झेलना पड़े। मेरे अधिकार असीम हैं, कर्तव्य कुछ नहीं। यों स्वार्थवाद ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों विघटन भी बढ़ता है और उसके लक्षण सर्वत्र दिखाई पड़ने लगते हैं।

संघष, कलह, मतभेद जैसे लक्षण छिपे नहीं रहते। प्रेम, सद्भाव आदि के भाव तो किसी मात्रा में गोपन भी बने रहते हैं, विघटन के लक्षण तो प्रकट ही हो जाते हैं। मैनिजर को अपनी एक पुस्तक का शीर्षक देना था, उसके लिए 'प्रेम की शक्ति' 'प्रेम का विकास' 'प्रेम की ओषधि' जैसे कई नाम सामने आये। सब पर विचारमंथन हुआ। अंत में पुस्तक का नाम चुना गया—'लव अगेन्स्ट हेट' (घृणा के विरुद्ध प्रेम)। इसका कारण उसने यह बताया कि 'लोग 'प्रेम' शब्द का व्यवहार करने में झिझकते हैं, क्योंकि उसे भावना-प्रवण कल्पनामय, 'रोमांसी' अथवा निर्बल समझा जाता है। उसके स्थान पर 'घृणा', 'युद्ध', 'संघर्ष' जैसे शब्दों का व्यवहार लोगों को स्वीकार्य होता है,

क्योंकि ऐसे शब्द सशक्त, वैज्ञानिक और प्रतिष्ठापूर्ण माने जाते हैं।[1]

विघटन के प्रमुख लक्षण अत्यंत स्पष्ट रूप में सामने आ जाते हैं। जैसे, एकमत्य का अभाव, रूढ़ियों और संस्थाओं में द्वंद्व, सामूहिक आदर्शों और सामाजिक नियंत्रण के साधनों के प्रभाव में ह्रास, सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता, समितियों और समूहों के कार्यों में हस्तांतरण, व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद पर बल आदि।

एकमत्य का अभाव : समाज को संगठित करने का, उसे एक सूत्र में बाँधने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है—मतैक्य। यह मतैक्य जिस मात्रा में रहता है, उसी के अनुसार समाज संगठित अथवा विघटित होता है। सोरोकिन कहता है कि 'विरोध तब उत्पन्न होता है जब सभी पक्षों द्वारा महत्वपूर्ण माने जानेवाले मूल्यों का अभाव होता है, जब कि विभिन्न पक्ष मिलकर एक 'हम' में संघटित नहीं हो पाते; जब ऐसे मूल्य नहीं रह जाते जिन्हें सभी पक्ष एक-सा महत्व प्रदान करते हों, जब प्रत्येक पक्ष अपने मूल्यों को महत्वपूर्ण और अपर पक्ष के मूल्यों को नगण्य मानता है। जब कोई आस्तिक और जब कोई नास्तिक, जब कोई कम्युनिस्ट और जब कोई कम्युनिस्ट विरोधी अपने-अपने मूल्यों को महत्वपूर्ण और विरोधियों के मूल्यों को नगण्य मानने लगता है, तो, वे दोनों परस्पर विरोधी बन जाते हैं। ऐसा समाज विरोधात्मक संगठन का रूप धारण कर लेता है।[2]

रूढ़ियों और संस्थाओं में द्वंद्व : विवाह, परिवार, जाति, स्कूल, सरकार आदि संस्थाएँ अपनी-अपनी परंपराएँ रखती हैं। उनकी कुछ विशिष्ट परिपाटियां होती हैं, कुछ लोकरीतियां, रूढ़ियां होती हैं। ये रूढ़ियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आती हैं। सामाजिक नियंत्रण में इनका बड़ा हाथ रहता है। परंतु जब सामाजिक विघटन आरंभ हो जाता है तो संस्थाओं में और उनकी रूढ़ियों में द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर संस्थाओं में भी नाना प्रकार के परिवर्तन आते हैं। रूढ़ियों के संस्कार नये परिवर्तनों का विरोध करते हैं। अतः द्वंद्व उत्पन्न होता है, जिससे समाज की एकसूत्रता टूटने लगती है।

सामूहिक आदर्शों का ह्रास : व्यक्ति जबतक समूह का आदर करता है और समूह के लिए स्वार्थ का बलिदान करने को प्रस्तुत रहता है, तबतक

---

१. कार्ल मेनिंजर; लव अगेनस्ट हेट, लन्दन, लेखक का निवेदन, पृष्ठ ६।
२. पितिरिम ए० सोरोकिन: मानवता की नवरचना, पृष्ठ १०८—११०।

समाज का संगठन दृढ़ बना रहता है। परंतु जक वह स्वार्थवादी प्रवाह में बहने लगता है तो स्थिति उलट जाती है। सामूहिक आदर्शों की वह चिंता नहीं करता। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि सामूहिक आदर्श गिरने लगते हैं।

सामाजिक नियंत्रण में कमी : समाज का जो ढांचा अनेक शताब्दियों में खड़ा हुआ, उसके विकास में सामाजिक नियंत्रण का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहता आया है। धर्म, विश्वास, आदर्श लोकरीति, लोकाचार प्रथाएँ, परिपाटियां आदि नियंत्रण के अनेक साधन अपने-अपने ढंग से सामाजिक नियंत्रण करते रहे हैं। परंतु गतिशील समाज में नये-नये विचारों के कारण तथा सामाजिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक नियंत्रण के साधन शिथिल होते चलते हैं। नियंत्रण कम होने से सामाजिक विघटन बढ़ता चल रहा है।

परिवर्तन में तीव्रता : प्रौद्योगिक सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तन जब तीव्र गति से होने लगते हैं तो व्यक्ति और समितियाँ उनकी तीव्रता के अनुरूप सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहती हैं। उनके पदों और कार्यों में परिवर्तन द्वारा अपेक्षित अनुकूलन नहीं हो पाता। इसके कारण भी सामाजिक विघटन परिलक्षित होने लगता है।

समितियों के कार्यों में परिवर्तन : मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् समितियों की रचना हुई है। प्रत्येक समिति की स्थिति, पद और कार्य निश्चित रहते हैं। ये जब विधिवत अपना कार्य करती हैं और परस्पर हस्तक्षप नहीं करती हैं तो सामाजिक संघटन दृढ़ रहता है। परंतु जब ये समितियाँ दूसरी समितियों के पदों और कार्यों में हस्तक्षेप करने लगती हैं, उनका हस्तांतरण होने लगता है तो सामाजिक विघटन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगता है।

व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद : व्यक्ति जब समूह के स्वार्थ को गौण स्थान देने लगे और व्यक्तिगत स्वार्थ को सर्वोपरि स्थान देने लगे 'मेरा स्वार्थ सिद्ध हो, समाज जहन्नुम में जाये'—यह भावना जब सर्वत्र फैलती दीख पड़े तो मानना होगा कि सामाजिक विघटन आरंभ हो गया है। 'हम' के स्थान पर 'मैं' की स्थापना, परार्थवाद के स्थान पर स्वार्थवाद का प्राबल्य सामाजिक विघटन का स्पष्ट स्वरूप होता है।

संगठन और विघटन में भेद

सामाजिक संगठन और विघटन प्रकाश एवं अंधकार, सुख एवं दुःख की भांति दो परस्पर भिन्न स्थितियाँ है। दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है। दोनों के अतर को इस प्रकार देखा जा सकता है—

सामाजिक संगठन	सामाजिक विघटन
१. समूह के सदस्यों में पूर्ण एकमत्य	१. समूह के सदस्यों में एकमत्य का अभाव
२. रूढ़ियों और संस्थाओं में सामंजस्य	२. रूढ़ियों और संस्थाओं में द्वंद्व
३. सामूहिक आदर्शों के लिए आदर और त्याग	३. सामूहिक आदर्शों की उपेक्षा और अवहेलना
४. सामाजिक नियंत्रण के साधनों का अनुकूल प्रभाव	४. सामाजिक नियंत्रण के साधनों के प्रभाव में कमी
५. समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों का आदर	५. समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों का तिरस्कार और अनादर
६. समाज में सुख शांति और सामंजस्य	६. समाज में दुखः, अशांति और असामंजस्य
७. सामाजिक संबंधों में हार्दिकता	७. सामाजिक संबंधों में औपचारिकता
८. परार्थवाद के लिए त्याग और कष्ट सहन	८. स्वार्थवाद के लिए सारा प्रयत्न

स्पष्ट है कि संगठन जहाँ समाज को जोड़ता है, विघटन वहाँ समाज को तोड़ता है। संगठन जहाँ समाज के सुख, शांति और आनंद का वर्द्धन करता है, विघटन वहाँ पर दुःख, असंतोष, क्लेश, अशांति, तनाव, कलह, संघर्ष और युद्ध के द्वारा समाज के मूल पर ही प्रहार करता है।

विघटन की प्रकृति

सामाजिक विघटन के इन लक्षणों से सामाजिक विघटन की प्रकृति का अनुमान किया जा सकता है। विघटन के द्वारा समाज में अस्थिरता एवं अशांति उत्पन्न होती है, स्पर्द्धा और प्रतियोगिता बढ़ती है जिससे सामंजस्यपूर्ण सामाजिक संबंध बिगड़ने लगते हैं और उनमें दरार पड़ने लगती है। घृणा, द्वेष, वैर, कलह, तनाव, संघर्ष, अव्यवस्था असंतुलन, असामंजस्य जैसे

तत्वों का प्राबल्य हो उठता है। पुराने मूल्य, आदर्श, सामाजिक नियंत्रण के साधन अपना प्रभाव खो बैठते हैं। सामाजिक असामंजस्य उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है।

असामंजस्य का मापदंड

सामाजिक असामंजस्य किस मात्रा में है और उसकी गहनता तथा गंभीरता कितनी है, इसको मापने के लिए समाजशास्त्रियों ने कुछ मापदंड खोज निकाले हैं। गिलिन और गिलिन के अनुसार सामान्य दर, समष्टि मापदंड, जनसंख्या की संरचना, सामाजिक दूरी और सामाजिक क्रियाओं में सहभागिता द्वारा सामाजिक असामंजस्य को मापा जा सकता है।

सामान्य दर : यदि समाज में समाज विरोधी गतिविधियों की दर बढ़ती है, अपराध, बाल अपराध, आत्महत्याएँ, विवाह-विच्छेद आदि बातें बढ़ती हैं, संपत्ति एवं आय में असमानता बढ़ती है, बेकारी और गरीबी बढ़ती है, तो ये बढ़ी हुई दरें सामाजिक असामंजस्य प्रकट करती हैं। मानव के व्यक्तिगत विघटन में वृद्धि होने का अर्थ ही है—सामाजिक असामंजस्य।

समष्टि मापदंड : सामाजिक विघटन के फलस्वरूप व्यक्ति तो टूटता ही है, उसके साथ-साथ समाज भी टूटता है। सामाजिक सामंजस्य जाता रहता है। सामुदायिक नियम, बंधन और नियंत्रण अपना प्रभाव खो देते हैं। समाज विरोधी, संघर्षपूर्ण स्थितियाँ पनपती हैं। सामूहिक घटनाओं की इस वृद्धि के द्वारा, समष्टि मापदंड द्वारा सामाजिक असामंजस्य का अनुमान किया जा सकता है। व्यक्ति स्वेच्छाचारी बनकर सामाजिक एकता पर प्रहार करता है।

जनसंख्या की संरचना : यदि किसी समाज में वयस्कों की अपेक्षा बालकों की संख्या अधिक होती है, छोटी आयुवाले लोग अधिक होते हैं तो विभिन्न आयु समूहों के बीच सामान्य संबंधों में असामंजस्य आ जाता है।

सामाजिक दूरी : विभिन्न वर्गों, समूहों, व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच सामाजिक दूरी जितनी अधिक रहेगी, उतना ही अधिक सामाजिक असामंजस्य रहेगा। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच जितनी अधिक दूरी रहेगी उतनी ही कम मात्रा में उनमें आंतरिक और घनिष्ठ संबंध स्थापित हो सकेगा। बोगर्डस की मान्यता है कि सामाजिक दूरी सामाजिक असामंजस्य मापने का उत्तम साधन है। 'हम सब एक हैं'–यह भावना जितनी कम होगी, सामाजिक असामंजस्य उतना ही अधिक होगा। सामाजिक दूरी का यदि

सभी दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कोई समस्या क्यों विद्यमान है।[1]

सहभागिता : सामाजिक क्रियाओं में लोग कितने सहभागी बनते हैं और किस मात्रा में हाथ बंटाते, हैं, इससे भी इस बात का पता लगाया जा सकता है कि सामाजिक असामंजस्य किस मात्रा में हैं। यदि समाज के सदस्य सामाजिक क्रियाओं में कोई भाग नहीं लेते अथवा बहुत कम भाग लेते हैं, उनकी ओर उपेक्षा बरतते हैं तो इसका अर्थ यह है कि सामाजिक असामंजस्य बहुत बढ़ गया है।

असामंजस्य के क्षेत्र

सामाजिक असामंजस्य जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों में उत्पन्न हो सकता है। समाजिक परिवर्तन की श्रृंखला सभी क्षेत्रों में असंतुलन ला देती है। इसके कारण वैयक्तिक क्षेत्र, पारिवारिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र, सांस्कृतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र आदि सभी क्षेत्रों का संतुलन बिगड़ने लगता है। शिक्षा पद्धति में, सामाजिक रीति-रिवाजों में, प्राचीन मूल्यों और विश्वासों में नये विचारों के साथ पटरी न बैठ पाने से समाज की सारी आधारशिला विघटन की ओर अग्रसर होने लगती है।

असामंजस्य की इस प्रक्रिया से व्यक्तिगत जीवन में बालापराध, यौन-अपराध, हत्या, आत्महत्या, मद्यपान, व्यसन, मानसिक असंतुलन आदि आता है। पारिवारिक जीवन में तनाव, कलह, विवाहविच्छेद, परित्याग, एकता का ह्रास आता है। धार्मिक क्षेत्र में पुरानी परिपाटियों, आदर्शों और मूल्यों का नये आदर्शों और मूल्यों से संघर्ष होने लगता है। विचारों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर नयी रोशनी अपना प्रभाव डालने लगती है। आर्थिक असंतुलन, औद्योगीकरण, नागरीकरण, दरिद्रता, बेकारी आदि सारे समाज को पीड़ित करने लगती हैं। दलबंदी, राजनीतिक भ्रष्टाचार और जनता पर लगनेवाले करों में वृद्धि, मंहगाई आदि के कारण सुरक्षा और शांति में बाधा पड़ने लगती है। सभी क्षेत्रों में असामंजस्य उत्पन्न हो जाने से सामाजिक विघटन उग्र से उग्रतर होने लगता है।

---

१. ई० एस० बोगर्डस ; दि न्यू सोशल रिसर्च, पृ० २००-२०६

सामाजिक विघटन ज्यों-ज्यों विस्तृत होने लगता है त्यों-त्यों समाज के सभी क्षेत्र उसकी चपेट में आने लगते हैं। विघटन के एक नहीं, अनेक प्रकार हैं। मोटे तौर पर ये प्रकार माने जा सकते हैं—

विघटन के प्रकार
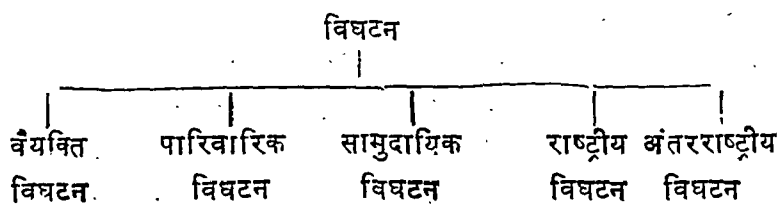
अथवा सामाजिक विघटन को इस प्रकार भी विभाजित किया जा सकता है—
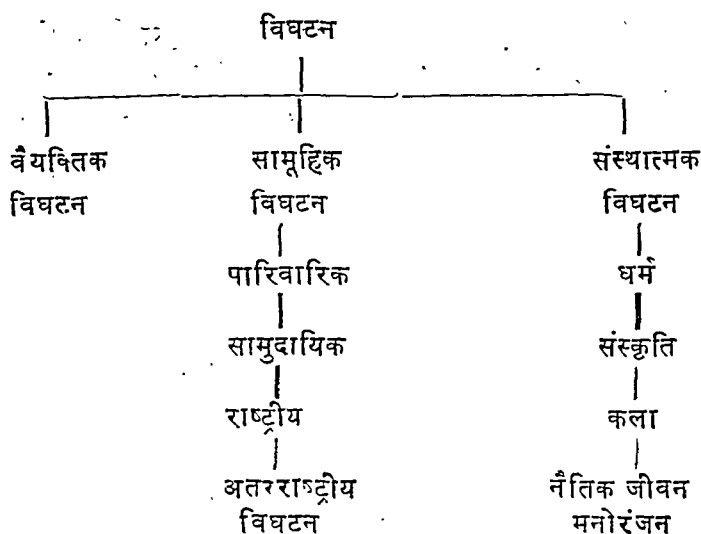
विघटन के विभिन्न प्रकारों के साथ-साथ नाना प्रकार की समस्याएँ भी जुट जाती हैं। जैसे, बाल अपराध, यौन अपराध, अपराध और दंड, हत्या आत्महत्या, मद्यपान, व्यसन, पागलपन, पारिवारिक तनाव, कलह, विवाह विच्छेद, परित्याग, बेकारी, निर्धनता, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, दलबंदी आदि। मानव के व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं ये समस्याएँ समाज के सर्वाङ्गीण जीवन को चारों ओर से लपेट लेती हैं। सारा समाज विघटन के कुप्रभाव का शिकार बन जाता है।

सामाजिक विघटन का प्रभाव समाज के सभी सदस्यों और समाज की सभी संस्थाओं पर अपना गहरा प्रभाव डालता है। उससे व्यक्ति ही नहीं टूटता; सारा समाज टूटता है, सारा राष्ट्र टूटता है और इतना ही नहीं अखिल विश्व पर उसकी बुरी प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

विघटन का प्रभाव

विघटन के कारण अपराधों में तीव्र गति से वृद्धि होने लगती है। बालक और प्रौढ़, स्त्री और पुरुष अपराधों और व्यसनों के जाल में फँसते हैं। पारिवारिक प्रेम समाप्त होने लगता है। नैतिक और धार्मिक मूल्यों का ह्रास होने लगता है। आर्थिक व्यवस्था गड़बड़ाती है। संपत्ति का समाज में विषम वितरण होता है जिसके चलते एक ओर धनी दिन-दिन अधिक धनी होते चलते हैं, गरीब दिन-दिन अधिक गरीब। श्वेत वस्त्रधारी अपराधी पैसे के बल पर समाज में अन्याय और शोषण, चोरी और बदमाशी बढ़ाने लगते हैं। राजनीतिक भ्रष्टाचार खूब पनपता है। बेकारी, गरीबी, भुखमरी, अपराध, मंहगी, भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण, दमन, अत्याचार ही सर्वत्र दिखाई पड़ता है। चारों ओर दुःख, निराशा, हाहाकार अशांति, हड़ताल, उपद्रव, हिंसा, युद्ध का तांडव दृष्टिगोचर होता है। सारा मानव जीवन, सारा सामाजिक जीवन विश्रृंखलित हो उठता है।

सामाजिक विघटन के अनेक कारण होते हैं। विभिन्न विचारकों ने उसके विभिन्न कारण बताये हैं। मार्क्स जैसे लोगों का मत है कि केवल आर्थिक कारक ही सामाजिक विघटन का कारण होता है। कुछ लोग सामाजिक परिवर्तन को ही उसका एक मूल कारण बताते हैं। कुछ सामाजिक नियंत्रण की शिथिलता को उसका कारण बताते हैं। किसी एक ही कारण को सामाजिक विघटन का कारण बताना ठीक नहीं है। अनेक कारणों की सम्मिलित प्रतिक्रिया ही सामाजिक विघटन के रूप में उपस्थित होती है।

विघटन के कारण

इलियट और मैरिल ने सामाजिक विघटन के प्रमुख कारण इस प्रकार बताये हैं—(१) सामाजिक परिवर्तन, (२) सामाजिक दृष्टिकोण, (३) सामाजिक मूल्य, (४) सामाजिक संकट और युद्ध।

आगबर्न और निमकाफ ने सामाजिक विघटन के ये कारण बताये हैं—(१) गतिशील समाज में सामाजिक परिवर्तन की असमान दर या असंतुलन; (२) विभिन्न संस्कृतियों में संबंध; (३) परिवर्तनशील भौतिक पर्यावरण का

प्रभाव; (४) भौतिक और सांस्कृतिक पर्यावरण के साथ मानव का अनुकूलन न हो पाना; (५) बेकारी; (६) व्यापारिक मंदी; (७) पारिवारिक विघटन।

आधुनिक युग की विशेषताएँ—औद्योगीकरण, नागरीकरण, श्रमसमस्या, संपत्ति का असमान वितरण आदि भी सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी हैं।

युग के साथ सामाजिक मूल्यों में जो परिवर्तन होता चलता है उसका समाज के संगठन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। उसके अतिरिक्त आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दार्शनिक आदि अनेक कारक भी समाज पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। इन सभी कारकों की संयुक्त प्रतिक्रिया सामाजिक विघटन के रूप में विस्फोट पाती है।

आर्थिक कारक : यांत्रिक क्रांति ने समाज के सारे संगठन को अत्यंत गंभीर रूप से प्रभावित किया है। औद्योगिक क्रांति ने समाज की संरचना ही बदल दी है। औद्योगीकरण के चलते मानव के जीवन स्तर में आशातीत परिवर्तन हुए हैं। स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता मिली है, पर माता की नौकरी एक विषम समस्या बन गयी है। अत्यधिक उत्पादन, शोषण, बेकारी आदि तो औद्योगीकरण के अंग ही हैं, एकाधिकार, मुद्रा प्रसार, श्रम समस्या और आर्थिक गतिशीलता, व्यापारिक अपकर्ष, काला बाजार जैसी आर्थिक समस्याएँ भी उसी के साथ संलग्न हैं। इसके चलते सामाजिक विघटन विशेष रूप से बढ़ता है।

सामाजिक कारक : व्यक्तिवादी, सुखवादी, भौतिकवादी विचारधारा के प्रचलन से व्यक्ति और समूह में स्वार्थ की भावना सर्वोपरि हो बैठती है। नैतिकता की मर्यादाएँ जाती रहती हैं। कामोपभोग और विलास ही जीवन का लक्ष्य बन बैठता है। यौनपिपासा मनुष्य को व्यभिचार तथा अन्य समाजविरोधी कर्मों और अपराधों की ओर खींच ले जाती है। विवाह धार्मिक संबध न रहकर कचहरियों की रजिस्ट्री का, एक सामान्य संविदा का रूप धारण कर लेता है। नगण्य से नगण्य कारणों पर तलाक ले ली जाती है। नागरीकरण के कारण मकानों आदि की समस्या विषम बनती है। मनोरंजन व्यापारिक रूप ले लेता है। औद्योगीकरण के कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। जनसंख्या, शिक्षा और उसका स्वरूप सांस्कृतिक आदर्शों और मूल्यों का परिवर्तन, सामाजिक नियंत्रण का शैथिल्य, सामाजिक

व्यवहारों का नया आदर्श, दिखावा, शिष्टाचार आदि समाज का स्वरूप ही बदल देते हैं। इन सामाजिक कारकों के कारण सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को बल मिलता है।

राजनीतिक कारक : सत्ता का मोह और सत्ता प्राप्ति की प्रतिद्वंद्विता, सत्ता की राजनीति सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण बनती है। शक्ति और सत्ता प्राप्त करने के लिए जघन्य से जघन्य अपराध किये जाते हैं। राजनीति का गंदा खेल सारे वातावरण को दूषित करता है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, श्वेतवस्त्रधारी अपराध, चुनाव आदि में भ्रष्टाचार और अनैतिकता, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, दलबंदी, हड़ताल, प्रदर्शन, उपद्रव आदि नाना रूपों में उसके दर्शन होते हैं। इन सबसे विघटनकारी प्रवृत्तियों को बल मिलता है।

संवैधानिक कारक : न्याय आज इतना मंहगा सौदा बन गया है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असंभव जैसी बन गयी है। जिसके पास लंबी थैली होती है, वह उसके चलते अपने अनुकूल फैसला करवा लेता है। छोटे-छोटे मुकदमे बरसों चलते रहते हैं। एक तो सही न्याय मिल नहीं पाता, दूसरे वह बहुत बिलंब लेता है, तीसरे वह मंहगा रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में अपराध बढ़ते चलते हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की स्थिति विघटन को बल देती है।

धार्मिक-दार्शनिक कारक : स्वामी विवेकानंद कहते थे कि संसार में धर्म के नाम पर जितना रक्त बहा है, उतना और किसी कारण से नहीं। धार्मिक मतभेद, दार्शनिक मतभेद, मानव जीवन को शताब्दियों से प्रभावित करते आ रहे हैं। धर्म और दर्शन के विकास का लक्ष्य मानव की आंतरिक जिज्ञासा की तृप्ति था, परंतु उसमें जब संकुचितता का प्रवेश हो गया, 'मेरी ही विचार धारा सही है, मेरा ही चिंतन सर्वश्रेष्ठ है, सत्य का केवल मैंने ही ठेका ले रखा है'—इस भावना के प्रवेश से ही विघटन का आरंभ हो गया। समाज में से राग-द्वेष, हिंसा, घृणा, संघर्ष आदि को मिटाने के लिए जो धर्म और दर्शन था, आज उसी के नाम पर रक्त की धाराएँ बहती हैं।

अन्य कारक : सामाजिक मूल्यों और मनोवृत्तियों में होनेवाले परिवर्तनों से सामाजिक विघटन की बुनियाद पड़ती है। संकटों के बादल घिरते हैं। ये संकट कुछ तो भौतिक और प्राकृतिक होते हैं। जैसे, अकाल, बाढ़, महामारी

भूकंप जैसी दुर्घटनाएँ । कुछ संचयी संकट होते हैं । सांस्कृतिक, संघर्ष, सांप्रदायिक संघर्ष, जातिवाद, नस्लवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद जैसे संचयी संकट समाज में विघटन लाते हैं । समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, रेडियो, टेलीविजन, विज्ञापन जैसे प्रेस और सामुदायिक संदेशवाहन के साधन नाना प्रकार से मतभेदों की अग्नि में घी डाला करते हैं ।

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक विघटन के संबंध में कुछ विशिष्ट सिद्धांतों की भी रचना कर डाली है । मावरर ने सामाजिक परिवर्तन को उसका जनक बताते हुए विघटन के ये सिद्धांत गिनाये हैं—सामाजिक समस्या सिद्धांत, मनोजैविकीय सिद्धांत, भौगोलिक सिद्धांत, सांस्कृतिक सिद्धांत और सावयवी सिद्धांत । इनके अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय और अध्यात्मवादी सिद्धांत भी सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी बताये जाते हैं ।

विघटन के सिद्धांत

सामाजिक समस्या सिद्धांत : यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि सामाजिक समस्याओं के कारण ही सामाजिक विघटन होता है । प्रत्येक सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, विकसित-अविकसित समाज में कुछ-न-कुछ समस्याएँ रहती हैं । सामाजिक परिवर्तन से उनमें संघर्ष और विरोध की स्थिति आकर विघटन का कारण बनती है ।

लेमर्ट ने कहा है कि ८ प्रकार की रूढ़ियाँ होती हैं जिनके विपरीत जाने से सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है । ये रूढ़ियाँ हैं (१) निवास की स्थिरता, (२) निजी संपत्ति, (३) कम खर्च की आदत, (४) कार्य करने की आदत, (५) यौन संबंधों में विवेकयुक्त आचरण, (६) पारिवारिक स्थायित्व, (७) पड़ोस की भावना और (८) इच्छाओं पर नियंत्रण ।

इस सिद्धांत को इसके आलोचकों ने अपूर्ण तथा दोषपूर्ण माना है । इसमें किसी देश, काल, स्थान में ही कोई समस्या क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं, उसकी कोई वैज्ञानिक परिभाषा तथा व्याख्या नहीं की गयी है । प्राचीन प्रथाएँ और रूढ़ियाँ उचित ही हैं, उसको मानने का कोई कारण नहीं है । इस सिद्धांत नें मूल्यों पर जोर दिया गया है, जिसे सभी विद्वान स्वीकार नहीं करते । इस सिद्धांत के प्रत्ययों और अमूर्त तत्वों का स्तर ऊँचा नहीं माना जाता ।

मनोजैविकीय सिद्धांत : मनोविज्ञान तथा जीवशास्त्र पर आवृत इस सिद्धांत में ऐसा माना जाता है कि प्रजातीय मिश्रण ही सामाजिक विघटन का मूल कारण होता है । डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत में मनोविज्ञान जोड़कर

इस सिद्धांत की रचना हुई है। गोबिनो तथा उसके समर्थक कहते हैं कि श्वेत, पीली और काली प्रजातियाँ आरंभ से वलवान रही हैं। श्वेत प्रजाति दोनों से अपेक्षाकृत अधिक योग्य और प्रभावपूर्ण रही है। उसने इन दोनों प्रजातियों को पराजित कर उनसे संतान उत्पन्न की। तभी से विघटन आरंभ हुआ। प्रजनन शास्त्रिणों ने इस बात पर बल दिया कि विभिन्न प्रजातियों में ही नहीं, एक ही प्रजाति में भी योग्यता में पर्याप्त अंतर रहते हैं। उनका प्रभाव भावी संतति पर पड़ता है। हीन बुद्धिवालों की संतति हीन एवं अपराधी होती है। अतः ऐसे लोगों को संतति उत्पन्न करने से ही रोक दिया जाना चाहिए। उसके लिए निर्वीर्यीकरण और वंध्याकरण का आश्रय लेना ठीक होगा।

वंशानुसंक्रमणवादी लोगों ने कुछ परिवारों का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उत्तम बुद्धि और योग्यतावालों की संतति उत्तम होती है, हीन योग्यतावालों की हीन। जुक्स और एडवर्ड के परिवारों का परीक्षण बहुत प्रसिद्ध है। १७२० ई० में न्यूयार्क में जूक नामक व्यक्ति था। १८७७ ई० में उसके परिवार के १२०० व्यक्तियों का पता लगा। इसमें ४४० किसी-न-किसी रोग अथवा शारीरिक दोष से ग्रस्त मिले, ३१० भिक्षुक निकले, ३०० व्यक्ति अनाथालयों में मरे, १३० व्यक्तियों ने न्यायालय से दंड प्राप्त किया, इन अपराधियों में ७ ने हत्याएँ की थीं। आधे से अधिक स्त्रियाँ वेश्याएँ निकलीं। सन् १९१५ में इस परिवार का पुनः अनुसंधान किया गया तो २८२० व्यक्तियों का पता लगा, जिनमें ६०० व्यक्ति पागल निकले।

जोनाथन एडवर्ड के वंशजों का पता लगाया गया, १३९४ व्यक्तियों का पता लगा। इनमें २९५ कालेजों के स्नातक, १३ कालेजों के अध्यक्ष निकले। एक व्यक्ति अमेरिका का उपराष्ट्रपति निकला। अन्य लोगों में अच्छे व्यापारी, वकील और विशिष्ट राजनीतिज्ञ निकले।

बुद्धि परीक्षण संबंधी प्रयोगों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि भिन्न-भिन्न नस्लों की मानसिक आयु भिन्न-भिन्न रहती है। मिस बर्क्स ने पोषित गृहों में पालित बच्चों पर प्रयोग करके बताया कि व्यक्ति के विकास में ८० प्रतिशत वंशानुसंक्रमण का प्रभाव होता है और १७ प्रतिशत पर्यावरण का।

मनोजैविकीय सिद्धांत एकांगी ही कहा जा सकता है। इसमें वंशगत कारकों को ही प्राधान्य दे दिया गया है। सामाजिक स्थितियों की पूर्णतः

उपेक्षा कर दी गयी है। प्रजाति विज्ञान पर आधृत हीनता का सिद्धांत बहुत सार्थक नहीं है। आयोवा विश्वविद्यालय के प्रयोग इससे भिन्न परिणाम प्रकट करते हैं। हीन बुद्धिवाली माताओं के १६ बच्चे पालित गृहों में रखे गये। पहले उनकी बुद्धि लब्धि (I. G.) ७१ थी, दो साल बाद वह बढ़कर ११६ हो गयी।

भौगोलिक सिद्धांत : हंटिंगटन डेविस जैसे कुछ समाजशास्त्री यह कहते हैं कि भूमिका समतल होना न होना, जलवायु, तापक्रम, ऋतुएँ, वर्षा, खनिज पदार्थ, भूकंप जैसे भौगोगिक कारक ही मनुष्य को अच्छा या बुरा गढ़ते हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य शिक्षा, अशिक्षा, सदाचार, अनाचार, आत्महत्या, पागलपन जैसे भले-बुरे मार्गों को ग्रहण करता है। भौगोलिक कारकों का सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि पर पूरा प्रभाव पड़ता है। विघटन के लिए भौगोलिक कारक ही मुख्यतः दोषी हैं।

यह ठीक है कि भौगोलिक स्थिति पर्यावरण, जलवायु प्राकृतिक स्थिति आदि का सामाजिक संगठन पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है, परंतु सामाजिक विघटन का एकमात्र कारक भौगोलिक तत्त्व ही हैं– यह सिद्धांत एकांगी और अपूर्ण है। इसमें विघटन के अन्य कारकों—सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक कारकों की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गयी है, जो कि युक्तिसंगत नहीं है।

सांस्कृतिक सिद्धांत : कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि सांस्कृतिक प्रक्रिया विघटन को जन्म देती है। वे संस्कृति के विभिन्न तत्वों के संदर्भ में सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण करते हैं। संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। क्लार्क विसलर ने संस्कृति के तत्वों का विवेचन करते हुए कहा है कि संस्कृति में ये तत्त्व रहते हैं—

(१) भाषा, (२) भौतिक गुण—भोजन, आवास, आवागमन के साधन, हथियार, वर्तन, वस्त्र आदि, (३) कला, नृत्य, संगीत आदि, (४) धार्मिक और वैज्ञानिक ज्ञान, (५) धार्मिक संस्कार, (६) परिवार तथा समाज संबंधी व्यवस्था, (७) धन संपत्ति, (८) संस्कार तथा (९) युद्ध।

वीरस्टैड ने विचार, व्यवहार आदर्श और भौतिक पदार्थ, ये तीन ही संस्कृति के तत्त्व माने हैं। लिंटन ने सार्वभौमिक, वैकल्पिक तथा विशिष्ट, ये तीन तत्त्व बताये हैं।

श्यामाचरण दूबे ने ऐसा माना है कि 'मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, कलात्मक आदि मानव जीवन में सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की समग्रता का नाम ही संस्कृति है।' मैलिनोवास्की कहता है कि 'उत्तराधिकार में प्राप्त कलात्मक तथ्य वस्तुएँ, यांत्रिक प्रक्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य,—ये सभी संस्कृति के अंतर्गत आते हैं।'

सांस्कृतिक सिद्धांत में ऐसा माना जाता है कि संस्थाओं की कार्यप्रणाली का संतुलन विगड़ते ही सामाजिक विघटन आरंभ हो जाता है। आगबर्न ने संस्कृति का भौतिक और अभौतिक, इन दो भागों में विभाजित करके कहा है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्रता से होते हैं, जबकि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति मंद रहती है। थामस और नैनिकी ने सांस्कृतिक संघर्ष को विघटन का मूल बताया है। पुरानी पीढ़ी के विचारों के साथ नयी पीढ़ी के विचार जब टकराते हैं तो संघर्ष की स्थिति आ जाती है।

सांस्कृतिक सिद्धांत की कुछ बातें तो महत्वपूर्ण हैं, परंतु उसमें सांस्कृतिक तत्वों पर उचित से अधिक बल दिया गया है। इसमें विघटन के अन्य आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कारकों की उपेक्षा कर दी गयी है। अतः यह सिद्धांत एक पक्षीय और अपूर्ण ही कहा जायगा।

सावयवी सिद्धांत : चार्ल्स कूले ने सामाजिक जीवन को सावयव प्रक्रिया के रूप में मानते हुए सावयवी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उसका मत है कि व्यक्ति और समाज, दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। व्यक्ति की समाज पर और समाज की व्यक्ति पर अंतःक्रिया होती है। व्यक्ति और समाज सामाजिक जीवन के दो परस्पर पूरक अंग हैं। एक को दूसरे से पृथक् करके सोचने का कोई अर्थ नहीं। दोनों की अंतःक्रियाओं में विकृति उत्पन्न होने पर सामाजिक विघटन का जन्म होता है। सामाजिक संस्थाएँ जब अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति करने में असमर्थ रहती हैं तो वे मानवीय व्यवहारों पर भी नियंत्रण नहीं रख पातीं। इसी के चलते समाज में विघटन आरंभ होता है। कूले के मत से व्यक्तिगत तथा सामाजिक विघटन का चक्र समाज में सतत चलता रहता है।

कूले ने एक ही कारक पर बल देकर सामाजिक विघटन की अवधारणा को सीमित तथा संकुचित कर दिया है। उसने व्यष्टि और समष्टि की बात और व्यक्तिगत तथा सामूहिक विघटन को परस्पर सबद्ध बताने की बात तो

ठीक कही है, परंतु इस बात की व्याख्या नहीं की कि सामाजिक विघटन के के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ और कारण उत्तरदायी हैं ।

धार्मिक सिद्धांत : ईसाई विचारकों ने ईश्वरीय कोप को सामाजिक विघटन का सिद्धांत बनाया । रीन होल्ड नीबर जैसे लोग कहते हैं कि बीमारी: सूखा, दुर्घटना, अकाल मृत्यु, निर्धनता, शोषण, अन्याय, युद्ध जैसी अवांछनीय घटनाएँ ईश्वरीय कोप का परिणाम हैं । ईश्वरीय कृपा से सुख-शांति और आनंद की वृद्धि होती है, कोप से दुःख-अशांति, युद्ध आदि की । मनुष्य के पापों का यह परिणाम ही सामाजिक विघटन के रूप में प्रकट होता है । असभ्य, अशिक्षित आदिवासी समाज में ऐसा माना जाता था कि देवता अथवा भूत-प्रेत जब रुष्ट हो जाते हैं तो दैवी आपत्तियाँ ढाते हैं । उनकी संतुष्टि के लिए वे नरबलि, पशुबलि, पक्षीबलि जैसी प्रक्रियाएँ करते थे । सभ्य और शिक्षित धर्म परायण लोग ऐसा मानते हैं कि पापों के फलस्वरूप ये आपत्तियाँ आती हैं और इनके निवारण का उपाय है पापों का प्रायश्चित करना ।

सामाजिक विघटन के इस सिद्धांत को भी एकांगी और अपूर्ण ही कहा जायगा । आज के गतिशील समाज में जब धार्मिक आस्थाएँ अत्यंत ढीली हो चली हैं, इस सिद्धांत को सहज ही लोग अस्वीकार कर देते हैं । वैज्ञानिक कसौटी पर ऐसे सिद्धांतों का खरा उतरना कठिन है ।

अध्यात्मवादी सिद्धांत :— कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि बुरे कर्मों का परिणाम बुरा होता है । मानव स्वभाव बुराई की ओर झुका रहता है । वह अपने व्यवहार के कारण नाना प्रकार के दुख एवं कष्ट भोगता है । मनुष्य के इस स्वभाव को परिवर्तित करना संभव नहीं । अतः समाज में विघटन मूलक स्थितियाँ रहेंगी ही । प्रकृति और पुरुष के स्वाभाविक संघर्ष को भी कुछ लोग विघटन का उत्तरदायी ठहराते हैं । प्रकृति के नियमों का उल्लंघन दुःख और दारिद्रय के रूप में प्रकट होता है । सामाजिक विघटन एक प्राकृतिक प्रक्रिया ही है ।

यह सिद्धांत भी एकांगी है । यदि सब कुछ प्रकृति की इच्छा के अनुरूप चलना है तो मानवीय प्रयत्न का, मानवीय पुरुषार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता । अध्यात्मवादी सिद्धांत की सामाजिक विघटन की कोई वैज्ञानिक व्याख्या उपस्थित नहीं करता ।

वस्तुतः सामाजिक विघटन किसी एक कारण से नहीं होता । उसके मनोवैज्ञानिक, पर्यावरणीय, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक,

धार्मिक आदि अनेक कारण हैं। ये सभी कारण समग्र रूप से समाज की संगठनात्मक स्थिति को प्रभावित करते हैं और उसे विघटन की दिशा में ले जाते हैं। नये सामाजिक परिवर्तन, नये सामाजिक मूल्य, नये सामाजिक व्यवहार, शिक्षा, न्याय और धर्म के नये-नये स्वरूप सभी मिलकर सामाजिक संरचना में उथल-पुथल मचा देते हैं। सबका संयुक्त परिणाम होता है—सामाजिक विघटन।

विघटन के स्वरूप

सामाजिक विघटन समाज के प्रत्येक अंग को प्रभावित करता है। व्यक्ति हो या परिवार, समूह हो या समुदाय, राष्ट्र हो या विश्व—कोई भी क्षेत्र उसके प्रभाव में आये बिना नहीं रहता। उसके ४-५ स्वरूप मुख्य हैं—

१. वैयक्तिक विघटन,
२. पारिवारिक विघटन,
३ सामुदायिक और राष्ट्रीय विघटन तथा
४. अंतरराष्ट्रीय विघटन।

वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति विघटित होता है। बाल-अपराध, आत्महत्या, पागलपन, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, व्यसन, अपराध-जैसी समस्याएँ व्यक्ति को झकझोरती हैं। पारिवारिक विघटन में परिवार और दाम्पत्य जीवन विघटित होता है। पारिवारिक तनाव, तलाक, परित्याग-जैसी समस्याएँ परिवार की नींव को हिला देती हैं। सामुदायिक और राष्ट्रीय विघटन सारे समुदाय को, सारे राष्ट्र को खोखला कर देता है। भ्रष्टाचार, बेकारी, निर्धनता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, सामुदायिकता, भिक्षावृत्ति, मंहगी, कालाबाजार जैसी अनेक समस्याएँ राष्ट्रीय जीवन को नष्ट करती हैं। अंतरराष्ट्रीय विघटन की प्रमुख समस्याएँ हैं—क्रांति और युद्ध। इन समस्याओं का निराकरण किये बिना समाज सुखी और प्रसन्न नहीं हो सकता।

अंतरराष्ट्रीय विघटन

वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन और सामुदायिक विघटन की चर्चा आगे की जा रही है। यहाँ हम अंतरराष्ट्रीय विघटन के स्वरूप पर संक्षेप में चर्चा कर लें।

रेमन्ड एरन ('दि सेंचुरी आफ टोटल वार' में) लिखता है कि 'बीसवीं शताब्दी क्रांति, सर्वसत्तावाद और समग्र युद्ध की ही शताब्दी है।' अंतरराष्ट्रीय

विघटन के मूल कारण ये ही हैं । इनके कारण विघटन का चक्र व्यक्ति, परिवार, समुदाय और राष्ट्र से बढ़ते-बढ़ते समग्र विश्व को आक्रांत कर लेता है। युद्ध अंतरराष्ट्रीय विघटन की चरम परिणति है । शीत युद्ध हो अथवा रक्त युद्ध, उससे प्रभावित होनेवाले व्यक्तियों की संख्या से हताहतों की संख्या से, शांतिकाल में युद्ध के लिए पालकर रखी जानेवाली सेना के सैनिकों की संख्या से, बजटों में रखे जानेवाले प्रतिरक्षा मद के आंकड़ों से और समाचारपत्र, रेडियो, टेलीविजन कार्यक्रमों में प्रकट किये जानेवाले शत्रुतापूर्ण प्रचार आदि से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय विघटन किस मात्रा से हुआ और हो रहा है। आज विश्व में व्यापक रूप में विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनाव बढ़ा हुआ है, सेना और शस्त्रास्त्रों की होड़ बढ़ती चल रही है, शत्रुतापूर्ण प्रचार भरपूर चलता है, छोटे-बड़े संघर्ष आये दिन होते रहते हैं। उनसे स्पष्ट है कि अंतरराष्ट्रीय विघटन घटने के स्थान पर बढ़ता ही चल रहा है ।

क्रांति

तनाव और असंतोष जब अत्यधिक बढ़ जाता है और जब वह व्यापक रूप धारण करने लगता है तो क्रांति की चिनगारी सुलग उठती है, आज के युग में जिधर देखिये क्रांति का नारा सुनाई पड़ता है। कहीं लाल 'क्रांति' की आवाज लग रही है, कहीं 'हरित क्रांति' की, कहीं राजनीतिक क्रांति होती है, कहीं सामाजिक क्रांति, कहीं आर्थिक क्रांति तो कहीं धार्मिक क्रांति ।

लक्ष्य और परिभाषा

समाज की तत्कालीन स्थिति को उलट देना ही क्रांति का मूल लक्ष्य होता है। जो लोग स्वतंत्र नहीं हैं, वे स्वतंत्रता पाने के लिए क्रांति करना चाहते हैं । जो पददलित और शोषित है, वे शोषण से मुक्त होने के लिए क्रांति करना चाहते हैं। जो स्थिति, जो मूल्य और जो आदर्श लोगों को असहनीय लगते हैं, उन्हें समाप्त कर नयी स्थिति लाना ही क्रांति का उद्देश्य होता है ।

पितरिम सोरोकिन क्रांति की परिभाषा करते हुए कहता है कि 'क्रांति वह परिवर्तन है, जिसके कारण एक ओर तो लोगों के व्यवहार और आचरण में परिवर्तन होता है और दूसरी ओर उनके मनोभावों, आदर्शों, विश्वासों और मूल्यों में परिवर्तन होता है। क्रांति के कारण सामाजिक ढांचे में तथा मूल सामाजिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन होता है ।'

विलियम टामस कहता है कि 'जब किसी समुदाय, वर्ग या राष्ट्र के प्रचलित मूल्यों को बदल कर नये मूल्यों की मांग होती है, तब क्रांति होती है ।

क्रेन ब्रिटन ('एनाटोमी आफ रैवोल्यूशन' में) लिखता है कि 'क्रांति किसी वर्ग या समुदाय के तत्कालीन मूल्यों का निर्धारक सूचकांक होती है।'

अरस्तू ने क्रांति के कई कारण बताये हैं। जैसे, धृष्टता और अभद्रता से भरा हुआ व्यवहार, भय और आतंक; राजनीतिक भ्रष्टाचार और उत्कोच; राज्य के किसी भाग में सम्पत्ति में अचानक वृद्धि; छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा; ऊँच-नीच का भेदभाव, लाभ, मुनाफा, प्रतिष्ठा की तीव्र वासना आदि।

क्रांति के कारण

मार्क्स मानता था कि जबतक कोई वर्ग किसी वर्ग का शोषण करता रहेगा तबतक संघर्ष, विद्रोह और क्रांति अनिवार्य रहेगी। लेनिन कहता था कि 'जब सामंतवादी कुलीन तंत्र में और नौकरशाही के आदेशों में टक्कर होने लगती है तो देर-सबेर क्रांति होती ही है।'

समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि सामाजिक संगठन में तनाव बढ़ने से क्रांति का मार्ग प्रशस्त होता हैं। ये तनाव कई प्रकार के हो सकते हैं। जैसे, आर्थिक तनाव, सुरक्षा संबंधी तनाव, स्वतंत्रता संबंधी तनाव, ऊँच-नीच के स्तरीकरण संबंधी तनाव।

क्रांति अनेक प्रकार की हो सकती है। जैसे, राजनीतिक जनक्रांति, सैनिक क्रांति, आर्थिक क्रांति, औद्योगिक क्रांति, भौतिक क्रांति, कृषि क्रांति, सामाजिक क्रांति—धार्मिक क्रांति, शैक्षणिक क्रांति, वैचारिक क्रांति।

क्रांति के प्रकार

क्रांति के दो मोटे प्रकार हैं—हिंसक और अहिंसक। हिंसक क्रांति शस्त्रों द्वारा होती है, अहिंसक क्रांति विचार परिवर्तन, असहयोग और सत्याग्रह द्वारा होती है। विश्व के विभिन्न देशों में जो क्रांतियाँ हुई हैं, उनमें हिंसक क्रांति ही मुख्य रही है। अहिंसक क्रांति का सर्वोत्तम उदाहरण है—भारत।

हिंसक क्रांति की प्रक्रिया का एल० पी० एडवर्डस ने 'दि नैचुरल हिस्ट्री आफ रैवोल्यूशन' में और क्रेन ब्रिटन ने 'दि एनाटोमी आफ रैवोल्यूशन' में विस्तार से वर्णन किया है। इन लोगों के मत से तथा कुछ अन्य समाजशास्त्रियों के मत से हिंसक क्रांति की प्रक्रिया का क्रम ऐसा देखने में आता है—

क्रांति की प्रक्रिया

१. सबसे पहले असंतोष बढ़ता है। २. उसके उपरांत बुद्धिजीवी समुदाय भी उसका समर्थन करने लगता है। ३. इसके उपरांत कुछ सामाजिक प्रतीकों

का उद्भव होता है, कुछ आदर्श, कुछ नारे तैयार किये जात हैं। जैसे— स्वाधीनता, सुख, प्रसन्नता, 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' आदि। ४. इन आदर्शों से प्रेरित होकर नारों से उद्वेलित होकर जनता क्रांति के मैदान में कूद पड़ती है। क्रांति छिड़ जाती है। ५. क्रांति बढ़ती है, सफल होती है तो उदार मतवादियों के हाथ में सत्ता आ जाती है। ६. उन लोगों से जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती, तब क्रांतिकारी उनसे स्वयं सत्ता छीन लेते हैं। ७. क्रांतिकारियों का आरम्भिक शासन काल मारकाट और हिंसा से भरा रहता है। कुछ दिन आतंक का राज्य रहता है। ८. बाद में क्रांतिकारी शासन को वैधता प्राप्त हो जाती है।

इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका, रूस, चीन आदि देशों में होने वाली सशस्त्र क्रांतियों के इतिहास से हिंसक क्रांति की ऐसी ही प्रक्रिया देखने में आती है। प्रायः यह देखा गया है कि आरंभ में जो लोग क्रांति के कर्णधार थे, जिन्होंने क्रांति के लिए अपना सर्वस्व होम दिया, अंत में वे ही मौत के घाट उतार दिये गये अथवा उन्हें अन्य देशों में भागकर अपने प्राणों की रक्षा करनी पड़ी।

क्रांति का प्रभाव

क्रांतिकाल में तो सामाजिक विघटन व्यापक रूप धारण करता ही है, उसके उपरांत भी उसका व्यापक प्रभाव रहता है। सम्पत्ति, नैतिकता, यौन-आचार-व्यवहार और धार्मिक मनोभावों और मूल्यों पर क्रांति का भारी प्रभाव पड़ता है। क्रांति के दौरान मानव जीवन का तो कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। कीड़े-मकोड़ों की भाँति हजारों व्यक्तियों का सफाया कर दिया जाता है। जिस पर भी संदेह हो जाता है, उसे ही 'प्रतिक्रांतिवादी' कह कर गोली से उड़ा दिया जाता है। क्रांति का धन, जन ओर संपत्ति पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे विघटन की प्रक्रिया तेज हो जाती है। क्रांति के उपरांत यदि उस प्रक्रिया को ठीक ढंग से रोका नहीं गया और पुनर्निर्माण नहीं किया गया तो सारे राष्ट्र को उसका फल भोगना पड़ता है। इसके साथ हिंसक क्रांति की शृंखला में असंतोष तो रहता ही है। वह असंतोष आगे चलकर भयंकर रूप धारण कर सकता है और नये उपद्रव का रूप ले सकता है।

सर्वसत्तावाद

सर्वसत्तावाद भी अंतर्राष्ट्रीय विघटन का एक कारण है। जर्मनी का नाजीवाद, रूस का कम्युनिज्म, इटली का फासिस्टवाद उसके उदाहरण माने जा सकते हैं। ऐसी पद्धति, में एक ही दल अथवा शासक तानाशाही ढंग से

अपनी मर्जी जनता पर लादता है। सेना भी उसके नियंत्रण में रहती है, पुलिस भी। प्रचार के सारे साधन भी उसी की मुट्ठी में रहते हैं। दल अथवा शासक की नीति के विरुद्ध किसी को कोई विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं रहती। ऐसी राज्य-व्यवस्था में खाने-पीने, रहने आदि की चाहे जितनी सुविधाएं रहें, जनता की स्वतंत्रता दबी रहती है। उसका परिणाम आगे चलकर उग्र रूप में प्रकट होता है।

युद्ध और विघटन

विघटन का सर्वाधिक विकराल रूप है—युद्ध। उसकी भयंकरता इसी से स्पष्ट है कि उसमें लाखों व्यक्तियों का जीवन स्वाहा होता है, लाखों-करोड़ों रुपयों की हानि होती है, लाखों परिवार विघटित होते हैं और करोड़ों व्यक्ति दाने-दाने को तबाह हो जाते हैं। लाखों सधवाओं का सिंदूर पुंछ जाता है, लाखों बच्चे अनाथ हो जा जाते हैं।

हानि के आँकड़े

प्रथम महायुद्ध के ये आंकड़े कितने हृदयस्पर्शी हैं—

युद्ध में मृत व्यक्तियों की संख्या—१३० लाख
आर्थिक हानि –४ अरब डालर

कार्नेगी फाउंडेशन को १९३४ ई० में अपनी रिपोर्ट देते हुए डाक्टर निकोलस मुरे ने कहा था कि यदि युद्ध में व्यय हुई अर्थराशि का सदुपयोग किया जाता तो इतने रुपयों से अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और आयरलैंड, फ्रांस, बेलजियम, जर्मनी और रूस में निवास करने वाले प्रत्येक परिवार को ५०० पौंड का एक मकान, २०० पौंड का फर्नीचर (सामान) और १०० पौंड का भूमिखंड दिया जा सकता था। इन सभी देशों के २० हजार या अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक नगर को १० लाख पौंड का एक-एक पुस्तकालय और २० लाख पौंड का एक विश्वविद्यालय भी दिया जा सकता था। इसके उपरांत फ्रांस और बेलजियम की सारी भूमि, सारे भवन, सारे कारखाने, रेलें, गिरजाघर, सड़कें, बंदरगाह आदि भी खरीदे जा सकते थे। सन् १९१४ में फ्रांस की कुल संपत्ति ६२,००,०० लाख डालर की कूती गयी थी और बेलजियम की १२००० लाख डालर की। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्साई की संधि जर्मनी पर लादने के लिए जितना पैसा खर्च किया गया उतने से फ्रांस-जैसे पांच और बेलजियम-जैसे पांच देश खरीदे जा सकते थे।

---

१. एल्डस हक्सले। एन एनसाइक्लोपीडिया आफ पैसिफिज्म, १९३७, पृष्ठ --

द्वितीय विश्वयुद्ध के आँकड़े मैट्रोपोलिटन जीवन बीमा कम्पनी (स्टेटिस्टिकल बुलेटिन, जनवरी, १९४६) के अनुसार इस प्रकार है—

युद्ध के मैदान में मृत तथा घायल होने के बाद मृत	—१ करोड़
मित्र राष्ट्रों के मृत सैनिकों की संख्या	४५ लाख
जर्मनी के मृत सैनिकों की संख्या	३२।। लाख
जापान के ,, ,, ,,	१५ लाख
इटली के ,, ,, ,,	२ लाख
मृत असैनिक नागरिकों की संख्या	१ करोड़ २० लाख
घायल ,, ,, ,,	२।। करोड़

शैल्डम ग्लूएक ('वार क्रिमिनल्स : देअर प्रॉसीक्यूशन एंड पनिशमेंट' में) लिखता है कि युद्ध काल में नाजियों ने जो बर्बरतापूर्ण कृत्य किये, उनके आगे मंगोल के कृत्य कुछ नहीं थे। पिछले दिनों बंगला देश के स्वातंत्र्य संग्राम में जो बर्बरताएँ की गयीं, उनसे भारतवासी भलीभाँति परिचित हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध में युद्धरत राष्ट्रों ने कितना धन व्यय किया, उसका अनुमान इन आँकड़ों से लग सकता है[1]—

अमेरिका का युद्ध व्यय	३१७० अरब डालर
जर्मनी ,, ,, ,,	२७२० ,, ,,
इटली ,, ,, ,,	९४० ,, ,,
सब का मिलकर योग	११,५४० ,, ,,

इस व्यय का कुछ अंश करों से प्राप्त किया गया था और कुछ ऋणों से।

जन-धन की इस भयंकर क्षति से युद्ध की भीषणता का पता चल सकता है! यह तो प्रत्यक्ष हानि है, परोक्ष हानि भी कम नहीं है। युद्ध के चलते मानवीय संबंध विच्छिन्न होते हैं, व्यापरिक संबंध टूटते हैं, आवागमन में बाधाएँ आती हैं, मानव का सामान्य विकास रुक जाता है, व्यक्ति, परिवार और समुदायों का पतन होता है, चरित्र भ्रष्ट होता है, कृषि चौपट होती है, उद्योग-धंधे नष्ट होते हैं, देशी-विदेशी व्यापार बंद हो जाता है। खड़ी फसलें जला दी जाती हैं, भरे-पूरे चहचहाते नगर और ग्राम फूँक दिये जाते हैं, सैनिक सामग्री तो नष्ट की ही जाती है, असैनिक सामग्री जीवन यात्रा के साधन तक नष्ट कर दिये जाते हैं। तात्पर्य यह कि युद्ध की ज्वालाओं में

१. एमिल लेंगिएल : 'दि रैंक आफ युरोप', एनल्स आफ दि अमेरिकन एकेडमी आफ पोलिटिकल एण्ड सोशल साइंस, २५७ : १३ २२ (मई, १९४८)

मानव जीवन तो भस्म कर ही दिया जाता है, उसका चरित्र, उसके आदर्श, उसके मूल्य और उसकी मान्यता भी उसी के साथ स्वाहा कर दी जाती हैं।

अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए और अपनी मनमाना करने के लिए जब पशुबल का आश्रय लिया जाता है, हिंसा और मारकाट का सहारा लिया जाता है, तोप, बंदूक, गोलाबारूद और बम का उपयोग किया जाता है, तब युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। किसी भी कारण का बहाना लेकर जब किसी देश या राष्ट्र पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया जाता है, और उधर से भी जब आत्मरक्षा के लिए सशस्त्र होकर सामना किया जाता है, तब युद्ध छिड़ जाता है। इस आक्रमण और प्रति आक्रमण का नाम युद्ध है। इस हिंसात्मक मुठभेड़ में रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं। मनुष्य घास-फूस की भाँति काटे जाने लगते हैं। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को अधिकाधिक हानि पहुँचा कर विजय का सेहरा अपने माथे बाँधना चाहते हैं।

युद्ध की परिभाषा

राष्ट्र राष्ट्र के बीच चलनेवाला यह हिंसात्मक संघर्ष ही 'युद्ध' कहलाता है। शांतिवादियों के अनुसार 'मानवता के विरुद्ध अपराध का नाम ही 'युद्ध' है।

युद्ध छिड़ता है तो केवल युद्धरत राष्ट्रों की सेनाएँ ही नहीं, अन्य राष्ट्रों की सेनाएँ भी उसमें सम्मिलित होने लगती हैं। कोई राष्ट्र एक का पक्ष करता है, कोई दूसरे का। धीरे-धीरे युद्ध का विस्तार होने लगता है। सेनाओं के अतिरिक्त युद्ध लिप्त राष्ट्रों के नागरिक भी युद्ध में सम्मिलित हो जाते हैं। स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध भी किसी-न-किसी रूप में उसमें शामिल हो जाते हैं। एक ही उद्योग और धंधा उस समय सबसे अधिक जोर से चलता है और वह होता है—युद्ध-प्रयत्न का धंधा, शस्त्रास्त्र निर्माण का धंधा सारे आवश्यक काम रोककर युद्ध प्रयत्नों को अधिकाधिक विकसित किया जाता है। शस्त्रास्त्रों के निर्माण का धंधा कितना लाभदायक है, इसका अनुमान इन आँकड़ों से किया जा सकता है—

युद्ध की प्रकृति

१. सन् १९१५ से १९१८ तक अमरीका की दूपो द नेमोर शस्त्रनिर्माण फर्म ने अपने हिस्सेदारों को ४५८ प्रतिशत लाभांश दिया।

२. सन् १९१४ से १९१८ तक ब्रिटेन की जे० पी० मार्गन एण्ड कं० ने २ अरब डालर मुनाफा कमाया।

३. 'पीस ईयर बुक' में फ्रांसिस विलियम्स ने अनुमान लगाया था कि १९३५ ई० में शस्त्रास्त्रों के व्यवसाय में ३ करोड़ २० लाख पौंड का लाभ हुआ। इनमें से ५० लाख पौंड नयी विमान कंपनियों को लाभ हुआ। शस्त्रों का यह धंधा खूब चलता है। कारण, शस्त्रनिर्माता मित्र और शत्रु का भेद किये बिना प्रत्येक ग्राहक को संतुष्ट करने के लिए आतुर रहते हैं।'[1]

युद्ध के उपकरण विज्ञान की कृपा से इतने शक्तिशाली और विनाशक बन गये हैं कि चुटकी बजाते लाखों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा जा सकता है। हिरोशिमा पर पहला परमाणु बम गिराया गया तो उसके कारण हुए सर्वनाश को पढ़कर लोगों के हृदय दहल उठे। ब्रिटेन के पत्रों में छपे उसके विवरण को पढ़कर एक अभिनेत्री विक्षिप्त-जैसी हो उठी। अपनी मित्र कैथलिन लांसडेल से जाकर बोली—'देख नहीं रही हो कि आज तुम वैज्ञानिकों ने क्या अनर्थ कर डाला है? कैथलिन ने लज्जित होते हुए 'इस पीस पासिबुल' (विश्वशांति क्या संभव है?) पुस्तक लिखी जिसमें अपनी वेदना व्यक्त करते हुए कहा वैज्ञानिक ज्ञान के दुरुपयोग के लिए मैं अपने को भी अपराधी और उत्तरदायी मानती हूँ।' शांतिवादिनी लेखिका ने विस्तार से बताया है कि युद्धों की समाप्ति और विश्वशांति का उपाय क्या है।

युद्ध के फलस्वरूप देश की ही नहीं, सारे विश्व की स्थिति विषम हो उठती है। सारा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संगठन टूटने लगता है। सामाजिक परिवर्तनों का तांता लग जाता है। वस्तुओं का अभाव, मूल्य वृद्धि, पारिवारिक तनाव, मजदूरों की, स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन, जनसंख्या का स्थान परिवर्तन, अपराध, बाल अपराध, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, मद्यपान आदि में अंधाधुंध-वृद्धि जैसी बातें युद्ध की प्रकृति का अनिवार्य अंग हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन अपने भीषणतम रूप में प्रकट हो जाता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार, अंतरराष्ट्रीय मैत्री और सद्भाव, शांति और सुरक्षा सभी संकट में पड़ जाती है।

युद्ध के प्रकार

युद्ध के दो प्रकार स्पष्ट हैं। एक रक्तयुद्ध, दूसरा है शीतयुद्ध। रक्तयुद्ध में मारकाट, हिंसा अमर्यादित रूप में चलती है। पर यह युद्ध बहुत लम्बा नहीं चल पाता। इसके दौरान जिस पक्ष की शक्ति, धन और जन की पूर्ति

---

१. एल्डस हक्सले : एन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ पैसिफिज्म, पृ० १-३

कम पड़ती है, उसे शीघ्र घुटने टेक देने पड़ते हैं। परंतु शीत युद्ध तो बहुत लंबा चल सकता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही ब्रिटेन के प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल ने 'शीतयुद्ध' शब्द गढ़ दिया। शीत युद्ध में रक्तयुद्ध की मारकार छोड़कर अन्य सभी बातें होती हैं। जैसे, व्यापारावरोध, शत्रुतापूर्ण प्रचार, जासूसी, शत्रु विमानों पर 'आकस्मिक' आक्रमण, 'प्रतिरक्षा' के नाम पर सेना-वृद्धि, शस्त्रास्त्रों की मनमानी वृद्धि आदि।[1] इस प्रकार के शीतयुद्ध पर ५० खरब डालर प्रतिवर्ष व्यय होने का अनुमान है। इसका अधिकाश सैनिक उद्देश्यों पर लगेगा।[2]

युद्ध के कारण अनेक होते हैं। प्राय: कारण कुछ अन्य होता है, प्रकट कुछ अन्य किया जाता है। समाजशास्त्रियों ने युद्ध के अनेक कारण बताये हैं। एल० एल० बर्नार्ड ('वार एण्ड इट्स काजेज' में) कहता है कि बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक राष्ट्रवादिता युद्ध का कारण बनती है, आर्थिक मुद्दे भी उसका कारण बनते हैं और जनसंख्या का बाहुल्य, उसका दबाव भी युद्ध का कारण बनता है। हेरल्ड डी० लॉसवेल ('दि कंपरेटिव स्टडी आफ एलाइटस' में) कहता है कि औद्योगिक प्रगति युद्ध का विशेष कारण बनती है। बढ़ता हुआ उत्पादन बड़े बिक्री बाजार खोजता है। उसकी प्रतिस्पर्द्धा युद्ध का मार्ग प्रशस्त करती है। प्रचार, गतिशील आदर्श जैसे लोकतंत्र, राष्ट्रीयता, अधिनायकतंत्र भी युद्ध के कारण बनते हैं। आर्थर के० डेविस कहता है कि आंतरिक तनाव युद्ध का प्रमुख कारण है। जान यू० नेफ ('वार एण्ड ह्यूमेन प्रोग्रेस' में) युद्ध के कारण बताते हुए युद्ध को भी युद्ध का कारण बताता है।

युद्ध के कारण

युद्ध के मूल कारण तीन माने जा सकते हैं—

१. आर्थिक लाभ,

२. विजय, सत्ता और प्रभुता की आकांक्षा और

३. अपने मत या संप्रदाय का विस्तार।

आर्थिक लाभ : आधुनिक राज्यों को आर्थिक शोषण के लिए, कच्चा माल पाने और तैयार माल खपाने के लिए अच्छे और बड़े बाजार चाहिए।

---

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ७५१

२. वही, पृ० ७४२-७४३

राष्ट्रीय संपत्ति का विभिन्न वर्गों में समुचित वितरण हो, यह प्रश्न भी लोगों को संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। लूटपाट, आर्थिक शोषण और आर्थिक दोहन के लिए बढ़िया क्षेत्र मिले—इस बात का सभी बड़े राष्ट्रों में जो होड़ लगी है; वह युद्ध का बहुत बड़ा कारण है।

विजय की आकांक्षा : मेरा राज्य हो, मेरा प्रभुत्व हो, मेरी सत्ता चले,—यह आकांक्षा युद्ध का आदिकालीन कारण रही है। आज भी इस आकांक्षा में कमी नहीं आयी है। स्वरूप भले हो बदल जाय पर मानव के अहंकार की यह लिप्सा जबतक सिर उठाती रहती है और युद्ध का कारण बनती है।

मत विस्तार : मेरा मत ही सर्वश्रेष्ठ है, मेरी विचारधारा ही सर्वोत्कृष्ट है, मेरा संप्रदाय ही सर्वोच्च है, सारी दुनिया मेरे ही विचार को माने—यह मत विस्तार का भाव असंख्य युद्ध का कारण बनता रहा है।

यों कुछ आर्थिक, कुछ राजनीतिक, कुछ धार्मिक कारण सदा से युद्ध की रणभेरी बजाते हैं। भोली-भाली जनता का अधिकांश समझता भी नहीं कि युद्ध का कारण क्या है, वह तो झूठे प्रचार और नारों के बहकावे में हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ाता रहता है।

युद्ध के उपचार

पितिरिम ए० सोरोकिन ने 'दि रिकंसट्रक्शन आफ ह्यूमैनिटी' में विस्तार से आँकड़े और प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि युद्ध रोकने के लिए कुवैद्यों ने अभी तक नाना प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा अन्य उपचार किये हैं, पर उन उपचारों से कोई लाभ हुआ है ? समस्या आज भी जहाँ की तहाँ है।

सोरोकिन कहता है—लोकतंत्र को लोगों ने युद्ध-समाप्ति का पक्का साधन मान लिया परंतु आँकड़े बताते हैं कि राजतंत्रों और निरंकुश सत्ताधारियों की अपेक्षा प्रजातंत्रीय और लोकतंत्रीय शासन-पद्धतियों में न तो कम युद्ध ही हुए और न वे अधिक शांत ही रहे।[1] संयुक्त राष्ट्रसंघ बना इसके लिए, पर उस संघटन में एक से एक बढ़कर विरोधाभास हैं जो उसे भीतर जला डालनेवाले हैं।[2] विश्व सरकार की कल्पना भी की गयी है युद्ध रोकने के लिए; परंतु उसका तात्पर्य यही होगा कि 'अंतरराष्ट्रीय युद्धों' के स्थान पर 'गृह युद्ध' होने

१. पितिरिम ए० सोरोकिन : मानवता की नवरचना पृ० १-५
२. वही, पृ० १०

लगेंगे ? न तो युद्धों की कुल संख्या में कोई कमी आयेगी, न संहार में; न तो रक्तपिपासा में और न अमानुषिकता में।[1] पूँजीवाद युद्धविराम के लिए रामबाण माना गया, पर वह विश्वयुद्ध रोकने में असमर्थ रहा। उसके अपने एजेंट और बड़े उपक्रमी ही उस पर प्राणघातक आक्रमण करने लगे। बड़े-बड़े कारपोरेशनों, ट्रस्टों और कार्टलों ने ही पूँजीवाद के—व्यक्तिगत संपत्ति के—मूल पर ही प्रहार किया।[2] पूँजीवादी संस्कृति स्वयं मानव के पतन के लिए भारी मात्रा में जिम्मेदार है। उसमें मंदी तो आती ही है, लाखों सर्वहारा लोग बेकार हो जाते हैं और अपने न्यूनतम आधार से भी वंचित हो जाते हैं। उसने आँखों में गड़नेवाली विषमता पैदा कर दी और समाज को धनी और निर्धन ऐसे दो वर्गों में बाँट दिया जो प्लेटो के अनुसार रहते तो एक जगह हैं, पर सदा एक दूसरे से घृणा करते हैं और एक दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचते रहते हैं।'[3] पूँजीवाद के बाद अधिकेंद्रित अर्थ व्यवस्था का उदय हुआ। उनके कई नमूने यह कहकर पेश किये गये कि युद्ध के शमन के लिए ये क्रांतिकारी उपचार हैं। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट सरकारें जमीन तथा उत्पादन के अन्य आवश्यक साधनों पर व्यक्तिगत मालिकी समाप्त कर देती हैं, वे उनका राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण कर देती हैं। फासिस्ट, नाजी तथा अन्य ऐसे शासनों में अर्थिक उत्पादन, वितरण और उपभोग पर सरकारी नियंत्रण बहुत व्यापक रहता है। ये व्यवस्थाएँ अपने घरेलू संबंधों में लड़ाकू के रूप में बदनाम हैं। अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों में ये युद्धपिपासु हैं। खतरे की स्थिति जितनी गंभीर होती है, सरकारी नियंत्रण और सैन्यीकरण उतना ही तीव्र हो जाता है। स्पष्ट हो गया है कि राजनीतिक आर्थिक शासनों के अधिकेंद्रित प्रकारों से युद्ध रोके नहीं जा सकते। उलटे इन व्यवस्थाओं से संघर्ष और बढ़ते हैं।[4]

सोरोकिन ने वैज्ञानिक, शैक्षणिक, धार्मिक, ललित कला संबंधी, न्याय और नीति संबंधी, लेखन स्वातंत्र्य तथा ऐसे ही अन्य उपचारों का विश्लेषण करके भी यही निष्कर्ष निकाला है कि अभी तक के जो प्रयोग हुए हैं, उनसे युद्ध का उपचार नहीं हो सका है।

---

१. वही, पृ० २१
२. वही, पृ० २७-२८
३. वही पृ० ३२-३३
४. वही, पृ० ३५-४३

युद्ध सामाजिक विघटन की सबसे विकराल समस्या है। अभी तक उसके निवारण के लिए जो उपाय निकाले गये हैं, उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सका है। प्रश्न है कि उसका ठोस उपाय क्या हो सकता है ?

युद्ध-निवारण के उपाय

युद्ध रोकने का ठोस उपाय है—शांति के लिए चतुर्मुखी प्रयास। शांति आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है पर उसकी उपलब्धि कोई सामान्य बात नहीं है।

शांति के लिए सभी स्तरों पर प्रयत्न करने की परम आवश्यकता है। प्रत्येक क्षेत्र में, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में शांति के लिए प्रयत्न करना होगा। सर्वोदय जिस वर्ग-विहीन, शोषणविहीन ग्रामोद्योग प्रधान समाज रचना के लिए प्रयत्नशील है, उसी की रचना से स्थायी शांति स्थापित हो सकती है। सोरोकिन के कथनानुसार उसके लिए मानवता की नव रचना करनी होगी। वैयक्तिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तीनों ही मोरचों पर पूरी शक्ति लगानी होगी। स्वार्थ, शोषण, अन्याय-जैसी सारी बुराइयों को निकाल बाहर करना होगा। सृजनात्मक पदार्थवाद को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकसित करना होगा।

भूदान आंदोलन में विनोबा ने सर्वोदय पात्र का जो आरंभ किया, शांति-सेना का जो विस्तार किया, उसके मूल में विश्व शांति की ही भावना है। 'वार रेजिस्टर्स इंटरनेशल'-जैसी संस्थाओं को अधिकाधिक व्यापक करना होगा। शस्त्रास्त्रों की होड़ समाप्त करनी होगी, अपने छोटे मसलों से लेकर विश्व के बड़े-से-बड़े मसलों को प्रेम, सहानुभूति और सद्भाव से सुलझाने के लिए जब तीव्रतम प्रयत्न होगा, तभी विश्वशांति की स्थापना हो सकेगी। 'युद्ध मानवता के विरुद्ध अपराध है', 'हम किसी भी स्थिति में हिंसात्मक उपायों से झगड़े नहीं सुलझायेंगे',—ऐसी प्रतिज्ञाएँ लेकर शांति के लिए अहिंसक प्रयत्न होगा, तभी शांति स्थापित हो सकेगी। इसके लिए समाज का सारा ढाँचा ही बदलना पड़ेगा। 'जय जगत' और विश्व-परिवार की भावना का विस्तार ही इसका एकमात्र उपाय है।

*

अध्याय ४

सामाजिक समस्या

विघटन के सिद्धांतों का विवेचन करते हुए 'सामाजिक समस्या सिद्धांत' की आरम्भ में चर्चा की जा चुकी है। यह सिद्धांत सामाजिक समस्या को ही विघटन का मूल कारण मान कर चलता है। यद्यपि इस सिद्धांत की कड़ी टीकाएँ हुई हैं, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है।

सामाजिक समस्या क्या है, उसका अर्थ क्या है, उसकी प्रकृति कैसी होती है, उसकी परिभाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है,—इन सब प्रश्नों पर विचार करने से सामाजिक समस्या का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा।

अर्थ

परिवर्तन समाज की एक आवश्यक प्रक्रिया है। जगत परिवर्तनशील है। प्रकृति का नियम है—परिवर्तन। क्षण-क्षण पर प्रकृति के रंगमंच पर परिवर्तन होते चलते हैं। कल की स्थिति आज नहीं रह गयी। आज की स्थिति कल नहीं रहेगी। प्रकृति नटी के सौंदर्य में नित नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। कभी कटकटाती सर्दी है तो कभी पसीने से तर करने वाली गर्मी। कभी मूसलाधार वर्षा है, तो कभी शरद की मनमोहक चाँदनी। दिन और रात, प्रातः और संध्या, षड्ऋतुएँ तो प्रकृति का मनोरम चित्र उलटती-पलटती रहती ही हैं, बाढ़ और सूखा, भूकंप और महामारी जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ भी प्रकृति के स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन लाती रहती हैं। इन परिवर्तनों का मानव समाज पर भी प्रभाव पड़ता रहता है। शारीरिक व्याधियों और रोगों से भी मानव आक्रांत होता रहता है। ये सारी स्थितियाँ समय-समय पर अनेक समस्याएँ खड़ी करती हैं। परंतु इन समस्याओं को सामाजिक समस्या नहीं माना जाता।

समाजशास्त्र में केवल उन्हीं समस्याओं को 'सामाजिक समस्या' की संज्ञा दी जाती है, जो सामाजिक संगठन में, सामाजिक ढाँचे में घटित होती है। मानवीय संबंधों में या सामाजिक कार्य-क्षेत्र में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, वे ही सामाजिक समस्या मानी जाती हैं।

सामाजिक संगठन में, समाज की पूर्व निर्धारित मान्यताओं में, आदर्शों में, व्यावहारिक प्रतिमानों में, समाज की मूल संस्थाओं की क्रियाशीलता में जब कोई व्यवधान अथवा अवरोध उत्पन्न होता है, असामंजस्य उत्पन्न होता है, तब सामाजिक समस्या का जन्म होता है। जब समाज के मूल्य और आदर्श लड़खड़ाने लगते हैं, मान्यताएँ झकझोरी जाने लगती हैं, तभी सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है। जिन समस्याओं के फलस्वरूप सामाजिक संतुलन बिगड़ने लगता है, उन्हीं समस्याओं को सामाजिक समस्या माना जाता है। सामाजिक संगठन में तनाव, विश्रृंखलता और अवरोध लानेवाली समस्याएँ ही 'सामाजिक समस्या' है।

प्रकृति

सामाजिक समस्या का संबंध मानवीय संबंधों के साथ रहता है। मानव स्वयं जटिल होता है। मानवीय संबंध भी जटिल होते हैं। अतः सामाजिक समस्या का जटिल होना स्वाभाविक है। समाज के जटिल स्वरूप में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होता चलता है, त्यों-त्यों विभिन्न समस्याएँ पनपती चलती हैं। समाज की प्रकृति और रूपरेखा की जटिलता के अनुरूप सामाजिक समस्या भी जटिल रूप धारण करती चलती है। वह समाज को विघटन की दिशा में घसीटने लगती है। वैयक्तिक आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं। उनकी समस्याएँ भी विषम होने लगती हैं।

सामाजिक समस्या का समाधान यदि विधिवत और शीघ्र नहीं हो पाता तो उसकी गहनता और जटिलता में वृद्धि होने लगती है। उसके कारण सामाजिक कल्याण के लिए भयंकर संकट उत्पन्न हो जाता है।

सामाजिक समस्या विघटनमूलक तो होती है, पर उसका अपना प्रकार्यात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। समस्या के समाधान के साथ समाज की प्रगति की क्षमता भी बढ़ती है। उसकी कार्यशीलता भी बढ़ती है और समाज की परिमिति भी बढ़ती है। किसी समस्या से संबद्ध लोगों की संख्या कम या अधिक हो सकती है, परंतु उसका महत्त्व संख्या पर निर्भर करता है। भले ही कोई समस्या थोड़े-से ही व्यक्तियों से संबद्ध हो, पर उसका महत्त्व अधिक हो सकता है। अधिक व्यक्तियों से संबद्ध कोई समस्या उसकी अपेक्षा कम महत्त्व की हो सकती है। मूल बात यह है कि उक्त सामाजिक समस्या से सामाजिक संगठन में आपत्तिजनक स्थिति किस मात्रा में बढ़ रही है। जिस समस्या के कारण सामाजिक संगठन का अस्तित्व अधिक संकट में

पड़ने की आशंका होती है, वह समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जिस समस्या के कारण ऐसा संकट कम रहता है, वह अपेक्षाकृत कम महत्त्व-पूर्ण मानी जाती है।

जॉन केन ने सामाजिक समस्या की परिभाषा करते हुए ('सोशल प्राब्लेम में) कहा है कि 'सामान्य, स्थापित एवं प्रचलित मूल्यों के अस्तित्व में संकट उत्पन्न करने वाली सामाजिक दशा का नाम है—सामाजिक समस्या।

परिभाषा

रिचर्ड और रिचर्ड का मत है कि 'जब समाज के अधिकांश सदस्य किसी विशिष्ट दशा एवं व्यवहार-प्रतिमानों को अवांछित और आपत्तिमूलक मान लेते हैं, तब उसे 'सामाजिक समस्या' कहा जाता है। वे यह मानने लगते हैं कि इन विशिष्ट समस्याओं का समाधान करने के लिए तथा इनके क्षेत्र को सीमित करने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ सुधारात्मक नीतियाँ काम में लायी जायँ और कुछ विशेष कार्यक्रम खड़े किये जायँ।'

वस्तुतः सामाजिक संगठन में जब कोई दशा चौंकाने वाली हो जाती है और उसके कारण सामाजिक संगठन का अस्तित्व संकट में पड़ने की आशंका उत्पन्न हो जाती है तथा ऐसा समझा जाता है कि सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही इसका समाधान और निराकरण संभव है, तभी वह 'सामाजिक समस्या' का रूप धारण करती है। समाज का संतुलन बनाये रखने के लिए उक्त समस्या का समाधान आवश्यक माना जाता है।

सामाजिक समस्याएँ जटिल भी होती हैं और परस्पर संबद्ध भी होती हैं। जैसे—अपराधों के साथ सुरा-सुन्दरी की समस्या संबद्ध है उसी प्रकार औद्योगीकरण, नागरीकरण के साथ बेकारी, भिक्षावृत्ति, निर्धनता, भ्रष्टाचार आदि की समस्याएँ गुम्फित हैं। जातिवाद के साथ अस्पृश्यता और सामाजिक स्तरीकरण की समस्या-जैसी जुड़ी है, वैसे ही साम्प्रदायिकता की। भाषावाद की समस्या के साथ जिस प्रकार क्षेत्रवाद की समस्या जुड़ी है, उसी प्रकार पारिवारिक विघटन के साथ नारी की स्थिति और विवाह-विच्छेद की समस्या जुड़ी हुई है।

सामाजिक समस्या के अंतर्गत मुख्यतः ये तीन तत्त्व रहते हैं—

१. समाज के अधिकांश सदस्यों से संबद्ध होना,
२. समाज के संगठन के लिए, समाज के कल्याण के लिए भय एवं आशंका की स्थिति, और

३. सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाधान की आशा।

उत्पत्ति

सामाजिक समस्या की उत्पत्ति तभी होती है, जब सामाजिक संगठन के सामंजस्यपूर्ण संतुलन में अवरोध आने लगता है। समाज के पहले से चलते आनेवाले मूल्य, आदर्श और सिद्धांत जब अवरुद्ध होने लगते हैं, समाज की मूल्य-व्यवस्था जब अव्यवस्थित होने लगती है, तो सामाजिक समस्या जन्म ले लेती है।

जॉन केन ने अमरीकी समाज के प्रचलित मूल्यों की चर्चा करते हुए कहा है कि अमरीका की एक विशिष्ट जीवन-पद्धति है। वह लोकतंत्र में विश्वास करती है, वैयक्तिक संपत्ति की अभिवृद्धि में, मानवीय पवित्रता में, धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास करती है। स्वतंत्रता, समानता-जैसे आदर्शों को मानती है। इन मूल्यों और आदर्शों के प्रतिकूल जब परिस्थितियाँ बनती हैं, तो अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

भारत के सामाजिक संगठन में आध्यात्मिकता, पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भावना, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, जैसे पुरातन आदर्श समाज के मूलाधार रहे हैं। त्याग और तपस्या की आधारशिला पर सारा सामाजिक संगठन खड़ा है। इन आदर्शों पर जब प्रहार होता है तो अनेकानेक समस्याओं का उदय होना स्वाभाविक है।

समस्या के प्रकार

सामाजिक समस्याओं के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनका कई प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है जैसे, बहिर्मुखी और अंतर्मुखी।
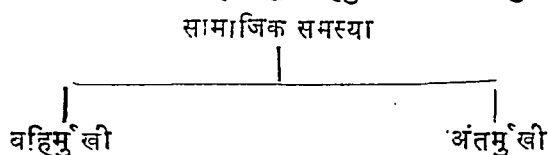
बाल अपराध, निर्धनता, बेकारी, विवाह-विच्छेद जैसी सामाजिक समस्याएँ बहिर्मुखी समस्याएँ मानी जा सकती हैं। वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। जिन्हें इस प्रकार नहीं देखा जा सकता, वे अंतर्मुखी समस्याएँ हैं। जैसे, जातीय पूर्वाग्रह, वेश्यावृत्ति, मद्यपान।

समय की दृष्टि से भी समस्याएँ बाँटी जा सकती हैं। जैसे, तात्कालिक, अल्पकालिक और दीर्घकालिक।

क्षेत्र की दृष्टि से भी सामाजिक समस्याएँ विभाजित की जा सकती हैं,

सामाजिक समस्या

क्षेत्रीय	प्रादेशिक	देशव्यापी	अंतरराष्ट्रीय

विवेचन के प्रकार

समस्याओं का विवेचन कई प्रकार से किया जाता है। कई दृष्टियों से किया जाता है। जैसे,
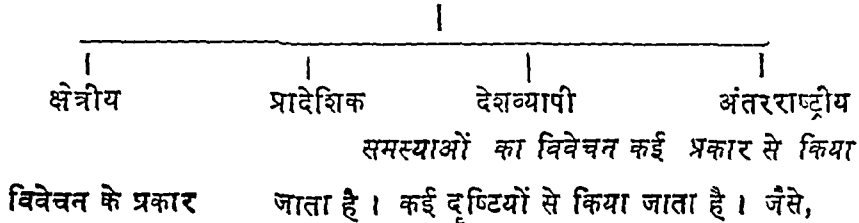
१. धार्मिक और नैतिक दृष्टि से,
२. दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से,
३. समाजशास्त्रीय दृष्टि से।

कोई समस्या धार्मिक दृष्टि से देखने पर एक प्रकार की लगती है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर दूसरे प्रकार की। दार्शनिक दृष्टि से एक प्रकार की लगती है, सामाजिक दृष्टि से अन्य प्रकार की। सबकी अपनी-अपनी दृष्टि है। सबका अपना-अपना महत्त्व है। पर समाजशास्त्री उन सभी दृष्टियों का ध्यान रखते हुए भी बल इस बात पर देता है कि सामाजिक दृष्टि से क्या होना चाहिए। वह तर्कसंगत और प्रायोगिक उपायों द्वारा वैज्ञानिक पद्धति से समस्या का विवेचन करता है।

किसी भी समस्या के दो पक्ष होते हैं—(१) सैद्धांतिक पक्ष और (२) व्यावहारिक पक्ष। सिद्धांत और व्यवहार को लेकर ही कोई ज्ञान परिपूर्ण होता है। सिद्धांत जबतक व्यवहार में नहीं आता, तबतक उसका विशेष महत्त्व नहीं। वह जब व्यवहार में आता है, तभी सिद्धांत की कसौटी होती है। व्यवहार के क्रियात्मक पक्ष को सभी देखते हैं, सिद्धांत को भले ही न देखें।

व्यावहारिक समाजशास्त्र

अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि सिद्धांत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी व्यवहार में अत्यंत कुशल होते हैं। सिद्धांत का उन्हें स्वल्प ज्ञान रहता है, पर व्यवहार में उसे भलीभाँति चरितार्थ करते हैं। माँ मनोविज्ञान नहीं भी पढ़ी हो, तो भी बालक के साथ व्यवहार करने में वह मनोविज्ञान के गूढ़ सिद्धांतों को चरितार्थ करती है।

समाजशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष व्यावहारिक समाजशास्त्र कहलाता है। उसका सैद्धांतिक पक्ष शुद्ध समस्याओं का सैद्धांतिक समाजशास्त्र कहा जाता है। सामाजिक समस्याओं का व्यावहारिक समाजशास्त्र से घनिष्ठ संबंध है।

समस्याओं के विवेचन के लिए तथा उनके उपयुक्त समाधान के लिए व्यावहारिक समाजशास्त्र की परम आवश्यकता है। 'व्यावहारिक समाजशास्त्र मुख्यतः सामाजिक अनुभव की समस्याओं, उपचार और समाधान से, उनके विषय में आवश्यक तथ्य संकलन से संबद्ध है।'[१]

आजकल व्यावहारिक समाजशास्त्र में सामाजिक कार्य, सामाजिक सेवा, सामाजिक कल्याण, सामाजिक सुधार और पुनर्निर्माण को भी सम्मिलित करने पर कुछ समाजशास्त्री बल देते हैं। परंतु कुछ लोग इसे ठीक नहीं मानते। सामान्यतः व्यावहारिक समाजशास्त्र में सामाजिक विघटन की और सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्याओं का विचार किया जाता है। समस्या के दोनों सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष उसमें अंतर्निहित हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए तथा उनके समाधान के लिए वैज्ञानिक पद्धति, आधार एवं सुझाव प्रस्तुत करता है।

भौतिक विज्ञान के अध्ययन की अपनी विशिष्ट पद्धतियाँ हैं। उनके द्वारा विषय-वस्तुओं का प्रयोगशाला में अध्ययन और विश्लेषण किया जा सकता है। उनके तथ्यों का अध्ययन सुगम है। पर समाजशास्त्र की समस्याओं का अध्ययन इतना सुगम नहीं है। निश्चित मात्रा में ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को मिलाकर जिस प्रकार पानी तैयार किया जा सकता है, वैसी बात समाजशास्त्र में संभव नहीं है। फिर भी समाजशास्त्र में समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और उसके लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके बहुत-कुछ अंशों में सही निर्णयों के निकट पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है।

समस्याओं का अध्ययन

सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए सिद्धांत और व्यवहार, दोनों ही पक्षों का उपयोग किया जाता है। समस्या के स्वरूप को देखकर यह निर्णय करना होता है कि किस या किन वैज्ञानिक पद्धतियों का आश्रय लेने से समस्या का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया जा सकेगा। उसी पद्धति का आश्रय लेकर समस्या का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है और अंत में उक्त समस्या के समाधान के लिए कुछ सुझाव दिये जाते हैं।

अध्ययन की पद्धतियाँ

सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए अनेक पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। कुछ प्रमुख पद्धतियाँ ये हैं—

१ ई० ग्रोन्स और एच० ई० मुरे : इन्ट्रोडक्शन टू सोशियॉलाजी, पृ० ७०६

१. गुणात्मक पद्धतियाँ—ऐतिहासिक पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सामुदायिक अध्ययन-पद्धति, आदर्श प्रारूप विश्लेपण पद्धति ।

२. संख्यात्मक पद्धतियाँ—सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, समाजमिति ।

ऐतिहासिक पद्धति : समाजशास्त्र में भूतकाल की स्थिति का अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का उपयोग किया जाता है । उसके लिए ऐतिहासिक लेखपत्रों, आत्मकथाओं, जीवन-चरित्रों का, सांस्कृतिक इतिहास का तथा ऐतिहासिक अध्ययनकर्ताओं के विवेचनों का अध्ययन करते हैं । इतिहास की इस सामग्री से समस्या के पुरातन स्वरूप, उसकी उत्पत्ति एवं विकास का पता लगाया जाता है । इस पद्धति में कमी केवल यही रहती है कि कुछ इतिहास लेखक पक्षपातपूर्ण दृष्टि से इतिहास को अपने ढंग पर मरोड़ देते हैं । उनके विवरणों पर शत प्रतिशत विश्वास करना ठीक नहीं होता ।

वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति : गुडे और हाट ने इस पद्धति के संबंध में कहा है कि 'इस पद्धति द्वारा सामाजिक तथ्यों की एकात्मक प्रकृति का अध्ययन किया जाता है, जिससे सामाजिक इकाई को उसके समग्र रूप में देख सकते हैं ।'[1] इससे व्यक्ति के संपूर्ण जीवन-चक्र का भी अध्ययन किया जा सकता है और किसी व्यक्तिगत इकाई—व्यक्ति, परिवार, संस्था, समुदाय—का भी अध्ययन किया जा सकता है। अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, मद्यपान-जैसी सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए यह पद्धति अच्छी रहती है। इसमें प्रश्नावली और साक्षात्कार का भी उपयोग किया जाता है, जिसमें अध्ययनकर्ता को अपनी धारणाएँ तथा अधूरे या झूठे उत्तर आदि के कारण सही निष्कर्षों पर पहुँचने में कठिनाई होती है। अनिश्चितता इसका दोष है और विषयिकता की भी इसमें कमी रहती है ।

सामुदायिक अध्ययन पद्धति : जनजातीय कल्याण, श्रम-कल्याण, हरिजन कल्याण, महिला कल्याण-जैसी सामुदायिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए, उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझने के लिए यह अध्ययन-पद्धति अच्छी मानी जाती है । इसमें अवलोकन का भी आश्रय लिया जाता है, तुलना और परीक्षण का भी । अवलोकन अनियंत्रित भी हो सकता है, नियंत्रित भी ।

१, गुडे और हाट : मेथड्स इन सोशल रिसर्च, पृ० ३३

उसमें आँख, कान और वाणी का भरपूर उपयोग करके समस्या की तह तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है, जिसका परिणाम अच्छा ही देखने में आता है।

आदर्श प्रारूप विश्लेषण पद्धति : वैज्ञानिक वास्तविकता के आधार पर अध्ययनकर्ता अपनी दृष्टि से समस्या का एक आदर्श प्रारूप निश्चित करता है। उसी आधार को लेकर वह वास्तविक विषयों का मूल्यांकन और विवेचन करता है। इस पद्धति के द्वारा कारण और कार्य का आविष्कार किया जाता है। जो समस्याएँ विश्लेषणात्मक अथवा वर्णनात्मक होती हैं, उनके अध्ययन के लिए यह पद्धति अच्छी मानी जाती हैं। जार्ज सिमेल, मैक्स वेबर और दुर्खीम-जैसे समाजशास्त्रियों ने इसका प्रयोग किया है। इस पद्धति में दोष यह रहता है कि भिन्न-भिन्न अध्ययनकर्ता भिन्न-भिन्न आदर्श प्रारूप निश्चित कर सकते हैं। उनका आदर्श प्रारूप संदिग्ध भी हो सकता है।

सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति : व्यावहारिक सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए यह पद्धति अच्छी मानी जाती है। लेफ्रे, हेरोडोटस, जान हावर्ड, चार्ल्स बूथ आदि ने उसका प्रयोग किया है। आजकल सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए इस पद्धति का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। अपराध, भिक्षावृत्ति, बेकारी, निर्धनता, जनसंख्या, साक्षरता-जैसी समस्याओं के अध्ययन के लिए यह पद्धति अच्छी पड़ती है। इसमें अवलोकन, प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार आदि साधनों का प्रयोग करके समस्या का भलीभाँति अध्ययन किया जाता है। हाँ, अमूर्त और भावात्मक समस्याओं के अध्ययन में इस पद्धति से विशेष सहायता नहीं मिलती। इसके परिणाम अध्ययनकर्ता के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी प्रभावित हो सकते हैं। व्यावहारिक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए इस पद्धति का विशेष उपयोग नहीं है।

सांख्यिकीय पद्धति : ए० एल० बोडिंग्टन के अनुसार भूत और भविष्य की तुलना ही सांख्यिकीय अनुसंधान का अंतिम उद्देश्य है। इससे उन वर्तमानकालीन कारकों को जाना जा सकता है जिनका प्रभाव भविष्य की स्थिति पर पड़ सकता है। इस पद्धति में लाविट के अनुसार 'घटनाओं की व्याख्या और तुलना करने के लिए संख्यासूचक तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण तथा सारणीयन किया जाता है।' यह पद्धति संख्याओं तक ही सीमित

है। यह पद्धति गुणात्मक तथ्यों से भिन्न है। संख्यात्मक गणना के लिए अब तो मशीनें भी बन गयी हैं। ऐसे अध्ययनों में उन मशीनों का भरपूर प्रयोग भी कहीं-कहीं किया जाने लगा है।

समाजमिति : इस अध्ययन-पद्धति में समाज की गुणात्मक या भावात्मक विशेषताओं को मापने के लिए, व्यक्तियों तथा समूहों के बीच की सामाजिक दूरी मापने के लिए, उनके पारस्परिक संबंधों को मापने के लिए गणित के सूत्रों का उपयोग किया जाता है। जे० एल० मोरेनो और एच० एच० जेनिंग्स ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। इसमें विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न अधिमान देकर उनके पारस्परिक संबंधों का पता लगाया जाता है। इससे अमूर्त तथ्यों को मापने का मार्ग प्रशस्त हो रहा है। इसमें मानवीय व्यवहारों और स्थितियों को कुछ निश्चित सूचकांक दे दिये जाते हैं, जिससे सामाजिक संबंधों की अमूर्तता भी मापी जाने लगी है।

इन विभिन्न अध्ययन-पद्धतियों का एकमात्र लक्ष्य है—सत्य की उपलब्धि। कल्पना और अनुमान के स्थान पर वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करने से सामाजिक समस्याओं का स्वरूप अधिक स्पष्ट होने लगा है। मुख्य समस्या का निर्धारण, उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष अवलोकन, तथ्यों और घटनाओं का परीक्षण, वर्गीकरण, नियमों का निर्धारण, विश्लेषण और विवेचन सत्य को उद्‌घाटित करने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो रहा है।

अध्ययन से सत्य की उपलब्धि

गुडे और हॉट ने सामाजिक अध्ययन के संबंध में लिखा है कि 'समाजशास्त्र के विद्यार्थी को न तो आरामकुर्सी पर लेटे हुए सिद्धांतशास्त्री की ही बातों में आ जाना चाहिए और न क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता के ही दृष्टिकोण में फँस जाना चाहिए। सिद्धांतशास्त्री महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की चर्चा करता है। वह क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता की वस्तुस्थिति पर बल देने की बात की उपेक्षा करता है। उधर क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता केवल तथ्यों पर बल देता है। वह तत्संबंधी सिद्धांतों को कोई महत्त्व नहीं देता। समाजशास्त्री को वैज्ञानिक का उत्तरदायित्व वहन करना है, जो सिद्धांत के साथ वस्तुस्थिति का और वस्तुस्थिति के साथ सिद्धांत का समन्वय करे। यह कार्य कठिन है—दार्शनिक कल्पना से भी कठिन है और केवल तथ्यों के संकलन से भी। परंतु यही वह उचित

मार्ग है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवहारों के संबंध में वैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि की जा सकती है।[१]

वैज्ञानिक पद्धति से सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करके ही वैज्ञानिक सत्य तक पहुँचा जा सकता है और उसी मनोभूमिका में पहुँच कर सामाजिक समस्याओं का समाधान करके सामाजिक विघटन को रोक कर समाज को दृढ़ एवं पुष्ट बनाया जा सकता है।

भारत की सामाजिक समस्याएँ

भारत में स्मृतिकाल से नारी की अवहेलना आरंभ हुई। उसके उपरांत देश में राजनीतिक उथल-पुथल चलती रही, पठान, मुगल, अंग्रेज—सभी के शासनकाल में अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन होते आये। अंग्रेजों ने भारत के शोषण और दोहन की जो प्रक्रिया आरंभ की, उससे भारतीय समाज का विघटन अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा। व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन की अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं और वे दिन-दिन जटिल होने लगीं। यंत्र ने इंगलैंड, यूरोप, अमरीका में ही नहीं, सारे संसार में औद्योगिक क्रांति का चक्र चला दिया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के उद्योगों और कृषि को चौपट कर जो सर्वनाशी नीति चलायी, उसके चलते भारत का सारा सामाजिक जीवन विशृंखलित हो गया। निर्धनता अपनी सीमा पर जा पहुँची। कृषि चौपट हो गयी। उद्योग नष्ट हो गये। व्यापार समाप्त हो गया। विदेशी सभ्यता, अंग्रेजी शिक्षा, कानून, कचहरी, पुलिस, फौज—सबने मिलकर कोढ़ में खाज उत्पन्न कर दी। रोग, बीमारी, भुखमरी, अकाल, बेकारी आदि बढ़ने लगी। अपराध बढ़ने लगे। अशांति बढ़ने लगी। वैमनस्य, कलह, उपद्रव, दंगे बढ़ने लगे। औद्योगीकरण, नागरीकरण ने रही-सही कसर पूरी कर दी।

समस्याओं का स्वरूप और प्रकृति

इन सब परिवर्तनों के कारण भारत के सामाजिक संगठन को बहुत बड़ा धक्का लगा। त्याग, तपस्या, सेवा, सहिष्णुता, प्रेम, सद्भाव आदि गुणों की आधारशिला पर खड़े भारतीय समाज की नींव डगमगाने लगी। 'खाओ पियो मौज करो', 'फूट डालो और राज करो'—की अंग्रेजी नीति ने भारत

---

१. विलियम जे० गुडे और पाल के० हॉट : मैथड्स इन सोशल रिसर्च, १९५२ पृ० ९९

में अनेक सामाजिक समस्याएँ खड़ी कर दीं। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा टूटने लगी। व्यक्ति टूटने लगे, परिवार टूटने लगे, समुदाय टूटने लगे। विघटन की चतुर्मुखी प्रक्रिया आरंभ हो गयी। पुराने मूल्य, पुराने आदर्श, पुरानी मान्यताएँ नष्ट होने लगीं, नये मूल्यों और आदर्शों की स्थापना हो नहीं सकी। परिणाम हमारी आँखों के समक्ष है। स्वतंत्र भारत के २५ वर्षों में भी इन समस्याओं के समाधान का और देश के पुनर्निर्माण का कार्य ठोस आधार पर नहीं हो पाया है।

बाल अपराध, वयस्क अपराध, श्वेतवसना अपराध, अनैतिकता, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, मादकद्रव्य सेवन, आत्महत्या, नारी की अवहेलना, विवाह-विच्छेद, जातिवाद, अस्पृश्यता, सामुदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, औद्योगीकरण, नागरीकरण, बेकारी, भिक्षावृत्ति, निर्धनता, भ्रष्टाचार आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ भारत को त्रस्त कर रही हैं। कुछ समस्याएँ क्षेत्रीय हैं, कुछ देशव्यापी।

भारतीय समाज आज इन सभी समस्याओं के चलते विनाश के कगार पर खड़ा है। विघटन अपने पूरे जोर पर है। सामाजिक स्थिरता संकट में है। चारों ओर अशांति, असंतोष, तनाव, उपद्रव ही दिखाई पड़ रहा है।

समाधान के मार्ग

ऐसा नहीं है कि सरकार चुपचाप बैठी तमाशा देख रही है। सरकार इन सभी समस्याओं के निराकरण के लिए प्रयत्नशील है। उसने अनेक वर्षों से पंचवर्षीय योजनाएँ चला रखी हैं, सामुदायिक विकास आंदोलन चला रखा है। छोटे-बड़े उद्योगों के विकास के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित कर रखी हैं। कृषि के विकास के लिए, भूमि के सुधार के लिए नाना प्रकार के उपाय कर रखे हैं। कानून बनाये हैं। बना रही है। परंतु समाज-सेवा का क्षेत्र केवल सरकारी प्रयास से उर्वर नहीं होता। उसके लिए लोकशक्ति का जागरण आवश्यक है।

गाँधीजी ने देश के पुनर्निर्माण के लिए, बहुमुखी सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए नाना प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रम आरंभ कर दिये थे। उनके माध्यम से वे देश में सामाजिक क्रांति लाने को उत्सुक थे। उन्होंने भावी भारत का जो सपना देखा था, वह अभी तक साकार नहीं हो

पाया। विनोवा का भूदान-ग्रामदान आंदोलन उसी स्वप्न को साकार करने का एक क्रियात्मक साधन है। उसके माध्यम से इस बात की पूरी सम्भावना है कि देश की सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान हो सकेगा और देश में वर्गविहीन-शोषणहीन नये समाज की स्थापना हो सकेगी।

●

अध्याय : ५

सामाजिक व्याधिकी

मानव शरीर की भाँति समाज का भी शरीर होता है। समाज-शास्त्रियों ने इसके संबंध में आंगिक, अवयवी या शारीरिक सिद्धांत ही निकाल रखा है। हर्बर्ट स्पेंसर ने अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उसका कहना था कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न कार्यों में परस्पर निर्भरता पायी जाती है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न कार्यों एवं अवयवों में परस्पर निर्भरता पायी जाती है। जिस प्रकार शरीर का विकास होता है, उसी प्रकार समाज का भी विकास होता है। यद्यपि इस अवयवी सिद्धांत की अनेक समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है, मानव शरीर से समाज शरीर के कुछ मुद्दों की भिन्नता स्वयं हर्बर्ट स्पेंसर ने भी व्यक्त की है, फिर भी इस तथ्य को मानना ही पड़ेगा कि समाज का एक स्वरूप होता है। व्यक्ति को लेकर ही समाज बनता है। व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न नहीं हैं। व्यक्ति स्वस्थ होंगे, तो समाज भी स्वस्थ होगा। समाज स्वस्थ होगा, तो व्यक्ति भी स्वस्थ होंगे।

व्याधिकी की अवधारणा

चिकित्साशास्त्र में व्याधिकी का बड़ा महत्त्व है। कोई भी जीवधारी व्याधिग्रस्त हो सकता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े सभी व्याधि से आक्रांत होते हैं, पेड़-पौधे तक व्याधिग्रस्त होते हैं। उनकी व्याधि को जानना, समझना, व्याधि रोग या विकार का ज्ञान, उसका निदान, व्याधि के निवारण के लिए अनिवार्य माना जाता है।

समाज व्यवस्थित रीति से काम करे, इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी अंग स्वस्थ, सबल और पुष्ट हों। समाज की स्वस्थता, सशक्तता और दृढ़ता ही सामाजिक संगठन को स्थायी बना सकती है। समाज अस्वस्थ होगा, उसमें रोग और विकार होगा, तो सामाजिक संगठन के नष्ट होने में विशेष विलंब नहीं लगेगा। जिस प्रकार जीवधारी व्याधि-ग्रस्त होने पर शीघ्र ही मरणोन्मुख हो जाते हैं, उसी प्रकार समाज भी व्याधिग्रस्त होकर विघटनोन्मुख हो जाता है।

सामाजिक संगठन के अनेक अंग हैं। जैसे, समूह, उपसमूह, समितियाँ, संस्थाएँ, परिवार, विद्यालय, विवाह, अनेक प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक संगठन आदि। इन अंगों में कोई व्याधि होती है, कोई रोग होता है, तो समाज के पूरे शरीर पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। पैर में छोटा-सा काँटा चुभ जाता है, तो जिस प्रकार सारे शरीर पर उसकी प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार समाज के किसी अंग में विकार आ जाने से सारे समाज पर उसकी प्रतिक्रिया होती है।

समाज शरीर में कोई व्याधि, रोग या विकार होना ही 'सामाजिक व्याधिकी' कहलाता है। जो सामाजिक समस्याएँ समाज के शरीर को पीड़ित करने लगती हैं, समाज की संरचना को अव्यवस्थित करने लगती हैं, उसे विघटन की दिशा में बढ़ाने लगती हैं, वे ही सामाजिक व्याधियाँ हैं। उनका निदान ही सामाजिक व्याधिकी का विषय है। समाज को अस्वस्थ बनानेवाली विघटनकारी स्थितियाँ ही सामाजिक व्याधिकी के अंतर्गत आती हैं।

परिभाषा

फेयर चाइल्ड ने सामाजिक व्याधिकी की परिभाषा इन शब्दों में दी है—'सामाजिक व्याधिकी सामाजिक विघटन अथवा असामंजस्य का वह अध्ययन है, जिसमें उन कारकों के अर्थ, उनकी मात्रा और व्यापकता, उनके कारणों, परिणामों और उपचारों का विवेचन किया जाता है, जो सामाजिक समंजन या सामंजस्य को रोकते या कम करते हैं और वृद्धावस्था, बीमारी, मानसिक दौर्बल्य, पागलपन, अपराध, विवाह-विच्छेद, वेश्यावृत्ति तथा पारिवारिक तनावों को बढ़ाते हैं।'[1]

जान लेविस गिलिन ने सामाजिक व्याधिकी की परिभाषा इस प्रकार दी है—'सामाजिक व्याधिकी वह अध्ययन है, जिससे पता चलता है कि मनुष्य अपने से तथा अपने जीवन के लिए अनिवार्य संस्थाओं से समंजन स्थापित करने में क्यों असफल रहता है।'

क्षेत्र

जो सामाजिक समस्याएँ समाज के अस्तित्व को संकट में डाल देती हैं; समाज के सदस्यों की मूल इच्छाओं की पूर्ति में बाधक बनती हैं और जिनके कारण सामाजिक एकता नष्ट होने लगती है, वे ही सामाजिक व्याधिकी का मुख्य विषय हैं।[2]

१. फेयर चाइल्ड : डिक्शनरी आफ सोशियालाजी, पृष्ठ २८७
२. गिलिन और गिलिन : कल्चरल सोशियालाजी, पृष्ठ ७४०

सामाजिक व्याधिकी के अंतर्गत वैयक्तिक विघटन भी आता है, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन भी। उसमें व्यक्ति के जीवन को विघटित करनेवाली स्थितियाँ—अपराध, बाल अपराध, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, आत्महत्या जैसी स्थितियाँ भी आती हैं और पारिवारिक सामुदायिक जीवन को विघटित करनेवाली स्थितियाँ—पारिवारिक तनाव, वर्ग-संघर्ष, निर्धनता, बेकारी, सामाजिक भ्रष्टाचार जैसी स्थितियाँ भी आती हैं। युद्ध और क्रांति जैसी अंतरराष्ट्रीय विघटन की स्थितियाँ भी सामाजिक व्याधिकी के क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं।

आधार और अध्ययन विषय

एडविन ई. लेमर्ट ('सोशल पैथालाजी' में) सामाजिक व्याधिकी के क्षेत्र की मीमांसा करते हुए लिखता है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में समाजशास्त्री ऐसा मानते थे कि वे सभी मानव-क्रियाएँ सामाजिक व्याधिकी के क्षेत्र में आती हैं, जो विभिन्न मानव आदर्शों के प्रतिकूल होती हैं। सभी सामाजिक समस्याएँ इस सीमा में आ जाती हैं। नवीन समाजशास्त्री कहते हैं कि सामाजिक व्याधिकी के अंतर्गत समुदाय की ही समस्याएँ लेनी चाहिए। यों समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि समाज में असामंजस्य उत्पन्न करनेवाली सभी समस्याएँ इसके अध्ययन क्षेत्र में आती हैं। कुछ के मत से केवल वैयक्तिक विघटन और व्यवहार-स्खलन की ही समस्याएँ इसका विषय हैं। अपराधशास्त्र को अब पृथक् शास्त्र मान लिया गया है, पर यों अपराध की समस्याएँ भी सामाजिक व्याधिकी का विषय हैं। कुछ समाजशास्त्रियों के मत से व्यक्ति का व्यवहार विचलन, उसका सामाजिक-व्याधिकीय व्यवहार ही सामाजिक व्याधिकी का प्रमुख आधार है। लेमर्ट के मत से आज ये तीन बातें मुख्यतः सामाजिक व्याधिकी के अध्ययन का विषय मानी जाती हैं—सामाजिक विभेद, सामाजिक विचलन और सामाजिक वैयक्तीकरण। पहले मनोव्याधिकीय दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया जाता था, पर उसपर अब उतना बल नहीं है। मोटे तौर पर विघटन की प्रायः सभी समस्याएँ सामाजिक व्याधिकी के अध्ययन का विषय बनती हैं।

उपयोगिता

सामाजिक व्याधिकी की व्यावहारिक उपयोगिता स्पष्ट है। समाज को खोखला बनानेवाली, उसकी प्रगति में बाधा डालने वाली समस्याओं का निदान, सामाजिक रोगों का विश्लेषण तथा उनके निवारण के उपयुक्त सुझावों का महत्व किससे छिपा है? उससे रोग के मूल कारणों का ज्ञान होता है और

उसके निवारण का वैज्ञानिक समाधान प्राप्त होता है। मानव की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों और उपायों का ज्ञान होता है। इससे रोगग्रस्त स्थिति को सुधारने तथा समाज को स्वस्थ बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। गिडिंग्स कहता है कि सामाजिक व्याधिकी हमें बताती है कि प्रगति का मूल्य क्या है ?

विघटन और व्याधिकी

सामाजिक विघटन और सामाजिक व्याधिकी, दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू माना जा सकता है। विघटन रोग का परिणाम है, व्याधिकी रोग का निदान। दोनों के लिए एक दूसरे की आवश्यकता है। समाज के संगठन को स्वस्थ बनाने के लिए रोग का, व्याधि का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। उसे जान-समझकर ही विघटन को रोका जा सकता है।

अपराध

सामाजिक व्याधिकी की अन्य बातों पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ हम अपराध और दंड की कुछ विवेचना करेंगे।

अवधारणा

मानवीय व्यवहारों का एक प्रकार है—अपराध। मानव प्रतिक्षण नाना प्रकार के व्यवहार करता रहता है, पर उसके सभी व्यवहार अपराध नहीं माने जाते। समाज-विरोधी व्यवहार ही अपराध माने जाते हैं। जो व्यवहार या कार्य सार्वजनिक हित के विरुद्ध होते हैं, समाज की व्यवस्था और रक्षा में बाधक होते हैं, उन्हें ही अपराध माना जाता है। मनुष्य का जो आचरण सामाजिक अथवा वैधानिक नियमों के विरुद्ध होता है, समाज जिस व्यवहार का निषेध करता है, कानून द्वारा जो दंडनीय माना जाता है, उसीको अपराध कहा जाता है।

अपराध की अवधारणा के दो भेद माने जा सकते हैं। एक वैधानिक या कानूनी अवधारणा, दूसरी है समाजशास्त्रीय या सामाजिक अवधारणा।

वैधानिक परिभाषा

कानून की दृष्टि से देखें तो कहा जायगा कि ऐसा प्रत्येक कार्य अपराध है जो कानूनन निषिद्ध है। देश का शासन चलाने के लिए जो कानून बने हैं, उनके विरुद्ध किया गया आचरण या व्यवहार अपराध कहलाता है।

मावरर कहता है—'अपराध वह क्रिया है जिसके द्वारा कानून का उल्लंघन होता है।'

सी० डैरो कहता है—'अपराध वह कार्य है जिसका कि देश के कानून ने निषेध किया है और जिसका उल्लंघन करने पर दंड भोगना पड़ता है।'[1]

हाल्सबरी कहता है—'अपराध वह गैरकानूनी कार्य है जो सार्वजनिक हित के विरुद्ध होता है और जिसके लिए उक्त कार्य करनेवाले को दंड भोगना पड़ता है।'

टैफ्ट कहता है—'अपराध उन कार्यों को कहा जाता है जिनको कानून ने रोक रखा है और कानूनन उनके लिए दंड की व्यवस्था की गयी है।'[2]

लैंडिस और लैंडिस कहते हैं—'अपराध वह कार्य है जिसे राज्य ने सामाजिक कल्याण की दृष्टि से हानिकारक घोषित कर रखा है और जिसके उल्लंघन पर दंड देने का राज्य को अधिकार प्राप्त है।'[3]

स्पष्ट है कि कानूनन वर्जित काम 'अपराध' माने जाते हैं और उन कामों के करनेवाले 'अपराधी' हैं जिन्हें राज्य की ओर से दंड दिया जाता है।

इलियट और मेरिल, बार्न्स और टीटर, गिलिन और गिलिन, मेकेंजी, सदरलैंड, हेकरवाल, मेनहाइन, एम० जे० सेटना आदि सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि कानून का उल्लंघन ही अपराध है। राज्य में तत्कालीन लागू कानूनों की अवहेलना करना, निषिद्ध कार्यों को करना अपराध माना जाता है और उसके लिए दंड दिया जाता है।

कानून में दो बातों पर ध्यान दिया जाता है। एक तो यह कि अपराध करते समय अपराधी की नीयत क्या थी, उसका इरादा क्या था और दूसरे उसने अपराध की क्रिया अमल में लायी।

सामाजिक अवधारणा

अपराध की सामाजिक अवधारणा सामाजिक मूल्यों, परंपराओं, रूढ़ियों और प्रथाओं से संबद्ध है। भले ही कानून कुछ भी कहे, वह तो भिन्न-भिन्न देशों, समाजों और समयों में भिन्न-भिन्न नियम बनाता रहता है, उसकी दृष्टि से कोई कार्य अपराध की श्रेणी में आये चाहे न आये, सामाजिक मूल्यों, प्रथाओं, रीतियों के विपरीत आचरण सामाजिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। समाज की रूढ़ियों, प्रथाओं, परंपराओं का उल्लंघन

---

१. डैरो : क्राइम, इट्स काजेज एण्ड पनिशमेंट, १९३४, पृष्ठ १

२. डोनाल्ड आर० टैफ्ट : क्रिमिनालाजी, १९५६, पृष्ठ ६

३. लैंडिस और लैंडिस : सोशल लिविंग, १९५२, पृष्ठ १४६

सामाजिक दृष्टि से अपराध की श्रेणी में आता है। ऐसे अपराधों के लिए समाज में निंदा, समाज से निष्कासन, हुक्का-पानी बंद कर देना और इसी प्रकार के अन्य दंडों की व्यवस्था रखी गयी है।

अपराधों के प्रकार

अपराध अनेक प्रकार के होते हैं। भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से उनका वर्गीकरण किया है। (क) अपराध की गहनता के आधार पर—

१. लघु अपराध। जैसे, जुआ, मद्यपान, असावधानी से घटी दुर्घटना आदि।
२. गंभीर अपराध। जैसे, हत्या, बलात्कार, देशद्रोह आदि।

(ख) नीयत या उद्देश्य के आधार पर—

टैपट के मत से—

(१) संगठित अपराध, (२) असंगठित अपराध।

हेज के मत से—

१. व्यक्ति के प्रति अपराध,
२. संपत्ति के प्रति अपराध और
३. सामाजिक शांति और व्यवस्था के प्रति अपराध।

बोंगर के मत से—

१. आर्थिक अपराध। जैसे, चोरी, जेब काटना, गबन आदि।
२. यौन अपराध। जैसे, बलात्कार, अपहरण आदि।
३. राजनीतिक अपराध। जैसे, देशद्रोह, जासूसी, सांप्रदायिकता।
४. अन्य अपराध।

क्लेमर्ट के मत से—

१. परिस्थितिजन्य अपराध,
२. नियोजित अपराध,
३. विश्वासघातक अपराध।

सरकारी मत से—

१. व्यक्ति के विरुद्ध अपराध,
२. संपत्ति के विरुद्ध अपराध,
३. राज्य के विरुद्ध अपराध,
४. व्यवस्था के विरुद्ध अपराध और
५. न्याय के विरुद्ध अपराध।

सदरलैंड के मत से—

१. सामान्य अपराध और

२. श्वेतवसना अपराध ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराधों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। जो व्यक्ति अपराध करता है, वह 'अपराधी' माना जाता है, पर तभी जब उसका अपराध प्रमाणित हो जाय। अपराध प्रमाणित न होने पर वह मुक्त कर दिया जाता है। अपराध प्रमाणित होने पर उसे दंड दिया जाता है। जबतक उसपर मुकदमा चलता रहता है, तबतक उसे 'अभियुक्त' कहा जाता है।

अपराधी

मई, १९६० में विनोबा ने चंबल के डाकूग्रस्त क्षेत्र की यात्रा की। ५ मई, १९६० को आगरा की सभा में उन्होंने कहा—'हम भिंड मुरेना की तरफ जा रहे हैं। आज सवेरे किसी ने हम से पूछा—'आप डाकू-क्षेत्र में जा रहे हैं?' हमने कहा, 'जी ना, हम सज्जनों के क्षेत्र में जा रहे हैं। भिंड मुरेना भी अन्य क्षेत्रों की भाँति सज्जनों का क्षेत्र है। डाकू कौन है और कौन नहीं है, इसका फैसला करनेवाला तो परमेश्वर है। कुछ लोग दुनिया में 'डाकू' कहे जाते हैं। यह जरूरी नहीं कि केवल वे ही डाकू हों। परमेश्वर की निगाह में दूसरे लोग अधिक गुनहगार साबित हो सकते हैं।'[1] रछेड़ (मुरेना) में कहा—डाकू तो दिल्ली में भी हैं, जो सफाई के साथ डाका डालते हैं।[2] अपराध का इतिहास बताता है कि अपराध कोई करता है, अपराध की सजा कोई अन्य भुगतता है—

'और करै अपराध कोऊ और पाव फल भोग!'

अपराध करके भी अनेक व्यक्ति अपराध से मुक्त बने रहते हैं और निर्दोष लोग विभिन्न कारणों से अपराधी साबित हो जाते हैं! ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि अपराधी कौन है। पर अपराधशास्त्र ने अपराधी और उसके कृत्यों को लेकर पूरा शास्त्र ही खड़ा कर रखा है। उसके अनुसार कई प्रकार से अपराधियों का वर्गीकरण किया जाता है।

---

१. श्री कृष्णदत्त भट्ट : चंबल के बेहड़ों में, १९६१, पृष्ठ ४९-५०

२. वही, पृ० ७८

लोम्ब्रासो, गैरोफैलो, मेह्यू, मेरियन, फेरी, हेज, सदरलैंड हेवलाक एलिस, अशाफेनबर्ग, लिंडस्मिथ और डल्हम आदि ने निम्न प्रकार से अपराधियों का वर्गीकरण किया है—

अपराधियों का वर्गीकरण

लोम्ब्रासो— १. जन्मजात अपराधी,
२. पागल अपराधी
३. कामुक अपराधी
४. आकस्मिक अपराधी—नकली अपराधी, अभ्यस्त

अपराधी और पतन की भावना से ग्रस्त अपराधी—क्रिमिनालायड ।

गैरोफैलो— १. विचित्र अपराधी: क्रूर, अहंकारी, हत्यारे,
२. हिंसक अपराधी: ईर्ष्यालु, प्रतिशोधक,
३. अनैतिक अपराधी,
४. कामुक अपराधी ।

मेह्यू— १. पेशेवर अपराधी,
२. आकस्मिक अपराधी ।

मेरियन— १. पेशेवर अपराधी,
२. आकस्मिक अपराधी,
३. अभ्यस्त अपराधी ।

फेरी— १. अभ्यस्त अपराधी,
२. जन्मजात अपराधी,
३. पागल अपराधी,
४. आकस्मिक अपराधी,
५. कामुक अपराधी ।

हेज— १. आरंभिक अपराधी,
२. आकस्मिक अपराधी,
३. अभ्यस्त अपराधी,
४. पेशेवर अपराधी ।

सदरलैंड— १. निम्नवर्गीय अपराधी और
२. उच्चवर्गीय या श्वेतवसना अपराधी ।

हेवलाक एलिस— १. राजनीतिक अपराधी,
२. कामुक अपराधी,

३. पागल अपराधी,
४. आकस्मिक अपराधी,
५. पेशेवर अपराधी,
६. अभ्यस्त अपराधी,
७. मूलतः अपराधी,

अशाफेनवर्ग—१. आकस्मिक अपराधी,
२ कामुक अपराधी,
३. अभ्यस्त अपराधी,
४. पेशेवर अपराधी,
५. जागरूक अपराधी

लिडस्मिथ और डल्हम—१. सामाजिक अपराधी,
२. वैयक्तिक अपराधी।

ऐसे अनेक वर्गीकरण हैं। किसी ने किसी तथ्य पर बल दिया है, किसी ने किसी तथ्य पर। अपराध अनेक हैं, उसी प्रकार अपराधी भी अनेक प्रकार के हैं। अपराधियों में अनेक व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में चरम सीमा का अपराध करते पाये जाते हैं, दूसरे क्षेत्र में सर्वथा उच्च कोटि का आचरण करते पाये जाते हैं। कोई सभी क्षेत्रों में गिरे पाये जाते हैं, कोई किन्हीं विशेष क्षेत्रों में। कोई क्षणिक आवेश में आकर अपराध कर बैठते हैं, कोई योजनाबद्ध रीति से, बाकायदा संगठित होकर अपराध करते हैं। किसी ने अपराध को अपना व्यवसाय बना रखा है, किसी ने सामाजिक परिस्थितियों से विवश होकर इस ओर पैर बढ़ाया है।

अपराध और सामाजिक मूल्य

अपराध का सामाजिक मूल्यों के साथ घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक मूल्यों में परम महत्त्वपूर्ण मूल्य विलियम केटन ने ये माने हैं—(१) मानव जीवन, (२) कला और मानवीय संबंधों में मनुष्य की सृजनात्मक उपलब्धियाँ, (३) अधिक प्रसन्न जीवन के लिए मानव का दूसरों के साथ सहयोग, (४) मानवोत्तर शक्ति में विश्वास, (५) मानवीय चारित्र्य का अधिकतम विकास और (६) मानवीय बुद्धि और योग्यता का अधिकतम विकास।[१] अमेरिकी जीवन में इनके अतिरिक्त ३ मूल्य और भी माने गये हैं—(७) राष्ट्रीयता, (८) आर्थिक सफलता और (९) विवाह के लिए

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३३

प्रेम का आधार ।[1] अमेरिकी समाज में इन तीन मूल्यों को अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण माना गया है—ईसाई धर्म, एक विवाह और वैयक्तिक उद्योग ।[2]

राधाकमल मुखर्जी ने सामाजिक मूल्यों और समाज के संबंधों में जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। बोगर्डस ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि मुखर्जी का मूल्यांकन केवल पूर्व और पश्चिम का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, अपितु वह विश्वव्यापी विचारधारा में पौर्वीय और पाश्चात्य सामाजिक विचारों का समन्वय उपस्थित करता है ।[3] मुखर्जी की मान्यता यह है कि सामाजिक समंजन के ४ मूल प्रकार हो सकते हैं—

१. भीड़ में—किसी ऐसे कार्य के लिए जनता का प्रहार जो गलत माना जाता हो । नैतिक भावना ।
२. आर्थिक समूह में—ईमानदारी, विवेक, एकता और पारस्परिकता ।
३. समाज या समुदाय में—न्याय और समता की अभिव्यक्ति ।
४. सार्वलौकिक या सर्वहित के क्षेत्र में—अगाध प्रेम, सामाजिक उत्तर-दायित्व, एकता और सहयोग ।

इन्हीं सामाजिक मूल्यों की आधारशिला पर भावी विश्व की नवरचना संभव है । मानव दिखावटी, स्वार्थपरायण और क्षणभंगुर स्थिति से ऊपर उठकर हार्दिकता, परार्थवाद और विश्वात्मकता की दिशा में अग्रसर होता है ।[4]

सामान्य रीति से ऐसा माना जा सकता है—सर्वसाधारण लोगों के हितों के विरुद्ध जो कार्य होते हैं, जिन कार्यों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था पर कुप्रभाव पड़ता है, जिनके कारण सामाजिक संगठन टूटता है और सामाजिक विघटन बढ़ता है, समाज की शांति और सुरक्षा में बाधा पड़ती है, वे कार्य अपराधों की श्रेणी में आते हैं । जिन सामाजिक मूल्यों के आधार पर समाज का प्रासाद खड़ा होता है, उन मूल्यों के नष्ट होने से ऐसी दयनीय स्थिति उत्पन्न होती है ।

इलियट और मैरिल के कथनानुसार कुछ सामाजिक मूल्य सार्वदेशिक होते हैं । इनमें कुछ को अत्यत महत्त्वपूर्ण माना जाता है । जैसे, हत्या,

---

१. वही, पृ० ३३
२. वही, पृ० ३५
३. एमरी एस० बोगर्डसः दि डेवलपमेंट ऑफ सोशल थॉट. १९६०, पृष्ठ ६३६
४. वही, पृ० ६३६ – ६३७

बलात्कार, चोरी, जालसाजी सरीखे कृत्य भयंकर अपराध माने जाते हैं। कुछ कृत्य संस्कृतियों की भिन्नता के अनुसार अपराध माने जाते हैं अथवा नहीं माने जाते। सामाजिक परिवर्तन से 'उचित' और 'अनुचित' की व्याख्याएँ बदलती रहती हैं। सामाजिक मत बदलते रहते हैं। मद्य-निषेध के संबंध में निर्मित वोलस्टीड कानून जब बना तो शराब बेचना कानूनन अपराध बन गया। यह कानून रद्द हुआ तो शराब का विक्रय वैध व्यवसाय बन गया।'[1]

अपराध और अनैतिकता

नीति और सदाचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 'सत्' और 'असत्'—दो परस्पर विरोधी सिरे हैं। प्रार्थना की जाती है—"असतो मा सद्गमय!" "हे परमेश्वर, तू हमें असत् से हटा कर सत् की ओर ले चल।" अथवा "अग्ने नय सुपथाराये—" 'तू, हमें सत्पथ पर ले चल!' नमाज में भी रोज प्रार्थना की जाती है—'इह्दि नस्सिरातल मुस्तकीम'—'ऐ अल्लाह, तू हमें सीधा रास्ता दिखा।'

सत् का रास्ता सीधा रास्ता है, असत् का रास्ता गड्ढे में गिरानेवाला रास्ता है। सारे धर्मों में, वेद में, कुरान में, इंजील में, जिंदावस्ता में सन्मार्ग पर चलने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है। सत् का यह मार्ग ही नैतिक मार्ग है। नेकी का मार्ग है। मानव को ऊपर उठानेवाला मार्ग है। इसके विपरीत असत् का मार्ग अनैतिक मार्ग है।

सदाचार के नियम, आचार शास्त्र के नियम वे ही हैं, जिनसे मनुष्य का अपना कल्याण होता है और वह जिस समाज में रहता है, उसका भी कल्याण होता है। समाज द्वारा स्वीकृत आचार 'सदाचार' कहलाता है। समाज द्वारा अस्वीकृत आचार 'दुराचार' कहा जाता है। मानवीय व्यवहारों की यह कसौटी है। उसी कसौटी पर कसकर सदाचारी की प्रशंसा होती है, दुराचारी की भर्त्सना।

नैतिक नियमों से विचलन का नाम ही दुराचार है। दुराचार सामाजिक अपराध है, भले ही वह कानूनन अपराध की श्रेणी में न आये। अधिकांश दुराचार कानूनन अपराध माने जाते हैं। कुछ दुराचार कहीं-कहीं कानूनन अपराध नहीं माने जाते।

अनैतिकता में, दुराचार में नैतिक नियमों का उल्लंघन होता है, अपराध में कानून का उल्लंघन होता है। अनीति और दुराचार में मन, वचन,

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १०६

कर्म—सभी को शामिल कर लिया जाता है, जबकि कानूनी अपराध में केवल कानून विरोधी कर्म को ही लिया जाता है। अनीति का दंड समाज देता है, अपराध का दंड राज्य देता है। अनीति और दुराचार का प्रत्येक कृत्य समाज और व्यक्ति पर बुरा प्रभाव डालता है, सामाजिक संगठन और व्यवस्था को विश्रृंखलित करता है और सामाजिक विघटन का मार्ग प्रशस्त करता है। सभी अनैतिक कार्य अनैतिक हैं, कानून की दृष्टि से वे अपराध माने जायँ, चाहे न माने जायँ। असत्य बोलना, असत्य का आचरण करना अनैतिक है, पर कानूनन अपराध वह तभी माना जाता है जब झूठी गवाही, जालसाजी, विश्वासघात आदि में वह पकड़ा जाता है।

धर्म की आधारशिला है पुण्य। सत्कर्म, दान, दया, सद्व्यवहार, सेवा, उदारता आदि गुण पुण्य की परिधि में आते हैं। व्यास ने उसकी सीधी परिभाषा दे दी—'परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।' परोपकार का नाम है पुण्य, परपीड़न का नाम है पाप। मनु ने कह दिया—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' जिस व्यवहार से तुम्हें कष्ट होता है, उस व्यवहार को दूसरों के प्रति मत करो। बाइबिल का स्वर्ण नियम भी ऐसा ही है।

अपराध और पाप

पाप और पुण्य की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। विभिन्न धर्मों ने पाप और पुण्य का विस्तृत विवेचन किया है। पाप में केवल शारीरिक पाप—हत्या, चोरी, व्यभिचार जैसे पाप—ही नहीं आते; असत्य भाषण, निंदा, कटुवचन भी आते हैं, वाचिक पापों को अलग नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, राग-द्वेष, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, काम-क्रोध आदि मानसिक पाप भी उसमें आते हैं। व्यवहार में कोई असत् कार्य करना तो पाप है ही, मन में की कल्पना भी पाप है। इतना व्यापक है पाप का विश्लेषण। इतनी सूक्ष्म है उसकी कल्पना, सभी धर्मों ने पाप की भर्त्सना की है। उसे ही मानव के पतन और दुर्भाग्य का कारण माना है। कहा गया है कि पाप से लोक भी बिगड़ता है, परलोक भी।

पाप की यह धारणा असत् कार्यों से मानव को रोकने में अनेकांश में सफल हुई है। मानवीय व्यवहारों पर नियंत्रण रखने में, सामाजिक नियंत्रण में इसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। पुण्य कार्य करोगे तो स्वर्ग मिलेगा, पाप कार्य करोगे तो नरक—इस धारणा ने, पुरस्कार और दंड की इस धारणा ने

शताब्दियों तक अपना प्रभाव दिखाया। आज भी उसका प्रभाव थोड़ी-बहुत मात्रा में बना हुआ है। धर्म की भावना शिथिल होने के कारण उसका पहले जैसा प्रभाव अब नहीं रह गया है।

पाप का अपराध से घनिष्ठ संबध है। प्राय: सभी समाज-विरोधी कार्य पाप माने जाते हैं। कानूनन भी उनकी गणना अपराधों में होती है। यों हर प्रकार का अपराध न तो पाप माना जाता है, न हर प्रकार का पाप अपराध माना जाता है। कुछ अपराध पाप की श्रेणी में नहीं आते। कुछ पाप भी अपराध की श्रेणी में नहीं आते। धर्मविरोधी आचरण पाप है जबकि कानूनविरोधी आचरण अपराध। पाप के साथ धर्म, ईश्वर, प्रायश्चित्त और दुर्भाग्य की धारणाएँ जुड़ी हुई हैं, जबकि अपराध के साथ इसी लोक के कानूनविरोधी कार्यों और उनके दंडों की नियमावली जुड़ी है। यह अवश्य है कि धर्मविरोधी अधिकांश कार्य पाप तो माने ही जाते हैं, अपराध भी माने जाते हैं।

अपराध के कारण क्या हैं, मनुष्य अपराध क्यों करता है, इस संबंध में शताब्दियों से अध्ययन और चिंतन होता आया है। अनेक विद्वानों ने इस संबंध में अपने-अपने ढंग से विचार किया है। इस

अपराध के सिद्धांत

विचारधारा के विभिन्न प्रवाह हैं और उनके अनुसार अपराध शास्त्र के अनेक संप्रदाय और सिद्धांत बन गये हैं। सन् १७७५ से लेकर १९१५ तक ऐसे कम-से-कम ६ संप्रदाय निकले। आरंभिक भूत-प्रेत के आवेश में आकर अपराध करने की प्राचीन अवधारणा को छोड़ दें तो प्रमुख संप्रदाय ये ठहरते हैं—

संप्रदाय	वर्ष	कारण
१. शास्त्रीय संप्रदाय	(१७७५)	सुखवाद
२. भौगोलिक संप्रदाय	(१८३०)	भौगोलिक परिस्थिति
३. परिस्थितिकी संप्रदाय	(१८४०)	परिस्थितिकी
४. समाजवादी संप्रदाय	(१८५०)	आर्थिक स्थिति
५. प्रारूपवादी संप्रदाय	(१८७५-१९०५)	जन्मना अपराधी मानसिक दुर्बलता और व्याधि
६. समाजशास्त्रीय संप्रदाय	(१९१५)	सामाजिक प्रक्रियाएँ
७. अन्य संप्रदाय	—	व्यक्तिवाद, वंशानुक्रमण आदि।

शास्त्रीय संप्रदाय सुखवादी दर्शन को अपराध का मूल कारण मानता है। अधिक सुख पाने के लिए मानव अपराध करता है। जिस कार्य में उसे अधिक सुख मिलने की आशा रहती है, उसी के लिए वह प्रयत्नशील हो उठता है। इटली के सिसरे बेकेरिया (१७३८-१७९४) ने सबसे पहले इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। 'अपराध और दंड' संबंधी उसके लेख ('एसे ओन क्राइम एण्ड पनिशमेंट') में इसी विचार पर बल दिया गया है कि मनुष्य अपने कार्य इसी दृष्टि से करता है कि किस कार्य से उसे सुख मिलेगा। जिस कार्य से दुःख मिलने की आशंका रहती है, उनसे वह कतराता है। अतः अपराधी को उसकी आय, स्थिति, मानसिक स्थिति आदि का कोई विचार किये विना ऐसा कड़ा दंड देना चाहिए कि वह उसके दुःख की कल्पना से भविष्य में पुनः अपराध न करे।

शास्त्रीय संप्रदाय

इंगलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक और राजनेता बेंथम (१७४८-१८३२) ने इस सिद्धांत का समर्थन किया। उसने इस बात पर बल दिया कि पागलों, वृद्धों और बालकों को दंड न दिया जाय और दंड देते समय वातावरण का भी ध्यान रखना चाहिए। साथ ही दंड लचीला होना चाहिए।

जर्मनी के विचारक फ्यूअरबैक (१८०४-१८७२) ने अपराध के शमन के लिए कानून और दंड पर बल दिया। दंड नहीं दिया जायगा, तो समाज का अस्तित्व संकट में पड़ जायगा, ऐसा उसका कहना था।

भौगोलिक संप्रदाय यह मानता है कि तापमान, हवा का रुख, पहाड़ी अथवा मैदानी प्रदेश, ऋतुएँ आदि भौगोलिक परिस्थितियाँ अपराध का कारण होती हैं। जलवायु, प्राकृतिक साधन, भीड़-भाड़, भूमि की उर्वरा शक्ति, वर्षा आदि का अपराध की स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। फ्रांस के क्वेटलेट और ग्वेरी इस संप्रदाय के संस्थापक थे। मांटेस्क्यू ने भी इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहा कि भौगोलिक परिस्थितियाँ मानव व्यवहार को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। भूमध्य रेखा के निकट अधिक अपराध होते हैं और कर्क रेखा, मकर रेखा के निकट कम। लोम्ब्रासो ने भी कहा है कि समतल भूमि में अपराध कम होते हैं, घाटियों में, पहाड़ की चोटियों पर अधिक अपराध होते हैं।

भौगोलिक संप्रदाय

देशांतरगमन, प्रतिस्पर्द्धा, श्रमविभाजन आदि के परिणामस्वरूप जो स्थिति बनती है, उसे ही अपराध का कारण बतानेवाला यह संप्रदाय परिस्थितिकी पर विशेष बल देता है। इसके प्रमुख समर्थक हैं—टार्डे, कोर, तुराती, बैटाग्लिया, लैफर्ग, कोलाजनी, हेनरी मेह्यू, रासन, श्रेशर और शा। ये लोग ऐसा मानते हैं कि दोषपूर्ण अर्थ-व्यवस्था, भारी निर्धनता, भारी जनवृद्धि अपराध के प्रमुख कारण हैं। मेह्यू ने क्षेत्रीय अध्ययन करके बताया कि औद्योगिक और मनोरंजन वाले क्षेत्रों में अपराध अधिक होते हैं। रासन ने सांख्यिकीय पद्धति से अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि छोटे नगरों में कम और बड़े नगरों में अधिक अपराध होते हैं। शिकागो शहर का अध्ययन करके श्रेशर और शा ने भी ऐसा ही निष्कर्ष निकाला।

परिस्थितिकी संप्रदाय

समाजवादी संप्रदाय के विचारक ऐसा मानते हैं कि अपराधों की व्याख्या आर्थिक कारकों के आधार पर करना ही उचित है। मार्क्स और एंजिल्स इस संप्रदाय के प्रमुख संस्थापक हैं। बोंजर भी इसी मत का समर्थन करता है। ये लोग कहते हैं कि आर्थिक विषमता और वर्ग-संघर्ष ही अपराधों के मूल कारण हैं। आर्थिक स्थिति प्रतिकूल होने पर अपराधों की संख्या बढ़ती है, अनुकूल होने पर घटती है। बोंजर कहता है कि आर्थिक स्वार्थ, प्रतिस्पर्द्धा, पूँजीवाद, जैसे कारण अपराधों को जन्म देते हैं। भूखा बालक बिस्कुट, चाकलेट या डबलरोटी इसीलिए चुराता है कि वह भूख की ज्वाला को सहन करने में असमर्थ होता है। श्रीमानों का ऐश्वर्य देखकर सामान्य लोगों को ईर्ष्या होती है, इसी से वे अपराध करते हैं। निर्धनता के कारण विवाह समय पर न होने से ऐसे लोग यौन अपराध कर बैठते हैं। अधिक और कठोर श्रम करना पड़ता है, इसीलिए मिल मजदूर मद्यपान और वेश्यागमन की ओर झुक जाते हैं।

समाजवादी संप्रदाय

प्रारूपवादी संप्रदाय के विचारक मानते हैं कि अपराधी व्यक्ति की शारीरिक गठन और मानसिक गठन ही विशेष प्रकार का होता है। उनमें कुछ विशिष्ट शारीरिक और मानसिक लक्षण पाये जाते हैं। उन लक्षणों के चलते वे अपराध करते हैं। इनके मत से प्रजातीय और मनोवैज्ञानिक कारक ही अपराध के कारण हैं।

प्रारूपवादी संप्रदाय

आगे चलकर इस संप्रदाय की तीन धाराएँ हो गयीं। पहली धारा इटालियन या लोम्ब्रोसियन धारा कहलाती है। दूसरी मानसिक परीक्षण वाली धारा है। तीसरी है—मनोविश्लेषणात्मक धारा।

लोम्ब्रोसियन धारा—सीजर लोम्ब्रोसो (१८३६-१९००) इस धारा का प्रवर्त्तक था। उसने और उसके शिष्य एनरिको फेरो ने सबसे पहले यह विचार-धारा प्रशस्त की कि अपराधी जन्मजात होते हैं, वे बनते नहीं। उनमें कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक विशेषताएँ होती हैं। उन विशेषताओं को देखकर उन्हें पहचाना जा सकता है। वे विशेषताएँ, वे शारीरिक विकृतियाँ ही उन्हें अपराध करने के लिए प्रेरित करती हैं।

सैनिक अस्पताल के डॉक्टर लोम्ब्रोसो ने सैनिक रोगियों के शरीर पर गुदे गुदनों को देखकर पहले ऐसी उपकल्पना की कि ये चित्र उनकी स्वभावगत रुचियों के प्रदर्शक होते हैं। उत्पाती सैनिक अश्लील चित्र गुदवाते हैं, भले सैनिक अच्छे चित्र। उसने इटली की जेलों में जाकर कैदियों का विशेष रूप से विश्लेषण किया। विलेला नामक दुर्दांत डाकू की खोपड़ी और मस्तिष्क के परीक्षण में उसे कुछ विशेषताएँ मिलीं। उसने ३८३ अपराधियों की खोपड़ी आदि का परीक्षण किया। इन परीक्षणों से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आदि-पूर्वजों के पशुतामूलक अनाचार वंशानुक्रमण से जब किसी व्यक्ति में आ जाते हैं, तो वह भी तदनुकूल पाशविक अपराध करने लगता है।[1] उसने वताया कि खोपड़ी का कम घनत्व, हड्डियों का एक दूसरी के भीतर घुसा होना, माथे का धँसा हुआ होना, दाँतों की विचित्र वनावट, चेहरे की हड्डियों का विशेष रूप से निकला होना, होठों का मोटा होना, सिर का वेढंगा होना, नाक का चौरस और लंवा होना, वालों का मोटा होना, आँखों में भयानकता होना, शक्ल का भद्दा होना आदि वताता है कि व्यक्ति अपराधी है। मस्तिष्क, हृदय, अस्थिपंजर, हाथों की लंवाई, चेहरे पर की झुर्रियाँ, शरीर पर के वाल, नैतिक जड़ता, मंद वुद्धि जैसी अनेक विलक्षणताएँ अपराधी लोगों में पायी जाती हैं। उसने वताया कि अपराधमूलक प्रवृत्तियाँ कुछ लोगों में जन्म से ही पायी जाती हैं।[2]

लोम्ब्रोसो ने जन्मजात अपराधियों में अनेक शारीरिक विशेषताएँ तो वतायीं ही, यह भी वताया कि उनमें कुछ ऐंद्रयिक क्रियाशीलता, तीव्रता

१. सी० लोम्ब्रोसो : क्राइम : इट्स कॉजेज एण्ड रेमेडीज, पृष्ठ ११-१३
२. वही, पृ० ५८

और स्फूर्ति भी होती है, उनमें नैतिकता की भावना बहुत कम रहती है, आवेगशीलता, प्रतिशोध की भावना, क्रूरता, विलासिता, जुआ खेलने और शराब आदि पीने की भावना विशेष रूप से रहती है। गंदी, अश्लील भाषा का प्रयोग करना, गंदे गुदना गुदाना और ऐसी ही गंदी प्रवृत्तियों में रुचि लेना उन्हें पसंद होता है।

आरंभ में लोम्ब्रोसो ने अपनी 'जन्मजात अपराधी' की उपकल्पना पर बहुत बल दिया, पर बाद में जब उस पर विशेष वाद-विवाद छिड़ा तब उसने अपने इस विचार में स्वयं संशोधन किया और जन्मजात अपराधियों की सौ प्रतिशत मान्यता से उतर कर वह ४७ प्रतिशत पर आ गया।[१] फिर उसने अपराधी को आदिमानव का प्रतीक मानने के स्थान पर यह मान लिया कि मानव के अधःपतन की स्थिति अपराध का कारण है। अपराध में शारीरिक विशेषताओं के अतिरिक्त मानसिक और सामाजिक विशेषताओं का भी प्रभाव पड़ता है।

गैरोफैलो (१८५२-१९३४) (अपनी पुस्तक 'क्रिमिनालाजी' में) कहता है कि वंशानुक्रमण अपराध से संबद्ध है। यों वह मानता है कि शारीरिक की अपेक्षा मानसिक विशेषताओं का अधिक प्रभाव पड़ता है। अपराधी दया-शून्य होता है और बेईमान होता है। उसे संपत्ति हड़पने वाले अपराधों को करने में कोई संकोच नहीं होता।

एनरिको फेरो भी इटालियन संप्रदाय का सदस्य था। उसने लोम्ब्रोसो की शारीरिक और गैरोफैलो की मानसिक विशेषताओं के अतिरिक्त सामाजिक परिस्थितियों को भी अपराध का कारण बताया। वह ऐसा मानता था कि जबतक पर्यावरण और सामाजिक परिस्थितियों को सुधारा नहीं जायगा, तबतक अपराधों की संख्या कम नहीं की जा सकती।[२]

मानसिक परीक्षण धारा—लोम्ब्रोसो की शारीरिक विशेषताओं की मान्यतावाली विचारधारा जब अस्वीकार की जाने लगी तो एच० एच० गोडार्ड ('फीबुल माइंडेडनेस' में) इस बात पर बल देने लगे कि शारीरिक विशेषताएँ अपराध का कारण कम हैं, मानसिक दुर्बलता ही अपराध का मूल कारण है। ८० प्रतिशत अपराधी मानसिक रूप से दुर्बल पाये जाते हैं।

---

१. सदरलैंड और क्रेसी प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनॉलाजी, पृष्ठ ५५
२. डोनाल्ड आर० टैफ्ट : क्रिमिनालाजी, १९५६, पृ० ७९-८०

गोडार्ड का कहना था कि मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति न तो कानून को समझ सकता है, न उसके उल्लंघन के परिणाम को जानता है। उल्टे वह स्वयं ही अपने कृत्यों की प्रशंसा करता रहता है। यह मानसिक दुर्बलता मेंडल के वंशानुक्रम वाले सिद्धांत के अनुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आती है। निम्न कोटि की मानसिक स्थिति में ही अधिकांश व्यक्ति अपराध करते हैं।

मनोवैकारिकीय धारा—इसी विचारधारा के साथ अपराध के लिए भावात्मक असामंजस्य को संवेगात्मक अस्थिरता को, मनोविकारो को उत्तरदायी बतानेवाली विचारधारा का विकास हुआ। आधुनिक मनोविज्ञान-वेत्ता फ्रायड ने मनोविश्लेषण, भावात्मक तनाव, निकट-संबंधियों के साथ व्यभिचार की भावना, अवदमित वासना, अचेतन निराशा आदि का जो विपुल साहित्य प्रस्तुत किया, उसका आधुनिक समाज पर व्यापक प्रभाव है। एडलर ने 'अपराधी मनस' का सिद्धांत खड़ा किया। ऑटोरैंक ने 'जन्मजात विघटित व्यक्तित्व' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। अपराध को मनोविकारिकीय दृष्टि से देखनेवाले इन मनोविज्ञानवेत्ताओं ने संवेगों, भावात्मक तनावों और अवदमित वासनाओ को ही अपराध का मूल कारण बताया। फ्रायड ने 'ईडिपस कांप्लेक्स' का सिद्धांत प्रस्तुत करके यहाँ तक कह डाला कि निकटतम संबंधियों से यौन-संबंध स्थापित करने की वासना जब चरितार्थ नहीं हो पाती, तो मनुष्य चोरी तथा ऐसे ही अन्य अपराध कर बैठता है।

समाजशास्त्रीय संप्रदाय

समाजशास्त्रीय संप्रदाय की मान्यता यह है कि सामाजिक संगठन की प्रकृति, लोगों की संगति, उसके दोष, सामूहिक जीवन के प्रभाव, सामाजिक व्यवहार आदि अपराध के कारण हैं। अपराधी व्यवहार जन्मजात नहीं होता। अन्य शिक्षण प्रक्रियाओं की भाँति अपराध प्रक्रिया भी सीखी जाती है। सदरलैंड ने अपराध के लिए संगति[1] और सामाजिक संगठन की प्रकृति को दोषी बताया है।[2] सामाजिक तत्वों से अपराधों की उत्पत्ति किन प्रक्रियाओं द्वारा होती है, इस संबंध में अनेक मत हैं। फ्रांसीसी विद्वान जिब्राइल द तार्दे ने इसके लिए 'अनुकरण' के सिद्धांत पर बल दिया है। कहा है कि जब कोई व्यक्ति चोरी करता है या हत्या करता है, तो वह

१ सदरलैंड, क्रेसी : प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी; पृ० ५७-५८, ७९-८०

२. वही, पृ० ८०, १५७-१६१

किसी का अनुकरण करता होता है।[१] गतिशीलता की प्रक्रियाएँ, संस्कृतियों के संघर्ष, प्रतिद्वंद्विता, विभिन्न विरोधी राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदर्श, जनसंख्या का घनत्व, धन का वितरण, आय, रोजगार की स्थिति आदि अनेक कारण अपराध के लिए उत्तरदायी बनाये गये हैं। कुछ लोगों ने इसके लिए अनुकरण, संगति, क्षति-पूर्ति, निराशाजनित आक्रमण आदि को उत्तरदायी बताया है।[२] रैकलैस ने सामाजिक वातावरण तथा व्यक्तित्व की दुर्बलता को अपराध का कारण माना है। एब्राह्मसन ने समाज की परिस्थितियों से होनेवाले व्यक्ति के प्रतिरोध को अपराध का जनक माना है। टैनन बाम कहता है कि परिवार की विघटित स्थिति, गंदा पड़ोस, परंपरात्मक समुदायों की संपत्ति और नगरीकरण जैसी सामूहिक जीवन की विषम स्थितियाँ अपराध की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। टैफ्ट ने सामाजिक विघटन के साथ अपराधों का प्रत्यक्ष संबंध माना है। लोवेलकार, लेमर्ट, कैवन, आगवर्न जैसे समाजशास्त्री समाज, संस्कृति, पर्यावरण, व्यक्ति का पद, उसके संस्कार आदि को अपराध का कारण मानते हैं।

सामाजिक पर्यावरण और संगठन की अनेक प्रक्रियाओं को अपराध के लिए दोषी ठहरनेवाले विचारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारक अपराध के लिए कुछ अन्य सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। जैसे, गोरिंग वंशानुक्रमण को, फ्रायड लैंडर्स व्यक्तिवाद, समूहवाद और स्वार्थवाद को, शेल्डन व्यक्ति के क्रोधी और भावुक स्वभाव को दोषी मानता है। बीनेट कहता है कि जब शारीरिक आयु के अनुकूल मानसिक आयु विकसित नहीं होती, तो अपराध होते हैं। विलियम हीली और अलेक्जेंडर मानते हैं कि बालक के पालन-पोषण में दोष होने से, बचपन से ही अपराध की नींव पड़ती है। मनोवैज्ञानिक, मनोवैकारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ, सब मिलकर अपराध की सृष्टि करती हैं। आज के अधिकांश अपराध शास्त्री ऐसा मानने लगे हैं कि केवल कोई एक सिद्धांत अपराध का मूल कारण नहीं माना जा सकता। अनेक कारणों का संयुक्त परिणाम है—अपराध।

अपराध के सामान्य कारण

स्पष्ट है कि अपराध के लिए किसी एक सिद्धांत को ही उत्तरदायी मानना समीचीन नहीं है। अपराध के एक नहीं, अनेक कारण होते हैं। अपराध के वैयक्तिक कारण भी हो सकते हैं, शारीरिक कारण भी।

१. वही, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५८

मनोवैज्ञानिक कारण भी हो सकते हैं, पर्यावरणीय भी। आर्थिक कारण भी हो सकते हैं, राजनीतिक भी। सामाजिक कारण भी हो सकते हैं, सांस्कृतिक भी।

वैयक्तिक कारण

कम पढ़े-लिखे, विवाह सुख से वंचित और आवारा लोग अथवा आवारों के साथी लोग प्रायः वैयक्तिक कारणों से अपराध कर बैठते हैं। शराबी, जुआरी, व्यसनी, कामी व्यक्ति सहज ही अपराधों की ओर झुक जाते हैं। वंशानुक्रम से अपराधी पीढ़ियों के लोगों में से बहुत लोग अपराध कर बैठते हैं।

वंशानुक्रम

डगडेल और इस्टरब्रुक ने ज्यूक परिवार के १२०० वंशजों का अध्ययन करके वंशानुक्रम को अपराध के साथ जोड़ा था। डगडेल ने सन् १८७७ में और इस्टरब्रुक ने १९१५ में यह अध्ययन किया था। एडवर्ड परिवार के १३९४ वंशजों का भी अध्ययन किया गया।[1] ज्यूक वंश १७२० से चला, १८७७ तक उनके वंशज १२०० हो गये। इनमें ४०० शारीरिक रोगी थे, ३१० अत्यंत दरिद्र थे, १४० अपराधी थे, ७ हत्यारे, ६० चोर थे और ५० वेश्याएँ थीं। दुबारा के अध्ययन में २८२० लोगों के इस परिवार में ६०० मानसिक रोगी मिले और शेष दरिद्र, अपराधी, हत्यारे, चोर, डाकू, वेश्या आदि के रूप में मिले। उधर एडवर्ड के परिवार में १३९४ व्यक्तियों में २९५ व्यक्ति विश्वविद्यालयों के स्नातक मिले, १३ कालेजों के प्रधानाचार्य मिले और एक व्यक्ति अमेरिका का उपराष्ट्रपति निकला। इस एडवर्ड परिवार में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जिसे कभी किसी अपराध में सजा प्राप्त हुई हो; पर यह कथन बाद में सही नहीं उतरा। एडवर्ड की नानी का व्यभिचार के अपराध पर विवाह-विच्छेद हुआ था, उसके पिता की मौसी ने अपने पुत्र की हत्या की थी और उनके दादा ने अपनी बहन की हत्या की थी।

इन अध्ययनों से वंशानुक्रम का अपराध से सीधा संबंध सिद्ध नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि अच्छे पिता की संतति अच्छी नहीं होती और बुरी संतति के बच्चे भी कभी-कभी अच्छे निकलते हैं। 'डूबा वंस कबीर का उतरे

---

१. रिचर्डल डगडे : दि ज्यूक्स, ए स्टडी इन क्राइम, पॉपरिज्म एण्ड हेरेडिटी, न्यूयार्क १८७७ ए. एच. ईस्टरब्रुक : दि ज्यूक्स इन १९१५, वाशिंगटन, १९१६।

पूत कमाल'—एक प्रसिद्ध उक्ति है। फिर भी कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वंशानुक्रम का व्यक्तियों की अपराधवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक और मानसिक कारण

शारीरिक दोष भी कभी-कभी अपराध के कारण बनते हैं। शारीरिक दुर्बलता, अवयवी विचलन, अंगभंग, आँख, कान, नाक, चेहरे की बनावट, उनमें किसी दोष का होना, बोलने में हकलाहट, बीमारी, पुंसत्व-हीनता आदि शारीरिक दोष मानव में हीनता की भावना जागृत करते हैं। वे दूसरों के व्यंग्य, तिरस्कार, उपेक्षा के शिकार बनते हैं। इन कारणों से शारीरिक दृष्टि से हीन व्यक्ति कभी-कभी अपराध कर बैठता है।

शारीरिक दोषों के अतिरिक्त मानसिक दोषों के चलते भी मनुष्य अपराध करता है। मानसिक हीनता, भावात्मक अस्थिरता, मानसिक रोग और विकारों के कारण भी मानव अपराध करने लगता है।

आयु और लिंग

अपराध के लिए आयु, लिंग और शारीरिक भिन्नता को भी लोगों ने कारण माना है। इस संबंध में जो अनुसंधान किये गये हैं, उनसे ऐसा लगता है कि १७ से २४ वर्ष तक की आयु में अपराध अधिक किये जाते हैं। गंभीर अपराध २० से २६ वर्ष तक की आयु में अधिक होते हैं। 'किते न अवगुन वे करें नयवय चढ़ती बार।'

मिस डोरोथी विलियम बर्क ('यूथ एंड क्राइम' में) कहती है कि शिकागो में किशोर न्यायालय में सन् १९१५ से १९२५ के बीच अपराधों के लिए उपस्थित किये गये ९०९ लड़कों में ६० प्रतिशत १९ वर्ष की आयु से कम के थे। अमेरिका की १९५८ की अपराध रिपोर्ट बताती है कि उस वर्ष २३,४०,००४ अपराध पकड़े गये जिनमें १५ वर्ष से कम आयुवाले अपराधियों की संख्या १,०६,८९२ थी, अन्य आयुवालों की संख्या इस प्रकार थी—

१५ वर्षवाले	५२,७७६	२१ वर्षवाले	५८,७६२
१६ ,, ,,	६२,२४०	२२ ,, ,,	५६,६९१
१७ ,, ,,	६२,३०७	२३ ,, ,,	५४,५७६
१८ ,, ,,	६३,१०९	२४ ,, ,,	५५,६१०
१९ ,, ,,	५८,४२४	२५ से २९	२,६०,११७
२० ,, ,,	५४,२६७	३० से ३४ ,, ,,	२,७९,४६१

सदरलैंड ने आयु और अपराध की दृष्टि से जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें कहा है कि किशोर और युवक सहज ही गिरफ्तार हो जाते हैं जबकि अधिक आयुवाले नाना प्रकार से बच जाते हैं। यों अधिकतर अपराध करनेवाले व्यक्तियों की आयु किशोरावस्था के आस-पास की होती है। इंगलैंड में १२ या १३ साल की आयु के लड़के, १६ या १७ साल की लड़कियाँ सर्वाधिक पकड़ी जाती हैं। अमेरिका में १८ से २४ साल वाले सर्वाधिक अपराधी पाये जाते हैं।[1] सन् १९६३ में अमेरिका में २२,५९,०८१ अपराधी पकड़े गये, जिनमें २६·७ प्रतिशत अपराधी, २१ वर्ष से कम के थे।[2]

अपराधों के प्रकार संबंधी अनुसंधान बताते हैं कि डाका, गबन, जालसाजी, बलात्कार, आवारागर्दी जैसे अपराध २० से २४ वर्ष की आयुवाले अधिक करते हैं, हत्या तथा यौन अपराध २० से २९ वर्ष की आयुवाले अधिक करते हैं। प्रौढ़ावस्था में यौन अपराध अधिक किये जाते हैं।[3]

स्त्री और पुरुष अपराधियों की संख्या की तुलना में प्रायः ऐसा देखा गया है कि पुरुष अपराधी स्त्रियों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं। यह स्थिति सभी देशों और सभी समुदायों में है। अमेरिका में तो स्त्रियों से दस गुने अधिक पुरुष गिरफ्तार किये जाते हैं; १४ गुने अधिक सुधार संस्थाओं में भेजे जाते हैं और बीस गुने अधिक जेलों में सजा काटने को भेजे जाते हैं। इधर स्त्रियों के अपराध बढ़ रहे हैं। बलात् धन प्राप्त करने, ठगने, उठाईगिरी करने तथा भ्रूण हत्या और गर्भपात के अपराधों में स्त्रियों का विशेष हाथ पाया जाता है।[4] युद्ध काल में स्त्रियों के अपराध सहज ही बढ़ जाते हैं।

भौगोलिक कारण

प्राकृतिक स्थिति, भू-रचना, जलवायु और ऋतुएँ भी अपराध करने में सहायक बनती हैं। ऐसी भावना बहुत वर्षों से चली आ रही है। लोम्ब्रोसो कहता था कि समतल भूमि में सबसे कम अपराध होते हैं, यद्यपि बलात्कार वहीं पर अधिक होते हैं, पर पठारी क्षेत्र में अधिक अपराध होते हैं और पर्वतीय क्षेत्र में सर्वाधिक अपराध होते हैं। कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि समुद्र तटवर्ती प्रदेश में देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक अपराध होते हैं।

---

१. एडविन एच० सदरलैंड : प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी १९५५, पृष्ठ १०८
२. ब्राउन बेरियन और रसेल : एप्लायड साइकोलाजी १९५६, पृ० ५०४ और ५१३
३. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन पृ० २०३-२०४
४. आटोपोलक : दि क्रिमिनैलिटी आफ वोमेन, फिलाडेल्फिया, १९५०, पृ० ४४-५६।

मांटेस्क्यू ('स्पिरिट आफ लाज' में) कहता है कि भूमध्य रेखा के निकट-वर्ती क्षेत्र में अपराधों की संख्या बढ़ती जाती है, ध्रुवों की ओर बढ़ने पर घटती जाती है, उधर मद्यपान की मात्रा बढ़ती जाती है। प्रिंस पीटर क्रोपाट-किन कहता है कि जलवायु के आधार पर नरहत्या की संख्या का पता लगाया जा सकता है। उसके लिए उसने एक सूत्र भी बना दिया था। वह कहता था कि महीने में तापक्रम के औसत में सात का गुना करके औसत वायु की आर्द्रता जोड़कर दुगुना कर देने से नरहत्या की उस मास की संख्या निकल आयेगी। डैक्सटर कहता है कि बैरोमीटर का पारा गिरता है तो अपराधों की संख्या बढ़ती है। लैकेसन ने अपराधों की जंत्री ही प्रस्तुत कर दी है। उसके अनुसार जनवरी से अप्रैल के बीच शिशु, हत्याएँ बढ़ती हैं, जुलाई में नरहत्या और घातक आक्रमण बढ़ते हैं। जनवरी में और अक्तूबर में पितृ हत्या की संख्या बढ़ती है। मई, जुलाई और अगस्त में सबसे अधिक बलात्कार किशोरों पर, जून में युवकों पर होते हैं। नवंबर, दिसंबर में ऐसे बलात्कार कम होते हैं। संपत्ति के सर्वाधिक अपराध दिसंबर-जनवरी में होते हैं।

इस प्रकार अनेक विचारक प्राकृतिक स्थिति, जलवायु और ऋतु संबंधी कारकों को अपराधों का कारण मानते हैं।

परिवार और उसकी स्थिति अपराधों का कारण होती है—ऐसा मानने-वाले विचारक कहते हैं कि अधिकांश अपराधी विघटित परिवारों से आते हैं। तलाक, मृत्यु, परित्याग, बेकारी, बीमारी आदि कारणों को लेकर, अपराधी माता-पिता, अपराधी भाई-बहन आदि को लेकर, कभी नियंत्रण के अभाव में, कभी अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण, कभी उपेक्षा और तिरस्कार के कारण, कभी मद्यपान और अनैतिक आचरण के कारण परिवार टूटते हैं, तो उसके सदस्य सहज ही अपराधों की दिशा में मुड़ जाते हैं। वैवाहिक संबंधों में तनाव पारिवारिक स्थिति में असामंजस्य और आर्थिक संकट होने से प्रायः ऐसा होता है। हेली और ब्रानर ने शिकागो और बोस्टन की अपने शोध में कहा है कि २० से लेकर २८ प्रतिशत तक अपराधी अनैतिकतापूर्ण पारिवारिक वातावरण की उपज होते हैं। ('डेलिनक्वेंट्स एंड क्रिमिनल्स, देयर मेकिंग एंड अनमेकिंग, न्यूयार्क १९२६)

पारिवारिक कारण

अर्थ के साथ अनर्थ का घनिष्ठ संबंध है। अधिकतर अपराधों का कारण पैसा है। दयनीय आर्थिक स्थिति, बेरोजगारी, व्यापार में गिरावट, व्यापार

चक्र, दुर्भिक्ष, निर्धनता, औद्योगीकरण, आर्थिक प्रतिद्वंद्विता, मंहगी, चोरबाजारी, विलासी जीवन, व्यापारिक मनोरंजन, जुआ, मद्यपान, स्त्रियों और बच्चों की नौकरी आदि अनेक आर्थिक कारण अपराधों को प्रोत्साहन देते हैं। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था, शोषण और दोहन, संपत्ति का असमान वितरण जैसी समस्याओं के गर्भ से अपराधों का जन्म होता है। डाक्टर हैरी एलमेर बार्न्स ('सोसाइटी इन ट्रांजीशन' में) कहता है कि 'आवश्यकता और लोभ-वृत्ति में से ही अपराधों का उदय होता है।'

आर्थिक कारण

आज धन को जो प्रतिष्ठा मिल गयी है, उसके चलते अधिकांश व्यक्ति अर्थ की आसक्ति में पड़कर जघन्य से जघन्य अपराध कर बैठते हैं। जिसे देखिये, वही येन-केन प्रकारेण धनी बनना चाहता है। गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष, शिक्षित और अशिक्षित सभी को पैसे का तीव्र आकर्षण सता रहा है। उसके लिए न्याय, ईमानदारी, सत्य को भी उठाकर ताक पर रख दिया जाता है। नैतिकता और आदर्शों की रोक आज विशेष कार्य नहीं कर पा रही है। पैसे के लिए चोरी, डकैती, जालसाजी, असत्य, विश्वासघात, हत्या और कोई भी छोटा या बड़ा समाजविरोधी अपराध करने में लोगों को लेशमात्र भी झिझक नहीं होती।

पूंजीवादी, औद्योगीकरण, नागरीकरण, बेकारी, फैशन, चलचित्र, कामुकता और विलासितापूर्ण साहित्य, पत्र-पत्रिकाएं आदि सभी का स्वर एक-सा ही दीखता है। श्रमनिष्ण, सदाचार और नैतिक मूल्यों का आज उपहास होता है। भ्रष्टाचार, बेईमानी, धोखेबाजी और लूटपाट का सर्वत्र बोलबाला है। इसके कारण समाज में अपराधों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चल रही है तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या? व्यापारिक चक्र सस्ती, मंदी, जुआ, सट्टा, लाटरी आदि कोढ़ में खाज उत्पन्न कर रहे हैं।

मनोरंजन—आज के युग में मनोरंजन का सब से सस्ता और सुलभ साधन है—सिनेमा। चलचित्रों के माध्यम से फिल्म व्यवसायी लाखों-करोड़ों की कमाई तो करते ही हैं, दूषित फिल्मों का निर्माण करके जनता को अपराध के मार्ग पर ठेलते भी हैं। आज के अधिकांश चित्रों में यौन-स्वच्छंदता और अपराधों का ही विशेष रूप से चित्रण रहता है। इनके गंदे गीत बालमानस को तो विकृत करते ही हैं, लोगों को अपराध की दिशा में भी प्रेरित करते हैं। भावुक

सांस्कृतिक कारण

किशोर और युवक इन फिल्मों से गंदी प्रक्रियाओं की शिक्षा लेकर उन्हें समाज में तुरत ही कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील हो उठते हैं। वासना को उत्तेजित करनेवाले चित्रों का दूषित प्रभाव पड़ता ही है। इन चित्रों को देखकर प्रेम-प्रदर्शन के, फैशन के, साज-सज्जा और दिखावट के असंख्य व्यवहार चालू हो जाते हैं। प्राचीन नैतिक आदर्शों और परंपराओं की आधुनिक फिल्मों में जो उपेक्षा, निंदा और भर्त्सना की जाती है, उसके कारण नैतिक मूल्य दिन-दिन गिरते जाते हैं। उच्छृंखलता बढ़ती जाती है और सामाजिक विघटन का मार्ग प्रशस्त होता चलता है।

चलचित्र—कोई चालीस वर्ष पूर्व हर्बर्ट ब्लूमर और फिलिप एम० हाउसर ने ('मूवीज़, डेलिनक्वेंशी एंड क्राइम' में) विस्तार से अपने अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया था कि २० प्रतिशत पुरुष और २५ प्रतिशत स्त्रियाँ फिल्म देखकर अपराधों में प्रवृत्त होती हैं। उनका कहना था कि फिल्मों के अप्रत्यक्ष प्रभाव लोगों को अपराध करने के लिए प्रेरित करते हैं। चलचित्रों द्वारा अपराधों की प्रक्रियाएँ और तरकीबें सिखायी जाती हैं; अपराधी व्यवहार, सहज, बिना श्रम किये अंधाधुंध पैसे की लालसा, विलासी जीवन का आकर्षण, शौर्य और साहसपूर्ण कार्यों के उदाहरण, गहरी यौनवासना का उद्दीपन और अपराधों की कल्पना उभारी जाती है। लड़कियों के मानस में अनैतिक मार्गों का अवलंबन कर विलासपूर्ण जीवन बिताने की लालसा जगायी जाती है।

एफ० ईस्टमैन ने 'दि मीनेस आफ मूवीज' (शिकागो, १९२७) में चलचित्रों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है। 'मोशन पिक्चर्स एंड यूथ (पेयन फंड स्टडीज, प्रधान संपादक डब्लू० डब्लू० चार्टर्स, न्यूयार्क, १९३०-३४) के १४ खंडों की पुस्तकमाला में चलचित्रों के युवकों पर पड़ने वाले कुप्रभाव का विस्तृत विवेचन है। ऐसे कुप्रभाव से नयी पौध को बचाने के लिए तुर्किस्तान, आयरलैंड, यूनान, आस्ट्रिया, बेलजियम, डेनमार्क, स्वेडेन, इंगलैंड, जर्मनी आदि देशों में कानून बने हैं कि १२ से १८ वर्ष के किशोरों को ऐसे चित्र न दिखाये जायँ जिनमें चोरी, डकैती, लूट, हिंसा, हत्या, फाँसी, राज्य क्रांति और बर्बरता के दृश्य हैं अथवा जिनमें पारिवारिक जीवन की खिल्ली उड़ायी गयी हो अथवा शासन के प्रति उपेक्षा की भावना हो। बेलजियम में ऐसे निषेध विशेष रूप से लागू हैं।[१] चलचित्रों में दिखाये जानेवाले अपराध संबंधी

१. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, पृ० २९४-२९६

दृश्यों का किशोर मानस पर बुरा प्रभाव पड़ता है।[1] डब्लू० डी० वाल की अध्यक्षता में बने एक अध्ययन मंडल ने यह निष्कर्ष निकाला था कि ३० प्रतिशत बालक चलचित्रों के माध्यम से अपराधी व्यवहार सीखते हैं। इन चलचित्रों से बालों के नमूनों की, पहनावे की नकल तो होती ही है, व्यक्तित्व पर भावात्मक अस्थिरता और तनाव का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है।

चलचित्रों की भाँति ही रेडियो, टेलिविजन, अश्लील और विलासी साहित्य का भी जनमानस पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अपराधों की सृष्टि और विस्तार में पीली पत्रकारिता भी पीछे नहीं है। ऐसे पत्र अपराध को आकर्षक रूप से, उसे सामान्य घटना जैसा बनाकर विस्तार से चित्रित करते हैं, अपराध की विधियों का लंबा-चौड़ा वर्णन करते हैं, अपराधी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर, न्याय को प्रभावित कर अपराधी को प्रतिष्ठा देकर, अपराधों के विस्तार में सहायता देते हैं। ऐसे समाचारपत्र गंदी, भद्दी, क्षणिक, उत्तेजक बातों का खूब प्रचार करते हैं। यौन-विषय, जादू-टोना, परिष्कृत-अपरिष्कृत, कामुकता और मूर्खतापूर्ण भद्दे प्रदर्शनों का ही प्रेस, रेडियो और चलचित्र द्वारा 'शिक्षण' दिया जाता है।[2] फ्रेडरिकवर्थम ('सेडक्शन आफ दि इन्नोसेंट' में) बताता है कि युवकों में हिंसात्मक कृत्यों की आग भड़काने में गंदे साहित्य का और टेलीविजन आदि का बड़ा हाथ है।

गंदा साहित्य

विघटन की ओर उन्मुख परिवार तो उसके सदस्यों को अपराध की दिशा में ढकेलते ही हैं, शिक्षण की दूषित पद्धति, शिक्षण संस्थाओं के दोष, अनुशासनहीनता, शिक्षा में राजनीति के प्रवेश के कारण भी अपराधों की संख्या बढ़ती है। युवकों की सरलता और भावुकता का स्वार्थी लोग दुरुपयोग करके हिंसा, उपद्रव, प्रदर्शन, हड़ताल आदि का जो वीभत्स चक्र चलाते हैं, उसके कारण आज सारे विश्व के युवकों की स्थिति शोचनीय हो रही है। शिक्षण संस्थाए उपद्रव का केंद्र बन रही हैं और राष्ट्र के भावी निर्माताओं की शक्ति का सृजनात्मक उपयोग न करके विघटनात्मक दुरुपयोग किया जा रहा है।

सामाजिक कारण

धर्म, भाषा, प्रांत आदि की समस्याओं को लेकर भी यत्र-तत्र जो उपद्रव, प्रदर्शन और हिंसात्मक कृत्य होते रहते हैं, उनके कारण भी अपराधों की संख्या बढ़ती चलती है।

---

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसअर्गेनाइजेशन, पृ० ९०

२. पितिरिम ए० सोरोकिन : मानवता की नवरचना, पृ० २२६

इस प्रकार विभिन्न वैयक्तिक, शारीरिक, मानसिक, परिवारिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक कारणों से अपराध दिन-दिन बढ़ते चलते हैं। उनके कारण व्यक्ति का भी विघटन होता है, परिवार और समुदाय का भी।

अपराध शास्त्र

अपराध और उसके क्षेत्र, महत्त्व तथा सिद्धांतों का विशद रूप से विवेचन और अध्ययन करने के लिए जिस शास्त्र का पिछले दिनों अधिक विकास हुआ है, उसका नाम है—अपराध शास्त्र।

परिभाषा

अपराध शास्त्र की परिभाषा करते हुए एम० ए० इलियट ने ('क्राइम इन माडर्न सोसाइटी' में) कहा है कि 'वैज्ञानिक रीति से अपराध और उसके उपचार के अध्ययन का नाम ही 'अपराध शास्त्र' है।' डी० आर० टैफ्ट ने ('क्रिमिनालाजी' में) कहा है कि 'अपराध को समझने और उसे रोकने के लिए तथा अपराधियों और बाल अपराधियों के दंड और उपचार के विवेचन के लिए जो शास्त्र है, उसका नाम 'अपराध शास्त्र' है। सदरलैंड ('प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिमिनालाजी' में) कहता है कि 'अपराध शास्त्र सामाजिक प्रमेय के रूप में अपराध का अध्ययन करनेवाली ज्ञान की शाखा है।'

क्षेत्र

अपराध शास्त्र का क्षेत्र मुख्यतः अपराध और दंड से संबंधित है, पर उस पर कुछ विचारकों का मतभेद है। सदरलैंड ने अपराध शास्त्र में ३ तत्व माने हैं—(१) कानून बनाने की प्रक्रियाएँ, (२) कानून तोड़ने की प्रक्रियाएँ और (३) कानून तोड़ने से उत्पन्न होनेवाली प्रक्रियाएँ। इसके लिए उसने अपराध की विषय-वस्तु को कानून का समाजशास्त्र, अपराधीकारण शास्त्र और दंड शास्त्र के रूप में विभाजित कर दिया है। इलियट ने अपराधी प्रकृति, अपराध के कारण, अपराधियों का वैयक्तिक विषयक अध्ययन और उपचार—इस प्रकार चार तत्व अपराध शास्त्र का क्षेत्र माने हैं। मूल बात यह है कि अपराध शास्त्र के क्षेत्र में अपराध-अपराधी और अपराध-निरोध के साधन ही मुख्य हैं। इन्हीं का इस शास्त्र में विस्तार से अध्ययन किया जाता है, फिर उसकी प्रणालियाँ कोई भी क्यों न हों।

अपराध शास्त्र से मानव ज्ञान की अभिवृद्धि तो होती ही है, उसका अन्य अनेक दृष्टियों से भी, महत्त्व है। जैसे, अपराधों के कुपरिणाम से समाज

की रक्षा करना और सामाजिक विघटन को रोकना,

महत्त्व अपराध के कारणों का अध्ययन, अपराधी का अध्ययन, अपराध निरोध के साधनों का अध्ययन अपराध के निर्मूलन के लिए परम आवश्यक है। स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए अपराध शास्त्र का अध्ययन अत्यंत उपयोगी है। असत् मार्ग से मानव को हटाकर उसे सन्मार्ग पर कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है, उसमें कैसी-कैसी कानूनी अड़चनें आती हैं, कैसी-कैसी मनोवैज्ञानिक अड़चनें आती हैं, कैसी-कैसी व्यावहारिक अड़चनें आती हैं—इन सब बातों का यदि तटस्थ रीति से, वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय और बाधाओं के निर्मूलन के व्यावहारिक उपाय निकालें जायँ, तो अपराधों का शत-प्रतिशत भले ही उन्मूलन न हो, तीन चौथाई निर्मूलन तो संभव है ही।

अपराध शास्त्र के अध्ययन में कई वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। जैसे सांख्यिकीय पद्धति, वैयक्तिक जीवन

अध्ययन की पद्धतियाँ अध्ययन पद्धति, प्रयोगात्मक पद्धति, परिस्थिति शास्त्रीय पद्धति।

सांख्यिकीय पद्धति में आँकड़ों के संग्रहण, वर्गीकरण, सारणीय और सामान्यीकरण का आश्रय लेकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। पारिवारिक विघटन और बाल अपराध, औद्योगीकरण और अपराध, निर्धनता और अपराध, मद्यपान और अपराध—ऐसे अनेक विषयों के अध्ययन में इस पद्धति का अच्छा उपयोग होता है।

व्यक्ति, परिवार, पास-पड़ोस, सामाजिक समूह, सामाजिक समुदाय के गुणात्मक अध्ययन के लिए वैयक्तिक जीवन अध्ययन-पद्धति अच्छी पड़ती है। इसमें विषय का चुनाव करके अवलोकन, उपचार प्रक्रिया, साक्षात्कार, जीवन इतिहास का आश्रय लेते हैं। जीवन इतिहास में अपराधी के परिवार की पृष्ठभूमि, उसकी परिस्थितियों और उनकी प्रतिक्रियाओं, जीवन के अनुभवों और दृष्टिकोणों आदि का अध्ययन करके उन्हीं के आधार पर विश्लेषण और विवेचन किया जाता है। उसके उपरांत जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनके अनुकूल सुझाव दिये जाते हैं। अपराधी के मनोभावों, उसके पत्रों, लेखों आदि के अध्ययन से उसकी मानसिक भूमिका का ज्ञान प्राप्त होता है।

कहीं-कहीं बाल अपराधों के अध्ययन में प्रयोगात्मक पद्धति का भी उपयोग किया जा सकता है। क्षेत्रों की परिस्थिति के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों की अपराध स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

इन विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों की अपनी-अपनी सीमाएँ और कमजोरियाँ हैं। विवेकपूर्वक उत्तम पद्धतियों का आश्रय लेकर अपराधी समस्याओं का उत्तम समाधान निकाला जा सकता है।

विघटन और अपराध

सामाजिक विघटन और अपराध का घनिष्ठ संबंध है। अपराध इस बात के प्रमाण हैं कि समाज विघटन की दिशा में बढ़ रहा है। अपराध जिस मात्रा में कम होंगे, उस मात्रा में ऐसा माना जायगा कि सामाजिक संगठन सुदृढ़ एवं स्वस्थ है। समाज के संगठन को दृढ़ और स्थिर बनाने के लिए अपराधों का निरोध पहली आवश्यकता है। सर्वोत्तम समाज वही माना जायगा जिसमें न्यूनतम अपराध होते हैं। ऐसी आदर्श स्थिति दुर्लभ ही कही जायगी जिसमें कोई अपराध न हो। जिस समाज में संपत्ति ही प्रतिष्ठा का आधार रहेगी, संपत्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व मिलेगा, वहाँ संपत्ति-विरोधी अपराध होते ही रहेंगे। सत्ता भी अपराधों को प्रोत्साहन देती है, दंड भी। विघटन रोकने के लिए इन सब बातों पर गंभीरता से विचार करना होगा।

अपराध निरोध

जहाँ अपराध है, वहाँ उसके साथ उसके निरोध का प्रश्न जुड़ा ही हुआ है। अनादिकाल से अपराध होता आया है। उसके निरोध के लिए दंड तथा अन्य अच्छे-बुरे उपचार भी होते आये हैं। दंड के प्रकार भी नाना प्रकार के रहे हैं। सामान्य भर्त्सना, जुर्माना, शारीरिक दंड, मारपीट, बेत, कैद आदि से लेकर प्राणदंड तक, एक-से-एक यातनादायी दंड दिये जाते रहे हैं। पर अपराध है कि घटने का नाम नहीं लेता। दिन-दिन सुरसा के मुख की भाँति बढ़ता ही चला जाता है।

दंड : दंड का अर्थ

समाज की व्यवस्था के लिए, समाज के नियमन के लिए, न्याय और व्यवस्था की स्थापना के लिए समाज और राज्य ने दंड की व्यवस्था चालू कर रखी है। दंड माने डंडा। डंडे के बल पर, डरा-धमकाकर भयभीत करके जो व्यवस्था लागू की जाती है, उसका नाम है दंड-व्यवस्था।

परिभाषा

समाज के नियमन के लिए बनाये गये कानूनों का उल्लंघन करनेवाले लोगों को अपराधी माना जाता है और उन्हें कानून का पालन करने के लिए विवश करने को नाना प्रकार का दंड दिया जाता है। समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से दंड की परिभाषा की है।

सदरलैंड ने दंड की परिभाषा देते हुए दंड की धारणा में दो तत्व आवश्यक बताये हैं। एक तो यह कि समूह द्वारा अपने ही समूह के किसी सदस्य को सामूहिक रूप से दिया जानेवाला दंड ही दंड कहलाता है। दूसरे यह कि दंड में किसी निश्चित पद्धति से सामाजिक मूल्य द्वारा उचित ठहरायी यातना दी जाती है।[१]

टैफ्ट कहता है कि अवांछनीय अनुभवोंवाली जो यातना समाज की शांति भंग करनेवाले लोगों को जागरूक दबाव के रूप में दी जाती है, उसी का नाम दंड है। यह यातना सदैव ही दंड भोगने वाले के ही हित में नहीं होती।[२]

वेस्टरमार्क कहता है कि दंड निश्चित रूप से अपराधी पर लागू की जानेवाली वह यातना है, जो उस समाज के द्वारा दी जाती है जिसका वह स्थायी अथवा अस्थायी सदस्य होता है।

दंड की विभिन्न परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिए भय के रूप में जो यातना दी जाती है, उसी का नाम दंड है। यह यातना आर्थिक भी हो सकती है, मानसिक भी हो सकती है, शारीरिक भी हो सकती है।

दंड के सिद्धांत

दंड के कई सिद्धांत माने जाते हैं। जैसे, प्रायश्चित्त का सिद्धांत, प्रतिशोधात्मक सिद्धांत, प्रतिरोधात्मक सिद्धांत, निरोधात्मक सिद्धांत, सुधारात्मक सिद्धांत। ये सभी सिद्धांत दंड के विभिन्न पक्षों पर बल देते हैं।

मैक कोनेल, विलोबी, किर्चवे आदि विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दंड की व्याख्या की है।

मैक कोनेल कहता है कि दंड के ये पाँच उद्देश्य हैं—

(१) प्रायश्चित्त, (२) प्रतिशोध, (३) प्रतिरोध, (४) सुधार और (५) सामाजिक उपयोगिता।

विलोबी ने दंड के ये ४ उद्देश्य बताये हैं—

(१) प्रतिशोध, (२) प्रतिरोध, (३) निरोध और (४) सुधार।

किर्चवे ने दंड के इन ४ उद्देश्यों पर बल दिया है—

---

१. सदरलड : प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिमिनालाजी, पृ० २५६

२. डी. आर. टैफ्ट : क्रिमिनालाजी

३. ई० वेस्टरमार्क : दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ दि मॉरल आइडियाज, पृ० १६९

(१) क्षतिपूर्ति, (२) प्रायश्चित्त, (३) प्रतिशोध, (४) प्रतिरोध—अपराधी का प्रतिरोध और समाज का प्रतिरोध।

टामस हिल ग्रीन ने दंड के ये ३ उद्देश्य बताये हैं—

(१) प्रतिकार, (२) प्रतिशोध और (३) सुधार।

मोटे तौर से दंड के तीन उद्देश्य माने जा सकते हैं—

१. अपराधी से अपराध का बदला लेना और इस प्रकार उसके द्वारा की गयी क्षति की पूर्ति करना। प्रतिकार, प्रतिरोध, प्रतिहिंसा।
२. भय अथवा आतंक उत्पन्न करना, ताकि लोग डरकर पुनः अपराध न करें; और
३. अपराधी का सुधार।

अब हम दंड के इन सिद्धांतों पर विचार करें।

प्रायश्चित्त का सिद्धांत

प्रायश्चित्त का सिद्धांत धार्मिक भावना पर आश्रित है। अपराध कानून का उल्लंघन तो माना ही जाता है, धार्मिक दृष्टि से उसकी गणना पापों में भी की जाती है। पाप के प्रक्षालन के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। मनुष्य स्वयं अपने पाप के लिए दुःखी, लज्जित और संतप्त होता है। वह अपने ऊपर कुछ कष्ट ओढ़ता है, कुछ त्याग करता है, पछताता है, भविष्य में उक्त पाप की पुनरावृत्ति न करने की प्रतिज्ञा करता है। यह है प्रायश्चित्त। भले ही सरकारी कानून में प्रायश्चित्त के लिए स्थान न हो, फिर भी ऐसा देखा गया है कि सच्चे हृदय से किये गये पश्चात्ताप का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। उससे अपराध की पुनरावृत्ति रुकती है और दंड का मूल उद्देश्य सफल होता है।

प्रतिशोध का सिद्धांत

दंडशास्त्रियों के अनुसार प्रतिशोध का सिद्धांत नैतिक न्याय भावना पर आधृत है। 'आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत' का यह सिद्धांत जर्मन दार्शनिक काण्ट के अनुकूल है। फारस के बादशाह हमुराबी ने इसके अनुसार 'जैसे को तैसा' वाला सिद्धांत खड़ा किया था। अरस्तू, सर जेम्स स्टीफेन, ब्रेडले, बोसांके आदि विचारक भी इस सिद्धांत का समर्थन करते रहे हैं। अफलातून कहता था कि 'अन्याय की बीमारी की औषधि है दंड।'

'किसी ने किसी की आँख फोड़ दी तो आँख फोड़ने वाले की भी आँख फोड़ दी जाय। कोई किसी की हत्या कर दे, तो हत्यारे की भी हत्या कर दी

जाय ।' न्याय की इस दृष्टि को ही प्रतिशोध का सिद्धांत कहा जाता है । कुछ विचारकों के मत से प्रतिशोध पूर्णतः स्वाभाविक एवं तर्कसंगत है । कानून को चुनौती देनेवालों को समुचित दंड दिया जाना चाहिए अन्यथा समाज, राज्य, समुदाय सभी की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी ।

प्रतिरोध का सिद्धांत

प्रतिरोध के सिद्धांत में मूल बात यह है कि अपराधी को ऐसा कड़ा दड दिया जाय जिससे भयभीत होकर वह पुनः उस प्रकार का अपराध करने का साहस न कर सके । भविष्य में अपराधों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए ऐसे दंड की व्यवस्था पर बल दिया जाता है ।

प्रतिरोध का सिद्धांत सुखवादी विचारधारा पर आधृत है । बैकेरिया, बेंथम, स्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों ने इसका समर्थन किया है । इस सिद्धांत के समर्थक कहते हैं कि मनुष्य सुख-प्राप्ति की इच्छा से अपराध करता है । वह ऐसे ही कार्यों को हाथ में लेता है जिनसे उसे इस बात की आशा रहती है कि उनसे उसे सुख मिलेगा । ऐसे अपराधियों को कड़े-से-कड़ा दंड दिया जायगा, तो वे पुनः वैसा अपराध करने का साहस नहीं कर सकेंगे । एक को कड़ा दंड पाते देखकर अन्य व्यक्ति भी वैसा करने में झिझकेंगे ।

निरोध का सिद्धांत

निरोध का सिद्धांत अपराधियों को समाज से पृथक् करके उन्हें रोकने का, उनका निरोध करने का सिद्धांत है । इसमें जेल, नजरबंदी और प्राणदंड आदि वे सभी बातें आती हैं जिनके द्वारा मनुष्य को लोकसमाज से पृथक् रखा जाता है और लोगों से मिलने नहीं दिया जाता ।

सुधार का सिद्धांत

सुधार का सिद्धांत यह मान कर चलता है कि दंड से अपराध का निर्मूलन नहीं हो सकता । अपराध के निर्मूलन के लिए अपराधी को मानवोचित उदारता से, प्रेम, करुणा और क्षमा से सुधारने का प्रयत्न किया जाय । साथ ही, समाज का वातावरण भी सुधारा जाय ।

दंड के संप्रदाय

दंड विधान का इस युग में विशेष विकास हुआ है । दंड का एक शास्त्र खड़ा हो गया । इस दंडशास्त्र के दो संप्रदाय हैं । एक है शास्त्रीय संप्रदाय, दूसरा साकारवादी संप्रदाय ।

रूसो, वकेरिया, जेरमी बेंथम, फ्यूबरबेक, माडस्ले आदि विचारकों ने शास्त्रीय संप्रदाय का समर्थन किया है। यह संप्रदाय दंड व्यवस्था में अन्याय और न्यायाधीशों द्वारा विवेक-बुद्धि की अवहेलना के फलस्वरूप खड़ा हुआ। ऐसा कहता था कि दंड व्यक्ति पर लादा नहीं गया, उसने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया है। अपराध गलत हैं और अपराधों के लिए ही दंड दिया जाता है। वकेरिया कहता था कि दंड समाज के लिए आवश्यक है, वह अपराध के अनुरूप प्रभावशाली होना चाहिए। बेंथम गंभीर अपराधों के लिए गंभीर दंड आवश्यक मानता था, पर कहता था कि अपराधी की परिस्थिति पर भी विचार करना चाहिए।

साकारवादी संप्रदाय के प्रमुख समर्थ थे—लोम्ब्रोसी, गैंकोफेलो और फेरी। यह संप्रदाय इस बात पर बल देता है कि अपराध की अपेक्षा अपराधी का अध्ययन किया जाना चाहिए और अपराधी की प्रकृति जैसी हो तदनुकूल उसे दंड देना चाहिए।

मनुष्य की सर्वाधिक प्रिय वस्तु है—प्राण। प्राणों की रक्षा के लिए वह सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत हो जाता है। इसीलिए दंड की चरम सीमा है—प्राणदंड। इस दंड द्वारा मानव की जीवन-लीला ही समाप्त हो जाती है। अपराधों में जिस प्रकार हत्या सबसे बड़ा अपराध है, उसी प्रकार दंडों में प्राणदंड सबसे बड़ा दंड है। हत्या और प्राणदंड में अंतर इतना ही है कि हत्या अवैध माना जाती है और प्राणदंड को कानून का समर्थन प्राप्त है। जहाँ तक प्राणनाश का संबंध है, प्राण दोनों में ही निकाल लिया जाता है।

प्राणदंड

परिभाषा

फेयर चाइल्ड प्राणदंड की परिभाषा करते हुए कहता है कि 'अपराध के लिए मृत्यु का दंड ही—'प्राणदंड' कहा जाता है।'[1]

प्राणदंड की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह सबसे बड़ा दंड है। शासन-सत्ता द्वारा दिये जाने वाले इस दंड को लौटाने का कोई उपाय नहीं। फाँसी पर जो लटका सो सदा के लिए गया। यदि भूल से प्राणदंड दे दिया गया तो उसके परिमार्जन का कोई साधन ही नहीं है। प्राणदंड गंभीरतम

विशेषता

---

१. एच० पी० फेयर चाइल्ड : डिक्शनरी आफ सोशियालाजी, पृ० २४२

अपराधों के लिए दिया जाता है। इसके समर्थक मानते हैं कि इस दंड के भय से अपराध कम होते हैं।

विधियाँ

प्राणदंड की विधियाँ अनेक हैं। प्राचीन काल में उसके लिए अत्यंत वर्बर पद्धतियाँ उपयोग में लायी जाती थीं। किसी को हाथी के पैरों तलों कुचला जाता था। किसी की शेर-चीतों से कुश्ती करायी जाती थी। किसी को गरम तेल के कड़ाह में या गरम तवे पर भूना जाता था। किसी को जलती भट्ठी में झोंक दिया जाता था। किसी को बंदर, कुत्ते, मुर्गी, साँप के साथ बोरे में बंद करके पानी में फेंक दिया जाता था। किसी को ढेले, पत्थर या कोड़े मारकर मार डाला जाता था। किसी को पहियों के तले रौंदा जाता था। किसी को भाले की नोक पर उछाला जाता था। किसी को क्रास पर, किसी को सूली पर लटकाया जाता था। किसी के शरीर में गरम सलाखें घुसेड़ दी जाती थीं। किसी को जिंदा जमीन में गाड़कर ऊपर से खूँखार कुत्ते छोड़ दिये जाते थे। किसी को आग में भस्म कर दिया जाता था। किसी का सिर गिलोतीन से कलम कर दिया जाता था। किसी के गले में फाँसी का फंदा डालकर गला घोंट दिया जाता था। किसी को गोली से उड़ा दिया जाता था।

फाँसी द्वारा प्राणदंड की पद्धति आज भी चालू है। अमेरिका आदि में इधर सुगंधित गैस अथवा बिजली की कुर्सी द्वारा प्राण निकालने की पद्धति चालू हुई है।

प्राणदंड की उपयोगिता

प्राणदंड की अपराध-नियम के लिए उपयोगिता है कि नहीं—इस विषय में विचारकों के दो मत हैं। दोनों परस्पर विरोधी हैं। एक पक्ष कहता है कि समाज में शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्राणदंड अत्यंत उपयोगी है, अन्यथा समाज में अराजकता फैल जायगी और समाज बुरी भाँति विघटित होने लगेगा। दूसरा पक्ष प्राणदंड को सर्वथा अनुपयोगी, क्रूर और अमानुषिक बताता है। उसका कहना है कि प्राणदंड पूर्णतः अनुपयोगी है और अनावश्यक है।

गुण और दोष

प्राणदंड में कुछ लोग गुण बताते हैं, कुछ लोग दोष। गुण के पक्षपाती प्राणदंड का समर्थन करते हैं। दोषों के समर्थक प्राणदंड का विरोध करते हैं।

प्राणदंड के पक्षपाती कहते हैं कि न्याय की दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, नैतिक दृष्टि से, प्राणभय की आशंका के रूप में तीव्र और निश्चित प्रतिरोध की दृष्टि से प्राणदंड उचित है। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए, सभी को जीवन का समान अधिकार दिलाने के लिए मानवीय दृष्टि से भी प्राणदंड ठीक है। ऐसे लोग जो समाज के शत्रु हैं और जिनका सुधार असंभव है, उनसे मुक्त होने का एकमात्र उपाय प्राणदंड ही है। यह अपराधियों के चुनाव का सरल साधन है। यह अत्यंत प्रभावशाली दंड है। इसमें घुल-घुलकर कारावास या निर्वासन में नहीं मरना पड़ता। मिनटों में जीवन की सारी यातनाओं से मुक्ति मिल जाती है। व्यय की दृष्टि से भी प्राणदंड सस्ता है।

प्राणदंड के विरोधी कहते हैं कि प्राणदंड कोई निश्चित प्रतिरोध नहीं है। इस बात की कोई गारंटी नहीं कि इससे अपराधों की संख्या घट ही जायगी। प्राणदंड न तो न्यायिक आवश्यकता है, न सामाजिक अथवा नैतिक आवश्यकता है। न यह चुनाव का सरल उपाय है, न इसमें कम व्यय ही होता है। इसमें न मानवता है, न अन्य ही कोई लाभ है। कोई भी मनुष्य प्राण-दंड पसंद नहीं करता। जीवित रहने की, जिजीविषा की आकांक्षा मानव के रक्त में ही घुली मिली है। जिस जीवन को देने की शक्ति किसी में नहीं है, उस जीवन को लेने का अधिकार ही किसे है?

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा खतरा तो प्राणदंड में यह है कि न्याय गलत हो सकता है। न्यायाधीश तथ्य और अपराध को समझने में भूल कर सकते हैं, प्रमाण अप्रामाणिक और भूल भरे हो सकते हैं। 'हेंग्ड इन एरर' पुस्तक में ऐसे आधा दर्जन उदाहरण दिये गये हैं जहाँ निरपराधी व्यक्ति फाँसी पर लटका दिये गये हैं। फाँसी चढ़ जाने पर पता चलता है कि फाँसी पानेवाला व्यक्ति दोषी था ही नहीं! इस प्रकार की भूलों का परिमार्जन हो ही नहीं सकता।[१] प्राणदंड में मानव के सुधार की गुंजाइश ही नहीं। प्रायश्चित्त करके मनुष्य अपना जीवन सुधार सकता है। फाँसी पर लटका देने पर सुधार का अवसर ही नहीं रह जाता।

प्राणदंड में सबसे बड़ा दोष तो यही है कि यह पैशाचिकता का, बर्बरता का जघन्यतम रूप है। यह 'कानूनी हत्या' न्याय और सुरक्षा का

---

१. लेसली हेल : हेंग्ड इन एरर, पेंगुइन १९६१

लबादा पहन लेने से ही वैध हत्या नहीं मानी जा सकती। अपराधी किसी भावना के आवेश में आकर अपराध कर बैठता है, वह घृणा और तिरस्कार का, भर्त्सना और दंड का पात्र नहीं माना जाना चाहिए। वह करुणा और सहानुभूति, दया और क्षमा का पात्र है। मिरगी, लकवा, कैंसर जैसा रोग मानकर उसकी सहानुभूतिपूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। ऐसे व्यवहार से ही अपराध की समस्या का समाधान संभव है।

दंड के प्रकार

दंड के ये पाँच प्रकार विश्व में प्रचलित हैं—

१. फाँसी या प्राणदंड,
२. निर्वासन, कालापानी या कैद,
३. शारीरिक दंड,
४. सामाजिक अप्रतिष्ठा और
५. जुर्माना।

फाँसी या प्राणदंड तो दंड का जघन्यतम रूप है ही, निर्वासन और कालापानी भी अत्यंत कष्टदायक है। घुला-घुलाकर मारने का यह प्रकार लोगों को किस प्रकार विद्रोही बनाता है, इसका एक उदाहरण आस्ट्रेलिया में निर्वासित एक आयरिश विद्रोही जॉन मिचेल के इन शब्दों में मिलता है—'हम जिस नैतिक और सामाजिक वातावरण में आज (सन् १८५१ में) रहते हैं, वहाँ हमें हरदम यह अपमान कोंचा करता है कि हमारा कोई देश नहीं है सिवा इस अपराधी उपनिवेश के! हमारा कोई नौकर नहीं। हमारे पड़ोसी यदि हैं भी, तो थोड़े-से! हम ऐसी जेल-व्यवस्था का तीव्र विरोध करना चाहते हैं।'[१]

जिस स्थान पर अपराधियों को रोककर रखा जाता है, जहाँ उन्हें ताले-चाभी के भीतर बंद करके रखा जाता है, उसका नाम है—बंदीगृह। बंदीगृह

बंदीगृह

स्थान विशेष तो है ही, वह एक संस्था भी है जो अपराधी को दंड देती है और यह मानकर चलती है कि इस प्रकार अपराधी का सुधार होगा, आगे चलकर उसके उदाहरण से अपराध कम होंगे।

फेयर चाइल्ड के अनुसार बंदीगृह की परिभाषा यह है कि 'बंदीगृह एक ऐसी दंड देनेवाली संस्था है, जिसका संचालन सरकार करती है और जिसका

---

१. जॉन मिचेल : जेल जर्नल, १८६४, पृ०, २६४

परिभाषा उपयोग केवल ऐसे प्रौढ़ अपराधियों के लिए होता है जिन्हें एक वर्ष से अधिक की सजा मिलती है।[1]

परंतु बंदीगृह में एक वर्ष से कम अवधिवाले अपराधी भी रखे जाते हैं, विचाराधीन अपराधी भी रखे जाते हैं और नजरबंद भी रखे जाते हैं। अत: १८९४ के अधिनियम की यह परिभाषा ही ठीक है कि 'वंदीगृह राज्य सरकार द्वारा निश्चित वह स्थान है, जहाँ बंदियों को स्थायी अथवा अस्थायी रूप में रखा जाता है।'

सरकार द्वारा समाज-विरोधी, कानून-विरोधी, राज्य-विरोधी कार्यों के लिए जहाँ पर अपराधियों को बंद करके रखा जाता है, वही बंदीगृह है।

बंदीगृह का मूल तत्त्व यह है कि उक्त गृह में अपराधियों को रोका जाता है ताकि समाज की रक्षा हो और अपराधी का सुधार हो। इसमें दंड और सुधार दोनों तत्वों की कल्पना की गयी है।

तत्व राज्य द्वारा निर्मित इस संस्था में अपराधियों को बंद करके ऐसा माना जाता है कि उससे अपराधी को यह लाभ होगा कि उसका सुधार हो सकेगा और समाज को यह लाभ होगा कि उसके कारण होनेवाले अपराध नहीं हो सकेंगे।

उद्देश्य बंदीगृह का उद्देश्य है अपराधी को रोककर रखना, जिससे वह समाज में रहकर अव्यवस्था और अशांति न उत्पन्न कर सके। उसके अतिरिक्त निम्न उद्देश्य भी हैं—

१. अपराधी को भयभीत करना,

२. अपराधी को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पहुँचाना,

३. अपराधी को पश्चात्ताप की दिशा में मोड़ना, और

४. राज्य की दंडशक्ति प्रदर्शित करना।

बंदीगृह की आवश्यकता यह मानी गयी है कि इसके कारण अपराध रुकेंगे, कम होंगे और अपराधी का सुधार भी हो सकेगा। अपराधी यदि कैद नहीं किया जायगा और स्वच्छंद रूप से समाज में विचरण करता रहेगा तो

आवश्यकता वह अधिकाधिक अपराध करेगा जिससे समाज की व्यवस्था और शांति संकट में पड़ जायगी। अतः समाज की सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए बंदीगृह आवश्यक है।

---

१. फेयर चाइल्ड : डिक्सनरी आफ सोशियोलाजी, पृ० २३२

अपराध और दंडशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है। बंदीगृहों का इतिहास भी बहुत पुराना है। यों सन् १५९७ से पहले का विधिवत इतिहास नहीं मिलता। उसके बाद का जो इतिहास उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि पहले तो बंदीगृह अत्यधिक यातना के ही केंद्र थे, १९वीं शताब्दी के प्रारंभ से वहाँ सुधारों की भावना का धीरे-धीरे प्रवेश हुआ। जान हावर्ड, एलिजाबेथ फ्राई जैसे लोगों ने इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। बेंजमिन रश (फिलाडेल्फिया) ने तथा अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में 'क्वेकर'—शांतिवादी—आंदोलन ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। अब तो प्रायः विश्व के सभी देशों में बंदीगृहों को अपराध चिकित्सालय जैसा बनाने का प्रयत्न चल रहा है। भारत में स्वातंत्र्य आंदोलन के समय से बंदीगृहों की स्थिति सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

इतिहास

हक्सले ने प्राचीन बंदीगृहों का वर्णन करते हुए लिखा था कि 'बंदीगृह अत्याचार के ऐसे ठिकाने थे जहाँ सीधे-सादे व्यक्तियों को भ्रष्ट बनाया जाता था और सामान्य अपराधियों को घोर अपराधी !'[1]

'एप्लायड साइकोलोजी' में जो डोक्स या सैम ब्राउन, बिल स्मिथ, नेड मार्क्स आदि नामों से अपराध करनेवाले एक अपराधी का जीवन इतिहास दिया है। उसने १। १०। १९१० से अपराध में जेल काटनी आरंभ की, सो सन् १९६१-६२ तक यह क्रम चलता रहा। कभी ६ महीने की, कभी १५ महीने की, कभी १ साल, तो कभी २ से लेकर ४ साल तक की। कभी अमरीका के न्यूयार्क राज्य में, तो कभी शिकागो राज्य में, कभी फिलाडेल्फिया में, तो कभी ओहियो में। और, तमाशा यह कि यह अपराधी जेल में शिष्ट, मृदु और सभ्याचरण वाला अपराधी माना जाता रहा है। ६० वर्ष की आयु का बहुत बड़ा अंश उसका जेल में ही बीता। उसे छूटने पर कहीं अच्छा काम मिला नहीं। पुराने बदनाम साथियों में ही उसे ठिकाना मिलता रहा।[2] उसका वही परिणाम होता रहा कि वह जेल का 'पंछी' बन गया। 'जैसे उड़ी जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै !' बंदीगृह इसी प्रकार लोगों को पुनः-पुनः बुलाता है। ६० से ७० प्रतिशत अपराधी 'दुबाड़ा' बनकर पुनः जेल पहुँचते हैं।[3]

१. एल्डस हक्सले : एण्ड्स ऐंड मीन्स, १९५७, पृ० १४२
२. ब्राउन, बेरियन और रसेल : एप्लाइड साइकोलोजी, १९६६, पृ० ५५६
३. वही, पृ० ५५७

एक बार कोई जेल पहुँच जाता है, फिर छूटने पर उसके तिरस्कार का पार नहीं रहता। जेल में भी तिरस्कार और अपमान, बाहर भी वही। ऐसा ही २५ वर्ष का एक सजायाफ्ता कैदी, अंतर्राष्ट्रीय कुख्यातिवाला कैदी कहता है—'मैं जहाँ जाता हूँ मुझे समाज-बहिष्कृत माना जाता है। कानून का चोंगा पहननेवाले किसी भी व्यक्ति का मैं 'कानूनी शिकार' बन जाता हूँ। सभ्य समाज का मेरे प्रति जो व्यवहार रहता है, उसका एक ही स्वर होता है—'तुम खराब आदमी हो, हम तुम से घृणा करते हैं!' समाज मेरे गाल पर चपत लगाता है। मैं उलट कर उसे चपत न लगाऊँ, तो मैं आदमी क्या!'[१]

क्रोपाटकिन ने लिखा था कि 'वंदीगृह सरकार के पैसे से चलनेवाले अपराध सिखाने के विश्वविद्यालय हैं। कुछ दिन वहाँ रहकर चोर, डाकू आदि अपने धंधे में और अधिक दक्ष बनकर बाहर निकलते हैं और समाज के प्रति अधिक कटुता उत्पन्न करते हैं।'

वंदीगृह की यह स्थिति है। शारीरिक दंड, बेत और कोड़ों की सजा का, सामाजिक अप्रतिष्ठा का, जुर्माने का—दंड के अन्य साधनों का भी वैसा ही बुरा हाल है। सभी की प्रतिक्रिया बुरी ही पायी गयी है। सामाजिक अप्रतिष्ठा का साधन है नागरिकता के अधिकारों से वंचित कर देना, वोट न डालने देना, कोई प्रतिष्ठित पद न लेने देना, धंधा-व्यापार, विवाह आदि न करने देना। जुर्माना कहने को तो अपराधी पर किया जाता है, पर वह वसूल किया जाता है उसके घरवालों से। दंड के ये सभी प्रकार अपराधों को कम करने में अथवा अपराधी को सुधारने में बहुत कम सफल हुए हैं।

अपराध निरोधक कानून

अपराधों का निरोध करने के लिए नाना प्रकार के कानून बने हैं। उन्हें अमल में लाने का भरपूर प्रयत्न किया जाता है। पर अधिकतर देखा यह जाता है कि जो गरीब है, जो अनभिज्ञ है, जो सरल और सीधा है, वही इन कानूनों का शिकार बन कर यातना सहता है। पैसेवाले, सफेदपोश अपराधी, धनी लोग, चतुर और चालाक लोग अपराधों में रचे-पचे रहने पर भी कानून के शिकंजे से मुक्त रहते हैं। क्या अर्थ है ऐसे कानूनों का ? न्याय का

---

१. जे० सी० अलेक्जेंडर : दि फिलासोफी आफ पनिशमेंट, जर्नल आफ क्रिमनल ला एंड क्रिमिनोलाजी, जुलाई, अगस्त, १९२२

सारा तंत्र ही कुछ ऐसा शिथिल है कि क़ानून अपने लक्ष्य की पूर्ति में असमर्थ रहते हैं।

आरंभ में तो इस बात की कल्पना भी नहीं की जाती थी कि अपराधी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। लोग कहते थे कि 'अपराधी के प्रति दया और उदारता बरतने का अर्थ है साँप को दूध पिला-पिलाकर मोटा करना!'

सुधार संस्थाएँ

धीरे-धीरे अपराधियों के प्रति दया और सहानुभूति की भावना का जब प्रसार होने लगा तो यह प्रयत्न किया जाने लगा कि अपराधी को एक प्रकार का रोगी माना जाय। आवेश में आकर यदि वह कोई अपराध कर बैठता है, मूर्खता के कारण कोई गलत काम कर बैठता है तो उसके प्रति प्रेम, दया, क्षमा का व्यवहार करना चाहिए। इसी दृष्टि से आधुनिक दंडशास्त्र में सुधार संस्थाओं का विकास हुआ है। अपराधियों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण रखना ही अपराध निरोध का सर्वोतम मार्ग है।

प्रेम का मार्ग

प्रेम, दया और दुआ का ही रास्ता अपराध की समस्या का स्थायी समाधान उपस्थित कर सकता है।[1]

असर सोजे मुहब्बत में न हो यह गैर मुमकिन है,
शमा का जिस्म घुल जाता है गर पर्वाना जलता है!—

●

१. श्री कृष्णदत्त भट्ट : चम्बल के बेहड़ों में। पृ० २३६-२५४

अध्याय । ६

भारत का सामाजिक संगठन

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥[1]
समानी व आकूतिः समाना हृदयाणि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥[2]

यह है भारतीय समाज का वैदिक आदर्श । वेद कहता है—'सभी मनुष्य भली प्रकार मिलजुल कर रहें । सब लोग प्रेमपूर्वक परस्पर वार्तालाप करें । सबके मन में एकता का भाव हो । सब अविरोधी ज्ञान प्राप्त करें । विद्वान लोग जिस प्रकार सदा से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करके उपासना करते रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी ज्ञान और उपासना में दत्तचित्त रहो ।' 'सबके संकल्प एक-से हों । सबके निश्चय एक-से हों । सबके आशय एक-से हों । सबके मन में एक-सी ऊँची भावना हो । सब लोग परस्पर सहयोग करते हुए अच्छे ढंग से अपने कार्यों को पूरा करें ।'

प्रेम, सहयोग, सद्भाव और मैत्री की आधारशिला पर प्रतिष्ठित भारतीय समाज विश्व के विकसिततम सुसंगठित समाजों में मूर्धन्य रहा है । आज भारत में सामाजिक विघटन अवश्य है, परंतु वैदिक काल का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत का सामाजिक संगठन अत्यंत ठोस आधार पर निर्मित हुआ था । उसी दृढ़ता और एकता की नींव के कारण शताब्दियों तक भारतीय समाज नाना प्रकार के झंझावात सहन करता आया और फिर भी उसका संगठन प्रशंसनीय बना रहा ।

संगठन की आधारशिला

भारत का सामाजिक संगठन कैसा था और उसके मूल तत्व क्या रहे हैं, इन बातों का अध्ययन किये बिना उसके सामाजिक विघटन को भली-भाँति

---

१. ऋग्वेद १०/१९१/२
२. ऋग्वेद १०/१९१/४

समझा नहीं जा सकेगा। अतः हम उसके संगठन की संरचना पर, उसके मूलाधारों और उसकी विशेषताओं पर पहले विचार करेंगे। तदुपरांत विघटन और उसकी समस्याओं का चिंतन करेंगे।

राधाकमल मुखर्जी ने भारतीय समाज की आधारशिला मानी है—आध्यात्मिकता। वे कहते हैं—'भारतीय जीवन-रचना का निर्माण आत्मा, प्रकृति तथा परमात्मा और इनके पारस्परिक संबंधों की विवेचना करनेवाले आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर हुआ है।'[१]

आध्यात्मिकता

भारत की समाज-व्यवस्था आध्यात्मिकता की ही दृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित है। 'ईशावास्यं इदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'—वेद की इस वाणी में इस तथ्य की घोषणा की गयी है कि यह सारा जगत ईश का आवास है। प्रकृति के कण-कण में एक ही ईश्वरीय सत्ता जगमगा रही है। इस परमात्मा से ही सारी सृष्टि का, सारी प्रकृति का जन्म हुआ है। घट-घट में जिस आत्मा का प्रकाश आलोकित है, वह उस अनंत परमात्मा का ही एक अंश है। उस परमात्मा से ही सब कुछ उद्भूत है। वही सबका रक्षक है, पालक है। उसी में सबका विलय होता है। मानव के जीवन का चरम लक्ष्य उस परमात्मा की उपलब्धि ही है। इसी का नाम है मोक्ष।

पुरुषार्थ

भारतीय समाज-व्यवस्था में चार पुरुषार्थों पर सर्वाधिक बल दिया गया है। ये पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरुषार्थों को क्रियान्वित करने के लिए भारत में दो विशिष्ट व्यवस्थाओं की रचना की गयी। ये व्यवस्थाएँ हैं—आश्रम व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था।

भारतीय संस्कृति में कर्म एवं पुनर्जन्म पर भी बल दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मनुष्य को अनासक्त भाव से कर्म करने चाहिए। फल प्रभु के हाथ है। मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करे, अधिकारों की लिप्सा न रखे। धर्म उसके जीवन का आधार है। और, यह धर्म है—मानव धर्म। इस धर्म के दस लक्षणों में धृति, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध की गणना की गयी है।[२] स्पष्ट है कि भारतीय समाज-रचना में सेवा, क्षमा, उदारता, संयम, सत्य, अहिंसा, करुणा जैसे

---

१. राधाकमल मुखर्जी : भारतीय समाज विन्यास, पृष्ठ ४६।

२. मनुसंहिता, ६/९२

महान मूल्यों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। कोई भी समाज इस आधारशिला के सहारे निश्चय ही शताब्दियों तक अत्यंत गौरवपूर्वक जीवित रह सकता है। भारतीय समाज उसका उज्ज्वल उदाहरण है।

सर्वांगीण उन्नति की योजना

पाश्चात्य विचारक भारत के पुरुषार्थ की महत्ता पूर्णतः समझ सकने में असमर्थ रहे हैं। अलबर्ट श्वाइजर जैसे करुणा विगलित महापुरुषों ने भी इस दिशा में भूल की है। 'इंडियन थॉट एंड इट्स डेवलपमेंट' उनकी अत्यंत प्रसिद्ध रचना है। उसमें उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया है कि पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार जीवन को सकारात्मक माना जाता है, परंतु भारतीय सभ्यता के अनुसार नकारात्मक। श्वाइजर के मत से नकारात्मक मानने का अर्थ है उन वस्तुओं का त्याग, जिनसे जीवन को समृद्धशाली बनाया जा सकता है। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। भारतीय जीवन में पुरुषार्थ की व्यवस्था नकारात्मक जीवन की नहीं, अपितु जीवन को सच्चे अर्थों में समृद्धशाली बनाने की व्यवस्था है। लेखक ने श्वाइजर महोदय को इस संबंध में लिखा था, परंतु उस समय वे अपनी व्यस्तता के कारण इस विषय में कुछ उत्तर न दे सके थे और उसके कुछ ही समय बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

पुरुषार्थ की व्यवस्था धर्म की भावभूमि पर अधिष्ठित है। धर्म वह मूलसूत्र है जो लौकिक एवं पारलौकिक, दोनों ही क्षेत्रों में गुँथा हुआ है। उसी सूत्र के आधार पर अर्थ की प्राप्ति करनी है। जीवन के लिए व्यवसाय, कार्य अथवा उद्योग चुनना है। धर्मानुकूल अर्थ ही मानव को ऊपर उठा सकता है, धर्मविरुद्ध कार्य तो उसे पतन के गर्त में ही ढकेलेगा। धर्म की इस पवित्र भावना को दृष्टि में रखकर ही मानव को जीविकोपार्जन करना है। इसी धर्म की मूल भावना को दृष्टि में रखकर उसे काम का भी सेवन करना है। उसे जीवन के आनंदोपभोग में धर्म को विस्मरण नहीं करना है। ऐहिक उन्नति करनी है; सुखसमृद्धि का लाभ उठाना है, परंतु इस बात को कभी विस्मरण नहीं करना है कि धर्म हमारी आधारशिला है और मोक्ष हमारा लक्ष्य। इस प्रकार पुरुषार्थ की चतुर्मुखी व्यवस्था मानव को उसके सर्वांगीण विकास की ओर ले जाती है। इसका अर्थ जीवन को नकारात्मक, निषेधात्मक बना कर उसे रूखा और फीका बनाना नहीं है, प्रत्युत उसमें रस की सृष्टि करके उसे रसमय, आनंदमय एवं दिव्य बनाना है। कारण, 'रसो वै सः।'

गीता में भगवान कृष्ण ने कर्म पर जो बल दिया है, उसका अर्थ 'जगन्मिथ्या' पर बल देना नहीं है। डाक्टर राधाकृष्णन ने भी गीता के विश्लेषण में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि कृष्ण ने पूर्ण कर्ममय जीवन बिताने को ही कर्त्तव्य माना है। उसे मिथ्या कहकर कर्मविरत होने की कोई बात नहीं की है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की योजना 'लोक लाहु परलोक निबाहू' की प्रत्यक्ष एवं साकार योजना है।

धर्म

वर्गचतुष्टय का, पुरुषार्थ का सर्वप्रथम अंग है धर्म। यह धर्म क्या है, यह अत्यंत गूढ़ है—'धर्मस्य तत्त्वं निहतं गुहायाम्'। फिर भी उसे समझने के लिए उसकी एक छोटी-सी परिभाषा दे दी गयी है—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्म।'[1]

कणाद की इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए पूर्व मीमांसाकार जैमिनि कहते हैं—धर्म वह है जिससे अभ्युदय की प्राप्ति हो और निःश्रेयस की भी सिद्धि हो। अभ्युदय का अर्थ है लौकिक उन्नति और निःश्रेयस का अर्थ है पारलौकिक उन्नति और कल्याण। जिस जीवन-पद्धति से लोक और परलोक दोनों बने, जिससे मानव की सर्वांगीण उन्नति हो, उसका नाम है धर्म।

'धर्म' शब्द बना है 'धृ' धातु में 'मप्' प्रत्यय जोड़ने से। 'धृ' का अर्थ है—धारण करना। धर्म उन शाश्वत मूल्यों एवं सिद्धांतों का समुदाय है जिनके द्वारा मानव समाज सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर, उन्नतिशील होकर अपने अस्तित्व को धारण करता है।

महाभारत में वेदव्यास ने कहा है—

धारणाद्धर्म नित्यां दुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यतस्याद्धारण संयुक्त सधर्म इति निश्चयः॥[2]

'धारण करने से इसे धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहता है, वह धर्म है—ऐसा निश्चय है।'

डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं—'मानवीय जीवन को गढ़ने और बनानेवाली सभी गतिविधियां धर्म की धारणा के अंतर्गत आती हैं। धर्म का सिद्धांत हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को मान्यता देने के प्रति सजग करता है। संसार से विरक्त होने के द्वारा नहीं, अपितु जीवन में, व्यवसायों (अर्थ) में और आनंद (काम) में आध्यात्मिक विश्वास की नियंत्रक शक्ति का प्रवेश

---

१. वैशेषिक सूत्र १/१/२
२. महाभारत, कर्णपर्व ६१/५८

कराने के द्वारा। जीवन एक है और इसमें पारलौकिक (पवित्र) और ऐहिक (सांसारिक) जैसा कोई भेद नहीं है।'[१]

डाक्टर भगवान दास ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है—'शाब्दिक अर्थ में धर्म वह है जो किसी वस्तु को धारण करता है, उसके अस्तित्व को गढ़ता है, उसे विदीर्ण होने से बचाता है, उसे परिवर्तित होने से रोकता है, इसका मूल गुण, उसकी आवश्यक प्रकृति, उसका धर्म, उसका अस्तित्व है।'[२]

धर्मशास्त्र के इतिहास के प्रणेता डाक्टर पी० वी० काणे का कथन है कि 'धर्मशास्त्र के रचनाकार धर्म को एकमत या विश्वास नहीं मानते, अपितु उसे वे जीवन की एक आचारसंहिता मानते हैं, जो व्यक्ति के वैयक्तिक रूप पर तथा उसके समाज के एक सदस्य के रूप पर, उसके कार्यों एवं क्रियाओं पर नियंत्रण रखती है। यह नियंत्रण व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया जाता है और इस उद्देश्य से किया जाता है कि मनुष्य अपने मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर सके।'

'धर्म' शब्द अत्यंत व्यापक है। उसमें नाना प्रकार के धर्मों का स्वतः समावेश हो जाता है। लोकमान्य तिलक के शब्दों में, 'धर्म शब्द का अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिए।'[३] तिश्मर ने कहा है कि 'धर्म किसी आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों एवं अधिकारों का सिद्धांत होता है और उसमें समस्त कार्यों की झाँकी अथवा नियम मिलते हैं।'[४] गोखले ने धर्म को 'मानव समाज के स्वस्थ संगठन के लिए आवश्यक कर्त्तव्यों का समुदाय' बताया है।[५]

मानव धर्म : धर्म मानव के कर्त्तव्यों का निरूपण एवं निर्धारण करता है। भारत में धर्म के अंतर्गत कर्त्तव्यों पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है, अधिकारों पर उतना नहीं। धर्म ने समाज को कर्तव्यारूढ़ रखने के लिए ऐसे-ऐसे नियम बनाये हैं जो मानव मात्र के लिए व्यवहार्य हैं। मनु ने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।[६]

---

१. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृष्ठ १२५-१२६।
२. भगवान दास : दि साइंस आफ सोशल आर्गेनाइजेशन, खंड-१, पृष्ठ ४९-५०।
३. बालगंगाधर तिलकः गीता रहस्य, पृष्ठ २१२
४. एच० तिश्मर : फिलासफीज आव् इंडिया, पृष्ठ ४१।
५. बी० जी० गोखले : इण्डियन थॉट थ्रू दि एजेज, पृष्ठ २५।
६. मनु संहिता, १०/६३।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौचाचार और इंद्रिय निग्रह—ये चारों वर्णों के लिए निर्धारित धर्म हैं।

इससे अधिक धर्म की उत्कृष्ट भावना और क्या होगी ? प्रत्येक वर्णवाला, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य इन कर्त्तव्यों का पालन करे, तो समाज में अशांति, हिंसा, बेईमानी, चोरी, संग्रह, गंदगी और स्वेच्छाचारिता आदि के लिए स्थान ही कहाँ रह जाएगा ?

महात्मा गांधी ने धर्म के इस मूल रहस्य को हृदयंगम किया था। उन्होंने लिखा है कि 'धर्म से मेरा मतलब उस मूल धर्म से है जो मनुष्य के स्वभाव तक को परिवर्तन कर देता है, जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट संबंध जोड़ता है और जो हमें निरंतर शुद्ध और अधिक पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है, जो अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है।[१] धर्म का अर्थ कट्टरपंथ नहीं है। उसका अर्थ है, विश्व की एक भौतिक सुव्यवस्था में श्रद्धा। यह धर्म हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सबसे परे है। यह उन धर्मों का समन्वय करता है और उन्हें वास्तविक धर्म बनाता है।[२]

भारतीय समाज-व्यवस्था में धर्म को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। यह धर्म मूलतः मानव धर्म ही है। वेद में, स्मृति में, भागवत में, गीता में, रामायण में, धर्म के सभी ग्रंथों में, धर्मशास्त्रों में सर्वत्र इस धर्म की ही व्यापक विवेचना की गयी है। भागवत में इस सार्ववर्णिक धर्म का संक्षेप में यह लक्षण बताया गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥[३]

सार्ववर्णिक धर्म है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभ से मुक्ति। धर्म है वह जिससे सभी प्राणी प्रसन्न रहें और सबका कल्याण हो।

'सत्यान्नास्ति परोधर्मः।' सत्य से उत्तम अन्य कोई धर्म नहीं। वेद में पृथ्वी को धारण करनेवाले ६ आधार बताए गये हैं—

सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं
दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।[४]

---

१. निर्मल कुमार बसु : सिलेक्शंस फ्रॉम गांधी, १९४८, पृष्ठ २२३।
२. मो० क० गांधी : हरिजन सेवक (हिन्दी), १०-२-४०, पृष्ठ ४११
३. श्रीमद्भागवत १०/२/२६
४. अथर्ववेद १२/१/१

सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ। मूल बात है जीवन का इस प्रकार नियमन कि मानव सदा ही नीति और सदाचार पर दृढ़ रहे। सदाचार से मानव का उद्धार होता है। ऋग्वेद ने इसीलिए कहा—'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृत:।'

पुरुषार्थ मे धर्म को सर्वप्रथम स्थान इसीलिए दिया गया है कि यह आधार रहेगा, तो जीवन में पावित्र्य रहेगा ही। नैतिक मूल्यों को वरीयता देने से ही व्यक्ति का तथा समाज का कल्याण होगा—इस तथ्य को ऋषियों ने भली-भाँति समझकर ही ऐसी व्यवस्था की थी कि धर्म ही सर्वोपरि माना जाय।

भारतीय समाज के नियामकों ने धर्म को अत्यंत व्यापक रूप तो प्रदान किया ही, उसके मोटे-मोटे ही नहीं, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम भी बना दिए थे।

धर्म का वर्गीकरण

विशाल साहित्य की रचना कर दी थी। धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र, धर्मग्रंथ इन नियमों का ही विवेचन करते हैं। धर्म की व्यापकता को समझने के लिए इन सभी नियमों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—
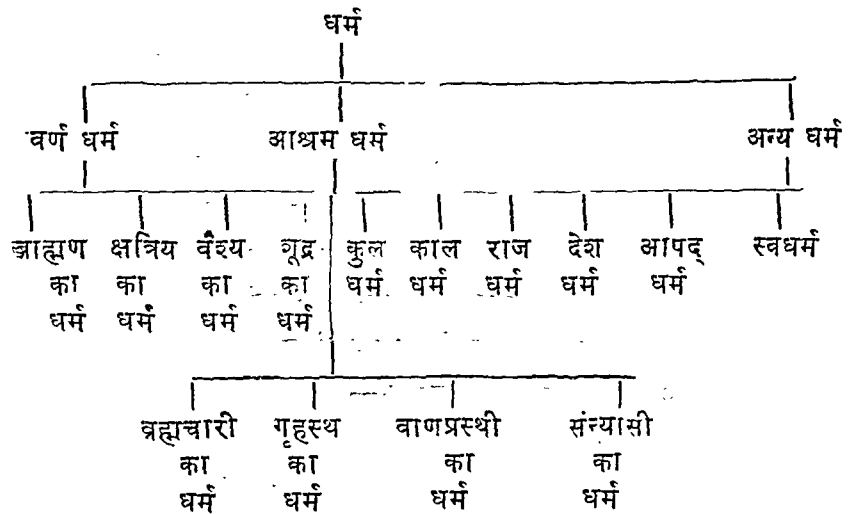
वर्ण-व्यवस्था

वैदिक ऋषियों ने समाज को ४ वर्णों में विभक्त किया। ये चार वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उन्होंने गुण-कर्म के आधार पर इनकी रचना की। इसके लिए पुरुष सूक्त में एक रूपक दिया गया है।[१]

---

१. ऋग्वेद १०/९०/११-१२

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

समाज एक जीवित पुरुष है। इस समाजरूपी पुरुष का मुख है—ब्राह्मण, भुजाएँ हैं क्षत्रिय, जंघाएँ हैं वैश्य और पैर हैं शूद्र। शरीर के भिन्न-भिन्न अंग जिस प्रकार परस्पर संबद्ध हैं, भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए भी वे एक हैं। एक का सुख दूसरे का सुख है और एक का दुःख दूसरे का दुःख। संगठन और जागृति के मूल तत्व को अभिव्यक्त करने के लिए पुरुष सूक्त का यह मंत्र अत्यंत सारगर्भित है। आधुनिक समाजशास्त्री भी मानव समाज को एक जीवित शरीर बताते हैं[1]

वेद के उपरिलिखित मंत्र को लेकर बहुत वाद-विवाद चला है। उसी को जातियों के ऊँचनीच के भेद का आधार बताया गया है। परंतु वस्तुतः यह तो एक रूपक है। जैसा कि स्वामी दयानन्द कहते हैं—'यहाँ पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अंग नहीं हो सकते। जो मुखादि अंगवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान, जगत का स्रष्टा, धर्ता, प्रलयकर्ता, जीवों के पुण्य-पापों के ज्ञान की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता।[2]

वर्णव्यवस्था समाज के श्रमविभाजन की एक प्रणाली मात्र थी। समाज के विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न कार्यों का संपादन करें जिससे समाज का संगठन शक्तिशाली एवं दृढ़ बन सके, यही भावना इसकी पृष्ठभूमि में रही है। समाज में गुणकर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था चलती थी और उसमें समयानुकूल परिवर्तन भी होते थे। तभी तो यह संभव था कि ब्राह्मण शूद्र वर्ण में जा सकता था और शूद्र ब्राह्मण वर्ण में—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यातथैव च ॥[3]

चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो स्त्री-पुरुष हो उसकी गणना उसी वर्ण में की जाय—ऐसा स्पष्ट विधान था।

---

१. कोल : सोशल थ्योरी, पृष्ठ २०८ २०६।
२. दयानन्द सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाशः, सं० २००३, पृष्ठ ५१।
३. मनुसंहिता १०/६५।

वर्णों के धर्म

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न गुणकर्म निर्धारित कर दिये गये थे।

ब्राह्मण का धर्म : गुणकर्म, त्याग-तपस्या में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को ब्राह्मण वर्ण में स्थान दिया गया था। उसके लिए ये ६ कर्म निश्चित किये गये थे—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।[१]

अध्यापन और अध्ययन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मण के कर्म हैं।

ब्राह्मण का धर्म अत्यंत कठोर एवं उत्कृष्ट था। सर्वश्रेष्ठ गुणों के समावेश के लिए उसे परमत्याग एवं तपस्यामय जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया जाता था। वह यदि सर्वोत्तम गुणों का प्रतीक न होगा तो वह समाज का मार्गदर्शन कैसे कर सकेगा ? इसी दृष्टि से ऋषियों ने उसे मान-सम्मान एवं आदर प्राप्ति से भी विरत रखने का नियम बनाया, जिससे उसमें मद और अहंकार न आ जाए। मनुस्मृति में कहा है :

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्व्वदा॥[२]

ऐहिक सम्मान को ब्राह्मण आजीवन विषवत् माने और अवमानना को सदा अमृतवत् माने।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥[३]

ब्राह्मण तपस्या करने की इच्छा करे। वेदाभ्यास करे। ऋषियों ने वेदाभ्यास को ही ब्राह्मण की परम तपस्या माना है।

यों दान लेना भी ब्राह्मण का एक कर्म बताया गया है, परंतु उसके चलते कहीं उसमें लोभ एवं परिग्रह की भावना न आ जाए, अतः इसका भी निषेध कर दिया गया है—

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥[४]

दान लेने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

---

१. मनुसंहिता १।८८
२. मनुसंहिता २।१६२
३. मनुसंहिता २।१६६
४. मनुसंहिता ४।१८६

इस प्रकार ब्राह्मण को त्यागी-तपस्वी, अपरिग्रही और मानापमान से मुक्त रखने का शास्त्रीय विधान है। महाभारत में उंछवृत्ति से जीवन-यापन करने वाले एक ब्राह्मण की अत्यंत प्रेरक कथा दी गयी है। दुर्भिक्ष के दिनों में ब्राह्मण कई दिन भूखे रहने के बाद जब सेर भर सत्तू जुटाकर भोजन करने बैठता है तो अतिथि महोदय आ धमकते हैं। वह अत्यंत प्रसन्न होकर अपना तथा पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू-सभी का अंश उसे अर्पण कर देता है। कहता है—

शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ॥[१]

'हे भूदेव, न्यायोपार्जित यह परम पवित्र सत्तू आप को अर्पित है। आप कृपापूर्वक स्वीकार करें।'

अतिथि ने अपने जूठे हाथ जहाँ धोये थे, उसमें लोटने से एक नेवले के शरीर का आधा भाग सोने का हो गया। शेष आधे भाग को स्वर्णमय बनाने के लिए वह युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पहुँचा, परंतु वह सफल मनोरथ नहीं हो सका। बोला, 'राजन्, तुम्हारा यह यज्ञ ब्राह्मण के उस सत्तू दान के बराबर भी नहीं है।'

यह था ब्राह्मण का धर्म। समाज का नियमन करने के लिए जिन उत्तम गुणों की आवश्यकता थी, उन्हीं गुणों के विकास की चेष्टा ब्राह्मण वर्ण के धर्म में प्रकट है।

क्षत्रिय का धर्म : क्षत्रिय है समाज अंग की भुजा—शौर्य और तेज का प्रतीक। उसका धर्म है—प्रजा का रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन और जितेंद्रीयता—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥[२]

गीता में भी क्षत्रिय के धर्म का इसी प्रकार वर्णन किया गया है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥[३]

---

१. महाभारत, आश्व०, ९०।३९
२. मनुसंहिता १।८९
३ गीता १८।४३

शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में डटना, दान और ईश्वर भाव, पक्षपात-शून्य होकर सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है।

वैश्य का धर्म : वैश्य पर था समाज के पालन-पोषण का दायित्व, समाज के आर्थिक विकास का भार उसी के कंधों पर था। उसके लिए कहा गया था

पशूनां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥[1]

पशुओं का रक्षण, पशुओं का पालन, कृषि, वाणिज्य, व्यापार—कुसीथ, विद्याध्ययन और यज्ञ आदि वैश्य का धर्म है। कुसीथ में व्याज पर धन देने की भी बात आती है। परंतु इस व्याज की दर के संबंध में १००) में ।), ।=), ॥), ।॥) या १), १।) से अधिक व्याज लेने का निषेध था। कहा था की सौ वर्ष में भी यदि धन लौटे तो भी १) के स्थान पर २) से अधिक न लिया जाय।

शूद्र का धर्म : समाज की सेवा का संपूर्ण भार शूद्रों पर था। मनुस्मृति में उसके धर्म का वर्णन करते हुए कहा गया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णान्तं शुश्रूषामनसूयया ॥[2]

निंदा, ईर्ष्या और अभिमान आदि दोषों से रहित होकर तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का धर्म है।

सेवा धर्म शूद्र का धर्म माना गया है, परंतु सेवा धर्म की महत्ता अपना सानी नहीं रखती। 'सेवा धर्मः परमगहनो, योगिनामपि अगम्यः।' शूद्र अपने सेवा धर्म का पालन करके ही मोक्ष का अधिकारी बनता है, अन्य वर्ग अपने-अपने धर्म का पालन करके, इसमें ऊँच-नीच और भेद-भाव के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है।

आश्रम व्यवस्था

भारत के समाज-निर्माताओं ने वर्णव्यवस्था के अतिरिक्त आश्रम व्यवस्था भी की थी। आश्रम चार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास।

जीवेम शरदः शतम्—'शतंजीवी भव'-जैसी मान्यताएँ समाज में प्रसिद्ध थीं। सौ वर्ष की इस अवधि को इन चार भागों में विभक्त कर दिया

---

१. मनुसंहिता १।९०
२. मनुसंहिता १।९१

गया था। जीवन के प्रथम आश्रम में विद्याध्ययन, द्वितीय आश्रम में गार्हस्थ जीवन का पालन, तृतीय में वाणप्रस्थ धारण और चतुर्थ में सब कुछ परित्याग कर जनता-जनार्दन की सेवा में अपने को अर्पित कर देना होता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम : कहा गया था कि उपनयन संस्कार के उपरांत ब्रह्मचारी गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करे। ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार माने गये थे—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। कनिष्ठ में २४ वर्ष तक, मध्यम में ४४ वर्ष तक और उत्तम में ४८ वर्ष तक की अवधि मानी गयी थी। छांदोग्य उपनिषद (३।१६) में इसका विस्तार से विवेचन है।

ब्रह्मचारी किस प्रकार संयम और सदाचार का पालन करे, इसके अनेक नियम मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में दिये गये हैं—

वर्जयेन्मधु मांसंच गंधंमाल्यं रसान् स्त्रिय: ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनांचैव हिंसनम् ।। (२/१७७)

मद्य-मांस, गंध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों की हिंसा आदि ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों के लिए वर्जित हैं। इसी प्रकार ऐसी सभी वस्तुओं का निषेध है जिनसे ब्रह्मचर्य में बाधा पड़ने की लेशमात्र भी आशंका हो।

गुरुपादपद्मों में बैठकर ज्ञानार्जन की यह साधना गुरुकुल में अनवरत रूप से चलती थी। ब्रह्मचारी भिक्षा माँगकर वेदाध्ययन चलाता था और जब उसका अध्ययन पूरा होता था, तब वह स्नातक बनकर गुरुकुल से विदा होता था। ब्रह्मचर्याश्रम में वह जिस संयम, सदाचार, त्याग और तपस्या का जीवन बिताता था, उसी साधना को जीवन मे चरितार्थं करने के लिए वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। दीक्षांत समारोह पर उसे जो दीक्षा दी जाती थी उसमें कहा जाता था—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद: ।
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सी: ।
सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् ।
कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् ।
स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।
देव पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।
मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य्य देवो भव।

अतिथि देवो भव ।

यान्यनवधानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।[१]

अर्थात् सदैव सत्याचरण करना, धर्माचरण करना । स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद न करना । आचार्य के लिए अभीष्ट धन लाकर विवाह करके संतानोत्पादन करना । सत्य से, धर्म से, कुशल-आत्मरक्षा में उपयोगी-कर्म से, ऐश्वर्यदायी मानसिक कार्यों से, स्वाध्याय और प्रवचन से, देवकार्य और पितृकार्यों से कभी भी प्रमाद न करना । माता, पिता, आचार्य और अतिथि देवों की सदा सेवा करना । गुरुजनों के शुभ आचरणों की ही उपासना करना, अन्य कर्मों की नहीं ।...

गृहस्थ आश्रम : यह आश्रम अन्य तीनों आश्रमों का आश्रयस्थल माना गया है । ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ एवं संन्यास, तीनों आश्रय गृहस्थ आश्रम के ही आधार पर टिकते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व्व आश्रमाः ।।[२]
यथा नदीनदाः सर्व्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्व्वे गृहस्थ यान्ति संस्थितिम् ।।[३]

'जिस प्रकार प्राणवायु का आधार लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आधार लेकर सब आश्रम वाले जीवन धारण करते हैं । जिस प्रकार सभी नदीनद समुद्र में स्थित होते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम वाले गृहस्थाश्रम के सहारे स्थित होते हैं ।'

इतना गौरव माना गया है गृहस्थाश्रम का । इस आश्रम में अर्थ और काम का धर्मानुकूल आचरण करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने की पात्रता प्राप्त करनी है । स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्मचर्य आश्रम के उपरांत ही संन्यास ग्रहण किया था । उनका कहना है कि, यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से संन्यासी श्रेष्ठ है ।' संसार को छोड़कर, स्वच्छंद और शांत जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना

---

१. तैत्तिरोय उपनिषद् १।११।१,२,३,४....

२. मनुसंहिता ३।७७

३. मनुसंहिता ६।९०

बहुत कठिन है।[१] और 'गृहस्थ सारे समाज की नींव सदृश है। वही मुख्य धन उपार्जन करनेवाला होता है।'[२]

पंचमहायज्ञ—गृहस्थ को धर्मानुकूल व्यवसाय करते हुए अन्य तीनों आश्रमों की दान, सम्मान और आदर से सेवा करनी है। अहिंसा और सत्य उसके जीवन का पाथेय है, परंतु घर-गृहस्थी में कुछ हिंसाएँ तो अनिवार्य हैं। घर है तो घर में चूल्हा होगा ही, चक्की होगी ही, झाड़ू लगानी ही होगी। ओखली में धान और जौ आदि को कूटना ही होगा। पानी पीने के घड़े रखने के लिए घनौंची होगी ही। इन सबके चलते अनेक जीवों की हिंसा अवश्यम्भावी है। इनके पापों से मुक्त होने के लिए गृहस्थ को पंचमहायज्ञ करने होते हैं।

पंचसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुंभश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥[३]
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंचक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥[४]
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥[५]

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है। तर्पण करना पितृयज्ञ है। हवन करना देवयज्ञ है। बलिवैश्यदेव भूतयज्ञ है। अतिथि सत्कार नृयज्ञ है।

ब्रह्मयज्ञ है वेद का स्वाध्याय, उसका अध्ययन-अध्यापन। पितृयज्ञ है पितरों का तर्पण। 'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितृन तत् तर्पणम्।' जिस कर्म से पिता, पितामह, माता, पितामही आदि पितृ तृप्त एवं प्रसन्न, सुखी और स्वस्थ रहें, उसका नाम है पितृयज्ञ। सायं प्रातः हवन करना देवयज्ञ है। अथर्ववेद में कहा है—'सायं-सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः-प्रातः सौमनस्य दाता।'[६] बलिवैश्यदेव भोजन के समय करना होता है। 'ॐ० अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्निषोमाभ्यां स्वाहा' आदि कहकर अग्नि में आहुतियाँ देनी होती हैं। तदुपरांत 'ॐ सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः'

१. विवेकानन्द; कर्मयोग, पृष्ठ २३
२. विवेकानन्द : कर्मयोग, पृष्ठ ३०।
३. मनुसंहिता ३।६८
४. मनुसंहिता ३।६९
५. मनुसंहिता ३।७०
६. अथर्ववेद १९।७।३

आदि मंत्रों से 'सर्वात्मभूतये नमः' तक कई मंत्रों का उच्चारण करते हुए कुछ भोजन निकाल कर अतिथि को खिलाना होता है अथवा अग्नि में छोड़ देना पड़ता है। फिर कुछ भोजन 'श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। श्वपग-भ्यो नमः। पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः' कहते हुए कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौआ और चींटी आदि कृमि के नाम पर निकाल कर किसी भूखे प्राणी या कुत्ता, कौआ आदि को खिलाना पड़ता है। नृयज्ञ है अतिथि का सत्कार। उसे भोजन, जल, सम्मान और दान द्वारा तृप्त करना होता है।

ये पंचमहायज्ञ गृहस्थ के परम कर्तव्य माने गये हैं। इनका स्पष्ट अर्थ यह है कि गृहस्थ देवताओं और पितृ लोगों से लेकर मानव तक की ही नहीं, नीच-से-नीच कीट-पतंग तक की सेवा करे। सबका आदर और सम्मान करे और सबको सुख पहुँचाने में सदैव दत्तचित्त रहे।

तीन ऋण : धर्मशास्त्रों में मानव पर तीन ऋण माने गये हैं—ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण[१]—इन तीनों ऋणों को चुकाने के उपरांत ही मनुष्य मोक्ष की साधना कर सकता है—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्'।[२] ऋषियों के हम पर अनन्त उपकार हैं। अनन्त काल से वे हम पर ज्ञान की वृष्टि करते आ रहे हैं। गुरुकुलों में इन्हीं ऋषियों के चरणों में बैठकर ब्रह्मचारी ज्ञानार्जन करते रहे हैं। उन्होंने ब्रह्मचारियों को ज्ञान दिया है और उन्हें सर्वगुणों से संपन्न बनाया है। शतपथ ब्राह्मण में 'विद्वांसो हि देवाः'—विद्वानों को देवरूप बताया है। वेदों में अनेक देवों का वर्णन है। परमेश्वर की अनन्त शक्तियों के लिए 'देव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अग्नि, वायु, वरुण, सविता, द्यौः, उषस्, रात्रि, पृथ्वी, सिंधु, सरस्वती आदि की स्तुतियाँ वेदों में भरी पड़ी हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों को देवरूप में माना गया है। उनके उपकारों का कोई पार है? पितृ लोगों के उपकारों को तो अस्वीकार का प्रश्न ही नहीं है। उन्होंने मानव को मानव शरीर तो दिया ही है, नाना प्रकार से दुःख और कष्ट झेल कर उसे पाल-पोसकर योग्य बनाया है। शरीर का कण-कण पितृ लोगों का ही प्रसाद है। इन तीन ऋणों को मानव जन्म

---

१. तैत्तिरीय संहिता ६। ३। १०।५

२. मनु संहिता ६। ३५; ४।२५७

से ही अपने साथ ले आता है। इनसे मुक्त होने के लिए भारतीय समाज में यज्ञ, दान और तप की व्यवस्था की गयी थी।

विनोबा कहते हैं—हम तीन संस्थाएँ साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। पहली संस्था है—हमारे आसपास लिपटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड, यह अपार सृष्टि। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्म की प्रतीक्षा करने वाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओं का उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। यज्ञ, दान और तप से ही उनकी पूर्त्ति की योजना बनती है।

सृष्टि संस्था से हम प्रतिदिन काम लेते हैं। हम हवा दूषित करते हैं, जमीन गंदी करते हैं। अन्न खाते हैं। सृष्टि को छिजाते हैं। सृष्टि की हानि की पूर्ति ही 'यज्ञ' है। यज्ञ कहता है—'पृथ्वी को उसका कस वापस लौटा दो, जमीन जोतो। उसे सूर्य की धूप खाने दो। उसमें खाद डालो।' दूसरा हेतु है उपयोग में लायी हुई वस्तुओं का शुद्धीकरण। सफाई करना, कुएँ के पास का कीचड़ दूर करना, प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य करना, कपड़ा पहनना तो रोज सूत कात कर नव निर्माण करना, कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना—यह यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञ में जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थ के लिए नहीं, क्षतिपूर्ति के कर्त्तव्य की भावना से होना चाहिए।

'मां, बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए श्रम करते हैं। समाज से हमने अपार सेवा ली है। समाज का यह ऋण चुकाने के लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनों से जो सेवा की जाय, उसका नाम है 'दान'।

'शरीर संस्था तीसरी संस्था है। हम प्रतिदिन अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय—सबसे काम लेते हैं। इस शरीररूपी संस्था में जो विकार, जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धि के लिए 'तप' बताया गया है।

'सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओं का कार्य जिससे अच्छी तरह चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। इन तीनों की हानि यज्ञ, दान और तप से पूरी करना हमारा स्वभावप्राप्त धर्म है।'[1]

भारतीय समाजव्यवस्था में तीन ऋणों की पूर्ति की यह योजना सामाजिक जीवन के इतिहास में अद्वितीय योजना है। इसे श्रद्धापूर्वक व्यवहृत करने का आदेश है।[2] उससे व्यक्ति का भी कल्याण होगा, समाज का भी।

---

१. विनोबा : गीता प्रवचन, १९५६, पृष्ठ २९२—२९९

२. गीता : १७।२४

वाणप्रस्थ आश्रम : भारतीय जीवन का मूल लक्ष्य माना गया है—मोक्ष। गृहस्थ आश्रम में मनुष्य सुखोपयोग करता है, परंतु इस आकर्षण में वह बँध न जाय, कहीं पथ से विचलित न हो जाय, अतः उसके लिए मर्यादा बाँध दी गयी कि जब उसके शरीर पर झूरियाँ पड़ जायँ, बाल पकने लगें और घर में पौत्र का जन्म हो जाय, तो उसे वन का मार्ग ग्रहण कर लेना चाहिए—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥[१]

वाणप्रस्थ आश्रम में भोगों से विरक्त रहते हुए संयमपूर्ण जीवन बिताने का आदेश है। कहा है—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥[२]

कृषि आदि से उत्पन्न भोज्य पदार्थों, गो, अश्व, वस्त्र आदि का परित्याग करके वनोन्मुख हो। पत्नी को पुत्र के हाथ में सौंप कर भी जा सकता है, साथ वन में भी ले जा सकता है। उसके धर्म का विवेचन करते हुए कहा गया है—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दांता नित्यमनादाता सर्व्व भूतानुकम्पकः ॥[३]

वाणप्रस्थी सतत स्वाध्याय करे। शीत उष्णादि द्वंद्वों को सहे। मैत्रीपूर्ण भाव रखे। परोपकारी हो। संयत चित्त, सदैव दानशील, प्रतिग्रह शून्य और प्राणिमात्र पर दयालु रहे।

पुण्यमूल फलैर्वापि केवलैर्वर्त्तयेत् सदा ।
कालपक्वैः स्वयं शीण व्यैखान समते स्थितः ॥[४]

कंद, मूल, फल ही उसका भोजन हो। जीवन का यह भाग ब्रह्मचर्य आश्रम की भाँति त्याग और तपस्या-समन्वित होना चाहिए। विनोबा मानते हैं कि वाणप्रस्थ धर्म की अवहेलना ही आज के सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है। मनुष्य जब से विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है, तबसे अंतिम क्षण तक वह उसी आश्रम में पड़ा रहता है। यह ठीक नहीं। उसे बाहर

---

१. मनु संहिता ६।२
२. मनु संहिता ६।३
३. मनुसंहिता ६।८
४. मनुसंहिता ६।२१

निकल कर समाज-सेवा में लगना चाहिए। वे तो गृहस्थ को भी अनासक्त देखने को उत्सुक हैं। कहते हैं—'गृहस्थ को तो सब संबंध कायम रखते हुए अनासक्त रहना है। गृहस्थ को जिम्मेदारियां हैं। उसकी जिम्मेदारियों का मुख्य अंश कुटुंब है। कुटुंब के लोगों को जल्द-से-जल्द अपने लिए जिम्मेदार बना दें। पत्नी-बच्चों को स्वतंत्र कर देना चाहिए, तैयार कर देना चाहिए। बाकी अपना खुद आत्मनिर्भर रहना चाहिए।'[1] इस प्रकार गृहस्थ लोग परिवार की जिम्मेदारियों से मुक्त होकर वाणप्रस्थ में जायें और समाज की सेवा में अपने को संलग्न कर दें। जीवन भर के अनुभवों से समाज को लाभान्वित करें। जब पंडित जवाहर लाल जीवित थे, तब विनोबा ने कहा था कि वे वाणप्रस्थी बनकर समाज को राजनीति पढ़ायें, घनश्यामदास बिड़ला जैसे लोग व्यापार और वाणिज्य। तभी वाणप्रस्थ आश्रम चमकेगा।

संन्यास आश्रम : जीवन का अंतिम आश्रम संन्यास आश्रम माना गया है। 'संन्यास' का अर्थ ही है—सर्वस्व त्याग। संन्यासी संन्यास लेते समय संकल्प करता है—

वित्तेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ताः।
मत्तः सर्वभूतेभ्यो अभयं अस्तु।

'मैंने तीनों ईषणाएँ—सुत, वित, लोक की ईषणाएँ त्याग दीं। मुझसे किसी भी प्राणी को भय न हो।'

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्।[2]

जीवन के चतुर्थ भाग में मनुष्य सर्वसंग परित्याग कर संन्यास आश्रम का अनुष्ठान करे। मनु के इस आदेश में समाज के कल्याण की एक अत्यंत उत्तम व्यवस्था निहित है। संन्यासी मोक्ष मार्ग का पथिक है। उसके लिए परम त्याग-तपस्यामय जीवन का विधान है—

आसन्नमुसले भैक्ष्यं अस्तेयं शौचमेवच॥
अप्रमादोऽव्यवायश्च दया भूतेषु च क्षमा।
अक्रोधो गुरु शुश्रूषा सत्यं च दशमं स्मृतम्॥[3]

संन्यासी भिक्षा मांग कर जीवन यापन करे। चोरी न करे। बाह्य और आभ्यंतर शौच का पालन करे। प्रमाद न करे। ब्रह्मचर्य का पालन करे।

---

१. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, १९७१, पृष्ठ ६०७—६०८

२. मनुसंहिता ६।३३

३. वायुपुराण ८।१८४ – १८५

सभी प्राणियों पर दया करे। क्षमाशील हो। किसी पर क्रोध न करे। गुरु की सेवा-शुश्रूषा करे और सत्य का पालन करे। ये १० धर्म हैं संन्यासी के।

संन्यासी त्याग और तपस्या का मूर्तिमान प्रतीक होता है। संयम, सदाचार और पावित्र्य उसका स्वरूप है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाच मनःपूतं समाचरेत्॥[1]
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचनं।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥[2]

'मार्ग को देखकर पर रख। वस्त्र से छानकर जल पिये। सत्यवचन बोले और पवित्र मन से कार्य करे। अपमानकारी वचन को शांतिपूर्वक सहन कर ले। किसी का अपमान न करे। क्षणभंगुर शरीर से किसी के प्रति वैरभाव न रखें।' मुक्ति उसका लक्ष्य है। उसका साधन है इंद्रिय-संयम, राग-द्वेष निवारण और अहिंसा—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेष क्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।[3]

ऐसे रागद्वेषशून्य संन्यासी जिस समाज में परिव्राजक जीवन बिताते हों, उसके गौरव की किससे तुलना हो सकती है? भारत की यह आश्रम व्यवस्था विश्व में अद्वितीय है।

संन्यासी के धर्म एवं कर्त्तव्यों की गुरुता कालक्रम में पूर्ववत् नहीं रही है, किंतु वह वृत्ति, वह भावना तो सदैव ही कल्याणकारिणी बनी रहेगी। विनोबा कहते हैं—

'संन्यास के लिए मेरे मन में बहुत आदर है, लेकिन गेरुआ पहनना आदि जो संन्यासी का बाह्य वेष है, उसे मैं महत्त्व नहीं देता। संन्यास का अर्थ है—जीवन के मालिक हम नहीं, भगवान हैं। उनकी सेवा में हमारा सब अहंकार समर्पित हो। मैंने देखा है कि गेरुआ वस्त्र से अहंकार समर्पित होने के बजाय दृढ़ बनता है। समाज के सेवक बनने के बजाय हम समाज की सेवा पाने के अधिकारी बन जाते हैं। इसलिए मेरी सिफारिश है कि समाज सेवक का बाह्य वेष सादा हो और अंतर में संन्यास की भावना उत्तरोत्तर दृढ़ बने।'[4]

१. मनुसंहिता ६।४६
२. मनुसंहिता ६।४७
३. मनुसंहिता ६।६०
४. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृष्ठ-२८१

अन्य धर्म वर्ण धर्म, आश्रम धर्म के अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मों का भी प्राचीन धर्मग्रंथों में वर्णन मिलता है। जैसे, कुल धर्म, काल धर्म, राज धर्म, देश धर्म, आपद् धर्म, स्वधर्म आदि।

कुल धर्म : प्रत्येक परिवार का कोई-न-कोई कुल धर्म होता है। कुल का अपना विशिष्ट धर्म होता है। कुल धर्म में पंच महायज्ञों के, यज्ञशिष्ट भोजन करने के[1], परिवार के सदस्यों के प्रति प्रेम और सद्भावपूर्ण व्यवहार करने के तथा कुटुम्ब-परिवार के पालन-पोषण आदि के अनेक आचार और नियम होते हैं। तुलसी रामायण में आता है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहुँ बरु बचन न जाई॥

महाराजा दशरथ प्राणों का त्याग कर देते हैं, परंतु सत्य का परित्याग करने की कल्पना भी नहीं करते—

तन तिय तनय धाम धन धरनी।
सत्य संध कहँ तृन सम बरनी॥

काल धर्म : भारतीय समाज गतिशील समाज रहा है। समय के अनुकूल उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। डाक्टर राधाकृष्णन कहते हैं कि 'हिंदू धर्म हमारे सम्मुख नियमों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और यह अनुमति देता है कि उसमें निरंतर परिवर्तन किया जा सकता है। धर्म के नियम अमर विचारों के मरणशील शरीर की भाँति हैं और इसलिए परिवर्तन किये जा सकते हैं।'[2]

प्रत्येक काल और युग की अपनी भिन्न स्थिति होती है। एक स्थिति में बने नियम दूसरी स्थिति में व्यवहार्य नहीं रहते। जिस समाज में युगानुकूल सामंजस्य का विधान नहीं रहता, वह समाज अधिक समय तक टिक नहीं सकता! हिंदू धर्मशास्त्रों और स्मृतियों आदि की व्याख्याओं से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढाल लेने की उदारता थी। बाद में जब यह उदारता संकुचित हो गयी, तभी समाज में विघटन के तत्त्वों का प्राबल्य होने लगा।

---

१. गीता ३।१३
२. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृष्ठ १२९

राजधर्म : रामायण में भरत जब राम से पूछते हैं कि 'पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर मुझे यदि राज्य का भार सम्हालना है, तो मुझे समझाइये कि राजधर्म है क्या ?' राम उत्तर देते हैं—

"मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक ।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक ।।"
"राज धरम सरबसु एतनोई ।
जिमि मन माँह मनोरथ गोई ।।"

राजा होता है मुखिया । शरीर में जिस प्रकार मुख है, उसी प्रकार मुखिया होना चाहिए । खाने-पीने के लिए मुख अकेला रहता है, परंतु वह विवेकपूर्वक सारे अंगों का पालन-पोषण करता है । राजधर्म का सार सर्वस्व इतना ही है । मन में जिस प्रकार मनोरथ छिपा रहता है, उसी प्रकार इतने से सूत्र में राजधर्म का मूल सार छिपा है ।

प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो, सभी नागरिकों का भली-भाँति पालन-पोषण हो, सबका सर्वांगीण विकास हो, इस तथ्य को ध्यान में रखकर राज्य-व्यवस्था का विवेकपूर्वक संचालन करना ही राजधर्म है ।

मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राजधर्म का विस्तार से विवेचन किया गया है । देशकाल के अनुरूप उसे नाना प्रकार के स्वरूप धारण करने पड़ते हैं—

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिश्च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्म्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ।।[1]

राजा का धर्म है शासन करना, परंतु उसके लिए उसे जितेन्द्रिय होना परम आवश्यक है, तभी वह प्रजा को वश में रख सकेगा—

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।।[2]

देशधर्म : देश और काल के भी अपने विशिष्ट धर्म होते हैं । शास्त्रकारों ने उन धर्मों के परिपालन पर भी बल दिया है । एक स्थिति में देश-काल के अनुरूप जो वस्तु धर्म प्रतीत होती है, भिन्न देश-काल में वही अधर्म प्रतीत होती है ।[3] महाभारत के शांतिपर्व में नाना प्रकार के उपदेश दिये

---

१. मनु संहिता ७।१०
२. मनुसंहिता ७।४४
३. पी० एन० प्रभु : हिंदू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ७४

गये हैं, उनमें यह बात स्वीकार की गयी है कि देश और काल की भिन्नता से धर्म के स्वरूप में भी भिन्नता हो सकती है।

आपद्धर्म : सामान्य स्थिति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के नियम आपद्काल में अनिवार्य नहीं रहते। उश समय के लिए धर्मशास्त्रकारों ने कुछ अपवाद भी स्वीकार किये हैं। विश्वामित्र आदि के ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं कि आपद्धर्म में मर्यादाओं का उल्लंघन भी क्षंतव्य है।

स्वधर्म : स्वधर्म का परिपालन तो प्रत्येक स्थिति में करने का आदेश है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'—'परधर्मो भयावहः' कहकर गीता ने एक उज्ज्वल परंपरा स्थापित की है। लोभ, लालच और भय के कारण, मृत्यु का संकट सामने देखकर भी स्वधर्म पर दृढ़ रहना वांछनीय है।

'धर्मो रक्षति रक्षतः' : धर्म की हम रक्षा करें तो धर्म हमारी रक्षा करता है। यह उक्ति धर्म का प्राण है। भारतीय जीवन धर्म दृढ़ आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। गोखले ने ठीक ही लिखा है कि 'यदि ऐसी कोई अवधारणा है जो भारतीय विचारधारा में युगों से रममाण है और जिसने अधिकांश जनता की बिचार-पद्धति तथा व्यवहारों को स्थायी रूप से प्रभावित किया है तो वह 'धर्म' ही है। इस शब्द का अर्थ इतना व्यापक है कि उसमें मानवीय क्रियाओं के सभी स्वरूपों का निर्धारण एवं मूल्यांकन का समावेश हो जाता है।'[१]

बौद्ध और जैन विचारधारा : भारतीय ऋषियों की आस्तिक विचार-धारा में जब यज्ञों का बाहुल्य हुआ तो करुणा से द्रवित होकर भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने अहिंसा पर सर्वाधिक बल देकर पशुबलि आदि का विरोध किया। जैन और बौद्ध विचारधाराओं ने भारत के सामाजिक जीवन को कुछ अंशों में निश्चय ही प्रभावित किया। परंतु कालांतर में बौद्ध धर्म भारत से निकलकर सिंहल, ब्रह्मदेश, स्वर्णद्वीप, जापान, चीन, तिब्बत आदि में विकसित हुआ, भारत में उसका विशेष प्रभाव नहीं जम सका। अहिंसा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन में तथा तपस्या की परंपरा में जैन धर्म ने परम पवित्र परिपाटियाँ स्थापित कीं परंतु उनका आचरण सामान्य मानव के लिए कठिन होने से जैन धर्म का भी विशेष विस्तार न हो सका। मांसाहार-निषेध में जैन धर्म की अनूठी देन स्तुत्य है। जैन मुनियों की त्याग और

१. वी० जी० गोखले : इण्डियन थॉट थ्रू दि एजेज, पृष्ठ-२४

तपस्यामयी साधना ने भी भारतीय जीवन को कुछ अंशों में प्रभावित किया, परंतु वैदिक धर्म की शताब्दियों की परंपरा, वर्णाश्रम की समाज-व्यवस्था भारतीय समाज पर अपना प्राधान्य बनाये ही रही। चार्वाक-जैसे नास्तिकों की विचारधारा, 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'—जैसे उनके भोग-प्रधान उपदेश भारतीय समाज में गहरी जड़ नहीं जमा सके।[1]

कालांतर में जब भारत में मुसलिम शासकों और उनके उपरांत अंग्रेजों ने अपने पैर फैलाये तब से भारत के सामाजिक जीवन में विघटन विशेष रूप से बढ़ने लगा। उनके पहले तक भारत में धर्म का शासन अविच्छिन्न गति से लोकमानस को प्रभावित और नियंत्रित करता था।

पुरुषार्थ का पहला अंग है धर्म और दूसरा अंग है—अर्थ। यह 'अर्थ' शब्द रुपया-पैसा, धन-संपत्ति के सीमित अर्थ में ही नहीं आता, भारत में 'अर्थ' शब्द अत्यंत व्यापक रूप में लिया गया है। अर्थ में श्री भी है, संपत्ति भी, वित्त भी है, धन भी। सुख-समृद्धि का द्योतक है अर्थ। पृथ्वी से, कृषि से, गौ से अर्थ की प्राप्त होती है। वेदों में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख मिलता है। ऋषि कहता है—

अर्थ

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥[2]

अनेक धर्मों तथा अनेक भाषाओं वाले मनुष्यों को धारण करनेवाली पृथ्वी अडिग धेनु के समान मेरे लिए धन की सहस्रों धाराओं का दोहन करे।

धर्मैतत्ते पुरीष तेन वर्धस्व चा चप्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥[3]

हे धर्म! यह तुम्हारा पुष्टिकारक अन्न है। उसके द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त हो। तुम्हारी कृपा से हम भी वृद्धि को प्राप्त होते हुए पुष्ट हों।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥[4]

हे अवध्य सुंदर भाग्यवती धेनु, तू तृण चरकर जीवित रहती है। तू हमें भी भाग्यशाली बना। तू घास चरती हुई निर्मल जल पी।

---

१. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : इंडियन फिलॉसफी, भाग १, अध्याय ६।
२ अथर्ववेद १२। १। ४५
३. यजुर्वेद ३८। २१
४. ऋग्वेद १। १६४।४०

पुण्य मार्ग का आदेश : धन की चंलल गति की ओर भी वैदिक ऋषियों का ध्यान था। 'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय ?' वे कहता है—

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः।[१]

रथ के चक्र की भाँति धन—रायः—इधर-से-उधर घूमता रहता है।

इस तथ्य को समझते हुए वैदिक ऋषियों ने पुण्य की कमाई पर सर्वाधिक बल दिया—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।[२]

पुण्य की कमाई मेरे घर की शोभा बढ़ाये। पाप की कमाई मैंने नष्ट कर दी है।

भौतिक संपत्ति से सच्चा सुख नहीं मिल सकता। इस तथ्य को ऋषियों ने भली प्रकार हृदयंगम कर लिया था। मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से पूछा—

यन्तु न इयं भगोःसर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति। 'पृथ्वी भर वित्त प्राप्त हो जाने से मुझे सच्चा सुख मिल जायेगा क्या ? मुक्ति मिल जायेगी क्या ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, धन से सच्चा सुख नहीं मिल सकता—

अमृतत्वस्य नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन।[३]

इसीलिए धन का लालच न करने का वेद में आदेश दिया गया है—

मागृधः कस्य स्विद्धनम्।[४] लालच न करो। धन किसका है ?

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।[५] सौ हाथों से कमाओ, हजार हाथों से बाँटो।

लोभ की वृत्ति मानव के पतन का कारण बनती है। इसीलिए आदेश है कि धन का उपार्जन तो करना है, पर धर्मानुकूल मार्ग से ही। धन के संचय के लिए धन एकत्र करना बुरा है। यह लोभ मानव से नाना प्रकार की हिंसाएँ कराता है। महाभारत में कहा है कि द्रोह से प्राप्त धन अहितकर होता है—

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम्।
द्रुह्यतः प्रीति तत्प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम्॥

---

१. ऋग्वेद १०।११७।५
२. अथर्ववेद ७।११३।४
३. बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।२
४. यजुर्वेद ४०।१
५. अथर्ववेद ३।२४।५

धन के पीछे पड़े रहनेवाले व्यक्तियों में साधुत्व दुर्लभ है। कारण, ऐसा कहा जाता है कि दूसरों से द्रोह करनेवालों को ही धन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से उपलब्ध धन निश्चय ही अकल्याणकारी होता है।

अर्थ से अनर्थ : भागवत में अर्थ से होनेवाले १५ अनर्थ इस प्रकार बताये हैं—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः सस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्माद् अनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

'चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, अहंकार, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लंपटता, जुआ और शराब। श्रेयार्थी अर्थ के इन अनर्थों को दूर से ही त्याग दे।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के सामाजिक जीवन में अर्थ का कितना महत्त्व था। जीवन के अनिवार्य व्यापारों के लिए उसकी उपयोगिता स्वीकार की गयी है, परंतु मानव को अर्थ के अनर्थों से सावधान रहने के लिए सतत चेतावनी दी गयी है।

अर्थासक्ति का निषेध : अर्थ जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना धर्म, परंतु अर्थ की आसक्ति वांछनीय नहीं, क्योंकि वह मनुष्य को पतन की दिशा में ले जाती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थ का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति का तथा दान आदि कर्त्तव्यों के पालन का आधार है। उसने राजा को इस बात का आदेश दिया है कि जो लोग सामाजिक ऋणों को चुकाये बिना घर-परिवार त्याग कर बाहर निकल जाते हैं, उन्हें दंड दिया जाय। उन्हें ग्रामों और नगरों में प्रवेश न करने दिया जाय। कौटिल्य ने धन, संपत्ति, कर तथा व्यापार-वाणिज्य आदि नाना विषयों के संबंध में, विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के संबंध में अनेक नियम बनाये हैं।

बृहस्पति अर्थशास्त्र, कयंदकी नीतिसार, शुक्र नीतिसार, पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि अनेक ग्रंथों में अर्थ-संबंधी विचार मिलते हैं।

कृषि, वाणिज्य, गोपालन आदि व्यवसायों द्वारा भारतीय समाज में अर्थ-व्यवस्था विकसित हुई। प्राचीन युग भारत की समृद्धि का युग रहा है। वैदिक ऋषियों ने अर्थ को पुरुषार्थ का अंग बनाकर उसे धर्म के साथ संलग्न

कर दिया था। अर्थ के सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनों के उदाहरण दे कर इस बात पर सर्वाधिक बल दिया जाता था कि अर्थ अनर्थों से दूर रहे। फिर भी समाज में क्रमशः अर्थ का बाहुल्य एवं महत्त्व बढ़ने लगा। तब 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते'-जैसी स्थिति पनपने लगी और पूँजीवाद की जड़ें गहरी होने लगीं। सामाजिक विघटन के लिए उसने पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

काम

काम पुरुषार्थ का तीसरा अंग है। काम का अर्थ है आनंद, प्रेम और सुख। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'[१]। मैं धर्मानुकूल चलनेवाले प्राणियों में 'काम' हूं।'

काम ठहरा प्रेम का देवता। सौंदर्य का देवता। मानव अपने जीवन में प्रेम, सुख, आनंद के लिए लालायित रहता है। भारत के सामाजिक जीवन में काम-वासना की तृप्ति के लिए विवाह-संस्था की रचना की गयी। विवाह का उद्देश्य माना गया—धर्माचरण, प्रजोत्पत्ति और रति। पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए संतानोत्पादन एक पवित्र कर्त्तव्य माना गया। विवाह के, सप्तपदी के मंत्रों में इस तथ्य की पुष्टि के प्रमाण मिलते हैं। परंतु भारतीय वाङ्मय में 'काम' का यह संकुचित अर्थ है ही नहीं। काम का व्यापक अर्थ है—कामना, किसी भी प्रकार की कामना। परंतु पुरुषार्थ के अंतर्गत आनेवाली कामना वही हो सकती है जो जीवन के अंतिम लक्ष्य—मोक्ष—की प्राप्ति में सहायक हो।

काम से केवल यौन-वासना की तृप्ति अभिप्रेत नहीं है। काम के अंतर्गत सौंदर्य-बोध करानेवाली समग्र कला--संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, वास्तुकला आती है। उसमें सरिता की कलकल ध्वनि, कोयल की सुमधुर कूक, सागर की गुरु गंभीर गर्जना, पर्वत की हिमाच्छादित चोटियाँ, ऊषा की मधुर लालिमा, निशाकर की शुभ्र चंद्रिका, मयूरों का पर फैलाकर नर्तन, हँसते हुए पुष्प, खिलखिलाते हुए बालक, गाते हुए ग्वाले—आदि सभी मनोहर दृश्य आ जाते हैं। विभिन्न इंद्रियों को जिन सौंदर्य प्रतीकों से आनंद की उपलब्धि होती है, वे सभी काम की परिभाषा में समाविष्ट हो जाते हैं। काम वासना के उदात्तीकरण के लिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि इंद्रियों को विषय-भोग से बचाकर सौंदर्य-बोध के निर्मल और स्वच्छ साधनों में लगाया जाय।

---

१. गीता ७/११

विवाह में पावित्र्य : महात्मा गाँधी ने विवाह की मर्यादा पर लिखते हुए कहा था कि 'हिंदूशास्त्रों में पुत्रोत्पत्ति पर अवश्य जोर दिया गया है। यह उस काल के लिए ठीक था, जब समाज में शस्त्रयुद्ध को अनिवार्य स्थान मिला हुआ था और पुरुष वर्ग की बड़ी आवश्यकता थी। इसी कारण से एक से अधिक पत्नियों की भी इजाजत थी और अधिक पुत्रों से अधिक बल माना जाता था। धार्मिक दृष्टि से देखें तो एक ही संतति 'धर्मज' या 'धर्मजा' है। मैं पुत्र और पुत्री के बीच भेद नहीं करता हूं। दोनों एक समान स्वागत के योग्य हैं।··संतानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संयोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संयोग त्याज्य है। उसे निंद्य मानने की आवश्यकता नहीं।'[1] एक अखंड कौमार्य की इच्छा रखनेवाली सेविका ने योग्य साथी मिलने पर विवाह कर लिया, पर बाद में उसे लगा कि उसने विवाह करके अच्छा नहीं किया। उसे समझाते हुए गाँधीजी ने लिखा—'अगर कोइ बहन अखंड कमारिका रह सकती है, तो वह अच्छा ही है, लेकिन ऐसा तो लाखों में कुछ ही बहन कर सकती हैं। विवाह करना स्वाभाविक है। उसमें शर्म की कोई बात नहीं हो सकती। विवाह को पतन मानने का मन पर बुरा असर पड़ता है और गिरने के बाद उठना प्रयत्न की बात हो जाती है। अक्सर प्रयत्न निष्फल भी जाता है। इससे बेहतर तो यह है कि विवाह को धर्म समझा जाय और उसमें संयम का पालन किया जाय। गृहस्थाश्रम भी चार आश्रमों में से एक है। बाकी तीनों आश्रम उसी पर टिके हुए हैं। लेकिन आजकल विवाह भोग-विलास का ही साधन बन गया है, इसलिए उसके परिणाम भी विपरीत हुए हैं। वाणप्रस्थ तथा संन्यास तो नाममात्र को ही रह गए हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम भी नहींवत् हो गया है।'[2] 'आम तौर पर बहनों को मातृधर्म की शिक्षा नहीं मिलती, लेकिन अगर गृहस्थ जीवन धर्म है तो मातृ-जीवन तो धर्म है ही। माता का धर्म एक कठिन धर्म है। इसलिए पति-पत्नी को संयम में रहकर संतान पैदा करनी चाहिए। माता को यह जान लेना चाहिए कि गर्भधारण के समय से उसका क्या-क्या कर्त्तव्य हो जाता है। जो स्त्री देश को तेजस्वी, आरोग्यवान और सुशिक्षित संतान भेंट करती है, वह भी देश की सेवा ही करती है।'[3]

---

१. मो० क० गांधी : संयम और संतति नियमन, १९६२, पृष्ठ १८७-१९०

२. वही पृ० १९९

३. वही, पृष्ट १९९, २००

भारत में काम को ६४ कलाओं द्वारा उदात्तीकरण की दिशा में ले जाकर जैसा उत्तम प्रयोग किया गया और विवाह की संस्था के साथ उसे पवित्र बनाने की परिपाटी स्थापित की गयी वह समाज के नियमन की एक अत्यंत उत्तम व्यवस्था थी।

मोक्ष है भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य। जीवन-मरण के बंधन से सदा के लिए मुक्ति का नाम है मोक्ष। मुक्ति, निवृत्ति, निर्वाण, अपवर्ग आदि सभी शब्द एक ही अर्थ व्यक्त करते हैं—मायाजाल से सर्वथा छुटकारा पाकर जीवन के चरम आनंद की प्राप्ति। दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। वैदिकों ने उसके लिए 'ब्रह्मनिर्वाण' शब्द का प्रयोग किया, बौद्धों ने 'निब्बान' (निर्वाण) का। विनोबा ने 'स्थितप्रज्ञ दर्शन' में उसका विवेचन करते हुए कहा है कि 'बौद्धों ने निषेधक शब्द पसंद किया है। मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह

मोक्ष

शून्य हो जाय, इसलिए बौद्धों ने अकेला 'निर्वाण' शब्द ही लिया है! किंतु वैदिकों ने 'ब्रह्मनिर्वाण,' इस विधायक शब्द को पसंद किया। वैदिकों को लगा कि मोक्ष को अभावरूप कहने की अपेक्षा भावरूप कहना उचित है। हम 'नष्ट हो गए,' 'शून्य हो गए' कहने की अपेक्षा 'हम व्यापक हो गये,' 'हम ब्रह्म हो गये' कहना अधिक अच्छा लगा। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं कि 'मिट गए' कहने से घबराते क्यों हो?' जरा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। 'मैं अनंत होऊँगा', 'व्यापक होऊंगा,' 'सर्वमय होऊँगा'—इसमें अस्तित्व का जो मोह है, उसे छोड़ दो।" इस पर वैदिक कहते हैं—'यहाँ डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें? नाना प्रकार की साधना करके सब कुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फलत्याग से धर्म को आत्मसात् किया। ईश्वरार्पण के द्वारा फलत्याग को उड़ाया। अंत में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया। अब वह मैं ही मिटने-वाला हूँ, यह कैसे मानूँ? सब वस्तुओं का निराकरण करने पर शेष बचने-वाला जो मैं हूँ, वही व्यापक हो गया है, ब्रह्ममय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है।' जहाँ शब्द ही समाप्त हो जाते हैं, वहाँ शब्दों के लिए झगड़ा ही क्यों? गीता की भाषा में मैं तो कहूँगा—'एकं ब्रह्मं च शून्यं च यः पश्यंति स पश्यति'। जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है, वही देखता है।'

मुक्ति का अर्थ

मुक्ति का अर्थ है—छुटकारा। 'मुंचंति पृथग्भवंति जना यस्यां सा मुक्तिः।' छुटकारा पाना है दुःख से, कर्मों के बंधन से।

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्तते इति।[1]

दुःख का आत्यंतिक विमोक्ष ही अपवर्ग माना गया है—तदत्यन्त विमोक्षो उपवर्गः।

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद-पगवर्गः॥[2]

जब मिथ्या ज्ञान, अविद्या, लोभ आदि दोष, विषय, दुष्ट व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तरोत्तर विलय हो जाय तो उसका नाम है मोक्ष।

योगशास्त्र में पंचक्लेश माने गये हैं —

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभि निवेशाः क्लेशाः।[3]

क्लेश और कर्म

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश मानव को सतत दुःखी बनाते रहते हैं। अविद्या है मूल बीजरूप अज्ञान। 'अनित्याशुचि दुखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।'[4] अनित्य, क्षणभंगुर पदार्थों को नित्य, अखंड और अविनाशी मानना; अपवित्र को पवित्र मानना; दुःख को सुख मानना और अनात्मा में, जड़ शरीर में आत्मबुद्धि रखना ही अविद्या है। अस्मिता है दृष्टा और दर्शन शक्ति का एक-सा लगना—'दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवा-स्मिता'।[5] 'दृष्टा, ज्ञाता, आत्मपुरुष और दर्शनशक्ति, मन और ५ ज्ञानेन्द्रियां—दोनों सर्वथा भिन्न हैं, फिर भी दोनों एक-से लगे'—इसका नाम है अस्मिता। राग है—सुख देनेवाले पदार्थों में प्रीति—'सुखानुशयी रागः'।[6] द्वेष है—दुःख देनेवाले पदार्थों से अरुचि, क्रोध। 'दुःखानुशयी द्वेषः'।[7] अभि-निवेश है— जीवन की तृष्णा। 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभि-

---

१, छांदोग्य उपनिषद् ८/१५
२. न्यायसूत्र १।२२।२
३. पातंजल योग दर्शन २/३
४. वही २/५
५. वही २/६
६. वही २/७
७. वही २/८

निवेशः'।[१] स्वभाव से संस्कार में प्रत्येक प्राणी में यह जिजीविषा बनी रहती है। अज्ञानियों की भाँति ज्ञानियों में भी यह इच्छा पायी जाती है। ये सभी क्लेश न्यूनाधिक मात्रा में प्राणि मात्र को क्लेश पहुँचाते हैं। क्लेशों का मूल है—कर्म।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः।[२]

कर्मों का फल इस जन्म में तथा अगले जन्मों में भोगना पड़ता है। कर्म और पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत भारत के सामाजिक जीवन में आदि-काल से ओत-प्रोत है। वैदिक विचारधारा में तो उसका प्राधान्य है ही, जैन और बौद्ध विचारधाराओं में भी उसकी पूर्ण मान्यता

कर्म सिद्धांत है। कर्म के सिद्धांत का भारत के सामाजिक जीवन पर जो स्थायी, गहरा और व्यापक प्रभाव है, उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। शिक्षित और अशिक्षित, ज्ञानी और अज्ञानी—सभी कर्म की महत्ता स्वीकार करते हैं। वेद और उपनिषद, गीता और रामायण, धम्मपद और तत्वार्थसूत्र, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र सबमें कर्म सिद्धांत को मान्य किया गया है। मनीषी तो मनीषी, देहात का वज्र देहाती भी तुलसीदास जी की चौपाई गुनगुनाता रहता है—

करम प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

वैदिक सिद्धांत

वेद में कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[३]

इस लोक में सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले तेरे लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे (अशुभ) कर्म का लेप न हो।

उपनिषद में कहा है—[४]

---

१. वही २/६
२. वही २/१२
३. शुकल यजुर्वेद संहिता ४०/२
४. तैत्तिरीय उपनिषद १/११/१.२

कुशलान्त प्रमदितव्यम् । कुशल (आत्मरक्षा में उपयोगी) कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

भूत्यै न प्रमदितव्यम् । कल्याणकारी कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।

गुरुजनों के शुभ कर्मों की ही उपासना करनी चाहिए । अन्य कर्मों की नहीं ।

गीता में कहा है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।[1]

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान लोग भी मोहित हैं ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीर यात्रापि च ते न सिद्धयेत् अकर्मणः ।।[2]

तेरे लिए जो कर्म निश्चित है, तेरा जो स्वधर्मरूप कर्म है, उसे कर । कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है । कर्म नहीं करेगा तो तेरी शरीर-यात्रा भी ठीक से न चल सकेगी ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।[3]

तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं । तू कर्मों के फल की भी वासना न रख और न अकर्मण्य बन कर ही बैठा रह ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।[4]

देहधारी कर्म को पूर्णतः त्याग दे, यह अशक्य है । जो व्यक्ति कर्मों के फल का त्याग कर देता है, उसी को त्यागी कहा जाता है ।

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हिमहाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।[5]

हे महाबाहो अर्जुन, जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही माना जाने योग्य

---

१. गीता ४/१६
२. गीता ३/८
३. गीता २/४७
४. गीता १८/११
५. गीता ५/३

है, क्योंकि राग-द्वेष आदि द्वंद्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार बंधन से मुक्त हो जाता है।

जैन सिद्धांत :

तत्वार्थ सूत्र में कहा है—

कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।[1]

सभी कर्मों के क्षय का नाम है—मोक्ष।

बौद्ध सिद्धांत :

धम्मपद में कहा है—

न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ।।[2]

उस कर्म का करना ठीक नहीं, जिसके करने पर पश्चात्ताप हो और जिसका फल आँसू बहाते हुए भोगना पड़े।

तं च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं परिसेवति ।।[3]

वही कर्म करना उचित है जिसके करने पर मनुष्य को पश्चात्ताप नहीं होता तथा जिसका फल निःशंक और प्रसन्न चित्त से भोगता है।

सव्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।।[4]

कायिक, वाचिक, मानसिक सभी पाप-कर्मों का न करना—सभी कुशल कर्मों का करना और अपने चित्त का शोधन करते रहना—यही है बुद्धों की शिक्षा।

यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।[5]

जिसने काया, वाणी और मन से कभी कोई दुष्कृत्य नहीं किया है, जो इन तीनों कर्मपथों में संवृत है, सुरक्षित है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ।

वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मों में कर्म के संबंध में ये जो आदेश दिए गए हैं, उनके आधार पर कर्म की अवधारणा की जा सकती है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १०/३
२-३. विनोबा : धम्मपद नव संहिता, १९७२, पृष्ठ ३६
४. वही, पृष्ठ १०६
५. वही, पृष्ठ १३८

कर्म की अवधारणा

'कर्म' शब्द अत्यंत व्यापक है। 'कृ' धातु से 'कर्म' शब्द निकला है। 'कृ' का अर्थ होता है करना। जो भी कार्य किया जाय वह 'कर्म' के अंतर्गत आता है। मानव द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया कर्म बन जाती है। छोटी-से-छोटी क्रिया से लेकर बड़ी-से-बड़ी क्रिया का कर्म की अवधारणा में समावेश होता है।

मनुष्य चाहे भी तो भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। कर्म के बिना शरीरयात्रा ही न चल सकेगी। अतः उसे शास्त्रों ने परामर्श दिया है कि तू अनासक्त होकर कर्म कर। कर्त्तव्य समझकर कर्म करता चल। फल की आसक्ति रख ही मत। 'मैं कुछ नहीं करता'—इस भावना से कर्म करने से मनुष्य सब कुछ करता हुआ भी कर्म के फल से, पाप-पुण्य से मुक्त रहता है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत् तत्ववित्।
पश्यं श्रण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इतिधारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥[1]

जल में कमलवत् रहने की यह स्थिति कर्मक्षय अथवा मोक्ष की स्थिति है।

कर्म के भेद

कर्म के अनेक भेद किये गये हैं। कोई किसी दृष्टि से, कोई किसी दृष्टि से। भरद्वाज कृत कर्ममीमांसा दर्शन में बताया गया है कि महान कर्मशक्ति तीन रूप धारण कर सृष्टि कार्य चलाती है—
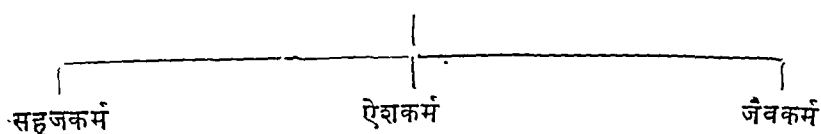
सहज कर्म से ब्रह्माण्ड का जड़मय गोलक बनता है। उसके द्वारा उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुजरूप चतुर्विध भूतसंघ कर सृष्टि-प्रवाह बहता है। यह सहज रूप से होनेवाला कर्म है—सहज कर्म।

---

१. गीता ५।८-१०

सुर और असुर अपने पदों पर प्रतिष्ठित रहकर दैवकर्म संपन्न करते रहते हैं। यह हुआ ऐश कर्म।

जैव कर्म है—जीव का कर्म। मानव पिण्ड में प्रकट होकर मानव के अभ्युदय एव निःश्रेयस की प्राप्ति का, सुख-दुःख का कारण बनकर आवागमन के चक्र में घुमानेवाला कर्म है—जैव कर्म।

धर्म की दृष्टि से कर्म के दो भेद किये जाते हैं—
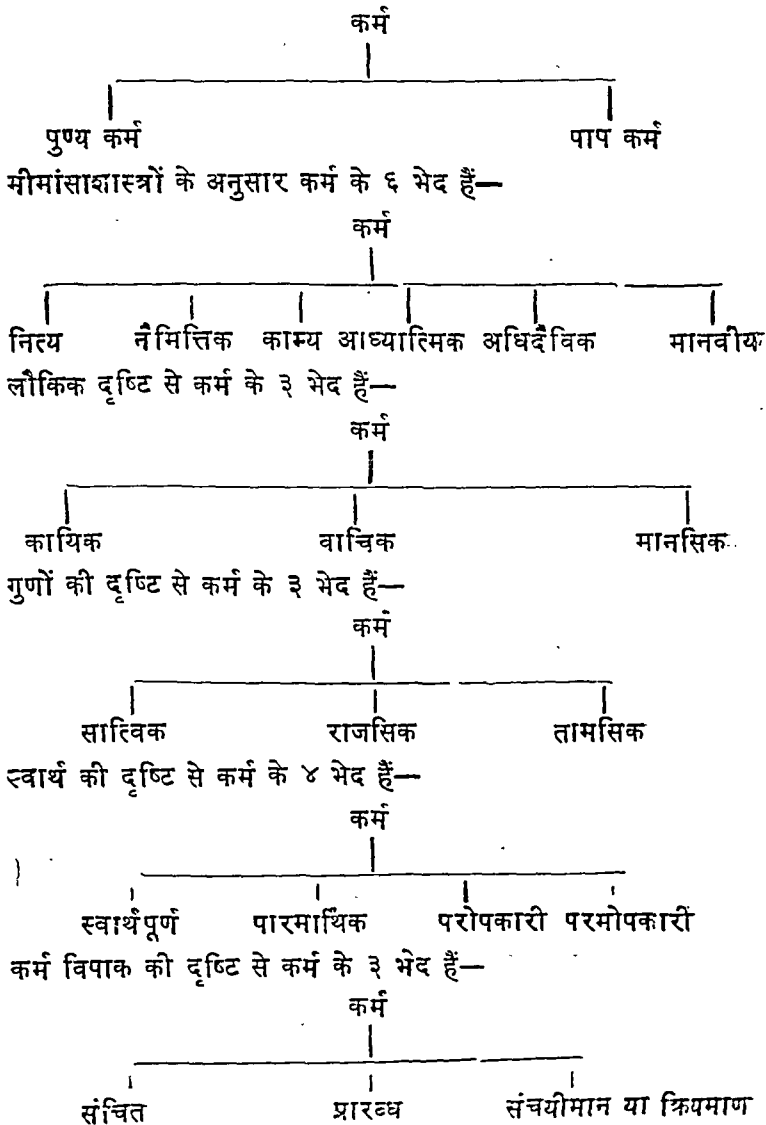
संचित कर्म और प्रारब्ध कर्म पूर्व संचित कर्म हैं, संचयीमान कर्म वर्तमान कर्म हैं। जिनका फल भोगना प्रारंभ हो गया, वे हैं प्रारब्ध कर्म। जिनका फल भोगना अभी प्रारंभ नहीं हुआ, वे हैं संचित कर्म। क्रियमाण कर्म वे कर्म हैं जिन्हें अभी किया जा रहा है।

गीता की दृष्टि से कर्म के स्वरूपानुसार ३ भेद हैं—
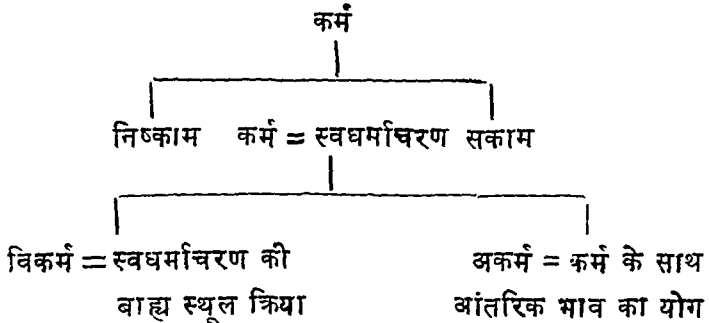
कर्म और पुनर्जन्म पुनर्जन्म का सिद्धांत कर्म सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। ऐसा माना गया है कि जबतक मनुष्य के कर्मों का क्षय नहीं होगा, तबतक उसे अपने संचित कर्मों का भोग करने के लिए आवागमन के चक्र में फँसे रहना पड़ेगा। कर्मफल में अनासक्त रहकर ही वह मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

मुक्त पुरुष का स्वरूप गीता ने स्थितप्रज्ञ, गुणातीत और भक्त के रूप में मुक्त पुरुष का स्वरूप अंकित किया है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—चाहे जिस मार्ग से साधना की जाय, सबसे निष्पत्ति एक ही निकलती है—कामनाओं का क्षय। वासनाओं की समाप्ति। आसक्ति का नाश।

स्थितप्रज्ञ—गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का चित्र खड़ा किया गया है—परम भव्य, परम उत्कृष्ट। गाँधी जी ने इस चित्र का आदर्श ग्रहण करने के लिए उन्हें दैनिक प्रार्थना का अंग बनाया था। विनोबा ने 'स्थितप्रज्ञदर्शन' में १८ श्लोकों का अत्यंत सारगर्भित विवेचन किया है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितिप्रज्ञस्तदोच्यते ॥[१]
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥[२]

---

१. गीता २।५५
२. गीता २।७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥[१]

मन में उठनेवाली सभी कामनाओं को त्याग देनेवाला और आत्मा में ही संतुष्ट रहने वाला व्यक्ति है— स्थितप्रज्ञ । समस्त कामनाओं का त्याग कर निःस्पृह, निर्भय और निरहंकारी व्यक्ति ही शांति प्राप्त करता है। यही है ब्राह्मी स्थिति । इसके पा लेने पर मोह जाता रहता है और अंतकाल में ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

भक्त—गीता के १२वें अध्याय में भक्त का भव्य चित्र है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥[२]

किसी भी प्राणी से उसका द्वेष नहीं । सबका मित्र । परम करुण । ममता और अहंकार से मुक्त । दुःखसुख में समान । परम क्षमाशील ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥[३]

उसे न हर्ष होता है, न द्वेष । न वह किसी बात का सोच करता है, न किसी वस्तु की आकांक्षा । शुभ और अशुभ—दोनों का वह त्याग कर देता है । ऐसा भक्त भगवान को प्रिय है ।

गुणातीत—गीता के चौदहवें अध्याय में गुणातीत का चित्र उपस्थित किया गया है । जो स्थितप्रज्ञ सो भक्त । जो भक्त सो गुणातीत—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥[४]
मानापमानयोस्तुल्य स्तुल्यो मित्रारि पक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥[५]

प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह, सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों में वह सम रहता है । न लिप्त होता है, न दूर भागने की इच्छा करता है ।

---

१. गीता २।७२
२. गीता १२।१३
३. गीता १२।१७
४. गीता १४।२२
५. गीता १४।२५

मान और अपमान, मित्र और शत्रु सब उसके लिए समान हैं। सभी आरंभों का परित्याग कर देता है गुणातीत।

ब्राह्मण—भगवान महावीर ने मुक्त पुरुष को 'ब्राह्मण' की संज्ञा दी है। उसके लक्षण बताते हुए कहा है—

तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइतिविहेण ते वयं बूम माहणं ॥[१]
कोहा वा जइ वा हासा कोहा वा जइ वा भया।
मुस न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ॥[२]

जो यह जानता है कि कौन प्राणी त्रस है, कौन स्थावर तथा जो मन, वचन, और काया से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। वह न तो क्रोध में असत्य भाषण करता है, न हँसी-मजाक में। न प्रलोभन में पड़कर असत्याचरण करता है, न भय में पड़कर, उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं।

कुंदकुंद ने मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

णिद्दंडो णिद्द्ंद्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥[३]

जो मन, वचन और काया के दण्डों से रहित है, हर प्रकार के द्वंद्वों, संघर्षों से मुक्त है, जिसे किसी प्राणी पदार्थ की ममता नहीं, जो शरीर रहित है, किसी के सहारे नहीं है, जिसका किसी में राग नहीं, किसी से द्वेष नहीं, जिसमें मूढ़ता नहीं, भय नहीं,—वह है मुक्त आत्मा।

भगवान बुद्ध ने भी निर्लिप्त व्यक्ति को ब्राह्मण की संज्ञा दी है—

वारिपोक्खरपत्ते व आरग्गे रिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥[४]

कमल पत्र पर जिस प्रकार जल अलिप्त रहता है अथवा आरे की नोक पर सरसों का दाना, उसी प्रकार जो मनुष्य भोगों से अलिप्त रहता है—उसको मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

स्पष्ट है कि अनासक्त कर्म करते हुए, जीवन और जगत से निर्लिप्त रहते हुए पवित्र जीवन बिताना ही मोक्ष है। गाँधीजी के शब्दों में 'अपवित्र विचारों से

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २५।२३
२. वही, २५।२४
३. कुंदकुंद: नियमसार ४३
४. धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो २६।९७

सर्वथा मुक्ति का ही नाम 'मोक्ष' है ।[१] भारत की सामाजिक जीवन-व्यवस्था का यही परमोज्ज्वल आदर्श रहा है ।

पुरुषार्थ, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, कर्म संगठन के प्रमुख तत्व एवं पुनर्जन्म भारत के सामाजिक संगठन के मूलाधार थे । उनके प्रमुख तत्वों का सार इस प्रकार निकाला जा सकता है—

१. सहयोग, प्रेम, सद्भाव और मैत्री सामाजिक संगठन की आधार-शिला थी ।

२. आध्यात्मिकता और नैतिक मूल्य ही सर्वोच्च माने जाते थे ।

३. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—पुरुषार्थ पर अत्यधिक बल दिया जाता था । पुरुषार्थ की योजना मानव के सर्वांगीण विकास की योजना थी ।

४. धर्म का लक्ष्य था अभ्युदय और निःश्रेयस ।

५. धर्म मानव धर्म का ही नाम था । सर्वोत्तम नैतिक मूल्य ही धर्म का आधार माने गये थे ।

६. धर्म अत्यंत व्यापक था । वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, देश धर्म, काल धर्म, आपद् धर्म, स्वधर्म आदि सब धर्म में समाविष्ट थे ।

७. वर्ण-व्यवस्था सामाजिक वर्गीकरण की, श्रम विभाजन की एक उत्तम व्यवस्था थी ।

८. वर्ण चार ही थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने धर्म थे । कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं । प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन कर जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता था ।

९. ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास,—इन चार भागों में जीवन को विभाजित कर दिया गया था । ये चार आश्रम थे ।

१०. ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याध्ययन के लिए था ।

११. गृहस्थ आश्रम सांसारिक सुख भोगने और अन्य तीन आश्रमों की सेवा करने के लिए था ।

१२. पंच महायज्ञों का प्रतिदिन परिपालन गृहस्थ का धर्म था । ऋषि-ऋण, देवऋण और पितृऋण चुकाने के लिए उसे सेवा में, यज्ञ, दान, तप में लगना पड़ता था ।

---

१. मो० क० गांधी, हरिजन (अंग्रेजी) २२।२।४२, पृष्ठ ४५।४७

१३. वाणप्रस्थ आश्रम में गार्हस्थिक सुखों से हाथ खींचकर वन में जाकर तपस्या करनी पड़ती थी।

१४. संन्यास आश्रम में सर्वस्व त्याग कर समाज की सेवा के लिए परिव्राजक बनना पड़ता था।

१५. केवल वैदिक धर्म में ही नहीं, जैन और बौद्ध धर्मों में भी नैतिक मूल्यों पर विशेष ध्यान दिया गया था।

१६. जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय जीवन में अहिंसा के विकास का कार्य विशेष तीव्रता और लगन से किया।

१७. अर्थ को सामाजिक जीवन में उत्तम स्थान मिला था। अर्थ की उत्पत्ति का साधन शुद्ध और पवित्र हो इस पर विशेष बल दिया जाता था।

१८. काम को भी पुरुपार्थ का अंग माना गया था। काम के उदात्तीकरण की प्रक्रिया यह थी कि विवाह की संस्था को पवित्रतम बनाये रखकर जीवन को ऊपर उठाया जाय। विवाह का लक्ष्य आनंदोपभोग नहीं, पितृऋण का उद्धार करके मोक्ष की दिशा में अग्रसर होना था।

१९. मोक्ष ही जीवन का अंतिम लक्ष्य माना गया था। उसका अर्थ था, कामनाओं, वासनाओं के बंधन से पूर्ण मुक्ति। जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा।

२०. कर्म सिद्धांत का अत्यधिक विकास हुआ था। कर्म तो करना ही है, परंतु निष्काम कर्म ही मोक्ष दिलायेगा, इस लक्ष्य के कारण कर्म में पावित्र्य ओतप्रोत हो गया था। निर्लिप्त कमल की भाँति जल में रहते हुए जल से अप्रभावित रहने को ही जीवन की परम साधना माना गया था।

२१. भारत के सामाजिक जीवन का आदर्श है—स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत। निष्काम कर्म करने वाले, सहृदय एवं गुणों की चपेट से अपने को मुक्त रखनेवाले व्यक्ति ही समाज का विधिवत् नियमन करके समाज के सगठन को दृढ़ बनाये रख सकते हैं।

इन सभी विशेषताओं और गुणों से संपन्न भारत का सामाजिक संगठन शताब्दियों तक अत्यंत गौरवमय पद पर प्रतिष्ठित बना रहा। आज भी उसके अवशेष उसकी पुरातन महत्ता की हलकी-सी झाँकी दिखाते रहते हैं।

'खंडहर बता रहे है इमारत बुलंद थी।'

अध्याय : ७

भारत में सामाजिक विघटन

"भारत दुनिया के उन इने-गिने देशों में है जिन्होंने अपनी अधिकांश पुरानी संस्थाओं को, यद्यपि उन पर अंधविश्वास और मूल भ्रांतियों की काई चढ़ गई है, कायम रखा है। साथ ही वह अभी तक अंधविश्वास और इस काई को दूर करने की और इस तरह अपना शुद्ध रूप प्रकट करने की अपनी सहज क्षमता भी रखता है।[1] 'भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में सबसे बड़ा हो सकता है। भारत ने आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।'[2] 'भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्तरंजित मार्ग पर नहीं है, जिस पर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है। उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवन द्वारा शांति के अहिंसक रास्ते पर चलने में ही है। भारत के सामने इस समय अपनी आत्मा को खोने का खतरा उपस्थित है और यह संभव नहीं है कि अपनी आत्मा को खोकर भी वह जीवित रह सके। इसलिए आलसी की तरह उसे लाचारी प्रकट करते हुए ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'पश्चिम की इस बाढ़ से मैं बच नहीं सकता।' अपनी और दुनिया की भलाई के लिए उस बाढ़ को रोकने योग्य शक्तिशाली तो उसे बनना ही होगा।"[3]

महात्मा गाँधी के इन थोड़े-से शब्दों में भारत के सामाजिक विघटन के कारण और पुनर्निर्माण के साधन आ गये हैं। भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों की बात इसमें आ जाती है।

---

१. मो० क० गाँधी : यंग इंडिया, (अंग्रेजी साप्ताहिक), ६ अगस्त, १९२५

२. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ ४०५

३. मो० क० गाँधी; हिंदी नवजीवन साप्ताहिक, ७ अक्टूबर १९२६

भारत के लिए हम कह सकते हैं—

भारत की स्थिति 'शानदार था भूत, भविष्यत् भी महान है।
अगर सम्हालें उसे आप जो वर्तमान है।'

भारत का भूतकाल आध्यात्मिकता और आत्मशुद्धि की नींव पर अधिष्ठित था। विश्व में उसका कोई सानी नहीं है। उसने वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ चतुष्टय और कर्म सिद्धांत के आधार पर जो सामाजिक संगठन खड़ा किया, वह शताब्दियों तक सफलतापूर्वक भारतीय समाज को एक सूत्र में ग्रथित बनाये रखने में समर्थ रहा। प्रेम, सद्भाव, सेवा, स्वार्थत्याग, कष्ट-सहन जैसे नैतिक मूल्य जिस सामाजिक संगठन के मूलाधार हों, उसकी दृढ़ता अवश्यम्भावी है। स्वार्थवाद या व्यक्तिवाद विघटन का मूल कारण होता है। भारत में जब से यह प्रवृत्ति पनपी है तभी से सामाजिक जीवन में विघटन के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। अंधविश्वासों और भ्रांतियों की काई ने तथा पश्चिम के अंधानुकरण ने विघटन की आग में घी की आहुति दी है। पर भारत में यह क्षमता है कि वह विघटन का निवारण कर पुनः पूर्ववत् जगमगा उठे।

काल प्रवाह के साथ-साथ समाज की स्थिति में भी परिवर्तन अवश्य होता चलता है। समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि आधुनिक समाजों में परिवर्तन अत्यत तीव्र गति से होते हैं। नील जे. स्मेलसर ने ('सोशियालाजी: एन इंट्रोडक्शन' में) लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक इकाइयों की सम्मिलित विशेषताओं, व्यवहारों, अंतःक्रिया के प्रतिमानों, सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन होता है। सामाजिक विकास और तकनीकी प्रयोगों की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तिगत परिवर्तन ही नहीं, सामाजिक संरचना और व्यवस्था की कार्य-पद्धति में भी परिवर्तन आने लगते हैं।

सामाजिक परिवर्तन

अनेक सामाजिक कारक सामाजिक परिवर्तन के कारण होते हैं। जैसे, भौगोलिक कारक, जैवकीय कारक, जनसंख्यात्मक कारक, प्रौद्योगिकी कारक, सांस्कृतिक कारक, मनोवैज्ञानिक कारक, आर्थिक कारक, राजनीतिक कारक, क्रान्ति, युद्ध आदि संघर्ष।

परिवर्तन के कारण

रिचर्ड बी० ग्रेग ने सामाजिक परिवर्तनों की चर्चा करते हुए लिखा है कि परिवर्तन जीवन का एक आवश्यक तत्व है। जीवन के लिए विकास

चाहिए और विकास एक प्रकार का परिवर्तन ही है। आज जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे हम पर 'विस्फोट' की भाँति प्रतिक्रिया कर रहे हैं। विशेषतः इन क्षेत्रों में उन्हें स्पष्ट देखा जा सकता है—

(१) जनसंख्या, (२) नागरीकरण, (३) संचार, (४) यातायात, (५) ज्ञान, (६) यांत्रिकी, (७) उत्पादन और मानव सेवा के लिए प्रयुक्त शक्ति, (८) विनाश के लिए प्रयुक्त शक्ति-सेना और (९) जल और वायुमण्डल का विदूषण तथा भूमि की उत्पादिका शक्ति का ह्रास।

'इन सब तीव्रगामी, गहन और व्यापक परिवर्तनों ने नाना प्रकार के उत्पात खड़े कर दिये हैं।'[1]

भारत पर प्रभाव

आज के युग में कोई भी देश, कोई भी समाज, कोई भी समुदाय एकाकी नहीं रह सकता। विश्वव्यापी परिवर्तनों की लहर एक दूसरे को प्रभावित करती ही है। भारत में जब से विदेशी आक्रमण आरंभ हुए, तब से भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता और भारतीय समाज पर परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया। सब परिवर्तन बुरे ही नहीं होते, कुछ परिवर्तन अच्छे भी होते हैं, वांछनीय भी होते हैं, पर ऐसे परिवर्तन जो समाज के संघटन की बुनियाद ही उखाड़ फेंकते हैं, वे तो सर्वनाशी ही माने जाएँगे। भारत के सामाजिक संगठन के मूल तत्वों पर जब प्रहार होने लगा, अंधविश्वास, भ्रम, विदेशी सभ्यता, संस्कृति और विदेशी मूल्य जब टकराने लगे तो भारत में सामाजिक विघटन आरंभ हो गया।

सामाजिक विघटन की प्रकृति

भारत का अतीत अत्यंत गौरवपूर्ण रहा है। यहाँ की शस्यश्यामला भूमि धनधान्य से, सोने-चाँदी और रत्न भांडार से भरी-पूरी समृद्ध और संपन्न थी। इसे 'सोने की चिड़ियाँ' कहा जाता था। विदेशों में भारत का जो वाणिज्य-व्यापार चलता था, उसके कारण विदेशों से स्वर्ण का प्रवाह भारत की ओर होता रहता था। मुसलमान आक्रमणकारी गजनी और गोरी जैसे लोग भारत का स्वर्ण भांडार लूटने के लिए ही भारत पर आक्रमण करते थे। अंग्रेजों ने भी इस लूट में खूब हाथ मारे। इन सब

---

१. रिचर्ड वी. ग्रेग: ह्वाट्स इट ऑल एवाउट एण्ड ह्वाट एम आई, १९६७ पृष्ठ ३२-३९

आक्रमणों और लूटों का परिणाम यह हुआ कि भारत जैसा विश्व का सर्वाधिक धनी और संपन्न देश विश्व का दरिद्रतम देश बन बैठा।

भारतीय धर्म पर भी आक्रमण हुआ। तलवार के बल पर भारत में असंख्य लोगों का धर्म-परिवर्तन किया गया। धन, नौकरी, पद और रमणी आदि के प्रलोभन देकर भी असंख्य लोगों का धर्म-परिवर्तन किया गया। भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति पर भी उसी प्रकार आक्रमण किया गया। राजनीतिक परिवर्तन भी कम नहीं हुए। सामाजिक रीति-रिवाज, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार, सामाजिक मूल्य आदि सब पर प्रहार होता चला आया। अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, भ्रम आदि ने भी भारत की स्थिति दयनीय बनाने में हाथ बँटाया। इन सभी कारकों ने भारत में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न कर दी।

भारतीय समस्याएँ

आज भारत का सामाजिक जीवन, वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन, सामुदायिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन नाना प्रकार के विघटनों से त्रस्त है। व्यक्ति टूट रहा है, परिवार टूट रहा है, समुदाय टूट रहा है, समाज टूट रहा है, राष्ट्र टूट रहा है। जिस ओर दृष्टि डालिये, विघटन-ही-विघटन के लक्षण दीख रहे हैं। भारत का धार्मिक जीवन, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, राजनीतिक जीवन विघटन की शृंखलाओं में बुरी भाँति जकड़ गया है। राजनीतिक स्वतंत्रता और लोकतंत्र अवश्य ही हमारे देश के लिए गौरव की वस्तु है, परंतु बाल अपराध, प्रौढ़ अपराध, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, मादक व्यसन, आत्महत्या जैसी समस्याएँ वैयक्तिक विघटन का कारण बन रही हैं। पारिवारिक स्थिति, नारी की स्थिति, विवाह और तलाक आदि की समस्याएँ पारिवारिक विघटन का कारण बन रही हैं। जातिवाद, अस्पृश्यता, सम्प्रदाय-वाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, सामाजिक कुरीतियाँ, औद्योगीकरण, नागरीकरण, राजनीतिक दल-बंदी, बेकारी, निर्धनता, भिक्षावृत्ति, भ्रष्टाचार, अपराध आदि समस्याएँ सामुदायिक और राष्ट्रीय विघटन का कारण बन रही हैं।

भारत में सामाजिक विघटन की ये अनेक समस्याएँ आज भारत के सामाजिक जीवन को विषाक्त बना रही हैं। इनकी उत्पत्ति क्यों और कैसे

विघटन के कारण

हुई, इसे जानने के लिए भारतीय इतिहास के पुराने पृष्ठों को उलटना होगा। विघटन की समस्याएँ जिस प्रकार बहुमुखी हैं, उसी प्रकार उनके कारण भी अनेक

हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि कितने ही कारणों ने मिलकर आज देश को इस विषम स्थिति में ला पटका है।

सामाजिक कारण

वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम पद्धति पर आधृत थी। उसमें समाज को श्रमविभाजन की दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त कर दिया था। साथ ही जीवन को भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा संन्यास—इन चार आश्रमों में विभाजित कर दिया था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—पुरुषार्थ की यह व्यवस्था और देव, ऋषि तथा पितृऋणों के चुकाने की व्यवस्था ने समाज में नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान दे रखा था। इस व्यवस्था ने भारतीयों के वैयक्तिक जीवन को तो सर्वांगीण विकास की ओर प्रेरित किया ही था, सामाजिक जीवन को भी उन्नत एवं समृद्ध बनाया था।

कालांतर में जब यज्ञों में बलि की प्रथा बहुत व्यापक हो उठी, कर्मकांड पर ही अधिक बल दिया जाने लगा, तो भगवान महावीर और भगवान बुद्ध जैसे महापुरुषों ने अहिंसा की सूक्ष्म विवेचना आरंभ की। उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की भावना का विरोध किया, पशु-बलि का विरोध किया और करुणा की करुण भावना समाज में जागृत की। इस बीच वर्ण-व्यवस्था भी अपने पूर्व पद से विचलित हो चुकी थी। वर्ण धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करते जा रहे थे। जातियों की संख्या बढ़ती जा रही थी, साथ ही वर्णों की समानता की भावना में भी कमी आती चल रही थी। ऊँच-नीच की भावना पनपने लगी थी। महावीर और बुद्ध ने जाति-प्रथा की इस असमानता का भी विरोध किया। उन्होंने जन्मना के स्थान पर कर्मणा जाति पर बल दिया। ब्राह्मण उनकी दृष्टि में वही था जो परम त्यागी, नि:स्पृही और जीवन्मुक्त होता था। वे जन्म की जाति को कोई महत्त्व न देते थे।

बुद्ध और महावीर के प्रयत्न जाति-प्रथा के दोष को दूर नहीं कर सके। उनके अनुयायियों की संख्या बहुत नहीं हो सकी। फलत: समाज में जाति प्रथा और उसका नीच-ऊँच का स्तरीकरण बढ़ता चला। उसी में अस्पृश्यता का भी उदय हुआ। शूद्र वर्ण अनेक जातियों के रूप में विभक्त कर दिया गया। कपड़े धोने, गंदगी साफ करने जैसे कामों को नीची श्रेणी का काम बताकर इस प्रकार की जातियों को स्पर्श तक करने का निषेध कर दिया गया। फलस्वरूप मानव-मानव के बीच सामाजिक दूरी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। मुसलिम काल

और ब्रिटिश काल में यह दूरी और अधिक बढ़ गयी। जातिप्रथा, उसका स्तरीकरण, अस्पृश्यता, जातिवाद आदि दोष इतने व्यापक हो उठे कि उन्होंने भारत के सारे सामाजिक जीवन को ग्रस लिया। आज तो मुसलमानों और ईसाइयों आदि में भी इस विष ने अपना प्रभाव फैला दिया है।

पर्दाप्रथा, दहेजप्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कुलीन विवाह जैसी अनेक कुरीतियाँ मुसलिम काल से प्रचलित हो उठीं। नियोग प्रथा बंद कर विधवाओं के विवाह पर प्रतिबंध लगा दिये गये। नारी की स्थिति दिन-दिन शोचनीय होती गयी। परिवार और विवाह जैसी संस्थाएँ विघटन की दिशा में बढ़ने लगीं।

विघटन के आधुनिक सामाजिक कारणों में इन सबके अतिरिक्त सामाजिक जीवन का भ्रष्टाचार भी सम्मिलित है। रिश्वत्, मिलावट, कालाबाजार जैसी बुराइयों ने सामाजिक जीवन को अभिशाप बना रखा है।

सांस्कृतिक कारण

धर्म है मानव की आंतरिक आकांक्षा के समाधान का प्रमुख साधन। आत्मशुद्धि के लिए धर्म की अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है, परंतु काल-प्रवाह में अशिक्षा, अज्ञान तथा अंधविश्वास आदि के कारण धर्म में सांप्रदायिकता प्रविष्ट हो गयी। जो धर्म मानव-मानव को जोड़ने का साधन था, शांति और सुख का साधन था, वही धर्म इन दोषों के कारण मानव-मानव के बीच भेद, घृणा और द्वेष का कारण बन बैठा। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, 'धर्म ने जितना रक्त बहाया है, उतना और किसी ने नहीं!' आये दिन बच्चों की-सी बातों पर दंगे हो जाते हैं और रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं।

भाषा के नाम पर, शिक्षा के नाम पर तथा गंदे और वासनापूर्ण चलचित्रों के चलते भी देश में कम उपद्रव नहीं होते। सिनेमा, नाटक, पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें आदि साधन जनता को ऊपर उठाने के स्थान पर पतन की ओर ले जाने में अधिक सहायक हो रहे हैं। विघटन में मनोरंजन के ऐसे साधनों का भी बड़ा हाथ है।

पुराने और नये मूल्यों के बीच चलनेवाला संघर्ष भी विघटन का एक प्रमुख कारण है।

मुसलिम शासक भारत में जब से आकर जमे, तब से भारत की प्राचीन राजव्यवस्था में भी परिवर्तन आया। फिर भी ग्रामों की पंचायत-व्यवस्था

राजनीतिक कारण

चालू रही। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की कूटनीति द्वारा पहले तो सारे देश पर अपना सिक्का जमाया, फिर भारत की सभ्यता और संस्कृति को भी नष्ट करने का जाल फैला दिया। मैकाले की शिक्षा-योजना 'रंग-रूप में काले, पर चाल-व्यवहार में गोरे' क्लर्कों और दुभाषियों की पलटन तैयार करने के लिए प्रारंभ की गयी थी। उसने अपना प्रभाव भी दिखाया। अँग्रेजों की दूसरी योजना थी भारत में ग्राम पंचायतें नष्ट करके कचहरियों का, वकीलों और जजों का जाल फैलाना। आर्थिक लूट की योजना तो थी ही, नक़दी लूट के साथ उन्होंने भारत के ग्रामोद्योग नष्ट कर दिये। मैनचेस्टर और लंकाशायर को जीवित करने के लिए रेल की पटरियों से लेकर जकात तक सारी व्यवस्था ऐसी बाँधी कि भारत विश्व का दरिद्रतम देश बन गया।

गोरे शासकों ने राजनीतिक चालबाजी का जो चक्र चलाया, उससे देश में अशांति, अव्यवस्था, दंगे, संघर्ष आदि विघटनकारी तत्त्वों को पर्याप्त बल दिया। राजनीति को महात्मा गाँधी ने नैतिकता का जो आधार दिया था, उसके चलते देश को स्वतंत्रता तो प्राप्त हुई, परंतु नैतिकता का वह मापदंड राजनीतिज्ञों ने उठाकर ताक पर रख दिया है। आज की राजनीति में असत्य, भ्रष्टाचार, दलबंदी, अनैतिकता को प्रमुख स्थान प्राप्त है। राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जघन्य-से-जघन्य अपराध करने में भी आज के राजनीति विशारदों को लेश मात्र संकोच नहीं होता।

राजनीतिक नेताओं में अनेक ऐसे हैं जिनके आश्रय में सफेदपोश अपराधी, गुंडे और बदमाश पलते हैं और अनैतिक अपराध करते हैं। असामाजिक तत्त्वों को इन नामधारी नेताओं का सहारा रहता है। इसके चलते समाज में समाजविरोधी अपराध बढ़ते चलते हैं। पुलिस और कचहरी पर भी ये लोग अपना प्रभाव डालकर अनुचित कार्य करते-कराते रहते हैं। भ्रष्टाचार खुल खेलता है और राजनीतिक कर्णधार देश को ऊपर उठाने के स्थान पर उलटे पतन के गड़हे में ढकेलते चलते हैं। चुनाव में कौन-से अनुचित कार्य नहीं किये जाते? पद और सत्ता की राजनीति भारत के सामाजिक विघटन का एक प्रमुख कारण बनी हुई।

इस राजनीति के चलते सांप्रदायिक उपद्रव होते हैं, छात्रों के उपद्रव होते हैं, हड़तालें और तालाबंदियाँ होती हैं, दलबदलुओं की अनैतिक जमात खड़ी होती है। राजनीतिक भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँचता चलता है।

आर्थिक कारण

भारत की समृद्धि विदेशी आक्रमणों के उपरांत क्रमशः समाप्त होती गयी। अंग्रेजों ने भारत का जो आर्थिक शोषण किया, उसकी करुण कहानी भारत के कण-कण में व्याप्त है। क्लाइब और उनके साथियों ने बंगाल में जो घृणित कृत्य किये और जिस प्रकार भारतीय स्वर्ण के प्रवाह को इंगलैंड की ओर मोड़ा, उसकी प्रामाणिक कहानी ब्रिटिश पार्लमेंट के विवरणों में भरी पड़ी है। लज्जा को भी लज्जित करने वाले कृत्यों के फलस्वरूप ही भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी।

ब्रिटिश शासन ने भारत की कृषि चौपट की। उद्योग-धंधे चौपट किये। व्यापार-वाणिज्य को नष्ट कर दिया। भारत की बारीक मसलिन और छींट अंग्रेज महिलाओं के श्रृंगार का प्रमुख साधन बनती थी, उसे रोकने के लिए यहाँ के कारीगरों के अंगूठे काट लिये गए और भारतीय माल पर अंधाधुंध चुंगी लगा दी गयी। फिर भी जब भारतीय माल खपता रहा तो इंग्लैंड में भारतीय वस्त्रों का उपयोग करने वालों को दंड तक देने का आयोजन किया गया!

अंग्रेजों ने भारतीय राजस्व, भारतीय सेना, भारतीय अर्थ-व्यवस्था, आयात-निर्यात नीति—सबका रुख इस प्रकार का बना दिया जिसके चलते भारत दो-दो दाने को मोहताज हो गया। इस शोषणकारी नीति के चलते भारत में चरम कोटि की निर्धनता आ गई। कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी की 'दि रिउन दैट ब्रिटेन रॉट', पंडित सुन्दरलाल की 'भारत में अंग्रेजी राज', कुमारप्पा की 'पब्लिक फिनांस एंड अवर पावर्टी', चरण सिंह की 'इंडियाज पावर्टी एंड सोल्यूशन' आदि पुस्तकों से भारत की निर्धनता के कारणों का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। स्वतंत्रता के २५ वर्ष हो जाने पर भी दरिद्रता कम होने का नाम नहीं लेती, उलटे बढ़ती ही चली जा रही है।

निर्धनता विघटन का एक बड़ा कारण है। निर्धनता के चलते वेश्या-वृत्ति, अपराध, मद्यपान, आत्महत्या, विवाह-विच्छेद जैसी अनेक विघटनकारी घटनाएँ घटती हैं। बेकारी, पारिवारिक विघटन, जनवृद्धि, आर्थिक संकट, मंहगी, कृषि की पिछड़ी स्थिति, छोटे उद्योगों की अवनति, बड़े उद्योगों का विस्तार, औद्योगीकरण, नागरीकरण जैसी अनेक आर्थिक समस्याएँ सामाजिक विघटन का कारण बनती हैं। औद्योगिक विवाद, हड़ताल, तालाबंदी जैसी समस्याएँ दिन-दिन उग्र रूप धारण करती चलती हैं।

स्पष्ट है कि भारत का सामाजिक जीवन इन सब कारकों के चलते विघटन की दिशा में बढ़ता चला जा रहा है। समस्याएँ विषम से विषमतर होती चल रही हैं।

पुनर्निर्माण के उपाय

भारत के सामाजिक विघटन की इन चतुर्मुखी समस्याओं का जबतक भली-भाँति निराकरण नहीं होगा, तबतक समाज का पुनस्संगठन असंभव है। समाज के पुनर्निर्माण के लिए सभी क्षेत्रों में जमकर ऐसा स्थायी और दृढ़ प्रबंध करना होगा, जिससे विघटनकारी तत्त्व सिर न उठा सकें।

पुनर्निर्माण केवल सरकार या राज्य के वश की बात नहीं। उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक संस्था को और प्रत्येक वर्ग और समुदाय को सामूहिक प्रयत्न करना होगा। सब लोग यदि दृढ़ता से प्रयत्न करें तो भारत पुनः अपने प्राचीन गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है, इसमें संदेह नहीं।

भारतीय समाज के पुनस्संगठन के लिए मुख्यतः ये उपाय करने होंगे—

१. जातिवाद और अस्पृश्यता का उन्मूलन।
२. सामाजिक कुरीतियों का सुधार और उन्मूलन।
३. प्राचीन और नवीन मूल्यों में समंजन।
४. भाषावाद, क्षेत्रवाद जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियों का उन्मूलन।
५. सांप्रदायिकता का उन्मूलन। सर्वधर्म समन्वय।
६. राजनीतिक दलबंदी, राजनीतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन।
७. कृषि की अधिकतम उन्नति। अन्न स्वावलंबन।
८. ग्रामोद्योगों और कुटीर उद्योगों का अधिकतम विकास।
९. बड़े उद्योगों में क्षोभ-निवारण की स्थायी व्यवस्था।
१०. आर्थिक क्षेत्र में 'ट्रस्टीशिप' विश्वस्त वृत्ति का विकास।
११. जनवृद्धि रोकने के लिए संयम, सदाचार आदि उत्तम उपायों द्वारा परिवार नियोजन।
१२. ग्रामीण क्षेत्र में ग्राम सभा, ग्रामपंचायतों द्वारा सत्ता का विकेन्द्रीकरण।
१३. मादक पदार्थों से मुक्ति का तीव्र आंदोलन।

१४. जनता को भोजन, वस्त्र, निवास की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति का समुचित प्रबंध।
१५. साहित्य, कला, मनोरंजन की दिशा मोड़कर नैतिकता का विकास।
१६. अपराध निवारण और अपराधियों का पुनर्वास।
१७. शिक्षा की पद्धति में आमूल परिवर्तन।
१८. अशांति शमन की स्थायी व्यवस्था।
१९. सादगी, संयम, श्रम-प्रतिष्ठा का आदर। नैतिक मूल्यों को सम्मान।
२०. नये सामाजिक मूल्यों का विकास आदि।

●

खण्ड २

सामाजिक विघटन की समस्याएँ

(क) वैयक्तिक विघटन की समस्याएँ

अध्याय : ८

वैयक्तिक विघटन

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक संबंध अत्यंत घनिष्ट है। दोनों ही परस्पराश्रित हैं। मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों का बुना हुआ जाल ही तो समाज है। व्यक्ति ही सामाजिक संबंधों का सूत्रधार है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज में ही निखरता और सँवरता है। वुडवर्थ के अनुसार 'व्यक्तित्व हमारा वह सामाजिक व्यवहार है जो आवश्यक रूप में उचित अथवा अनुचित न होने पर भी किसी को प्रसन्न करनेवाला या किसी को बुरा लगनेवाला होता है तथा अपने संपर्क के अन्य व्यक्तियों के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है।'[१] डेशील कहता है कि 'व्यक्ति का व्यक्तित्व संपूर्णतः उसकी प्रतिक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की संभावनाओं की वह व्यवस्था है जो सामाजिक प्राणियों द्वारा कूती जाती है। वह व्यक्ति के व्यवहारों का एक ऐसा समायोजित संकलन है जो कि व्यक्ति अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिए करता है।'[२]

व्यक्तित्व का विकास

व्यक्ति के व्यक्तित्व का यदि संतुलित विकास होता है, उसका संतुलित व्यक्तित्व बनता है तो उससे व्यक्ति का कल्याण तो होता ही है, परिवार और समाज का भी कल्याण होता है। संतुलित व्यक्तित्व का अर्थ यह है कि अन्य व्यक्तियों के साथ आदान-प्रदान में प्रदर्शित किये जानेवाले व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का संगठन सुव्यवस्थित और गतिशील हो। व्यक्ति के इस संगठन में उसकी मनोवृत्तियों, मूल्यों, आदतों तथा अन्य मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का समावेश होता है। यह समग्र ढाँचा जितना अधिक संतुलित और समंजित होता है, उसी के अनुरूप व्यक्ति का

---

१. वुडवर्थ: साइकोलाजी, पृष्ठ ८७

२. जे० एफ० डेशील: फंडामेंटल्स ऑफ ओबजेटिव साइकोलाजी १९२९, पृष्ठ ५५

व्यक्तित्व समंजित और संगठित माना जाता है। यदि यह संगठन अच्छा नहीं रहता, यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व में सम्मिलित कारक सुव्यवस्थित नहीं रहते तो उसका व्यक्तित्व विघटित होने लगता है। अत: व्यक्तित्व का विधिवत विकास वैयक्तिक संगठन की आधार शिला है। थामस और जैनिकी ने जीवन संगठन की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों के आधार पर मनोवृत्तियों और मूल्यों का जो ढाँचा खड़ा होता है और जिसके द्वारा वह चेतन-अचेतन रूप में अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा रखता है, वही जीवन संगठन हैं।'[1]

वैयक्तिक विघटन

सामाजिक अनुभवों के आधार पर विकसित दृष्टिकोणों, मूल्यों, आदतों, आकांक्षाओं और आशाओं के अनुरूप जब व्यक्तिगत जीवन संगठन जीवन के आधारभूत उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहता है तो वैयक्तिक विघटन आरंभ हो जाता है। व्यक्ति का समाज के साथ जब तादात्म्यीकरण नहीं हो पाता तो विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। असंतुलित व्यक्तित्व, व्यक्ति से अपेक्षित सामाजिक व्यवहारों की पूर्ति में बाधा, आशाओं के अनुरूप अंतर्क्रियाओं का न होना ही तो विघटन है। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति का व्यक्ति से और व्यक्ति का समाज से तालमेल नहीं बैठता और जब उसके व्यक्तित्व का संतुलन जाता रहता है तो वैयक्तिक विघटन चालू हो जाता है। समाज प्रत्येक व्यक्ति से जिन व्यवहार प्रतिमानों की अपेक्षा रखता है, उनकी पूर्ति में जब व्यक्ति असफल रहता है तो उसमें निराशा, प्रतिहिंसा, द्वेष, घृणा आदि की अस्वाभाविक मनोवृत्तियाँ पनपती हैं। उन्हीं मनोवृत्तियों के चलते व्यक्ति टूटता है, समाज टूटता है। इसी से वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

वैयक्तिक विघटन का अर्थ

वैयक्तिक विघटन का अर्थ है—व्यक्तित्व की विकृति, व्यक्तित्व का असंतुलन। व्यक्ति के व्यक्तित्व की वह असंतुलित स्थिति वैयक्तिक विघटन है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों के प्रतिकूल आचरण करता है और सामाजिक दृष्टि से वह अपने जीवन संगठन को विश्रृंखल बनाता है।

---

१. विलियम थामस और एफ० जैनिकी : दि पोलिश पीजेंट इन यूरोप एंड अमेरिका, न्यूयार्क, १९२७, खण्ड २; पृष्ठ १८४३

इलियट और मैरिल ने वैयक्तिक विघटन की व्याख्या करते हुए कहा है कि समाज के नियमों तथा समाज के साथ व्यक्ति का तादात्म्यीकरण न होना ही वैयक्तिक विघटन है। उनका कहना है कि 'सामान्य व्यक्ति की यह तीव्र अभिलाषा रहती है कि वह विभिन्न समूहों के साथ सहयोग करे। ऐसी स्थिति और सुरक्षा के लिए वह अपने जन्मकाल से ही प्रयत्न करता रहता है। परिवार में, साथियों में, वैवाहिक और यौन-जीवन में वह अपना वांछनीय पद और स्थान बनाये रखने को उत्सुक रहता है। इन अंतर्वैयक्तिक संबंधों में जब उसकी स्थिति डगमगाती है तो उससे चिंता उत्पन्न होती है जो वैयक्तिक विघटन का करण बनती है।'[१]

परिभाषा

ई० एम० लेमर्ट ने वैयक्तिक विघटन की जो परिभाषा की है, उसमें वह कहता है कि 'वैयक्तिक विघटन वह दशा अथवा प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने मुख्य व्यवहार की भूमिका के चारों ओर अपने व्यवहार को स्थिर नहीं रख पाता। उसकी भूमिका के चुनाव में संघर्ष या भ्रम बना रहता है : ऐसा विघटन अस्थायी भी हो सकता है, स्थायी भी।'

माउरर कहता है कि 'वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के उन सभी व्यवहारों का प्रतिनिधित्व करता है, जो संस्कृति द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों से इतना अधिक नीचे गिर जाते हैं कि समाज उन्हें अस्वीकृत कर देता है।'[२]

लेमर्ट के अनुसार व्यक्ति के समक्ष जब कई विकल्प उपस्थित हो जाते हैं कि वह किस विकल्प को अपनाये, किसे ठुकराये तो संघर्ष की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उसी का नाम है वैयक्तिक विघटन। माउरर के अनुसार जब व्यक्ति का व्यवहार संस्कृति द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों के प्रतिकूल होने लगता है तो वैयक्तिक विघटन हो जाता है।

इन सभी परिभाषाओं से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के व्यक्तित्व की वह असंतुलित स्थिति है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों के प्रतिकूल आचरण करने लगता है और समाज की दृष्टि में उसके जीवन-क्रम में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। इस

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ५३

२. ई० आर० माबरर : डिसआर्गेनाइजेशन—पर्सनल एण्ड सोशल, न्यूयार्क, १९४२, पृष्ठ ७२

विघटन को चाहे प्रक्रिया का नाम दिया जाय चाहे विघटन की स्थिति का, मूल बात यही है कि व्यक्ति समाज से विघटित होता है, व्यक्ति व्यक्ति से विघटित होता है, व्यक्ति परिवार से विघटित होता है। उसका व्यक्तित्व असंतुलित, अव्यवस्थित और असंगठित हो उठता है। उसकी अंतर्क्रियाएँ अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करती हैं और संपूर्ण समाज को भी प्रभावित करती हैं।

वैयक्तिक और सामाजिक विघटन

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक संबंध इतना घनिष्ठ है कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। वैयक्तिक विघटन और सामाजिक विघटन एक ही सिक्के के दो बाजू की भाँति अभिन्न हैं। दोनों ही परस्पराश्रित हैं। मौलिक रूप से दोनों एक हैं। व्यक्ति विघटित होता है तो समाज विघटित होता है। समाज विघटित होता है तो व्यक्ति और परिवार विघटित होता है। पर दोनों में कुछ अंतर भी बना रहता है। जैसे,—

१. वैयक्तिक विघटन व्यक्ति से संबद्ध रहता है। उसका प्रभाव कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और क्षेत्रों तक सीमित रहता है। सामाजिक विघटन का प्रभाव-क्षेत्र सारा समाज और सारा सामाजिक संघटन होता है।

२. वैयक्तिक विघटन में समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त प्रतिमानों के विपरीत आचरण की अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक विघटन में सामाजिक संगठन या संरचना इस प्रकार विश्रृंखलित हो जाती है कि समाज के विभिन्न अंग अपने निर्धारित कार्यों को करने में असफल रहते हैं तथा सामाजिक नियंत्रण के साधनों का प्रभाव फीका पड़ जाता है जिससे वे समाज पर विधिवत् नियंत्रण नहीं रख पाते।

३. वैयक्तिक विघटन व्यक्तित्व की विकृत रचना है सामाजिक विघटन सामाजिक संरचना की असंतुलित स्थिति है।

४. वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति अनैतिक और असामाजिक साधनों द्वारा, अथवा लड़-झगड़कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर लेता है। सामाजिक विघटन में सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं हो पाती।

५. व्यक्तिगत विघटन की प्रक्रिया व्यक्ति की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाती है। सामाजिक विघटन की प्रक्रिया सतत चलती रहती है और समाज की विभिन्न इकाइयों और संस्थाओं को प्रभावित करती रहती है।

एक प्रक्रिया के दो स्वरूप

वस्तुतः व्यक्तिगत विघटन और सामाजिक विघटन एक ही प्रक्रिया के दो स्वरूप हैं। व्यक्ति का विघटन परिवार, पास-पड़ोस, गाँव, कस्बा, नगर, शहर और अंत में पूरे समाज को प्रभावित करता है। विघटित समाज उसी प्रकार व्यक्ति को प्रभावित करता है।

१. वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के प्रतिकूल आचरण करता है। सामाजिक विघटन में सामाजिक संस्थाएँ, इकाइयाँ और व्यक्ति अपने पदों और कार्यों को छोड़कर स्वेच्छानुकूल आचरण करते हैं।

२. दोनों में सामाजिक संबंध टूटते हैं। एकमत्य खंडित होता है। वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति का व्यक्ति से, समूह और समाज से संबंध टूटता है। सामाजिक विघटन में समूहों, संस्थाओं और व्यक्तियों का मतैक्य समाप्त होकर पारस्परिक संबंध टूट जाते हैं।

३. दोनों ही असंतुलित स्थिति की अभिव्यक्ति हैं। वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति के असंतुलित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक विघटन में समाज की असंतुलित स्थिति की अभिव्यक्ति होती है।

४. दोनों में आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ती है। वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति ठीक ढंग से नहीं हो पाती। सामाजिक विघटन में समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती।

व्यक्ति का दायित्व

सामाजिक विघटन में व्यक्ति का दायित्व अत्यधिक होता है। व्यक्ति भले ही नगण्य स्थिति में हो, पर उसकी विघटनात्मक क्रियाएँ उसे, उसके परिवार, उसके पास-पड़ोस और आगे चलकर सारे समाज को प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। जबलपुर में एक लड़की पर बलात्कार हुआ। आनन-फानन उसने भीषण सांप्रदायिक दंगे का रूप ग्रहण कर लिया। बलात्कार, लूटपाट, अग्निदाह, हिंसा—सबका नग्न नृत्य आरंभ हो गया। किसी व्यक्ति के साथ घटनेवाली छोटी-सी घटना कभी-कभी इसी प्रकार सैकड़ों व्यक्तियों के जीवन-क्रम को विशृंखलित कर देती है। दंगे, उत्पात, मारकाट, युद्ध आदि के मूल में वैयक्तिक विघटन के ही कुछ-न-कुछ कारण रहते हैं। शिक्षक, अधिकारी, नेता, विद्यार्थी, मजदूर आदि सारे देश को और कभी-कभी सारे संसार को उद्वेलित करने में कारण बनते हैं। किसी एक व्यक्ति का गलत आचरण, एक व्यक्ति की

तानाशाही कभी-कभी असंख्य व्यक्तियों को शोक-सागर में डुबो देती है। बंगला देश में एकाधिक व्यक्तियों की विघटनात्मक प्रवृत्तियों ने जो महान संकट ढाया उसके चलते जो नरमेध हुआ, जो बलात्कार और हिंसक आक्रमण हुए, उनका हृदयवेधी इतिहास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति का दायित्व कितना महान् है। परिवार में एक व्यक्ति यदि मद्यपान और अनैतिक आचरण करने लगे तो सारा परिवार विघटन की दिशा में बढ़ने लगता है—इसे कौन नहीं जानता ?

व्यक्ति का जीवन-संगठन उसकी मनोवृत्तियों, उसके मूल्यों, उसके आदर्शों, उसके उद्देश्यों और उसकी विभिन्न भूमिकाओं को लेकर बनता है। नैतिकता,

व्यक्ति का जीवन संगठन

क़ानून, सामाजिक संबंध, धर्म, मनोरंजन तथा विभिन्न प्रकार के आचरण संबंधी नियम व्यक्ति को नियंत्रित रखते हैं। इनके लिए समाज ने नाना प्रकार के नियंत्रक प्रतिमान बना रखे हैं, व्यक्ति जब-तक इन प्रतिमानों के अनुकूल आचरण करता चलता है तबतक तो ठीक, परंतु जैसे ही वह इनके प्रतिकूल आचरण आरंभ करता है वैसे ही वैयक्तिक विघटन आरंभ हो जाता है और व्यक्ति का जीवन-संगठन टूटने लगता है।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-संगठन कुछ अंशों में समान और कुछ अंशों में दूसरों से भिन्न रहता है। सरल समाजों में और जटिल समाजों में भिन्नता रहती है। बालक और किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध व्यक्तियों के जीवन संगठन भिन्न-भिन्न होते हैं। जटिल समाजों में जटिलता के कारण, गतिशील समाजों में गतिशीलता के कारण जीवन संगठनों में नाना प्रकार के भेद रहते हैं। उनका जबतक समंजन बना रहता है तबतक समाज की स्थिति अच्छी बनी रहती है। असमंजन और असंतुलन होते ही विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

व्यक्ति समाज में रहता है। समाज ने अपने सदस्यों के नियमन के लिए कितने ही सामाजिक मूल्य निर्धारित कर रखे हैं। जबतक व्यक्ति इन

सामाजिक मूल्य

सामाजिक मूल्यों का आदर करता रहता है और उनके अनुकूल अपने आचरण और व्यवहार को मर्यादित बनाये रखता है, तबतक समाज का संगठन ठीक ढंग से चलता रहता है। परंतु, जब व्यक्ति इन सामाजिक मूल्यों को चुनौती देता है, इनकी उपेक्षा करता है, इनकी अवहेलना करता है, इनका तिरस्कार करता है, तो समाज में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जो वैयक्तिक विघटन

और सामाजिक विघटन का कारण बनती है। वैयक्तिक मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों में असामंजस्य के चलते जो संघर्ष और विरोध पनपते हैं, उन्हीं के कारण अपराध, आत्महत्या, वेश्यावृत्ति आदि वैयक्तिक विघटन के स्वरूप सामने आते हैं और सामाजिक संगठन की सुव्यवस्था खड-खंड होकर टूटने लगती है। व्यक्ति हीन भावना, असफलता, निराशा, चिंता, आत्मग्लानि आदि का शिकार बनकर गलत पटरी पर दौड़ने लगता है। उसका व्यक्तित्व खंडित होने लगता है। उसी के साथ-साथ समाज का संगठन भी खंडित होने लगता है। धर्म, विवाह, संस्कार, नैतिकता, सामाजिक नियम आदि आज के गतिशील और जटिल समाज में पग-पग पर उपेक्षित हो रहे हैं। व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा, आज का जटिल पर्यावरण और विचारों की परस्पर विरोधी नाना धाराएँ व्यक्ति को विद्रोह के लिए उद्वेलित करती रहती हैं। इनके कारण सामाजिक मूल्यों का पुरातन स्वरूप परिवर्तित होता चल रहा है। वैचारिक संघर्ष जब ऐसा स्वरूप ग्रहण कर लेता है कि सामंजस्य और समंजन की गुंजाइश नहीं रहती, तो वैयक्तिक और सामाजिक विघटन विकृत रूप धारण कर लेता है।

सामाजिक विघटन और व्यक्तिगत विघटन के कारक प्रायः एक ही होते हैं। दोनों परस्पर संबद्ध हैं। अतः एक ही कारक दोनों को कम या अधिक मात्रा में प्रभावित करता है। वैयक्तिक विघटन के कारक अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ आर्थिक, कुछ सामाजिक, कुछ धार्मिक और कुछ राजनीतिक कारक होते हैं।

वैयक्तिक विघटन के कारक

गरीबी, बेकारी, आर्थिक संकट, गंदी बस्ती, औद्योगीकरण, नागरीकरण, औद्योगिक अशांति, बढ़ती हुई जनसंख्या आदि आर्थिक कारक व्यक्ति को विघटित करते हैं। शिक्षा का स्वरूप और प्रभाव, प्रेस, साहित्य, सिनेमा आदि मनोरंजन के साधन, नये सामाजिक मूल्य सामाजिक कारक हैं। धर्म के प्राचीन मूल्यो का ह्रास, प्रगतिवादी विचार आदि धार्मिक कारक हैं। राजनीतिक उथल-पुथल, परिवर्तन, युद्ध आदि राजनीतिक कारक हैं। सभी कारक अपने-अपने ढंग से व्यक्ति को असंतुलित बनाते हैं। उसके जीवन-संगठन में तनाव और संघर्ष, चिंता और परेशानी लाते हैं। यह स्थिति उत्तरोत्तर विषम होती चलती है और वैयक्तिक विघटन का कारण बन बैठती है।

आर्थिक कारक : आज के अर्थपरायण समाज में गरीबी और बेकारी दिन-दिन बढ़ती चलती है। आर्थिक संकट विषम होता चलता है। निवास, भोजन, वस्त्र और जीवनोपयोगी वस्तुओं की कमी और मंहगी, गंदी बस्तियाँ, औद्योगिक संकट, बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या आदि व्यक्ति को दिन-दिन अधिक चिंतित और परेशान करती चल रही है। आर्थिक तंगी के कारण अपराध और भ्रष्टाचार को पनपने का विशेष अवसर मिलता है। फलतः व्यक्ति का व्यक्तित्व खंडित और असंतुलित होने लगता है। वह उसमें समंजन लाने के लिए इच्छुक भी रहे तो आर्थिक परिस्थितियाँ उसे विवश कर देती हैं।

सामाजिक कारक : गतिशील समाज में पुराने मूल्य क्रम-क्रम से उठते जा रहे हैं। नये-नये सामाजिक मूल्य उनका स्थान ग्रहण करते चल रहे हैं। व्यक्ति के मानस में द्वंद्व उत्पन्न होता है कि वह पुराने मूल्य पर स्थिर रहने का प्रयत्न करे कि नये मूल्य को स्वीकार करे। नयी और पुरानी पीढ़ी के बीच भी यह तुमुल द्वंद्व चलता रहता है। विवेक का यदि अभाव रहा, समंजन की प्रक्रिया यदि विधिवत चल न सकी, तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि व्यक्ति टूटने लगेगा। आधुनिक शिक्षा का स्वरूप, उसका प्रभाव, भोगविलासमय पर्यावरण, तदनुरूप साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ और सिनेमा आदि मनोरंजन के साधन—सभी मिलकर व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालते हैं। उसकी स्वतंत्र विवेचनाशक्ति इनके चलते कुंठित हो जाती है और वह विघटन की दिशा में बढ़ने लगता है। नाना प्रकार के सामाजिक कारक वैयक्तिक विघटन के कारण बनते हैं।

धार्मिक कारक : गतिशील समाज में धर्म के पुरातन मूल्य बदलते चल रहे हैं। प्राचीन मूल्यों के प्रति पहले जो आदर और श्रद्धा की भावना थी, वह अब बहुत कम रह गयी है। पहले जिस प्रकार धर्म के लिए बलिदान होने को लोग उत्सुक रहते थे, वह भावना आज कहाँ है? यों धर्मांधता और सांप्रदायिकता की बात छोड़ दें, तो हम देखते हैं कि धर्म का प्राचीन स्वरूप आज उपेक्षा और उपहास का साधन बन गया है। उसी के साथ-साथ सारी नैतिक मर्यादाएँ भी कुंठित हो रही हैं। प्रगतिवादी विचार दिन-दिन प्रभावशाली बनते चल रहे हैं। धर्म की प्रत्येक भावना कसौटी पर कसी जाने के लिए प्रस्तुत है। इस प्रवृत्ति ने भी वैयक्तिक विघटन को बढ़ाने में सहायता की है।

राजनीतिक कारक : राजनीति का आज विश्वव्यापी स्वरूप ऐसा होता चल रहा है कि स्थान-स्थान पर संघर्ष-ही-संघर्ष दीख रहे हैं। राजनीतिक कूटनीति, दलबंदी और भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा है। चुनाव हो या प्रशासन, सुरक्षा हो या लोक-कल्याण की कोई योजना—सभी में राजनीति ने अपना सिक्का जमा रखा है। इसके चलते छात्रों के उपद्रव, मजदूरों की हड़तालें, व्यापारियों का एकाधिकार, गरीबों का शोषण, बेकारी और निर्धनता का प्रसार, अपराध और भ्रष्टाचार का बाहुल्य सर्वत्र दीखता है। नैतिकता और आदर्श का डंका खूब पीटा जाता है पर अनैतिकता का आचरण करने में लेशमात्र का संकोच नहीं किया जाता। सरकारें बनते-बिगड़ते देर नहीं लगती। गद्दी के लिए, आर्थिक लाभ के लिए दलबदलुओं को 'आया राम' से 'गया राम', बनने में चौबीस घंटे भी नहीं लगते। जनता के प्रतिनिधि जनता के कल्याण की बात तो उठा कर ताक पर रख देते हैं। अपने निजी कल्याण के लिए आकाश-पाताल एक करते रहते हैं। इस राज-नीति के चलते विघटन उत्तरोत्तर बढ़ता चल रहा है। वैर-विरोध, संघर्ष, युद्ध, तनाव, अशांति ही सर्वत्र दीख रही है। उसका परिणाम विघटन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

इन विभिन्न कारकों ने व्यक्ति का जीवन असंतुलित बना रखा है। उसके व्यक्तित्व को नाना प्रकार के संघर्षों का क्रीड़ा-स्थल बना रखा है। उसकी आर्थिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक प्रतिमा खंडित कर रखी है। उसका जीवन टट रहा है, उसका परिवार टूट रहा है। उसका समाज विघटित हो रहा है। उसके पद और कार्य की सुरक्षा समाप्त हो रही है। उसकी जीवनी शक्ति कुंठित हो रही है। उसका विघटन नाना स्वरूप धारण करता चल रहा है।

विघटन के स्वरूप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। रहता है समाज के भीतर, फिर भी वह अकेलापन महसूस करता है। उसकी वेदना का कोई पार नहीं है। डेविड-रीजमैन कहता है कि 'व्यक्ति भीड़ में रहता है, फिर भी वह अकेला है। दूसरों से उसके अंतर्संबंध भी होते हैं, परंतु उनमें आत्मीयता नहीं, हार्दिकता नहीं'।[१] एरिक फ्राम कहता है कि मनुष्य ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है,

---

१. डेविड रीजमैन : दि लोनली क्राउड, न्यूयार्क, १९५३

अनेक दिशाओं में वह स्वतंत्र हो गया है, फिर भी उसे सुख प्राप्त नहीं हो सका है। तकनीकी ज्ञान ने उसे भूख तथा भौतिक अभावों से बहुत कुछ मुक्त किया है, वैज्ञानिक ज्ञान ने उसे अज्ञान और अंधविश्वासों से मुक्त किया है। फिर भी वह जिस सुखमय जीवन की कल्पना करता था, उससे अभी दूर ही है। आजादी मिली है सही, फिर भी वह अकेलापन महसूस करता हैं। आत्मिक और हार्दिक संबंध अभी बन नहीं सके हैं।[1]

यह अलगाव, यह बिलगाव, यह पृथकत्व वैयक्तिक विघटन को बढ़ावा देता है। इसके चलते विघटन के कितने ही स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। इलियट और मैरिल ने इसके ३ विशिष्ट स्वरूप बताये हैं।[2]

१. मद्यपान—अकेलेपन में व्यक्ति पीना शुरू कर देता है और धीरे-धीरे परिवार, मित्रमंडली और साथियों से भी वह दूर होता चला जाता है।

२. पागलपन—मानसिक विकृति इतनी बढ़ती जाती है कि वह दूसरों से उत्तरोत्तर दूर होता चलता है।

३. आत्महत्या—जीवन में व्यक्ति को जब कोई रस नहीं रह जाता तो वह सोचने लगता है कि किसके लिए जीऊँ ?

इनके अतिरिक्त बालापराधी, प्रौढ़ अपराधी और यौन-अपराधी जान-बूझकर अपने को समाज से अलग कर लेते हैं। ये सब सामाजिक विघटन के परिणामस्वरूप इन गलत मार्गों पर चल पड़ते हैं।

व्यापक रूप से वैयक्तिक विघटन के प्रमुख स्वरूप ये माने जा सकते हैं—

वैयक्तिक विघटन

अपराधी	बाल अपराधी	सफेदपोश अपराधी	शराबी	व्यसनी	पागल	यौन अपराधी	वेश्या	आत्म-हत्याकारी

भारत में वैयक्तिक विघटन के सभी कारक विद्यमान हैं। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक आदि सभी कारक उपस्थित हैं। व्यक्ति, परिवार और समाज—सभी नाना प्रकार के संघर्षों के बीच

१. एरिक फ्राम : एस्केप फ्राम फ्रीडम, १९४१, पृ० ८

२. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ५९

भारत में वैयक्तिक विघटन

से गुजर रहे हैं। सभी पर एक ओर पुराने मूल्यों का प्रभाव है, दूसरी ओर नये विचारों का। निर्धनता और बेकारी, मंहगी और भ्रष्टाचार, जनसंख्या और राजनीतिक उथल-पुथल आदि ने मिलकर विघटन की भयंकर स्थिति उत्पन्न कर दी है। औद्योगिक क्रांति ने जहाँ औद्योगीकरण और नगरीकरण के अभिशाप देश पर लाद दिये हैं, वहाँ भोगविलासमय पर्यावरण ने कोढ़ में खाज की स्थिति ला दी है। सरकार एक ओर हरित क्रांति का दावा करती है, तो दूसरी ओर मद्यक्रांति का आयोजन करती है। इन सब शिकंजों में कसा हुआ व्यक्ति बुरी तरह टूट रहा है। शराब की नदियाँ बह रही हैं। हिप्पी लोग तो आज चरस-गाँजा की दमें फूंक रहे हैं, अभी तक तो नामधारी साधुओं ने उस परंपरा को कायम रखा है। युधिष्ठिर के जमाने में द्रौपदी दाँव पर लगायी गयी थी, आज तो सरकार ही लाटरियाँ खोल रही है। जनता अपने पसीने की गाढ़ी कमाई इन सभी व्यसनों में बर्बाद कर रही है। अपराध धड़ल्ले से बढ़ते चल रहे हैं। वेश्याओं की संख्या और उनके प्रकार बढ़ते चल रहे हैं। मानसिक विकृतियाँ बढ़ रही हैं। आत्महत्या की घटनाएँ बढ़ रही हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व असंतुलित हो रहा है। व्यक्ति टूट रहा है। परिवार टूट रहा है। समाज टूट रहा है।

भविष्य

इतना सब होने पर भी निराश होने की बात नहीं है। भारत की गौरवमयी परंपरा है। उसके परिष्कृत मूल्य और आदर्श, उसका त्याग और बलिदान, उसकी तपस्या और कष्टसहिष्णुता का इतिहास परम उज्ज्वल रहा है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने आज उसे धूमिल अवश्य कर रखा है। परंतु इससे क्या? भारत की नयी पौध की रक्षा यदि ठीक ढंग से हो सके, तो भारत का भविष्य उज्ज्वल होकर रहेगा। सुख और शांति का मार्ग त्याग और तपस्या के संबल से ही उपलब्ध किया जा सकता है। भारत शताब्दियों से विश्व का मार्गदर्शन करता रहा है। आगे भी वह ऐसा करने में समर्थ होगा। त्यागमय भोग का आदर्श ही उसका साधन है :

तेन त्यक्तेन भुंजीयाः।

●

अध्याय : ९

बाल अपराध

नटखटपना बालकों का गुण है। पर जब यह गुण समाज-विरोधी रूप धारण कर लेता है, तो वही अवगुण बन जाता है। उसे 'बाल अपराध' या 'किशोर अपचार' के नाम से पुकारा जाता है। आज के युग की यह एक विषम समस्या है। महत्त्वपूर्ण भी, गंभीर भी। जिन बालकों पर समाज का, देश का, राष्ट्र का, संसार का भविष्य निर्भर करता है, वे ही पथभ्रष्ट हो जायँ तो समाज का कल्याण होनेवाला नहीं।

ब्रिटेन हो या अमरीका, यूरोप हो या एशिया, अफ्रीका हो या भारत—विश्व में सभी देशों में बाल अपराधों की संख्या में वृद्धि होती चल रही है।

बाल अपराधों में वृद्धि

असंख्य अपराध तो अपराध माने ही नहीं जाते, असंख्य बालक यों ही मारपीट कर छोड़ दिये जाते हैं। इसके उपरांत जो आँकड़े पुलिस के रजिस्टरों से उपलब्ध होते हैं, वे चौंकाने वाले हैं।

ब्रिटेन में बाल अपराधों की 'क्रिश्चियन इकोनोमिक एंड सोशल रिसर्च फाउंडेशन' की १९५७ और १९५८ की रिपोर्टों के अनुसार स्थिति इस प्रकार थी—'सन् १९४२ से १९५६ के बीच १४ से १६ वर्ष के बच्चों में शराब पीकर उन्मत्त हो जाने का अपराध आठ गुना अधिक बढ़ गया और १७ से २० वर्ष के युवक-युवतियों में चौगुना अधिक हो गया। हिंसात्मक अपराधों की संख्या दुगुनी हो गयी है। सन् १९५४ से ऐसे अपराधों की संख्या तिगुनी हो गयी है। सन् १९३९ में पुरुष बाल अपराधियों की संख्या ३६,००० थी जो १९५६ में ४९,००० हो गयी।'[1]

---

१. परिपूर्णानंद वर्मा : पतन की परिभाषा, १९६०, पृ० २००—२०१

अमरीका का दौरा करने के उपरांत ब्रिटेन के संसद् सदस्य मांट गोमरी हाइड ने १९५८ में लिखा था कि अमरीका में प्रतिवर्ष कम-से-कम दस लाख बाल अपराध होते हैं। कुल २० लाख अपराधियों में आधे अपराधी ८ से २० वर्ष की उम्र के भीतर के रहते हैं।[१]

भारत सरकार के गृह मंत्रालय की ओर से प्रकाशित सन् १९७० की रिपोर्ट में बताया गया है कि बाल अपराधों की संख्या में इस प्रकार वृद्धि हो रही है।[२]

वर्ष	आयु ७-१२	आयु १२-१६	आयु १६-२१	कुल
१९६०	६६१२	१४३१५	२८३४९	४९२७६
१९६५	१०५४२	१५५०८	४१८२४	६८२७४
१९७०	११४०५	१८६९०	६८७५०	९८८४५

सन् १९७० में प्रांतवार बाल अपराधियों की संख्या इस प्रकार थी[३] —

राज्य	बाल अपराधी लड़के	लड़कियाँ	कुल
१. आंध्र प्रदेश	२,१५४	८८	२,२४२
२. असम	१,२७६	२	१,२७८
३. बिहार	२,४१४	३६	२,४५०
४. गुजरात	२२,५१६	५१८	२३,०३४
५. हरियाणा	१,२७८	८	१,२८६
६. हिमाचल प्रदेश	४२०	३७	४५७
७. जम्मू और कश्मीर	१००	...	१००
८. केरल	२०५	३	२०८
९. मध्य प्रदेश	१२,३८३	१६८	१२,५५१
१०. महाराष्ट्र	२३,१०४	१,१५१	२४,२५५
११. मणिपुर	२७३	...	२७३
१२. मैसूर	२,४६७	७२८	३,१९५
१३. नागालैंड	२८३	९	२९२
१४. उड़ीसा	५८६	९	५९५

---

१. एच० मांटगोमरी हाइड, लेख : 'ए मिलियन यंग ओफेंडर्स'; संडे टाइम्स २२ दिसम्बर, १९५८

२. क्राइम इन इंडिया, १९७०; पृ० ५०

३. वही, १९७०; पृ० ५४,५५

राज्य	बाल अपराधी लड़के	लड़कियाँ	कुल
१५. पंजाब	८७३	३	८७६
१६. राजस्थान	१,५५१	४८	१,५९९
१७. तामिलनाडु	१४,११४	७१९	१४,८३३
१८. त्रिपुरा	...	...	...
१९. उत्तर प्रदेश	१,५७५	२०	१,५९५
२०. पश्चिम बंगाल	३,४७०	४५४	३,९२४
	९१,०४२	४,००१	९५,०४३
२१. अंदमान निकोबार	५८	२	६०
२२. चंडीगढ़	१५७	५	१६२
२३. दादरा और नगरहवेली	१६	१	१७
२४. दिल्ली	३,१८२	१९०	३,३७२
२५. गोआ, दामन द्यू	७९	७	८६
२६. लक्कादिव	...	...	...
२७. पांडीचेरी	८३	२२	१०५
	३,५७५	२२७	३,८०२
	९४,६१७	४,२२८	९८,८४५

बड़े नगरों में बाल अपराधियों की संख्या इस प्रकार थी—

१. अहमदाबाद	२,५८७	९१	२,६७८
२. बंगलोर	२,२६५	५५३	२,८१८
३. बंबई	१,५६५	३९८	१,९६३
४. कलकत्ता	१७५	१०२	२७७
५. दिल्ली	३,१८२	१९०	३,३७२
६. हैदराबाद	१,८६१	३२	१,८९३
७. कानपुर	२११	२	२१३
८. मद्रास	१,२९८	२५	१,३२३
	१३,१४४	१,३९३	१४,५३७

बाल अपराध का अर्थ

जब किसी बालक या किशोर, युवक या युवती द्वारा कोई समाजविरोधी अपराध होता है, तो उसे 'बाल अपराध', 'किशोर अपराध' या 'किशोर अपचार' कहा जाता है। बालक या किशोर द्वारा होनेवाला अपराध ही इस श्रेणी में आता है। परंतु बालक या किशोर की आयु के संबध में मतभेद है। किसी देश में कोई आयु निर्धारित है, किसी देश में कोई।

आयु में अंतर—विभिन्न देशों में बाल अपराध के लिए न्यूनतम और अधिकतम आयु की जो मर्यादाएँ रखी गयी हैं, वे इस प्रकार हैं—

देश	न्यूनतम आयु	अधिकतम आयु
मिस्र, इराक, लेबनान, शाम	७ वर्ष	१५ वर्ष/१८ वर्ष
जार्डन	९ वर्ष	१८ वर्ष
ईरान	११ वर्ष	१७ वर्ष
सऊदी अरब	१२-१५ वर्ष	१७-१८ वर्ष
ब्रिटेन	११ वर्ष	१६ वर्ष
भारत	७ वर्ष	२१ वर्ष
जापान	......	२० वर्ष

अन्य देशों में भी इसी प्रकार विभिन्न आयुमर्यादाएँ हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि ७ वर्ष से कम आयु में भले-बुरे की पहचान नहीं होती। इसलिए उससे पहले के अपराध बाल अपराधों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते।

परिभाषा

बाल अपराध की कोई सर्वमान्य परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। भिन्न-भिन्न देशों और राज्यों में उसके लिए विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। जैसे,

हेडफील्ड कहता है—"असामाजिक व्यवहार' ही बाल अपराध कहा जा सकता है।"

गिलिन और गिलिन के अनुसार, "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वह व्यक्ति वयस्क अथवा बाल अपराधी हैं, जो ऐसे कार्य का अपराधी है जिसे वह समूह, जिसे अपना विश्वास कार्यान्वित करने की शक्ति है, समाज के

लिए हानिकारक मानता है और इस कारण ऐसा कार्य निषिद्ध भी समझा जाता है।"

मावरर कहता है—"वह व्यक्ति बाल-अपराधी है, जो जान-बूझकर, इरादे के साथ तथा अपनी जानकारी से अपने समाज की रूढ़ियों का उल्लंघन करता है।"

नूमियर कहता है—"बाल अपराध समाजविरोधी व्यवहार का ऐसा कोई प्रकार है जो व्यक्तित्व एवं सामाजिक विघटन के कारण उत्पन्न होता है।"

हर्वर्ट क्वे कहता है—"बाल अपराधी वह है जिसका दुर्व्यवहार अपेक्षित रूप से गंभीर कानूनी अपराध है, जो उसके विकास के स्तर के अनुकूल नहीं है, जो अत्यंत निम्न बौद्धिक स्तर, विकृत मस्तिष्क अथवा गंभीर मानसिक या शारीरिक दुष्कार्य के कारण नहीं किया गया है और वह व्यवहार उस व्यक्ति की अपनी संस्कृति के अनुकूल नहीं है।"

केन जॉन के अनुसार "बाल अपराधी राज्य द्वारा निर्धारित कानूनी आयु से नीचे का वह व्यक्ति है जिसने या तो कानून का उल्लंघन किया है या जो अन्य क्रियाओं के कारण बालन्यायालयों में लाया जा सकता है और जिसे 'बाल अपराधी' करार दिया गया है।"

एम० जे० सेथना के अनुसार "बाल अपराध वह अपराध है, जो किसी स्थान पर लागू कानून की दृष्टि से अनुचित कार्य माना जाता है, फिर वह किसी बालक द्वारा किया जाय चाहे किसी युवक द्वारा।"

सुशील चन्द्र के अनुसार "समाज के प्रस्थापित आचरणों से विचलन ही बाल अपराध कहा जायेगा।"

राबिन्सन कहता है—"बाल अपराधी की विशेषताएँ हैं—आवारागर्दी, भीख माँगना, दुर्व्यवहार, बुरे इरादे से शैतानी करना और उद्दंडता।"

बाल अपराध की कुछ कानूनी परिभाषाएँ भी हैं, जो अनेक राज्यों द्वारा निर्धारित की गई हैं।

ओहियो (अमरीका) की सरकार के बाल-कल्याण विभाग के अनुसार 'बाल अपराधी' वह है, जो प्रदेश के किसी नियम का उल्लंघन करता है; जो अपने माता-पिता, गुरुजन, अध्यापक, अभिभावक के उचित नियंत्रण में नहीं रहता, उनकी आज्ञा का पालन नहीं करता; जो स्कूल या घर से प्रायः भाग जाता है; जिसके कार्य ऐसे हैं जिनसे अपने या दूसरों के चरित्र तथा स्वास्थ्य

पर बुरा प्रभाव पड़ता है और जो माता-पिता, अभिभावक या वैध अधिकारी के बिना निश्चित नियमों के विपरीत वैवाहिक संबंध स्थापित कर लेता है।[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बाल अपराधी उस युवक या युवती को बताया है जिसने निश्चित आयु के भीतर दंड विधान के अंतर्गत अपराध किया है और जो बाल अदालत या बाल-कल्याण समिति के समक्ष उपस्थित किया गया है ताकि उसकी ऐसी चिकित्सा हो सके जिससे वह पुनः समाज द्वारा स्वीकृत हो सके।[2]

बाल अपराधों की प्रकृति

बाल अपराध नाना प्रकार के होते हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या जुआ, चोरी संबंधी होती है। मादक द्रव्यों के संबंध में किये जानेवाले अपराधों की संख्या भी कम नहीं होती। दंगा और हत्या तथा आत्महत्या आदि के प्रयत्न, अपहरण, यौन संबंधी अपराध, धोखा, दंगा, अमानत में खयानत, विश्वासघात आदि के भी कुछ अपराध होते हैं। समाजविरोधी कार्यों में प्रायः सभी प्रकार के अपराध बाल अपराधी करते पाए जाते हैं। मात्रा में कमीवेशी की बात दूसरी है। फिलीपाइन के कारागार विभाग के मुख्य संचालक अलफ्रेड एम० वुली ने अमरीका के प्रसिद्ध नगर शिकागो में पत्र-प्रतिनिधियों को बताया था कि २० वर्ष से कम उम्र के किशोरों में अपराध बहुत बढ़ गया है। इन अपराधों में ऐसे अपराध बहुत हैं जिनका कोई कारण नहीं है। वे बिना कारण हत्या कर डालते हैं। वे बहुत-से ऐसे अपराध करते हैं जिनका कोई कारण भी समझ में नहीं आता।[3]

बाल अपराधी के लक्षण

बाल अपराधी असंख्य रहते हैं। वे नाना प्रकार के दुर्व्यवहार करते पाये जाते हैं। उनके पूरे लक्षणों की सूची तो कठिन है, कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

अनैतिक और अशोभनीय व्यवहार करना, स्कूल से भाग जाने की आदत, अनैतिक और बुरे आदमियों से संपर्क, रात्रि को निरुद्देश्य घूमते रहना, बीड़ी-सिगरेट आदि का व्यसन आदि।

---

१. मैनुएल ऑफ चाइल्ड वेलफेयर लॉज, चिल्ड्रेन्स सर्विस, समाज कल्याण विभाग, कोलम्बिया, ओहियो, १९३९

२. दि प्रिवेंशन ऑफ जुविनाइल डेलिनक्वेंसी— यू० एन० ओ०, अप्रैल १९५५, पृष्ठ ३

३. "दि शिकागो अमेरिकन"; २४ मई, १९५८।

बाल अपराधी अपने अज्ञान और कुसंग आदि के कारण अनेक अनैतिक और असामाजिक कार्य करने लगते हैं। अधिकतर बिना जाने और कुछ जान-बूझकर ऐसे कृत्यों में संलग्न हो जाते हैं। कानून तोड़ना उनका उद्देश्य या लक्ष्य नहीं होता, पर वे सहज ही गलत मार्ग पर चल पड़ते हैं। हीली और ब्रूनर जैसे विचारक ऐसा मानते हैं कि मनोवैज्ञानिक कारणों से बहुत-से बालक अपराध करने लगते हैं। जैसे, माता-पिता आदि से प्रतिशोध लेने के लिए, परिवार के तनावपूर्ण वातावरण से बचने के लिए, रोमांच और उत्तेजना प्राप्त करने के लिए।[1] जो बालक निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते रहते हैं, आवारा और दुष्ट लोगों के साथ घूमते रहते हैं, पढ़ने-लिखने और किसी रचनात्मक कार्य में मन नहीं लगाते, वे बड़ी सरलता से बाल अपराधी बन जाते हैं।

बाल अपराधियों का वर्गीकरण

विभिन्न विचारकों ने बाल अपराधियों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। किसी ने आयु के आधार पर, किसी ने व्यवहार के आधार पर, किसी ने अपराधी क्रियाओं के आधार पर, किसी ने लिंग के आधार पर, किसी ने मानसिक भावना के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है।

आयु के आधार पर वर्गीकरण के प्रायः तीन-चार भेद हैं—७ वर्ष, ११ वर्ष, १५ वर्ष, १८ वर्ष। भारत में यह भेद इस प्रकार है—७ से १२ वर्ष, १२ से १६ वर्ष, १६ से २१ वर्ष। आयु के आधार पर वर्गीकरण करनेवाले ऐसा मानते हैं कि एक सीमा तक आयु की वृद्धि के साथ-साथ अपराधी प्रवृत्ति में भी वृद्धि होती चलती है। ये लोग ऐसा मानते हैं कि अपराध रोकने के लिए प्रारंभिक स्तर से ही नियंत्रण आवश्यक है।

व्यवहार के आधार पर वर्गीकरण करनेवाले टप्पन जैसे समाजशास्त्री बाल अपराधियों के ५ वर्ग करते हैं—

१. पारिवारिक और सामुदायिक संदर्भवाले बाल अपराधी,
२. व्यावहारिक समस्यामूलक बाल अपराधी,
३. सुधार के लिए असाध्य बाल अपराधी,

---

1. विलियम हीली और आगस्टा एफ० ब्रूनर : 'न्यू लाइट ओन डेलिनक्वेंसी एण्ड इट्स ट्रीटमेंट, न्यू हेवन, १९३६; डेलिनक्वेंट्स एण्ड क्रिमिनल्स : देअर मेकिंग एंड अनमेकिंग, न्यूयार्क; १९२६।

४. समाजविरोधी बाल अपराधी और

५. गंभीर असंवैधानिक बाल अपराधी ।

पहले वर्ग के बाल अपराधी वे हैं जो पारिवारिक अनुशासन भंग होने पर और परिवार के विघटित होने पर अनैतिक आचरण करने लगते हैं । दूसरे वर्ग के बाल अपराधी वे हैं जो समस्यामूलक होते हैं । बात-बात पर क्रुद्ध होकर लड़ने-झगड़ने लगते हैं और कृत्रिम यौन-संतुष्टि खोजते रहते हैं। अनावश्यक शारीरिक गतिविधियाँ करने लगते हैं । तीसरे वर्ग के बाल अपराधी वे हैं जिनका रोग असाध्य रूप धारण कर लेता है । वे स्कूल छोड़कर, घर छोड़कर भाग जाते हैं । बड़ों की अवज्ञा करते हैं । किसी का कोई अनुशासन नहीं मानते । चौथे वर्ग के बाल अपराधी वे हैं जो अपराधी प्रवृत्ति से संबद्ध व्यवहार करते हैं । चिंता, तनाव, आक्रमण, हिंसा, द्वेष, शत्रुता आदि में डूबे रहकर अपराध करने लगते हैं । पाँचवें वर्ग के बाल अपराधी वे हैं, जो चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या, बलात्कार, आत्महत्या जैसे अपराधों में संलग्न रहते हैं ।

कार्य के आधार पर वर्गीकरण में चार वर्ग किये जाते हैं—

(१) बालक, (२) किशोर-पूर्व, (३) किशोर और (४) युवक बाल अपराधी ।

पहले वर्ग के 'बालक' अपराधी शरारतन अपराध करते हैं । जैसे, अनुचित व्यवहार करना, गाली बकना, दुर्जनों का संग करना, धम्रपान करना, स्कूल से भागकर निरुद्देश्य घूमना, भीख माँगना, अन्य अपराधियों के प्रलोभन में पड़कर अपराध करने लगना । दूसरे वर्ग के 'किशोर-पूर्व' अपराधी पैसे के लिए या अन्य संतुष्टियों के लिए मादक पदार्थों का सेवन करने लगते हैं और घातक शस्त्रास्त्र इधर-उधर पहुँचाने लगते हैं। तीसरे वर्ग के 'किशोर' अपराधी चोरी, जेबकटी और ठगी करने लगते हैं और यौन अपराधों की ओर आकृष्ट हो जाते हैं । 'किते न औगुन वे करें नैवे चढ़ती बार' !

तीसरे वर्ग के किशोर अपराधी यौवनागम की उमंग में नवीनता की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होकर अनैतिक और असामाजिक कार्य करने लगते हैं । चौथा 'युवा' वर्ग के अपराधी बल और बुद्धि से भी संपन्न रहते हैं । अपराध की ओर झुकाव रहने से उनकी आदतें पक्की बनने लगती हैं और वे जघन्य अपराधों में भाग लेने लगते हैं ।

डनहेम और लिण्डस्मिथ ने बाल अपराधियों को दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) व्यक्तिगत अपराधी और (२) सामाजिक अपराधी।

व्यक्तिगत बाल अपराधी असामाजिक और व्यक्तिगत कारकों से उत्पन्न होते हैं। सामाजिक बाल अपराधी मुख्यतः सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं।

लिंग के आधार पर बाल अपराधियों के दो वर्ग किये जाते हैं—

(१) बालक अपराधी, (२) बालिका अपराधी।

ऐसा माना जाता है कि गंभीर अपराध करनेवाले बालक ही होते हैं, बालिकाएँ नहीं। अनेक अध्ययनों से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

क्षेत्र के आधार पर भी वर्गीकरण किया जाता है—

१. औद्योगिक और नगरीय क्षेत्र के बाल अपराधी,

२. देहाती क्षेत्र के बाल अपराधी।

नगरों और शहरों में, औद्योगिक क्षेत्रों में बालक सहज ही अनियंत्रित हो जाते हैं, इसलिए ऐसे क्षेत्रों में बाल अपराध अधिक होते है। देहाती और ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक नियंत्रण अधिक रहता है। अतः देहाती क्षेत्रों में बाल अपराध कम होते है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हैडफिल्ड जैसे लोगों ने बाल अपराधियों के ५ वर्ग किये हैं—

१. दयालु बाल अपरावी,

२. स्वाभाविक बाल अपराधी,

३. साधारण बाल अपराधी,

४. प्रतिक्रियात्मक बाल अपराधी और

५. मनोस्नायविक बाल अपराधी।

दयालु बाल अपराधी वे हैं, जो सामाजिक या वैधानिक दृष्टि से नियम-विरुद्ध कार्य करते हैं, पर यों उनका विचार वैसा नहीं होता। पानी बरस रहा है, यह देखकर वे कक्षा छोड़कर मैदान में भाग जाते हैं। अथवा इसी प्रकार का कोई साहसिक कार्य कर बैठते हैं। उन्हें सरलता से सुधारा जा सकता है।

स्वाभाविक बाल अपराधी वे हैं, जो शारीरिक दोषों अथवा शारीरिक क्रियाओं के दोषपूर्ण व्यवहार के कारण अपराध करने लगते हैं। कुछ बालिकाएँ ऋतुस्राव के समय चोरी जैसे अपराध करती हैं। मानसिक असंतुलन बिगड़ जाने से ऐसे अपराध बन पड़ते हैं। शारीरिक उपचार तथा मानसिक चिकित्सा द्वारा इन्हें ठीक किया जा सकता है।

साधारण बाल अपराधी वे हैं जो वैयक्तिक और सामाजिक आवश्यकताओं के द्वंद्व के कारण अपराध करते हैं। दूषित पर्यावरण और दूषित पालन-पोषण और शारीरिक दंड आदि के कारण ऐसे अपराध किए जाते हैं।

जब माता-पिता और अभिभावकों आदि से बालक को दुःख-ही-दुःख मिलता है, तो अनेक बालक 'प्रतिक्रियात्मक बाल अपराधी' बन जाते हैं। प्रेम और वात्सल्य के अभाव में उसकी उल्टी प्रतिक्रिया असामाजिक आचरण और यौन संबंधी दूषित प्रतिक्रियाओं में अभिव्यक्त होती है।

'मनोस्नायविक बाल अपराधी' वे हैं, जो अवरुद्ध भावनाओं के कारण अपराध करते हैं। आवश्यकता न होने पर अनेक बालक और किशोर युवक-युवती आदि चोरी करते हैं। अचेतन मन की प्रेरणा से किसी अवदमित वासना की अभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार के अपराध किए जाते हैं।

इस प्रकार बाल अपराधियों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है।

वयस्क अपराधी और बाल अपराधी

यों तो वयस्क और प्रौढ़ अपराधी तथा बाल अपराधी अपराध की दृष्टि से अपराधी ही हैं, फिर भी दोनों में अंतर है। इस अंतर की विशेषता आयु में कमी-वेशी तो है ही, अनेक अपराधों की प्रकृति में भी भेद है। कितने ही कार्य ऐसे हैं, जो वयस्कों द्वारा किये जाने पर अपराध की श्रेणी में आ जाते हैं, परंतु बालकों और किशोरों द्वारा किये जाने पर अपराध की श्रेणी में नहीं आते। बहुत-से ऐसे काम हैं, जो कानूनन अपराध न होते हुए भी बाल अपराध मान लिये जाते हैं। जैसे, आवारा लोगों, शराबियों, जुआरियों, डाकुओं के साथ घूमना; माता-पिता की आज्ञा के बिना घर से गायब रहना, सड़कों पर निरुद्देश्य घूमते रहना आदि।

अलबर्ट के० कोहेन ने अपराधी और बाल अपराधी में इस प्रकार भेद किये हैं—

बाल अपराध	प्रौढ़ अपराध
१. बाल अपराध निरुपयोगी होता है। बाल अपराधी विना उपयोग के भी अनेक अपराध करता है।	१. प्रौढ़ अपराध उपयोग की दृष्टि से होता है। प्रौढ़ अपराधी केवल ऐसे ही अपराध करता है जिनसे उसे कुछ लाभ होता है।
२. बाल अपराधी कभी-कभी केवल विनोद, द्वेष, मजाक के लिए अपराध करता है। जैसे राह चलते ढेला मारकर मोटर का शीशा तोड़ देना; रेल का पटरी पर पत्थर रख देना; किसी को धोखे से पानी में ढकेल देना आदि।	२. प्रौढ़ अपराधी विनोद और मनोरंजन के लिए ऐसे अपराध नहीं करता।
३. बाल अपराधी योजना बनाकर कोई अपराध नहीं करता।	३. प्रौढ़ अपराधी योजना बनाकर और प्रायः संगठित होकर अपराध करता है।

बाल अपराधी के सुधार के लिए बाल न्यायालय होते हैं। दंड के स्थान पर उसके प्रति दया बरतने का प्रयत्न होता है, जब कि प्रौढ़ अपराधी को दंड देने का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। बाल अपराधी को सामान्य अपराधी से पृथक् रखने की भी व्यवस्था की जाती है।

बाल अपराध के सिद्धांत

बाल अपराध के संबंध में विद्वानों ने अनेक प्रकार के सिद्धांत उपस्थित किये हैं। इनमें कोहेन, मिलर, सदरलैंड, माट्जा, विलनार्ड, क्लीवार्ड आदि के सिद्धांत विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अपराधशास्त्र के शास्त्रीय, सुखवादी, भौगोलिक, परिस्थिति शास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, समाजवादी, प्रारूपवादी, वंशानुक्रमवादी आदि सिद्धांतों से भी कुछ लोग इन सिद्धांतों का संबंध बताते हैं।

कोहेन ऐसा मानता है कि निम्न वर्ग के बालक मध्यम वर्ग के साथ प्रतिद्वंद्विता में असफल होने पर एक विशिष्ट उपसंस्कृति की रचना करते हैं। वे उपयोगिता की दृष्टि से अपराध नहीं करते। वे मध्यमवर्गीय मूल्यों का विरोध करने के लिए अवैधानिक और विपरीत आचरण करते हैं। उसके लिए वे कष्ट भी उठाते हैं और तत्कालीन संतुष्टि को ध्यान में रखकर अपराध कर डालते हैं। उनके सुधार का उपाय यही है कि वे या तो अपने

निम्नवर्गीय जीवन को स्वेच्छा से स्वीकार कर लें या उनका स्तर ऊँचा उठाकर मध्यमवर्गीय बना दिया जाय ।

मिलर की ऐसी मान्यता है कि निम्न वर्ग में कष्ट, कठोरता, उत्तेजना, क्रोध, भाग्यवाद आदि बातें मूल रूप से रहती हैं, जिनके कारण बाल अपराधी बनने की संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मध्यमवर्गीय मूल्यों के आधार पर हमारी वर्त्तमान व्यवस्था बनी है। वह निम्नवर्गीय मूल्यों से भिन्न है। निम्न वर्ग में उद्दंडता सहज है जिससे अपराधों का होना कठिन नहीं है। बड़े शहरों में निम्न वर्ग के बालकों को अपने जैसे साथी मिल जाते हैं, जिससे अपराधों में वृद्धि होने लगती है ।

सदरलैंड के मत से बालकों को दुर्व्यवहार ग्रहण करने के लिए, उन्हें सीखने के लिए अवसर-ही-अवसर हैं। इस संपर्क-विविधता के कारण बालक दुर्गुण सहज प्राप्त कर लेते हैं। सद्गुणों को ग्रहण करने के लिए उस प्रकार के अवसर सुलभ नहीं रहते। दुर्व्यवहारों और दुर्गुणों के अनुकरण से बाल अपराध बढ़ते चलते हैं।

मात्ज़ा न तो कोहेन के सिद्धांत को स्वीकार करता है, न मिलर के सिद्धांत को। वह न तो बाल अपराध की उपसंस्कृति को भाँजता है और न उसे केवल निम्नवर्गीय क्रिया मानता है। उसके मत से अधिकांश उद्दंड बालक अपने कार्य को अनुचित मानते हुए भी उसे करते हैं, जिससे उनमें हीन भावना विकसित होती है। बाल अपराधी ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा करते हैं जिन्हें वे ईमानदार और उचित व्यवहार करने वाला समझते हैं। वे अपनी एक कसौटी भी बना लेते हैं कि किस प्रकार के लोगों के साथ दुर्व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार के लोगों के प्रति नहीं। मात्ज़ा ऐसा मानता है कि उद्दंडता को छोड़ना सरल बात है। बाल अपराधी अपने साथियों की भूलों और दोषों का अनुकरण करते हुए गलतियों पर गलतियाँ करते चले जाते हैं । उद्दंडता में न तो उत्तरदायित्व का मान रहता है, न किसी को दंडित या पीड़ित करने की अवधारणा रहती है। उसमें तिरस्कर्ताओं के तिरस्कार की वृत्ति रहती है और ऊंची वफादारी की दुहाई दी जाती है।

क्लिनार्ड पर्यावरण के प्रभावों पर बल देता है। उसका मत यह है कि पुलिस, अदालतें, समाचारपत्र, रेडियो आदि संवादवाहन के साथ, पुस्तकें अपने दोषों के कारण नैतिक संकट का कारण बन गई हैं। उनका दुष्प्रभाव बालकों पर पड़ता है और वे अपराधों की ओर झुक जाते हैं। समाज में उत्तम

आचरण के अच्छे आदर्श और उदाहरण सहज देखने में नहीं आते, अतः सामने जो गलत आचरण रहते हैं उन्हीं का अनुकरण करते हुए बालक अपराधों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्लीवार्ड और ओहलिन का मत है कि वैधानिक रीति से इच्छापूर्ति में बाधा पड़ने से व्यवहार में विचलन आता है। विचलित व्यवहार से ही अपराधों की श्रृंखला आरंभ हो जाती है।

बाल अपराध के लिए उत्तरदायी एक नहीं, अनेक कारण हैं। इस संबध में समाजशास्त्री एकमत नहीं हैं। किसी ने इसके कुछ कारण बताये हैं, किसी ने कुछ। कोई व्यक्तित्व संरचना को बाल अपराधों का दोषी बताता है, कोई मानसिक दुर्बलता को। कोई परिवार को दोषी ठहराता है, कोई पर्यावरण को। कोई आर्थिक कारकों पर बल देता है, कोई पर्यावरणीय कारकों पर। जितने मुँह उतनी बातें। जैसे—

बाल अपराध के कारण

मावरर कहता है कि बाल अपराध के लिए उत्तरदायी कारक ३ हैं—

१. शारीरिक कारक, २. मनोवैज्ञानिक कारक और ३. सामाजिक कारक।

गिलिन और गिलिन के मत से बाल अपराध के कारक ५ हैं—

१. भौतिक पर्यावरण, २. शारीरिक और मानसिक लक्षण, ३. वंशानुगत विशेषताएँ, ४. आर्थिक कारक और ५. सामाजिक कारक।

नूमियर इसके ७ कारक बताता है[1]—

१. व्यक्तित्व संबंधी कारक—(क) प्राणिशास्त्रीय, मानसिक तथा भावात्मक दशाएँ; (ख) चरित्र गठन और व्यवहार संबंधी लक्षण, २. पारिवारिक परिस्थितियाँ, ३. अवांछनीय तत्वों की संगति, ४. सामुदायिक संस्थाओं का प्रभाव, ५. जनसंख्या संबंधी कारक और सांस्कृतिक भिन्नता, ६. आर्थिक तथा भौतिक पर्यावरण संबंधी कारक और ७. अपर्याप्त नियंत्रण।

हीली और ब्रानर ने बाल अपराध के १३ कारण बताये हैं—

१. बुरी संगति, २. कैशोरिक अस्थिरता और भावनाएँ, ३. पूर्व यौन अनुभव, ४. मानसिक संघर्ष, ५. पूर्ण सामाजिक सुझाव ग्राह्यता, ६. साह-

---

१. एम. एच. नूमियर : जुवेनाइल डेलिनक्वेंसी इन माडर्न सोसाइटी, १९५५, पृष्ठ ८४

सिकता, ७. चलचित्र, ८. स्कूली जीवन में असन्तोष, ९. दूषित मनोरंजन, १०. आवारा जीवन, ११. व्यावसायिक असन्तोष, १२. आकस्मिक घटनाएँ और १३. भौतिक परिस्थितियाँ।

इलियट और मैरिल ने ये कारक बाल अपराध के लिए उत्तरदायी बताये हैं—

(१) परिवारिक कारक, (२) शारीरिक और जैविकीय कारक, तथा मनोवैज्ञानिक कारक, (३) सामुदायिक कारक, और (४) युद्ध।

पारिवारिक कारकों में उनके मत से आनुवंशिकता, टूटे परिवार, अपराधी भाई-बहन, माता-पिता की उपेक्षा, अनैतिकता, सामाजिक शिक्षण और परिवार की आर्थिक स्थिति को प्रमुख कारण बताया गया है। शारीरिक और जैविकीय कारकों में शारीरिक तत्वों और मानसिक तत्वों को, भावुकता और मानसिक संघर्षों को प्रमुख माना गया है। सामुदायिक कारकों में घर, मकान, मनोरंजन, चलचित्र, मनोरंजक साहित्य, स्कूल, बेकारी, अपराधी क्षेत्र आदि को विशेष रूप से उत्तरदायी माना है। युद्ध के कारण बाल अपराध बढ़ते हैं। इसे तो सभी स्वीकार करते हैं।[1]

भारत सरकार ने बाल अपराधों के कारणों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है[2]—

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ७९-९४

२. 'सोशल वेलफेयर', फरवरी १९५९।

बाल अपराध के कारण
वातावरण संबंधी कारण
व्यक्तिगत कारण
घर के भीतर
घर के बाहर
जैविकीय
मनोवैज्ञानिक
बाहर
१. बुरा पड़ोस
२. बुरा गिरोह
३. कम मनोरंजन
४. कम स्कूल
१. शारीरिक विकार
२. अस्वास्थ्य
३. अविकसित शरीर
४. अधिक विकसित शरीर
व्यक्तित्व
१. हीनता की भावना
२. मानसिक अंतर्द्वन्द्व
३. अवरुद्ध वासनाएँ
४. अहम् भावना
मानसिक विकार
१. मानसिक रोग
२. मंद बुद्धि
३. मानसिक अस्थिरता
निर्धनता
१. अधिक भीड़
२. बेकारी
३. माता-पिता का बाहर काम करना
अस्वस्थ पारिवारिक संबंध
१. माता या पिता का प्रभुत्व
२. माता-पिता में कलह
३. सौतेले माता-पिता
४. पक्षपात
५ भाई-बहनों में अनबन
६. स्पर्धा
७. उपेक्षित बालक
८. अत्यधिक देखरेख
९. बच्चों के प्रति उदासीनता
अनुशासन
१. अत्यधिक कठोर
२. अत्यधिक ढीला
अनैतिकता
१. मद्यपान
२. व्यभिचार
३. जुआ
४. अत्याचारपूर्ण व्यवहार
विघटित परिवार
१. मृत्यु
२. तलाक
३. परित्याग
४. पिता को जेल
५. पिता की अत्यधिक व्यस्तता

इन सब कारणों पर दृष्टिपात करने से बाल अपराधों की समस्या का व्यापक रूप प्रकट होता है। इन अपराधों की जड़ें पर्यावरण में भी हैं, परिवार में भी हैं, व्यक्ति में भी हैं, समाज में भी हैं। घर के भीतर भी हैं, घर के बाहर भी हैं। आर्थिक कारक भी उनके लिए दोषी हैं, सामाजिक और सामुदायिक कारक भी।

वैयक्तिक कारक—बाल अपराधों के कुछ वैयक्तिक कारक भी होते हैं। बालक के शारीरिक और मानसिक दोषों के चलते उसमें अपराध की भावना पनपती है,—ऐसा मत रखनेवाले समाजशास्त्री कहते हैं कि बहुत से बालक शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त रहते हैं। कोई काना होता है, कोई अंधा, कोई लूला होता है, कोई लंगड़ा। कोई किसी अंग से अपंग होता है, कोई किसी अंग से। ये शारीरिक दोष केवल संगी-साथियों के ही उपहास के साधन नहीं बनते, उनके माता-पिता तक उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। इस प्रक्रिया का सहज प्रभाव यह होता है कि ऐसे बालकों में हीनता की भावना और उसके साथ-साथ प्रतिशोध की भावना पनपने लगती है।

कुछ शारीरिक ग्रंथियों में रहने वाले दोषों से कुछ बालक-बालिकाओं में कुछ रोग आ जाते हैं। उनके कारण उनके खानपान, खेल-कूद आदि पर घरवाले प्रतिबंध लगा देते हैं। इन प्रतिबंधों के प्रति विद्रोह करते-करते बालक में अपराधी वृत्ति आ जाती है। बालकों की मंद बुद्धि और मानसिक रोग, असुरक्षा की भावना, हीनता की भावना उन्हें अपराधों की दिशा में ढकेल देती है। संवेगात्मक अस्थिरता, मानसिक असंतुलन, मनोरोग-जैसे रोग बालक को जब पीड़ित करने लगते हैं, तो वह अपराध कर बैठता है।

किसी बालक का शरीर कम विकसित हो पाता है, किसी का अधिक हो जाता है, कोई बीमार ही बना रहता है, किसी में कोई विकार घर कर लेता है, किसी में हीनता की, अवरोध की, अहम् की भावनाएँ मानसिक अंतर्द्वंद्व को बढ़ाती हैं, किसी के मानसिक रोग उसके व्यक्तित्व में असामंजस्य उत्पन्न कर देते हैं.—ऐसी स्थिति में बालक अपराधों की ओर सहज ही झुक जाते हैं। ये जैवकीय और मनोवैज्ञानिक कारण उनके बाल अपराधों को जन्म देते हैं।

पारिवारिक कारक : परिवार बालक की पहली पाठशाला है। वहाँ उसका पालन-पोषण होता है, उसकी सुरक्षा की व्यवस्था रहती है, उसे सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान मिलता है, स्नेह, वात्सल्य, सद्गुण आदि की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है। इन सब बातों का बालक के जीवन पर

स्थायी प्रभाव पड़ता है। परिवार यदि अपने इन महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों के पालन में असमर्थ रहता है, तो वहीं से बालक के बिगड़ने की संभावना आरंभ हो जाती है।

जो परिवार विघटन की दिशा में बढ़ने लगते हैं, जिन परिवारों में माता और पिता, पति और पत्नी के बीच खटपट रहती है, कलह और विद्वेष, लड़ाई और झगड़ा चलता है, बच्चों की उपेक्षा होती है, उनमें किसी-किसी के प्रति पक्षपात किया जाता है, सबको स्नेह और वात्सल्य नहीं मिल पाता, वहाँ बालकों पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन परिवारों में बालकों के प्रति बहुत कड़ा अथवा बहुत ढीला अनुशासन रहता है, जिस परिवार में माता-पिता अनैतिक आचरण करते-कराते हैं, जहाँ मद्यपान, व्यभिचार, जुआ, अत्याचार आदि बातों का प्रसार रहता है अथवा जहाँ आर्थिक संकट, बेकारी, गरीबी आदि छायी रहती है, उन परिवारों में भी बालकों का अपराध की ओर मुड़ जाना कठिन नहीं है। मृत्यु, तलाक, परित्याग, जेल आदि विघटन के स्वरूप जिस परिवार में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसके बालकों का अपराध करना सहज है। सौतेले माता-पिता का दुर्व्यवहार, माताओं की नौकरी, पिता की अत्यधिक व्यस्तता आदि भी बाल अपराधों को बढ़ावा देती है।[1]

हीली ने १००० अपराधी बालकों के संबध में शोध करके यह निष्कर्ष निकाला था कि दोषपूर्ण घरेलू वातावरण में बाल अपराध बड़ी मात्रा में बढ़ जाते हैं। उसका विश्लेषण इस प्रकार है—

कारण	१८ वर्ष से ऊपर के बालक-बालिका	१८ वर्ष से नीचे के बालक-बालिका
घरेलू झगड़ा	२६	७८
परिवार वालों का शराबी, दुराचारी होना	६२	९५
घरेलू नियंत्रण का अभाव	२	१०
गरीबी	४	५९
बीमारी	२	२६
माँ-बाप की लापरवाही	७	३१
माता का बाहर काम करना	२१	३२
माता-पिता का अलगाव	२०	३५
घर में वासनापूर्ण वातावरण	५	२३

१. सदरलैंड और क्रेसी: प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिमिनोलाजी, पृष्ठ १७२

हीली का कहना है कि शिकागो के १००० बाल अपराधियों में १९ प्रतिशत बाल अपराधी मुख्य रूप से और २३ प्रतिशत गौण रूप से घरेलू विकृत वातावरण की उपज थे। २३ प्रतिशत बाल अपराधी माता-पिता के नियंत्रण के सर्वथा अभाव की देन थे।[1] चार हजार भग्न परिवारों के अध्ययन से पता चला कि ५० प्रतिशत बाल अपराधी भग्न परिवारों में से ही आते हैं।[2]

पिता अपने कार्यालय या दूकान में व्यस्त रहता है और बच्चों की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाता। माँ भी परिवार की और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकरी का सहारा ले लेती है। ऐसी स्थिति में अनेक परिवारों में बालक नियंत्रणहीन हो जाते हैं। ऐसी दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए नूमेयर कहता है—'जब माँ रात में ड्यूटी देती है, पिता दिन में, अथवा माँ दिन में ड्यूटी देती है पिता रात में, तो बच्चे प्रायः 'सड़क पर ड्यूटी' देते हैं!'[3] उस स्थिति में बच्चों का सड़क पर आवारा घूमना स्वाभाविक है और यहीं से बाल अपराधों की जड़ पड़ने लगती है।

निर्धन परिवारों में आर्थिक संकट के कारण कुछ बालक अपराधों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। उनकी समुचित देख-रेख नहीं हो पाती और अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति ठीक से नहीं हो पाती। इसलिए अपराधों की ओर उनका झुक जाना अस्वाभाविक नहीं। अनेक शोधों से इस तथ्य की पुष्टि हुई है कि बालक अपराधियों में अधिकांश निर्धन परिवारों से आते हैं।[4] पर साइरिल बर्ट का यह कथन भी सत्य है कि धनी परिवारों के बालक भी अपराध तो करते ही हैं, परन्तु पैसे की थैली के बल पर वे कानूनी शिकंजे में फँसने से बच जाते हैं।

जो बालक-बालिका होटलों, उपहारगृहों आदि में छोटे-मोटे काम करने के लिए नौकरी कर लेते हैं, उनमें अपराधी वृत्ति पनपते विशेष देर नहीं लगती। लड़कियाँ कम वेतन, गंदी स्थिति और वरगलानेवाले लोगों के प्रलोभनों में फंस कर यौन-अपराधों में पड़ जाती हैं।

---

१. विलियम हीली: दि इनडिविजुअल डेलिनक्वेंट, बोस्टन, १९१३, पृष्ठ १३०-१३४
२. हीली और ब्रोनर: डेलिनक्वेंटस एण्ड क्रिमिनल्स-देअर मेकिंग एण्ड रिमेकिंग, न्यूयार्क, पृष्ठ १२१-१२५
३. मार्टिन एच० नूमेयर: जुविनाइल डेलिनक्वेंसी इन माडर्न सोसाइटी, न्यूयार्क, १९५५, पृष्ठ १६१
४. शा और मेके: जुविनाइल डेलिनक्वेंसी एण्ड अर्बन एरियाज, शिकागो, १९४२, पृष्ठ १४१

मकानों में यदि भीड़भाड़ अधिक रहती है, स्थान की तंगी रहती है, अथवा मदिरालय, वेश्यालय, जुए के अड्डे अथवा अन्य अपराधी प्रवृत्तियों के अड्डे आसपास रहते हैं, तो बालक सहज ही अपराधों की ओर ढुलक जाते हैं।

सामुदायिक कारक : निवास, आवास, स्कूल, पाठशाला, मनोरंजन, चलचित्र, सिनेमा, नौटंकी, अश्लील साहित्य, भोगविलास को उत्तेजन देनेवाले समाचार पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें आदि बाल अपराधों को बढ़ाने में आग में घी जैसा काम करती हैं।

फिलप्पाइन के कैथोलिक असोसियेशन के अध्यक्ष फेलसियानो जोवर लेडेस्मा ने राजधानी मनीला के रोटरी क्लब के समक्ष भाषण करते हुए अगस्त, १९५८ में कहा था कि 'गलत ढंग के सिनेमा चित्र, प्रति १० फिल्मों में ८ में डकैती, लूटपाट, कम उम्र के बालकों की शरारतें, बन्दूकबाजी तथा प्रहार के खेल होते हैं, जो लड़के-लड़कियों के मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं। गंदे साहित्य, नंगी, भद्दी तस्वीरों की बिक्री तथा स्कूल और घर में पहुँच जाने वाली गंदी कहानियों की पुस्तकें उनके मन को गंदा कर देती हैं।'[१] चल-चित्र और टेलीविजन तथा रेडियो बच्चों को प्रसिद्ध गीत, प्रेमालाप और कुछ अपराधी प्रक्रियाएँ सिखाते हैं।[२]

शिक्षा मानव के सर्वांगीण विकास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन होती है। उससे मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनता है और उसमें उत्तम मानवीय गुणों का विकास होता है। विद्या का लक्ष्य ही है कि वह मानव को हर प्रकार की पराधीनता से, अज्ञान से, अंधविश्वास से मुक्त कर उसे स्वतंत्र मानव बनाये। **'सा विद्या या विमुक्तये'**। परंतु आज शिक्षा की कैसी दुर्दशा है! वह मनुष्य को नाना प्रकार के बंधनों में जकड़ने का साधन बन रही है। स्कूल और कालेज, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य की ओर कम ध्यान दे रहे हैं। सर्वत्र नौकरी, मान-प्रतिष्ठा और पद की ही आकांक्षा व्यापक रूप धारण कर रही है। ज्ञान अर्जित कर मानव अपने जीवन को सफल करे, इस बात की किसे चिंता है?

आज के सामुदायिक जीवन में नाना प्रकार के दोषों एवं विशृंखलताओं का समावेश हो गया है। उसके कारण बालक-बालिकाओं के जीवन में आरंभ से ही दूषित संस्कार जमने लगते हैं जो आगे चलकर अपराधों का स्वरूप

---

१. परिपूर्णानन्द वर्मा: पतन की परिभाषा, पृष्ठ १९७, २३०, २३२
२. सदरलैंड और क्रेसी ; प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिमिनोलाजी, पृष्ठ २१५

ग्रहण कर लेते हैं। वैयक्तिक और पारिवारिक, सामाजिक और सामुदायिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन होते चल रहे हैं कि बालक और युवा, प्रौढ़ और वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी का झुकाव विघटन की दिशा में होता चल रहा है। घर के भीतर जो कलह और संघर्ष पनपता है, वही घर के बाहर विद्रोह, उपद्रव और युद्ध का रूप धारण करता है। घृणा और विद्वेष, क्षोभ और क्रोध की ही ये सब शाखा-प्रशाखाएं हैं। युद्ध और अपराधों का घनिष्ट संबंध है। युद्ध की स्थिति में बलि के बकरों को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। वस्तुओं का अभाव बढ़ता चलता है और उसके साथ-साथ सरकारी नियंत्रण कड़े होते चलते हैं। युद्धजन्य इन परिस्थितियों में समाजविरोधी तत्वों को खुला खेलने का मौका मिलता है। ऐसे तत्वों के हाथ में अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बालक पड़ जाते हैं और अपराध करने लगते हैं। घर के लोग, समर्थ और सशक्त लोग युद्ध के मैदान में चले जाते हैं। स्त्रियाँ, बालक और वृद्ध घर रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में बालक-बालिकाओं पर नियंत्रण भी कम ही रह पाता है। उसके कारण भी बाल अपराधों में वृद्धि होने लगती है। युद्धकाल में और उसके पहले तथा बाद में युद्ध की विभीषिका के चलते अपराधों की संख्या में अंधाधुंध वृद्धि होती है। बालक भी उसका शिकार बने बिना नहीं रह पाते।

युद्ध और अपराध

द्वितीय महायुद्ध काल में यूरोप की स्थिति का वर्णन करते हुए इलियट और मैरिल लिखते हैं कि बालक के माता-पिता दोनों युद्ध में फँसे थे (पिता सेना में था, माँ कारखाने में), उस समय बालक ऐसी दुनियाँ में रहता था, जहाँ उसकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं था। बम बरसते थे, तो दुकानों और गोदामों से माल लूटकर भागना ऐसे बालकों के लिए अत्यन्त सरल था। लड़कियाँ शांतिकाल की अपेक्षा युद्धकाल में यौन-आकर्षणों में फँसकर बड़ी संख्या में पतनोन्मुखी हो जाती थीं। अमेरिका में भी उस समय बाल अपराधों में ५० प्रतिशत वृद्धि हो गयी थी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाल अपराध के लिए उत्तरदायी अनेक कारक हैं। बालक के व्यक्तिगत दोष भी उसे अपराधी बना सकते हैं, पारिवारिक दोष भी, माता-पिता का लालन-पालन दोषपूर्ण होता है, बालक के प्रति उनका व्यवहार दोषपूर्ण और अविवेकपूर्ण होता है तो भी बालक अपराधों

१. इलियट और मैरिल: सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ९४।

की ओर झुक जाता है। हीली ने ११-१२ साल के एक लड़के का उदाहरण दिया है। लड़का सुशील और सच्चरित्र था। धूम्रपान आदि के दोषों से मुक्त था। एक दिन शाम को उसके पिता ने उसे आराम करते देखा। पढ़ने के समय आराम करता है, यह सोचकर वह बिगड़ा। छोटे लड़के ने पिता को बताया था कि उसकी तबीयत खराब है। पिता बोला—"झूठ बोलता है। वह मुझसे ज्यादा बीमार नहीं है।" पिता के इस एक वाक्य ने लड़के का जीवन बदल दिया। उसने सोचा—"अच्छा, मैं झूठा हूँ? बहानेबाज हूँ? ठीक है। अब मैं ऐसा ही करूँगा।" बस, उसी दिन से वह आलसी, निरुद्यमी, सिगरेट पीनेवाला और न जाने क्या-क्या बन गया। दुनिया भर के दुर्गुण उसने ग्रहण कर लिये। उसकी जिंदगी चौपट हो गयी। समाज के हाथ से एक भला लड़का निकल गया।[1]

पर्यावरण के दोष, आर्थिक परिस्थितियाँ, सामाजिक और सामुदायिक स्थितियाँ भी बाल अपराधों की वृद्धि में सहायता करती हैं। लड़के-लड़कियों में अपराध की वृत्ति पनपने लगती है, तो उसका पर्यावसान कहाँ होगा, कौन कह सकता है।

वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन और सामाजिक विघटन रोकने के लिए यह परम आवश्यक है कि समाज की रीढ़ बालक-बालिकाओं को सभी दृष्टियों से स्वस्थ और चरित्रवान बनाया जाय। आज के बालक ही कल राष्ट्र के कर्णधार बनते हैं। 'बालक ही मनुष्य का पिता है'—यह लोकोक्ति अत्यन्त सारगर्भित है। बालकों की पौध की यदि ठीक ढंग से रक्षा कर ली जाय और उसे उत्तम संस्कारों से संस्कृत बना दिया जाय तो अपराध समस्या का स्वतः समाधान हो जाय।

बाल-अपराधों का निवारण

एक चित्रकार ने एक बार ऐसे बालक को खोजा, जो अत्यन्त पवित्र और निर्मल दीखता हो। बड़ी खोज के उपरांत उसे ऐसा एक बालक मिला। उसका उसने चित्र बनाया। पचीसों वर्ष बाद उसी चित्रकार की इच्छा हुई कि ऐसा व्यक्ति खोजा जाय जो घोरतम पापी हो। खोजते-खोजते उसे एक जेलखाने में ऐसा व्यक्ति मिला। उसका भी उसने चित्र तैयार किया। उस कैदी ने चित्रकार से चर्चा की तो उसे मालूम हुआ कि अमुक स्थान पर इतने वर्षों पूर्व उसने एक बालक का चित्र बनाया था। कैदी ने उसे देखने की इच्छा

१. हीली : इनडिविजुयल डेलिनक्वेंसी, पृष्ठ ३९९।

प्रकट की। उस चित्र को देखकर वह फूट फूट कर रोने लगा। बोला, "चित्रकार महोदय, यह बालक वाला चित्र भी मेरा ही है! आपका पवित्रतम बालक परिस्थितियों से आज घोरतम पापी बन बैठा है!" पवित्रात्मा के पापात्मा बनने की और पापात्मा के पवित्रात्मा बनने की ऐसी सत्य घटनाएँ जीवन में विरल नहीं हैं।

बाल अपराधों के जो कारण हैं, उन्हीं में उनके निवारण के उपाय विद्यमान हैं। सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि बालक-बालिकाओं का लालन-पालन उत्तम रीति से किया जाय। मानव की समाजीकरण की प्रक्रिया में जिन-जिन संस्थाओं का योगदान रहता है, उन सबका योगदान इस प्रकार का हो जिससे बालक-बालिका का व्यक्तित्व स्वस्थ, प्रसन्न, उन्नत एवं सामंजस्यपूर्ण बन सके। परिवार और पास-पड़ोस, मित्रमंडली और पाठशाला, घर और बाहर—सर्वत्र ऐसा वातावरण हो जिसका कि बालकों पर अच्छा प्रभाव पड़े। आचार-व्यवहार, रीतिरिवाज, शिक्षण, मनोरंजन आदि सभी का झुकाव जब बालकों को सर्वांगीण रूप से विकसित करने की ओर रहेगा, तभी इस दिशा में कुछ अच्छी प्रगति हो सकेगी। एक ओर इस प्रकार का पर्यावरण बनाया जाय, दूसरी ओर राज्य और सरकार की ओर से सुधार के लिए जो कानून-कायदे बनाये जायँ, उनमें दंड के स्थान पर दया और उदारता का विशेष ध्यान रखा जाय। 'स्पेअर दि रॉड एण्ड स्पॉइल दि चाइल्ड'—(छड़ी चलाने में कसर की कि बच्चा बिगड़ा!) ऐसी लोकोक्तियाँ बालक का सुधार न करके उसे अपराधोन्मुख ही अधिक बनाती हैं। दंड के स्थान पर करुणा, प्रेम और उदारता का व्यवहार ही बालक को अपराधी बनाने से बचा सकता है। दंड से तो स्थिति उत्तरोत्तर विषम ही बनती चलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

उचित रीति से लालन-पालन : बाल अपराधों के निवारण की सबसे पहली और सबसे बड़ी जिम्मेदारी परिवार की, माता-पिता और अभिभावकों की होती है। जो माता-पिता इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके बालक स्वस्थ और चरित्रवान बनें, उन्हें स्वयं भी चरित्रवान बनना होगा। बाबा चिलम भरने के लिए यदि पोते को आदेश देगा, तो यह स्वाभाविक-सा है कि पोता चिलम भरते समय दो-चार कश खींच लेगा। अनैतिक आचरणवाले माता-पिता और अभिभावक यदि चाहें कि उनके बालक चरित्रवान बनें तो उनकी आशा दुराशा मात्र सिद्ध होगी। यों हिरण्यकशिपु के घर प्रह्लाद जैसे

एकाध उदाहरण हो सकते हैं, परंतु अधिकतर तो यही देखने में आता है कि बालक माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों के दुर्गुण सरलता से सीख लेते हैं। कभी-कभी तो अच्छे माता-पिता के बच्चे भी नालायक निकल जाते हैं—'डूबा वंस कबीर का उपजे पूत कमाल।'

बच्चों के लालन-पालन में इस बात की पहली आवश्यकता है कि माता-पिता जिन सद्गुणों का बालकों में विकास करना चाहते हैं, उनका अपने भीतर स्वयं विकास करें। लेखक के एक मित्र ने पुत्र जन्मोत्सव के साथ-साथ शराब और सिगरेट छोड़ दी। बीसों बरस पहले की यह बात है। उसका सुपरिणाम यह है कि उनके बच्चे कायस्थ परिवार के होते हुए भी इन व्यसनों से मुक्त हैं।

लालन-पालन में दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों को माता-पिता की ओर से भरपूर प्यार मिले। प्यार यदि नहीं मिलता अथवा उसके वितरण में पक्षपात आदि किया जाता है, तो बालक भीतर-ही-भीतर कुढ़ते रहते हैं और इस कुढ़न का विस्फोट नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में तथा अपराधों में होता है। माता-पिता बुजुर्ग और समझदार होते हुए कभी-कभी बच्चों की तरह नादान बन जाते हैं और बच्चे को पीट-पीट कर अपने रास्ते पर लाना चाहते हैं। इसकी बुरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है।

अमरीका की एक प्रमुख समाजसेविका और शिष्ट महिला कहती है: 'मेरी छोटी बच्ची के संबंध में न्यूयार्क के सर्वोत्तम बालचिकित्सकों ने सलाह दी कि इसे पालक खिलाना चाहिए। बच्ची को पालक का रस पिलाना एक समस्या थी। मेरे पति और नर्स बालिका को कसकर पकड़तीं और मैं उसकी जमकर दबायी हुई बतीसी को जबरन खोलकर पालक के रस से भरे दो-चार चम्मच उसके मुँह में घुसाती। बच्ची रोती-चिल्लाती रहती पर हम उसकी सिसकियों पर कोई ध्यान न देते!' यह ऐसी माँ की बात है जो 'कठकरेजी' नहीं थी! एक ऐसे ही पिता का हाल सुनिए—था तो वह समझदार, पर जई का आटा उसके ३ साल के बच्चे को पसंद नहीं था। 'मैं इसे नहीं खाऊँगा!' बच्चा कहता और पिता जी उसपर चपतों की वर्षा करते। उधर बालहठ, इधर पिताहठ। कुछ सेकेंडों को छोड़कर यह चपतबाजी दस-दस पंद्रह-पंद्रह मिनट चलती। कुछ आटा बच्चे के पेट मे पहुँचता तो तुरत ही बच्चा कै कर देता।[१]

---

१. कार्ल मेनिंजर: लव अगेंस्ट हेट, लंदन, पृष्ठ २१।

'जाओ नहीं खाते, मारो !'—ऐसी जिद पकड़ लेनेवाले बच्चे मार खाते जाते हैं, पर झुकते नहीं। माना, माता-पिता बच्चों के हित की दृष्टि से डाक्टरों की सलाह से ऐसा करते हैं, पर जो चीज बच्चों को नापसंद है, उसे जबरन खिलाने का यह तरीका तो ठीक नहीं। केवल खिलाने पिलाने की ही बात नहीं, अन्य असंख्य बातों में भी माँ-बाप बच्चों को अपने इच्छा के अनुसार चलाना चाहते हैं। उसके लिए वे प्रेम और पुचकार का रास्ता छोड़कर डंडे का रास्ता पकड़ते हैं जो सर्वथा गलत है। माता-पिता प्रायः बच्चों की भावनाओं का आदर नहीं करते, उसके व्यक्तित्व का आदर नहीं करते, प्रायः असत्य बोल कर, धमका कर, डरा कर अपनी इच्छा के अनुसार उसे घुमाने का प्रयत्न करते हैं। मेनिंजर कहता है कि ऐसा करना घोरतम अपराध है।[1]

एक मानस-रोगिणी : मेनिंजर ने दर्जनों उपन्यासों की लेखिका स्कोविली मेयर का एक उदाहरण देते हुए बताया कि लालन-पालन दोषपूर्ण होने से बालकों के मानस में किस प्रकार घृणा, द्वेष और प्रतिहिंसा की भावनाएँ उत्पन्न होकर रोगों का कारण बनती हैं।[2] उक्त महिला को तीव्र उच्च रक्त-चाप की शिकायत थी, भारी मानसिक तनाव था। यहाँ तक कि कभी-कभी सुई में डोरा डालने में और एक बटन टांकने में उसे डेढ़-डेढ़ घंटे का समय लग जाता।

एक दिन वह स्वतः लेखन के क्रम में कई लंबे-लंबे कोष्ठक बनाकर लिखने लगी—

"......मैं सदा यह चाहती थी कि माँ मुझे प्यार करे परंतु वह मुझे कभी प्यार ही नहीं करती थी। वह दूसरों का अधिक ध्यान रखती थी। मेरी माँ

---

१. वही, पृष्ठ ३०
२. वही, पृष्ठ १२६-१२७

मेरी कोई चिंता नहीं करती थी। मैं जो कुछ करता उन बातों पर वह कभी विश्वास न करती। मुझे कोई कष्ट होता तो वह प्रसन्न होती। मेरी मुसीबत में वह हँसती, मैं उससे घृणा करने लगी क्योंकि मैं उसे इतना प्यार करती और वह मुझे बिलकुल प्यार न करती। मेरी कोई चिंता न करती। मैं उससे घृणा करती और उसकी हत्या कर डालना चाहती। मैं यदि कर पाती, तो मैं उसकी हत्या कर डालती, क्योंकि मेरे लिए वह कभी चिंता ही नहीं करती थी।... ..."

यह सब लिखने के उपरांत उसका रक्तचाप उतर कर नीचे आ गया। उसकी बीमारी दूर हो गयी। वह इस मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा द्वारा अच्छी हो गई। घर जाकर अपने लेखन-कार्य में लग गई।"

झूठा दुलार : स्पष्ट है कि माता-पिता से जब बच्चों को भरपूर प्यार नहीं मिलता, तो उनके बालमानस में घृणा, द्वेष और प्रतिशोध की भावनाएँ पनपने लगती हैं। लाड़, प्यार और दुलार में विवेक की अत्यधिक आवश्यकता रहती है। दुलार में लड़के बनते ही नहीं, बिगड़ते भी हैं। एक अपराधी जब फाँसी के तख्ते पर लटकने को हुआ, तो उसने माँ से मिलने की इच्छा प्रकट की। माँ ने उसकी बात सुनने को कान उसकी ओर बढ़ाया, तो उसने दाँतों से उसका कान ही कुतर लिया। रोती-चिल्लाती माँ वहाँ से भागी तो लड़का बोला : 'तेरे गलत दुलार के चलते ही आज मुझे फाँसी पर लटकना पड़ रहा है। जिस दिन मैं स्कूल से पहले पहल पेंसिल चुराकर लाया था, उस दिन तू मेरी तारीफ न करके मुझे दो-चार चपतें कस कर लगा दिये होती, तो क्यों मेरी चोरी और फिर डकैती की आदत पड़ती और आज फाँसी की नौबत आती ?' प्रायः माताएँ दुलार में बच्चों के गलत कामों की भर्त्सना के स्थान पर उनकी उपेक्षा करती हैं, कभी उनका समर्थन भी कर देती हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें गलत कामों की चाट लग जाती है और वे अपराध की दिशा में चलने लगते हैं।

बच्चे गलत काम करें, तो उन्हें उनसे विरत करने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए। उन्हें इस प्रकार एकांत में समझाना चाहिए कि वे अपनी गलती समझकर उसे सुधारने के लिए स्वयं उत्सुक हों। बात-बात पर उन्हें डाँटना, फटकारना, दूसरों की उपस्थिति में उनके प्रति दुर्व्यवहार करना बिलकुल गलत ही नहीं, निर्दयतापूर्ण आचरण है। कुछ माता-पिता बिना समझे-बूझे बच्चों को डाँटते-डपटते रहते हैं, जिसका कुपरिणाम यह होता है कि बच्चे

जिद्दी बन जाते हैं और निषिद्ध कार्यों को करने में प्रतिशोध भावना की तुष्टि मानने लगते हैं।

पिता का प्रायश्चित्त : डब्लू० लिविंगस्टन लार्नेड ने बच्चों को डाँटने-डपटने के संबंध में एक अत्यन्त भावपूर्ण लेख लिखा था—'फादर फोरगेट्स' (पिता का अनुताप)। अमेरिका के 'पीपुल्स होम जर्नल' में यह सबसे पहले प्रकाशित हुआ, फिर 'रीडर्स डाइजेस्ट' में और उसके उपरांत सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में छपा, रेडियो पर पढ़ा गया और अनेक भाषाओं में अनूदित हुआ। बहुत ही मर्मस्पर्शी है यह लेख।

बेटा सो रहा है अपने कमरे में। पिता उसमें प्रवेश करके अनुताप के स्वर में बेटे से क्षमा माँगता है—बेटे, आज सवेरे से शाम तक मैंने तुझे बहुत बार डांटा-डपटा है, तेरे साथियों के सामने तुझे जलील किया है। मैं घर से ट्रेन पकड़ने को चला और तूने 'गुड बाइ डैडी!' कहा, तब मैंने आँखें तरेर कर तुझे डाँटा। अभी-अभी शाम को तू 'गुड नाइट' कर के मुझे चूम कर सोने चला आया तो मुझे लगा कि तू कितना उदार है और मैं कितना नालायक! मैं यह बिलकुल भूल गया कि तू बच्चा है, मैं बुजुर्ग हूँ। मेरे अपराध को तू क्षमा कर। कल से मैं तेरा सच्चा 'डैडी' (पिता) बनने का प्रयत्न करूँगा। तुझे बात-बात पर डाँटने की अपनी बुरी आदत छोड़ दूँगा...[१]

बच्चे, बच्चे हैं। माता-पिता और बुजुर्ग लोग जब उनके आयुभेद को भुलाकर उनसे अपने जैसी ही परिपक्वता की अपेक्षा करने लगते हैं, तो उनका व्यवहार दोषपूर्ण हुए बिना नहीं रहता। माता-पिता उन्हें खिलने दें, कभी-कभी प्रयोग भी करने दें, अपनी गलतियों से सीखने दें। उन्हें प्रेम से समझायें, आवश्यकता लगने पर एकाध बार डांटें-डपटें भी, पर प्रेम को कभी हाथ से न जाने दें। वे सभी बच्चों को समान प्रेम वितरित करें। ऐसा न हो कि किसी पर सारा प्रेम उड़ेल दें और दूसरे बच्चे उससे वंचित रह जाएँ। माँ-बाप के लिए तो सभी बच्चे समान हैं। सबका उन्हें सर्वांगीण विकास करना है। सभी को उन्नत और चरित्रवान बनाना है। उन्हें न छोटे-बड़े का भेद करना है, न बालक-बालिका का। व्यवहार में अवस्था-भेद के अनुसार भेद हो सकता है, पर प्रेम में किसी के प्रति कटौती नहीं होनी चाहिए।

---

१. डेल कार्नेगी : हाउ टु विन फ्रैंड्स एंड इंफ्लुएन्स पीपुल, ७१वाँ संस्करण, १९६४, न्यूयार्क, पृष्ठ २२३-२२४

बालकों के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार तो होना ही चाहिए, उनकी बाल-जिज्ञासाओं का भी समुचित समाधान किया जाना चाहिए। उन्हें उल्टे-सीधे अथवा गलत उत्तर देकर भरमाना बिलकुल गलत है। वे यदि किसी ऐसी बात की जिज्ञासा करें, जिसका माता-पिता को ज्ञान न हो, तो न तो डाँट कर उन्हें दबाना चाहिए, न असत्य कह कर बहलाना चाहिए, यदि अपने को ज्ञान नहीं है, तो अपना अज्ञान स्वीकर कर लेना अधिक अच्छा है अथवा उस विषय के जानकार व्यक्ति से पूछ कर बालक का समाधान कर देना चाहिए। बालक यदि अपने जन्म आदि के संबंध में जिज्ञासा करे, तो उसका भी समुचित और शिष्ट विधि से समाधान कर देना चाहिए। अनेक माता-पिता गलत बातें कह-कर अथवा बच्चों को डाँट-डपट कर चुप करा देते हैं। यह गलत है। इसके कारण बच्चे अनाधिकारी लोगों से गलत ढंग से बहुत-सी बातें सीखते हैं और उनके बहकावे में पड़कर गलत मार्ग पर चल पड़ते हैं।

माता-पिता यदि बच्चों के लालन-पालन का पूरा ध्यान नहीं देते तो बच्चों का बिगड़ जाना कठिन नहीं है। माता-पिता को बालमनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसकी सहायता से वे बालकों की समस्याओं का समाधान करें। साथ ही बच्चों के शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और चारीत्रिक विकास का भी पूरा ध्यान रखें। उनकी उपेक्षा न करके उन्हें योग्य नागरिक बनाने का प्रयत्न करें। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्र का, समाज-निर्माण करने के लिए बालकों का विधिवत लालन-पालन पहली आवश्यकता है। माता-पिता अपने उदाहरण द्वारा बच्चों के मानस में उत्तम संस्कार डालें तो उनका स्थायी प्रभाव पड़ेगा, डाँट-डपट और उपदेश का वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। मूल बात उसमें रहना चाहिए प्रेम, स्नेह और वात्सल्य की।

उचित शिक्षा-व्यवस्था : घर-परिवार के दायरे के बाहर निकलकर बालक पाठशाला में जाता है। उसके शिक्षण की व्यवस्था घर में आरंभ होती है, वही पाठशाला में जाकर अधिक विकसित होती है। बालकों को चरित्रवान और सुसंस्कारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी पाठशाला उत्तम हो, वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था उत्तम हो, अध्यापक केवल अनुशासन-पालन के लिए ही उत्सुक न हों, वे बालकों को उत्तम सांचे में ढालने के लिए, उनके स्वस्थ, सबल और निर्मल जीवन के विकास के लिए विशेप रूप से सचेष्ट हों। शिक्षा-व्यवस्था में व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए जितनी गुंजाइश होगी, बालकों की प्रगति भी तदनुकूल होगी।

शिक्षा आजकल नौकरी और डिग्रीपरक हो गयी है। उसने चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के अपने लक्ष्य को भुला दिया है। अनेक देशों में, राज्यों में शिक्षा राजनीतिक सत्ता के इशारों पर नाचती है, राजकीय नीतियों और वादों का प्रचार कर बालकों के मस्तिष्क को आरंभ से ही विकृत करने का प्रयत्न करती है। वस्तुतः, शिक्षा ऐसे सभी बंधनों से मुक्त होनी चाहिए। महात्मा गाँधी के अनुसार 'सच्ची शिक्षा वह है, जो मानव के आंतरिक उत्तम गुणों को बाहर लाए और उनका विकास करे'।[१] शिक्षा से मेरा मतलब है बालक या मनुष्य की समग्र शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास।'[२] 'केवल अक्षर ज्ञान की शिक्षा से किसी का नैतिक स्तर तिल भर भी ऊंचा नहीं उठता। चरित्र-निर्माण अक्षर-ज्ञान की तालीम से बिलकुल स्वतंत्र चीज है।'[३]

विनोबा ने शिक्षा के ३ गुण बताये हैं—'अपने पर जब्त (संयम) रखना, निर्भय बनना और विचार की आजादी। ये हैं तालीम की तीन कसौटियां। जिस देश में ये तीन गुण प्रकट होते हैं, वही शिक्षित है।'[४] शिक्षक में भी ३ गुण चाहिए—विद्यार्थियों पर उसका अत्यधिक प्रेम और वात्सल्य हो, वह नित्य निरंतर अध्ययनशील हो और राजनीति से मुक्त हो। हमारे आचार्य आज बैल हो गये हैं। ऊपर से आदेश आता है कि फलानी किताब पढ़ानी है और वे कहते हैं—'जी हाँ!' उन्हें तयशुदा किताबें पढ़ानी पड़ती हैं। जिन लोगों के हाथों में सारे देश के मार्गदर्शन का भार होना चाहिए, वे ही मार्ग खोये हुए हैं। इस स्थिति से तुरत मुक्ति मिलनी चाहिए। शिक्षकों को प्रतिज्ञा करनी होगी कि 'हम राजनीतिक दलों के हाथ की कठपुतली नहीं बनेंगे, हम उनके ऊपर हैं।'[५] शिक्षण की यह दुर्दशा आज विश्वव्यापी बन रही है। स्कूलों में बच्चे सीटी पर नाचते हैं। उन्हें अनुशासन के नाम पर स्वतंत्र चिंतन से वंचित कर दिया जाता है।[६] यह स्थिति केवल अमरीका

---

१. निर्मल कुमार वसु: सिलेक्शन्स फ्राम गांधी, १९४८, पृष्ठ २५१

२. मो० क० गांधी : हरिजन सेवक, हिन्दी साप्ता०, दिनांक ३१·७·३७ पृष्ठ १९१

३. निर्मल कुमार वसु : सिलेक्शन्स फ्राम गाँधी, पृष्ठ २५५।

४. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृष्ठ ३६६

५. वही, पृष्ठ ३६६-३६८

६. चार्ल्स ए० राइख : दि ग्रीनिंग आफ अमेरिका, न्यूयार्क, १९७१, पृष्ठ १०७-१०९

की नहीं है, यत्र-तत्र-सर्वत्र यही हाल है। इसमें आमूल परिवर्तन किये बिना बालक-बालिकाओं का विधिवत् विकास होना संभव नहीं है।

बाल मनोविज्ञान : शिक्षा में दंड और पुरस्कार की पद्धति काम में लायी जाती है। यह पद्धति पुरानी पड़ गयी है। आधुनिक बाल मनोविज्ञान की सहायता लेकर उसे उत्तम दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है। दंड की पद्धति तो शिक्षण से सर्वथा उठा ही देनी चाहिए। दंड से बालक सुधरने की अपेक्षा बिगड़ते ही अधिक हैं। शिक्षक या शिक्षिका को बाल मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। उन्हें एक ही डंडे से सबको हांकने की तथा मंदबुद्धि अथवा शरारती बालकों को दंडित, अपमानित और तिरस्कृत करने की गंदी आदत सर्वथा छोड़ देनी चाहिए। शिक्षकों पर यह दायित्व है कि वे बालक को इस प्रकार शिक्षण प्रदान करें कि उनका सर्वांगीण विकास हो, उनमें सत्य, ईमानदारी, सद्भाव, सेवा, नम्रता, निर्भयता आदि गुणों का अधिकाधिक विकास हो। प्रेम, स्नेह और वात्सल्य द्वारा ही इन गुणों का विकास संभव है। बालक जब कक्षा में अपमानित होता है, उसकी जिज्ञासाओं का ठीक ढंग से समाधान नहीं किया जाता है, उसे निर्भयतापूर्वक अपने विचारों की अभिव्यक्ति नहीं करने दी जाती, उसके व्यक्तित्व का आदर नहीं किया जाता तो यह स्वाभाविक है कि पढ़ने में उसका मन न लगे और वह कक्षा से भाग निकलने की ही योजनाएँ बनाता रहे। स्कूल से मुँह चुरानेवाले बालकों के संबंध में किये जानेवाले अध्ययनों से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित कारणों से बालक स्कूल से भागते हैं—

(१) शिक्षकों और विद्यार्थियों में मधुर संबंधों का अभाव, (२) अध्यापकों की अध्यापन में दिलचस्पी का अभाव, केवल खानापूरी के लिए पढ़ाना, (३) स्वतः सहायता की वृत्ति का अभाव, (४) कक्षाओं का अनाकर्षक होना, बैठने और लिखने-पढ़ने के साधनों का अच्छा न होना, (५) उत्तम पुस्तकालय का अभाव, (६) अच्छे खेल-कूदों और मनोरंजन आदि की अपर्याप्त व्यवस्था (७) पेंटिंग, डिजाइन तथा अन्य कलात्मक कार्यों की पर्याप्त सुविधा का अभाव आदि। तात्पर्य यह है कि जब पाठशाला का वातावरण आकर्षक नहीं रहता, वहाँ पर बालकों को पढ़ने-लिखने, मनोरंजन करने, खेलने-कूदने, चित्र बनाने तथा कला और कारीगरी आदि में प्रवृत्त होने की सुविधा नहीं रहती और साथ ही शिक्षक उनमें पूरी रुचि नहीं लेते तो बालकों का पाठशाला से विरक्त होना स्वाभाविक है।

गुरुभक्त घीसा : शिक्षक और शिक्षिका जब बालकों को अपने पुत्रवत् मानकर स्नेह से उन्हें विद्यादान करते हैं, तो बालक भी उनके लिए प्राण तक न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं। गुरुकुलों की परंपरा में जिस गुरुभक्ति और गुरुसेवा के दर्शन होते रहे हैं, उसका एकमात्र कारण यही था कि गुरु बालकों को पुत्रवत् मानते थे। राजाओं के पुत्र भी सुदामा जैसे दरिद्रों के साथ गुरु के समान कृपापात्र बनते थे। छोटी पाठशाला हो चाहे बड़ी, महाविद्यालय हो चाहे विश्वविद्यालय, बालकों का सद्भाव, आदर, श्रद्धा और सम्मान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यही है कि बालकों के प्रति अपनी संतान जैसा ही प्रेम किया जाय। जहाँ प्रेम और वात्सल्य से भरा गुरु है, वहाँ विद्यालय का भौतिक परिवेश आकर्षक न भी हो, तो भी बालक दौड़-दौड़ वहाँ पहुँचेंगे। महादेवी वर्मा की गंगा किनारे की देहाती पाठशाला का 'घीसा' उनकी लेखनी से अमर नहीं हुआ, उनके मातृ-हृदय के वात्सल्य में डूबकर ही अमर हुआ है।

एक दिन महादेवी जी ने अपने छात्रों से कह दिया—नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर पाठशाला में आना चाहिए।

अभागे घीसा ने अपनी माँ से कहा साबुन के लिए। बेचारी को मजदूरी के पैसे मिले नहीं। दुकानदार ने नाज लेकर विनिमय में साबुन दिया नहीं। लाचार बहुत रात गए पैसे मिलने पर माँ साबुन लायी, तो घीसा अपनी पोशाक धोने बैठा। पाठशाला का समय होता देख वह किसी दयावती द्वारा दिये गये आधी आस्तीन वाले भींगे कुरते और गीले-फटे अँगौछे को लपेटे गुरु साहब के चरणों में उपस्थित हुआ, तो महादेवी जी ('अतीत के चलचित्र' में) कहती हैं कि 'मेरी आँखें ही नहीं, मेरा रोम-रोम गीला हो गया।'

और, जब वे छुट्टी पर जाने लगीं, तो विदाई की वेला में उन्होंने देखा कि घीसा एक बड़ा तरबूज लेकर हाजिर। शंकालु दृष्टि से पूछा तो घीसा बोला—गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना था--तरबूज देखा था कई दिन पहले। माई के लौटने में देर हो गयी। अकेला गया खेत पर, तो तरबूजवाला लड़का कहने लगा—पैसे नहीं, तो कुरता दे जा। सोचा, आज तरबूज न लूँ, तो फिर लेकर करूँगा क्या? कुरता देकर तरबूज ले आया। गुरु साहब चिन्ता न करें। गली में कुरता पहनता नहीं। आने-जाने को पुराना कुरता है ही। गुरु साहब तरबूज न लेंगी तो घीसा रात भर रोयेगा,

छुट्टी भर रोयेगा। ले जावें, तो वह रोज नहा कर पाठ दोहरायेगा और छुट्टी बाद आने पर पूरी किताब पट्टी पर लिखकर दिखा देगा।

वस्तुत: प्रेम की वेल में ही गुरु दक्षिणा के ये तरबूज लटकते हैं।

बालकों का समय-समय पर शारीरिक और मानसिक परीक्षण तथा आवश्यकतानुसार उनका उपचार भी होते रहना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि लब्धि के प्रयोग किये हैं। उनके मत से बुद्धि लब्धि ७० से नीचे के बालक दुर्बल बुद्धिवाले, ७० से ८५ या ९० बुद्धि लब्धि वाले बालक मंद बुद्धि वाले और १२०, १२५ १३० या अधिक बुद्धि लब्धि वाले बालक प्रखर बुद्धि वाले होते हैं। दुर्बल और मंद बुद्धि वाले बालक विषयों को ठीक से ग्रहण नहीं कर पाते, बार-बार असफल होते हैं, उनमें हीनता की भावना पनपती है। उधर प्रखर बुद्धि वाले बहुत शीघ्र अपने विषय को ग्रहण कर लेते हैं। कक्षा की पढ़ाई से उन्हें असन्तोष रहता है। उनकी प्रखरता का पूरा सदुपयोग नहीं होता। दोनों ही प्रकारांतर से गलत रास्ते पर चल पड़ते हैं। एक हताश, निराश और तिरस्कृत होकर, दूसरा सृजनात्मक शक्ति का भरपूर उपयोग न होने के कारण। आवश्यकता इस बात की है कि सभी बालकों का उनकी बौद्धिक और मानसिक स्थिति देखकर उपयुक्त शिक्षण की व्यवस्था की जाय। इसके लिए पाठशालाओं में मनोवैज्ञानिक परीक्षण का प्रबन्ध रहना चाहिए अथवा निकट में ही ऐसे केंद्र रहने चाहिए। इन केंद्रों में बुद्धि लब्धि के अनुकूल शिक्षण का भी प्रबंध हो और बालकों की अभिरुचियों के अनुसार उनके भावी मार्गदर्शन की भी व्यवस्था हो। बालकों की अभिरुचि के अनुकूल जब शिक्षण की व्यवस्था रहती है तो वे अत्यंत प्रसन्नता और मनोयोग के साथ उन्नति करते हैं।

उत्तम संगी-साथी : संगति का प्रभाव किसी से छिपा नहीं। सद्ग्रंथों में सत्संगति के संबंध में उपदेश ही उपदेश भरे पड़े हैं। कारण यही है कि मानव का विकास उसकी संगति के अनुकूल होता है। तुलसी दास का यह कथन अत्यंत सारगर्भित है :

शठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई॥

सज्जनों की संगति से मनुष्य में सद्गुणों का विकास होता है, दुष्टों की संगति से दुर्गुणों का। समाजशास्त्रियों का विश्लेषण इस तथ्य का समर्थन करता है। ब्रेकिनरिज और एबट, हीली, ग्लूएक, शा आदि के अध्ययनों से

सिद्ध होता है कि बालक कुसंगति में पड़कर अपराधों में प्रवृत होते हैं। ग्लूएक ने ५०० बाल अपराधियों में ४९२ को अर्थात् ९८·४ प्रतिशत को ऐसा पाया कि वे अन्य साथियों के साथ अपराध करने गये। शा और मैंके ने शिकागो की बाल अदालतों के रेकर्ड से यह निष्कर्ष निकाला कि ८८.२ प्रतिशत बालक अन्य बाल अपराधियों के साथ अपराध में प्रवृत्त हुए और ९३·१ प्रतिशत ने साथियों के साथ मिलकर चोरी की।[1]

संगति के आधार पर व्यक्ति में गुण और दोषों का विकास होता है—'संगति ही गुण उपजै, संगति ही गुण जाय।' संगति आवारों को समाज विरोधी कार्यों में प्रवृत्त करने का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। 'को न कुसंगति पाइ नसाई।' डाक्टर श्रीवास्तव ने आवारा लड़कों का संगति के आधार पर वर्गीकरण किया है—निश्चित संगतिहीन, अंशतः संगति वाले और क्रियाशील संगति वाले।[2] समाजविरोधी तत्त्व बालकों को अपराधों में लगाकर उनसे जेब कटवाते हैं, चोरी करवाते हैं तथा ऐसे ही अन्य अपराध करवाते हैं। बालकों को स्त्री समाज में सहज प्रवेश मिल जाता है, होटलों और दुकानों में नौकरी मिल जाती है, पकड़े जाने पर वे मार-पीटकर छोड़ दिये जाते हैं। गुंडे, बदमाश और अपराधी लोग बालकों को प्राप्त इन सुविधाओं का दुरुपयोग करते हैं। वे उनमें अपराध की आदत डालते हैं और उनके माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि बालक-बालिकाओं को इस प्रकार के अपराधी लोगों से और आवारा समवयस्क साथियों से बचाया जाय। माता-पिता, अभिभावक और पाठशाला के अध्यापक सभी इस बात की ओर ध्यान दें, तभी बालकों को कुमार्ग से रोका जा सकता है।

उत्तम पर्यावरण : पर्यावरण का तत्त्व भी अपराधों की वृद्धि में सहायक होता है। बालक दूषित पर्यावरण से पूर्णतः बचाये जायँ। समाजविरोधी कार्यों में संलग्न चोर, जुआरी, शराबी, भंगेड़ी, धोखेबाज, चरित्रहीन लोगों से उन्हें बचाने की परम आवश्यकता है। साथ ही उन्हें ऐसे पर्यावरण से भी दूर रखने की आवश्यकता है, जहाँ विलास और फैशन ही सबसे

---

१. शा और मैके : जुवेनाइल डेलिनक्वेंसी एण्ड अर्बन एरियाज, शिकागो १९४२. पृष्ठ १९३-१९९

२. एस. एस. श्रीवास्तव : जुवेनाइल डेलिंक्वेंसी, १९६३, पृष्ठ १२० – १२१

अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सादगी और श्रमनिष्ठा, सचाई और ईमानदारी के पर्यावरण में जब बालकों को रखा जायगा और इन मूल्यों के प्रति उनके मानस में आदर उत्पन्न किया जायगा, तभी वे अपराधों से विरत किये जा सकेंगे।

स्वस्थ मनोरंजन : 'खाली दिमाग शैतान का घर।' अवकाश के क्षणों का यदि उत्तम उपयोग नहीं किया जाता, तो अपरिपक्व बुद्धि के बालक ही नहीं, बड़े-बड़े लोग भी अपराध की दिशा में मुड़ जाते हैं। मनोरंजन की जीवन के लिए आवश्यकता तो है, परंतु वह जब स्वस्थ होता है, तभी वह मानव के लिए हितकर होता है। आज तो सिनेमा, चलचित्र, नाटक, नौटंकी, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि सुरुचिपूर्ण तो कम होते हैं, कुरुचिपूर्ण ही अधिक होते हैं। इनके आयोजक केवल पैसे पर ही दृष्टि रखते हैं, समाज पर पड़ने वाले प्रभाव पर कम ध्यान देते हैं। बालकों को केवल ऐसे ही मनोरंजक कार्यक्रमों में जाने देना चाहिए जो उनमें उत्तम संस्कार डालें। स्वस्थ मनोरंजन से ही उनका तन, मन और चरित्र स्वस्थ और संस्कारी बन सकेगा।

मनोवैज्ञानिक उपचार : बालकों के परीक्षणों से पता चलता है कि यदि उसकी समुचित मानसिक चिकित्सा का प्रबंध रहे तो उनके व्यक्तित्व संबंधी अनेक दोष दूर किये जा सकते हैं और उन्हें अपराधों से विरत रखा जा सकता है। बालकों की मानसिक आवश्यकताओं की तुष्टि न होने पर उनमें भावग्रंथियाँ बन जाती हैं। इन भावग्रंथियों से पीड़ित होने पर बालकों के मानस में अंतर्द्वंद्व उत्पन्न होता है और उनका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। उससे बुद्धिनाश होता है और 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'!

इसके लिए मानसिक चिकित्सा के कितने ही साधनों का आविष्कार किया गया है। युक्तिपूर्ण तर्क उसका अच्छा साधन माना गया है। परंतु जिन बालकों पर उसका प्रभाव न पड़े, उनके लिए सुझाव और उन्नयन का साधन अपनाया जा सकता है। क्रीड़ा द्वारा चिकित्सा, व्यावसायिक चिकित्सा, सामूहिक चिकित्सा, अनादेशात्मक चिकित्सा के उत्तम परिणाम देखे गये हैं।

क्रीड़ा चिकित्सा में बालक को ऐसे खेल खेलाये जाते हैं, जिनसे उनकी रचनात्मक शक्तियों का विकास होता है। इनके द्वारा उनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं जिससे उन्हें संतोष तो मिलता ही है, उनमें सहयोग और भ्रातृत्व जैसे सामाजिक गुण भी विकसित होते हैं।

अंगुलि चित्रण में बालकों के समक्ष लाल, पीला, नीला, हरा रंग रख दिया जाता है और कोरा कागज दे कर कहा जाता है कि इन रंगों से तुम मनमाने चित्र बनाओ। बालक के संवेगात्मक तनावों को निकालने की यह एक उत्तम पद्धति है।

एल० मुरैनो की मनोअभिनय—'साइको ड्रामा' की पद्धति बालकों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है। बालक काल्पनिक अभिनय की भूमिका में प्रविष्ट होकर क्रोध, हर्ष, घृणा, द्वेष आदि के भाव स्वच्छंद रूप से प्रकट करता है। इससे उसका संवेगात्मक रेचन अत्यंत सहज रीति से हो जाता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान की सहायता से बालकों का उपचार करके उनके मानसिक संवेग और तनाव दूर किये जा सकते हैं और उन्हें स्वस्थ और सुशील बनाया जा सकता है।

बाल अपराधों की रोकथाम के लिए ये सारी पद्धतियाँ उपयोगी हैं। यदि घर से लेकर बाहर तक सारा पर्यावरण स्वस्थ और उत्तम रखा जाए, माता-पिता, शिक्षक, अभिभावक आदि सभी लोग समुचित रूप से ध्यान दें, तो बालकों को आरंभ से ही सन्मार्ग पर रखा जा सकता है। फिर तो बाल अपराध की समस्या ही उत्पन्न न होगी।

बाल अपराधी का सुधार

बाल अपराध निवारण के दो प्रमुख साधन हैं। एक तो ऐसा पर्यावरण स्थापित करना जिससे बालक पथभ्रष्ट न हो सकें। यह रोकथाम पहली आवश्यकता है। दूसरी आवश्यकता यह है कि जो बालक पथभ्रष्ट हो गये हैं, उनका सुधार किया जाय।

आज नगरीकरण के चलते बाल अपराध बहुत बढ़ गये हैं। नागरिक जीवन में नाना प्रकार के व्यवहार प्रतिमान, रीति-रिवाज, फैशन, मनोरंजन आदि प्रविष्ट हो गये हैं। तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति ने समाज में जो गतिशीलता ला दी है, उसका जीवन के अनेक अंगों पर प्रभाव पड़ा है। आर्थिक विषमता अत्यधिक बढ़ गयी है। गंदी बस्तियाँ सर्वत्र बस गयी हैं। काम करने वाली माता और काम करनेवाले बालक मजदूर, पारिवारिक नियंत्रण में शैथिल्य आदि के कारण बाल अपराधों के अवसरों में वृद्धि हुई है। स्वस्थ मनोरंजन के स्थान पर अस्वस्थ मनोरंजन के साधन चारों ओर फैले हैं। मनोरंजन का व्यापारीकरण हो गया है। अश्लील चित्र, अश्लील साहित्य, भोगविलासमय वातावरण—सब मिल-जुलकर इस प्रकार विषाक्त

बन बैठा है कि बाल अपराधों का विस्तार परम स्वाभाविक और सहज बन गया है।

प्रश्न है कि इस विषम स्थिति में बाल-अपराध तो होंगे ही, उनका निवारण कैसे किया जाय ? उसके लिए उपाय यही है कि पर्यावरण के सुधार के साथ-साथ बाल-अपराधी के सुधार का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय।

दृष्टिकोण में सुधार : अपराध की दृष्टि से तो ऐसा ही कहा जाता है कि अपराधी को उसका समुचित दंड दिया जाना चाहिए। आधुनिक समाज-शास्त्री और विचारक अब इस विषय में एकमत-से होने लगे हैं कि सामान्य अपराधी और बाल अपराधी के बीच भेद करना चाहिए। न तो दोनों को एक समान दंड देना चाहिए और न दोनों को एक साथ जेल में रखना चाहिए। बाल अपराधी यदि सामान्य अपराधियों के साथ, पेशेवर अप-राधियों के साथ रखे जाते हैं, तो वे जेल से शातिर अपराधी बन कर बाहर आते हैं। अतः बाल अपराधियों के प्रति दंड में भी उदारता बरतनी चाहिए और उनके सुधार का भी विशेष प्रयत्न करना चाहिए। उसके लिए बाल न्यायालय, प्रवीक्षण व्यवस्था, सुधार-गृह और बोर्स्टल संस्था आदि का आयोजन प्रायः सर्वत्र किया जा रहा है जिससे बाल अपराधी उत्तम नागरिक बनकर बाहर निकलें।

बाल न्यायालय : सन् १९५८ में लंदन में बाल न्यायालयों के अध्यक्ष जान वाटसन से जब लार्ड सैमुएल ने बाल न्यायालयों की प्रगति आदि के संबंध में पूछा तो उन्होंने कहा कि जनता सामान्यतः यह मानती है कि ये न्यायालय बाल अपराधियों को अपराध के अनुसार दंड देने के लिए बने हैं, परंतु बात ऐसी नहीं है। इन्हें बनाते समय पार्लमेंट ने स्पष्ट आदेश दिया था कि बाल न्यायालयों में बच्चों के कल्याण की भावना सर्वोपरि रहनी चाहिए।[1] बाईस साल के अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए वाटसन ने कहा कि हमारे सामने सबसे कठिन समस्या उन बच्चों की नहीं है जो घरेलू वातावरण में बिगड़ गये हैं या जिनमें संयम या विनय का अभाव है। सबसे कठिन बालक तो वे हैं जो घर में प्रेम, सहानुभूति और सुरक्षा के अभाव में बिगड़ गये हैं। वे बड़े भयंकर अपराधी होते हैं। भला प्रेम का भूखा बच्चा प्रेम कैसे पा सकता है जब उसके माता-पिता 'स्वयं अपने को प्यार' करते हैं ?

---

१. 'सण्डे टाइम्स', लंदन, ६ मार्च, १९५८

उसे अपने घर में सुरक्षा कैसे मिलेगी, जहाँ प्रतिदिन पति-पत्नी में कलह होती रहती है ? तलाक होता है, नया पिता या नयी माँ मिलती है ? जहाँ माँ किसी एक बच्चे को प्यार करती है, पिता किसी दूसरे को, कलह में बच्चों की दलबंदी भी सामने आ जाती है। वहाँ कैसे ये बच्चे धूर्त, झूठे, आवारा तथा लंपट न निकलें ?………हमारा काम खेदजनक है, पर उसमें एक संतोष भी है। इन बच्चों में इतना मूल्यवान गुण भरा हुआ है कि उसे केवल तह से निकाल कर ऊपर लाने की आवश्यकता है। हम देखते हैं कि उनमें साहस है, सहिष्णुता है, नेतृत्व शक्ति है तथा ऐसी मौलिक ईमानदारी है जो झूठी बातों के बीच से निकलकर चमक उठती है। इनके गुणों का विकास करने के लिए सहायता की आवश्यकता है। बाल न्यायालय उनके इन छिपे गुणों को पहचान कर, उनके विकास का मौका पैदा कर भविष्य में एक अधिक स्वस्थ समाज का रचना का कार्य कर सकते हैं।''[१]

ईसा ने बालकों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति बताया था। स्वच्छ, निर्मल, पवित्र बालक ! उनके हृदय में उत्तम गुणों का आवास है। पर्यावरण के दोषों से, माता-पिता, घर-परिवार वालों आदि की ओर से स्नेह और वात्सल्य की कमी से उन उज्ज्वल गुणों पर पर्दा पड़ जाता है। इस पर्दे को हटाने की आवश्यकता है। अंगारे पर राख पड़ गयी है जिससे वह धूमिल लगता है। उसे झाड़ दीजिये, राख को फूँक से उड़ा दीजिये, नीचे से वह जगमगाता अंगारा प्रकट हो जायगा।

बाल न्यायालयों का उद्देश्य यही है कि किन्हीं कारणों से यदि अंगारों पर राख पड़ गयी है, तो उसे झाड़-फूँक कर निकाल दिया जाय। जिस प्रेम, प्यार, मुहब्बत के अभाव में ये बालक अपराधों की दिशा में झुकते हैं, उस प्रेम का विस्तार करने से समस्या का सहज ही निराकरण हो सकता है।

बाल न्यायालयों का संगठन इस उद्देश्य से किया जाता है कि वैज्ञानिक प्रक्रिया से इस बात का पता लगाया जाय कि बालक ने अपराध क्यों किया तथा उसके सुधारने का क्या उपाय हो सकता है ? वहाँ बाल अपराधी को न तो हथकड़ी-बेड़ी लगाकर लाया जाता है, न रस्सी से बांध कर। पुलिस भी सादी वर्दी में रहती है। न्यायालय में जूरी और जज, वकील और बैरिस्टर नहीं रहते। उनके स्थान पर एक मजिस्ट्रेट रहता है, एकाध अवैतनिक महिला मजिस्ट्रेट रहती है। एकाध मानस चिकित्सक रहता है।

१. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, पृष्ठ २३४-२३६

बालक की बात अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक सुनी जाती है और परिस्थिति का अध्ययन कर या तो उसे माता-पिता के सुपुर्द कर दिया जाता है, या परिवीक्षण अधिकारी के पास, या किसी सुधार विद्यालय में भेज दिया जाता है।

परिवीक्षण अधिकारी : बाल अपराधी को परिवीक्षण अधिकारी की संरक्षकता में इसलिए रख दिया जाता है कि वह अपराधी की मानसिक वृत्तियों तथा उसकी परिस्थितियों का सूक्ष्म रीति से अध्ययन करे तथा कभी दण्ड का भय दिखलाकर और कभी नरमी से समझाकर उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

परिवीक्षण का आरंभ अमरीका के बोस्टन नगर के एक चर्मकार जॉन आगस्टस से होता है। सन् १८४१ में उसने अपने यहाँ की पुलिस अदालत से एक शराबी को अपनी जमानत पर छुड़ाया। उसकी देखरेख में यह शराबी 'भला, संयमी और परिश्रमी' नागरिक बना। अपने इस परिणाम को देखकर जॉन आगस्टस ने अन्य अपराधियों को भी इसी भाँति सुधारने का प्रयत्न किया। १७ वर्ष में उसने ११५२ पुरुषों और ७९४ स्त्रियों की इस प्रकार सहायता की। ऐसे ही अन्य स्वयंसेवकों ने इस प्रकार के अपराधियों के सुधार के कार्य में हाथ बँटाया। ऐसे स्वयंसेवकों को परिवीक्षण अधिकारियों का पूर्वज माना जा सकता है।[1] सन् १८७८ में मसाचुसैट्स राज्य में परिवीक्षण का पहला कानून बना और उसके बाद अन्य राज्यों तथा देशों में इसका प्रचलन हुआ। इंगलैंड में सन् १९२५ में इसके लिए कानून बना। परिवीक्षण क्षेत्र बना दिये गये। भारत में भी परिवीक्षण की कई राज्यों में व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश में सन् १९३८ में 'प्रथम अपराधी परिवीक्षण अधिनियम' बना। बम्बई, मद्रास आदि में भी उसके लिए व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अंतर्गत ७ से २४ वर्ष तक की आयु के अपराधी किशोर परिवीक्षण अधिकारी के संरक्षण में रखे जाते हैं।

परिवीक्षण अधिकारी के कार्य इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

(१) वह परिवीक्षणीय लोगों से मैत्री स्थापित करेगा और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करेगा। (२) समय-समय पर उनके घर जाकर उनसे मिलेगा और कभी कभी अपने यहाँ भी उन्हें निमंत्रित करेगा। (३) परिवीक्षणीय व्यक्ति अपने शर्तनामे की शर्तें पूरी कर रहा है कि नहीं, इसकी देखरेख रखेगा।

---

१. सदरलैण्ड और क्रेसी : प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिमिनोलोजी, पृष्ठ ४२३। 'जॉन आगस्टस : फर्स्ट प्रोबेशन आफिसर', १९३९।

(४) उसके व्यवहार के संबंध में अदालत को सूचित करता रहेगा। (५) वह उचित मंत्रणा और मार्गदर्शन करता रहेगा और (६) परिवीक्षणीय व्यक्ति को काम-धंधा दिलाने में सहायता करेगा।

परिवीक्षण का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। यदि ठीक ढंग से स्नेह और सहानुभूति से परिवीक्षण किया जाय तो उससे अद्भुत लाभ होता है। उसके सामाजिक महत्त्व के संबंध में कहा गया है कि 'परिवीक्षण मैत्रीपूर्ण देखरेख में शिक्षणीय निर्देशन तथा मार्गदर्शन है। इसमें केवल निगरानी ही नहीं रखनी होती है अपितु बाल अपराधी से घनिष्ठता भी प्राप्त करनी होती है। इस निकटता और आत्मीयता की प्राप्ति के लिए इस बात की आवश्यकता है कि परिवीक्षण अधिकारी अत्यंत सुलझे हुए, शिक्षित, सहानुभूतिपूर्ण अनुभवी व्यक्ति हों।'[1]

उत्तर प्रदेश में १८ वर्ष तक केवल १२ जिलों में ही परिवीक्षण अधिनियम लागू था, उसकी १९३९ से १९५७ तक की रिपोर्ट इस प्रकार है—

१. परिवीक्षणीय अपराधियों की संख्या—२३८०

२. जो परिवीक्षणीय अपराधी सुधार की अवधि में सुधर गये—१८४४ या ७७.४%

३. जो परिवीक्षणीय अपराधी सुधर नहीं सके—१३५ अर्थात् ५.६%

२ अक्टूबर, १९५४ से ३१ दिसम्बर १९५७ तक परिवीक्षण के अंतर्गत २४ वर्ष से कम आयु के अपराधियों की प्रगति इस प्रकार है—

वर्ष	जिनका मामला समाप्त हुआ	सफल परिवीक्षण	असफल परिवीक्षण
२.१०.५४ से ३१.१२.५४ तक	१७	१७ या १००%	×
१९५५	११७	११५ या ९८.३%	२ या १.७%
१९५६	३८७	३८४ या ९९.२%	३ या ०.८%
१९५७	५७२	५६९ या ९९.५%	३ या ०.५%
	१०९३	१०८५ या ९९.२%	८ या ०.८%

1. फ्लैक्सनर और वाल्डविन: जुवेनाइल कोर्ट्स एंड प्रोवेशन, न्यूयार्क, [illegible], पृष्ठ ७६

परिपूर्णानन्द वर्मा का कहना है कि जेल में न भेजकर, जीवन तथा चरित्र को नष्ट न कर, नये ढंग से समाज तथा खुले वातावरण में रखकर सुधार करने के तरीके की महत्ता को स्थापित करने के लिए इन आँकड़ों से बढ़कर और क्या प्रमाण दिया जा सकता है।[१]

इलियट और मैरिल का कहना है कि 'परिवीक्षण पर रखे जाने वाले व्यक्ति को उत्तम परामर्श और सहायता मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसे काम या नौकरी मिलने में सहायता दी जानी चाहिए और परिवार तथा समुदाय के साथ संबंध स्थापित करने के संबंध में मार्गदर्शन मिलना चाहिए। अवकाश के समय ऐसे व्यक्तियों के लिए उपयुक्त कार्य की भी व्यवस्था रहनी चाहिए। अन्यथा परिवीक्षणीय व्यक्ति सहज ही पुनः संकटग्रस्त हो जाते हैं। परिवीक्षण अधिकारियों को प्रायः इस विषय की समुचित शिक्षा नहीं मिली रहती और उनके पास इतने अधिक मामले रहते हैं कि वे सभी परिवीक्षणीय व्यक्तियों का समुचित रीति से निरीक्षण नहीं कर पाते।[२] बाल अपराधी का सुधार तो केवल तभी हो सकेगा, जब परिवीक्षण अधिकारी दक्ष, योग्य और सहानुभूतिपूर्ण होंगे तथा थोड़े ही व्यक्ति उनके निरीक्षण में होंगे।

सुधार संस्थाएँ : बहुत दिनों तक विवाद चलने के उपरांत न्यूयार्क में सन् १८२५ में सबसे पहला अमेरिकन सुधारगृह खोला गया। यह सुधार-गृह सर्वहारता-निवारण असोसियेशन, न्यूयार्क की ओर से खोला गया था, पर सरकार उसे आर्थिक अनुदान देने लगी थी। १८४७ में मसाचुसैट्स में सबसे पहला सरकारी सुधारगृह खुला। तब से सरकारी और गैरसरकारी अनेक सुधारगृह खुले हैं।[३] अमरीका में ही नहीं, अन्यान्य देशों में भी ऐसे सुधार-गृह खोले गये हैं। भारत में भी ऐसे अनेक स्कूल हैं।

इन सुधारगृहों में, जिन्हें रिफार्मेटरी, सर्टीफाइड स्कूल, आक्जिलियरी होम, बोर्स्टल संस्था आदि के नाम से पुकारा जाता है, अपराधी बालकों को सामान्य शिक्षा, शारीरिक और नैतिक शिक्षा तथा अनेक प्रकार की औद्योगिक शिक्षा दी जाती है, जिससे उनका चरित्र भी उन्नत हो और वे अपने पैरों पर खड़े होकर स्वावलंबी बन सकें।

---

१. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, पृष्ठ २७८—२७९

२. इलियट और मैरिल: सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ५५७

३. सदरलैंड और क्रेसी : प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनोलोजी, पृ० ४५२।

ऐसी सरकारी अथवा गैर-सरकारी सुधार-संस्थाओं का उद्देश्य और लक्ष्य उत्तम है। परंतु मूल बात यह है कि उनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि निदेशक कितने योग्य एवं कुशल हैं। यदि निदेशक सद्भावपूर्ण, उदार और दयालु हैं, तो ऐसी संस्थाएँ अपने उद्देश्य में सफल होती हैं, अन्यथा उनसे अच्छा परिणाम नहीं निकल पाता।

बाल अपराधियों की किसी देश में कितनी संख्या है, इसका ठीक पता चलना संभव नहीं। इलियट और मैरिल ने इसके जो कारण बताये हैं, वे सामान्यतया उचित ही हैं। उनका कहना है कि बाल न्यायालयों से पूरे

भारत में बाल अपराध

आँकड़े नहीं मिलते; मध्यम और ऊँची श्रेणी के परिवारों के बच्चों के अपराध सहज ही छिपा लिये जाते हैं, आयु में भिन्नता के कारण कहीं किसी आयु के अपराध बाल-अपराध की श्रेणी में आते हैं, कहीं नहीं आते; कुछ मामले फौजदारी अदालतों में भेज दिये जाते हैं; पुलिस के पक्षपात से कुछ मामले छोड़ दिये जाते हैं, कुछ में निर्दोष लोग फाँस दिये जाते हैं; कहीं समाजसेवी संस्थाएं ऐसे अपराधियों को सुधार के लिए ले जाती हैं, उनके आँकड़े गुप्त ही रहते हैं, आदि।[1] फिर भी जो आँकड़े प्रकाश में आते हैं, वे कम भयंकर नहीं हैं। भारत में १९७० की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार बाल अपराधियों की संख्या ९८,८४५ थी।

अधिनियम : भारत में बाल अपराधों की वृद्धि देखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग से ही इस ओर ध्यान दिया जाने लगा। सन् १८५० में भारत में बालकों के संबंध में पहला अधिनियम बना। इस अधिनियम में न्यायाधीशों को यह अधिकार दिया गया था कि विभिन्न अपराधों में गिरफ्तार बालकों में से १० वर्ष से १८ वर्ष तक बालकों को वे शिक्षार्थी के रूप में रखने की आज्ञा दे सकते हैं। इस अधिनियम में सार्वजनिक दया पर आश्रित बालकों को विभिन्न रोजगार दिलाने के लिए भी कहा गया था।

बम्बई में १८९७ में भारतीय सुधारगृह अधिनियम स्वीकृत हुआ, इस अधिनियम के अन्तर्गत १६ वर्ष से कम के उद्दंड बालकों को सुधारगृह में भेजने की व्यवस्था थी। अन्य राज्यों में १६ के स्थान पर १५ वर्ष की आयु मानी गयी। लखनऊ, हिसार, दिल्ली, पूना, जबलपुर आदि में ऐसे सुधारगृह खोले गये। सन् १९२० में मद्रास में, १९२२ में बंगाल में और १९२४

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ७२-७८

में बंबई में इस संबंध में अधिनियम बने। सन् १९२८ में मध्यप्रदेश में, १९३१ में बीकानेर में, १९३८ में कोचीन में, १९४३ में मैसूर में, १९४५ में त्रिवांकुर में, १९४९ में पूर्वी पंजाब में, १९५१ में हैदराबाद में और १९५२ में उत्तर प्रदेश में बाल अपराधियों के सुधार के लिए अधिनियम बने।

दिसंबर, १९६० में भारतीय संसद ने जो बाल अधिनियम स्वीकृत किया उसमें उपेक्षित बालकों तथा बाल अपराधियों की सुरक्षा, कल्याण, प्रशिक्षण, पुनर्वास आदि की व्यवस्था है। इसके अनुसार १६ वर्ष से कम के किशोर को और १८ वर्ष से कम की किशोरी को सहायता देने का प्रबंध किया गया है।

बाल कल्याण बोर्ड, बाल न्यायालय, सुधार संस्थाएँ, रिमांड होम, बोर्स्टल स्कूल, प्रमाणित विद्यालय आदि बाल अपराधियों के सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं।

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर आज तक सभी पंचवर्षीय योजनाओं में बालकल्याण के लिए आयोजन रखा गया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत देश में १४४ रिमांड होम-निरीक्षण गृह, ८६ बाल न्यायालय, बाल कल्याण बोर्ड, ९ बोर्स्टल स्कूल और १२९ विशेष प्रमाणित स्कूल खोले गये। चतुर्थ में यह कार्यक्रम और बढ़ाया गया।

एकमात्र उपाय—क्षमा : तटस्थ प्रेक्षकों का कहना है कि यद्यपि अधिनियम आदि बने हैं तथापि अनेक स्थानों पर पुलिस को बाल न्यायालयों के विषय में कोई ज्ञान ही नहीं है। परिवीक्षण का कार्य भी अनेक स्थानों पर अच्छे ढंग से नहीं होता। ऐसा भी देखा गया है कि अनेक बोर्स्टल स्कूलों और सुधारगृहों में बालकों को सुधारने के स्थान पर उनका शोषण किया जाता है। बाल सुधारगृह आदि उत्तम और योग्य निदेशकों के तत्वावधान में नहीं चलेंगे, बाल न्यायालय और पुलिस के अधिकारी यदि बालकों के प्रति उदारता की नीति नहीं वरतेंगे, उद्दंड और प्रेम की भूख से पीड़ित बाल अपराधियों को यदि स्नेह और सहानुभूति से सुधारा नहीं जायेगा, तो बाल अपराध की समस्या सुलझने वाली नहीं। उसका एकमात्र उपाय है प्रेम और क्षमा। सुधार का एक यही मूल सूत्र है :

जो लरिका कछु अवगरि करहीं। गुरुपितु मातु मोद मन भरहीं॥

अध्याय : १०

वेश्यावृत्ति

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

प्राणिमात्र में मातृरूप से विराजनेवाली आद्याशक्ति को प्रणाम करने की भारतीय परिपाटी विश्व में अतुलनीय है। नारी का सती रूप भी परम पुनीत माना गया है। उसकी चरणरज से पापों का नाश होता है—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सती पादेषु तान्यपि।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनांच सतीषु च॥
सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः॥

एक ओर नारी का यह सम्मान और आदर, दूसरी ओर उसी के लिए यदि वह किसी कारण से पतन के पथ पर जा गिरती है तो 'अस्पृश्या सर्व-जातिषु'[1] का विशेषण प्रयुक्त होता है।

पैसे के लिए सतीत्व का व्यवसाय निकृष्टतम व्यवसाय माना गया है। ऐसी नारी को वेश्या, पुंश्चली, गणिका, अभिसारिका, पण्याङ्गना, भोग्या, भूजिष्या जैसे अपमानजनक संबोधनों से पुकारा जाता है।

बाइबिल में एक कहानी है। ऐसी एक पतिता को लोग पत्थर मार-मार कर मार डालने को उद्यत थे। ईसा ने उन लोगों से कहा कि 'ठीक है, इसपर पहला पत्थर वह चलाये जिसने कभी कोई पाप न किया हो।' सबके हाथ के पत्थर गिर गये। सारी भीड़ छँट गयी, तब ईसा ने उस पतिता से कहा, 'जा बहन, अब ऐसा पाप मत करना!'

नारी को जब से पुरुष ने अपनी वासनापूर्ति का साधन मान कर उसके सतीत्व से खेलवाड़ आरंभ कर दिया, उसी समय से वेश्यावृत्ति का जन्म हो गया। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता हैवलाक एलिस और फ्रायड जैसे लोग तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'कामवासना की अग्नि कभी बुझती नहीं, बुझ सकती नहीं।' ऐसे विचारकों ने ही इस प्रकार की धारणा

वेश्या : सामाजिक आवश्यकता

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण ४६०।

को बल दिया है कि वेश्या मानव समाज की एक आवश्यकता है। पादरी एक्वीनास कहता है—'महल में गंदी नाली की जो स्थिति है, वही स्थिति नगर में वेश्या की है। नाली को बंद कर दीजिये और आप महसूस करेंगे कि सारा महल बदबू और गंदगी से भर गया है।' संत अगस्ताइन भी इसी के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहता है—'जल्लाद जिस प्रकार मन को अप्रिय होते हुए भी समाज का आवश्यक अंग है, उसी प्रकार वेश्याएँ भी। मानव समाज से वेश्याओं को निकाल दीजिए, तो आप देखेंगे कि सारा संसार विषयवासना से भ्रष्ट हो गया है।'

मानव समाज के इतिहास में आदिकाल से वेश्या के अस्तित्व का विवरण मिलता है। यूनान, मिस्र, रोम की प्राचीन सभ्यताओं में वेश्याओं की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। आदिकालीन धर्मों में लिंग तथा योनि की पूजा, देवियों की पूजा और उनके साथ उच्छृंखलता की मिलावट देखने में आती है।[१] सभ्य जातियों की बात हो चाहे असभ्य जातियों की, यत्र-तत्र-सर्वत्र एक ही कहानी दुहरायी जाती दीखती है।

पुरातत्वविद् मेलिनोवस्की ने प्राचीन आदिम जातियों के संबंध में शोध करके लिखा है कि पूर्वी गायना (अफ्रीका) के तट पर रहनेवाली तोब्रियांद नामक जंगली जाति के बच्चे ४-५ वर्ष की आयु से ही घर के बाहर प्रेम-लीला चालू कर देते हैं। उस जाति में यौन-स्वच्छंदता को गौरव की बात माना जाता है। माता-पिता प्रसन्न होकर कहते हैं—'चलो, आज हमारे अमुक बच्चे ने अमुक बच्ची के साथ झाड़ी में 'कायता' किया!' ६ से ८ वर्ष तक की लड़की और १० से १२ वर्ष तक के बच्चे यौन-सुख लेना आरंभ कर देते हैं।[२] वहाँ कुछ वर्गों में खुलेआम संभोग करने की प्रथा है।[३]

गिबन की 'डिक्लाइन एंड फॉल ऑफ रोमन एम्पायर'; हंसलिच की 'सेक्शुएल लाइफ इन एनशियेंट ग्रीस'; ओटो कीफर की 'सेक्शुएल लाइफ इन एनशियेंट रोम'; फ्लेक्सनर की 'प्रास्टीट्यूशन इन यूरोप', सेंगर की 'दि हिस्ट्री ऑफ प्रास्टीट्यूशन', विलियम एच० फार्सटर्न की 'सेक्शुएल लाइफ इन

इतिहास

१. एच० कटनर : ए शार्ट हिस्ट्री आफ सेक्स वर्शिप, १९४०, पृष्ठ २०।
२. बी० मेलिनोवस्की : दि सेक्शुएल लाइफ आफ दि सेवेजेज, १९५२, पृ० ४८-४९
३. रेमंड फर्थ : ह्यूमन टाइप्स, पृ० ११३-११४

इंगलैंड'; आदि अनेक पुस्तकों में वेश्या, वेश्यावृत्ति, वेश्यालय, यौन-अपराध, यौन दंड आदि की गाथा विस्तार से बतायी गयी है।

प्राचीन युग

भारत में अप्सराओं और हूरों के काल्पनिक वर्णनों से लेकर वेद से पुराणों तक, महाभारत से भागवत तक, भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से वात्स्यायन के कामसूत्र तक, तंत्र से ज्योतिष तक स्थान-स्थान पर वेश्याओं और गणिकाओं, रूपाजीवा और भोग्या स्त्रियों के वर्णन मिलते हैं। राम की पालकी की शोभायात्रा में रूपाजीवा भी चलती हैं।[1] गुप्त साधन तंत्र, ताराभक्ति सुधार्णव, पुरश्चरण चन्द्रिका आदि तंत्रग्रंथों में भी वेश्याओं के विवरण मिलते हैं। बुद्ध के जन्म पर 'गृहे गृहे नर्तन मंगनानां' हो रहा था।[2]

कामसूत्र के प्रणेता वात्स्यायन के संबंध में कहा जाता है कि वे ब्रह्मचारी थे। उनका कामशास्त्र का विवेचन विश्व साहित्य में अद्वितीय है। उनकी मान्यता थी कि धर्म, अर्थ और काम का भरपूर ज्ञान रखते हुए जो व्यक्ति लोकाचार की रक्षा करता है, वह जितेंद्रिय ही है—

रक्षन्धर्मार्थ कामानां स्थिति स्वां लोक वर्तिनीम् ।
अस्य शास्त्रस्य तत्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः ।।[3]

वात्स्यायन ने अपने समय की वेश्याओं का जो विवरण दिया है उसमें ९ प्रकार की वेश्याएँ बतायी हैं -

(१) नृत्यकला, संगीतकला में पारंगत रूपसी—गणिका। (२) कामकला में दक्ष न होते हुए भी रूप और यौवन का व्यापार करनेवाली युवती—रूपजीवा। (३) पति के रहते या मृत होने पर भी स्वच्छंद रूप से परपुरुषगामिनी युवती—प्रकाश विनष्टा। (४) पति की कोई भी चिंता न करते हुए परपुरुष से क्रीड़ारत—स्वैरिणी। (५) घर से बाहर परपुरुष का सेवन करनेवाली—कुलटा। (६) घर में बर्तन आदि माँजने का काम करते हुए भी वेश्याओं का आचरण करनेवाली—कुंभदासी। (७) दाई, नौकरानी, बाँदी आदि छिपकर परपुरुष गमन करनेवाली—परिचारिका। (८) कारीगरी आदि के साथ वेश्याओं-सी आचरण करनेवाली—शिल्पकारिका। (९) नाटक आदि में नटी का काम करते हुए दुराचारिणी स्त्री—नटी।

---

१. बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड ३६।३
२. श्रीपति : महापुरुष चरितम, सर्ग १।श्लोक १६
३. वात्स्यायन : कामसूत्र ७।२।५६

मौर्य काल में कौटल्य ने तो गणिकाओं की समुचित व्यवस्था के लिए गणिकाध्यक्ष ही बना रखा था—

गणिकाध्यक्षो गणिकान्वयम् गणिकान्वयां वा,
रूप यौवन शिल्प सम्पन्नां सहस्रेण गणिकां कारयेत ।।[१]

कौटल्य ने गणिकाध्यक्ष को आदेश दे रखा था कि वह गणिकाओं की आय और व्यय पर भी नियंत्रण रखे। गणिका को वह शाहखर्च न होने दे—'अतिव्यय कर्म च वारयेत।'

मुगलकाल : मुगलकाल में सुरा और सुंदरी का जो दौर चला उसमें वेश्यावृत्ति को भरपूर प्रोत्साहन मिला। विलास के उस दरबार में लोगों की जिह्वा पर ऐसे ही शेर नाचते थे—

हो आध सेर कबाब मुझको एक सेर शराब हो।
नूरे जहाँ की सल्तनत हो खूब हो कि खराब हो ।।

जहाँगीर के हरम में देशी ही नहीं, विदेशी वेश्याएँ भी रहती थीं। उन्हें हुक्किनी, कंचनी, लोलनी कहा जाता था। शाहजहाँ के दरबार में ५०० कंचनियाँ हर बुधवार को सलामी देती थीं। 'स्टोरिया-द-मोगर' में आता है कि एक बार उनमें से किसी को बादशाह ने रोककर हरम में रख लिया। किसी ने टोका तो शाहजहाँ ने कहा—'मताअ नेक जहर, दकान के वाशद !' (माल अच्छा हो तो दुकान कौन देखता है !)

जब बादशाहों का ही ऐसा हाल हो, तो दरबारियों और अधिकारियों का तो पूछना ही क्या ? विलासिता की गोद में मुगल साम्राज्य डूब गया। नवाबों, सिपहसालारों के हरमों में वेश्यावृत्ति खुल खेली। प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी। पता भर चलने की देर थी कि अमुक स्थान पर कोई सुंदरी है, उसकी शामत आये बिना न रहती। छलबल, प्रलोभन और दंड सबका प्रयोग किया जाता। जहाँगीर की विलासिता का इतिहास 'जहाँगीर्स इंडिया' में भरा पड़ा है। विलास की इस धारा में नैतिकता का चिह्न तक मिलना कठिन हो गया। सिराजुद्दौला जब बंगाल का नवाब बना तो उसकी मौसी घसीटी बेगम से गुलाम हुसैन का अवैध प्रणय चला, तो उसने उसकी माँ अमीना को समेट लिया। बाद में नवाब ने उसे मौत के घाट उतरवा दिया। अंग्रेज ताक में थे ही। उन्होंने मुगलों की विलासिता और दुर्बलता का लाभ उठाकर धीरे-धीरे बंगाल से दिल्ली तक अपना राज फैला लिया।

---

१. कौटल्य अर्थशास्त्र २।२७।४४

अंग्रेजी राज्य : कुछ अंग्रेज भारत में पादरी का चोंगा पहनकर आये, कुछ व्यापारी बन कर। उन्होंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपना कर धीरे-धीरे सारे भारत को अपनी मुट्ठी में कर लिया। भारत के शोषण और दोहन के लिए अंग्रेज कंपनी के अधिकारियों ने कोई बात उठा न रखी। प्रजा के प्रति न्याय का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। लूटने का ही एक मात्र लक्ष्य था। अंग्रेजों के इन काले कुकृत्यों का पार्लमेंट में रहस्योद्घाटन भी हुआ, पर स्थिति नहीं बदली। लुटेरों का राज्य निर्माता के रूप में अभिनंदन किया गया।

अंग्रेज आये तो उनके साथ विलासमयी पाश्चात्य सभ्यता भी आयी। 'दि गुड ओल्ड डेज आफ आनरेबुल जटन कंपनी' के पृष्ठ अंग्रेजों की कामक्रीड़ाओं की गाथाओं से भरे पड़े हैं। नैतिकता और सदाचार का कहीं नाम तक न था। पुर्चगीजों का तो यह हाल था कि जो पुर्चगीज रमणी जितने अधिक पुरुषों को अपने रूपजाल में फाँस पाती थी, वह अपने को उतनी ही अधिक सौभाग्यशालिनी मानती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में बंगाल में तथा आस-पास कोई ४००० यूरोपियन अफसर और गोरे सैनिक रहते थे। गौरांग महिलाओं की संख्या २५० से अधिक न थी। उन्होंने काली रखेलों की एक परंपरा बना ली। सन् १८०० में फेरिया, विलियम्स एंड होइलर जैसी नीलाम करने वाली कंपनियाँ नीलाम की जो विज्ञप्तियाँ छपाती थीं उनमें रहता था—'तालतोला बाजार में नीलाम के लिए है एक बंगला, बगीचा भी है उसके साथ और एक 'हिंदुस्तानी बीबी' भी। सन् १८०७ में कलकत्ता की सुप्रीम कोर्ट में चलनेवाले मुकदमों में एक अध्यापिका का भी मुकदमा था जिसपर पैसे के लिए व्यभिचार का आरोप था। कंपनी काल की यह प्रवृति अंग्रेजी शासन काल में भी जारी रही। १८६१ में अंग्रेजों ने जो भारतीय दंड विधान बनाया उसमें वेश्यावृत्ति के संबंध में भी कुछ धाराएँ रखीं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अंग्रेजी राज्य में वेश्यावृत्ति धड़ल्ले से चलने लगी थी। भारत की पुरातन मर्यादाओं और परंपराओं के स्थान पर विलासिता और अनैतिकता का व्यापार खूब पनपने लगा था।

प्राचीन युग हो चाहे मध्यकालीन युग, कंपनी काल हो चाहे ब्रिटिश काल, वेश्यावृत्ति बाबा आदम के जमाने से चलती आ रही है। भारत हो या

चीन, यूनान हो या रोम, यूरोप हो या अमरीका, फ्रांस हो या इटली, इंगलैंड हो या रूस-विश्व के सभी क्षेत्रों में, सभी कालों में वेश्यावृत्ति किसी-न-किसी मात्रा में रही है। उसे मिटाने और सुधारने के भी जबतब प्रयत्न किये गये हैं, परंतु यह समस्या ज्यों-की-त्यों बनी है। उसकी व्यापकता का पार नहीं है।

वेश्यावृत्ति कितनी व्यापक है, इसका ठीक-ठीक पता लगना ही कठिन है। इलिएट और मैरिल के अनुसार 'कोई यह नहीं बता सकता कि अमरीका में कितनी वेश्याएँ हैं। कम-से-कम ५ लाख अथवा उससे भी अधिक हो सकती हैं। सन् १९५७ में २५०० या उससे अधिक जनसंख्यावाले नगरों में दलाली आदि के जुर्म में ३९०६ पुरुष और ८७८८ स्त्रियाँ गिरफ्तार की गयी थीं। इनके अतिरिक्त ३९,६०५ स्त्रियाँ 'बेहूदा आचरण' और ६७३७ 'आवारागर्दी' के जुर्म में गिरफ्तार की गयी थीं। ये भी वेश्यावृत्ति के ही परिवर्तित नाम हैं। इन जुर्मों में गिरफ्तार कुल स्त्रियों की संख्या ५५,१३० थी जो कुल गिरफ्तार स्त्रियों की एक-चौथाई थी। शराब तथा अन्य व्यसनों के संबंध में गिरफ्तार ११३४ स्त्रियाँ और केवल 'संदेह' में गिरफ्तार ८०३३ स्त्रियाँ भी निश्चय ही वेश्यावृत्ति का शिकार हैं। यह संख्या तो उन स्त्रियों की है जो गिरफ्तार की गयी हैं। इनमें अधिकतर नीची श्रेणी की, सड़क पर घूमनेवाली स्त्रियाँ हैं। प्रच्छन्न वेश्याओं की संख्या का तो पता ही नहीं।'[1]

व्यापकता

फ्रांस के दैनिक 'लामोंडे' के सर्वेक्षण के अनुसार प्रेस एशिया इण्टरनेशनल ने लिखा है कि वहाँ ५ लाख वेश्याएँ हैं और वेश्यावृत्ति चौथा सबसे बड़ा व्यवसाय है।[2]

वेश्याएँ एक तो गिरफ्तार ही कम हो पाती हैं, दूसरे उन्हें छुड़ाने के लिए बहुत-से प्रभावशाली 'श्वेतवसनधारी' लोग पहुँच जाते हैं। जिनपर मुकदमे चल कर सजा दी जाती है, उनकी संख्या कम ही रहती है। ब्रिटिश जेलों के कमिश्नर सर विलियम मारवुड ईस्ट ने सन् १९३८ के आँकड़े देते हुए लिखा था कि 'इस वर्ष यौन अपराधों में पुरुष अपराधी स्त्री अपराधियों से दसगुने थे। उनमें २३२१ को व्यभिचार, अश्लीलता आदि अपराधों के लिए दंड दिया गया। अप्रील में ८९४ पुरुषों और ८८ स्त्रियों की सजा

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १७१
२. 'आज' सायंसमाचार, ८ अप्रैल १९७३

बहाल रही। १५४ पुरुषों तथा ३२ स्त्रियों पर इस बात के लिए मुकदमा चला कि उन्होंने वेश्यावृत्ति को अपनी जीविका का साधन बना रखा था।[1]

भारत की स्थिति—अखिल भारतीय नैतिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य संघ की ओर से १९४९-५० में भारत की वेश्याओं का एक सर्वेक्षण किया गया था, उसमें केवल ९ राज्यों ने जो सूचनाएँ दी थीं, उनके आँकड़े इस प्रकार हैं।[2]

वेश्याएँ	१३५३०	दलाल स्त्री-पुरुष	१५९३	वेश्याओं के निजी
यौन व्यवसायी	३५१२	चकलों के मालिक	१७०९	मकान ३२१९

सन् १९७० की भारत की अपराध-स्थिति में बताया गया है[3]—

अनैतिक व्यापार में संलग्न अपराधों में ९० प्रतिशत अपराध निम्न राज्यों में हुए—

आंध्र प्रदेश	१९३६
मैसूर	१६७८
तमिलनाडु	२७०३

उत्तर प्रदेश और जम्मू-कश्मीर के आँकड़े उपलब्ध नहीं हुए। अन्य राज्यों में अपराधों की संख्या कुछ कम रही। कुछ बड़े नगरों की स्थिति यों रही—

बंगलोर	४९७	२७·५ प्रतिशत
हैदराबाद	६३९	४६·४ प्रतिशत

वेश्यावृत्ति प्रकट रूप में भी चलती है, प्रच्छन्न रूप में भी। प्रच्छन्न रूप से चलने वाली वेश्यावृत्ति का तो अनुमान भी संभव नहीं है। प्रकट रूप से 'लालबत्ती' वाले मुहल्लों में हजारों ही नहीं, लाखों वेश्याएँ वेश्यावृत्ति को जीविका के साधनरूप में अपनाये हैं। प्रच्छन्न रूप से यह व्यवसाय करनेवाली अभागी स्त्रियाँ अधिकांशतः अपने आर्थिक संकट के निवारण के लिए यह अधम व्यापार करती हैं।

परिभाषा

वेश्यावृत्ति क्या है ? वेश्या कौन है ?—यह एक विषम प्रश्न है। अनेक व्यक्तियों ने अनेक प्रकार से इसकी परिभाषा की है। सन् १९५६ में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत और १ मई, १९५७ से सारे भारत में लागू स्त्री तथा

१. विलियम नारवुड ईस्ट : सेक्सुएल क्राइम; दि जर्नल ऑफ क्रिमिनल साइंस, खंड १, १९४९, पृष्ठ ४५

२. रिपोर्ट आफ दि आल इंडिया मॉरल एण्ड सोशल हाइजीन असोसियेशन पृ० २०१

३. क्राइम इन इंडिया, १९७०, भारत सरकार पृष्ठ ३१

कन्याओं के अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम में इन दोनों शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"वेश्या वह स्त्री है, जो धन अथवा किसी अन्य वस्तु के विनिमय में अवैध यौन संबंध के लिए अपने शरीर को अर्पित करती है। अपने शरीर को इस प्रकार अवैध संबंध के लिए अर्पित करना 'वेश्यावृत्ति' है।"

इलियट और मेरिल की परिभाषा यह है—"वेश्यावृत्ति वह अवैध यौन संबंध है जो पैसे के लिए अनेक व्यक्तियों से किया जाता है, जिसमें प्रेम जैसे उद्वेगों का सर्वथा अभाव रहता है। वेश्या आर्थिक लाभ के लिए यौन संबंधों का प्रयोग करती है।"[1]

जी० आर० स्काट की परिभाषा है—"जो भी व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) किसी भी प्रकार के (आर्थिक अथवा अन्य प्रकार के) लाभ के उद्देश्य से अथवा अन्य किसी प्रकार के निजी संतोष के लिए, पूरे समय के लिए, अथवा थोड़ी देर के लिए अनेक व्यक्तियों के साथ, फिर वे पुरुष हों अथवा स्त्री, सामान्य अथवा असमान्य, यौन संबंध स्थापित करता है, वह 'वेश्या' है।"[2]

क्लीनार्ड, ज्याफ्रे मे, एलेक्जर, फ्लैम्सनर आदि सभी विचारकों ने वेश्या और वेश्यावृत्ति की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे सब इसी से मिलती-जुलती हैं।

क्लीनार्ड के अनुसार ('सोशियालाजी आफ डिवायएंट बिहेवियर' में) वेश्यावृत्ति धन के लिए किया गया वह यौन संबंध है जिसमें उद्वेगात्मक उदासीनता रहती है।

एलेक्जर कहता है कि वेश्यावृत्ति वह यौन संबंध है जिसमें ये तीन बातें रहती हैं—(१) विनिमय, पैसों के लिए आदान-प्रदान; (२) यौन संकरता और (३) संवेगात्मक उदासीनता।

सारी परिभाषाओं से मुख्यतः ये तीन बातें निकलती हैं—

१. अर्थ-प्राप्ति के लिए यौवन और शरीर, रूप और सौंदर्य का क्रय-विक्रय या आदान-प्रदान। 'अर्थ' में रुपया-पैसा, धन-दौलत, वस्त्राभूषण, जमीन-जायदाद आदि सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

२. यौन-क्षुधा की संतुष्टि और

३. भावना शून्य आदान-प्रदान। इस यौन संबंध में प्रेम, स्नेह और सद्भाव जैसी भावनाओं, उद्वेगों के लिए स्थान नहीं रहता।

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १७०

२. जी० आर० स्काट : ए हिस्ट्री ऑफ प्रास्टीट्यूशन, लन्दन, १९५४, पृ० ८।

इन परिभाषाओं से वेश्यावृत्ति की प्रकृति का अनुमान किया जा सकता है। वेश्यावृत्ति आज लाखों व्यक्तियों की जीविका का साधन बन बैठी है। उसकी प्रकृति में, उसके स्वरूप में मुख्यतः ये विशेषताएँ पायी जाती हैं—

वेश्यावृत्ति की प्रकृति

१. वेश्यावृत्ति अनेक स्त्रियों को जीविका-साधन प्रदान करती है।

२. वेश्या का रूप, यौवन, सौंदर्य और शृंगार ही उसकी कमाई का एकमात्र साधन होता है। अपने सतीत्व को वह कौड़ियों के मोल लुटाती है।

३. वेश्या अपना व्यापार स्वेच्छा से चलाती है, यद्यपि अधिकांश मामलों में परिस्थितियों की विवशता उसके मूल में रहती है।

४. वेश्या केवल पैसे को महत्त्व देती है। उसके कोष में प्रेम और स्नेह जैसे उद्वेगों के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

५. वेश्या अपने ग्राहकों में जाति, वर्ण, रंगरूप, आयु, स्वास्थ्य आदि का कोई भेद नहीं करती। जो भी व्यक्ति उसका मूल्य चुकाने को प्रस्तुत होता है, उसके समक्ष वह अपना शरीर अर्पित कर देती है।

किंग्सले डैविस ने वेश्यावृत्ति के समाजशास्त्र में पुरुष का आधिपत्य और नारी की अधीनता, यौन प्रेरणा और यौन आकर्षण को वेश्यावृत्ति की प्रकृति बताया है।[1] वस्तुतः वेश्यावृत्ति में 'यौन' ही मुख्य आकर्षण रहता है। पैसे के लिए उसका आदान-प्रदान किया जाता है।

शील, संकोच और लज्जा की मूर्तिमती नारी जब शरीर का व्यापार करने लगती है, तब भी उसमें कुछ-न-कुछ हयाशर्म बनी रहती है। खुले बाजार में रूप की हाट लगाने में वह झिझकती है, पर विवशता क्या नहीं कराती! आज अनेक वेश्याएँ कोठे पर बैठकर खुलेआम सतीत्व का व्यापार करती हैं, परंतु असंख्य वेश्याएँ प्रच्छन्न रूप में यह व्यापार चलाती हैं। आज वेश्यावृत्ति अनेक रूपों में फैली हुई है। वेश्याओं के अनेक प्रकार देखने में आते हैं। जैसे,—

वेश्याओं के प्रकार

---

१. किंग्सले डैविस : 'दि सोशियोलाजी ऑफ प्रास्टीट्यूशन', अमेरिकन सोशियालाजिकल रिव्यू, खण्ड २, अक्टूबर १९३७, पृष्ठ ७४५-७५६

१. कोठे पर बैठनेवाली वेश्याएँ। 'लाल बत्ती' वाले, बदनाम मुहल्लों में निवास करनेवाली वेश्याएँ।

२. प्रच्छन्न वेश्याएँ। ये ऊपर से तो गृहस्थी चलाती दीखती हैं, कोई छोटा-मोटा कार्य अपनाये रहती हैं, पर उनकी जीविका की प्रमुख वृत्ति वेश्यावृत्ति ही रहती है। उनके दलाल, तांगेवाले, इक्के-वाले, टैक्सीवाले उनके ग्राहकों को उनके पास पहुँचा देते हैं।

३. प्रतिष्ठित परिवारों की वेश्याएँ। अनेक सभ्य और प्रतिष्ठित माने जानेवाले परिवारों की स्त्रियाँ विशेष लाभ के लिए, पदवृद्धि के लिए, पति को ऊँचा पद दिलाने के लिए अपने-आपको प्रभावशाली अधिकारियों, धनिकों आदि की वासनापूर्ति का साधन बनाती हैं। स्वार्थसिद्धि के लिए शरीर को अर्पित करना उनका व्यवसाय बन जाता है।

४. नयी रोशनीवाली वेश्याएँ। विलासितामय आधुनिक जीवन की रंगरेलियों, फैशन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक युवतियाँ विलासी युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती हैं।

५. व्यावसायिक क्षेत्र की वेश्याएँ। दुकानों की शॉपगर्ल, कॉल गर्ल, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और बड़े कार्यालयों की स्वागतकारिणी महिलाएँ, होटलों, क्लबों, कलाशालाओं, नृत्यशालाओं, टर्किश बाथ केंद्रों, मालिश भवनों, थियेटरों, मदिरालयों आदि की 'साकी' महिलाएँ यौन आकर्षण के लिए ही मुख्यतः रखी जाती हैं।[१] इनमें से अनेक महिलाएँ परिस्थिति से विवश होकर वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं।

६. अतृप्त वासना की तृप्ति के लिए तथा यौन उत्सुकता की पूर्ति के लिए बनी वेश्याएँ।

७. परिस्थिति-अधीन वेश्याएँ। कुप्रथाओं, गुंडों-बदमाशों की शिकार तथा दरिद्रता से विवश होकर भी अनेक स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति की ओर झुकती हैं।

---

१. ईव मेरियम, 'सेक्स एज ए सेलिंग एड', दि नेशन, १८८ : २३९-२४२ (मार्च २१, १९५९)

मोटे तौर पर वेश्याओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

पुश्तैनी वेश्याएँ : भारत में मुगलकाल से वेश्याओं का एक वर्ग पुश्तैनी वेश्याओं का वर्ग बन गया है। ये वेश्याएँ वेश्यावृत्ति को पुश्तैनी वृत्ति मानकर उसमें गौरव का बोध करती हैं। इनके यहाँ वेश्यावृत्ति का प्रवेशोत्सव—नथ उतारने का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इनमें कुछ वेश्याएँ मुसलमान होती हैं, कुछ हिंदू। माँ बेटी को अपना व्यवसाय सौंपती है, बेटी अपनी बेटी को। ये लोग नृत्य-संगीत की भी कुछ पारस्परिक शिक्षा-दीक्षा लेती हैं।

राजा, रईसों, जमींदारों, जागीरदारों और पैसेवालों की वासना की शिकार पुश्तैनी वेश्याओं में नित्यमंगली, कलावंती जाति की वेश्याएँ प्रमुख हैं। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि में ऐसी वेश्याओं में नट, कंजर, बेड़िया, भांतू, डेरेदार आदि जातियों की सामान्य श्रेणी की वेश्याएँ हैं। दक्षिण भारत में, आंध्र में वासवी, कोयी जाति की वेश्याएँ, गोआ और सामंतवाड़ी में गोमांतक, मराठा और कोलती जाति की वेश्याएँ मिलती हैं।

वासनापीड़ित वेश्याएँ : कुछ जैवकीय तथा कुछ पर्यावरणीय कारणों से कुछ स्त्रियों में वासना की तीव्रता इतनी अधिक रहती है कि उसके समक्ष वे नैतिकता की मर्यादाएँ भुलाकर वेश्यावृत्ति के मार्ग पर चल पड़ती हैं। ऐसी वेश्याएँ निम्नवर्ग में ही नहीं, कहीं-कहीं संपन्न और उच्छृंखल परिवारों में भी प्राप्त होती हैं।

परिस्थिति विवश वेश्याएँ : सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक कुप्रथाओं, गुंडे-बदमाशों आदि के चक्कर और प्रलोभन में पड़कर, आधुनिक फैशन और विलासी जीवन के आकर्षण में पड़कर, दरिद्रता की चपेट से पीड़ित होकर तथा ऐसे ही अनेक कारणों से अनेक स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश होती हैं।

कुप्रथाओं की शिकार वेश्याएँ—भारत में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। जैसे, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, दहेज, पर्दा, नारी की अवहेलना, विधवाओं की दुर्दशा, अशिक्षा, कुशिक्षा आदि। इन कुरीतियों के कारण अनेक स्त्रियों को विवश होकर पतन की इस गली में आकर अपना सतीत्व बेचना पड़ता है।

उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पूर्वी पंजाब आदि में निवास करनेवाली खासा जाति में सभी भाइयों के बीच एक पत्नी रहती है। बड़ा भाई विधिवत् विवाह करके उसे लाता है, पर घर पर आते ही वह सभी भाइयों की पत्नी बन जाती है। देहरादून जिले में चकराता के पास, जौनसार बावर में हर भाई के लिए पत्नी का दिन निश्चित रहता है। ससुराल में वह स्त्री 'रहांती' कहलाती है, मायके में 'घरयाबी'। मायके में वह किसी के भी साथ रह सकती है। ससुराल न जाना चाहे तो वह आर्थिक हर्जाना देकर नया पति कर सकती है। अनुसंधानकर्ताओं का कहना है कि २०-२५ साल पहले हर्जाना की यह रकम ५०-६० रुपया होती थी आजकल बढ़कर २ या ३ हजार रुपये तक पहुँच गयी है।[१] इस प्रकार की 'रीत' जैसी कुप्रथाएँ वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देती हैं।

राजा, रईसों, नवाबों आदि के महलों में रखेलें खूब पाली जाती थीं। कालांतर में उन्हें वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। हैदराबाद के मुसलमानों में 'पर वर्दाह' नाम की कुप्रथा है। इस प्रथा के अंतर्गत लोग अपने बालक-बालिकाओं को नवाबों के हरम में सेवा-चाकरी के लिए रख देते थे। ऐसी लड़कियों को आगे चलकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती रही है। नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य संघ ने केवल हैदराबाद में २३ हजार बालक-बालिकाओं को इस कुप्रथा का शिकार पाया। इनमें लड़कियों की संख्या एक-तिहाई थी।[२]

---

१. आर० एन० सक्सेना : सोशल इकोनॉमी ऑफ ए पोलीएंड्रस पीपुल, १९५५ पृ० ३५-३८

२. रिपोर्ट, नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य संघ, पृ० ९

धर्मार्पित वेश्याएँ : मंदिरों में, आश्रमों में धर्म के नाम पर, देवता के नाम पर अर्पित की गयी बालिकाओं को आगे चलकर वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश होना पड़ता है। केरल में यह दूषित प्रथा शताब्दियों से चलती आ रही है। माता-पिता जन्म के उपरांत ही अपनी कन्याओं को देवार्पित कर देते हैं। इन लड़कियों को देवता के समक्ष नाचना-गाना पड़ता है। बाद में सयानी होने पर ये बेचारी देवदासियाँ पंडे, पुजारियों, महंथों और अतिथियों की वासनापूर्ति का साधन बनती हैं।[1] केरल में ऐसी वेश्याएँ देवदासी या देवरतियल और कुदीकर कहलाती हैं, महाराष्ट्र में मुरली, तेलंगाना में बासवी, भाविन, देवली, नँकिन आदि कहलाती हैं। कर्नाटक में उन्हें कर्नाटक जोगाठी आदि कहा जाता है। बंगाल में वैष्णवी और मारवाड़ में भगतिन।

देवार्पण की यह प्रथा भारत में ही हो, ऐसा नहीं है। यूनान और रोम का इतिहास ऐसी कुप्रथाओं की कहानियों से भरा पड़ा है। मध्ययुगीन ईसाइयों में, रोमन कैथोलिकों में 'प्रभु ईसा की दुलहिनें' गिरजाघरों में 'नन'—साध्वियों का जीवन बिताती थीं और 'मोंक' साधु का। परंतु इतिहासकार कहते हैं कि इन साध्वियों में अधिकांश का जीवन वेश्याओं जैसा ही रहता था। इवान ब्लाक ने सन् ११४८ में गिल्बर्ट द्वारा खोले १३ आश्रमों का जो विवरण दिया है उसमें बताया है, कि वहाँ ७०० साधु और ११०० साध्वियाँ रहती थीं। कुछ ही दिनों में सभी साध्वियाँ गर्भवती हो गयीं।[2] उस समय के पादरी अपनी नारकीय लीलाओं के लिए बदनाम थे। लोग अपने 'पाप' का स्वीकार करने जाते और वे उन्हें मुक्ति का पर्वाना देते। सुंदरी कुमारियों को 'स्वर्ग का फाटक खोलने' के बहाने पादरी लोग उन्हें अपनी वासना का शिकार बनाते। यूनान और रोम के धर्म मंदिरों में ऐसी पापलीला खुलकर चलती थी।[3]

देवालय और आश्रम जब भ्रष्ट अधिकारियों के हाथ में पड़ जाते हैं तो वहाँ निवास करनेवाली लड़कियों को किस प्रकार विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है, उसकी करुण कहानी कहते हुए एक शिक्षित पतिता ('एन आटोबायोग्राफी ऑफ एन एजूकेटेड फालेन वूमेन में') लिखती है—"धीरे-धीरे हमें मालूम हो गया कि यह अबलाश्रम भी हमारे लिए सुरक्षित

---

१. वही रिपोर्ट, पृ० ८

२. इवान ब्लाक : सेक्शुएल लाइफ इन इंगलैंड, १९३८, पृ० ३३।

३. हेंसलिच : सेक्शुएल लाइफ इन एंश्येंट ग्रीस, १९५२, पृ० १८१

नहीं है। हमने देखा कि अधिकारी लोग उन लड़कियों के प्रति अधिक ध्यान देते हैं जिनमें यौवन और सौंदर्य होता है। मेरे ऊपर भी उनकी दृष्टि पड़ी। मुझे विशेष सुविधाएँ दी जाने लगीं। कालीदासी और राजबाला ईर्ष्या से जल उठीं। वे मुझपर ताने कसने लगीं—'हाँ जी, अब हवा का रुख तुम्हारी ओर है।'

"व्यवस्थापकों में से एक व्यक्ति विशेष रूप से मेरी ओर आकृष्ट हुआ और उसका परिणाम वही हुआ जिसकी आशंका थी। मैंने वासना के सम्मुख घुटने टेक दिये। शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि अन्य साथी लड़कियों की भी यही स्थिति है।

"एक दिन मैंने अपने नवागत प्रेमी से विवाह कर लेने का प्रस्ताव किया, पर वह इसके लिए कतई राजी नहीं हुआ। कालीदासी और राजबाला ने भी अपने-अपने प्रेमी से विवाह के प्रस्ताव किये। पर उनके प्रस्तावों की भी मेरे प्रस्ताव की-सी ही दुर्गति हुई। यह देखकर हमलोगों ने सोचा कि यदि हमें अपना यौवन और सौंदर्य बेचना ही है तो फिर चोरों की तरह क्यों? रूप और प्रेम के बाजार में हम क्यों न उसकी पूरी कीमत का तकाजा करें?..."

गुंडों-बदमाशों की शिकार वेश्याएँ—भोली-भाली सीधी-सादी स्त्रियों को, उपेक्षित विधवाओं को, सास-ससुर, देवर-ननद और पति आदि के अत्याचार से पीड़ित स्त्रियों को प्रलोभन के जाल में फँसा कर घर से उड़ा देनेवाले गुंडे-बदमाशों की कहीं कमी नहीं है। यत्र-तत्र-सर्वत्र इनका जाल बिछा है। जो लड़कियाँ और स्त्रियाँ एक बार इनके चंगुल में फँस जाती है, उनकी दुर्दशा अंत में उन्हें इसी गली में लाकर छोड़ देती है।

विलासी जीवन की प्रेमी वेश्याएँ—आधुनिक फशन की शौकीन और आराम-तलवी का विलासमय जीवन बिताने की इच्छुक लड़कियाँ सहज ही इस दिशा में मुड़ जाती हैं। ऐसी एक लड़की अपनी जीवन गाथा में लिखती है—

"एक दिन मैंने देखा कि मेरे रिश्तेदार मित्र और डॉक्टर मित्र में वाकायदा कुश्ती हो रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि डॉक्टर का सिर फूटा और मेरे रिश्तेदार मित्र का सारा शरीर लहूलोहान हो गया। हठात् एक रात को पिताजी आकर मुझे घर लिवा ले आये। पिताजी की कोठी पर बड़े-बड़े रंगीले साहव बहादुर आते थे। मैंने देखा कि मेरे आने के वाद पिताजी के मित्रों में बड़ा उत्साह भर गया। उनकी दामी मोटरों में मैं घूमने लगी। एक नाइट क्लव की तो मैं 'रानी' वन गयी। मेरे पिताजी के पास

काफी धन है। भाई उच्च पदों पर हैं। मैं पूरी तरह मेम साहब बन गयी हूँ। कोई मुझे वेश्या कहे तो मैं मुकदमा चलाकर सात साल के लिए जेल में बंद करा सकती हूँ। पर मैं क्या हूँ, इसका अभी तक स्वयं मुझे पता नहीं।''[१]

दरिद्रता की शिकार वेश्याएँ—घर-परिवार और बाल-बच्चों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भी जब बाधा पड़ती है, महंगी तथा अन्य बुराइयों के कारण भूखों मरने की नौबत आ जाती है, तब दरिद्रता की चपेट में पड़कर कितनी ही भावुक स्त्रियाँ पेट का गड़हा भरने के लिए इस कुत्सित मार्ग का आश्रय ले लेती हैं। 'बुभुक्षितः किन्नकरोति पापम्।'

इसी प्रकार अनेक कारणों से स्त्रियों को विवश होकर इस 'लाल बत्ती' वाले गंदे मुहल्ले में शरण लेनी पड़ती है।

प्रच्छन्न वेश्याओं का जीवन तो समाज के साथ इतना घुला-मिला है कि उसे पृथक् करके देखना कठिन है। उन्हें सामाजिक जीवन का स्वांग भी निभाना पड़ता है और अनैतिक जीवन का भी।

वेश्या का जीवन

एक महापुरुष का कहना था कि 'वेश्याएँ तुझसे अधिक पापिनी नहीं। वे केवल पाप करती हैं। तू तो पाप भी करता है, उसे छिपाता भी है।' छिपाने की इस प्रक्रिया में कितना असत्य, दम्भ और विवशता छिपी पड़ी है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। प्रच्छन्न वेश्याएँ रात-दिन उस नारकीय जीवन में डूबी रहती हैं।

रात्रि जागरण—रही बात कोठे पर बैठनेवाली वेश्याओं की। उनका जीवन सामान्य जीवन से उल्टा होता है। सारी दुनिया जब सोती है तब कोठे पर बैठी वेश्या ग्राहकों की प्रतीक्षा में जागती है। रात-रात भर वह जागकर अपने ग्राहकों का मनोरंजन करती है। वह नाचती है, गाती है, हाव-भाव, शृंगार दिखाकर, शराब पी-पिलाकर ग्राहकों को प्रसन्न करती है। उनकी यौन-क्षुधा को शांत करती है। सामान्य लोगों के लिए जो रात है, वह उसके लिए दिन है। रात में ही उसका सारा व्यापार चलता है। दिन में वह सोती है और अपनी खुमारी, थकावट मिटाने का प्रयत्न करती है।

---

१. कुमारी स्वेच्छाचारिणी, लेख 'क्या मैं वेश्या हूँ?' 'त्रिलोचन' (गया), २६ जुलाई, १९३९

हंसी हाहाकार—उसका हृदय हाहाकार से भरा होता है, परंतु वह मुस्कराकर अपने ग्राहक को रिझाने का प्रयत्न करती है। गंदे-से-गंदे, भद्दे-से-भद्दे व्यक्ति के समक्ष उसे अपना रूप और यौवन अर्पित करना होता है। घृणित-से-घृणित रोगी, कोढ़ी चांदी-तांबे के चंद टुकड़े उसके आगे फेंककर उसके शरीर के साथ क्रीड़ा करते हैं, कर सकते हैं। उसके चलते वह प्रमेह, उपदंश जैसे भयंकर रोगों की सहज ही शिकार बनकर असहनीय यातनाएँ भोगती हुई अकाल में ही काल कवलित होती है।

रोग-बीमारी—यौन रोग वेश्या के जीवन को तबाह कर देते हैं। उनका आक्रमण होते ही उसकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले, उसके कृत्रिम परिवारवाले भी उसका साथ छोड़ देते हैं, रूप के भौंरे तो फिर उसके पास फटकने ही क्यों लगे ? बीमारी आदि में महाजन भी इस भय से उसे ऋण नहीं देता, सौदा नहीं देता कि यदि कहीं मर गयी तो पैसे और व्याज की वसूली कैसे होगी ? एक ओर उसके शरीर में रोग के कीड़े बिलबिलाते हैं, दूसरी ओर लोग उसे ठुकराते चलते हैं—'ले भोग अपने पापों का कुफल ! मजे तूने उड़ाये हैं, मुसीबत कौन झेलेगा ?''

रहन-सहन—वेश्या को अपने व्यापार को चमकाने के लिए ऊँची दुकान सजानी पड़ती है। दुकान जितनी चटकीली-चमकीली होगी, आमदनी उतनी ही अधिक हो सकेगी। पर उसकी आमदनी का अधिकांश उसके साजिंदे, उस्ताद, अम्मीजान, बाड़ी वाली आदि झटक ले जाते हैं। उसके हाथ बहुत कम पैसा लगता है। दलाल भी उससे अच्छी कमाई करते हैं।

अपराधी जगत—वेश्या का जीवन अपराधी तत्त्वों से, गुंडों, बदमाशों, डकैतों, जुआरियों से घिरा रहता है। जुआ और व्यसन, शराब और मद उसके यहाँ खूब चलती है। इससे उसका जीवन संकटमय ही बना रहता है।

मरघट का ठाठ—वेश्या का सगा ही कौन ? कभी-कभी तो उसकी अर्थी स्वयं वेश्याओं को ही ढोनी पड़ती है। जीते जी जो परम अस्पृश्या है, उसके शव को कौन छुए ? बदनामी का डर तो है ही।

वेश्यावृत्ति के कारण

वेश्यावृत्ति के कारण अनेक हैं। कुछ भावात्मक हैं, कुछ मनोवैज्ञानिक। कुछ जैविकीय हैं, कुछ आर्थिक। कुछ वैयक्तिक हैं, कुछ सामाजिक। इस संबंध में किये गये शोधों, अनुसंधानों और सर्वेक्षणों से हवा के रुख का पता चल सकता है।

भारतव्यापी अध्ययन : सन् १९४९-५० में अखिल भारतीय नैतिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य संघ की ओर से जो अध्ययन किया गया, उसमें केवल ९ राज्यों के संबंध में जानकारी उपलब्ध हो सकी थी। उस रिपोर्ट का मुख्य तथ्य यह है कि आर्थिक कारण—निर्धनता और वेकारी ही अधिकांश स्त्रियों को शरीर बेचने के लिए विवश करती है। ५५.४ प्रतिशत स्त्रियाँ निर्धनता और व्यावसायिक सुविधाओं के अभाव में, २७.७ प्रतिशत पारिवारिक कारणों से तथा १६·९ प्रतिशत धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं के कारण वेश्यावृत्ति अपनाती हैं। ग्रामीण क्षेत्र से आनेवाली ऐसी स्त्रियों का प्रतिशत ६६·५ होता है, नागरिक क्षेत्र से आनेवाली स्त्रियों का ३३·५ प्रतिशत। अधिकांश वेश्याएँ १० से लेकर २९ वर्ष की आयु में वेश्यावृत्ति ग्रहण करती हैं।[१]

बंबई का एक अध्ययन : ताता इंस्टीच्यूट आफ सोशल साइंसेज की ओर से डाक्टर पुणेकर की अध्यक्षता में किये गये एक अनुसंधान से वेश्यावृत्ति की समस्या और कारणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। दस वर्ष पूर्व बंबई में किया गया ३५० सामान्य वेश्याओं का यह अध्ययन बताता है कि वेश्याओं की स्थिति क्या है और वेश्यावृत्ति ग्रहण करने के कारण क्या हैं ?[२]

इस अध्ययन में ३५० में से ११३ (३२·२९%) देवदासियाँ थीं, २३७ (६७·७१%) अन्य जिनमें सबसे अधिक संख्या हिंदू वेश्याओं की थी। हिंदू वेश्याएँ ७९·३३ प्रतिशत थीं, मुसलमान ११·८१ प्रतिशत, ईसाई ६·७५ प्रतिशत थीं, अन्य २·११ प्रतिशत। हिंदू वेश्याओं में हरिजनों की संख्या ४५·५१ प्रतिशत थीं। राज्यों की दृष्टि से ५५·४३ प्रतिशत मैसूर की थीं, २७·१४ बंबई की और १७·४३ प्रतिशत अन्य राज्यों की तथा विदेशों की थीं।

देवदासियों को छोड़कर अन्य २३७ वेश्याओं में २८·२७ प्रतिशत विधवा, ४०·९३ प्रतिशत अविवाहिता थीं। १७·३० प्रतिशत भागी हुई पत्नियाँ थीं, ७·१७ प्रतिशत परित्यक्ता और ५·९१ अन्य प्रकार से पृथक् की हुई थीं। विवाहिता केवल ०·४२ प्रतिशत थीं।

---

१. रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ओन मोरल एण्ड सोशल हाईजीन, पृ० १०१

२. ए स्टडी ऑफ प्रास्टीट्यूशन इन बंबि, १९६२, पृ० ९१-११६; सी० बी० मैमोरिया, सोशल प्राब्लेम्स एंड सोशल डिसआर्गेनाइजेशन इन इंडिया, १९६२, पृ० ४२८

२८·६५ प्रतिशत वेश्याओं ने ११ से १५ वर्ष की आयु में घर छोड़ा और ५५·३० प्रतिशत ने १६ से २० वर्ष की आयु में। ५३·६१ प्रतिशत अविवाहिता लड़कियों ने और ४०·७१ प्रतिशत विवाहिता लड़कियों ने यह सोचकर ही घर छोड़ा कि अब उन्हें वेश्यावृत्ति से ही जीविका चलानी है। १७·५३ प्रतिशत अविवाहिता और ३४·२९ प्रतिशत विवाहिता लड़कियों के मन में ऐसा कोई विचार नहीं था। १२·७१ प्रतिशत ने घर छोड़ते समय ऐसा कोई विचार ही नहीं किया था।

प्रस्तुत प्रतिवेदन में बताया गया है कि ३५·१४ प्रतिशत ने १४ वर्ष की आयु में, ३१·४३ प्रतिशत ने १७ वर्ष की आयु में और २३·२४ प्रतिशत ने १८ से २० वर्ष की आयु में वेश्यावृत्ति आरंभ की।

वेश्यावृत्ति के व्यवसाय में ये कितने वर्षों से पड़ी हैं—इस संबंध में पूछने पर पता लगा कि १७·७० प्रतिशत देवदासियाँ २१ वर्ष या अधिक समय से व्यवसाय में है। २०·२८ प्रतिशत वेश्याएँ ११ से लेकर १५ वर्षों से इस व्यवसाय में हैं।

आयु की दृष्टि से अध्ययन काल में ५८·२९ प्रतिशत वेश्याएँ अर्थात् आधे से अधिक २१ से ३० वर्ष की थीं। ३४·५१ प्रतिशत देवदासियों की आयु भी ऐसी ही थी। अन्य वेश्याओं में १९ प्रतिशत या तो इससे कम आयु की थीं या इससे अधिक आयु की थीं।

आय के संबंध में प्रतिवेदन में बताया गया कि आधे से अधिक वेश्याएँ प्रतिग्राहक से १) से लेकर २) तक कमाती हैं। २·२९ प्रतिशत ११) से २०) तक कमाती हैं। देवदासियों की अधिकतम दर २) प्रतिग्राहक है, अन्य वेश्याओं की ५), अधिकांश वेश्याओं की मासिक आय ५) से लेकर १००) तक है। इस आय में से ५० प्रतिशत चकला चलानेवालों को दे देना पड़ता है।

निवास की स्थिति दयनीय थी। ३६ प्रतिशत वेश्याएँ यौन रोगों से पीड़ित थीं।

वेश्यावृत्ति क्यों ग्रहण की ?—इस प्रश्न के उत्तर में देवदासियों के अतिरिक्त अन्य वेश्याओं ने जो कारण बताये वे भिन्न-भिन्न थे। ७२ ने भावात्मक, ६७ ने सामाजिक, ४७ ने जैविकीय, ३४ ने आर्थिक और १६ ने मनोवैज्ञानिक कारण बताये। यों उन्होंने कुल २६ कारण बताये। आयु समूहों के अनुसार उनका विभाजन इस प्रकार है—

समूह १

१. माता-पिता, संरक्षक, पति तथा संबंधियों की मृत्यु १८

समूह २

२. निराश्रितता—५१
३. निर्धनता—७२

समूह ३

४. माता-पिता, संरक्षक, पति और संबंधियों का दुर्व्यवहार ६७
५. माता-पिता, संरक्षक आदि द्वारा तिरस्कार २०
६. दुःखमय पारिवारिक संबंध २९
७. पति का विश्वासघात १४
८. पति द्वारा परित्याग ३
९. दुःखमय वैवाहिक जीवन ३०

समूह ४

१०. माता-पिता, संरक्षक आदि की उपेक्षा १८
११. माता-पिता, संरक्षक आदि द्वारा प्रवेश १९
१२. बुरा प्रभाव १८६
१३. छल-कपट ६२
१४. अपहरण १०
१५. पर्यावरण का प्रभाव ७२
१६. वंशानुगत या परंपरात्मक ७

समूह ५

१७. यौन उत्सुकता और यौन विषयक मांग १०
१८. दूषित यौन संबंध ३१
१९. अवैध गर्भाधान ८
२०. बलात्कार २
२१. सरल जीवन की मांग ९७
२२. साहस और धुन २२
२३. विवाह से घृणा ४
२४. अज्ञान १०४
२५. गिरा हुआ जीवन मूल्य १३१
२६. प्रतिशोध की भावना १

इन सभी कारणों को यदि मोटे-मोटे विभागों में बाँटें तो वेश्यावृत्ति के मूल कारण ये ठहरते हैं—

१. दूषित प्रभाव, दूषित पर्यावरण तथा निम्न जीवन मूल्य,
२. अज्ञान,
३. निर्धनता और निराश्रयता,
४. सगे-संबंधियों और पति या संरक्षक द्वारा दुर्व्यवहार, उपेक्षा, तिरस्कार,
५. छल-कपट, दूषित यौन संबंध, अपहरण, बलात्कार, अवैध गर्भधारण,
६. क्लेशमय वैवाहिक जीवन, पति द्वारा विश्वासघात और परित्याग,
७. यौन आवश्यकता और यौन उत्सुकता।

विदेशों में सर्वेक्षण : विदेशों में भी समय-समय पर इस दिशा में अनुसंधान होते रहे हैं। उनके निष्कर्ष भी इसी से मिलते-जुलते हैं। 'वरवधू विवेचन' में ऐसे कुछ आँकड़े दिये गये हैं—

फ्रांस में ५००० वेश्याओं ने वेश्यावृत्ति अपनाने के कारण बताते हुए कहा कि १४४१ ने दरिद्रता के कारण यह वृत्ति अपनायी, १४२५ ने बदमाशों द्वारा अपहरण और परित्याग के कारण, १२५५ ने माता-पिता की मृत्यु के कारण तथा ८७९ ने अन्य कारणों से यह वृत्ति अपनायी।

बेलजियम में ३५०५ वेश्याओं में से १५२३ ने दरिद्रता १११८ ने वासना की तीव्र आकांक्षा, ४२० ने बदमाशों का साथ, ३१६ ने काम अधिक पर मजदूरी कम होने के कारण, १०१ ने पति या प्रेमी द्वारा परित्याग के कारण तथा २७ ने अन्य कारणों से वेश्यावृत्ति अपनायी।

इटली में १०,४४२ वेश्याओं में २७५२ ने दुर्व्यसन तथा दुश्चरित्रता, २१३९ ने माता-पिता या पति की मृत्यु, १६५३ ने प्रेमी के प्रलोभन, ९२७ ने मालिकों की कुदृष्टि, ७९४ ने माता-पिता, पति द्वारा परित्याग को वेश्यावृत्ति अपनाने का कारण बताया। ६९८ ने विलासिता के प्रेम के कारण, ६६६ ने प्रेमी द्वारा तथा ४०० ने माता-पिता द्वारा या पति द्वारा प्रेरित किये जाने पर, ३९३ ने माता-पिता के या संतान के पालन-पोषण के लिए यह वृत्ति अपनायी। २० वेश्याओं ने कुछ अन्य कारण बतायें।

न्यूयार्क की १९९२ वेश्याओं में से ५२५ ने दरिद्रता, ६३७ ने विलासी मनोवृत्ति, २८२ ने दुष्टों का प्रलोभन, १८१ ने मद्यपान और १६४ ने माता-पिता या पति के दुर्व्यवहार के कारण वेश्यावृत्ति अपनाने की बात कही।

प्रोफेसर वुड्स हचिंसन ने अपने अनुसंधान से वेश्यावृत्ति के कारणों के ये निष्कर्ष निकाले हैं—

विलासिता का प्रेम	४२·१ प्रतिशत
गार्हस्थ सुखों का अभाव	२३·८ ,,
बदमाशों के प्रलोभन	११·३ ,,
बेकारी	९·४ ,,
वेश्यावृत्ति की ओर झुकाव	७·८ ,,
विषय-वासना की तीव्रता	५·६ ,,
	१००·०

इन विभिन्न कारणों से प्रकट है कि वेश्यावृत्ति के कारक अनेक हैं। जैसे, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, जैवकीय आदि। समस्याओं को भली प्रकार समझने के लिए उन सभी दृष्टियों से विचार करना अच्छा होगा।

सामाजिक कारक

सामाजिक कारकों में पुरुष की वासना, दोहरा मापदंड, सामाजिक कुरीतियाँ, विधवाओं की दुर्दशा आदि प्रमुख हैं।

पुरुष की वासना : वेश्यावृत्ति का मूल कारण है—पुरुष की वासना। पुरुष ने नारी को, उसके व्यक्ति को कोई आदर न देकर, उसके शरीर को कोई आदर न देकर उसे केवल अपनी क्रीड़ा का साधन बना लिया। उसने उसे भोग्या और क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया। प्रसिद्ध विचारक वेल्स ठीक ही लिखता है कि 'वे (वेश्याएँ) केवल कामवासना की ही तृप्ति नहीं करतीं। वे विनिमय में जो कुछ देती हैं, वह उससे कहीं ऊँची वस्तु है। वह है—'नारीत्व'।'[१]

संपन्न कामी और विलासी पुरुष अपनी वासनापूर्त्ति के लिए 'वेश्या' की सृष्टि करते हैं। लेमर्ट कहता है कि ऐसे कामी लोगों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के पुरुष भी अपनी वासना पूर्त्ति के लिए वेश्या का द्वार खटखटाते हैं। इनमें एक तो वे हैं जो शारीरिक दृष्टि से दोषी, कुरूप, अंधे, लूले-लंगड़े और अपंग होते हैं और जिनका विवाह नहीं होता। वे यौन

---

१. एच० जी० वेल्स : दि वर्क वेल्थ एंड हैपिनेस ऑफ मैनकाइंड, पृ० ५४५

संतुष्टि के लिए वेश्या के यहाँ पहुँचते हैं। दूसरे वे हैं जिन्हें नौकरी या व्यवसाय-व्यापार के लिए विवश होकर पत्नी से, परिवार से दूर रहना पड़ता है। ऐसे अस्थायी मजदूर, एजेंट, तबादलेवाले कर्मचारी, व्यापारी, पुलिस के सिपाही, रिक्शावाले आदि अपनी काम-पिपासा शांत करने के लिए वेश्या के द्वार पर दस्तक देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अविवाहित पुरुष, कुछ पत्नी से असंतुष्ट विवाहित पुरुष यौन-संतुष्टि में वैचित्र्य का आनंद लेने, उत्सुकता को शांत करने और स्वाद बदलने के लिए बाजार में पहुँचते हैं। मँहगी के कारण पत्नी को लाकर गृहस्थी बसाना अथवा रखेल का खर्च झेलना भारी मानकर सस्ते में वासना पूर्त्ति के लिए कितने ही पुरुष वेश्या के ग्राहक बनते हैं। वहाँ न तो उत्तरदायित्व का झमेला है, न कोई कानूनी प्रतिबंध है और न उद्वेगों में फँसने का कोई खतरा है। 'हर्रा लगे न फिटकरी, रग चोखा' समझकर ऐसे लोग वेश्यागमन करते हैं। कहते हैं—'बाजार में जब दूध सहज ही उपलब्ध है तो गाय पालने की झंझट में कौन पड़े ?

दोहरा मापदंड—पुरुष की शारीरिक गढ़न स्त्री की अपेक्षा अधिक बलवान होती है। संख्या भी प्रायः उसकी अधिक रहती है। स्त्री लाख है, पर 'अबला' है, वह उसे 'अबला' बना कर रखने में ही अपनी शान समझता है और गौरव का बोध करता है। शताब्दियों से वह नारी पर इसी प्रकार शासन करता आया है, शक्ति, सामर्थ्य के अतिरिक्त समाज का नियमन और नियंत्रण भी पुरुष के हाथ में रहता आया है, जिसके चलते उसने मनोनुकूल नियम बना रखे हैं। इस कारण पुरुष ने नारी को दासी और कहीं-कहीं तो दासी से भी निम्नतर स्तर में डाल रखा है। पुरुष ने नैतिकता और सामाजिकता के दोहरे मापदंड बना रखे हैं—पुरुष के लिए एक, नारी के लिए दूसरा। पुत्र को सम्मान, पुत्री को निरादर, पुत्र को अधिकार, पुत्री को उपेक्षा और तिरस्कार सर्वत्र दिखाई देता है। जो बात स्त्री के लिए हेय और घृणित मानी जाती है, वही पुरुष के लिए गौरव की बात मान ली जाती है। पुरुष के लाख खून माफ हैं, स्त्री का एक भी नहीं। वह बेचारी शारीरिक दृष्टि से भी विवश है। पुरुष व्यभिचार और अनैतिक आचरण करके हाथ झाड़ कर निष्कलंक 'बना' रह सकता है। पर स्त्री अपनी गर्भस्थिति को कैसे छिपाये ? पुरुष नारी को विवश करके पाप पथ पर ढकेल देता है और फिर उसे कुलटा, दुराचारिणी, वेश्या कहकर पैरों से ठुकराता है। उसे अस्पृश्या कहकर समाज से बहिष्कृत कर देता है। वेश्यागमन पाप है, अनैतिक है, पुरुष की कृति है,

फिर भी उसका दंड भोगना पड़ता है नारी को। समाज का यह दोहरा माप-दंड वेश्यावृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

सामाजिक कुरीतियाँ—भारत में विवाह की अनेक पद्धतियाँ हैं—बाल-विवाह, वृद्धविवाह, बहुविवाह, कुलीन विवाह, अनमेल विवाह। दहेज और आतिशबाजी, धूम-धाम, नाच-रंग, गहने-कपड़े, भोज आदि भी उसी के साथ जुड़े हैं। मरने पर भी बड़ी धूम-धाम से भोज करने की कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। इनके चलते अनेक परिवार आर्थिक दृष्टि से तबाह हो जाते हैं। पर समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए लोग जमीन-जायदाद बेचकर, कर्ज लेकर अथवा अन्य उपाय करके नाक बचाते हैं। पर उनकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी होती है। इन कुप्रथाओं के चलते परिवार में नारी की, मुख्यत: विधवाओं की जो दुर्दशा होती है, वह किसी से छिपी नहीं। रात-दिन कोल्हू के बैल की भाँति काम में पिसे रहने पर भी शांति से दो टुकड़े रोटी के नहीं मिल पाते। इस अपमान, तिरस्कार, आर्थिक तंगी आदि के कारण भी अनेक स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के मार्ग पर चल पड़ती हैं।

आर्थिक कारक

नारी की आर्थिक परवशता, घर की आर्थिक तंगी, गरीबी, बेकारी, नौकरी की दयनीय परिस्थितियाँ, ऊँचे जीवनमान का मोह, विलासी पर्यावरण, औद्योगीकरण, नागरीकरण, अनैतिक व्यापार जैसे अनेक आर्थिक कारक स्त्री को विवश करके पतन की इस गली में ढकेलते हैं।

दरिद्रता—माता-पिता का देहान्त, संरक्षक का न रहना, उसकी बेकारी, वृद्धावस्था, छोटे-छोटे भाई-बहन या बाल-बच्चों के पालन-पोषण का दायित्व कितनी ही स्त्रियों को वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश करता है। आये दिन इसके उदाहरण मिलते रहते हैं।

२१ दिसंबर, १९३९ (सायंकाल का समय)। काशी के चौक में दूकान पर बैठे हमारे एक मित्र ने एक युवती की अल्हड़पन से भरी हरकतों को देख कर उसका पीछा किया। थोड़ी दूर पर एक जीर्ण-शीर्ण मंदिर के पास वे पहुँचे। कुरेदने पर बगल में मिश्री के एक दुकानदार ने कहा—'बाबू, म्हारे बगल की रंडी अच्छी, ये ना अच्छी!' 'क्यों?' पूछने पर उसने बताया कि अपने बूढ़े बेकार पिता और छोटे भाई के जीवन की रक्षा के लिए यह दो-दो चार-चार पैसे पर अपने शरीर का विक्रय करती है!

सन् ४०-४१ की बात है। पुस्तकों के हमारे एक एजेंट मित्र ने एक बार मध्य प्रदेश आदि के दौरे से लौटकर अकोला की एक द्रावक घटना सुनायी। बताया कि एक दिन शाम के झुटपटे में ४ स्त्रियों ने उनका पीछा किया। आवाज दी—बाबूजी ! बाबूजी ! बाबूजी !!

'क्या है ?' पूछने पर वे लगीं भाँति-भाँति की भाव-भंगिमाएँ प्रदर्शित करने। इन्होंने डाँटा। कहा—'भगो कुत्तियो, मैं तुम्हारे चक्कर में फँसने वाला नहीं।'

एक तो चली गयी। तीन फिर भी पीछे पड़ी रहीं। चारों ओर से घेर कर वे लगीं सिसकने। पूछा—'बात क्या है ? क्यों रो रही हो तुम लोग ?'

बोलीं—पुरुष जाति बड़ी स्वार्थी होती है। गरज के मौके पर जूतियाँ चाटती है, नहीं तो सीधे मुँह बात नहीं करती। आज तीन दिन से हमें कोई ग्राहक नहीं मिला। आप हमारे साथ चाहे जो व्यवहार कर लीजिये पर हमारे पेट की आग बुझाने को कुछ पैसे हमें दे दीजिए।

एजेंट मित्र सकते में आ गये। जेब में जो पैसे पड़े थे, निकालकर उन्हें दिये, तब वे लौटीं।

कलकत्ता में हमारे दो साथी पत्रकार शाम को दफ्तर से निकलकर चाय पीने होटल की ओर बढ़ रहे थे कि पीछे से एक बंगाली युवती पास आकर बोली—'चलिवेन ?' (चलेंगे ?)

'चल तो रहे ही हैं !'—एक साथी ने मुसकरा कर कहा।

युवती पीछे-पीछे चल पड़ी। होटल में पहुँचकर उससे पूछा—'बात क्या है ?' आँखों में आँसू भरकर बोली—'कई दिन से भूखी हूँ। घर पर अकेला बच्चा है। उसे पालने को और कोई साधन न रहने पर शरीर बेचना पड़ता है, फिर भी रोज-रोज ग्राहक कहाँ मिलते हैं !'

पेट भर उसे भोजन कराकर और बच्चे के लिए भी कुछ देकर उन्होंने उसे विदा किया।

काशी के प्रच्छन्न नरकालयों—प्राइवेट हाउसों पर श्री रघुनाथ सिंह ने एक उपन्यास लिखा है—'एक कोना।' नाना प्रकार की बंदिशों के रहते भी लोग खोज-खोजकर वहाँ पहुँचते रहते हैं। लेखक के एक साथी बाहर से आये थे। जबरन वहाँ ले गए। एक स्थान पर देखा कि एक युवती अकाल वृद्धा वेदना और पीड़ा से सिक्त। उसके कमरे से एक विकृतांग पुरुष निकल

रहा था। लगता था किसी घृणित रोग का रोगी हूँ -- टाँगें उसकी पसरी-पसरी-सी। दृश्य देखा नहीं गया। बाहर आकर लेखक घंटों रोता रहा। साथी ने कहा—तुमने बलात्कार का कोई केस नहीं देखा, इसी से तुम्हारी यह हालत हो रही है।

उन्हें बाहर जाते देख बाड़ी वाली गुर्रायी—'आप यहाँ से दक्षिणा दिये बिना जा नहीं सकते।' पैसे जब देने ही हैं तो किसी से बात क्यों न की जाय, यह सोचकर वे एक कमरे में स्टूल पर बैठ गये। लड़की बंगाली थी। पूछा—'तुम हिंदू हो कि मुसलमान?' लड़की हँसी। बाड़ी वाली को बुलाकर बोली—'माँ एइ बोलछे तुमि हिंदू कि मोशलमान!'

बुढ़िया के हटने पर उसकी कहानी पूछी तो उसने टूटी-फूटी हिंदी में बताया—'बचपन में विधवा हो गयी। माँ बाप के पास आमदनी का कोई साधन नहीं। वे ही मुझे विवश करते हैं यह गंदा पेशा करने को।'

नरकालय छोड़ने को जब उससे कहा गया तो बोली—'कैसे निकलूँ? चौबीस घंटे कैद रहती हूँ। बाहर जाऊँ तो नौकर साथ रहता है।'

काशी हो या कलकत्ता, अकोला हो या बंबई, मैसूर हो या मद्रास, उत्तर प्रदेश हो या बिहार—दरिद्रता के कारण सतीत्व के इस व्यापार के उदाहरण सर्वत्र उपस्थित हैं। और, भारत में ही क्यों, विदेशों में भी वेश्यावृत्ति के प्रमुख कारणों में दरिद्रता का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

नारी की आर्थिक परवशता—आर्थिक दृष्टि से नारी प्रायः पराधीन ही रहती है। आर्थिक स्वावलंबन के उसके अवसर सीमित हैं। उत्तराधिकार आदि के अधिनियम एक तो पक्ष में कम ही हैं। जो हैं भी, उनका वह भरपूर लाभ उठा नहीं पाती। उसके सगे-संबंधी तथा अन्य स्वार्थी लोग छल-बल और डंडे से उसे उसके अधिकारों से वंचित कर देते हैं। घर में भी उसके हाथ में आर्थिक व्यवस्था कम ही रहती है। अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे पुरुष के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। उसका जी भीतर से विद्रोह करता है, पर उसे व्यक्त कर नहीं पाती। जी मसोसकर रह जाती है। इन सब तनावों का उसके चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

नौकरी की दयनीय स्थितियाँ—स्त्रियों को नौकरियों की सुविधाएँ यों ही कम हैं। जो हैं भी, उनमें वेतन कम है। नौकरी की स्थितियाँ अधिकतर ऐसी रहती हैं कि उनके समाज की रक्षा कम ही हो पाती है। अनेक नौकरियाँ

तो ऐसी होती हैं कि स्त्रियों को विवश होकर अपने अधिकारियों और ग्राहकों को प्रसन्न करने के लिए अपने चरित्र की भी बलि चढ़ा देनी पड़ती है। होटलों, रेस्तराओं, दफ्तरों, दुकानों, मालिशघरों, स्नानागारों, संगीतालयों, नृत्यशालाओं, क्लबों आदि में काम करनेवाली 'कालगर्ल', सोसाइटी गर्ल, आदि की दयनीय स्थिति किसी से छिपी नहीं। उनमें अधिकांश युवतियाँ सरलता से धन कमाने की लालसा से मालिकों और ग्राहकों को प्रसन्न करने के लिए वेश्यावृत्ति की ओर झुक जाती हैं।

ऊँचे जीवनमान का मोह—मानव की स्वाभाविक कमजोरियों में एक यह भी है कि वह अपना जीवनमान वास्तविक से ऊँचा दिखाना चाहता है। इसी झूठे मोह में पड़कर पुरुष नाना प्रकार के गलत काम—चोरी, बेईमानी, जालसाजी, विश्वासघात करता है, भ्रष्टाचार और रिश्वत पर कमर कसता है। उधर स्त्री फैशन, शृंगार, क्रीम, पाउडर, अर्धनग्न कीमती वेशभूषा आदि के चक्कर में पड़ कर पतन की गली की ओर झुकती है। सादगी और श्रम से अरुचि तथा विलासी जीवन का आकर्षण उसे गिराता है और अंत में वह वेश्यावृत्ति ग्रहण करने को विवश होती है।

विलासी वातावरण—आज फ़िल्म, नाटक, सिनेमा, रेडियो, चित्र, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य, संगीत, नृत्य, कला, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि मानव को प्रभावित करने के प्रायः सभी साधन विलासोन्मुखी हो गये हैं। इन सबका रुख पतनाभिमुखी ही देखने में आता है। सोरोकिन ठीक ही कहता है कि 'विज्ञान और दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र से संबंध-विच्छेद हो जाने के कारण कला उत्तरोत्तर छूछी और अनुत्पादक हो गयी है।...हमारी कला के पतनशील प्रभाव, मुख्यतः चलचित्रों, ठुमरी-ठप्पों और जासूसी कहानियों के कुप्रभाव अनेक शोधों से स्पष्ट हो गये हैं। अपराध और सभ्य समाजविरोधी भावनाओं को जन्म देने में अधिकांश चलचित्रों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यही बात हमारे अधिकांश साहित्य, गुदगुदी पैदा करनेवाली पत्र-पत्रिकाओं, ठुमरी-ठप्पों, नाटक, नौटंकी आदि के विषय में कही जा सकती है।'[1] यह वातावरण भोली-भाली स्त्रियों को ले डूबता है।

औद्योगीकरण और नागरीकरण—यंत्रीकरण के कुपरिणाम किससे छिपे हैं? उसके चलते छोटे-छोटे उद्योगों का नाश होता है। एक-एक मशीन सैकड़ों-हजारों को बेकार बनाती है। नगरों की वृद्धि होती है। पैसे के

१. पी० ए० सोरोकिन : मानवता की नवरचना, पृष्ठ १५५-१५६

आकर्षण में फँसकर लोग गाँवों से भाग कर नगरों में आते हैं। अस्वास्थ्यकर स्थिति में काम करते हैं। आवास की कठिन समस्या के कारण परिवार से दूर रहते हैं। जहाँ-तहाँ गंदी बस्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उनमें हजारों स्त्री-पुरुषों को नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। स्त्रियों को निवास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त कमरों में रहना पड़ता है। पुरुषों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होने से औद्योगिक नगरों में अनेक सामाजिक, नैतिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। १९७१ की जनसंख्या में सारे देश में १००० पुरुषों पर ९३२ स्त्रियाँ थीं। नगरों में यह अनुपात और अधिक विषम था। सोचने की बात है कि जहाँ कलकत्ता में ७० लाख, बम्बई में ६० लाख, दिल्ली में ३६ लाख, मद्रास में २५ लाख, अहमदाबाद में १६ लाख व्यक्ति रहते हों, वहाँ स्त्रियों के अनुपात में यदि हजार पीछे २००, २५० की कमी हो तो उस कमी का क्या परिणाम होगा! आवास की कमी का यह हाल है कि १९५९ में बंबई में ८९ प्रतिशत, कानपुर में ६२·५ प्रतिशत, अहमदाबाद में ७३ प्रतिशत लोग एक कमरे में निवास करते थे। यह स्थिति इधर सुधरी होगी ऐसी आशा नहीं, क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि अधिकाधिक होती चल रही है। नगरों में जहाँ-तहाँ गरीब लोग झुग्गियाँ डाल लेते हैं। इन गंदी बस्तियों की स्थिति अत्यंत दयनीय रहती है। राधाकमल मुखर्जी के अनुसार 'ऐसी हजारों गंदी बस्तियों में मनुष्य का कोई उपयोग नहीं, स्त्री का यहाँ अपमान होता है और बालकत्व अपने मूल केंद्र से ही विषाक्त बनता चलता है।'[1]

अनैतिक व्यापार—स्त्रियों और बच्चियों का अनैतिक व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर सारे संसार में फैला हुआ है। स्त्री को नाना प्रकार के सब्जबाग दिखाकर इस घृणित व्यापार के दलाल उसे उसके आश्रम से निकाल कर उनका मनमाना उपभोग करते हैं और फिर ऊँची-से-ऊँची कीमत पर उसे बेचकर अपनी अंटी गरम करते हैं। केवल गुंडे, बदमाश, दलाल, वेश्याएँ, कुट्टिनियाँ, मालजादे, भड़वे ही नहीं, इस अनैतिक व्यापार में बहुत पैसेवाले सफेदपोश अपराधी भी शामिल रहते हैं। कारण, यह भारी आमदनीवाला व्यापार है। सन् १९२१ में लीग आफ नेशन्स का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया गया था। उसने इसके निरोध के लिए एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन भी बुलाया था। जहाँ-तहाँ इसे रोकने के लिए कुछ कानून बने भी हैं, परंतु पैसे

१. राधाकमल मुखर्जी : इंडियन वर्किंग क्लास, पृष्ठ ३१९

की मार के आगे कानून भी पानी भरते हैं। राष्ट्रसंघ की ओर से इस संबंध में जो रिपोर्ट छपी थी उसमें पोलैंड, हंगरी, बुखारेट, इंगलैंड, अमरीका आदि तमाम देशों के विवरण दिये हुए थे और बताया था कि लड़कियों के अपहरण के लिए कैसे-कैसे उपाय किये जाते हैं।

इस अनैतिक व्यापार से बचाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लड़कियों को जो चेतावनी दी थी, उसी से अनुमान किया जा सकता है कि अपहरणकर्ता लोग कैसे-कैसे हथकंडे अपनाते हैं। चेतावनी में कहा गया था—

"लड़कियों को चाहिए कि वे किसी भी अपरिचित पुरुष या स्त्री से गली-कूचे में, दुकानों पर, स्टेशनों पर, रेलगाड़ी में, देहात की सूनी पगडंडी पर अथवा आमोद-प्रमोद के स्थानों पर न तो बोलें, न बात करें।

"रास्ता पूछना हो तो ड्यूटी पर तैनात पुलिस कांस्टेबल से ही पूछें, अन्य किसी से नहीं।

"गली-सड़कों पर अकेली न घूमें। यदि कोई व्यक्ति उनसे बात करने को लपके तो वे जल्दी-से-जल्दी समीप के कांस्टेबल के पास पहुँच जायँ।

"कोई स्त्री यदि उनके पास आकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो, वे उसे स्वयं उठाने न लगें, निकटस्थ कांस्टेबल को पुकारें।

"पादरी का भी चोंगा पहन कर कोई अपरिचित व्यक्ति यदि रविवार की पाठशाला में या बाइबिल की कक्षा में ले जाना चाहे तो उनके साथ न जायँ।

"मोटर, टैक्सी या अन्य किसी सवारी पर सवार कोई व्यक्ति यदि उन्हें उनके घर पहुँचा देने को कहे तो कभी भी उसके साथ न जायँ।

"कोई अपरिचित व्यक्ति यदि उनसे मानपत्र स्वीकार करने को कहे तो उसकी बातों में आकर उसके साथ कहीं न जायँ।

"कोई अपरिचित नर्स अथवा अन्य कोई व्यक्ति यदि आकर कहे कि तुम्हारा अमुक संबंधी बीमार होकर या दुर्घटनाग्रस्त होकर अस्पताल में पड़ा है, बुला रहा है तो उसकी बातों में न आयें।

"कोई भी अपरिचित व्यक्ति खाने-पीने की कोई सामग्री दे अथवा सूँघने के लिए पुष्प या इत्र दे तो उसे कभी स्वीकार न करें।

"समाचारपत्रों के विज्ञापनों पर विश्वास करके किसी अपरिचित स्थान पर जाने के लिए तैयार न हो जायँ।" आदि।

कई वर्ष पूर्व आर्थर रेनाल्ड्स ने 'खोयी हुई लड़कियाँ कहाँ चली जाती है ?' शीर्षक एक लेख लिखा था जिसमें बताया था कि प्रतिवर्ष इंग्लैंड से सैकड़ों लड़कियाँ गायब हो जाती हैं। वे श्वेतांग दासियों के व्यापार का ही अंग बनती हैं।

स्त्रियों और बच्चियों के इस अनैतिक व्यापार में अत्यधिक आर्थिक लाभ रहता है। वेश्यावृत्ति के लिए ये अभागी बालिकाएँ गहरी रकम लेकर बेच दी जाती हैं। इस व्यापार ने विश्व के विभिन्न अंचलों में अपने अड्डे बना रखे हैं।

पारिवारिक कारक

परिवार का दूषित पर्यावरण अनेक बालिकाओं को वेश्यावृत्ति ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है। माता-पिता यदि स्वयं चरित्रवान नहीं होते तो बच्चों का बिगड़ना स्वाभाविक है। स्काट का कहना सही है कि अनेक मामलों में माँ स्वयं वेश्या होती है और पिता दलाल। ऐसे माता-पिता बिना झिझके बेटी को सड़क पर भेज देते हैं![1]'

कलह और दुर्व्यवहार—माता-पिता, संरक्षक का दुर्व्यवहार, पति-पत्नी का मनोमालिन्य, सास-ननद के ताने, पक्षपात, रागद्वेष आदि पारिवारिक वातावरण को विषाक्त बनाने वाले कारक जिस परिवार में रहते हैं, वहाँ के स्त्री-पुरुषों को, लड़के-लड़कियों को विघटित होते देर नहीं लगती। ज्यों-ज्यों तनाव बढ़ते हैं, त्यों-त्यों विघटन की स्थिति बिगड़ती चलती है। परिवार में रहना जब असह्य-सा हो जाता है, तो पति तलाक देकर अथवा परित्याग करके चल देता है अथवा कहीं डूब मरता है, पत्नी और जवान बेटियाँ घर से निकल कर लालबत्ती वाले मुहल्ले आबाद करती हैं। जिन परिवार में आवास और निवास की भरपूर व्यवस्था नहीं होती, शील, संकोच के लिए पर्याप्त स्थान नहीं रहता, एक ही कमरे में सास और बहू, लड़की और दामाद को रहना पड़ता है, पति-पत्नी तथा बच्चों को रहना पड़ता है, वहाँ भी तनाव और कलह बढ़ने के अवसर आते रहते है, जिनका परिणाम अच्छा नही होता।

नियंत्रण का अभाव - बाल-बच्चों पर, घर के सदस्यों पर जब परिवार के प्रमुख का नियंत्रण नहीं रहता, पति दफ्तर और दूकान में फँसा रहता है, पत्नी नौकरी में और बच्चे नौकरों के भरोसे रहते हैं अथवा आवारा घूमते

१. स्कॉट : हिस्ट्री ऑफ प्रास्टीट्यूशन, पृ० ३२

रहते हैं, तब भी परिवार की स्थिति शोचनीय बनती है। सामाजिक और नैतिक मर्यादाएँ टूटती हैं।

दूषित पड़ोस—आर्थिक तंगी आदि के कारण जब गंदी बस्तियों और गंदे पर्यावरण में किसी परिवार को रहना पड़ता है तो दूषित वातावरण के कुप्रभाव पड़ने लगते हैं। जहाँ आसपास चौबीसों घंटे शराब और जुआ, ताड़ी और मादक, अनैतिकता और वेश्यावृत्ति चलती हो वहाँ सच्चरित्र बने रहना कितना कठिन है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

अवैध मातृत्व—आज के विलासपरायण पर्यावरण में नैतिक मर्यादाएँ उपहास की वस्तु बन गयी हैं, सामाजिक मर्यादाओं में भी दम्भ और दिखावट का प्राबल्य हो गया है, इसके कारण समाज में लुके-छिपे अनाचार बहुत चलता है। अवैध प्रणय चलते हैं, पर जब गर्भस्थिति हो जाती है तो 'तथा-कथित' प्रेमी हाथ झाड़ कर पृथक् हो जाते हैं। प्रसवपीड़ा, मानसिक वेदना, आर्थिक संकट सब मिलकर अबोध कुमारी की स्थिति भयंकर बना देते हैं। वर्जीनिया विम्पेरिस ने अवैध मातृत्व और अवैध संतानों के संबंध में शोध करके विस्तृत आँकड़ों के साथ निष्कर्ष निकाला है कि २० बच्चों में १ बच्चा अवैध होता है, हर आठवें बच्चे का जन्म विवाह के बाहर होता है, हर चौथी माँ विवाह के पूर्व ही अपनी प्रथम संतान को गर्भ में धारण कर लेती है और स्कूल जाने की आयु से छोटे बच्चों में ५ लाख बच्चे अवैध होते हैं। यह स्थिति केवल इंग्लैंड की ही नहीं, यूरोप और राष्ट्रमंडल के अनेक राष्ट्रों की है।[१]

अवैध रूप से जन्म लेने वाली संतान और उसकी माँ कितनी घृणा की दृष्टि से देखी जाती है और उसे किस प्रकार पग-पग पर लांछित और अप-मानित होना पड़ता है, इसके दो उदाहरण भी वर्जीनिया ने दिये हैं। इन अवैध माताओं की रामकहानियाँ पाषाण हृदय को भी विचलित किये बिना न रहेंगी।[२] यह समस्या केवल यूरोप और अमरीका, रूस और इटली आदि में ही है, ऐसा नहीं, विश्वव्यापी है। कलकत्ता की बी० ए० की छात्रा सुजाता सरकार की भाँति भारत में भी न जाने कितनी लड़कियाँ अवैध मातृत्व और गर्भपात के प्रयत्न में मौत के घाट उतरती रहती हैं अथवा लांछनामय जीवन

---

१ वर्जीनिया विम्पेरिस : दि अनमैरिड मदर एंड हर चाइल्ड, लंदन, १९६०, भूमिका, पृ० ११.

२. वर्जीनिया विम्पेरिस : वही, पृ० २११–२२९

बिताने को विवश होती हैं। अंत में उन्हें खुलेआम वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है।

देवदासी—संतान-प्रेम मनुष्य से क्या नहीं कराता? संतानेच्छुक अनेक माता-पिता देवताओं से ऐसी मनौती मानते हैं कि हमें संतान दे, वह यदि कन्या होगी तो हम उसे देवार्पण कर देंगे। दक्षिण के मंदिरों की देवदासी प्रथा का मूल कारण यही मनौती रही है। ये देवदासियाँ—जिस देवता को अर्पित की जाती रहीं, उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। देवता की सेवा करना, उसके समक्ष गाना-नाचना ही उनका प्रमुख कार्य रहता। विवाह करने का निषेध रहता, यों झूठ-मूठ उनका उसी देवता से, अथवा एक देवदासी का दूसरी देवदासी से विवाह कर दिया जाता। नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य कमेटी के प्रतिवेदन में बताया गया है कि 'बंबई के चकलों में अत्यधिक संख्या उन वेश्याओं की है जो कर्णाटक, खानदेश तथा राज्य के अन्य भागों में यल्लामा, दुर्गा और मंगेश के मंदिरों में अर्पित की गयी थीं।'[1] ऐसी लड़कियों में अधिकांश हरिजन रहती हैं। सयानी होने पर पंडे-पुजारियों के बहकावे में आकर ये वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं और अतिथियों का मनोरंजन करने के लिए विवश की जाती हैं।

धार्मिक कारक

कोई पैंतीस वर्ष पूर्व मद्रास की शिम्पकावली नामक देवदासी ने किसी धनिक की वासनापूर्ति करने से इंकार किया था। उसकी दादी उसे शरीर का व्यापार करने के लिए जब विवश करने लगी, तो उसने घर से भागकर आत्म-हत्या कर ली। आत्महत्या के पूर्व उसने एक पत्र में लिखा—

'हे प्रभु, देवदासियों की रक्षा कर!

'परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि भगवन्, इस समय मुझे जो सहना पड़ा है, उस दुःख में से मेरी जैसी दूसरी बहनों को तू उबार। उन्हें विवाहित जीवन बिताने दे। अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए मैंने घर तक का त्याग कर दिया, फिर भी संसार मुझे दोष न दे, इसके लिए मैंने इस जीवन से ही मुक्त होने का निश्चय किया है। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि वह मेरी बहनों को इस कलंकपूर्ण देवदासी प्रथा से बचाये।'[2]

---

१ रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ओन मॉरल एण्ड सोशल हाईजीन, पृ० ६

२. मुकुट बिहारी वर्मा : स्त्री-समस्या, पृ० २४७

भारत में देवदासी प्रथा विदेशों में चर्च के लिए अर्पित लड़कियों और 'नन'—साध्वी—लोगों से भिन्न नहीं है।

गुरुपूजा के नाम पर—भारत में अनेक धर्मों और संप्रदायों में गुरुभक्ति पर बहुत बल दिया गया है। कहा गया है—'गुरु मेरी पूजा गुरु गोविंद।' कबीर दास ने तो गुरु को गोविंद से भी बड़ा बता दिया है—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया लखाय॥

गुरु का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। साधक को अच्छे मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, नहीं तो भटकने का अंदेशा रहता है। परंतु स्वार्थी और धूर्त लोगों ने मुख्यतः धर्मभीरु महिलाओं को गुरु के नाम पर ठगना आरंभ कर दिया। 'गुरु को तन, मन, धन,—सब कुछ अर्पण करो, तभी तुम्हारा उद्धार होगा।" धर्मभीरु महिलाएँ ऐसे 'गुरु' नामधारी धूर्तों के बहकावे में आकर बर्बाद हो जाती हैं। कलकत्ता के गोविंद भवन की घृणित कहानी आँखें खोलनेवाली है। महात्मा गाँधी ने अत्यंत व्यथित होकर उस पर टिप्पणी की थी—[१]

"कलकत्ता के गोविंद भवन में भक्ति रस उत्पन्न करने के लिए एक भाई रखे गये थे। उन्होंने भक्ति के नाम पर विषय-भोग किया। स्त्रियों द्वारा अपनी पूजा स्वीकार की। स्त्रियाँ उनको भगवान समझ कर पूजने लगीं। उन्होंने स्त्रियों को अपनी जूठन खिला-खिलाकर व्यभिचार में प्रवृत्त कर दिया। भोली-भाली स्त्रियों ने समझ लिया कि 'आत्मज्ञानी' के साथ शरीर संग 'व्यभिचार' नहीं कहा जाता। यह घटना दुःखदायक है, पर इससे मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। भक्ति के नाम पर विषय-भोग चारों ओर होता दिखाई पड़ता है। बगुला भक्तों द्वारा जो अनर्थ न हो, वही आश्चर्य है।"

संतान के नाम पर—धर्म के नाम पर साधुसंत वेषधारी अनेक धूर्त इस प्रकार भोली-भाली महिलाओं को बहका कर उनका सतीत्व नाश करते हैं। कोई तीस साल पूर्व हमारे एक भाई ने हरदोई जिले के एक बाबा की ऐसी ही घटना बतायी थी, बाबाजी संतान बाँटते हैं, ऐसी उनकी ख्याति उनके चेलों ने फैला दी थी। पूजा के बाद जब देहाती बहू बाहर आकर सास के साथ चलने लगी तो बुढ़िया ने सहज ही पूछ दिया—'बहू, कैसी पूजा हुई?' सरल सीधी-सादी बहू बोली—'अम्मा, करम तो वेई सब भये जो तुम्हरे लरिका

१. वैजनाथ महोदय : भारत में व्यसन और व्यभिचार, १९३७, पृ० २९७-२९८

करत ते। झांझें वजीं सो फादिल !' (माँ, कर्म तो वे ही सब हुए जो तुम्हारे पुत्र करते थे। हाँ, अतिरिक्त बात यह हुई कि उस मौके पर झांझें बजती रहीं।) पूजा के लिए जब वह बेचारी एकांत कमरे में बाबाजी के पास बुला ली गयी तो शिष्य वृंद बाहर खूब जोर-जोर से झांझें बजाने लगे। कारण, वह यदि चिल्लाये या प्रतिवाद करे तो झांझों की आवाज में उसका अतिनाद डूब जाय !

धर्म के ऐसे बनावटी ठेकेदार समाज में नाना प्रकार के अनर्थ करते है। अनेक पंडे और पुजारी, दरगाहों के कितने ही नामधारी फकीर और दरवेश, गिरजाघरों के कितने ही पादरी, कितने ही मठाधीश और महंत धर्म के नाम पर, गुरुपूजा के नाम पर, आशीर्वाद के नाम पर अपनी वासना को चरितार्थ करते हैं।

धार्मिक रूढ़ियाँ—समाज में धार्मिक रूढ़ियों का प्रभाव आज भी कम नहीं है। घर-परिवार में जब किसी कारण से कोई स्त्री पतनपथ पर फिसल जाती है, उसे गर्भ रह जाता है तो धर्मभीरु लोग उसे लेकर तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़ते हैं। वहाँ यदि गर्भपात की उपयुक्त व्यवस्था हो गयी तो ठीक, नहीं तो वहीं उसे छोड़कर चल देते हैं। काशी और हरिद्वार, मथुरा और वृंदावन, प्रयाग और पंढरपुर में ऐसी परित्यक्ता अभागिनों की भारी संख्या रहती है। आय का कोई उपयुक्त साधन न रहने पर इन्हें विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है।

जैवकीय कारक

माता-पिता की उच्छृंखल वृत्ति, असामान्य कामुकता, पति की नपुंसकता आदि कितने ही जैवकीय कारक भी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं।

पैतृक संस्कार—यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है, फिर भी इस बात की अधिकतर संभावना रहती है कि पैतृक संस्कार बच्चों को प्रभावित करते हैं। अच्छे माता-पिता के बच्चों पर अच्छे संस्कार रहते हैं। कामी, विलासी, व्यभिचारी और अनैतिक आचारवाले माता-पिता के कुसंस्कार उनकी संतानों को पतन की ओर अग्रसर करते हैं। जन्मगत संस्कार अनेक लड़कियों को वेश्यावृत्ति की ओर प्रेरित करते रहते हैं।

असामान्य कामुकता : कुछ स्त्रियों में कामवासना असामान्य रूप में रहती है। पति से संतुष्ट न होकर वे अन्यत्र कामसुख खोजती हैं। अतृप्त

कामवासना में बचपन के बलात्कार के अनुभव आदि का भी हाथ रहता है। अमेरिका में जो गोरी लड़कियाँ हबशियों की ओर आकृष्ट होती हैं उनमें असामान्य कामुकता ही मूल कारण बतायी जाती है। ऐसा भी माना जाता है कि असामान्य कामुकता के ही कारण अनेक लड़के चोर और गिरहकट बन जाते हैं।[१] जर्मनी में एक व्यक्ति केवल कामोत्तेजना प्राप्त करने के लिए खून करता था। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि केवल कामुकता के कारण अनेक स्त्री-पुरुषों में परस्पर पीड़ित करने की भावना उत्पन्न होती है और वे मारपीट तक करते हैं। अतृप्त कामवासना के कारण लाखों व्यक्ति चिड़-चिड़े स्वभाव के भी क्रोधी बन जाते हैं।[२] समलिंगीय यौन-संबंध को असामान्य कामुकता का एक प्रकार बताया जाता है। यौन-संबंध में वैचित्र्य की लालसा भी इसी में छिपी रहती है। अमेरिकन सामाजिक स्वास्थ्य संघ के अनुसार असामान्य कामुकता अनेक लड़कियों को वेश्यावृत्ति की ओर खींच ले जाती है।[३]

नपुंसकता : पति की नपुंसकता पत्नी के लिए असंतोष का कारण बनती है, कभी-कभी यह असंतोष इस मात्रा तक बढ़ जाता है कि पत्नी किसी अन्य व्यक्ति के साथ अवैध यौन-संबंध स्थापित कर लेती है। ऐसी मर्यादाहीनता से भी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

मनोवैज्ञानिक कारक

अज्ञानता और मंदबुद्धि, मनोविकृति तथा प्रतिशोध की भावना जैसे मनोवैज्ञानिक कारक भी कितनी लड़कियों को वेश्यावृत्ति के मार्ग की ओर घसीट ले जाते हैं।

मंदबुद्धि : कष्टमय और दुःखपूर्ण जीवन बितानेवाली स्त्रियों को गुंडे, बदमाश और लड़कियों के अनैतिक व्यापारी सुखमय जीवन का प्रलोभन दिखाकर पथभ्रष्ट करने में समर्थ होते हैं। वे इन स्त्रियों की अज्ञानता और मंदबुद्धि का अनुचित लाभ उठाते हैं। कितने ही शोधों से ज्ञात हुआ है कि ऐसी अपहृत अथवा बहकायी स्त्रियों में उनकी संख्या अधिक है जिनकी बुद्धि मंद है। निहित स्वार्थवाले लोग ऐसी भोली लड़कियों को फुसलाकर भ्रष्ट कर देते हैं। पतन होने पर जब उनके पास घर वापस

१. विलियम हीली : दि इंडीविजुएल डेलिनक्वेंट, बोस्टन, १९२७ पृ० ४०३
२. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, १९६०, पृ० १५५
३. सोशल हाईजीन लेजिसलेशन मैनुएल, १९२०, पृ० ४८

लौटने का मार्ग नहीं रहता तो विवश होकर उन्हें वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है।

मनोविकृति—स्नेह और प्रेम के अभाव में मनोविकृति बढ़ती है—यह एक सर्वमान्य सत्य है। उसके चलते जब मन का संतुलन बिगड़ जाता है तो भावावेश में मद्यपान आदि दुर्व्यसन ग्रहण कर लिये जाते हैं जिनसे पाप का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रतिशोध की भावना—डाक्टर एडवर्ड ग्लोवर का मत है कि कुछ स्त्रियाँ जब यह महसूस करती हैं कि पुरुष जाति उन्हें धोखा देकर पाप-पथ पर घसीटती है तो उनमें प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है। ऐसा स्त्रियाँ पुरुष जाति को लूटने में उसे भीषण रोगों के जाल में फँसाने में और उसकी सुखी गृहस्थी में आग लगाने में कोई बात उठा नहीं रखतीं। कहती हैं—'मैं तो डूबूँगी, मगर यार को ले डूबूँगी !'

उपरिलिखित नाना प्रकार के कारणों के चलते वेश्यावृत्ति का क्षेत्र सर्वव्यापी बन बैठा है। शायद ही कोई देश इस व्याधि से अछूता बचा हो।

वेश्यावृत्ति का क्षेत्र

यत्र-तत्र-सर्वत्र यह रोग फैला हुआ है। वेश्यालय, चकलाघर आदि लालबत्तीवाले क्षेत्र इसकी प्रकट मंडियाँ हैं, छिपी मंडियाँ तो अनन्त हैं। कितने ही धर्मस्थल, कितने ही तीर्थ, कितने ही अबलाश्रम, कितने ही अनाथालय इसके गुप्त अड्डे बने हुए हैं। होटल, रेस्तराँ, स्नानागार, मालिशघर, क्लब, जुआघर, शराबखानों, ताड़ीघर, संगीतालय, नृत्यघर आदि अनेक स्थान, कितने ही स्कूल, कालेज, होस्टल, छात्रावास आदि इसके छिपे ठिकाने बने हुए हैं। इतना ही नहीं, कल और कारखाने, दफ्तर और दुकान, नौकरी और व्यापार, राजनीति और अर्थनीति सभी में वेश्यावृत्ति ने किसी-न-किसी रूप में अपना स्थान बना लिया है। न शिक्षा का क्षेत्र उससे अछूता रहा है, न धर्म और नीति का। गुप्त या प्रकट रूप में इस घृणित रोग ने अपना सर्वव्यापी स्वरूप बना रखा है। इसके लिए वैयक्तिक और पारिवारिक विघटन हो रहा है, सामुदायिक और राष्ट्रीय विघटन हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यह समस्या प्रविष्ट हो गयी है।

जब वेश्यावृत्ति का क्षेत्र इतना व्यापक है तो उसका प्रभाव भी इतना ही व्यापक होना स्वाभाविक है। विषयवासना ने सारे समाज पर अपना प्रभुत्व

वेश्यावृत्ति का प्रभाव

जमा रखा है। जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों पर वासना का आधिपत्य स्थापित-सा हो गया है और नैतिक मूल्य उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने लगे हैं। नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, दुराचार, भ्रष्टाचार, बेईमानी, व्यसन आदि का ही बोलबाला है। बच्चों से लेकर बूढ़े तक, छात्रों से लेकर प्राध्यापकों तक, गाँव के मुखिया से लेकर संसद के सदस्यों तक, गाँव के छोटे-से चौकीदार से लेकर राजधानी के बड़े-से-बड़े अधिकारी तक—सभी 'खाओ पियो, मौज करो'—इस प्रकार भोग-विलास की धारा में बहते चले जा रहे हैं। काले-कलूटे समाजविरोधी लोगों से लेकर सफेदपोश अपराधी तक सभी भोग की मंदाकिनी में अवगाहन करने में जीवन की सार्थकता मानने लगे हैं।

वेश्यावृत्ति के दुष्परिणामों का कोई पार नहीं है। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम तो यह है कि यह नारी जाति के लिए कलंक है। इसमें नारी

वेश्यावृत्ति के दुष्परिणाम

के शरीर का ही नहीं, उसके व्यक्तित्व का अनादर और अपमान है। इससे वैयक्तिक विघटन होता है, पारिवारिक विघटन होता है और सामाजिक विघटन होता है। समाज पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। अपराधों की वृद्धि होती है। आर्थिक हानि होती है। नैतिक हानि होती है। स्वास्थ्य की हानि होती है, और गुप्त यौन रोगों की जो वृद्धि होती है, उससे सारा समाज त्राहि-त्राहि कर उठता है।

नारी जाति का अपमान—वेश्यावृत्ति नारी जाति का अपमान है, अनादर है, तिरस्कार है। नारी का सर्वोच्च धन है—सतीत्व। सतीत्व ही जहाँ कौड़ियों के मोल लुटाया जाता हो, उससे अधिक लज्जा की और क्या बात होगी? महात्मा गाँधी ने इसी से व्यथित होकर कहा था कि 'वेश्यावृत्ति मानव जाति के लिए कलंक है। मुझे पुरुष होने में लाज लगती है।'

वैयक्तिक विघटन—समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि परंपरा के विपरीत अवैध यौन संबंध से बढ़कर वैयक्तिक विघटन का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। ऐसे संबंधों की अधिकांश घटनाएँ गुप्त बनी रहती हैं। वे यदि प्रकट हो जायँ तो मध्यम और उच्च श्रेणी की असंख्य 'सम्मानीय' महिलाएँ वेश्याओं की ही श्रेणी में दिखाई पड़ें। आज उनमें से अधिकतर मानसिक असंतुलन की शिकार पायी जाती हैं।[1]

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० १५१

पारिवारिक विघटन—वेश्यावृत्ति संस्था के कारण पारिवारिक सुख-शांति में भारी बाधा उत्पन्न होती है। पति यदि इस गली में भटक जाता है, तो विरली ही पत्नियाँ अपने को संयम में रख पाती हैं। कलह, मारपीट, संघर्ष तो आये दिन की बातें हैं। घर की संपत्ति वेश्या के चरणों पर जब चढ़ायी जाने लगती है तो परिवार टूटने लगता है। पति-पत्नी के बीच तो तनाव आता ही है, बच्चों में भी कुसंस्कार पनपने लगते हैं। आर्थिक तंगी से परिवार की दशा दयनीय बनती है सो उसके अलावा।

सामाजिक विघटन—वासना की खुली छूट के कारण सामाजिक मूल्य, सामाजिक आदर्श धूल में मिलने लगते हैं। नैतिक और धार्मिक स्वस्थ परंपराएँ टूटने लगती हैं, जिससे सारे सामाजिक संगठन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अबोध बालक, तरुण युवक-युवती सभी अनैतिकता के प्रवाह में बहने लगते हैं। विलासी जीवन की ललक सबको प्रभावित करने लगती है।

अपराधों में वृद्धि—वेश्या के साथ मद्य और मादक पदार्थ, जुआ और व्यसन, अनाचार और व्यभिचार, चोरी और डकैती, अपहरण और हत्या जैसे जघन्य अपराध जुड़े हुए हैं। वेश्यावृत्ति की वृद्धि के साथ-साथ अपराधों की संख्या में वृद्धि होती ही है।

आर्थिक हानि—वेश्याओं के चलते भरे-पूरे परिवारों की संपन्नता विपन्नता में परिवर्तित हो जाती है। पूर्वजों की कमाई तो स्वाहा होती ही है, अपनी कमाई भी साफ हो जाती है। बच्चे दो-दो दानों को तरसने लगते हैं। वेश्या जो रकम कमाती है, उसमें उसके हाथ भी कम ही रकम आती है। उस्ताद, नायिका, दलाल, महाजन आदि उसमें से मोटा भाग छीन ले जाते हैं। हराम की ऐसी कमाई हराम में ही जाती है।

नैतिक हानि—वेश्यावृत्ति के कारण नैतिक मूल्यों का जो ह्रास होता है वह किसी से छिपा नहीं। भोग-विलास और वासना को उत्तेजन देने के लिए कोई भी प्रभावकारी साधन छोड़ा नहीं जाता। फिल्म, सिनेमा, नाटक, साहित्य, संगीत, नृत्य, विज्ञापन सभी का भरपूर उपयोग किया जाता है।

यौन रोग—वेश्यावृत्ति और यौन-अपराधों के कारण तथा उसके सहयोगी मद्यपान के चलते दो परम भयंकर रोग जो समाज की जड़ को खोखला करते चलते हैं, वे हैं—सुजाक और गरमी (उपदंश)। भारत में फिरंगियों की 'कृपा' से उपदंश का प्रवेश हुआ। अतः उसे 'फिरंगी रोग' कहा जाता है।

डॉक्टरों का मत है कि ९६ प्रतिशत वेश्याएँ—फिर वे पेशेवाज हों या सभ्य पर्दानशीं, इन भीषण रोगों की शिकार होती हैं।[1]

कलकत्ता के 'इंडियन मेडिकल रेकार्ड' की ओर से प्रकाशित विशेषांक में नडियाद के डाक्टर पुराणिक ने लिखा था कि 'उपदंश पागलपन का प्रमुख कारण है। उच्च रक्तचाप, गर्भपात, मृत संतान का जन्म, विकलांगों की उत्पत्ति उपदंश के चलते होती है। ८० प्रतिशत बालकों का अंधापन सुजाक के कारण होता है। स्त्रियों के अनेक भयंकर रोग उपदंश और सुजाक के फलस्वरूप होते हैं। आँख-कान की कमजोरी, कुष्ठ, क्षय आदि बीमारियों के पनपने में इन दोनों रोगों का हाथ रहता है।'

डाक्टर गर्नसी ('प्लेन टॉक ओन एवॉयडेड सबजेक्ट्स' में) लिखता है कि 'सूई लगाने से सुजाक अच्छा नहीं होता, दब भले ही जाय, उसका विष जीवन भर बना रहता है और 'स्ट्रिकचर, डिसूरिया और ग्लीट, आदि के रूप में प्रकट होता रहता है।'

इन दोनों रोगों के बीमारों की पूरी संख्या का पता लगाना असंभव है। असंख्य लोग और मुख्यतः स्त्रियाँ तो लाज के मारे इसे प्रकट ही नहीं करतीं और आजीवन इनकी वेदना सहती रहती हैं। कुछ लोग चोरी-छिपे अनाड़ी हकीमों, वैद्यों, नामधारी डाक्टरों से दवा करके अपनी स्थिति और अधिक विषम बना लेते हैं।

स्वतंत्रतापूर्व सेना के सिपाहियों के जो आँकड़े उपलब्ध थे, उनसे पता चलता है कि सन् १९२५ में इन रोगों से पीड़ित अंग्रेजों की संख्या ४१,३९ थी और देशी सिपाहियों की २४७५। अनुपात की दृष्टि से ७२ प्रतिशत अंग्रेज रोगी थे और १८ प्रतिशत देशी सैनिक। १९२६ ई० का यह अनुपात था—अंग्रेज ६२ प्रतिशत और देशी सैनिक १५ प्रतिशत। अर्थात् भारतीयों की अपेक्षा अँग्रेजों की संख्या चौगुनी थी। हेवलाक एलिस मानता है कि यह अनुपात चौगुना ही नहीं, दस गुना है।[2]

भारत में ५० प्रतिशत महिलाएँ अपने पतियों से इन रोगों को प्राप्त करती हैं और असंख्य बच्चे अपने माता-पिता से इनकी विरासत पाते हैं।

---

१. वैजनाथ महोदय : भारत में व्यसन और व्यभिचार, १९३७, पृ० ३१०-३११, ३१९।

२. हेवलाक एलिस : सेक्स इन रिलेशन टु सोसाइटी पृ० ३२७।

अमेरिका में यौन रोगों की व्यापकता का अनुमान इन आँकड़ों से लग सकता है[१] —

सन् १९३९ उपदंश के रोगी ४७८,७३८ सुजाक के रोगी १८२,३१४
सन् १९४३ " " ५७५,५९३ " " २७५,०७०

विश्व के अन्य देशों में भी ऐसी ही भयंकर स्थिति है।

वेश्यावृत्ति का निवारण

माना, वेश्यावृत्ति है। बाबा आदम के जमाने से है। यह ऐसी समस्या है जो व्यक्ति, परिवार और समाज, देश, राष्ट्र और सारे संसार को पीड़ित कर रही है। परंतु इसके निवारण का उपाय क्या है?

यह एक सहज प्रश्न है। कुछ लोग तो यह मानकर चुप बैठ गये हैं कि यह मर्ज लाइलाज है। उर्वशी, अप्सरा, हूरों और गणिकाओं की यह परंपरा टूटनेवाली नहीं है। यह शाश्वत समस्या है। सदा से है, सदा रहेगी। समाज को वेश्या की आवश्यकता है। उसके कारण असंख्य भले घरों की लाज बची हुई है। वेश्यावृत्ति निवारण करने जायँगे तो वेश्या घर-घर में प्रविष्ट हो जायेगी! उसे उठा दिया जायगा तो विधुर और कुमार, मनचले और उच्छृंखल व्यक्ति, यौन दृष्टि से असंतुष्ट और दुःखी व्यक्ति अन्य प्रकार के यौन अपराध करने लगेंगे और समाज में बलात्कार, अपहरण, घर्षण आदि की घटनाएँ और अधिक मात्रा में बढ़ जायेंगी।

उलटा तर्क—वेश्यावृत्ति के समर्थकों का यह तर्क उलटा तर्क है। यौन अपराधों में वृद्धि की आशंका का तर्क सर्वथा अनुचित है। वेश्या के निकट जो लोग यौन तुष्टि के लिए जाते हैं, क्या उनकी वासना शांत हो जाती है? 'बुझै न काम अग्नि 'तुलसी' कहुँ विषय भोग बहु घीते!' वहाँ तो कामाग्नि शांत होने के स्थान पर उल्टे बढ़ती है। वहाँ तो व्यापार है और प्रत्येक व्यापारी अपनी आय बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के लंद-फंद करता है। चतुर और चालाक वेश्याएँ भी अपना शिकंजा कसने के लिए ऐसे सभी उपाय करती हैं कि ग्राहक की कौड़ी-कौड़ी चूस ली जाय। उसके उपरांत वे उसे ठोकर मारकर सीढ़ी से नीचे ढकेल देती हैं। कामी व्यक्ति उनके लात-जूते खाकर भी बार-बार उनके कोठे की धूल चूमने का प्रयत्न करता रहता है। यह वासना शांत होने की प्रक्रिया है?

---

१. वेनेरियल डिजीज फैक्ट शीट, सारणी ४, स्वास्थ्य सेवा अमरीका, १९५९, पृ० ८

धर्म के कुछ ठेकेदार, पावित्र्य के गलत नाम पर इस सामाजिक अभिशाप को बनाये रखना चाहते हैं। परंतु ऐसा 'तथाकथित' पावित्र्य ढोंग है, पाखंड है, अनुचित है, गलत है। पावित्र्य है नारी को सम्मान देने में। पावित्र्य है नारी के शरीर और आत्मा का, उसके व्यक्तित्व का आदर करने में। पावित्र्य है नारी को नीचे से ऊपर उठाने में। उसे घृणित, पापीयसी और अस्पृश्या कहने में पावित्र्य नहीं है। ईसा ने, बुद्ध ने, अन्य अनेक धर्म संस्थापकों ने वेश्या का तिरस्कार न करके उसे पाप-पंक से निकालने में ही धर्म की प्रतिष्ठा मानी है। वस्तुतः पावित्र्य समाज में तभी प्रतिष्ठित हो सकेगा जब प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष, प्रत्येक बालक और प्रत्येक वृद्ध, प्रत्येक छोटा और प्रत्येक बड़ा—समाज में आदर और सम्मान का पात्र माना जायगा। जाति, लिंग, वर्ग, वर्ण, आयु, वैभव आदि की कोई गणना न करके प्राणिमात्र को पवित्र मान कर तदनुकूल सबके प्रति व्यवहार किया जायगा।

वेश्यावृत्ति को बनाये रखने में जिन वेश्या प्रेमी लोगों और इस अनैतिक व्यापार में संलग्न व्यक्तियों का स्वार्थ है, उन्हें छोड़कर कोई भी व्यक्ति इस घृणित कलंक को जीवित रखना पसंद नहीं करेगा। दलाल, व्यापारी, गुंडे, बदमाश, वेश्याओं के घरवाले, उनके वकील, महाजन, गुमाश्ते, पुलिस के भ्रष्ट कर्मचारी आदि वेश्यावृत्ति से लाभान्वित होते हैं। वेश्यावृत्ति निरोध मे सबसे अधिक बाधाएँ वे ही उपस्थित करते हैं। विषय लोलुप व्यक्तियों और इस प्रकार के निहित स्वार्थ वालों को छोड़कर कोई भी समझदार व्यक्ति इस कलंक को जीवित रखने का समर्थन नहीं करेगा। वेश्यावृत्ति से होनेवाले भयंकर परिणामों को देखते हुए कौन नहीं चाहेगा कि इस समस्या का शीघ्रातिशीघ्र उन्मूलन हो।

माना कि यह समस्या अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है, परंतु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि किसी गलत काम को गलत जानते हुए भी समाप्त न किया जाय। गाँधीजी का कहना था कि 'वेश्यावृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितना यह संसार, परंतु मुझे आश्चर्य होता है कि क्या कभी वह आज की भाँति नागरिक जीवन का एक नियमित अंग रही होगी? ऐसा समय आयेगा जब मानवता इस अभिशाप का उन्मूलन करने के लिए कृतसंकल्प होगी और उसके प्रयत्न से यह अभिशाप अन्य अनेक पुरानी कुप्रथाओं की भाँति नष्ट होकर भूतकाल की वस्तु बन जायगा।'[१]

---

१. मो० क० गाँधी : यंग इंडिया, पृ० १८७; ता० : २८।५। १९२५

अंतरराष्ट्रीय प्रयत्न—वेश्यावृत्ति के निरोध के लिए तथा अंतरराष्ट्रीय अनैतिक व्यापार को रोकने के लिए इस शताब्दी के आरंभ से कुछ प्रयत्न चल रहे हैं। सन् १८७५ में अनैतिकता निवारण के लिए गठित अंतरराष्ट्रीय संघ में इस समस्या पर विचार किया गया। इस दिशा में जनता का ध्यान आकृष्ट करने में जोसेफाइन बटलर ने पहल की। स्टीड ने 'मेडेन ट्रिब्यूट टु माडर्न बेबीलोन' शीर्षक लेख में लिखा था कि लोग किस प्रकार कानून की आँख में धूल झोंक कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। रूस को छोड़कर किसी भी देश में इस कलंक को मिटाने का कोई सफल प्रयत्न नहीं हुआ है। यह समस्या केवल धार्मिक या नैतिक ही नहीं है, आर्थिक पक्ष भी इसका महत्त्वपूर्ण कारक है। लेनिन ने 'प्रावदा' के १९१३ ई० के प्रथम अंक में लिखा था कि 'अभी हाल में लंदन में अनैतिक व्यापार नियंत्रण सबंधी पंचम सम्मेलन हुआ था। उस जमघट में ड्यूकों, काउंटों, बिशपों, पादरियों और पुलिस अधिकारियों आदि ने अनैतिकता के विरुद्ध धुआँधार भाषण किये। वेश्यावृत्ति के कलंक और दुष्टतापूर्ण प्रथा के विरुद्ध खूब कहा। इन सुधरे हुए 'बुर्जुआ' लोगों ने वेश्यावृत्ति-निवारण के लिए दो उपाय बताये—धर्म और पुलिस। कनाडा की एक महिला ने पुलिस द्वारा निरीक्षण पर बहुत जोर दिया। परंतु जब मजदूरिनों को अधिक मजदूरी देने का प्रश्न उठा तो एक महिला ही महिलाओं के विरुद्ध कहने लगी कि स्त्रियों का काम इस कोटि का नहीं होता कि उन्हें अधिक मजदूरी दी जा सके! आस्ट्रियन प्रतिनिधि गार्टनर ने जब वेश्यावृत्ति के सामाजिक कारणों, दरिद्रता और मजदूरों की दयनीय स्थिति और उनके शोषण की बात उठायी तो उसके विरुद्ध ऐसे-ऐसे 'रिमार्क' कसे गये कि बेचारे को विवश होकर बैठ जाना पड़ा।' स्पष्ट है कि ऐसे प्रयत्नों से इस समस्या का निराकरण संभव नहीं।

चतुर्मुखी प्रयास—वस्तुतः वेश्यावृत्ति की समस्या चतुर्मुखी है। उस पर चतुर्मुखी प्रहार होगा, सरकारी और गैर-सरकारी सभी ओर से पूरी शक्ति से प्रयत्न किया जायगा, तभी इस दिशा में कुछ आशाजनक परिणाम देखने में आ सकेगा। इसके लिए कानूनी उपाय तो करने ही होंगे, आर्थिक और औद्योगिक, सांस्कृतिक और सामाजिक, शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक उपाय भी करने होंगे। रोगों की रोकथाम के लिए चिकित्सा ही पर्याप्त नहीं; चारित्रिक और नैतिक सुधार का प्रयत्न भी करना पड़ेगा। घर-परिवार का वातावरण भी सुधारना होगा और आसपास का, पासपड़ोस का, समाज का पर्यावरण भी उत्तम बनाना होगा। साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा-नाटक,

नृत्य, संगीत कला के नाना प्रकार, विज्ञापन, प्रचार तथा सामूहिक शिक्षण के सभी साधन जब संयुक्त प्रयास करके समाज का संगठन स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण बनायेंगे, तभी कुछ उत्तम निष्पत्ति निकल सकेगी। छिटफुट प्रयत्नों से यह समस्या हल होनेवाली नहीं; क्योंकि इसकी जड़ें बहुत गहरी जा चुकी हैं। लेखक और विचारक, साहित्यिक और समाज-सेवक, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ, धर्माधिकारी और संत, महात्मा, पुलिस और न्यायाधीश—सभी लोग जब सच्चे हृदय से इस समस्या के निवारण का प्रयत्न करेंगे तभी इसका समाधान हो सकेगा।

संवैधानिक उपाय—आज के युग में ऐसी समस्याओं के निदान के लिए कानून की सहायता पहली आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न देशों में इसके लिए कानून बने हैं। भारत में भी १८६१ ई० की भारतीय दंड संहिता से लेकर अभी तक अनेक राज्यों में कानून बने हैं।जैसे, बम्बई (१९२३), मद्रास (१९३०), उत्तर प्रदेश (१९३३), पंजाब (१९३५), मैसूर (१९३६), बिहार (१९४८), त्रिवांकुर कोचीन, हैदराबाद (१९५२), अजमेर, मध्यप्रदेश (१९५३) में वेश्यावृत्ति निरोधक अधिनियम बने हैं। पटियाला, आंध्र, दिल्ली आदि में भी कानूनी व्यवस्था की गयी है। उत्तर प्रदेश में नाबालिग लड़कियों के संबंध में सन् १९२९ में, नाइक लड़कियों के संबंध में १९३० में, बंबई में देवदासियों के संबंध में १९३४ में और मैसूर में १९३७ में कानून बने हैं। अखिल भारतीय स्तर पर १९५६ में महिला तथा बालिका अनैतिक व्यापार दमन अधिनियम बना जो १ मई १९५८ से सारे देश में लागू है।

इन सभी कानूनों का उद्देश्य संवैधानिक उपायों से वेश्यावृत्ति और स्त्रियों तथा बच्चों के अनैतिक व्यापार पर नियंत्रण करना है। परंतु जहाँ कानून है, वहाँ उसकी बारीकियाँ भी हैं और उन बारीकियों का सहारा लेकर बहुत-से अपराधी दंड से छुटकारा पा जाते हैं। ग्वालियर के सामाजिक कार्यकर्ता जगदीश चन्द्र कटियार ने ग्वालियर के ऐसे एक मुकदमे का हवाला देते हुए लिखा है[1]—

"एक वेश्या ने एक अवयस्क बालिका के लिए लंबी रकम ऐंठ कर एक पुरुष से सहवास कराया था। बालिका को इन खूनी पंजों से हटाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया गया किंतु एक साधारण भूल के कारण न्यायालय ने बालिका उसी मां को वापस कर दी जो ऐसी लड़कियों से रुपये कमवाने का स्वप्न

१. जगदीश चन्द्र कटियार : वेश्यावृत्ति—एक सामाजिक समस्या, १९६१, पृ० ३०

देखने की अभ्यस्त थी, पुलिस के विशिष्ट अधिकारी ने स्वयं न जाकर अपने सहायक के द्वारा उक्त बालिका को रक्षागृह में भेजा था। इस भूल के कारण ऐसा हुआ। विद्वान वकील का कहना था कि माना कि अपराध हुआ, किंतु कानूनन उसे गिरफ्तार गलत ढंग से किया गया। इसलिए लड़की को रक्षागृह में रखना बिलकुल गलत है। मैंने लाख सिर पटका कि इस कानून की मूलभूत भावना पर दृष्टि रखें न कि शब्दों पर, पर वहाँ तो वकील साहब के कुशल शब्दों के आधार पर ही फैसला दे दिया गया और वह अबोध बालिका हमारे हाथों से दूर जा पड़ी, जिसके जीवन को सुधारने का उपक्रम हो रहा था। कानून और कानून के पहरुवे बीच में आ खड़े हुए।"

यों कानून बनाते समय शब्दावली बहुत सोच-समझ कर रखी जाती है, परंतु कानूनदां लोग उसमें ऐसे ऐसे अर्थ निकाल लेते हैं कि कानून का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयों को दूर करने के लिए क़ानून यदि थोड़े से भी लचीले होते हैं तो स्वार्थी लोग उनके अर्थ का अनर्थ कर ही लेंगे। पैसे की थैलियों के आगे कानून ढीला पड़ जाता है, इस तथ्य को कौन नहीं जानता ?

आर्थिक उपाय—वेश्यावृत्ति के प्रमुख कारणों में दरिद्रता एक प्रमुख कारक है। आर्थिक संकट और आर्थिक पराधीनता यदि न रहे तो स्वेच्छा से इस पतन के पथ पर जाना कौन पसंद करेगा ? इसके लिए दारिद्र्य निवारण अत्यंत आवश्यक है। अनाश्रित स्त्रियों, तरुणियों विधवाओं, परित्यक्ताओं आदि की जीविका के लिए छोटे-छोटे गृह और कुटीर उद्योगों की, छोटी पूँजी के रोजगारों की, उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री की, उनके लिए उपयुक्त आर्थिक सहायता की समुचित व्यवस्था रहनी चाहिए। कल-कारखानों में, अन्य व्यवसायों में उनके काम करने की स्थिति और उनकी मजदूरी या वेतन की स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि वे सम्मानपूर्वक अपनी जीविका का उपार्जन कर सकें।

वेश्यावृत्ति अपनाने की विवशता रोकने के लिए जहाँ ऐसी आशंकित लड़कियों को उपयुक्त आर्थिक साधन सुलभ करना आवश्यक है, वहाँ उन लोगों की जीविका का भी प्रबंध आवश्यक है जिनकी जीविका का आधार वेश्यावृत्ति रहती है। उनके माता-पिता, उस्ताद और साजिंदे आदि भी जब अच्छा काम पा सकेंगे तो वे अपनी बहन-बेटियों को वेश्यावृत्ति करने के लिए भ्रमकाना और फुसलाना बंद कर देंगे।

सामाजिक-सांस्कृतिक उपाय—दहेज, बालविवाह, वृद्धविवाह, कुलीन विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा, गहना, विवाह-शादी में धूमधाम जैसी सामाजिक कुरीतियों को मिटाना अत्यंत आवश्यक है। विधवाओं की उपेक्षा, नारी की भर्त्सना, तिरस्कार, उसके प्रति दुर्व्यवहार जैसी अनुचित प्रथाएँ बंद करनी होंगी। 'वेश्या यदि पापी है तो वेश्यागामी उससे कम पापी नहीं है—यह भावना समाज में विकसित करनी आवश्यक है।[1] दोहरा मापदंड बंद करना होगा।

सामाजिक मूल्यों में ऐसा सुधार और परिवर्तन करना होगा कि वेश्या घृणा का पात्र न समझी जाय। उसके प्रति मानवीय एवं करुणामय व्यवहार किया जाय। जो वेश्या अथवा उसकी बेटी पापपंक से निकलने को उत्सुक हो, उसके विवाह का आयोजन किया जाय और ऐसे विवाह को उपहास का नहीं, आदर का विषय माना जाय। ऐसी लड़कियाँ जब विवाह करके सम्मानित जीवन बिताने का अवसर पाती हैं तो उनकी कृतज्ञता देखते ही बनती है। ग्वालियर में जगदीश चन्द्र कटियार के प्रयत्न से ऐसे कुछ विवाह हुए। उनका अनुभव है कि 'जब मैं इन परिवार वालों से मिलता हूँ तो आनंद-मिश्रित उल्लास के बीच वयोवृद्ध एवं युवतियाँ कहने लगती हैं—'हमारा जीवन बर्बाद होने से आप ने बचा लिया है। आपको खुदा की तरफ से बड़ा सबाब (पुण्य) मिलेगा।''[2]

मनोवैज्ञानिक उपाय—मानसिक संतुलन जब बिगड़ जाता है तो मनुष्य सहज ही गलत काम कर बैठता है। मानसिक तनावों से यह संतुलन बिगड़ता है। इसे दूर करने के लिए मानस शास्त्र का उपयोग किया जा सकता है। वैयक्तिक मूल्यों में और सामाजिक मूल्यों में जब एकरूपता और समंजन नहीं रहता, एक की एक पुकार होती है, दूसरे की उससे सर्वथा उलटी पुकार होती है तो मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है। वासना के उदात्तीकरण द्वारा मानव को सत्पथ पर आरूढ़ किया जा सकता है। वेश्याओं को तथा कामवासना से पीड़ित व्यक्तियों को ऐसी मानसिक चिकित्सा से लाभान्वित किया जा सकता है जिससे उनमें पाप पथ की ओर जाने से घृणा हो और हीनता की भावना नष्ट हो। प्रायः ऐसा होता है कि एक बार किसी स्त्री-

---

१. मो० क० गांधी : हरिजन, अंग्रेजी', पृ० ३१०, ता : १५।९।१९४६।
१. जगदीश चन्द्र कटियार : वेश्यावृत्ति से मुक्ति, १९६३, पृ० १८-१९।

पुरुष से कोई भूल हो जाती है तो फिर वह ऊपर उठने का प्रयत्न ही छोड़ बैठता है। ऐसे अवसरों पर मानसिक चिकित्सा लाभ कर सकती है। उत्तम मानस चिकित्सक इस दिशा में अच्छा काम कर सकते हैं और वेश्यावृत्ति के निवारण में योगदान कर सकते हैं।

शैक्षणिक उपाय—शिक्षण और प्रचार का जो प्रभाव होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, शैक्षणिक संस्थाएँ, साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, पाठ्य-पुस्तकें, अन्य पुस्तकें, नाटक, रेडियो, सिनेमा, फिल्म, कलात्मक-सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि मानव जीवन को क्षण-क्षण प्रभावित करते रहते हैं। आज का सारा वातावरण ऐंद्रिय भोग-विलासों को उत्तेजन देनेवाला है। नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा बहुत गिरा दी गयी है। इस धारा को जबतक उत्तम दिशा में नहीं मोड़ा जायगा और नये उदात्त मूल्यों की जबतक प्रतिष्ठा नहीं की जायगी तबतक मानव का वास्तविक कल्याण संभव नहीं। शिक्षण पद्धति में इसके लिए जड़मूल से क्रांति अपेक्षित है। इसके लिए उपयुक्त जनमत बनाना आवश्यक है। लोक शिक्षण और प्रचार से ही यह उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। वेश्यावृत्ति निवारण के लिए नैतिक स्वस्थ मूल्यों की स्थापना करनी होगी। यह कार्य शिक्षण द्वारा सरलता से संभव है।

इधर कुछ समय से इस बात पर बल दिया जाने लगा है कि शैक्षणिक संस्थाओं में यौन विज्ञान की शिक्षा दी जाय। इस संबंध में अत्यंत सावधानी बरतनी होगी। गाँधीजी ने इस संबंध में ठीक ही कहा था कि काम विज्ञान दो प्रकार का होता है। एक वह जो काम-विकार को अंकुश में रखने या जीतने के काम आता है और दूसरा वह जो उसे उत्तेजन और पोषण देने के काम आता है। पहले प्रकार के काम विज्ञान की शिक्षा बालशिक्षा का उतना ही आवश्यक अंग है, जितनी दूसरे प्रकार की शिक्षा हानिकारक और खतरनाक है और इसलिए दूर रहने के योग्य है। ··· छोटी आयु के विद्यार्थियों को जननेन्द्रिय के कार्य और उपयोग के बारे में एक हद तक ज्ञान देना आवश्यक है। आज तो वे जैसे-तैसे इधर-उधर से यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। नतीजा यह होता है कि पथभ्रष्ट होकर वे कुछ बुरी आदतें सीख लेते हैं। हम काम-विकार पर, उसकी ओर से आँखें बंद कर लेने से, नियंत्रण प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए नौजवान लड़के-लड़कियों को उनकी जननेन्द्रिय का महत्त्व और उचित उपयोग सिखाया जाय। पर इसका लक्ष्य यही होना

चाहिए कि इस विकार पर विजय प्राप्त की जाय। यह सच्चा काम विज्ञान वही सिखाये जिसने अपने विकारों पर प्रभुत्व पा लिया है।'[1]

गुप्त रोगों की चिकित्सा—समाज को स्वस्थ रखने के लिए, सामाजिक विघटन को रोकने के लिए गर्मी, सुजाक जैसे भयंकर रोगों की चिकित्सा की समुचित और व्यापक व्यवस्था होने चाहिए। लज्जा और संकोच के कारण ऐसे रोग भीतर-भीतर बढ़ते रहते हैं और समाज को, व्यक्ति को, परिवार को खोखला करते चलते हैं। अमरीका का अनुभव है कि २० से २४ वर्ष की आयुवाले युवकों और युवतियों में इन गुप्त रोगों का सर्वाधिक प्रचार है। आधुनिक चिकित्सा के साधनों द्वारा, पैंसिलिन आदि के प्रयोग से इन्हें रोकने में अच्छी सफलता मिल रही है।[2] भारत में तो यों ही सामान्य रोगों की चिकित्सा की अत्यंत अपर्याप्त व्यवस्था है, फिर इन रोगों की चिकित्सा की व्यवस्था बहुत कम होना स्वाभाविक है। इस दिशा में सरकारी प्रयत्नों में तीव्रता वांछनीय है।

आत्मोद्धार—वेश्यावृत्ति महिलाओं की समस्या है। इसके निवारण के लिए पुरुष जाति तो पूरा-पूरा सहयोग करे ही, वह नारी जाति को आदर और सम्मान देने के लिए प्राणपण से चेष्टा करे ही, परंतु इसमें महिला वर्ग को विशेष पहल करनी चाहिए। महात्मा गाँधी के शब्दों में 'वेश्याओं की समस्या उस समय तक हल नहीं की जा सकती जबतक कोई असाधारण शुद्ध और दृढ़ चरित्र वाली महिला साहस करके मानव जाति के इस पतित अंग का उद्धार करने का बीड़ा न उठाये।' आप का मत है कि 'वेश्याओं की समस्या हल करने का उचित उपाय यह है कि महिलाएँ दोहरा प्रचार करें। एक तो उन स्त्रियों में जो जीविका के लिए अपनी इज्जत बेचती हैं और दूसरे पुरुषों में। वे पुरुषों को समझायें कि वे स्त्री को अज्ञानवश या अभिमानवश 'अबला' समझते हैं, ऐसा न समझें और स्त्रियों के प्रति अच्छा व्यवहार करें। 'साल्वेशन आर्मी' ने ऐसे क्षेत्रों में धरना देना आरंभ किया था। उसे बड़े पैमाने पर क्यों न चलाया जाय। 'स्वस्थ जनमत से ही यह समस्या हल हो सकेगी।'[3]

---

१. मो० क० गाँधी, 'हरिजन' २१।११।१९३६

२. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन पृ० १७४-१८२

३. मो० क० गांधी : हरिजन ४।९।१९३७, पृ० २३३

अध्याय : ११

मद्यपान और मादक द्रव्य सेवन

"इस घट में क्या है, कलालिन ?'

कालिदास को उत्तर मिलता है—

मदः प्रमादः कलहश्च निद्रा, बुद्धिक्षयो धर्म विपर्ययश्च ।

सुखस्य कन्था नरकस्य पन्था, अष्टावनर्थाः करके वसन्ति ॥"

'इसमें आठ अनर्थ निवास करते हैं श्रीमान्–(१) मादकता, (२) प्रमाद, (३) कलह, (४) निद्रा, (५) बुद्धि का नाश, (६) धर्म का नाश, (७) सुख की समाप्ति और (८) नरक का मार्ग ।

कलालिन के इस उत्तर में सत्य और वास्तविकता की ही अभिव्यक्ति है। सुरा के प्याले को मुँह लगाते ही नशा चढ़ता है, प्रमाद, कलह और आलस्य आता है, बुद्धि का क्षय होने लगता है और बुद्धिनाश के साथ धर्म का, नैतिकता का, सुख का समाप्त होना स्वाभाविक है। नरक का द्वार खुलते फिर क्या देर है ?

मद्यपान वैयक्तिक विघटन लाता है, पारिवारिक विघटन लाता है और सामाजिक विघटन लाता है। मद्यपान का यह व्यसन नया नहीं है, अनेक शताब्दियों से चलता आ रहा है। आदिवासियों और पिछड़ी जातियों में तो उसने परम्परा का स्वरूप ग्रहण कर रखा है। प्राचीन मिस्र और बैबीलोन की भूगर्भ स्थित कब्रों में किये गये शोधों से पता चलता है कि उस युग में मद्यपान प्रचलित था।[1] विश्व की प्राचीनतम मानी जानेवाली यूनान, मिस्र और रोम की सभ्यताओं में मद्यपान के विवरण मिलते हैं। ईसा पूर्व २२५० का हम्मूरबी का कानून १०९ कहता है कि कलालिन यदि अपने कलालखाने में एकत्र असामाजिक तत्वों को गिरफ्तार कर महल में उपस्थित नहीं करेगी, तो उसे

मद्यपान का व्यसन

१. मार्शल बी० क्लिनार्ड : सोशियालॉजी आफ डिवाइएन्ट बिहेवियर, पृ० ३१८

प्राणदंड दिया जायगा। चीन के चाऊवंश (११३४-२५६ ईसा पूर्व) के इतिहास में भी ऐसे दंड की व्यवस्था दीखती है।[१] चीन में ईसा पूर्व ११०० से १४०० ई० के बीच मद्य-उत्पादन, विक्रय तथा उपभोग के संबंध में ४१ बार कानून बने और रद्द किये गए।[२] स्पार्टा में शराब पीकर बुत पड़े हुए सैनिकों को युद्ध न करने पर प्राणदंड दिया जाता था—ऐसे विवरण मिलते हैं।

भारत में मद्यपान

वैदिक काल : वैदिक काल के आरंभ में 'सोम' का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में आता है—'शुचिः पावक उच्यते सोमः।'[३] अर्थात् सोमरस पवित्र है और मनुष्य को शुद्ध करता है। 'दिवः पीयूषं पूर्व्यम्।'[४] यह पुरातन स्वर्गीय अमृत है। ऋग्वेद के ९वें मंडल के ११४ मंत्रों में सोम की स्तुति भरी पड़ी है। अथर्ववेद में भी स्थान-स्थान पर 'सोम' का उल्लेख मिलता है।[५]

'सोम' सुरा नहीं : आर्यों में प्रचलित इस ताजे पेय सोम में स्फूर्ति, प्रेरणा और शक्ति है। इसमें मादकता नहीं।[६] इसे 'सुरा' बताना गलत है। श्री पावगी ने 'सोम जूस इज नॉट लिकर' शीर्षक लेख में बताया है कि जेनाइड रागोजिन, जूलियल एगलिन, ब्रट, हिलेब्रंट जैसे पाश्चात्य विद्वानों का यह मत सर्वथा गलत है कि सोम शराब है।[७]

अथर्ववेद में 'सुरा' का भी कई स्थानों पर उल्लेख है।[८] यह सुरा 'कहीं' पर सूर्य के लिए प्रयुक्त है, कहीं शराब के लिए। एक स्थान पर रामायण में लोभी के जिमि दाय' की भाँति) आता है कि जिस प्रकार सुरा मद्यपी को प्रिय है, उसी प्रकार गाय का यह बछड़ा तुम्हें प्रिय हो।' वैदिक काल में सुरापान 'महापातक' माना जाता था।

सुरा का निषेध : वेदों के अतिरिक्त श्रुति और स्मृति में भी, महाभारत में, मनुस्मृति, बृहस्पति, अंगिरा, पराशर आदि की स्मृतियों में, विभिन्न धर्म-

१. एलर्ट, खंड ६, संख्या १, पृ० १६-१७।
२. चाफेज और डेमन : एलकोहोलिज्म एंड सोसाइटी, पृ० १०६-११०।
३. ऋग्वेद ९।२४।७
४. ऋग्वेद ९।११०.८
५. अथर्ववेद ६।१५।१-३।
६. एल्डस हक्सले : ब्रेव न्यू वर्ल्ड, रिविजिटेड, अध्याय ८।
७. वैजनाथ महोदय : व्यसन और व्यभिचार, पृ० ३४६-३५२।
८. अथर्ववेद ४।३६।६; ६।६१।१; ६।६९।१; ६।७०।१; १५।९।२

ग्रंथों में, कूर्म, वराह, गरुड़ आदि पुराणों में सुरापान की बड़ी निंदा की गयी है, द्विजातियों के लिए और ब्राह्मण के लिए तो मुख्य रूप से सुरापान का निषेध है। कहा है कि उसका लोक भी बिगड़ता है, परलोक भी[1]—

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चित् मोहात् सुरां पास्यति मंदबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महाचैव स स्यात् अस्मिंल्लोके गर्हितस्यात् परे च॥

मनुस्मृति में सुरापान का तीव्र निषेध है। सुरा पीनेवाले को ब्रह्मघाती, चोर और गुरुपत्निगामी जैसा महापातकी बताया है—

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेणे च गुरुतल्पगः।
एतेसर्वे पृथग् सेया महापातकिनो नराः॥[2]

सुरा को अन्न का मल तथा पाप बताते हुए द्विजातियों को उससे दूर रहने का आदेश दिया गया है—

सुरा वै मलमन्नानां पापमाच मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यं च न सुरां पिबेत्॥[3]

वैदिक काल में और उसके उपरांत सूत्रकाल में, रामायण-महाभारत के इतिहास काल में, स्मृतियों और पुराणों के काल में, सुरापान की इसी प्रकार भर्त्सना की गयी है और उसका निषेध किया गया है।[4]

बौद्ध काल में निषेध : बौद्ध काल में, धम्मपद, जातक ग्रंथों आदि में भी मद्यपान की निंदा की गयी है। धम्मपद में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करता है, पर-स्त्री गमन करता है, मद्यपान करता है, ऐसा व्यक्ति इसी लोक में अपनी जड़ आप खोदता है—

यो पाणमति पातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति॥
सुरामेरय पानं च यो नरो अनुभुंजति।
इधेव मेसो लोकस्मिं मूलं खणति अन्तनो॥[5]

---

१. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय ७६

२. मनुसंहिता ६।२३५

३. मनुसंहिता ११।६४

४. राजेन्द्रलाल मित्र : लेख 'स्पिरिचुअल ड्रिंक्स इन एंशियेंट इंडिया, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी, खंड १ सन् १८७३।

५. धम्मपद, मलवग्गो १८।१२।१३

जातक की एक कथा में आता है कि एक वल्कलधारी ब्राह्मण मद्यपी राजा सर्वमित्र के दरबार में सुरापात्र लेकर पहुँचता है और कहता है—ले लो, ले लो, यह शराब जिसे लोक-परलोक की चिंता न हो, मृत्यु का भय न हो, वह इसे ले सकता है। सर्वमित्र, इसे जो पीता है, वह अपना होश खो बैठता है। उसे चाहे जो खिला दो। सड़क पर वह लड़खड़ाकर गिरता है। कुत्ते इसके मुँह में पेशाब करते हैं। तुम इसे पीकर सड़क पर नंगे नाचोगे। बहू-बेटी में तुम्हें कोई भेद नहीं जान पड़ेगा। स्त्री इसे पीकर पति को पेड़ में बँधवाकर कोड़े लगवायेगी। इसे पीकर लाखवाले खाक में मिल जाते हैं। राजा रंक बन जाते हैं। पाप की माँ है यह शराब।...[१]

कौटल्य काल

कौटल्य के अर्थशास्त्र में मद्यपान पर नियंत्रण संबंधी चर्चा विस्तार से की गयी है। सेना में भी मद्यपान का निषेध किया गया है। कारण, उससे अनुशासनहीनता आती है। शुक्रनीतिसार में भी मद्यपान का निषेध है और ऐसा आदेश है कि शराब की दुकानें सीमित तो हों ही, वे नगर के बाहर रहें।

गुप्तकाल : फाहियान गुप्त शासन काल में भारत आया था। उसने भारत का जो वृत्तांत लिखा है, उसमें बताया है कि भारतवासी मद्यपान नहीं करते।[२] अशोक जैसे सम्राट् पर भगवान बुद्ध का बड़ा प्रभाव था। इसी कारण गुप्त काल में मद्यपान जैसे व्यसन समाप्त हो गये थे।

वामाचार

यद्यपि बुद्ध और महावीर जैसे धर्मसंस्थापकों ने मद्यपान और मादक द्रव्य-सेवन की बड़ी भर्त्सना की थी, धर्मग्रंथों में भी उसका निषेध था, फिर भी इन सब विधिनिषेधों से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि मद्यपान आदि व्यसन उस समय किसी-न-किसी मात्रा में जीवित थे। वामाचारी लोगों ने वामपंथी तांत्रिकों और कापालिकों आदि ने मद्य-मांस-मीन-मुद्रा और मैथुन—पंचमकार को प्रोत्साहन देकर समाज की मर्यादाओं को बड़ी ठेस लगायी। कालीतंत्र, कुलार्णवतंत्र, महानिर्वाणतंत्र, ज्ञान संकलनी तंत्र, रुद्रयामलतंत्र आदि तंत्र ग्रंथों में ऐसे अनाचार को बहुत प्रश्रय दिया गया

---

१. श्रीकृष्णदत्त भट्ट : बौद्ध धर्म क्या कहता है ? १९६८, पृ० ३३-३४

२. शचीन्द्र कुमार मैती : इकोनामिक लाइफ ऑफ नदर्न इंडिया इन दि गुप्ता पीरियड, पृ० १८।११७

है। कुकर्म शिरोमणि कौल चक्रवर्ती है वह जो कलाल के घर मदिरा पीकर वेश्या के घर जाकर सोये।[1]

हालां पिबति दीक्षितस्य मंदिरे सुप्तो निशायां गणिका गृहेषु।
विराजते कौलश्चक्रवर्त्ती !

मुगल काल : मुसलमान आक्रामकों के साथ भारत में इसलाम का प्रवेश हुआ। इसलाम में मद्यपान का निषेध है। उनके धर्मग्रंथ कुरानशरीफ में कहा है—

इन्नमऽऽल् खम्र् वऽल् मैसिरु वऽल् अन्साबु वऽल्
अज्लामु रिज्सुम्मित अमलिऽशैतानि...।[2]

'ये जो हैं शराब और जुआ, मूढ़ विश्वास और पांसे, ये सब शैतान के गंदे काम हैं।'

अलाउद्दीन खिलजी के समय इब्नबतूता ने भारत की यात्रा की थी। वह लिखता है कि 'भारत में मद्यपान पर कड़ा प्रतिबंध है। स्वयं सुलतान शराब नहीं पीता। शराब की सारी बोतलें फोड़ दी गयी हैं। अमीर अपने घरों के भीतर शराब पी सकते हैं, पर सार्वजनिक स्थानों पर मद्यपान का तीव्र निषेध है।'[3]

मुगलों के शासनकाल में मद्यपान वर्जित था। अकबर की सरकार जानती थी कि आबकारी कर द्वारा अच्छी आय हो सकती है, पर उसने मदिरालयों पर कर लगाना अस्वीकार कर दिया। जहाँगीर की विलासिता ने शराब को मनमानी छूट दे रखी थी, परंतु आगे चलकर औरंगजेब ने उसपर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

वास्को द गामा, बर्नियर, टेवर्नियर, जैसे अनेक विदेशी पर्यटकों ने लिखा है कि सामान्यत: भारतवासी मद्यपान के दोष से मुक्त हैं। यहाँ के शासनाधिकारियों ने मद्य को कभी भी राज्य की आय का स्रोत नहीं बनाया।

अंग्रेजी शासन काल : अंग्रेजों ने भारत में अपने पैर फैलाते ही भारतीयों के सर्वनाश का आयोजन आरंभ कर दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने मद्यपान से आय करने की बात सोची। फलत: कंपनी ने सन् १७९० में सबसे

१. दयानन्द सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, वि० २००३, पृ० १७७-१७८।

२. कुरानशरीफ ५।९३

३. ईश्वरी प्रसाद : हिस्ट्री आफ मिडीवल इंडिया, २४५,५३७।

पहले मद्य पर आबकारी कर लगा दिया। शराब के ठेकों की नीलामी शुरू कर दी।

कंपनी काल में आबकारी कर की जो पद्धति चालू की गयी, उसे ब्रिटिश शासन काल में भलीभाँति पुष्पित-पल्लवित किया गया। शराब तथा अन्य मादक पदार्थों से सरकार अंधाधुंध कमाई करने लगी।

सरकार शराब, ताड़ी और अन्य मादक पदार्थों की दुकानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाती गयी। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, कांग्रेस के नेता तथा देश के शुभचिंतक लोग चिल्लाते रहे, पर सरकार के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती थी। अपनी आबकारी नीति में कोई भी संशोधन करने के लिए सरकार प्रस्तुत नहीं थी।

सन् १८७४ में केशवचन्द्र सेन ने वाइसराय को इस संबंध में एक स्मृति-पत्र दिया। १८८४ में बंगाल आबकारी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी। सन् १८८८ से १९०० तक भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस प्रतिवर्ष मद्य निषेध के संबंध में प्रस्ताव स्वीकृत करती रही, पर सरकार पर इन सब बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ विरोध देखकर सन् १९०५ में भारतीय आबकारी समिति की रिपोर्ट के बाद भारत सरकार ने जो नीति निर्धारित की, वह थी—मद्य के न्यूनतम उपभोग के साथ अधिकतम आय।[1]

ब्रिटिश सरकार की आबकारी आय में किस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी, उसका अनुमान इन आँकड़ों से लगाया जा सकता है—

सन् १८६१	१.५	करोड़	रुपया
१८८५	४	,,	,,
१८९७	५.२	,,	,,
१९०५	८.४	,,	,,
१९१७	१५.१	,,	,,
१९२८	२३.५	,,	,,

गाँधीजी के मद्यनिषेध आंदोलन के बावजूद भारत की अंग्रेजी सरकार अपनी आबकारी नीति पर अटल बनी रही। भरपेट शराब पिलाकर अधिकतम आमदनी करने का उसका क्रम अंत-अंत तक जारी रहा।

मद्यपान की समस्या

मद्यपान का समस्या एक विश्वव्यापी भयंकर समस्या है। इसके अंतर्गत एक नहीं, अनेक समस्याएँ छिपी हैं, विघटन का तो यह एक प्रमुख आधार है। इससे वैयक्तिक, पारिवारिक, नैतिक, सामुदायिक—सभी प्रकार का

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्रोहिबिशन, खंड २, पृष्ठ ३९४-३९६।

विघटन होता है। तलाक, पलायन, आत्महत्या, अपराध, कलह, अर्थनाश, भ्रष्टाचार, दुर्घटना जैसी अनेक समस्याएँ इसके साथ चोली-दामन की भाँति जुड़ी हुई हैं। यही सब देखकर महात्मा गाँधी ने कहा था—'मद्यपान को मैं चोरी और यहाँ तक कि वेश्यावृत्ति से भी अधिक भयंकर मानता हूँ। दोनों ही बुराइयाँ क्या उससे उत्पन्न नहीं होतीं ?'[1]

साल्वेशन आर्मी—मुक्ति सेना ने मद्यपान जैसी भयंकर समस्याओं के निवारण में करुणा प्रेरित होकर पर्याप्त कार्य किया है। जनरल बूथ के शब्दों में—'विश्व में किसी भी अन्य विष ने इतना कहर नहीं ढाया है जितना शराब ने। इसने सबसे अधिक रक्त बहाया है। इसने असंख्य व्यक्तियों को शोक वस्त्र पहनाये हैं। लाखों घरों को नीलाम पर चढ़वा दिया है। असंख्य लोगों को दीवालिया करार दिया है। असंख्य बदमाशों को हिरासत किया है। असंख्य बच्चों को मौत के घाट उतारा है। असंख्य महिलाओं का सिंदूर पोंछ दिया है। असंख्य सीधे-सादे लोगों को पतन की ओर घसीटा है। कितनों की आँखें छीन ली हैं, कितनों के हाथ-पैर तोड़ दिये हैं। कितनों को तर्कशक्ति से वंचित कर दिया है। कितनों पुरुषों को नपुंसक बना दिया है। कितनी सतियों को असती बनने को विवश किया है। कितनों के हृदय तोड़े हैं। कितनों का जीवन नष्ट किया है। कितनों को आत्महत्या के लिए विवश किया है और न जाने कितनों को असमय में ही कालकवलित कराया है!'

मद्यपान और मादक पदार्थों के सेवन से लाखों व्यक्ति बर्बाद होते हैं, लाखों भरे-पूरे परिवार मिट्टी में मिलते हैं। लाखों व्यक्ति धन से, स्वास्थ्य से और नैतिकता से वंचित होते हैं। इसके चलते लाखों स्त्रियाँ सतीत्व का सौदा करने को विवश होती हैं। लाखों बच्चे दो-दो दानों को तरसते हैं। रोग-बीमारी, दुर्घटना और अपराध आदि की संख्या का तो कोई पार ही नहीं रहता। मद्यपान की समस्या अत्यंत विषम सामाजिक आर्थिक समस्या है।

मद्यपान की परिभाषा

जो मदिरा शताब्दियों से मानव कंठ से लगी है, जिसपर नियंत्रण लगाना राज्य के कर्त्तव्यों में से एक महान कर्तव्य रहा है, जिसका पान करके मनुष्य अपनी सुध-बुध को बैठता है और निंद्य-से-निंद्य जघन्य कार्य

---

१. मो० क० गाँधी : यंग इंडिया, ८ जून, १९२१।

करने में भी लज्जित नहीं होता, उसी मदिरा का सेवन 'मद्यपान' कहलाता है।

भारत में मद्यपान जहाँ सामाजिक दोष माना जाता है, वहाँ यूरोपीय समाज में वह ऐसा दोष नहीं माना जाता। वहाँ थोड़ी मात्रा में मद्यपान करना दोष नहीं, अपितु एक आवश्यकता माना जाता है।[१] पाश्चात्य विचारक मानते हैं कि 'मद्य की असामान्य बुरी आदत ही 'मद्यपान' है।'[२]

विश्व स्वास्थ्य संगठन की विशेषज्ञ समिति ने मद्यपान की परिभाषा इस प्रकार की है—'मद्यपान नशे की वह स्थिति है, जो किसी भी रूप में मादक पदार्थ के निरंतर सेवन से उत्पन्न होती है, जिससे थोड़ी देर के लिए नशा चढ़ता है या मनुष्य सदा ही नशे में चूर रहता है और जो व्यक्ति के लिए भी हानिकारक है और समाज के लिए भी।'

'जबतब या थोड़ी मात्रा में पीना समस्या नहीं है। मद्यपान की समस्या तो तब वैयक्तिक और सामाजिक विघटन की समस्या बनती है, जब अत्यधिक मात्रा में मद्यपान किया जाता है।'[३]

टेकचंद मद्य अध्ययन दल के मत से 'मद्यपान वह बुरी आदत या बीमारी है, जो मद्य का पान करने से अथवा किसी भी मादक पदार्थ का सेवन करने से उत्पन्न होती है। मादक पदार्थों का दुरुपयोग करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है और यह मनुष्य की आत्मा को, मन को, और शरीर को प्रभावित कर पतन की ओर ले जाती है।'[४]

स्पष्ट है कि किसी भी मादक पदार्थ के सेवन से जब मनुष्य बेसुध हो उठता है, तब वह मद्यपान का रूप ले लेता है।

मद्यपान की प्रकृति

जिस व्यक्ति को मद्यपान की लत लग जाती है, वह पिये बिना रह नहीं सकता। बेकन के अनुसार 'ऐसे अधिकांश व्यसनी मद्य से घृणा करते हैं, मद्यपान से घृणा करते हैं, मद्य के स्वाद से घृणा करते हैं, मद्यपान के परिणामों से घृणा करते हैं,

१. मो० क० गाँधी : ड्रिंक, ड्रग्ज एंड गेम्बलिंग, जनवरी, १९५२, पृष्ठ ३७
२. फेयर चाइल्ड : डिक्शनरी ऑफ सोशियालाजी, पृष्ठ ८
३. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, १९६१, पृष्ठ १८४.
४. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृष्ठ ६८।

स्वयं मद्यपी होने के नाते अपने आप से भी घृणा करते हैं, परंतु वे मद्यपान किये बिना रह नहीं सकते।'[1]

मद्यपियों की यह विवशता मद्यपान की मुख्य प्रकृति है। अनेक व्यक्ति अपना दुःख, अपनी चिंता भुलाने के लिए शराब का सहारा लेते हैं। किसी-किसी को डाक्टर दवा के रूप में मादक पदार्थों के सेवन की सलाह दे देता है। धीरे-धीरे इसकी आदत पड़ जाती है और मनुष्य शराब के बिना रह नहीं पाता। शराब नहीं मिल पाती, तो ऐसा व्यसनी व्यक्ति शराब जैसी उत्तेजित वैकल्पिक वस्तुओं या ओषधियों की तलाश करता है। ये नशीली और घातक ओषधियाँ उसका सर्वनाश कर डालती हैं।

पेय के प्रकार मादक पेयों के अनेक प्रकार हैं। जैसे, संकट पेय, औद्योगिक पेय, व्यावसायिक पेय, उत्फुल्लता पेय।

केटलिन कहता है कि 'मद्य का व्यसनी तो मद्यपान किये बिना रह नहीं सकता। पर जिसे व्यसन नहीं है, उसके पीने के अनेक कारण होते हैं। जैसे, अपना तनाव घटाने के लिए, अपने को गमगलत करने के लिए, अपने को भुलाने के लिए, दूसरों को मित्र बनाने के लिए, पैसा झटकने के लिए, उत्सव मनाने के लिए, अपनी प्यास बुझाने के लिए, अपने को गरमाने (या तरावट लाने) के लिए, अपना पौरुष दिखाने के लिए।'[2]

इलियट और मैरिल का कहना है कि 'मुख्यतः औद्योगिक क्रांति के उपरांत अनेक व्यक्तियों के लिए शराब 'संकट पेय' बन गयी है। काम के लंबे घंटे, अपर्याप्त भोजन, आर्थिक अस्थिरता, काम का भारी बोझ, आवास की बुरी स्थिति, अज्ञानता आदि के कारण बहुत-से लोग इस संकट पेय के शिकार बनते हैं।'[3]

संकट पेय के अतिरिक्त उद्योग और व्यवसाय के पेय के रूप में भी शराब का प्रयोग होता है। इन सब के अतिरिक्त कुछ लोग उत्फुल्लता पेय के रूप में शराब का प्रयोग करते हैं। इस पेय के शौकीन किसी संकट या परेशानी से मुक्त होने के लिए, व्यावसायिक चिंताओं से छुटकारा पाने के

---

१. बेकन : अलकोहोलिज्म : नेचर आफ दि प्राब्लेम, पृष्ठ ३

२. जार्ज ई० सी० केटलिन : अलकोहोलिज्म, एनसाइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइंसेज, १९३०।

३. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ १८९।

लिए नहीं, थकावट मिटाने के लिए नहीं, अपितु वे पीते हैं उत्फुल्लता प्राप्त करने के लिए, मौजमस्ती के लिए, फैशन के लिए और अपनी शानशौकत बढ़ाने के लिए । ऐसे शौकीनों में तीन प्रकार के लोग होते हैं—

१. अभिजात्य वर्ग के लोग,
२. सरकारी अधिकारी और
३. शौकीन नौजवान ।

मादक पेय

मादक पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो पेय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, दूसरे वे जो जड़ी-बूटियों के रूप में पिये, खाये या सूँघे जाते हैं।

अंगूर, सेव, महुआ आदि फलों के रस, गन्ने के रस, खीरा, खजूर, ताड़ आदि वृक्षों के रस, जौ, राई, गेहूँ, चावल, मक्का आदि अन्न को सड़ा-गला कर, भपका देकर नाना प्रकार के मादक पेय तैयार किये जाते हैं। ये ही शराब, मदिरा, ताड़ी आदि कहलाते हैं।

विदेशी शराबों में प्रमुख हैं—ह्विस्की, ब्रांडी, जिन, रम, वाइन, बीयर, एल, पोटरी, पोर्ट, शेरी, शेम्पेन, सायडर, बोवरिल, वायब्रोना आदि। रूस की वोदका, जापान की सेक, जर्मनी की स्नैप आदि शराबें भी प्रसिद्ध हैं। इन शराबों में कुछ शराबें भारत में भी बनती हैं।

देशी शराबों में प्रमुख हैं—मंडवा और चावल से बनी सुर, लुगड़ी, चांग (पंजाब, कश्मीर, कांगड़ा); चावल और अन्न से बनी चर्मा (कश्मीर); रावरा, सोमा, पखवई, बोझा, दरवहरा (कमायूँ, देहरादून); पचदई, मंड़िया, मरुआ, जौर, चौना, जिगर, कुशा, सुगड़ा (बंगाल, विहार, उड़ीसा, भूटान, सिक्किम, नेपाल); चावल से बनी मद्य, जू, लाओपानी (असम, नागालैंड); अन्न से बनी बोजा, कोंद, सोंत, सोरू (बंबई, महाराष्ट्र, मद्रास); चावल और अन्न से बनी अक्की, भोजा (मैसूर)।"[1] अर्क, ताड़ी, नीरा, स्पिरिट, देशी ठर्रा आदि तो सर्वविदित हैं।

मादक जड़ी-बूटियाँ

ज़ड़ी-बूटियों के रूप में प्रयुक्त की जानेवाली मादक वस्तुओं में प्रमुख हैं—अफीम, गांजा, भांग, चरस, कोकीन, चाय, कोको, काफी, तंबाकू आदि।

---

१. आर० एन० चोपरा, जो० एस० चोपरा, आई० सी० चोपरा : अल्कोहोलिक वीवरेजेज इन इंडिया, इंडियन मेडिकल गजट, खण्ड ७७, पृष्ठ २३० ।

औषधियों के नाम पर भी अनेक ऐसी गोलियाँ और टिंचर आदि चालू हैं जिनका उपयोग नशा लाने के लिए किया जाता है। आजकल के नयी रोशनी वाले युवक-युवतियों में अफीम की गोली से लेकर एल० एस० डी० (L. S. D.), मारफाइन, कोकीन, कोडीन, हीरोइन, एस० टी० पी० (S. T. P.) का खूब प्रचलन है। कोको के पत्ते भी चबाये जाते हैं।[१] गुजरात के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीमन्नारायण ने हीरोइन, एल० एस० डी० आदि के प्रयोग पर चिंता प्रकट करते हुए लिखा है कि दिल्ली और बंबई के छात्र-छात्राओं में इनका उपयोग बढ़ता जा रहा है।[२] के० मित्रा ने नाड़ी-संस्थान को प्रभावित करनेवाली औषधियों में मारफाइन, पेथीडाइन, मेथाडोन और कोकेन को बताया है। इनके न मिलने पर अशांति उत्पन्न होती है। अत्यधिक क्रोध, उत्तेजना और चिड़चिड़ेपन के लिए जिन शांतदायी औषधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें प्रमुख ये बतायी हैं—क्लोरप्रोमोजाइन, थोराजाइन, मेगाफन, सर्पसिल, सेंडिर्ज, क्वीसिन, हाइड्रोक्सिजाइन, स्वावित्तिल, पैरासिन, सेवानोल, मैप्राबोमेट आदि।[३]

मद्यनिषेधवाले क्षेत्रों में नशा लाने के लिए इन टिंचरों का प्रयोग बढ़ जाता है—जिंगीबेरिस, कैलेंडुला, सिमिसिफागू, औरंती, कार्डमम को० एक्सट्रैक्ट राडवोल्फिया आदि। आयुर्वेद के द्राक्षासव, मृतसंजीवनी सुरा आदि का और होमियोपैथी के बेलाडोना और नक्सवोमिका के टिंचरों का दुरुपयोग होने लगता है। शृंगार-प्रसाधनों में काम आनेवाले अनेक स्पिरिट वाले पदार्थों का भी नशा लाने के लिए दुरुपयोग किया जाता है।[४]

मदिरा में, शराब में पानी-सा पतला एक ज्वलनशील रासायनिक पदार्थ होता है—अलकोहल। मीठी, शक्करदार वस्तुओं के सड़ने पर यह उनमें से

अलकोहल

उत्पन्न होता है। यह मादक विष है। औषधिरूप में जहाँ यह तारक है, वहाँ पेय रूप में यह मारक है। इसमें ५२ प्रतिशत कार्बन, १३५ प्रतिशत हाइ-

---

१. 'दिनमान', लेख 'आधुनिक जीवन, मादकद्रव्य फैशन,' ७ जनवरी, १६७३
२. श्रीमन्नारायण : गुजरात, दि टार्चवोयरर आफ प्राहिबिशन, प्रस्तावना, पृष्ठ ४–५
३. के० मित्रा : 'ड्रग एडिक्शन इन इंडिया,' सोशल वेलफेयर इन इंडिया, १९५५, पृष्ठ ३२३-३२४
४. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खण्ड १, पृष्ठ १८८-२००

ड्रोजन और ३५ प्रतिशत आक्सीजन होता है। इसकी मादकता में ३ बातें रहती हैं—उत्तेजना, सुस्ती और बार-बार प्राप्त करने की लालसा। यह अलकोहल सभी प्रकार की शराबों में रहता है। किसी में उसकी मात्रा कम रहती है, किसी में अधिक।

विभिन्न शराबों में अलकोहल की मात्रा का अनुपात इस प्रकार रहता है[१]—

विदेशों से आयात की गयी शराबों में अलकोहल—

ह्विस्की	४२·८६ प्रतिशत		ब्रांडी	४२·८६ प्रतिशत
जिन	३७·१४ ,, ,,		रम	४२·८६ ,, ,,

भारत में बनी विदेशी शराबों में अलकोहल—

ह्विस्की, ब्रांडी, जिन, रम	—४२·८६ प्रतिशत
वाइन	—१० से ८ प्रतिशत
बीयर	—५ प्रतिशत

वैध देशी शराबों में अलकोहल—

अर्क निकाली शराबों में	१२·८६ से ५४·२४ प्रतिशत
सड़ायी हुई शराबों में	३·५ प्रतिशत से ८ प्रतिशत

अवैध देशी शराबों में अलकोहल—४५·७१ से ६८·५७ प्रतिशत

स्पष्ट है कि विदेशी शराब हो या देशी, बाहर से आयी हुई हो या भारत में बनी हुई हो, ह्विस्की हो चाहे ब्रांडी, जिन हो चाहे रम, ताड़ी हो या अर्क—कम-अधिक मात्रा में अलकोहल सब में रहता है। उससे उत्तेजना भी आती है, सुस्ती और शिथिलता भी आती है और धीरे-धीरे उसकी लत भी लग जाती है, जो मानव को ले डूबती है।[२]

मादक पदार्थों की लत मनुष्य के अधःपतन का प्रमुख कारण बनती है।

नशे की लत

लत लग जाने पर उसका छुटना कठिन हो जाता है और मनुष्य उसके कीचड़ में गहरा धँसता चला जाता है। लत के मुख्य तीन लक्षण बताये गये हैं—

---

१. वही रिपोर्ट, खंड १, पृष्ठ २४-२७।

२. चक्रवर्ती राजगोपालाचारी : प्राहिबिशन, १९४३, पृष्ठ २६-२७।

१. मादक वस्तु को प्राप्त करने की दुर्दमनीय आकांक्षा,
२. उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में सेवन करने की प्रवृत्ति और
३. मानसिक और शारीरिक दृष्टि से मादक वस्तु पर आश्रित हो जाना।

शराबी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, हो सकते हैं। उन्हें मोटे तौर पर ६ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

शराबियों के प्रकार

टेकचंद मद्य अध्ययन दल ने उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

१. सामान्य
(क) भूले-भटके पी लेनेवाले
(ख) सीमित मात्रा में पीनेवाले (सप्ताह में ३ बार)

२. समस्यामूलक
(ग) अभ्यस्त पीनेवाले (सप्ताह में ३ बार से अधिक)
(घ) अधिक मात्रा में पीनेवाले (इतना अधिक पीते हैं कि उसके चलते सामाजिक विघटन की स्थिति आ सकती है, पर ये चाहें तो स्वेच्छा से मद्य-पान का त्याग कर सकते हैं।)
(ङ) व्यसनी (ये स्वेच्छापूर्वक मद्यपान का त्याग नहीं कर सकते। इनकी चिकित्सा आवश्यक है।)
(च) चिर व्यसनी (इनमें मानसिक तथा शारीरिक ह्रास परिलक्षित होता है।)

टेकचंद अध्ययन दल की मान्यता है कि पहली दो श्रेणियों के मद्यपी समस्यामूलक नहीं हैं, परंतु बाद की ४ श्रेणियों वाले मद्यपी सार्वजनिक स्वास्थ्य की समस्या हैं।[१] यह समस्या उत्तरोत्तर विषम बनती चल रही है। फ्रांस में यह पहले नंबर की स्वास्थ्य समस्या है, जर्मनी में दूसरे नंबर की, आस्ट्रेलिया में तीसरे नंबर की और अमरीका में चौथे नंबर की। खेद की बात है कि भारत में इसके पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मद्यपान की व्यापक सुविधा के नाते और कड़ी शराबों की ओर लोगों की अधिक रुझान के कारण यह समस्या दिन-दिन विषम बनती चल रही है।[२] इधर कुछ समय से विभिन्न राज्यों

१. वही रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ६८
२. वही रिपोर्ट, खण्ड, पृ० ६९

ने मद्यपान की जो सुविधाएँ बढ़ा दी हैं, उनके चलते यह समस्या उत्तरोत्तर उलझती चल रही है।

लोग मद्यपान क्यों करते हैं, मानव को पतन की ओर ढकेलने वाले मादक पदार्थों का सेवन क्यों करते हैं, इसका सही अनुमान इस विषय में की गयी शोधों और अनुसंधानों से ही किया जा सकता है।

मद्यपियों का सर्वेक्षण

सन् १९६३ में न्यायाधीश टेकचंद के मद्य-अध्ययन दल के अनुरोध पर दिल्ली विश्वविद्यालय के सोशल वर्क स्कूल ने दिल्ली में ऐसा एक सर्वेक्षण किया था। श्री सिंधु फड़के इस सर्वेक्षण के निदेशक थे। नवंबर, १९६३ से फरवरी, १९६४ के बीच यह सर्वेक्षण किया गया।

इसमें कुल १४०५ मद्यपियों से भेंट की गयी, देशी शराब की दो दुकानों के ६०० और विदेशी शराब की दुकानों के ४०० ग्राहकों से बातचीत की गयी। अनुमानतः देशी शराब की दुकानों से १३०० और विदेशी शराब की २७ दुकानों से ६००० ग्राहक प्रतिदिन शराब लेते हैं। देशी शराब की एक बोतल का दाम ७) से १०) तक और विदेशी शराब का ३) से ३४) तक था। देशी शराब की दुकान पर एक ग्राहक को अधिक-से-अधिक १ बोतल शराब मिल सकती थी जो ७५० लीटर की होती है। विदेशी शराब की दुकानों पर दैनिक खपत थी—विदेशों से आयी ११० बोतलें, भारत में बनी १९५० बोतलें और बीयर की ८००० बोतलें।

सर्वेक्षण में विभिन्न आयु, व्यवसाय, आय, शिक्षा और स्तर के लोग थे। उन्हें इन आठ श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया था—

१. देशी शराब समूह के शराबी	(संख्या ६००)
२. विदेशी शराब समूह के शराबी	(४००)
३. गंदी बस्तियों के शराबी	(२००)
४. क्लबों के सदस्य	(८०)
५. परमिट वाले शराबी	(६५)
६. छात्रावासों के निवासी	(५०)
७. गंदी बस्तियों में रहनेवाली स्त्रियाँ	(२१)
८. उच्चवर्ग की स्त्रियाँ	(२९)
	१४०५

आयु की दृष्टि से इनमें १० वर्ष से लेकर ७० वर्ष से ऊपर के भी स्त्री-पुरुष थे। आय की दृष्टि से ५०) से कम से लेकर २०००) से अधिक वाले भी थे। व्यवसाय की दृष्टि से मजदूरों से लेकर डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, कलाकार, संगीतज्ञ जैसे लोग भी थे। विवाह की दृष्टि से अकेले और अविवाहित, विवाहित और परित्यक्त लोग भी थे। गरीब, मध्यम श्रेणी से लेकर उच्च श्रेणी के लोग भी इसमें सम्मिलित थे।

सामान्य दृष्टि से ऐसा माना जा सकता है कि दिल्ली नगर के मद्यपियों का यह एक छोटा प्रतिनिधि समूह था।

पहला प्याला कब और क्यों ?

अधिकांश मद्यपियों ने यह बात स्वीकार की कि उन्होंने २० से लेकर ३९ वर्ष की आयु में पहला प्याला मुँह से लगाया। ऐसा क्यों किया, यह पूछने पर उन्होंने जो उत्तर दिये वे इस प्रकार थे[१] —

१ होली, दिवाली, जन्मोत्सव, विवाह आदि के अवसर पर उत्सव में सम्मिलित होने के नाते।

२. परिवार, सामाजिक क्षेत्र और समुदाय में पीने की परंपरा। जैसे, उत्तर प्रदेश के कायस्थों में, भंगियों में, चमारों में।

३. किसी संबंधी की मृत्यु अथवा दुकान का दीवाला निकलने पर चिंता, निराशा और उदासी दूर करने के लिए। 'बच्चन' के शब्दों में—हो चुका जब भार जीवन, तब लगाया होठ प्याला।

४. मित्रों का आग्रह ठुकराने में असमर्थता के कारण।

५. साथियों के बीच मद्यपान की परंपरा होने के कारण।

६. शारीरिक थकान अथवा दमा जैसे रोगों की बेचैनी मिटाने के लिए। डाक्टर की सलाह से।

७. पीना व्यावसायिक दृष्टि से लाभकर होने के कारण। सरकारी कर्मचारियों से 'परमिट' आदि प्राप्त करने के लिए।

८. उत्सुकता के कारण। कैसा मजा आता है पीने में ?

९. अन्य कारण। जैसे, कड़ाके की सर्दी आदि दूर करने के लिए।

इन नौ प्रकार के कारणों में मुख्य कारण चार ठहरते हैं—

१. अधिकांश लोगों ने मित्रों के बहकाने पर मद्यपान शुरू किया।

---

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड २, पृष्ठ २९६-३०१

२. उत्सव की शोभा बढ़ाने के लिए, ताकि नक्कू न बनना पड़े।

३. परिवार, जाति, समुदाय में चलती आयी परंपरा के कारण।

४. मानसिक अथवा शारीरिक थकान, तनाव, बेचैनी आदि से छुटकारा पाने के लिए।

ऐसा नहीं है कि ये कारण केवल भारत के मद्यपियों के ही हैं। अन्य देशों में भी इसी से मिलते-जुलते कारण से लोग मद्यपान आरंभ करते हैं। न्यूयार्क में एक बार २४६ मद्यपियों से ऐसा ही प्रश्न करने पर ऐसे ही उत्तर मिले थे [१]—

सामाजिकता की दृष्टि से	५२·५ प्रतिशत
संकट से छुटकारे के लिए	१३ प्रतिशत
डाक्टर की सलाह से	९·३ प्रतिशत
व्यवसाय की दृष्टि से	७ प्रतिशत
बुजुर्गों ने सिखाया—परंपरा	७ प्रतिशत
बेकारी की चिंता से	५ प्रतिशत आदि

ये तो हुए मद्यपान आरंभ करने के कारण।

मद्यपान के कारण मद्यपान चालू क्यों रखा है,—इस प्रश्न के उत्तर में उत्तरदाताओं ने ये कारण बताये—

१. मद्यपान तनाव में कमी और ताजगी लाता है।

२. परिवार, सामाजिक क्षेत्र अथवा समुदाय में मद्यपान की परंपरा है।

३. मद्यपान से चिंताओं, परेशानियों, असफलताओं और उदासी से छुटकारा पाने में सहायता मिलती है।

४. मित्रों के साथ देने के लिए पीना पड़ता है।

५. मद्यपान से शारीरिक क्लांति और थकावट दूर करने में सहायता मिलती है।

६. व्यवसाय या कार्य में श्रम को दूर करने में सहायता मिलती है। जैसे, ट्रक चालकों की लंबी और रात्रिकालीन यात्रा, धोबियों का कड़कड़ाती सर्दी में कपड़े धोना, वायरमैन का सर्दी में ड्यूटी करना।

७. उत्सवों और विशेष अवसरों पर मद्यपान उत्सव का आवश्यक अंग माना जाता है।

---

१. जॉन बरनबस, लेख, मद्यपान के सामाजिक कारण, ड्रिंक, ड्रग्स एंड गैंबलिंग, पृष्ठ १०७

८. मद्यपान की आदत पड़ गयी है।

९. मनोविनोद के लिए मद्यपान आवश्यक है।

१०. व्यापारिक लाभ के लिए मद्यपान आवश्यक है।

११. मद्यपान से सृजनात्मक कार्य और कल्पना को प्रेरणा मिलती है।

१२. डाक्टर ने मद्यपान की सलाह दी है। आदि।

मद्यपियों के उत्तरों का विश्लेषण करने पर ये तथ्य प्रकट हुए—

१. देशी शराब वाले समूह में एक तिहाई (३३·८० प्रतिशत) लोग मनोरंजन और ताजगी प्राप्त करने के लिए तथा तनाव दूर करने के लिए पीते हैं। २८·३८ प्रतिशत थकावट मिटाने के लिए और १३·२४ प्रतिशत मित्रों का साथ देने के लिए पीते हैं।

२. विदेशी शराब वाले समूह में ४२·६ प्रतिशत ताजगी लाने के लिए, २१·३९ प्रतिशत मित्रों का साथ देने के लिए और १२·१४ प्रतिशत थकावट मिटाने के लिए पीते हैं।

३. गंदी बस्तियों वाले समूह में ३८·७९ प्रतिशत ताजगी लाने के लिए और २८·९० प्रतिशत थकावट मिटाने के लिए पीते हैं।

४. क्लब वाले समूह में ४० प्रतिशत ताजगी लाने के लिए और ३५·५८ प्रतिशत मित्रों का साथ देने के लिए पीते हैं। 'परमिटवालों' की भी ऐसी ही स्थिति है।

५. छात्रावासी लोगों में तीन चौथाई लोग ताजगी लाने के लिए और मित्रों का साथ देने के लिए पीते हैं।

६. गंदी बस्तियों की ४०·७४ प्रतिशत स्त्रियाँ ताजगी लाने के लिए और २२·२२ प्रतिशत थकावट मिटाने के लिए पीती हैं।

७. उच्च वर्ग की २२·२२ प्रतिशत स्त्रियाँ ताजगी लाने के लिए और २२·२२ प्रतिशत परंपरा के कारण तथा २२·२२ प्रतिशत मित्रों का साथ देने के लिए पीती हैं।[१]

धार्मिक-सामाजिक कारक मद्यपान के कुछ धार्मिक-सामाजिक कारक हैं। जैसे, पुरातन परम्पराएँ अतिथि सत्कार, शान और प्रतिष्ठा आदि।

प्राचीन परिपाटियाँ : अनेक जातियों और सम्प्रदायों में कुछ धार्मिक और सामाजिक परिपाटियाँ ऐसी चली आ रही हैं जिनमें मद्यपान की भी परंपरा

१. रिपोर्ट आफ द स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड २, पृष्ठ ३०१-३०४

है। धार्मिक और सामाजिक उत्सवों पर, जन्म, विवाह और कहीं-कहीं मृत्यु के भी अवसरों पर, विभिन्न तिथि-त्योहारों पर, फसल पकने पर आनंद मनाने के लिए जो आयोजन होते हैं, उनमें शराब का भी दौर चलता है। ऐसी परिपाटियाँ आदिवासियों और अशिक्षितों में ही हों, ऐसा नहीं है। पढ़े-लिखे, शिक्षितों और विद्वानों में भी हैं। यहूदियों, ईसाइयों, पारसियों, कैथोलिकों, प्रोटेस्टेंटों, अमरीकियों, रूसियों, यूरोपियनों, एशियनों आदि अनेक धर्म और देश वाले लोगों में प्रचलित हैं, कहीं कम मात्रा में हैं तो कहीं अधिक मात्रा में। ऐसे अवसरों पर भोज के साथ-साथ नृत्य, संगीत और वाद्य का भी आयोजन रहता है। उसी के साथ-साथ शराब भी चलती है।

अतिथि-सत्कार : कहीं-कहीं पर अतिथि का स्वागत और सम्मान करने के लिए शराब पिलाने की प्रथा है। लेखक के एक अधिकारी मित्र को कुछ समय तक आदिवासी क्षेत्र में रहना पड़ा। उनके स्वागत में जब मदिरा पेश की गयी तो वे बड़े संकोच में पड़े। शुद्ध शाकाहारी ब्राह्मण परिवार के संस्कार थे। बड़ी चालाकी से उन्होंने ऐसा नाटक किया कि मानों वे प्याला होठ से लगा रहे हैं। किसी प्रकार जान बची, अन्यथा वे लोग इसे अपना अपमान मानते। रूस में हमारे कुछ साथी गये। उनके समक्ष भी वोदका (शराब) प्रस्तुत की गयी। न लेना आतिथेय का अपमान माना जाता है। ऐसी परिपाटियाँ मद्यपान की परंपरा को प्रोत्साहन देतीं हैं।

शान और प्रतिष्ठा : आधुनिक समाज में शराब शान और प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाने लगी है। क्लबों और पार्टियों में, सामाजिक और सांस्कृतिक समारोहों में यदि शराब का दौर न चला तो पार्टी का मजा ही क्या रहा ? ऐसी पार्टियों में स्त्री और पुरुष, युवक और युवती, छोटे और बड़े सभी मद्यपान करते हैं।

पिछले दिनों लेखक ने समृद्ध पंजाब में देखा कि घर पर आने पर यदि अतिथि के समक्ष बोतल न पेश की गयी तो वह कहता है कि 'क्या सत्कार हुआ वहाँ ? बोतल भी तो नहीं थी ?' दूध की नदियों के नाम से प्रसिद्ध पंजाब में आज दूध के दर्शन दुर्लभ हैं, पर जहाँ देखिये देशी से अधिक विदेशी शराब की नदियाँ बह रही हैं। शराब पीना और पिलाना आज समृद्धि और सत्कार का साधन बन बैठा है।

मद्यपान के कितने ही आर्थिक और व्यावसायिक कारक होते हैं। जैसे, सेना और युद्ध, कठोर श्रम, एकाकीपन, आर्थिक लाभ, दान और सहायता, आर्थिक संकट आदि। ऐसे सभी कारणों से मद्यपान का प्रचलन होता है।

आर्थिक-व्यावसायिक कारक

सेना और युद्ध : शराब में जो उत्तेजना रहती है, उसके द्वारा शत्रु से जोरदार प्रतिशोध लेने को सैनिकों को उकसाने के लिए शराब पिलाने की प्रथा शताब्दियों से चलती आ रही है। घर-परिवार से सैकड़ों मील दूर एकाकी पड़े सैनिकों को कड़ाके की सर्दी में, बरफ में, चिलचिलाती धूप में कठोर श्रम करना पड़ता है, लड़ाई के मैदान में जूझना पड़ता है। उन्हें प्रेरणा और स्फूर्ति देने के लिए मद्य का उपयोग किया जाता है। जुझाऊ बिगुल बज रहा है। जुझाऊ ढोल बज रहा है। जुझाऊ गीतों की लय हवा में गूंज रही है। शराब की मस्ती में चूर सैनिक विरोधी सैनिकों के सिर भुट्टे की तरह उड़ा रहा है। सेना के अधिकारी इस भावना का अपने ढंग पर दुरुपयोग करना खूब जानते हैं। सैनिक रक्त की होली खेल रहा है, पर उसे होश ही नहीं है कि वह हिंसा का यह पाप क्यों बटोर रहा है। शराब ने उसकी बुद्धि कुंठित कर रखी है।

कठोर श्रम : लंबी और थकाकर चूर कर देनेवाली यात्रा के ट्रक-चालक, ठिठुरते जाड़े में रोम-रोम कँपा देनेवाली सर्दी में ठंडे पानी के भीतर खड़े होकर 'छियो राम' करनेवाले धोबी, रात में बिजली आदि के कर्मचारी, लाइन मैन आदि शराब पीकर प्रेरणा और स्फूर्ति पाते हैं। शराब उनके लिए व्यावसायिक आवश्यकता का रूप धारण कर लेती है।

एकाकीपन : अपने व्यवसाय, अपनी नौकरी, अपने व्यापार आदि को लेकर असंख्य लोगों को परदेश में एकाकी जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ता है। ऐसे अनेक व्यापारी, एजेंट, दलाल, विक्रेता आदि हाथ में पैसा रहने पर सहज उपलब्ध शराब की ओर झुक जाते हैं।

आर्थिक लाभ : आज यह प्रकट सत्य है कि माल की रसद का पर्वाना प्राप्त करने में शराब बहुत सहायता करती है। लाखों रुपयों के ठेके सुरा और सुंदरी की सहायता से उपलब्ध किये जाते हैं। ग्राहक को पटाने के लिए चतुर चालाक विक्रेता स्वयं भी शराब पीता है, साथ-साथ ग्राहक को भी पिलाता है। शराब की चुस्कियों के साथ सौदा पटने में अधिक देर नहीं लगती। भ्रष्टाचार को फैलाने में शराब का बड़ा हाथ रहता है।

होटल और काफे, क्लब और मनोरंजन गृह, सामाजिक और सांस्कृतिक कहे जानेवाले समारोह, नृत्य और संगीतशाला के कार्यक्रम हाला और प्याला, सुरा और सुंदरी के बिना सूखे रहते हैं। इन सबका आर्थिक पहलू किससे छिपा है ? व्यसन और व्यभिचार की कमाई पर जीनेवाले निहित स्वार्थ वाले लोग अपना व्यवसाय चमकाने के लिए मदिरा का भरपूर उपयोग करते हैं।

दान और सहायता : मदिरा की उपादेयता अब दान और सहायता के भी क्षेत्र में अपना रंग दिखाने लगी है। उसका एक ताजा उदाहरण है महाराष्ट्र के राज्यपाल द्वारा बंबई के राजभवन में १९७२ के बड़े दिन पर अकालपीड़ितों के सहायतार्थ, सांस्कृतिक कार्यक्रम। उसमें सुरापान और नृत्य आदि का आयोजन था। शौकीन लोग शराब की बोतलें खरीद-खरीद कर पी-पिला रहे थे। लाट साहब की बेगम साहिबा भी इस कार्यक्रम में योगदान कर रही थीं।

आर्थिक संकट : बेकारी, निर्धनता, दूकान का दीवाला जैसा आर्थिक संकट भी मद्यपान का कारण बनता है। कितने ही ऐसे संकटग्रस्त लोग अपने को भुलाये रखने के लिए शराब पीना आरंभ कर देते हैं। जब वे देखते हैं कि बाल-बच्चे भूख से तड़प रहे हैं तो वे ठर्रे या ताड़ी की बोतल गले से नीचे उतारने के लिए शराब की भट्ठी का रास्ता नापने लगते हैं।

व्यक्तिगत कारक

मद्यपान के अनेक व्यक्तिगत कारक होते हैं। जैसे, मानसिक उद्विग्नता, त , असफलता, संघर्ष, तनाव, थकावट, प्रेम में निराशा, माता-पिता, पत्नी या अन्य घरवालों की ओर से उपेक्षा, तिरस्कार पारिवारिक कलह, जुए, घुड़दौड़ और सट्टे में बाजी हारना, दूकान का दीवाला, जैसे कारण जब मनुष्य को परेशान कर देते हैं, तब अनेक व्यक्ति शराब का सहारा लेते हैं। कुछ शर्मीले, सामाजिक दृष्टि से असुरक्षित तथा जीवन संग्राम का डट कर सामना करने में असमर्थ व्यक्ति शराब पीने लगते हैं।[१] शराबी मित्रों का आग्रह, शराब का जायका लेने की उत्सुकता भी कुछ लोगों को शराब का अभ्यस्त बना देती है। एक बार चस्का लगा फिर तो 'छुटती नहीं है जालिम, मुंह से लगी हुई।'

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० १९८।

भ्रामक धारणाएँ : कुछ लोगों में यह भ्रामक धारणा घर कर बैठी है कि शराब या भांग जैसे मादक पदार्थों से स्वास्थ्य सुधरता है, भूख बढ़ती है और कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होती है। कुछ लोग डाक्टरों की सलाह पाकर शराब पीना आरंभ कर देते हैं।

'अये प्रिये यह प्याला भर दो, जमने दो अब इसका रंग'—कहने वाले खैयाम जैसे कलाकार, कवि, लेखक, चित्रकार मान बैठते हैं कि मदिरा से, सिगरेट के लच्छेदार धुएँ से कल्पना रानी को पर लग जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि मादक पदार्थों से सृजनात्मक कार्य को स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। ऐसी धारणा उन्हें मादक पदार्थों की ओर झुका देती है।

मद्य और मादक पदार्थों के व्यवसायी लोगों ने 'लालपरी' के जो 'सब्ज-बाग' लोगों को दिखा रखे हैं, उनके चलते भी अज्ञानतावश अनेक व्यक्ति-भ्रम में पड़ जाते हैं। ऐसी भ्रामक धारणाएँ फैला रखी गयी हैं कि मनुष्य दोष को दोष नहीं मानता। "जिसने न पी गांजे की कली, उस लड़के से लड़की भली।' 'जय बोलो भंग भवानी की' इस तरह की अनेक लोकोक्तियाँ उसके समर्थन में उपस्थित की जाती हैं। भोले-भाले व्यक्ति सहज ही ऐसी धारणाओं के शिकार बनकर दुर्व्यसन को हंसी-खुशी से गले लगा लेते हैं। जिन लोगों का मानसिक और बौद्धिक विकास अधिक नहीं होता, जिनका पर्यावरण अच्छा नहीं होता, जिनका लालन-पालन और शिक्षण अच्छा नहीं होता, ऐसे लोग बड़ी सरलता से इस चक्कर में फँस जाते हैं। भारत में हरिजन तथा आदिवासी आदि पिछड़े वर्ग के लोगों में मद्यपियों की बड़ी संख्या का एक प्रमुख कारण यह अज्ञान भी होता है।

आज का भोग-विलासमय पर्यावरण मद्यपान का एक प्रमुख कारक है। संयम, सदाचार, नीति, सचाई, ईमानदारी जैसे नैतिक मूल्यों पर से समाज की आस्था घटती जा रही है। अधिकांश साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, नाटक, सिनेमा, संगीत, फैशन, शिष्टाचार, विज्ञापन आदि जनसमूह को प्रभावित करनेवाले साधन गुप्त और प्रकट रूप में वासना तथा भोग-विलास को प्रोत्साहन देते हैं। इन सब में से यौन-प्रेरणा का भी प्राबल्य देखने में आता है।[१] हैवलाक एलिस जैसे यौनविज्ञान शास्त्री तो कौमार्य ब्रह्मचर्य की मर्यादाओं को भंग करने में समाज को उकसाते ही हैं, बर्टेण्ड्र रसेल जैसे

पर्यावरणीय कारक

---

१. जेवस बार्जुन : दि हाउस आफ इंटेलैक्ट, न्यूयार्क, १९५९, पृ० २५५-२५७।

दार्शनिक और उनके समान अन्य बुद्धिवादी भी इस दिशा में पीछे नहीं हैं। इनका कहना है कि यौन अभिव्यक्ति की कसौटी होनी चाहिए प्रसन्नता, उसके लिए यौन अनुभवों को विवाह तक मर्यादित करने में कोई तुक नहीं है।[1] डाक्टर सिगमंड फ्रायड ने उस दिशा में जो शिक्षण दिया है, उसका तो अत्यंत व्यापक प्रभाव हुआ है। उनका कहना है कि इस ईसाई मान्यता में ही मानव-जाति के असंख्य भीषण रोगों की जड़ छिपी है कि विवाह के अतिरिक्त अन्यत्र कोई यौन-अनुभव न प्राप्त किया जाय। विगत ४०-५० वर्षों के भीतर कम्युनिस्टों ने यौन संबंधी जो प्रचार किया है, उसका भी अत्यधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि प्यास लगने पर जिस प्रकार कहीं भी पानी पीकर प्यास बुझा ली जाती है, उसी प्रकार यौन आवश्यकता की भी पूर्त्ति कर लेनी चाहिए और उसके लिए व्यर्थ का बावैला मचाना ठीक नहीं। इन सब बौद्धिक विचारधाराओं ने प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत व्यापक यौन प्रयोगों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।[2] आज सारे विश्व का पर्यावरण इस प्रकार का बन गया है और बनता जा रहा है कि नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर बल देना व्यर्थ है। ऐसे पर्यावरण में मद्यपान और मादक पदार्थों का विस्तार होना स्वाभाविक है। इस दिशा में जो सामाजिक नियंत्रण रहता था, वह अब ढीला पड़ गया है। नैतिक मूल्यों का खुलेआम मजाक उड़ाया जाता है। मद्यपान और भोग-विलास को सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती चल रही है।

राजनैतिक कारक

सरकारी आबकारी नीति मद्यपान की तथा मादक पदार्थों के सेवन की खुली छूट देती है। जहाँ कहीं मद्यनिषेध का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ आबकारी आय को बीच में लाकर खड़ा कर दिया जाता है। मादक पदार्थों के ठेकों से लाखों-करोड़ों की आमदनी की जाती है। राजनीति के खिलाड़ी पाप की ऐसी कमाई में कोई दोष नहीं देखते। चुनावों के दौरान वोट प्राप्त करने के लिए शराब की जो नदियाँ बहायी जाती हैं, उनके कुपरिणामों से कौन अनभिज्ञ है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक नहीं अनेक कारक मद्यपान तथा मादक पदार्थ सेवन के लिए उत्तरदायी हैं।

---

१. बर्टेन्ड्र रसेल : मैरिज एण्ड मारल्स, न्यूयार्क, १९२९।
२. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० १५१-१५२।

मद्यपान ने आज अत्यंत व्यापक रूप धारण कर लिया है। गाँव और कस्बा, नगर और शहर, जहाँ देखिये मदिरा सर्वसुलभ है। घर के भीतर तो लोग पीते ही हैं, बाहर भी पीते हैं। होटलों और क्लबों, संगीत और नृत्यशालाओं में, सामाजिक उत्सवों और कार्यक्रमों में, देशी-विदेशी दूतावासों में, और तो और तीर्थस्थलों में भी शराब पी जाती है, धड़ल्ले के साथ पी जाती है। ऊँगलियों पर गिनने लायक कुछ स्थानों पर यदि मद्यनिषेध लागू है तो चोरबाजारियों की 'कृपा' से वहाँ भी शराब उपलब्ध हो जाती है। फर्क इतना ही रहता है कि उसमें चोरबाजारियों का कमीशन और जुड़ जाता है।

मद्यपान का क्षेत्र

अमरीका की स्थिति का वर्णन करते हुए इलियट और मैरिल ने कहा है कि पहले तो 'सैलून' में ही मजदूर और सफेदपोश कर्मचारी पीते थे, अब तो जगह-जगह 'टैवर्न' खुल गये हैं जिनकी अमरीका में २ लाख से ऊपर संख्या है। टैवर्नों की संख्या कहीं-कहीं तो चर्चों, थिएटरों और नृत्यशालाओं की कुल संख्या से भी बढ़ गयी है।[१]

यह ठीक है कि भारत में मद्यपान का क्षेत्र यूरोप और अमरीका जितना व्यापक नहीं है, फिर भी वह क्षेत्र कम नहीं है। भारत में बड़े-बड़े बहुसंख्यक अनेक समाज पीने की कौन कहे, शराब के एक बूँद तक का स्पर्श नहीं करते। परंतु कुछ समाज, वर्ग और जातियाँ परंपरया शराब पीती हैं। पुरुष ही नहीं, ऐसे समाजों में स्त्रियाँ भी उनका हाथ बँटाती हैं। हरिजनों और आदिवासी समाजों में मद्यपान को बुरा नहीं माना जाता।

मजदूरों में १५ प्रतिशत शराबी : मद्यपान कितना व्यापक है, इसकी हमारे यहाँ विस्तृत जाँच नहीं की गयी। १९५८-५९ में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने जो सामान्य जाँच की थी, उससे पता चलता है कि देश में औसतन १५ प्रतिशत मजदूर शराब पीते हैं। यह सर्वेक्षण २१,१९७ परिवारों की स्थिति के संबंध में किया गया था। इनमें २५०३ परिवार अर्थात् ११'८२ प्रतिशत परिवार मद्यपान करते पाये गये। राज्यों के अनुसार विश्लेपण इस प्रकार था[२]—

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० १८९

२. वर्किंग क्लास फेमिली लिविंग सर्वे, १९५८-५९, लेबर ब्यूरो, शिमला।

		मद्यपी परिवार	कुल परिवार	प्रतिशत
मद्यनिषेध वाले राज्य	गुजरात	१	९६२	०·१०
	मद्रास	६	२२७६	०·२६
	महाराष्ट्र	१०५	१९८९	५·२८
		११२	५२२७	२·१४
अन्य राज्य	आंध्र	१४८	९५२	१५·५५
	असम	२८१	१६६४	१६·८९
	बिहार	४२१	२१३२	१५.७५
	जम्मू-कश्मीर	७१	४७३	१५·००
	केरल	१०९	८३९	१२·९९
	मध्यप्रदेश	२१४	१३१२	१६·३१
	मैसूर	१३८	११३४	१२·१७
	उड़ीसा	८५	४७१	१८·०५
	पंजाब	१२०	८०१	१५·००
	राजस्थान	१४३	५९८	२३·९१
	उत्तर प्रदेश	१९७	१३१६	१५·००
	प० बंगाल	४३६	४०७५	१०.७०
	दिल्ली	२८	२०३	१३·७९
		२३९१	१५९७०	१४·९७

	मद्यपी परिवार	परिवार	प्रतिशत
कारखाने वाले केंद्र	१४०७ मद्यपी परिवार	१५३१२ परिवार	९·५० प्रतिशत
चायबागान केंद्र	५०३ ,, ,,	३५७८ ,,	१४·०६ ,,
खानों वाले केंद्र	५३० ,, ,,	२३०७ ,,	२२·९७ ,,
कुल योग	२५०३ मद्यपी परिवार	२११९७ परिवार	११·८१ प्रतिशत

मजदूरों का जैसा हाल है, पढ़े-लिखे सभ्य और शिक्षित, कुलीन और संपन्न परिवारों का भी वैसा ही हाल है। 'को वड़ छोट कहत अपराधू'।

मद्यपान का क्षेत्र जितना व्यापक है, मादक पदार्थों का क्षेत्र उसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। अफीम, कोकेन, भांग, चरस, गांजा आदि के

मादक पदार्थों का क्षेत्र व्यसनियों की संख्या अत्यधिक है। चाय, काफी, कोको, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि ने तो आज शिष्टाचार का रूप धारण कर लिया है। इन व्यसनों से मुक्त व्यक्ति ऊँगलियों पर गिने जा सकते हैं। सारे संसार में इनका व्यापक प्रसार है। करोड़ों व्यक्तियों के जीवन में इन पदार्थों ने दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के रूप में अपना स्थान बना लिया है, भले ही इनसे कैंसर जैसे भयंकर रोग क्यों न होते हों और करोड़ों रुपयों के नाश के साथ-साथ शरीर भी नाना प्रकार के मारक विषों से क्यों न आक्रांत होता हो।

मद्यपान और मादक पदार्थों का प्रभाव भयंकर होता है। शारीरिक,

नशाखोरी का प्रभाव मानसिक, आर्थिक हानि तो होती ही है, चारित्रिक हानि का तो पार नहीं रहता। इससे वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक विघटन होता है। नाना प्रकार के अपराधों की वृद्धि तो सामान्य बात है।

मादक पदार्थों के विष : शराब, ताड़ी आदि मादक पेयों में रहनेवाले अलकोहल में विष की भयंकर मात्रा रहती है। अन्य मादक पदार्थों में भी पर्याप्त मात्रा में विष रहता है।

अफीम का विष : अफीम शरीर को सुन्न कर देती है। जब कोई रोगी दर्द और पीड़ा से बुरी तरह छटपटाता है, नींद नहीं आती तो डाक्टर उसे मर्फिया की सूई देकर सुला देते हैं। यह मर्फिया अफीम ही है। अफीम में मर्फिया के अतिरिक्त ये विष भी रहते हैं—मैकोनिक एसिड, कोडाइया, थिवाइया अथवा पैरे मर्फिया और नार्कोटिन।

बच्चों को सुलाये रखने के लिए उन्हें अफीम की घुटी पिलाने की पुरानी प्रथा रही है। अफीम की मात्रा में यदि रत्ती भर भी अधिकता हुई तो वह सहज ही सदा के लिए सुला देती है। नेशनल क्रिश्चियन कौंसिल, कलकत्ता के श्री पैटन ने प्रसिद्ध डाक्टरों से प्राप्त जानकारी के आधार पर लिखी अपनी पुस्तक 'ओपियम इन इंडिया' में बताया है कि अफीमची लोगों को ये रोग हो जाते हैं—कब्ज, रक्ताल्पता, मंदाग्नि, हृदय, फेफड़े और गुर्दे के रोग, स्नायविक दुर्बलता, स्फूर्ति का अभाव, आलस्य, निद्रालुता, मतिभ्रम, कुंठा, कार्यक्षमता में ह्रास, नैतिक अविश्वास और मृत्यु।

तंबाकू का विष : सिगरेट के डिब्बों पर 'कैंसर' की आशंका तो अब लिखी जाने लगी है, पर तंबाकू के विषों की शोध तो बहुत पहले की जा चुकी है। उसमें रहनेवाला निकोटाइन विष विश्व के घातकतम विषों में

अपना स्थान रखता है। प्रूसिक एसिड को छोड़कर अन्य कोई विष निकोटाइन से बढ़कर नहीं है। तंबाकू में २ से ८ प्रतिशत तक निकोटाइन रहता है। डाक्टर केलाग ('दि होम बुक ऑफ माडर्न मैडिसिन' में) कहता है कि एक पौंड (आधा सेर) तंबाकू में ३८० ग्रेन निकोटाइन रहता है। यह विष इतना भयंकर होता है कि एक ग्रेन के दशमांश से ३ मिनट के भीतर कुत्ते की मृत्यु हो सकती है। एक मनुष्य इस विष द्वारा ३० सेकेंड के भीतर मर गया। एक पौंड तंबाकू में जितना विष रहता है वह ३०० व्यक्तियों की मृत्यु के लिए पर्याप्त है। एक सामान्य सिगरेट में रहनेवाली तंबाकू दो व्यक्तियों के प्राण ले सकती है। भयंकर विषधर पर निकोटाइन की बूंद डाल दी जाय तो वह इस प्रकार पल भर में समाप्त हो जायगा मानों उसपर बिजली गिरी हो। धुएँ के द्वारा तंबाकू का विष फेफड़े तक जा पहुँचता है और रक्त के सजीव अणुओं को मूच्छित कर देता है। डाक्टर फुट ('होम साइक्लोपीडिया' में) निकोटाइन की भयंकरता का इसी प्रकार समर्थन करता है।

निकोटाइन के अतिरिक्त निम्नलिखित विष भी तंबाकू में रहते हैं— पाइरीडीन पिकोलीन, सल्फोरेटेड हाइड्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बोनिस आक्साइड और प्रूसिक एसिड।

इन विषों के कारण क्षय, हृद्रोग, उदर रोग, चक्कर, नेत्ररोग, नपुंसकता, मानसिक निर्बलता, उन्माद, पागलपन, चरित्रहीनता आदि रोग बढ़ते-पनपते हैं। तंबाकू के प्रभाव से कोई भी अपराध करना कितना सहज हो जाता है, इसका उल्लेख करते हुए गाँधीजी ने लिखा है कि 'तंबाकू के नशे में मनुष्य की विवेक बुद्धि मंद पड़ जाती है। तोलसतोय अपने एक पात्र द्वारा एक भयंकर कार्य करवाते हैं। पहले उसे शराब पिलाते हैं। पात्र को करना था एक खून। शराब के नशे में भी उसे खून करने में संकोच होता है। विचार करते-करते वह सिगार जलाता है और धुएँ को ऊपर चढ़ते देख बोल उठता है— 'मैं कैसा डरपोक हूँ। खून करना कर्तव्य है तो फिर संकोच कैसा? चल उठ, अपना काम कर।''[1]

भांग, गांजा, चरस का विष : तंबाकू की भांति भांग का पौधा पूरा विषैला होता है। इसी से भांग, गांजा और चरस—तीन चीजें तैयार होती है। इसकी जड़ में विष माना गया है। इसके विष से मादकता तो आती ही है, चित्त की स्थिरता भी जाती रहती है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर मनुष्य

१ मो० क० गांधी : आरोग्य की कुंजी, पृ० ३३-३४

पागल तक हो जाता है। भारत में भंग छानने की जो कुप्रथा चालू है, वह बढ़ती ही चलती है। साधु और संत नामधारी लोग गांजा और चरस की दम खूब लगाते हैं और कहते हैं कि इससे चित्त एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता यदि इतनी सहज होती तब तो कहना ही क्या था !

कोकेन का विष : कोका नामक पौधे में रहनेवाला 'कोकीन' विष अत्यंत भयंकर होता है। थीन, केफीन, गारेनीन, थ्योब्रोमीन जैसे विष की भांति यह भी होता है। इस विष का प्रयोग कामोत्तेजन के लिए विशेष रूप से किया जाता है। डाक्टर वेनेट का कहना है कि यह विष अंतड़ियों और श्वास-प्रणाली, ग्रंथि प्रणाली और रक्तवाही प्रणाली पर घातक प्रभाव डालता है। कोका पौधे की पत्तियाँ अत्यंत उत्तेजक होती हैं, उनको चबाने से मनुष्य की नींद उड़ जाती है।[1]

चाय, काफी का विष : चाय में यूरिक एसिड जैसा 'थीन' नामक विष की मात्रा ३ से ६ प्रतिशत रहता है और 'टैनीज' नामक विष की मात्रा २६ प्रतिशत तक होती है। काफी में 'कैफीन' नामक विष रहता है जो थीन से मिलता है। उसमें टेनीन भी रहता है। विषों की दृष्टि से काफी में अपेक्षाकृत कम मात्रा में ये दोनों विष रहते हैं। अधिक मात्रा में चाय पीने से मितली, बेहोशी आती है और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। डाक्टर एडवर्ड स्मिथ २ औंस काफी पीकर बेहोश होकर गिर पडे थे। रिचर्डसन, मार्टन, गाजू, केलाग आदि अनेक डाक्टरों का मत है कि चाय और काफी से जीवनीशक्ति का ह्रास होता है, पाचन शक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है तथा शरीर क्षय, दंत रोग, सिरदर्द आदि कितने ही रोग होते हैं। अनिद्रा तो आती है, मानव का स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो उठता है।[2] चाय, काफी के अभ्यस्त व्यक्तियों को समय से उसका प्याला न मिले तो उनकी छटपटाहट और बेकली देखते ही बनती है। मादकता का यह स्पष्ट लक्षण है।

गांधीजी का मत है कि चाय में रहनेवाली टेनीन चमड़ी को कठोर बनाती है। आमाशय में पहुँच कर वह पाचन शक्ति को प्रभावित करती है जिससे अपच उत्पन्न होती है।[3]

---

१. वैजनाथ महोदय : भारत में व्यसन और व्यभिचार, १९३३ पृ० २३२
२. वही, पृ० २०३-२१४
३. मो० क० गाँधी : आरोग्य की कुंजी, पृ० २४-२५

मद्य का शरीर पर प्रभाव : मद्य आदि मादक पदार्थों के संबंध में यह भ्रामक धारणा फैला रखी गयी है कि उससे फुर्ती आती है और उसके कारण कार्य में गति आती है। परंतु बात ऐसी नहीं है। यूरोप और अमरीका के डाक्टरों ने यह बात भली प्रकार प्रमाणित कर दी है कि ये सारी बातें धोखे की टट्टी हैं। नशे की खुमारी इंद्रियों को थोड़ी देर के लिए सुन्न कर देती है। उससे ताजगी और स्फूर्ति केवल नाम के लिए मिलती है। थोड़ी देर बाद ही शैथिल्य और उदासी आकर घेर लेती है।

सन् १८८३ में यूरोप में अंतरराष्ट्रीय फिजियालाजिकल कांग्रेस में फार्माकोलॉजी के स्ट्रेसबर्ग के प्रोफेसर ओटो श्मीदबर्ग ने तीव्र शब्दों में स्फूर्ति की भ्रामक धारणा का खंडन करते हुए कहा था कि शराब में रहनेवाला अलकोहल, क्लोरोफार्म और ईथर की भांति एक उदासी लानेवाला नर्कोटाइन से भरा प्रोटोप्लाजमा वाला विष है जो शरीर के अणु को प्रभावित करता है।[1]

अमरीका के हार्वर्ड, येल और कोलम्बिया विश्वविद्यालयों और राकफेलर संस्थान के चिकित्साशोध के प्रमुख डाक्टरों ने 'अलकोहल एण्ड मैन' पुस्तक में विस्तार से बताया है कि अलकोहल से चिकित्सा संबंधी लाभ की बात सर्वथा नगण्य है। डाक्टर आर्थर डीन बेवन, हेवन एमरसन, हावर्ड केले, चार्ल्स एच० मेयो आदि का भी यही मत है। इनका कहना है कि संसार में ऐसा कोई रोग नहीं जो अलकोहल से अच्छा हो सके। अलकोहल पक्षाघात की भांति शरीर के अंगों को बेकाम अवश्य बना देता है और अनेक रोगों को जन्म देता है।

स्विट्जरलैंड, बर्न के प्रोफेसर क्रोनेकर के अनुसार अलकोहल के २ प्रतिशत मिश्रण से किसी भी मेढक का हृदय सुन्न किया जा सकता है। शराब से अंग सुन्न पड़ जाते हैं और उनमें शिथिलता आ जाती है। अलकोहल पागलपन और नस-नाड़ियों की अशक्तता लाता है। पाचन क्रिया बिगाड़ता है। फुस-फुस, हृदय, पाचनयंत्र पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

डाक्टर अर्नेस्ट एल० बाइंडर का विश्वास है कि अधिक मात्रा में मद्यपान और धूम्रपान से गले का कैंसर पनपता है। उनके सर्वेक्षण से पता चलता है कि जो लोग प्रतिदिन १६ सिगरेटों से अधिक सिगरेटें पीते हैं और ६ औंस से अधिक ह्विस्की पीते हैं, उनमें शराब न पीकर उतनी ही सिगरेटें

---

१. हेवन एमरसन : अफेक्ट्स ऑफ अलकोहल ओन मैन, पृ० ४२

पीनेवालों की अपेक्षा गले का कैंसर होने की ७ गुनी से अधिक आशंका है।[1]

कुछ लोग कहते हैं कि थोड़ी शराब पीने का शरीर पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी बात नहीं है। डाक्टर इवी का कहना है कि कम मात्रा में अथवा यदा-कदा पीलेनेवालों पर भी अलकोहल का वैसा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अमरीका के ५ करोड़ ८० लाख जब-तब पीनेवाले और आदतन पीनेवाले अलकोहल के कुप्रभाव से सर्वाधिक पीड़ित रहते हैं।

सन् १९१७ में अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन ने अलकोहल की अनुपयोगिता बताते हुए पेय के रूप में मद्य का तीव्र विरोध किया और कहा कि चिकित्सा के लिए उसके उपयोग को हतोत्साहित करना चाहिए।

सी० वी० रमण ने मैसूर विश्वविद्यालय के एक दीक्षांत समारोह में कहा कि हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि मानव समाज को जिन भयंकरतम विषों का ज्ञान है, उनमें प्रमुख दो हैं—'अलकोहल और निकोटाइन।' ब्रिटेन के प्रसिद्ध डाक्टर सर विक्टर होर्सले ने कहा था कि अलकोहल के विष से तीव्र सनकीपन, मूर्च्छा, पागलपन, मिरगी, नाड़ी की सूजन, पक्षाघात आदि रोग होते हैं।

अलकोहल से मुख्य रूप से ये रोग बढ़ते हैं—फेरिनजाइटिस, गैस, लिवर की धड़कन, एल्बू मिनूरिया, ब्राइट का रोग, गठिया चर्म प्रदाह, अपच, श्वासकष्ट, आंख के रोग, अपस्मार, हृदय रोग, रक्तविषाक्तता, हैजा, उपदंश, क्षय, डिपथीरिया आदि।[2]

जॉन हार्पकिंस विश्वविद्यालय के प्रोफेसर विलियम एच० वेल्क ने बेलेव्यू अस्पताल में कुछ शराबियों के रोगों का परीक्षण करके ये निष्कर्ष निकाले थे—

स्त्री-पुरुष	हृद्‌रोग	जिगर का रोग	जिगर में चरबी	उदर रोग
९० पुरुषों में प्रतिशत	९०	४८	८०	५०
३५ स्त्रियों में ,,	९०	३४	७४	५०

क्षय और निमोनिया का शराबियों पर बड़ा मारक प्रभाव पड़ता है। डाक्टर आसलर की खोज के अनुसार निमोनिया होने पर निर्व्यसनी लोग जहाँ १८ प्रतिशत मरते हैं, वहाँ नियमित शराबी २५ प्रतिशत मरते हैं और अंधाधुंध शराबी ५२ प्रतिशत मरते हैं।

१. लिसिन, खण्ड २६, अंक २, मार्च-अप्रैल १९६३, पृ० ३४।
२. चक्रवर्ती, राजगोपालाचारी : प्राहिबिशन, पृ० १४, १५।

अमेरिका के पागलखानों की शोध से ज्ञात होता है कि २० से ३० प्रतिशत पागलों के पागलपन का कारण शराव होती है। वहाँ पर सन् १९०१ से १९१० तक ६२,६६० व्यक्तियों ने आत्महत्या की, उनमें से १४, ४११ व्यक्तियों की आत्महत्या का कारण शराब थी। शराव के चलते असंख्य बच्चे मिरगी, मनोदौर्बल्य, क्षय और पागलपन के शिकार बनते हैं।[१]

इलियानास विश्वविद्यालय के डाक्टर इवी का कहना है कि अधिक पी लेने के कारण अमरीका में अलकोहल से प्रतिवर्ष २५०० से ३००० व्यक्ति और कभी-कभी ५००० व्यक्ति मृत्यु के घाट उतरते हैं। रक्त में अलकोहल का विष ज्यों-ज्यों अधिक गहरा होता चलता है, त्यों-त्यों मनुष्य अधिकाधिक संज्ञाशून्य होता चलता है। उसका क्रम ऐसा बताया गया है—

·०१ प्रतिशत ·०५ प्रतिशत अलकोहल होने पर—खुमारी

·१ प्रतिशत होने पर नशा रंग दिखाने लगता है।

·२ प्रतिशत होने पर नशे का गहरा रंग आ जाता है।

·३ प्रतिशत होने पर नशे का गहरापन और बढ़ जाता है।

·४ प्रतिशत होने पर शराबी एकदम पस्त होकर गिर जाता है।

·५ प्रतिशत से ·८ प्रतिशत में मृत्यु हो जाती है।[२]

अलकोहल की प्रतिक्रिया रक्त में भी दिखाई पड़ती है, मूत्र, थूक और श्वास में भी। ड्रंकोमीटर, अल्कोमीटर, अल्कोहोलो मीटर, ब्रेथलाइजर आदि यंत्रों द्वारा इसकी माप की जाती है।

मद्य का मन पर प्रभाव : मदिरा की हलकी मात्रा से मनुष्य को उल्लास की-सी अनुभूति होती है। उसके हृदय की गति में, नाड़ी और श्वास की गति में वेग आ जाता है। पर यह उल्लास बहुत थोड़ी देर ठहरता है, फिर वही अवसाद, सुस्ती और शिथिलता घेर लेती हैं। एकाध पैग की मात्रा बढ़ाने पर मानसिक संतुलन जाता रहता है। सोचने-विचारने की क्रियाएँ शिथिल होने लगती हैं। एक ओर उसकी टाँगें और जबान लड़खड़ाने लगती हैं, दूसरी ओर उसकी बुद्धि लड़खड़ाने लगती है। उसका होश हवास-जाता रहता है। स्मृति का दिवाला निकल जाता है। यहाँ तक स्मरण नहीं रहता कि भोजन किया भी या नहीं। स्त्रियों को विशेषतः कार्साकोफ मनोविकृति आ जाती

१. वैजनाथ महोदय : व्यसन और व्यभिचार, पृ० ४१-४८।
२. ... आॅफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० ११०।

हैं। चिंता, ऐंठन, अनिद्रा, ज्ञानेन्द्रियों की शिथिलता और उन्माद की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संदेह, पलायन की वृत्ति पैदा होती है। शराबी को लगता है कि लोग उसे मारने दौड़े आ रहे हैं। वह चिल्लाने लगता है—मुझे बचाओ ! मुझे बचाओ !

मानसिक शक्तियों के क्षीण होने पर मनुष्य का मानसिक संतुलन जाता रहता है। वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है, मार-पीट तथा ऐसे निंद्य कर्म करने लगता है जिन्हें वह होश की स्थिति में कभी न करता। सर आर० एन० चोपड़ा और डाक्टर जी० एस० और आई० सी० चोपड़ा ने रांची, लाहौर, मद्रास, नागपुर और यरवदा के मानसिक अस्पतालों का निरीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला कि अस्पतालों में ९७५ व्यक्ति मद्यपान के कारण पागल हुए। उसके चलते ये रोग उत्पन्न होते हैं—

मानसिक शक्ति का ह्रास, उत्तरोत्तर स्मृति नाश, यौन उत्तेजना, नपुंसकता, मैनिया, चित्त विभ्रम, संदेह, पैरेनोइया, कार्साकोफ मनोविकृति आदि।[1]

अर्थनाश : मद्य और मादक पदार्थों पर पैसे के नाश का कोई पार नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने मजदूरों के बजटों का जो अध्ययन किया उससे पता चलता है कि मजदूर लोग ५ से १२ प्रतिशत खर्च मादक पदार्थों पर करते हैं और कहीं-कहीं तो २५ प्रतिशत तक उसपर खर्च कर डालते हैं।[2]

टैक चंद मद्य निषेध अध्ययन दल ने मद्य पर होने वाले अर्थनाश के जो आंकड़े प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं[3]—

मद्य निषेध वाले क्षेत्र में	अवैध शराब पर	४३ करोड़ रु०
गैर-मद्य निषेध वाले क्षेत्र में	वैध शराब पर	९४ करोड़ रु०
,, ,, ,,	अवैध शराब पर	९ करोड़ रु०
		१४६ करोड़ रु०

उक्त अध्ययन दल के अध्ययन काल में मद्य निषेध वाले क्षेत्र में १६ करोड़ ६० लाख व्यक्ति निवास करते थे और मुक्त क्षेत्र में २६ करोड़ ६६ लाख। भारत की तत्कालीन जनसंख्या ४३ करोड़ २६ लाख कूती गयी थी। अब तो १२ करोड़ और बढ़ गयी है और उस समय के निषिद्ध क्षेत्र में निश्चय बहुत

१. इंडियन मेडिकल गजट, खंड ७७, पृ० ३५६-३६७, लेख 'अल्कोहॉलिक बीवरेजेज इन इंडिया'।
२. रिपोर्ट आफ दि स्टडीज टीम ओन प्राहिबिशन, खंड २, पृ० ५५३-५५५।
३. वही रिपोर्ट, खंड १, पृ० २३९-२५१।

अमेरिका के पागलखानों की शोध से ज्ञात होता है कि २० से ३० प्रतिशत पागलों के पागलपन का कारण शराब होती है। वहाँ पर सन् १९०१ से १९१० तक ६२,६६० व्यक्तियों ने आत्महत्या की, उनमें से १४,४११ व्यक्तियों की आत्महत्या का कारण शराब थी। शराब के चलते असंख्य बच्चे मिरगी, मनोदौर्बल्य, क्षय और पागलपन के शिकार बनते हैं।[१]

इलियानास विश्वविद्यालय के डाक्टर इवी का कहना है कि अधिक पी लेने के कारण अमरीका में अलकोहल से प्रतिवर्ष २५०० से ३००० व्यक्ति और कभी-कभी ५००० व्यक्ति मृत्यु के घाट उतरते हैं। रक्त में अलकोहल का विष ज्यों-ज्यों अधिक गहरा होता चलता है, त्यों-त्यों मनुष्य अधिकाधिक संज्ञाशून्य होता चलता है। उसका क्रम ऐसा बताया गया है—

·०१ प्रतिशत ·०५ प्रतिशत अलकोहल होने पर—खुमारी

·१ प्रतिशत होने पर नशा रंग दिखाने लगता है।

·२ प्रतिशत होने पर नशे का गहरा रंग आ जाता है।

·३ प्रतिशत होने पर नशे का गहरापन और बढ़ जाता है।

·४ प्रतिशत होने पर शराबी एकदम पस्त होकर गिर जाता है।

·५ प्रतिशत से ·८ प्रतिशत में मृत्यु हो जाती है।[२]

अलकोहल की प्रतिक्रिया रक्त में भी दिखाई पड़ती है, मूत्र, थूक और श्वास में भी। ड्रंकोमीटर, अल्कोमीटर, अल्कोहोलो मीटर, ब्रेथलाइजर आदि यंत्रों द्वारा इसकी माप की जाती है।

मद्य का मन पर प्रभाव : मदिरा की हलकी मात्रा से मनुष्य को उल्लास की-सी अनुभूति होती है। उसके हृदय की गति में, नाड़ी और श्वास की गति में वेग आ जाता है। पर यह उल्लास बहुत थोड़ी देर ठहरता है, फिर वही अवसाद, सुस्ती और शिथिलता घेर लेती है। एकाध पैग की मात्रा बढ़ाने पर मानसिक संतुलन जाता रहता है। सोचने-विचारने की क्रियाएँ शिथिल होने लगती हैं। एक ओर उसकी टाँगें और जबान लड़खड़ाने लगती हैं, दूसरी ओर उसकी बुद्धि लड़खड़ाने लगती है। उसका होश हवास-जाता रहता है। स्मृति का दिवाला निकल जाता है। यहाँ तक स्मरण नहीं रहता कि भोजन किया भी या नहीं। स्त्रियों को विशेषतः कार्साकोफ मनोविकृति आ जाती

---

१. वैजनाथ महोदय। व्यसन और व्यभिचार, पृ० ४१-४८।

२. रिपोर्ट ऑफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० ११०।

हैं। चिंता, ऐंठन, अनिद्रा, ज्ञानेन्द्रियों की शिथिलता और उन्माद की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संदेह, पलायन की वृत्ति पैदा होती है। शराबी को लगता है कि लोग उसे मारने दौड़े आ रहे हैं। वह चिल्लाने लगता है—मुझे बचाओ! मुझे बचाओ!

मानसिक शक्तियों के क्षीण होने पर मनुष्य का मानसिक संतुलन जाता रहता है। वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है, मार-पीट तथा ऐसे निंद्य कर्म करने लगता है जिन्हें वह होश की स्थिति में कभी न करता। सर आर० एन० चोपड़ा और डाक्टर जी० एस० और आई० सी० चोपड़ा ने रांची, लाहौर, मद्रास, नागपुर और यरवदा के मानसिक अस्पतालों का निरीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला कि अस्पतालों में ९७५ व्यक्ति मद्यपान के कारण पागल हुए। उसके चलते ये रोग उत्पन्न होते हैं—

मानसिक शक्ति का ह्रास, उत्तरोत्तर स्मृति नाश, यौन उत्तेजना, नपुंसकता, मैनिया, चित्त विभ्रम, संदेह, पैरेनोइया, कार्साकोफ मनोविकृति आदि।[1]

अर्थनाश : मद्य और मादक पदार्थों पर पैसे के नाश का कोई पार नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने मजदूरों के बजटों का जो अध्ययन किया उससे पता चलता है कि मजदूर लोग ५ से १२ प्रतिशत खर्च मादक पदार्थों पर करते हैं और कहीं-कहीं तो २५ प्रतिशत तक उसपर खर्च कर डालते हैं।[2]

टैक चंद मद्य निषेध अध्ययन दल ने मद्य पर होने वाले अर्थनाश के जो आंकड़े प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं[3]—

मद्य निषेध वाले क्षेत्र में	अवैध शराब पर	४३ करोड़ रु०
गैर-मद्य निषेध वाले क्षेत्र में	वैध शराब पर	९४ करोड़ रु०
,, ,, ,,	अवैध शराब पर	९ करोड़ रु०
		१४६ करोड़ रु०

उक्त अध्ययन दल के अध्ययन काल में मद्य निषेध वाले क्षेत्र में १६ करोड़ ६० लाख व्यक्ति निवास करते थे और मुक्त क्षेत्र में २६ करोड़ ६६ लाख। भारत की तत्कालीन जनसंख्या ४३ करोड़ २६ लाख कूती गयी थी। अब तो १२ करोड़ और बढ़ गयी है और उस समय के निषिद्ध क्षेत्र में नियंत्रण बहुत

१. इंडियन मेडिकल गजट, खंड ७७, पृ० ३६५-३६७, लेख 'एलकोहोलिक बीवरेजेज इन इंडिया'।

२. रिपोर्ट आफ दि स्टडीज टीम ओन प्राहिबिशन, खंड २, पृ० ५५३-५५५।

३. वही रिपोर्ट, खंड १, पृ० २३९-२५१।

ढीला कर दिया गया है, कहीं-कहीं पर तो निषेध सर्वथा उड़ा दिया गया है। इस स्थिति में यदि यह माना जाय कि २ अरब रुपये शराब पर लुटाये जाते हैं, तो गलत न होगा। इस व्यसन पर जब भारत में २ अरब रुपये बर्बाद किये जाते हैं तो विश्व में कुल कितने रुपये उस पर व्यय किये जाते हैं, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने (प्राहिबिशन में) लिखा था कि शराबी व्यक्ति परिवार की आधी से अधिक आय शराब पर लुटा देता है, उसके बाद उसके पास इतने भी पैसे नहीं बचते कि जिससे परिवार का ठीक ढंग से वह पालन-पोषण तो कर सके। शराब का यह आर्थिक प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है। इसके चलते आर्थिक संकट तो आता ही है, अर्थव्यवस्था भी गड़बड़ा जाती है। आवश्यक और उपयोगी कार्य हो नहीं पाते।

आबकारी कर : भारत में अंग्रेजी राज्य ने जो अनेक प्राणघातक कार्य किये, उनमें आबकारी कर भी एक है। गाँधी जी उसे 'पाप की कमाई' कहते थे। अंग्रेजी शासन काल में एल, बीयर, पोर्टर, ब्रांडी, जिन, लिकर्स, रम, ह्विस्की आदि विदेशी शराबों की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। आयात के ये आँकड़े उसका प्रमाण हैं—

सन् १८७५-७६	विदेशी मद्य का आयात	७,०१,१७७ गैलन
१९०४-०५	,, ,,	१२,९७,६११ ,,
१९२३-२४	,, ,,	३९,३४,२४३ ,,
१९२७-२८	,, ,,	५६,८१,४२६ ,,

हर्बर्ट ऐंडरसन ने 'फॉरेन लिकर्स इन इंडिया' में लिखा था कि 'भारत में विदेशी शराबों की बिक्री बेहद बढ़ती जा रही है। इस बुराई के लिए भारत सरकार उत्तरदायी है।' परंतु सरकार तो आबकारी आय की वृद्धि दिखा कर अपनी सफाई दे देती थी। ये आँकड़े उत्तरोत्तर बढ़ते गये—

सन् १९२६-२७	आबकारी आय	३,५२,८६,००० रुपये
१९२७-२८		३,६६,९९,००० रुपये
१९२९-३०		३,७६,६२,००० रुपये

अंग्रेजी सरकार की इस अशोभनीय विरासत को भारत की स्वतंत्र सरकार दृढ़ता से पकड़े हुए है। मद्य निषेध के लिए वचनबद्ध होते हुए भी वह इस पाप की कमाई का मोह त्यागने के लिए प्रस्तुत नहीं। कुछ प्रांतों में

मद्यनिषेध लागू करने के पूर्व महाराष्ट्र, गुजरात में ८॥ करोड़ और मद्रास-आंध्र में १५ करोड़ ८० लाख आबकारी आय थी तथा अन्य राज्यों में ६१ करोड़ ४ लाख रुपये। अफीम तथा अन्य मादक पदार्थों की आय इससे अतिरिक्त है। आबकारी कर, मादक पदार्थों के निर्माण का मूल्य वितरण व्यय, ठेकेदारी की रकम और मुनाफा वसूल तो उन्हीं लोगों से किया जाता है जो इन पदार्थों का व्यसन करते हैं।

इन मादक पदार्थों पर कितने करोड़ रुपये नष्ट होते हैं, इसका पूरा अनुमान भी कठिन है। आज से ४० साल पहले तम्बाकू पर ५० करोड़ रुपये खर्च होते थे, आज ५०० करोड़। अमरीका में आज से २० साल पहले यह अनुमान किया गया था[1] कि प्रत्येक व्यक्ति पर ३० डालर, लगभग २५० रु० खर्च आता था और सिगार पर ५४६ डालर, लगभग ४३७० रु०। अन्य देशो का भी ऐसा ही बुरा हाल है। करोड़ों रुपये इन सब व्यसनों पर नष्ट होते हैं और व्यक्ति की, राष्ट्र की और सारे संसार की स्थिति को दयनीय बनाते चलते हैं।

मद्य का नीति और चरित्र पर कुप्रभाव : सदाचार, नीति, संयम और धर्म के सभी नियम नशे की खुमारी में ताक पर उठाकर रख दिये जाते हैं। शराबी और व्यसनी के लिए माँ माँ नहीं रहती, बहन बहन नहीं और बेटी बेटी नहीं रहती। वह घृणित-से-घृणित अपराध करते नहीं शर्माता।

सर्वेक्षणों से पता चलता है कि मद्यपान से अपराधों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होने लगती है। अमरीका हो या इंगलैंड, युरोप हो या भारत सर्वत्र एक-सा ही प्रमाण प्राप्त होता है। चोपड़ात्रय ने पंजाब में जो अनुसंधान किये उनसे भी ये ही परिणाम निकलते हैं। उन्हें ५० अपराधी ऐसे मिले जिन्होंने अत्यधिक मद्यपान की स्थिति में बलात्कार और अन्य यौन अपराध किये। हत्या के १५० अपराधियों में १२·५ प्रतिशत अपराधी मद्यपी पाये गये। हिंसक अपराधों, चोरी-डकैती, व्यभिचार, अमानत में खयानत आदि के अपराधों में शराब का बड़ा हाथ पाया गया।[2]

---

१. हर्बर्ट ब्रीन : हाउ टु स्टाप स्मोकिंग, १९५४, पृ० १६-१७।

२. चोपड़ा आर० एन०; जी० एस० और आई० सी० : लेख 'एलकोहोलिक बीवरेजेज इन इंडिया'—दि इंडियन मेडिकल गजट, खंड ७७, पृ०३६७।

इंग्लैंड का एक प्रधान न्यायाधीश लिखता है कि 'शराब न होती तो १० में ९ व्यक्ति जेल में बंद न होते ।' दूसरा न्यायाधीश कहता है कि 'हमारे देश में ९० प्रतिशत अपराध मदिरालयों की देन हैं ।' होम सेक्रेटरी लार्ड रिशी का कहना था कि '८० प्रतिशत अपराध अलकोहल के कारण होते हैं ।'[१]

विलियम हीली ने १००० बालापराधियों की जाँच करके लिखा है कि ५६ प्रतिशत बाल अपराधियों के परिवारों में मद्यपान चलता था ।[२]

मद्य से विघटन : मद्यपान और मादक पदार्थों से वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक विघटन होता है । नशे की लत से स्वास्थ्य भी चौपट होता है, अर्थनाश भी होता है, चरित्रबल भी गिरता है । ऐसी स्थिति में घर परिवार, भीतर-बाहर सर्वत्र पतन का मार्ग प्रशस्त होता है । बेकन कहता है कि नशासेवन से मनुष्य की बातचीत और उसका व्यवहार, दोनों पर ही दूषित प्रभाव पड़ता है ।[३] शराब की झोंक में शारीरिक और मानसिक संतुलन जाता रहता है । बसों, मोटरों, ट्रकों आदि के ड्राइवर शराब के नशे में अंधाधुंध दुर्घटनाएँ कर बैठते हैं । अमरीका में प्रति १८ मिनट पर एक व्यक्ति के दुर्घटनाग्रस्त होने का रेकार्ड है । सन् १९५२ में शराब के नशे में ड्राइवरों ने १० हजार व्यक्ति को मौत के घाट उतार दिये और ३४ हजार व्यक्तियों को कुचल डाला ।[४] ब्रिटेन में सन् १९५८ में इस प्रकार हताहत होनेवाले व्यक्तियों की संख्या ३ लाख थी ।[५]

शराब के नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आर्थिक प्रभावों के कारण व्यक्ति, परिवार और समाज का विघटन भारी मात्रा में होता है । गृहकलह, मारपीट, तलाक, परित्याग, अपराध, रोग, बीमारी आदि असंख्य उत्पात मादक पदार्थों से संबद्ध हैं । इससे व्यक्ति से लेकर परिवार तक तथा व्यापक रूप से सारे समाज के सदस्य प्रभावित होते हैं । सर्वनाश और पतन का मार्ग प्रशस्त होता है । दुःख,हाहाकार और क्लेश का वातावरण बनता है । पहले मनुष्य शराब पीता है और फिर शराब ही मनुष्य को पी जाती है । अन्य मादक पदार्थों का भी उसी से मिलता-जुलता प्रभाव पड़ता है ।

---

१. चक्रवर्ती राजगोपालाचारी : प्राहिबिशन, पृ० २४
२. विलियम हीली : दि इनडिविजुएल डेलिनक्वेंट, १९२७, पृ० २६४
३. बेकन : अलकोहोलिज्म; नेचर आफ दि प्राब्लेम, पृ० ५
४. एलर्ट,—पत्रिका अक्तूबर-दिसंबर, १९५७, पृ० १५
५. लिसिन पत्रिका जुलाई-अगस्त १९६०, पृ० १

मद्यपान और मादक पदार्थों के सेवन से व्यक्ति, परिवार और समाज की जो हानियाँ होती हैं, उन्हें रोकने का एक ही उपाय है और वह है—नशा-निषेध। नशा निषेध के लाभ किसी से छिपे नहीं हैं।

नशानिषेध के लाभ

उससे मानव का स्वास्थ्य सुधरता है। आर्थिक क्षति रुककर उस बचे हुए धन से जीवन की सुख-सुविधाएँ बढ़ती हैं। मानसिक स्वास्थ्य सुधरता है। चरित्र उन्नत होता है। अपराधों की संख्या घटती है और व्यक्ति के साथ परिवार के सुख-सौभाग्य में वृद्धि होती है। गरीबों और मजदूरों के लिए, सामान्य और मध्यम श्रेणी के परिवारों के लिए नशानिषेध उत्तम वरदान है।

नशे के परिणाम और कुप्रभावों से दुःखित होकर समाज सेवक शताब्दियों से इसके निषेध का प्रयत्न करते आ रहे हैं। विभिन्न धर्मों में तो नशे का निषेध है ही, समाज को प्रभावित करनेवाले साधु,

नशा निषेध का इतिहास

संत, समाज सेवक और विचारक उसके लिए सतत उपदेश देते आ रहे हैं। परंतु धार्मिक निषेध और राजकीय निषेध भी मद्यपान और मादक पदार्थ सेवन से जनसमाज को विरत नहीं कर पाये हैं।

आधुनिक युग में नशानिषेध के लिए अमरीका, स्कैंडेनेविया, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड, आइसलैंड, ब्रिटेन, न्यूफाउंडलैंड, अफ्रीका, तुर्की आदि देशों में सक्रिय कदम उठाये गये हैं। नशानिषेध के कानून बनते हैं, पर मद्य के माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले लोग इन कानूनों के विपरीत आचरण करते हैं और कभी-कभी तो ये लोग ऐसे कानूनों को रद्द कराने में भी सफल हो जाते हैं। कानूनों का बनना और फिर रद्द होना, फिर कानून बनना और फिर रद्द होना--यह क्रम सतत चलता आ रहा है। इसके चलते नशानिषेध सफल नहीं हो पाता।

अमरीका में नशानिषेध : अमरीका में सबसे पहले ईसाई पादरियों ने नशानिषेध की आवाज उठायी। जार्ज वाशिंगटन ने सन् १७९६ में सैनिक अफसरों को आदेश दिया कि वे सैनिकों को मदिरालयों में शराब पीने से रोकें। वहाँ सन् १७८९ में विदेशी शराब का आयात रोकने का कानून बना। तब से लेकर सन् १८२६ तक कई मद्यनिषेध समितियाँ बनीं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में इस प्रकार की कोई ६ हजार समितियाँ कार्य करती थीं। सन् १८३९ में मसाचुसेट्स में '१५ गैलन का कानून' बना।

१८६९ में राष्ट्रीय मद्यनिषेध पार्टी और १८७४ में ईसाई महिला मद्यनिषेध यूनियन बनी। इन सबके प्रयत्न से अमरीका में मद्यनिषेध का कार्य चलता रहा।

सन् १९०६ में अमरीका के ३० राज्यों में मद्यनिषेध लागू हो चुका था। कानून बनते थे, उनका विरोध होता था, उनमें संशोधन होते चलते थे। १९१७ में संविधान में १८ वाँ संशोधन किया गया, जिसे १६ जनवरी, १९१९ को ३६ राज्यों ने स्वीकार कर लिया। 'वोल्स्टेड' कानून बना जिससे विभिन्न शराबों के उपभोग की मात्रा में ७० प्रतिशत कमी हो गयी।

लाभ : नशानिषेध से अमरीका को क्या लाभ हुआ, इसका विवेचन डाक्टर हेवन एमरसन ने किया। उन्होंने नशानिषेध के पहले की—सन् १९१० से १९१६ की स्थिति की नशानिषेध के बाद की—सन् १९२० से १९२६ की—स्थिति से तुलना की और ये निष्कर्ष निकाले [1]—

१. शराब पीकर मरने वालों की संख्या में १९ प्रतिशत कमी हो गयी।

२. अपराध, बलात्कार, बच्चों के प्रति पाशविकता आदि पहले से कम हो गयी।

३. स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या में वृद्धि हुई।

४. शराबियों के लिए बनी अनेक व्यावसायिक और राजकीय संस्थाएं बंद हो गयीं।

आर्थिक लाभ

१. मद्यनिषेध के ५ वर्षों में भवन निर्माण में १५० प्रतिशत वृद्धि हुई।

२. भवन निर्माण संगठनों की सदस्य संख्या बढ़ी। १९२० में वह ४९, ६२, ९१९ थी जो १९३० में १,२३,४३,२५१ हो गयी।

३. बचत खाते में सन् १९२१ में प्रति व्यक्ति १४४ डालर रकम जमा थी जो १९२६ में बढ़कर २२१ डालर हो गयी।

४. जीवन बीमा में प्रति व्यक्ति ३४२ डालर की रकम ६८० डालर हो गयी।

५. मोटर बिक्री तिगुनी हो गयी। १९२१ में १००० व्यक्तियों पर जहाँ ६४ कारें थीं १९२६ में वहाँ १६४ हो गयीं।

---

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० ४४-४५

६. दूध तथा डेयरी पदार्थों के उपभोग में प्रति व्यक्ति २१२ पौंड की वृद्धि हुई।

७. नशा शून्य पेयों में फल और शाक रसों की बिक्री में दस खरब डालर की वृद्धि हुई।

इन सब लाभों के बावजूद ऐसे प्रमाण भी प्राप्त हुए कि इस बीच अवैध शराब का व्यापार चौगुना बढ़ गया। भ्रष्टाचारियों, तस्करों और अधिकारियों में सांठगांठ बढ़ा। उसके साथ अपराधों की संख्या भी बढ़ी। मद्य-निषेध कानून का कुछ लोग यह कह कर विरोध करने लगे कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करता है। उधर न्याय-व्यवस्था कुशल न थी, इधर कानून पालन का तंत्र, जेलों आदि का प्रबंध भी पर्याप्त न था। अतः वालस्टेड कानून भली-भाँति सफल न हो सका।

कानून की विफलता : अमरीका में ३५ साल के बीच मद्यनिषेध के लिए सन् १८५० में, १८८५ में और १९२० में,—खूब जोरदार आंदोलन चला। पर निहित स्वार्थ वाले इसे विफल करने के लिए पूरा जोर लगा रहे थे। आसबरी लिखता है कि '१९२० से १९३४ तक के १४ वर्षों में भ्रष्टाचार और अपराधों में तो अतुलनीय वृद्धि हुई ही, महान असत्यों का भी बोलबाला रहा। मद्यनिषेध के समर्थक उसे अच्छा बताने के लिए महान असत्य का आश्रय लेते थे, मद्यनिषेध के विरोधी उसे बुरा बताने के लिए। सरकारी अधिकारी अपनी 'ईमानदारी' दिखाने को और कांग्रेस को डरा कर अधिक पैसा स्वीकृत कराने के लिए असत्य का आश्रय लेते थे और राजनीतिज्ञ अपनी झूठ बोलने की आदत के कारण असत्य का आश्रय लेकर जनता को बरगलाते थे।[1]

राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर ने २० मई, १९२९ को मद्यनिषेध की समस्या पर विचार करने के लिए 'विकरशैम कमीशन' नियुक्त किया। इस कमीशन ने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। उसने अठारहवें संशोधन को रद्द करना अस्वीकार करके कानून की कमियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। परंतु कुछ सदस्य संशोधन रद्द करने के पक्ष में थे। उधर आर्थिक मंदी ने मद्यनिषेध की कमर तोड़ दी। राजनीतिक दावपेंच तो सन् १९२० से चल ही रहे थे। फलतः २० फरवरी १९३३ को राष्ट्रपति रूजवेल्ट के चुनाव के बाद ही संविधान का अठारहवाँ संशोधन रद्द कर दिया गया। मद्यनिषेध की विफलता का

---

१. आसबरी : दि ग्रेट इल्यूजन. पृ० ३३२

एक प्रमुख कारण यह था कि उसका संचालन एंड्रू मैलम जैसे मद्यनिषेध के शत्रुओं के हाथ में था जो ४० साल से ह्विस्की का व्यापार करता आ रहा था। जब भक्षक ही रक्षक बन बैठे तो इसके अतिरिक्त और होगा क्या ?[१]

अठारहवें संशोधन की समाप्ति के बाद अमरीका में मद्य की नदी बहने लगी है। प्रतिवर्ष २॥ लाख नये व्यक्ति शराबी बनते जा रहे हैं। हर पाँचवाँ व्यक्ति शराबी है। प्रतिवर्ष ५० लाख से अधिक व्यक्ति अतिमात्रा में शराब पीने के जुर्म में गिरफ्तार किये जाते हैं। मद्यपान के चलते मजदूरों की मजदूरी में ६ करोड़ डालर प्रति वर्ष की कमी आ गयी है। उद्योग में मद्यपान के कारण १४० करोड़ डालर का प्रतिवर्ष घाटा हो रहा है। शराबी मोटर चालक प्रतिवर्ष २० हजार व्यक्तियों को मृत्यु के घाट उतार देते हैं और ४ से ८ लाख को घायल कर देते हैं। मद्यपान अमरीका की चौथे नंबर की स्वास्थ्य समस्या है। एक करोड़ रुपया खर्च करके यह सारा मानवीय संकट बुलाया जाता है। अमरीकावासी मद्य को रोकने के स्थान पर इस संकट को उत्पन्न करने के लिए २॥ खरब डालर खर्च करते हैं।[२] ऐसा ही हाल मद्यसेवी अन्य देशों का है।

भारत में मद्यनिषेध

यों तो भारत में आरंभ से ही मादक पदार्थों के सेवन को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है फिर भी मद्यपान और मादक पदार्थों का सेवन देश के अनेक भागों में प्रचलित रहा है। अंग्रेजों ने आबकारी-कर लगाकर मद्य को आय का एक साधन बनाया। ठेकेदारों ने ऊँची-ऊँची बोलियाँ बोलकर ठेके लेने आरंभ कर दिये। मादक पदार्थ जब इस प्रकार आय के साधन बन गये तो उसका प्रचार बढ़ना स्वाभाविक था। भारतीय नेताओं ने देश की दरिद्रता और विपन्नता के कारणों की खोज की तो उन्हें लगा कि नशाबंदी भारत के लिए अत्यंत आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आंदोलन में मद्यनिषेध का विशिष्ट स्थान रखा था। महात्मा जी का कहना था कि 'लाल पानी की ओर लपकना जलते हुए अग्निकुंड या तूफानी नदी की ओर लपकने से भी अधिक खतरनाक है। कारण, आग या पानी में तो केवल शरीर नष्ट होता है, शराब से तो शरीर और आत्मा, दोनों का नाश होता है।'

---

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० ५०-५२

२. वही रिपोर्ट, खंड १, पृ० ५३

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सन् १९२०-२१ और सन् १९३० में जो सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाये, उनके साथ-साथ मद्यनिषेध आंदोलन भी चले। नशे की दुकानों पर गाँधीजी ने महिलाओं को धरना देने के लिए भेजकर अहिंसा का उत्तम प्रयोग किया। लाखों व्यक्तियों ने मादक पदार्थों का सेवन बंद कर दिया।

ब्रिटिश सरकार आबकारी नीति में कोई भी परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। सन् १९३० के गाँधी-अर्विन समझौता की ११ शर्तों में नशानिषेध की भी शर्त थी। सन् १९३१ में कांग्रेस कार्य समिति ने प्रस्ताव स्वीकृत किया कि नशानिषेध आंदोलन में सम्मिलित होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। कराची कांग्रेस (जनवरी १९३१) में पूर्ण नशाबंदी का निश्चय किया गया।

सन् १९३७ में कांग्रेस ने जब सत्ता ग्रहण की तो कांग्रेस ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को पूर्ण नशाबंदी की योजना कार्यान्वित करने का आदेश दिया। गाँधीजी ने इस आदेश को 'देश का महानतम नैतिक आंदोलन' बताया।

आदेशानुसार कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने सन् १९३७ में मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रांत आदि के कुछ भागों में नशानिषेध लागू कर दिया। मद्रास में सलेम जिले को प्रयोग के लिए चुना गया। बम्बई में १ अगस्त, १९३९ से बड़े पैमाने पर नशानिषेध आरंभ किया गया। सितंबर १९३९ में युद्धविरोध के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया। उसके उपरांत ब्रिटिश सरकार ने मद्यनिषेध के सारे कार्य पर पानी फेर दिया।

स्वतंत्र भारत में नशानिषेध

स्वतंत्र भारत में कांग्रेस ने सत्ता ग्रहण करते ही नशानिषेध पर पुनः कार्य आरंभ कर दिया। भारतीय संविधान सभा ने संविधान के ४७वें अनुच्छेद में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत नशानिषेध को स्थान दिया है। उक्त अनुच्छेद में कहा गया है कि "राज्य अपनी जनता का पोषण स्तर और जीवन स्तर ऊँचा उठाना तथा जन-स्वास्थ्य सुधारना अपना एक प्राथमिक कर्तव्य मानेगा और विशेषतः स्वास्थ्य के लिए औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त नशीले पेयों और मादक जड़ी-बूटियों के उपभोग को रोकने का प्रयास करेगा"

संविधान के इस निश्चय के अनुसार भारत पूरे देश में नशानिषेध के

लिए संकल्पबद्ध है। इसके अनुसार विभिन्न राज्यों में मद्यनिषेध का कार्य चालू है। कहीं पर उसकी गति तीव्र है, कहीं पर मंद।

बंबई में नशानिषेध : मोरारजी देसाई ने बंबई राज्य के अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए अपने 'जीवन वृत्तांत' में लिखा है—[१]

"मजदूरों पर मद्यनिषेध का स्पष्ट ही अच्छा असर पड़ा। १९५१ में एक-दो अंग्रेज मिल मैनेजरों ने अपने आप ही मद्यनिषेध के अपने अनुभव मुझे बताये थे। उन्होंने कहा," मद्यनिषेध से पहले मिल मजदूरों के लिए उनकी स्त्रियाँ जब दोपहर का खाना लाती थी, तो उनके कपड़े फटे-पुराने और मैल-कुचैले होते थे। यही नहीं, बल्कि मजदूर लोग खाना खाते वक्त झुँझलाते-झगड़ते भी मालूम पड़ते थे, क्योंकि खाने की चीजों में उन्हें किफायत करनी पड़ती थी। शराबखोरी में ज्यादा खर्च हो जाता था, जिससे घरेलू जरूरत की चीजें खरीदने के लिए पैसे की तंगी रहती थी। स्त्री-पुरुषों के बीच झगड़े का यही मुख्य कारण था। शराबखोरी से मजदूर काम में आलसी बनते थे और उनकी गैरहाजिरी भी बहुत होती थी। मद्यनिषेध के पूरी तरह अमल में आने के बाद कुछ ही महीनों में यह परिस्थिति बदलने लगी। स्त्री-पुरूषों के बीच झगड़े नहीं के बराबर हो गये। खाद्यपदार्थ अच्छे होने लगे और कपड़े भी अच्छे साफ-सुथरे नजर आने लगे। मजदूरों की गैर-हाजिरी कम हो गयी और वे उत्साह के साथ होशियारी से काम करने लगे। मजदूर बस्तियों मे भी झगड़े-टंटों में बहुत कमी हो गयी और बर्तन-भांडे भी पहले से अच्छे होने लगे। इस तरह कुल मिलाकर उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है।" यह भी उन्होंने(मिल मैनेजरों ने) बताया कि "मद्यनिषेध में उनका विश्वास नहीं था, परंतु उसके परिणामों को देखते हुए उन्हें मानना पड़ता है कि मद्यनिषेध का बहुत अच्छा असर पड़ा है।"...."मद्यनिषेध का प्रारंभ हमने अहमदाबाद और बंबई के शहरों में करने का निश्चय किया।...उस समय श्री नाइट नाम के जो आबकारी कमिश्नर वहाँ थे, उन्होंने उसका सख्त विरोध किया था। हमने उनके विरोध को न मानते हुए अहमदाबाद और बंबई में मद्यनिषेध लागू कर दिया था। १९३९ के अंत में जब हमने मंत्रिमंडल का त्यागपत्र दिया तब वे आबकारी कमिश्नर गवर्नर के सलाहकार बने थे। उस हैसियत से वे जब अहमदाबाद गये तो मद्यनिषेध के अमल की उन्होंने बारीकी से जाँच की। उसके बाद सार्वजनिक रूप से उन्होंने यह

१. मोरारजी देसाई : मेरा जीवन वृत्तांत, १९७२, पृ० २९१,३०२

बात स्वीकार की कि मद्यनिषेध से अहमदाबाद शहर को और खासकर मजदूर वर्ग को बहुत लाभ हुआ है तथा इसका अमल भी ठीक ढंग से किया जा रहा है। इससे हम सभी को संतोष हुआ और विरोधियों का विरोध इसके बाद बहुत कम हो गया था।"

नशानिषेध जाँच समिति : देश में नशानिषेध ने कैसी क्या प्रगति की है, इसकी जाँच करने के लिए दिसंबर, १९५४ में योजना आयोग ने श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में नशानिषेध-जाँच समिति की स्थापना की। इस समिति ने १९५५ में अपनी रिपोर्ट दी।

इस रिपोर्ट में बताया गया कि संप्रति मद्रास, बंबई, आंध्र और सौराष्ट्र में पूर्ण मद्यनिषेध है। पंजाब तथा मध्य भारत में आंशिक निषेध है। मैसूर, असम, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, त्रिवांकुर कोचीन, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश में ७० प्रतिशत निषेध है। अन्य राज्यों में आर्थिक कठिनाइयों आदि के कारण नशानिषेध लागू नहीं हो सका है।

उक्त जाँच समिति ने सारा लेखा-जोखा निकालकर लिखा कि नशानिषेध से मादक पदार्थों के उपभोग की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई है। समिति ने बाधक बाधाओं के निवारण के लिए कुछ उपाय भी सुझाये।

३१ मार्च, १९५६ को भारतीय संसद ने एक प्रस्ताव स्वीकृत कर नशानिषेध को द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अनिवार्य अंग मान लिया और कहा कि इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर समुचित कारवाई की जाय।

योजना आयोग ने एक कार्यक्रम बनाकर राज्यों पर यह उत्तरदायित्व सौंप दिया कि वे अपनी स्थिति के अनुकूल नियम बना कर इसे लागू करें। जनवरी, १९६३ में मुख्यमंत्री सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि नशानिषेध को पूरी मुस्तैदी से लागू किया जाय।

टेकचंद अध्ययन दल : योजना आयोग ने नशानिषेध की सरकारी नीति की प्रगति देखने और उसे भली-भाँति सक्रिय करने के लिए उपयुक्त सुझाव देने के लिए अप्रैल, १९६३ में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की। पंजाब हाईकोर्ट के न्यायाधीश टेकचंद उस अध्ययन दल के अध्यक्ष थे। इस अध्ययन दल ने दो खंडों में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

रिपोर्ट की मुख्य बातें : टेकचंद नशानिषेध अध्ययन दल ने तत्कालीन स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करते हुए बताया कि गुजरात, मद्रास और

महाराष्ट्र में पूर्ण नशानिषेध है। आंध्र, असम, हिमाचल प्रदेश, केरल, मध्यप्रदेश, मैसूर, उड़ीसा और पंजाब में आंशिक नशानिषेध है। इन ८ राज्यों के १४१ जिलों में से ४७ जिलों में पूर्ण और ११ जिलों में आंशिक नशा-निषेध है तथा ८३ जिलों में छूट है। बिहार, जम्मू और कश्मीर, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बंगाल में मद्यनिषेध नहीं है। जनसंख्या की दृष्टि से ९ करोड़ ३८ लाख व्यक्ति पूर्ण नशानिषेध के क्षेत्र में हैं, १५ करोड़ ९९ लाख व्यक्ति आंशिक नशाबंदी में हैं और १७ करोड़ ८८ लाख व्यक्ति स्वतंत्र हैं। ३८ प्रतिशत अर्थात् १६ करोड़ ५९ लाख व्यक्ति नशाबंदी के क्षेत्र के भीतर हैं और ६२ प्रतिशत अर्थात् २६ करोड़ ६६ लाख व्यक्ति बाहर। क्षेत्र की दृष्टि से ३९·२ प्रतिशत क्षेत्र में नशाबंदी है और ६०·८ प्रतिशत क्षेत्र में नशाबंदी नहीं है।

अध्ययन दल ने अनुमान किया है कि वैध शराबों पर ९४ करोड़ और अवैध शराबों पर ५२ करोड़ अर्थात् कुल १४६ करोड़ रुपया खर्च किया जाता है। प्रति व्यक्ति खर्च का औसत ५ से लेकर २२ प्रतिशत है जो कहीं पर २५ प्रतिशत तक भी पहुँच जाता है।

अध्ययन दल ने नशीले पदार्थों संबंधी अपराधों में दंडित लोगों से भेंट की। मंगलौर के एक नाई ने बताया कि पत्नी के अतिरिक्त उसके परिवार में ५ बच्चे हैं। ६० रु० मासिक आय है। पीने का खर्च है, २५ से ३७ पैसे रोज अर्थात् ७·५० से ११·२५ रु० मासिक। ऐसे ही दूसरे नाई कैदी ने बताया कि उसकी दैनिक आय ३·४ रु० है। वह पीने पर, ७५ पैसे रोज खर्च करता है। तीसरे, एक दर्जी कैदी ने बताया कि वह हर हफ्ते ९·१० रु० कमाता है जिसमें से २ रु० हर हफ्ते की शराब पी जाता है। चौथे, एक मछुवा कैदी ने बताया कि उसकी माँ उस पर आश्रित है। ३० रुपये की मासिक आय में वह, ३७ पैसे रोज की शराब पी जाता है।[१]

टेकचंद अध्ययन दल की रिपोर्ट में बताया गया है कि सारे देश में शराब का अवैध व्यापार धड़ल्ले से चल रहा है। यह बहुत लाभदायक व्यापार है। व्यापारी लोग पुलिस के आने का इशारा पाते ही नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। अवैध शराब मलमूत्र और गंदगी के ढेर में छिपा कर रखी जाती है। कोढ़ी-कोढ़िनों के माध्यम से इसे अवैध बिक्री केंद्रों पर पहुँचाया जाता है। इसे ले जाने के लिए बाइसिकल के ट्यूब, रबड़ के थैले, फुटबाल के ब्लैडर

---

१. रिपोर्ट आफ दी स्टडी टीम ओन प्राहिविशन, खण्ड १, पृ० २२८।

आदि साधन काम में लाये जाते हैं। यह व्यापार तस्करों, 'दादा' लोगों और गुंडे-बदमाशों के द्वारा चलता है। इसमें लगे व्यापारी चकले और जुआखाने भी चलाते हैं और घृणिततम अपराध करने में नहीं सकुचाते।

अवैध शराब के तथा मादक पदार्थों के व्यापार में भ्रष्ट अधिकारी और कर्मचारी भी हाथ बँटाते हैं। कानून अपंग बना बैठा रहता है। दूतावासों के लिए, फोर्ड फाउंडेशन जैसी अनेक संस्थाओं के लिए और कितनी ही ऐसी ही अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के लिए विदेशों से करमुक्त विदेशी शराब भारी मात्रा में आती है। उसमें का भी एक बड़ा अंश चोरबाजार में चला जाता है। दवाओं के नाम पर, शृंगार-प्रसाधन सामग्री के नाम पर अनेक अलकोहलयुक्त शराबें बाजार में छा जाती हैं। शीरे का तथा और भी कितने ही पदार्थों का अवैध शराब के निर्माण में उपयोग किया जाता है। इस व्यापार की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें उखाड़ फेंकना कठिन है। कुछ दिन पूर्व एक राज्यमंत्री लेखक से कह रहे थे कि कहीं-कहीं तो अवैध शराब के व्यापारी मद्यनिषेध का आंदोलन चलाते हैं ताकि मद्यनिषेध का क्षेत्र घोषित होने पर वे १० रु० की बोतल २० रु० में आसानी से खपा सकेंगे।

नशा मानव के पतन का सर्वग्रासी शस्त्र है। उसके कुपरिणाम वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक विघटन के कारण बनते हैं। मानव को स्वस्थ, प्रसन्न एवं चरित्रवान बनाने के लिए यह आवश्यक है

नशा-निवारण के उपाय कि नशानिवारण का सर्वांगीण प्रयास किया जाय। नशानिषेध के सुफलों को अधिक व्यापक बनाने के लिए सरकारी और गैरसरकारी, कानूनी और ऐच्छिक प्रयत्न करने आवश्यक हैं। मादक पदार्थों के अवैध व्यापार को रोकने के लिए समुचित प्रशासकीय उपाय करने चाहिए। साथ ही जनता को मादक पदार्थों के सेवन से विरक्त करने के लिए उत्तम प्रचारात्मक साधन भी काम में लाने चाहिए। टेकचंद अध्ययन दल ने इस विषय में कुछ अच्छे उपाय सुझाये हैं। जैसे, कानूनी उपाय, दवाओं और शृंगार प्रसाधनों के दुरुपयोग पर प्रतिबंध; शीरा तथा अन्य कच्चे माल पर नियंत्रण; लोकशिक्षण तथा क्रमबद्ध मादक विरोधी प्रचार; सुधरे हुए प्रशासकीय तंत्र द्वारा प्रभावशाली कार्यान्वयन; अवैध व्यापार के आर्थिक पहलू पर नियंत्रण और मादकता का पता लगाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों का उपयोग आदि।

कानूनी उपाय : बुराइयों के निवारण के लिए कानून कुछ अंशों में सहायक होता है, परंतु उसकी एक सीमित मर्यादा है। मूल कार्य तो विरोधी प्रचार

से ही होता है। कानून द्वारा कोई सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। दुराचार पर उससे कुछ नियंत्रण अवश्य रखा जा सकता है। कानून की भाषा अत्यंत स्पष्ट होनी आवश्यक है और उसके दंड की भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उसका दुरुपयोग रोका जा सके और कानून बनाने का लक्ष्य पूरा हो सके।

प्रशासकीय उपाय : प्रशासनिक तंत्र यदि उत्तम हो तो बहुत-से दोषों का परिहार सरलता से हो जाता है। सच्चे और ईमानदार अधिकारी अपने व्यक्तिगत प्रभाव से अनेक दोषों के निवारण में सहायक होते हैं। टेकचंद अध्ययन दल ने यह ठीक ही सुझाया है कि 'ऐसे अधिकारियों को नशानिषेध के कार्य में नहीं लगना चाहिए जो स्वयं नशा सेवन करते हों। स्वार्थी ठेकेदार और अवैध व्यापारी ऐसे लोगों को शराब पिलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। अनेक अधिकारी अपनी शान और प्रतिष्ठा के लिए मद्यपान करते हैं। अध्ययन दल का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'प्रशासकीय अधिकारी यदि ठीक ढंग से अपने कर्तव्य का पालन करें तो नशा सेवन की आधी लड़ाई सहज ही जीत ली जाय।'[१]

अवैध व्यापार का नियंत्रण : शराब और मादक पदार्थों के अवैध व्यापार में केवल पूँजीपतियों का ही नहीं, राजनीतिक लोगों का तथा सफेदपोश अपराधियों का बड़ा हाथ रहता है। भ्रष्ट अधिकारी और भ्रष्ट पुलिस कर्मचारी इस व्यापार में अच्छी फसल काटते हैं। गुंडे, बदमाश और 'दादा' लोग अत्यंत सुसंगठित रीति से यह व्यापार चलाते हैं। इसके नियंत्रण के लिए टेकचंद अध्ययन दल ने जो सुझाव दिये हैं, उनपर सरकार को भरपूर ध्यान देना चाहिए।

लोक शिक्षण : मद्यनिषेध की सफलता के लिए सबसे महत्वपूर्ण पद्धति है—लोकशिक्षण और अनवरत प्रचार। टेकचंद अध्ययन दल के ये सुझाव अत्यंत उपयोगी हैं—

१. अमरीका का 'एंटी सैलून लीग' ने जिस प्रकार करोड़ों की संख्या में परचों, पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा नशानिषेध के विरुद्ध प्रचार किया है, उस प्रकार व्यापक और अनवरत प्रचार किया जाय। पोलैंड ने सन् १९६१ में इस संबंध में १४ हजार व्याख्यान कराये, २०० प्रदर्शनियाँ कीं, २५० सांस्कृतिक कार्यक्रम किये, १० चलचित्रों को सामग्री दी, २० लाख परचे

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० १७०।

और पोस्टर बँटवाये, १२०० मेडिकल छात्रों की संस्था ने इस दिशा में सक्रिय कार्य किया। इसी प्रकार सभी देशों में नशासेवन के विरुद्ध व्यापक प्रचार होना चाहिए।

२. जनमत जाग्रत करने के लिए व्यापक कार्यक्रम अपनाये जायँ।

३. सामाजिक कार्यकर्ता मद्यपान तथा मादक पदार्थों के परिणामस्वरूप होनेवाली वास्तविक स्थिति का वैज्ञानिक पद्धति से चित्रण करें, वे केवल उसके भावनात्मक पहलू पर ही जोर न दें।

४. अलकोहल तथा मादक पदार्थों के विषों के कुप्रभावों का ज्ञान कराने के लिए मेडिकल छात्रों के 'रिफ्रेशर कोर्स' चलाये जायँ। जनता के समक्ष इस ज्ञान का भरपूर प्रचार किया जाय।

५. पत्र-पत्रिकाओं और चलचित्रों आदि के माध्यम से जनता को बताया जाय कि नशासेवन के क्या-क्या दुष्परिणाम होते हैं और उससे किस प्रकार दरिद्रता, पारिवारिक क्लेश, अर्थसंकट, बच्चों की उपेक्षा, रोग, बीमारी, अपराध और दुर्घटनाएँ आदि होती हैं।

६. नाटक, नौटंकी, गोष्ठी, चलचित्र, सांस्कृतिक कार्यक्रम, कवि-सम्मेलन, शिविर आदि का आयोजन करके छात्रों में नशानिषेध का प्रचार किया जाय।

७. सार्वजनिक सेवा संस्थाओं, महिला संस्थाओं आदि को मद्यनिषेध आंदोलन चलाने के लिए भरपूर आर्थिक सहायता दी जाय। सेवकों को इसके लिए आवश्यक ट्रेनिंग दी जाय जिसमें समस्या के सभी—आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक पहलुओं को समझाया जाय।

८. धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होनेवाले व्यक्तियों के लिए विभिन्न धर्मों की नशाविरोधी सीखों और उपदेशों का प्रचार किया जाय। भारत साधु समाज जैसी संस्थाओं का इसमें भरपूर सहयोग लिया जाय।

९. देशव्यापी आधार पर नशाबंदी आंदोलन चलाया जाय।

१०. ऐसे सस्ते और रुचिकर पेयों को सर्वसुलभ बनाया जाय जिनसे ताजगी और स्फूर्ति तो मिले पर जिनमें मादकता न हो।

पाप की कमाई का त्याग : आबकारी कर को गाँधीजी 'पाप की कमाई' मानते थे। जबतक सभी राज्य इस पाप की कमाई का मोह नहीं त्याग करेंगे तबतक नशाबंदी नहीं हो सकेगी। सरकारों को इस कमाई के त्याग का निश्चय कर लेना चाहिए। आय के अन्य साधन खोजकर तथा व्यय घटाकर

इसकी पूर्ति करनी चाहिए। भारत की केंद्रीय सरकार आबकारी संबंधी हानि का अर्धांश देने को प्रस्तुत रहती है, पर अनेक राज्यों में राज्य सरकारें ही इस मोह को छोड़ नहीं पातीं। पिछले दिनों राजस्थान में इसी के चलते वहाँ के वयोवृद्ध नेता गोकुल भाई भट्ट को प्राणों की बाजी लगानी पड़ी थी।

निश्चय और संकल्प शक्ति : नशा अथवा कोई भी दुर्व्यसन दूर करने के लिए निश्चय एवं संकल्प शक्ति अद्भुत कार्य करती है। मनुष्य अपने मन में यह समझ ले कि मुझमें अमुक दुर्गुण है जो कि बुरा है और फिर वह उस दुर्गुण से अपने को मुक्त करने का संकल्प कर ले। उसका यह संकल्प जितना दृढ़ होगा उतनी ही शाघ्रता से वह उस दुर्गुण से मुक्त हो सकेगा।

'एलकोहोलिक्स एनोनीमस' : जून १९३५ में अमरीका में डब्लू० बिल और डाक्टर एस० बॉब ने एक संस्था खड़ी की 'एलकोहोलिक्स एनोनीमस'। संस्था की स्थापना एक्रन, ओहियो में हुई। यह संस्था उन लोगों की है जो मद्यपान को बुरा मानकर उससे मुक्त होने का संकल्प करते हैं। इस संस्था ने आश्चर्यजनक प्रगति की। विश्व के ८० से अधिक देशों में इसके ३ लाख से अधिक सदस्य हैं। भारत में भी इसके ३०० से ऊपर सदस्य हैं। ये लोग संकल्पशक्ति और प्रार्थना का संबल लेकर इस दुर्व्यसन से मुक्त होते हैं।[१] सच्चा संकल्प उन्हें सफलता प्रदान करता है।

धूम्रपान का त्याग : अमरीका के हर्बर्ट ब्रीन ने १९५१ में एक पुस्तक लिखी, 'हाउ टु स्टाप स्मोकिंग ?' (धूम्रपान कैसे बंद करें)। तीन साल के भीतर डेढ़ डालर मूल्य की इस पुस्तक की १ लाख से अधिक प्रतियाँ खप गयीं। इसे पढ़कर अनेक स्त्री-पुरुषों ने धूम्रपान त्याग दिया। तीस-तीस चालीस-चालीस साल के आदी लोगों ने धूम्रपान बंद कर दिया। स्वयं लेखक बरसों का 'चेन स्मोकर' (लगातार पीनेवाला) था। वह एक दिन घर लौटा तो जेब में एक भी सिगरेट न थी। आलस्यवश खरीदने नहीं गया। दूसरे दिन उठने पर उसने सोचा कि १४ घंटे हो गये, मैंने एक सिगरेट नहीं पी। आगे भी न पिऊँ तो? ये १४ घंटे होते-होते १८ मास बन गये। व्यापारिक झटके से वह फिर डिग गया। दुबारा उसने सिगरेट छोड़ी, पर १ साल बाद फिर डिग गया। तब से उसने न डिगने का निश्चय कर लिया। अपने अनुभव सुनाते हुए वह कहता है कि 'गिरने पर भी हताश न हो। सोचो, मुझे हारना

---

१. रिपोर्ट आफ दि स्टडी टीम ओन प्राहिबिशन, खंड १, पृ० ७३-७४।

नहीं जीतना है, प्रलोभनों को ठुकराऊँगा और जीतूँगा। बाजी आप के हाथ में है।'[1]

शिव संकल्प : क्यूकी आत्मनिर्देशन की पद्धति सभी व्यसनों से मुक्ति का अचूक उपाय है—

"एवरी डे इन एवरी रेस्पेक्ट
आइ एम गेटिंग बैटर एंड बैटर !"

(प्रतिदिन प्रतिक्षण मैं उठ रहा हूँ, उन्नत हो रहा हूँ !)

मदिरा और मादक पदार्थ मानव को पतन की दिशा में ले जाते हैं। उनके निवारण के लिए सरकारी, गैर-सरकारी—सभी साधन तो काम में लाने होंगे ही, पर सब से महत्वपूर्ण साधन है—संकल्प और निश्चय। भारतीय पद्धति प्राचीन युगों से इसका मार्ग बताती आयी है—

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु !"

---

१. हर्बर्ट ब्रीन : हाउ टू स्टॉप स्मोकिंग, १९५४, पृ० ९१।

अध्याय : १२

आत्महत्या

> आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
> आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
> आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
> आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।[1]

'आनंद ब्रह्म है'—ऐसा भृगु ने अनुभव किया । आनंद से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं । आनंद के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनंद में ही समा जाते हैं ।

उपनिषद् में यह भार्गवी वारुणी विद्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण बतायी गयी है । इस विद्या में ही जीवन और मृत्यु का रहस्य छिपा पड़ा है । प्राणिमात्र के जीवन का लक्ष्य आनंद है । आनंद से ही सबकी उत्पत्ति होती है । आनंद में ही सब जीवित रहते हैं और प्रयाण काल में भी आनंद की ही गोद में समा जाते हैं । भृगु ने भारी तपस्या करने के उपरांत इस तथ्य की अनुभूति की । आनंद ही ब्रह्म है और आनंद की ही साधना वैदिक ज्ञान का मूल है ।

लौकिक जीवन में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्राणिमात्र आनंद की ही खोज में व्यग्र हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सब में आनंद-ही-आनंद बिखरा पड़ा है । उसी की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के आयोजन किए जाते हैं । मनुष्य इस आनंद की प्राप्ति के लिए क्या नहीं करता ? आनंद का समुद्र सर्वत्र लहरा रहा है, पर जब वह उसे पकड़ नहीं पाता तो उसे अपना जीवन ही भारस्वरूप लगने लगता है । विवेक और संतुलन खो जाने पर वह कभी-कभी अपने जीवन का अंत ही कर डालता है । इसी का नाम है आत्महत्या ।

शाश्वत समस्या : आत्महत्या कोई नयी समस्या नहीं है । अत्यंत प्राचीन काल में भी उसके उदाहरण मिलते हैं । बौद्ध धर्म में जीवन के प्रति विरक्ति

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक ।

का जो स्वर है, शरीर को जो अपदार्थ बताया गया है, हास्य और आनंद का जो विरोध किया गया है, उसने जीवन में निराशा और उदासीनता की वृद्धि की है। कहा है :

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।[1]

'जब सब कुछ सतत जल रहा है, तब कैसी हँसी, कैसा आनंद ?' यही कारण है कि बौद्ध देशों में आत्महत्या को बुरा नहीं माना जाता।

जैन धर्म में तपस्या की जो अत्यधिक महत्ता है, उसमें नाना प्रकार के व्रतों का विधान है। त्याग की चरम सीमा संलेखना में प्रकट होती है। सब कुछ त्याग करते-करते शरीर का भी, जीवन का भी त्याग कर देना। समाधि-मरण की यह प्रक्रिया जैन धर्म में अपना विशिष्ट गौरव रखती है।

भारत की सती प्रथा में पतिव्रता का पति की चिता पर बैठकर प्राण-विसर्जन करना परम गौरव का विषय माना जाता रहा है। अन्य देशों में भी स्वेच्छामरण को आदर और सम्मान की वस्तु समझा जाता रहा है। ऐसी मृत्यु ईसाई मत के पूर्व बुरी नहीं समझी जाती थी। रोम के प्राचीन इतिहास में ऐसे विवरण प्राप्त होते हैं। जापान में तो आज भी 'हाराकीरी',—(आत्म-हत्या) एक सामान्य वस्तु बनी हुई है। भावुक जापानी अत्यंत नगण्य बातों पर हाराकीरी करते देखे जाते हैं।

भारत में निजी स्वार्थ के लिए की गयी आत्महत्या घृणा की दृष्टि से देखी जाती रही है! उसे 'कायरता' माना जाता था। पर समाज के हित में, धर्म और मत की रक्षा के हित में की गयी आत्महत्या गौरवमयी मानी जाती थी। उसे 'बलिदान' की संज्ञा दी जाती थी। मुक्ति के निमित्त किये गये उप-वास और स्वेच्छामरण को सर्वोत्कृष्ट 'सद्‌गति' की संज्ञा दी जाती थी। कायक्लेश की यह पराकाष्ठा जैन साधुओं और साध्वियों के गौरव का अंग मानी जाती थी। दधीचि, रन्तिदेव, कर्ण आदि के त्याग की गाथाएँ, भीष्म पितामह का स्वेच्छामरण, सतियों के जौहर, सतीत्व आदि की गाथाएँ आज भी अत्यंत आदर और सम्मान के साथ पढ़ी-सुनी जाती हैं। देवताओं की प्रसन्नता के लिए आत्मबलिदान की कहानियाँ भी कम नहीं हैं। विदेशी शासन सत्ता के विरुद्ध अथवा अन्याय के प्रतिकार स्वरूप आत्मबलिदान इतिहास की अमर घटनाएँ हैं। रामप्रसाद 'बिस्मिल' और अशफाकउल्ला जैसे असंख्य क्रांतिकारियों ने फाँसी के तख्तों पर झूलकर 'सरफरोशी की तमन्ना'

---

१. धम्मपद, गाथा १४६

की जो अभिव्यक्ति की, उन बलिदानों की आधारशिला पर ही स्वतंत्रता का भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है।

आत्महत्या के प्रकार

आत्महत्या के प्रकार अनेक हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एमिले दुर्खीम ने ('सुसाइड' में) उसके तीन मुख्य प्रकार बताये हैं—

१. अहम्‌वादी आत्महत्या,
२. परार्थवादी आत्महत्या और
३. अस्वाभाविक आत्महत्या।

'मेरा अपना कोई नहीं है,' 'कोई मेरी पर्वाह नहीं करता'—ऐसी घुटन के अंतर्गत की जानेवाली आत्महत्या 'अहम्‌वादी आत्महत्या' है। जब व्यक्ति और समाज का संबंध इतना ढीला हो जाता है कि व्यक्ति अपने को अपने सामूहिक जीवन से सर्वथा उपेक्षित पाता है, तब इस प्रकार की आत्महत्या होती है। एकाकीपन की स्थिति जब व्यक्ति के मन में निराशा उत्पन्न करती है और उसके 'अहम्' को ठेस लगाती है तो वह इस अपमान से मुक्त होने के लिए आत्महत्या का आश्रय लेता है।

व्यक्ति का व्यक्तित्व जब समाज में डूब जाता है, वह सब कुछ समाज की दृष्टि से करता है, तब 'परार्थवादी आत्महत्या' होती है। पति को प्रेमिका की ओर आकृष्ट होते देख पति के सुख में अपने को कंटक मानकर पत्नी आत्महत्या कर लेती है। घर वालों की समाज में अपकीर्ति न हो, यह सोचकर व्यक्ति अपने कुकृत्य के लिए आत्महत्या कर लेता है। देश के लिए आत्मबलिदान करने वाले व्यक्ति, युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के साथ जूझनेवाले सैनिक, समाज और समुदाय के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर कर देनेवाले व्यक्तियों का बलिदान परार्थवादी आत्महत्या का उदाहरण है।

समाज की परिवर्तित स्थिति में अनुकूलन न कर सकने वाले व्यक्ति 'अस्वाभाविक आत्महत्या' कर बैठते हैं। अचानक लाटरी में लाखों रुपये पा जानेवाले हर्षोत्फुल्ल व्यक्ति दम तोड़ देते हैं। दूकान का दिवाला निकल जाने की स्थिति में भी ऐसी आत्महत्याएँ की जाती हैं। अस्वाभाविक परिस्थितियों में होनेवाली ऐसी आत्महत्याएँ प्रायः देखने में आती हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने आत्महत्या के ये ३ प्रकार बताये हैं—(१) संस्थागत आत्महत्या जैसी सती प्रथा की, (२) अर्ध संस्थागत आत्महत्या—प्रदर्शन के लिए, सम्मान, दरिद्रता या प्यार दिखाने के लिए और (३) व्यक्तिगत आत्महत्या।

मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि मानव का आक्रामक व्यवहार ही हत्या अथवा आत्महत्या के रूप में प्रकट होता है। बाह्य दृष्टि से इन दोनों में अंतर प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः अंतर है नहीं।

आत्महत्या की प्रकृति मानव का जब दूसरे पर कोई बस नहीं चलता, उसका क्षोभ जब विस्फोट के लिए आकुल होता है और दूसरे पर चोट करना संभव नहीं होता तो वह अपने आप पर ही चोट कर लेता है। अनेक व्यक्ति बालक पर गरम होने पर अपने ही गालों को थप्पड़ों से मार-मार कर लाल कर लेते हैं। उसी का विस्तृत रूप है आत्म-हत्या कर लेना। व्यक्ति जब अपने अंतःकरण से दूसरों पर आक्रमण करने की वृत्ति का समर्थन नहीं पाता तो वह स्वयं अपने पर आक्रमण कर लेता है। मानव की यह स्वेच्छा से आत्महत्या की प्रक्रिया ही 'आत्म-हत्या' कहलाती है। वैयक्तिक विघटन की यह चरम सीमा है।[1] सामाजिक विघटन का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसमें नैतिक और धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक, सामजिक और सांस्कृतिक—अनेक भावनाएँ जुड़ी हुई हैं। इसमें निराशा और महत्त्वाकांक्षा जैसी मानसिक धारणाओं का भी बहुत बड़ा हाथ है।

आत्महत्या के स्वरूप आत्महत्या मृत्यु की ओर बढ़ने का एक प्रयास है। इस प्रयास का विवेचन करते हुए स्नाइडमैन लिखता है कि इसके ४ स्वरूप माने जा सकते हैं—

१. इच्छित आत्महत्याकारी चार प्रकार के हो सकते हैं—

(क) मृत्यु की खोज करनेवाले,

(ख) मृत्यु लानेवाले,

(ग) मृत्यु की उपेक्षा करनेवाले और

(घ) मृत्यु से निर्भय।

२. उपिच्छित आत्महत्याकारी भी कई प्रकार के हो सकते हैं—

(क) आत्महत्या से पहले सोचते हैं,

(ख) शीघ्र मृत्यु लानेवाली वस्तुओं का प्रयोग करते हैं,

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३१५।

(ग) मृत्यु से भयभीत होते हुए भी मृत्यु चाहते हैं और
(घ) मृत्यु के लिए अनेक प्रयोग करके मर जाते हैं।

३. अनिच्छित आत्महत्याकारी भी कई प्रकार के हो सकते हैं—
(क) मृत्यु का स्वागत करनेवाले जैसे भंयकर रोगी या वृद्ध,
(ख) मृत्यु स्वीकारक : मृत्यु के इच्छुक नहीं, फिर भी मृत्यु आ जाय तो उसका स्वीकार करनेवाले,
(ग) मृत्यु को टालकर जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति,
(घ) मृत्यु से घृणा करनेवाले,
(ङ) मृत्यु से भयभीत रहनेवाले।

४. इच्छा-विरुद्ध आत्महत्याकारी आत्महत्या की इच्छा नहीं रखते, फिर भी आत्महत्या कर बैठते हैं।

अमरीका की मेट्रोपालिटन जीवन बीमा कम्पनी ने आँकड़े देते हुए बताया है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक मात्रा में आत्महत्या में असफल होती हैं। कारण, उनमें मृत्यु की अपेक्षा जीवित रहने की इच्छा प्रबल होती है। पुरुषों की अपेक्षा मृत्यु लानेवाले उनके साधन कम प्राणघातक होते हैं। उनके चुने हुए विष कम भयंकर, भद्दे और कम विनाशकारी होते हैं। उनके आत्महत्या के प्रयासों में मरने की अपेक्षा आत्महत्या के प्रयास द्वारा पति, प्रेमी अथवा घरवालों की सहानुभूति प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होती है।

आत्महत्या का अध्ययन

यों आत्महत्या का नाना प्रकार से अध्ययन किया जाता है। पोर्टरफील्ड के मत से आत्महत्या की समस्या का अध्ययन इन ८ दृष्टियों से करना ठीक होता है—

१. शब्दार्थ, २. सांख्यिकी, ३. इतिहास,
४. धर्म, ५. दर्शन, ६. मनोविज्ञान,
७. समाज विज्ञान, ८. प्रेरणाएँ और कारण।

आत्महत्या की गवेषणा में वे सभी परिस्थितियाँ आती हैं जिनके कारण मानव अपने जीवन का अन्त करने के लिए प्रस्तुत हो उठता है। आत्महत्या एक विषम समस्या है। उसका सही-सही अनुमान करना इसलिए कठिन है कि आत्महत्याकारी जीवित नहीं रहता। कुछ लोग आत्महत्या में विफल होते हैं। उनकी भावनाओं से आत्महत्या का कुछ विवेचन संभव है।

समस्या की गहनता

विश्व में कितने व्यक्ति आत्महत्या करते हैं, इसके सही आँकड़े तो मिलना संभव नहीं, पर कुछ सफल और विफल आत्महत्याकारियों के आँकड़े प्रकाश में आते हैं। उनसे ही इस समस्या की गहनता का अनुमान किया जा सकता है।

अमरीका की मैट्रोपोलिटन जीवन बीमा कंपनी ने अपने मई, १९४१ के 'स्टेटिसटिकल' बुलेटिन में लिखा था कि अमरीका में १ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष आत्महत्या करने का प्रयत्न करते हैं, परंतु उसमें वे असफल रहते हैं। सफल आत्महत्याकारियों की वार्षिक संख्या १५००० से २०,००० कूती गयी है। अमरीका के सांख्यिकी कार्यालय के अनुसार कुछ आँकड़े इस प्रकार हैं—

सन् १९३०	आत्महत्याएँ १८५५१	प्रति लाख पर १५·७ मृत्यु
१९३२	२०,९२७	१७·४ ,,
१९३७	१९,२९४	१५·९ ,,
१९४२	१६,११७	१२·० ,,
१९४७	१६,५३८	११·५ ,,
१९५२	१६,०३०	१०·३ ,,
१९५६	१६,७२७	१०·० ,,

इलियट और मैरिल का कहना है कि आत्महत्याओं के ये आँकड़े और १ लाख असफल आत्महत्याकारियों के प्रयास हमारे अमरीकी समाज की स्थिति पर एक गंभीर टिप्पणी हैं। इससे प्रकट है कि समाज अपना समंजन बनाये रखने में असफल है तभी तो इतने अधिक व्यक्ति आत्महत्या की दिशा में मुड़ते हैं।[1] वे अपने प्रयास में सफल हों या न हों, यह बात दूसरी है।

विभिन्न दृष्टिकोण

आत्महत्या पर अनेक दृष्टियों से विचार किया जाता है। कोई धार्मिक दृष्टि से विचार करता है, कोई दार्शनिक दृष्टि से, कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है, कोई समाजशास्त्रीय दृष्टि से।

धार्मिक दृष्टिकोण : जब आस्था, विश्वास अथवा किसी धार्मिक कारण से कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है, तब उसे धार्मिक आधार प्राप्त होता है। धार्मिक अवधारणा कभी-कभी अत्यन्त साहसपूर्ण और गौरवपूर्ण मानी जाती है।

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३१५-३१६

दार्शनिक दृष्टिकोण : दार्शनिकों ने आत्महत्या की समस्या पर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। कोई उसका विशेष परिस्थितियों में समर्थन करता है, कोई विरोध। शापेनहावर आत्महत्या को 'मूर्खतापूर्ण' कार्य मानता है, परंतु कुछ दार्शनिक मानते हैं कि मानव यदि अपने जीवन के लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति में सफल न हो सके तो उसके जीवन का क्या लाभ ? अच्छा हो ऐसी स्थिति में वह जीवन की अपेक्षा मृत्यु का वरण कर ले !

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण : व्यक्ति के साथ संबद्ध होने के कारण मनोवैज्ञानिकों ने आत्महत्या को मनोवैज्ञानिक समस्या माना है। फ्रायड कहता है कि 'मानव जीवन में मृत्यु तथा जीवन की, मरने और जीने की इच्छाएँ साथ-साथ चलती हैं। वह समलिंगीय व्यक्ति से ईर्ष्या करता है और विषमलिंगीय से आत्मभाव। ऐसी स्थिति में मृत्यु की भावना प्रबल होने पर वह आत्महत्या कर बैठता है।' जुंग कहता है कि 'जब व्यक्ति के 'स्व' की प्रवृत्ति 'अहं' में केंद्रित हो जाती है तो वह आत्महत्या कर लेता है।' एडलर कहता है कि जिस समाज में 'स्व' की प्रवृत्ति बढ़ी होती है और हीनता की भावना विकसित रहती है, उस समाज में लोग आत्महत्या में विशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं।' मेनिंजर कहता है कि 'घृणा की भावना जब प्रबल होती है तो मनुष्य आत्महत्या की दिशा में मुड़ता है।'

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण : दुर्खीम, हावबाच, आगबर्न, हेनरी और शार्ट आदि समाजशास्त्री आत्महत्या को सामाजिक समस्या के रूप में देखते हैं। उनका मत है कि व्यक्ति का पालन-पोषण और विकास समाज द्वारा होता है। समाज को उस नाते समुचित लाभ पहुँचाना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। आत्महत्याकारी समाज को उन लाभों से वंचित कर देता है जो लाभ उसके जीवित रहने से समाज को प्राप्त हो सकते थे। समाज की प्रस्थिति और भूमिका जब ऐसी असामंजस्यपूर्ण होती है कि व्यक्ति का भली-भाँति समंजन नहीं हो पाता, उसे उचित भूमिका और पद नहीं मिल पाता, वह तनाव और अलगाव अनुभव करता है, तभी वह आत्महत्या की शरण लेता है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार 'आत्महत्या आत्महनन की वह क्रिया है जो स्वेच्छापूर्वक जान-बूझकर की जाती है। दुर्खीम ने आत्महत्या का विशद अध्ययन और विश्लेषण किया है। उसके मत से 'आत्महत्या ऐसी

सकारात्मक अथवा नकारात्मक क्रिया है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक स्थिति में मृत्यु के रूप में प्रतिफलित होती है। इस क्रिया का कर्ता स्वयं ही इस क्रिया के परिणाम का भक्ष्य बनता है और उसे इस परिणाम का पहले से ही ज्ञान रहता है।'[1] आर० सी० कैवन कहता है कि 'आत्महत्या या तो भलीभाँति जान-बूझकर अपने आपको समाप्त करने की क्रिया है अथवा मृत्युसंकट से बचने की संभावना के बावजूद अपने को बचा सकने की असफलता है।'

परिभाषा

इलियट और मैरिल ने पाश्चात्य समाज में घटने वाली आत्महत्या को 'वैयक्तिक विघटन का अन्तिम एवं अपरिवर्तनशील परिणाम' बताया है। उनके मत से 'आत्महत्या व्यक्ति के दृष्टिकोणों में होनेवाले क्रमबद्ध परिवर्तनों का अन्तिम स्तर है जिसमें जन्मकाल के समय उत्पन्न जीवन के प्रति अगाध प्रेम के स्थान पर जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।'[2]

माउरर ने आत्महत्या को वैयक्तिक विघटन के रूप में न लेकर इस तथ्य पर जोर दिया है कि 'आत्महत्या में व्यक्ति स्वयं को समाप्त करने की इच्छा रखता है। साथ ही उसमें दूसरों का ध्यान, सहानुभूति तथा उन पर नियंत्रण प्राप्त करने की भी कामना रहती है।

आत्महत्या के तत्त्व

आत्महत्या में मूलतः तीन तत्त्व माने जा सकते हैं—

१. स्वयं प्रेरणा,

२. जागरूकता और

३. प्रयास।

आत्महत्याकारी स्वेच्छा से आत्महत्या करता है। स्वयं प्रेरणा से प्रेरित होकर वह अपने जीवन की समाप्ति करना चाहता है। वह इस तथ्य के प्रति जागरूक है कि वह क्या करने जा रहा है। आत्महत्या के लिए वह स्वयं प्रयास भी करता है।

यों कभी-कभी परिस्थितियों से अपनी विवशता मानकर भी व्यक्ति आत्महत्या के लिए तत्पर होता है। परन्तु मुख्य प्रेरणा उसकी स्वयं की होती है। वह सोच लेता है कि मुझे आत्महत्या करनी है। उसके परिणामों के प्रति,

१. एमिले दुर्खीम : सुसाइड, १९५१, पृष्ठ ४४

२ इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३१५

उसकी प्रतिक्रियाओं के प्रति भी वह जागरूक रहता है। साथ ही आत्महत्या के लिए वह साधन भी जुटाता है, उन साधनों का प्रयोग भी करता है। इस प्रयास में सफल होने पर आत्महत्या की प्रक्रिया पूरी होती है।

आत्महत्या के सिद्धांत

आत्महत्या के संबंध में समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। दुर्खीम, केवन, मेनिंजर, हाव-बाच, गिब्स, मार्टिन, हेनरी, शार्ट, मार्टिन गोल्ड, पावेल आदि के सिद्धांतों से आत्महत्या की समस्या पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।

दुर्खीम का सिद्धांत : दुर्खीम ('सुसाइड' में) अनेक प्रकार के आँकड़े देकर बताता है कि आत्महत्या मूल रूप से सामाजिक समस्या है। वंशानुक्रम, निर्धनता, निराशा, प्रेम में असफलता, मानसिक उद्वेग आदि वैयक्तिक कारणों को आत्महत्या का आधार बताना ठीक नहीं। उसने अपने निष्कर्ष इस प्रकार निकाले हैं—

१. आत्महत्या की दर प्रतिवर्ष लगभग एक-सी रहती है।
२. सर्दी के दिनों में आत्महत्याएँ कम होती हैं, गर्मियों में अधिक।
३. स्त्रियाँ कम आत्महत्याएँ करती हैं, पुरुष अधिक।
४. कम आयु के लोग कम आत्महत्या करते हैं, अधिक आयुवाले अधिक।
५. ग्रामीण लोग कम आत्महत्या करते हैं, शहरी लोग अधिक।
६. आम जनता के लोग कम आत्महत्या करते हैं, सैनिक अधिक।
७. कैथोलिक मतवाले कम आत्महत्या करते हैं, प्रोटेस्टेंट अधिक।
८. विवाहित कम आत्महत्या करते हैं, अविवाहित, विधवा, विधुर और परित्यक्त अधिक।
९. सन्तानवान विवाहित कम आत्महत्या करते हैं, सन्तानहीन विवाहित अधिक।

दुर्खीम ने इस प्रकार ऋतु, काल, लिंग, आयु, स्थान, व्यवसाय, धर्म, विवाह, परिवार आदि अनेक कारकों को आत्महत्या का आधार बताया है। उसने सामाजिक प्रस्थिति और पर्यावरण को आत्महत्या के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराया है। वह मानता है कि सामाजिक प्राणी के नाते जब व्यक्ति यह महसूस करने लगता है कि समाज में उसका कोई विशिष्ट स्थान या पद नहीं है, समाज को उसकी कोई चिन्ता नहीं है, परिवार में जब उसे

कोई पूछता नहीं है, तो ऐसे जीवन का लाभ ही क्या ? मूल बात तो यही है कि व्यक्ति अपने परिवार से जब भरपूर स्नेह नहीं पाता, समाज से उसे सहानुभूति और सद्‌भाव की प्राप्ति नहीं होती, उसके वैयक्तिक जीवन में निराशा और असफलता आकर घुटन पैदा करने लगती है, तब उसे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता है और उसे समाप्त कर डालने के लिए वह प्रस्तुत हो उठता है। वयोवृद्ध लोग अधिक संख्या में आत्महत्या करते हैं, विधुर, विधवा एवं परित्यक्त लोग अधिक संख्या में जीवन समाप्त करते हैं, सबके मूल में निराशा और उपेक्षा ही अधिक घुली रहती है। देहाती वातावरण सरल, सीधा और सद्‌भावपूर्ण रहता है, शहरों और नगरों का जीवन अधिक एकाकी और नीरस। उसका भी आत्महत्या की संख्याओं पर प्रभाव पड़ता है। मार-काट और हिंसा सैनिक जीवन का एक मात्र व्यवसाय रहता है। सैनिक रात-दिन उसी भावधारा में बढ़ता-पनपता है। उस जीवन में प्रेम, प्यार, मुहब्बत, अहिंसा और सद्‌भाव आदि की बड़ी कमी रहती है। रात-दिन शस्त्रों से, घृणा और द्वेष, वैर और विरोध से खेलने वाला सैनिक सहज ही उत्तेजित हो उठता है। मरना-मारना उसके लिए अत्यंत सामान्य घटना है। आत्महत्या करने वालों में सैनिकों की संख्या अधिक रहे तो इसमें आश्चर्य क्या है? दुर्खीम मानता है कि कैथोलिक मतवालों की अपेक्षा प्रोटेस्टेंट अधिक संख्या में आत्महत्या करते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि कैथोलिक धर्म में नैतिक आदर्शों पर बल दिया जाता है, उसमें श्रद्धा-विश्वास पर जोर रहता है, जीवन को समाप्त करने का निषेध रहता है, इसका धर्मानुयायियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रोटेस्टेंट मत में वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल है और जीवन के साथ ऐसा खिलवाड़ करने का निषेध नहीं है। इसी से प्रोटेस्टेंट अधिक आत्महत्या करते हैं।

केवन का सिद्धांत : आर. एस. केवन ने ('सुसाइड' में) आत्महत्या का विस्तृत विश्लेषण करते हुए आंतरिक संकटों के कारक पर सर्वाधिक बल दिया है। उसने आंतरिक संकटों को इन ५ भागों में विभाजित किया है—

१. अप्रकट इच्छा या अज्ञात इच्छा,

२. प्रकट और परिचित इच्छा,

३. विशिष्ट इच्छा,

४. मानसिक द्वंद्व और

५. बाह्य परिस्थितियों द्वारा जीवन-विघटन।

मानव जब ऐसी घुटन महसूस करता है कि उसे कुछ अच्छा नहीं लगता, न वह खुलकर हँस पाता है, न जी भरकर रो पाता है, तब वह अपने नीरस जीवन को समाप्त करना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसकी इच्छा का कोई स्वरूप प्रकट नहीं रहता—

दहर में लगता नहीं, काबे से घबराता है दिल,
अब कहाँ ले जाके बैठें ऐसे दीवाने को हम !

ऐसे आंतरिक संकट में जीवन से ऊबकर मनुष्य आत्महत्या कर बैठता है।

जब मनुष्य जीविका, प्रेमिका, पत्नी, संतान, धन, पद-प्रतिष्ठा आदि भौतिक सुखों की किसी इच्छा के प्रति इतनी तीव्र गति से आकृष्ट होता है कि उसकी पूर्ति के विना जीवन में कोई रस नहीं मानता, तब उसकी पूर्ति न होने पर वह प्राणों से हाथ धो बैठना उचित मान लेता है। उसकी ऐसी परिचित इच्छा आत्महत्या की प्रेरिका बन बैठती है। अभीष्ट वस्तु मिल गयी तो ठीक, नहीं तो उसे जीवन ही व्यर्थ लगता है।

किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति की विशिष्ट इच्छा भी कभी-कभी इतना प्रवल स्वरूप धारण कर लेती है कि मनुष्य उसकी लालसा में पागलपन तक की स्थिति में जा पहुँचता है। जव वह देखता है कि उसकी कल्पना साकार नहीं हो सकती तो वह मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर समझता है।

कभी-कभी दो विकल्प मानव के समक्ष उपस्थित होते हैं। किसका चयन करे किसका नहीं—यह मानसिक द्वंद्व, मानसिक संघर्ष इतना तीव्र हो जाता है कि व्यक्ति उससे छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या का आश्रय ग्रहण कर लेता है। प्रेमिका एक ओर हो और माता-पिता का विरोध दूसरी ओर—ऐसी स्थिति में व्यक्ति द्वंद्वात्मक उलझन में पड़ जाता है। न इसे छोड़ना ठीक है, न उसे—तब शरीर ही छोड़ दिया जाय ! 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी !'

कभी-कभी वाह्य परिस्थितियाँ भी मानव में ऐसा आंतरिक संकट उत्पन्न करती हैं कि वह अपने मानसिक संतुलन को खो बैठता है और आत्महत्या की ओर झुक जाता है। बाढ़, सूखा, असफलता, तलाक, प्रियतम का विछोह, पागलपन, बीमारी आदि संकट व्यक्ति को इतना पीड़ित करते हैं कि वह आत्महत्या में ही अपना छुटकारा देखता है।

मैनिजर का सिद्धांत—मैनिजर ने ('मैन अगेंस्ट हिमसैल्फ' में) आत्महत्या का अच्छा विश्लेषण किया है। वह कहता है कि व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—एक जीने की, दूसरी मरने की। जब मनुष्य की मरने की इच्छा इतनी तीव्र होती है कि वह अत्यधिक घातक उपाय का सहारा लेकर अपने प्राणों का अंत कर डालता है, तब जीवन पर मृत्यु की विजय होती है। परंतु जब इतनी तीव्रता नहीं रहती तब मानव धीरे-धीरे और दुःखद प्रकार से अपना अंत करता है। जैसे, मद्यपान आदि का सहारा लेकर अथवा किसी छोटी-मोटी दुर्घटना म आत्मबलि देकर।

मैनिजर ऐसा मानता है कि मनुष्य के मानस में दूसरे को मारने की भी इच्छा रहती है और यह इच्छा भी रहती है कि कोई दूसरा उसे मार डाले। जब इन दोनों प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती तो वह स्वयं अपने को मार डालने को उत्सुक होता है। उसमें भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आत्महत्या का प्रयत्न तो करते हैं, पर मरने की इच्छा उनमें तीव्र नहीं होती। वह डाक्टर से प्रार्थना करता है, 'डाक्टर मेरे प्राण बचाइये।' मैनिजर मानता है कि आत्महत्याकारी जीवन से भी घृणा करता है, समाज से भी। यह घृणा ही विकृत होकर आत्महत्या के रूप में प्रकट होती है।

हावबाच का सिद्धांत—हावबाच नागरिक जीवन को आत्महत्या का प्रमुख प्रेरक बताता है। उसका कहना है कि नागरिक जीवन ही व्यक्ति के विघटन का प्रमुख कारण होता है। दुर्खीम ने धर्म और परिवार आदि को आत्महत्या के साथ संबद्ध किया है, उसे वह ठीक नहीं मानता है। कहता है कि सामाजिक स्थिति की ये सभी बातें एक साथ मिलकर मानव पर ऐसा प्रभाव डालती हैं कि उसका जीवन सामाजिक जीवन से पृथक् हो जाता है। उसके जीवन का सामंजस्य बिखर जाता है और वह आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है।

गिब्स और मार्टिन का सिद्धांत—ये समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि जीवन में मानव के अनेक पदों के बीच जब सामंजस्य नहीं बैठ पाता, पदों के अनुरूप वह भूमिकाएँ नहीं निभा पाता तो वह आत्महत्या कर लेता है। यह सिद्धांत 'प्रस्थिति एकीकरण' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेनरी और शार्ट का सिद्धांत—ये समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि आर्थिक कारणों के फलस्वरूप वैयक्तिक विक्षिप्तता उत्पन्न होती है। इस विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य आक्रामक भावना से अभिभूत हो उठता है। यह आक्रामक भावना कभी दूसरों पर प्रहार करती है, कभी स्वयं अपने पर। इस भावना

का निर्धारण कई बातों को लेकर होता है। जैसे, व्यक्ति का पद, उसके सामाजिक या भावनात्मक संबंधों की दृढ़ता आदि। व्यक्ति पर नाना प्रकार के दबाव काम करते हैं। उन दबावों के चलते वह नाना प्रकार के कार्य करता रहता है। इन्हीं के चक्कर में पड़कर कभी-कभी व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है।

मार्टिन गोल्ड का सिद्धांत—मार्टिन गोल्ड नें बचपन की प्रतिक्रियाओं पर विशेष बल दिया है। वह कहता है कि बचपन में जो लोग अधिक पीटे जाते हैं, अधिक शारीरिक दंड भोगते हैं, उनका क्रोध दूसरे लोगों पर प्रकट होता है। पर जिन लोगों को मानसिक दंड अधिक भोगना पड़ता है, उनका क्रोध मुख्यतः अपने ऊपर ही प्रकट होता है। यही कारण है कि निम्नवर्ग के लोग हत्या अधिक मात्रा में करते हैं और उच्चवर्ग के लोग आत्महत्या अधिक मात्रा में करते हैं। यह सिद्धांत अधूरा है। इसमें शारीरिक दंड पानेवाले व्यक्तियों की आत्महत्या का कोई कारण नहीं दिया गया है। साथ ही बचपन का दंड ही एक मात्र आत्महत्या के लिए प्रेरक कारक नहीं माना जा सकता।

पावेल का सिद्धांत—पावेल ऐसा मानता है कि व्यक्ति का मूल उद्देश्य होता है 'स्व' का सामाजिक प्रमाणीकरण। मनुष्य जब अपने प्रयत्नों द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित करने में असमर्थ रहता है तो वह आत्महत्या कर लेता है।

सेन्सबरी का सिद्धांत—पीटर सेंसबरी ने प्रस्थिति सिद्धांत में जनसंख्या के प्रभाव को जोड़कर एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वह कहता है कि स्थानीय पर्यावरण की विशेषताएँ व्यक्तियों के व्यवहार पर अपना प्रभाव डालती हैं। जनसंख्या की स्थानीय सामाजिक इकाइयों का भी व्यक्ति पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। वे उसके सामूहिक व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं, वैयक्तिक व्यवहार को भी। इन सबकी मिली-जुली प्रतिक्रिया जब मानव को परिस्थिति के समक्ष झुकने को विवश कर देती है तो वह आत्महत्या का आश्रय ले लेता है।

चार प्रमुख सिद्धांत—सिम्पसन और गिडिंग्स का मत है कि आत्महत्या के विभिन्न सिद्धांतों में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ही प्रमुख हैं। मोटे तौर पर आत्महत्या के ४ सिद्धांत माने जाते हैं।

१. **पर्यावरण का सिद्धांत**—इसमें अंतर्बाह्य पर्यावरण ही आत्महत्या का प्रेरक माना जाता है। आंतरिक पर्यावरण में मानव की आंतरिक इच्छाएँ, कामनाएँ, भावनाएँ, प्रेरणाएँ और आवश्यकताएँ ली जाती हैं। बाह्य पर्यावरण में घर-परिवार और समाज का पर्यावरण लिया जाता है।

२. **अंतर्क्रिया सिद्धांत**—इसमें अन्य व्यक्तियों की प्रक्रियाओं और व्यवहारों से होनेवाली अंतर्क्रियाओं का समावेश रहता है। 'मैं कैसा हूँ', 'मेरा व्यवहार कैसा है,' 'मेरे संबंध में अन्य लोगों की धारणाएँ कैसी हैं'—इन सब प्रश्नों के उत्तर में व्यक्ति को जिस प्रकार की धारणाएँ उपलब्ध होती हैं, गर्व, लज्जा, पश्चात्ताप आदि की जैसी भावनाएँ बनती हैं, उन्हीं के आधार पर वह अपना मूल्यांकन करता है। यह मूल्यांकन जब नकारात्मक होता है तो वह आत्महत्या की दिशा में प्रेरित करता है।

३. **मनोवैज्ञानिक सिद्धांत**—इसमें हीनता की भावना, घृणा की भावना और निराशा की भावना आत्महत्या का मूल कारण मानी जाती है। फ्रॉयड के मत से मानव के भावनात्मक संबंध में प्रेम और घृणा का मिश्रण रहता है। घृणा की भावना प्रबल होने पर मनुष्य आत्महत्या कर बैठता है। मैनिजर के मत से आत्महत्या में हत्या की भावना भी रहती है और मारे जाने की भी। कभी-कभी व्यक्ति दूसरों की हत्या करने के स्थान पर अपनी ही हत्या कर लेने को सन्नद्ध हो जाता है। इस प्रकार हत्या की भावना बढ़कर आत्महत्या का रूप धारण कर लेती है।

४. **सामाजिक एकीकरण का सिद्धांत**—दुर्खीम जैसे समाजशास्त्री यह मानते हैं कि सामाजिक कारक ही एकमात्र आधार हैं जिनके द्वारा आत्महत्या की संतोषजनक व्याख्या की जा सकती है। इस संबंध में समाजशास्त्रियों का मतैक्य नहीं है। दुर्खीम ने आत्महत्या को सामाजिक घटना मानकर उसका सामाजिक समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। वह यह मानता है कि व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन आत्महत्या के लिए उत्तरदायी नहीं है, अपितु उसका सामाजिक जीवन ही इसके लिए उत्तरदायी है। वह व्यक्ति को अपने-आप में कुछ महत्त्व नहीं देता। कहता है कि सामूहिक व्यवहार ही सब कुछ है, व्यक्ति कुछ नहीं है। समूह से पृथक् होकर व्यक्ति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समूह से भिन्न व्यक्ति की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। दुर्खीम की इस अवधारणा की समाजशास्त्रियों ने कड़ी आलोचना की है।

आत्महत्या के कारण

आत्महत्या वैयक्तिक विघटन की अंतिम सीमा तो है ही, सामाजिक विघटन का भी एक दयनीय स्वरूप है। देशकाल की परिस्थितियाँ, धार्मिक रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, कुरीतियाँ, सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ, नागरीकरण तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ आदि भी आत्महत्या के कारणों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

आत्महत्या के कारणों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. **वैयक्तिक कारण :**—(क) शारीरिक दोष। जैसे, अपंगता, लंगड़ापन, लूलापन, आँख का ऐंचाताना होना, बोलने में हकलाना, अंधापन आदि।

(ख) शारीरिक व्याधियाँ। जैसे, क्षय, कैंसर, गलित कुष्ठ तथा भयंकर पीड़ादायक बीमारियाँ।

(ग) मानसिक स्वभाव। जैसे, अंतर्मुखी, क्रोधी, भावुक तथा आमोद-प्रिय स्वभाव।

(घ) मानसिक व्याधियाँ। जैसे, मनोस्नायु विकृति, उन्माद, स्नायु-दौर्बल्य, चिंता, मानसिक दुर्बलता आदि।

(ङ) संवेगात्मक अस्थिरता।

(च) हीनता की भावना।

(छ) निराशा, असफलता और उद्विग्नता आदि।

(ज) व्यसन। जैसे—मद्यपान, जुआ, यौन-लिप्सा आदि।

२. **पारिवारिक कारण :** (क) भग्न परिवार, मातृहीनता।
(ख) परिवार में कलह।
(ग) दांपत्य जीवन में असामंजस्य।
(घ) रोमांस।
(ङ) दुर्व्यवहार।

३. **धार्मिक कारण :** (क) धार्मिक रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ।
(ख) पातक की भावना।

४. **सामाजिक कारण :** (क) समाजीकरण की दोषपूर्ण प्रक्रिया।
(ख) दहेज, मृतक भोज तथा आडंबरपूर्ण खर्चीली प्रथाएं।
(ग) युद्ध।

५. आर्थिक कारण : (क) निर्धनता।
(ख) बेकारी।
(ग) मंहगी।
(घ) भ्रष्टाचार।
(ङ) व्यापारचक्र।
(च) आर्थिक विफलता।

६. पर्यावरणीय कारण : (क) भौगोलिक कारक; मौसम आदि।
(ख) बाढ़, अकाल, आपत्तियाँ, विपत्तियाँ।
(ग) नागरीकरण आदि।

शारीरिक दोषों में अंगहीनता और शारीरिक व्याधियाँ प्रमुख मानी जा सकती हैं। इन दोषों के चलते जब मनुष्य ऊब उठता है तो आत्महत्या कर लेना उसके लिए कठिन काम नहीं रहता।

मानसिक दोषों में अंतर्मुखी वृत्ति, क्रोध, संवेदात्मक अस्थिरता, हीनता की भावना, मनोविकृति आदि रोग सहज ही मानस का संतुलन बिगाड़ देते हैं और वह आत्महत्या कर बैठता है।

मद्यपान, जुआ, यौन-स्वच्छंदता आदि व्यसनों के चलते भी अनेक व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं।

पारिवारिक जीवन में जब सामंजस्य और समंजन नहीं रहता, कलह, दुर्व्यवहार और उपेक्षा आदि चरम सीमा पर पहुँच जाती है, पति-पत्नी और बाल-बच्चे जब पारिवारिक स्नेह की छाया से वंचित रहते हैं, तथा रोमांस आदि कारण जब मानव को पथभ्रष्ट कर देते हैं तो वह आत्महत्या का सहारा ले लेता है।

धार्मिक प्रथाएँ और रूढ़ियाँ, अत्यधिक पावित्र्य की भावना थोड़े-से भी विचलन को जब सहन नहीं करती तो मनुष्य जीवन का अंत कर लेने को तत्पर हो जाता है। यों कैथोलिक, इस्लाम तथा वैदिक धर्म आदि में आत्म-हत्या को भयंकर पाप बताया है और उससे विरत रहने का आदेश दिया है। उसका मानव पर कुछ-न-कुछ प्रभाव रहता है। धार्मिक आस्था और श्रद्धा से विहीन प्रोटेस्टेंट आदि मतों में ऐसी कोई नियंत्रक शक्ति न होने से उनके मतावलंबी आत्महत्या करते रहते हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया में, मानव को सामाजिक और शिष्ट प्राणी बनाने की प्रक्रिया में जिन संस्थाओं का हाथ है, परिवार से लेकर पाठशाला

तक, घर से लेकर क्लब तक—सभी में आज विकृति का समावेश हो गया है। फलतः व्यक्ति का समाजीकरण ठीक ढंग से नहीं होता। उसे जिन जीवन-दायी तत्वों का ज्ञान होना चाहिए, उनका ज्ञान उसे नहीं मिल पाता। उसका विकास विधिपूर्वक नहीं हो पाने से उसमें अनेक दोष आ जाते हैं, इन सब दोषों के कारण व्यक्ति में निराशा, असहिष्णुता तथा ऐसे ही अनेक विघटन-कारी तत्वों का प्रवेश हो जाता है। ये बातें उसे आत्महत्या जैसी निराशा और घृणामूलक भावनाओं की ओर ढकेलती हैं।

समाज में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। जैसे, भारत में दहेज प्रथा, मृतक भोज, विवाह आदि अवसरों पर आडंबर और धूम-धाम। जो इन्हें शान से करने में असमर्थ रहता है, उसी की फजीहत की जाती है। दहेज की पैशा-चिकता के चलते असंख्य कुमारी और सधवा महिलाएँ आजीवन क्लेश भोगती हैं, निंदा और तिरस्कार सहती हैं। जब उनकी सहनशीलता जवाब दे देती है तो विवश होकर वे आत्महत्या का आश्रय लेती हैं। हैसियत नहीं है, फिर भी कर्ज लेकर अनेक लोग समाज में अपनी 'नाक' बनाये रखने को अनेक खर्चीले आयोजन करते हैं। माँ-बाप, भाई आदि लड़कियों के भावी जीवन को सुखमय बनाने की इच्छा से ऐसे अनेक आयोजनों में पैसा फूँककर परि-वार पर विपत्ति का पहाड़ ढहाते हैं। उसके कारण अनेक लोगों को आत्म-हत्या करनी पड़ती है।

सामाजिक और सामुदायिक कारणों में युद्ध का भी बड़ा हाथ रहता है। युद्ध के कारण व्यक्ति, परिवार और सारा समुदाय विघटन की दिशा में अग्रसर होता है। युद्ध के अनेक भयंकर परिणामों में आत्महत्या भी एक है।

आर्थिक तंगी, निर्धनता, बेकारी, मंहगी, भ्रष्टाचार, रिश्वत, समय-समय पर तीव्र गति से उथल-पुथल करने वाला व्यापारिक चक्र और मानव की आर्थिक विफलता अनेक व्यक्तियों को आत्महत्या करने के लिए विवश कर देती है। अर्थसंकट मानव का मानसिक संतुलन बिगाड़ने में सबसे अग्रिम स्थान रखता है।

भौगोलिक कारक, मौसम, बाढ़, अकाल, आपत्तियाँ और ग्रामों के स्थान पर नगरीकरण और तज्जनित अभिशाप भी मानव को कभी-कभी आत्महत्या की दिशा में ठेलते हैं और भावावेश की स्थिति में व्यक्ति आत्महत्या का शिकार बन बैठता है।

आत्महत्या की विधियाँ

आत्महत्या करने की विधियाँ अनेक हैं। कोई किसी प्रकार प्राणांत करता है, कोई किसी प्रकार। कुछ प्रचलित विधियाँ इस प्रकार हैं—

१. विषपान। पोटाशियम सायनाइड जैसे भयंकर विषों का प्रयोग करना। संखिया, तूतिया, अफीम जैसे विषैले पदार्थों को खा लेना। भारत में रासायनिक खादों और कीड़े मारने की दवाओं डी० डी० टी० का भी देहातों में प्रचलन है। खटमल मारने आदि की दवाओं का भी इसके लिए प्रयोग किया जाता है।

२. डूब मरना। कुआँ, तालाव, बावली, समुद्र आदि में कूदकर जान दे देना। भारत में कुओं और नदियों में डूब कर अधिक मात्रा में आत्महत्याएँ की जाती हैं।

३. वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग। बिजली के जीवित तार को छू लेना, बंद कमरे में गैस खोलकर लेट जाना। नींद की गोलियों की अत्यधिक मात्रा में सेवन कर लेना।

४. फाँसी पड़ना। घर में अथवा बाहर रस्सी में गला फँसाकर लटक जाना।

५. कट मरना। चलती ट्रेन के आगे अथवा मोटर, बस आदि के आगे कूदकर कट मरना।

६. जल मरना। मिट्टी का तेल अथवा पेट्रोलियम आदि दाहक तेलों को शरीर पर छिड़क कर आत्मदाह कर लेना।

७. गोली मार लेना। पिस्तौल, रिवाल्वर, बंदूक आदि आग्नेयास्त्रों द्वारा अपने आपको गोली मार कर समाप्त कर लेना।

८. तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों का प्रयोग। छुरी, चाकू आदि तेज धारवाले औजारों को शरीर में घोंप लेना।

९. अन्य साधन। हीरे की कनी चाट लेना। कमरे में अंगीठी सुलगा कर उसके धुएँ से दम घोंट लेना। ऊँची मंजिल से नीचे कूदकर प्राण दे देना आदि।

विदेशों में जहाँ शस्त्रास्त्रों की छूट है, वहाँ गोली मारकर आत्महत्या करने की विधि अधिक प्रचलित है। भारत में विषपान करने, पानी में डूब मरने और फाँसी लगा लेने की विधि अधिक चलती है। स्त्रियाँ जल मरने की विधि का अधिक आश्रय लेती हैं। जिसे जो मार्ग सरल और सहज लगता

है, वह उसी का सहारा लेकर अपने जीवन का अंत कर लेता है। अधिकतर आत्महत्याकारी ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं, जिनसे आनन-फानन जीवन से मुक्ति मिल जाय और अधिक देर तक मृत्यु की यंत्रणा न सहन करनी पड़े।

भारत में आत्महत्या अन्य देशों की भाँति भारत में भी आत्महत्या का बड़ा जोर है। यद्यपि उसके पूरे आँकड़े उपलब्ध होना शक्य नहीं, फिर भी जो आँकड़े उपलब्ध हैं, वे इस समस्या की गहनता के परिचायक हैं।

आत्महत्याएँ	कुल आँकड़े
सन् १९६९	४३,६३३ व्यक्ति मरे
सन् १९७०	४०,४२८ ,, ,,

आत्महत्या के कारण

१. बीमारी से ऊबकर	१४.१ प्रतिशत
२. निराशा	१४.९ ,,
३. श्वसुर और पति-पत्नी में कलह	१४.९ ,,

प्रमुख राज्यों में १९७० में आत्महत्या की स्थिति

१. पश्चिमी बंगाल	६९३२ व्यक्ति मरे
२. उत्तर प्रदेश	६३३८ ,, ,,
३. महाराष्ट्र	५७३० ,, ,,
४. तमिलनाडु	५१९९ ,, ,,
५. आंध्रप्रदेश	४२५८ ,, ,,

प्रति लाख व्यक्तियों पर आत्महत्या की दर

१. पश्चिमी बंगाल	१५.४
२. केरल	१४.८
३. तमिलनाडु	१३.१
४. महाराष्ट्र	११.४
५. उड़ीसा	११.६

ये आँकड़े स्वयं बोलते हैं। भारत में स्त्रियों की दयनीय स्थिति, पारिवारिक जीवन में उनकी उपेक्षा और भर्त्सना, श्वसुर-सास, देवर-ननद आदि का तथा पति का दुर्व्यवहार कोढ़ में खाज उत्पन्न करता है। दहेज आदि की

कुप्रथाएँ भी आत्महत्या के लिए कारण बनती हैं। स्त्रियों को जब व्यंग्य और ताने असह्य हो जाते हैं, अपमान और तिरस्कार की मात्रा सहनशीलता को लाँघ जाती है तो वे आत्महत्या का मार्ग ग्रहण कर लेती हैं। पुरुषों में निराशा, असफलता, वेकारी आदि कारण आत्महत्या के लिए प्रमुख कारक बनते हैं। परीक्षा में असफल होनेवाले छात्र अपमान की चपेट नहीं सह पाते हैं और व्यर्थ ही अपने प्राणों का अंत कर वैठते हैं।

भ्रांत धारणाएँ आत्महत्या के संबंध में समाज में कितनी ही भ्रांत धारणाएँ फैली हुई हैं। कुछ प्रमुख धारणाओं का पोर्ट-फोल्ड ने इस प्रकार विवेचन किया है—

१. जो लोग आत्महत्या कर लेने की बात कहते रहते हैं, वे लोग आत्म-हत्या नहीं करते।
२. आत्महत्या बिना किसी पूर्व सूचना के की जाती है।
३. आत्महत्याकारी यदि अपने प्रयत्नों में एकाधिक बार असफल रहकर सुधर जाता है तो यह मान लिया जाता है कि संकटकाल निकल गया। अव इसके लिए चिन्तित होना आवश्यक नहीं।
४. आत्महत्याकारी सभी पागल और मानसिक रोगी होते हैं।
५. आत्महत्या वंशानुक्रम से प्राप्त होती है।
६. आत्महत्या अनैतिक है।
७. आत्महत्या कानूनन रोकी जा सकती है।

ऐसी भ्रांत धारणाएँ तर्क और विश्लेषण की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। जो लोग शाब्दिक रूप में आत्महत्या कर लेने की बात कहते रहते हैं, 'ऐसा हुआ तो मैं प्राण दे दूँगा,' 'मैं जीवन से वहुत ऊब गया हूँ', 'अच्छा, चलता हूँ। अव शायद फिर मिलना न हो'—इस प्रकार की बातें करनेवालों में से वहुत-से लोग देर-सवेर आत्महत्या कर लेते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति मरने से पूर्व कुछ लिख भी जाते हैं, अपनी प्रिय वस्तुएँ अपने प्रिय व्यक्तियों को दे जाते हैं, साथियों आदि से अपनी भूलों आदि के लिए क्षमा भी माँग लेते हैं। ऐसे लोग जव आत्महत्या के प्रयत्नों में सफल नहीं होते तो लोग समझ वैठते हैं कि अब ये ठीक हो गये। पर ऐसा होता नहीं। भावनाओं का वेग आने पर वे पुनः आत्महत्या का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों को मानसिक रोगी, पागल, भावुक मानकर उनकी समस्या की उपेक्षा करना अनुचित है। वंशानुक्रम से आत्महत्या को जोड़ना तर्कशून्य वात है। आत्महत्या के साथ नैतिकता का

जोड़ना भी ठीक नहीं। महात्मा गाँधी जैसे अनेक व्यक्तियों ने इस बात पर जोर दिया है कि वचन की पूर्त्ति, व्रत और प्रतिज्ञा की पूर्त्ति किये विना जीवित रहने की अपेक्षा आत्महत्या श्रेयस्कर है। यों अनेक धर्मों में आत्महत्या का निषेध है, उसे अनैतिक माना है। ऐसे लोगों का विधिवत् दाहसंस्कार आदि करने का भी निषेध किया गया है। साथ ही कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आत्महत्या को कानून द्वारा रोका जा सकता है। कानून में आत्महत्या को अपराध माना ही गया है, उसके लिए पर्याप्त दंड और सजा की व्यवस्था भी है, पर क्या आत्महत्या रुकी है ?

स्पष्ट है कि आत्महत्या के संबंध में ऐसी भ्रांत धारणाएँ छोड़कर इसके निवारण के लिए सर्वांगीण उपाय करने आवश्यक हैं।

आत्महत्या का निवारण

प्रश्न भारत का ही नहीं, सारे विश्व का है। आत्महत्या की समस्या विश्वव्यापी है। विघटन का यह चरम उदाहरण है। विघटन के अन्य स्वरूपों में तो कुछ गुंजाइश रहती है, व्यक्ति का सुधार संभव है, पर यहाँ तो व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है। फिर सुधार का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

आत्महत्या की इस विघटनकारी समस्या का निवारण अत्यंत आवश्यक है। व्यक्ति के विकास और सुख के लिए, परिवार की आधारशिला को दृढ़ बनाने के लिए और समाज को स्वस्थ और सबल बनाने के लिए आत्महत्या का उत्तम समाधान निकालना परम आवश्यक है। व्यक्ति जबतक अपने शरीर के साथ मनमानी करने के लिए स्वतंत्र रहेगा, तबतक आत्महत्या का निदान संभव नहीं है।

आत्महत्या का निवारण न तो केवल कानून से हो सकेगा और न केवल समझाने-बुझाने से। उसके लिए तो उन सभी उपायों और साधनों का आश्रय लेना पड़ेगा जिनसे इस समस्या को सफलतापूर्वक सुलझाया जा सके।

आत्महत्या का निवारण आत्महत्या संबंधी भ्रांत धारणाओं का उन्मूलन करके इस समस्या पर सभी दृष्टियों से विचार द्वारा हो सकेगा। यह समस्या वैयक्तिक विघटन की ही समस्या नहीं है, इसमें पारिवारिक विघटन भी जुड़ा है और सामुदायिक

आत्महत्या-निवारण के

जापान के राष्ट्रीय जीवन में 'हाराकीरी' ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान ले रखा है। प्राणांत की यह प्रक्रिया भावुक जापानियों के लिए सामान्य-सी बात बन बैठी है। जरा-सी कोई बात हुई कि जापानी स्त्री-पुरुष हाराकीरी कर लेते हैं। एक दाई से काँच की एकाध तश्तरी टूट गयी। वह अपने टोप को मालिक के यहाँ छोड़ कर चल दी। उसे उलट कर देखा गया तो उसमें एक पुर्जा था और एक चेक। लिखा था कि मेरी असावधानी से तश्तरी टूट गयी। क्षतिपूर्ति के लिए चैक है। क्षमा करें, मैं हाराकीरी करने जा रही हूँ। भारत के एक व्यापारी बंसी ने वहाँ के प्रवास के संस्मरणों में ऐसी घटनाएँ दी हैं। उन्होंने आत्महत्या-निवारण के एक महिला के प्रयास का भी वर्णन किया है। बताया है कि उक्त महिला ने समुद्र तटवर्ती उस स्थान पर एक बड़ा-सा आकर्षक साइन बोर्ड लगा दिया है, जहाँ से प्रायः समुद्र में कूद कर लोग हाराकीरी करते रहे हैं।

उक्त साइन बोर्ड में लिखा है—"हाराकीरी के इच्छुक लोगो, हाराकीरी करने से पहले दो मिनट मुझसे बात कर लो!"

उस महिला ने निकट ही अपना शिविर लगा लिया। हाराकीरी के इच्छुक लोग उसके पास आने लगे। वह सहानुभूतिपूर्वक उनकी समस्याएँ सुनने लगी और उन्हें तर्कसंगत विधि से समझाने लगी। भावावेश के प्रथम उबाल को वह स्नेह और प्रेम के छींटे दे-देकर शांत करने लगी। उस महिला ने इस प्रकार सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के प्राणों की रक्षा की।

आत्महत्या निवारण के लिए ये उपाय काम में लाये जा सकते हैं—

१. आत्महत्या के इच्छुक व्यक्ति को प्रेम से, सहानुभूति से समझाया जाय। उसके भावावेश को रोका जाय। वह जिस कष्ट और संकट के कारण इस मार्ग पर चलने को तत्पर हो रहा है, उसका समाधान निकालने का प्रयत्न किया जाय।

२. उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मानसचिकित्सा का प्रबंध किया जाय।

३. उसकी वैयक्तिक और पारिवारिक समस्याओं के निराकरण के लिए समुचित आर्थिक तथा अन्य प्रबंध किये जायें।

४. जिन धार्मिक रूढ़ियों, प्रथाओं और सामाजिक कुरीतियों के कारण लोग आत्महत्या की ओर बढ़ते हैं, उन्हें मिटाने के लिए जोरदार प्रयत्न किया जाय।

जोड़ना भी ठीक नहीं। महात्मा गाँधी जैसे अनेक व्यक्तियों ने इस बात पर जोर दिया है कि वचन की पूर्त्ति, व्रत और प्रतिज्ञा की पूर्त्ति किये बिना जीवित रहने की अपेक्षा आत्महत्या श्रेयस्कर है। यों अनेक धर्मों में आत्महत्या का निषेध है, उसे अनैतिक माना है। ऐसे लोगों का विधिवत् दाहसंस्कार आदि करने का भी निषेध किया गया है। साथ ही कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आत्महत्या को कानून द्वारा रोका जा सकता है। कानून में आत्महत्या को अपराध माना ही गया है, उसके लिए पर्याप्त दंड और सजा की व्यवस्था भी है, पर क्या आत्महत्या रुकी है ?

स्पष्ट है कि आत्महत्या के संबंध में ऐसी भ्रांत धारणाएँ छोड़कर इसके निवारण के लिए सर्वांगीण उपाय करने आवश्यक हैं।

आत्महत्या का निवारण

प्रश्न भारत का ही नहीं, सारे विश्व का है। आत्महत्या की समस्या विश्वव्यापी है। विघटन का यह चरम उदाहरण है। विघटन के अन्य स्वरूपों में तो कुछ गुंजाइश रहती है, व्यक्ति का सुधार संभव है, पर यहाँ तो व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है। फिर सुधार का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

आत्महत्या की इस विघटनकारी समस्या का निवारण अत्यंत आवश्यक है। व्यक्ति के विकास और सुख के लिए, परिवार की आधारशिला को दृढ़ बनाने के लिए और समाज को स्वस्थ और सबल बनाने के लिए आत्महत्या का उत्तम समाधान निकालना परम आवश्यक है। व्यक्ति जबतक अपने शरीर के साथ मनमानी करने के लिए स्वतंत्र रहेगा, तबतक आत्महत्या का निदान संभव नहीं है।

आत्महत्या का निवारण न तो केवल कानून से हो सकेगा और न केवल समझाने-बुझाने से। उसके लिए तो उन सभी उपायों और साधनों का आश्रय लेना पड़ेगा जिनसे इस समस्या को सफलतापूर्वक सुलझाया जा सके।

आत्महत्या का निवारण आत्महत्या संबंधी भ्रांत धारणाओं का उन्मूलन करके इस समस्या पर सभी दृष्टियों से विचार द्वारा हो सकेगा। यह समस्या

आत्महत्या-निवारण के उपाय

वैयक्तिक विघटन की ही समस्या नहीं है, इसमें पारिवारिक विघटन भी जुड़ा है और सामुदायिक विघटन भी। व्यक्ति टूटता है तो परिवार टूटता

जापान के राष्ट्रीय जीवन में 'हाराकीरी' ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान ले रखा है। प्राणांत की यह प्रक्रिया भावुक जापानियों के लिए सामान्य-सी बात बन बैठी है। जरा-सी कोई बात हुई कि जापानी स्त्री-पुरुष हाराकीरी कर लेते हैं। एक दाई से काँच की एकाध तश्तरी टूट गयी। वह अपने टोप को मालिक के यहाँ छोड़ कर चल दी। उसे उलट कर देखा गया तो उसमें एक पुर्जा था और एक चेक। लिखा था कि मेरी असावधानी से तश्तरी टूट गयी। क्षतिपूर्ति के लिए चैक है। क्षमा करें, मैं हाराकीरी करने जा रही हूँ। भारत के एक व्यापारी वंसी ने वहाँ के प्रवास के संस्मरणों में ऐसी घटनाएँ दी हैं। उन्होंने आत्महत्या-निवारण के एक महिला के प्रयास का भी वर्णन किया है। बताया है कि उक्त महिला ने समुद्र तटवर्ती उस स्थान पर एक बड़ा-सा आकर्षक साइन बोर्ड लगा दिया है, जहाँ से प्रायः समुद्र में कूद कर लोग हाराकीरी करते रहे हैं।

उक्त साइन बोर्ड में लिखा है—"हाराकीरी के इच्छुक लोगो, हाराकीरी करने से पहले दो मिनट मुझसे बात कर लो!"

उस महिला ने निकट ही अपना शिविर लगा लिया। हाराकीरी के इच्छुक लोग उसके पास आने लगे। वह सहानुभूतिपूर्वक उनकी समस्याएँ सुनने लगी और उन्हें तर्कसंगत विधि से समझाने लगी। भावावेश के प्रथम उबाल को वह स्नेह और प्रेम के छींटे दे-देकर शांत करने लगी। उस महिला ने इस प्रकार सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के प्राणों की रक्षा की।

आत्महत्या निवारण के लिए ये उपाय काम में लाये जा सकते हैं—

१. आत्महत्या के इच्छुक व्यक्ति को प्रेम से, सहानुभूति से समझाया जाय। उसके भावावेश को रोका जाय। वह जिस कष्ट और संकट के चलते इस मार्ग पर चलने को तत्पर हो रहा है, उसका समाधान निकालने का प्रयत्न किया जाय।

२. उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मानसचिकित्सा का प्रबंध किया जाय।

३. उसकी वैयक्तिक और पारिवारिक समस्याओं के निराकरण के लिए समुचित आर्थिक तथा अन्य प्रबंध किये जायें।

४. जिन धार्मिक रूढ़ियों, प्रथाओं और सामाजिक कुरीतियों के कारण लोग आत्महत्या की ओर बढ़ते हैं, उन्हें मिटाने के लिए जोरदार प्रयत्न किया जाय।

५. पर्यावरण के जो दोष व्यक्ति को निराश और दुःखी करते हैं, उन्हें दूर करने के लिए भरपूर प्रत्यन किया जाय।

६. आत्महत्या का प्रयास करनेवालों को रोकने के लिए कानून बने हैं। उनमें दंड और सजा की व्यवस्था की गयी है। दंड इसका उपाय नहीं है। मनुष्य जब परिस्थितियों से विवश होता है तभी ऐसे घातक साधन का आश्रय लेता है। उसके विषाद के मूल कारण को दूर करना चाहिए, न कि उसे दंड देना चाहिए। उसके मामले पर सहानुभूति और उदारता से विचार कर उसकी समुचित सहायता करनी चाहिए।

आत्महत्या मानव की दयनीय स्थिति की चरमावस्था है। ऐसा प्रयास करनेवाला व्यक्ति सहानुभूति और स्नेह का पात्र है। स्नेह और प्रेम से ही इस समस्या का निवारण संभव है। समाज और राज्य, व्यक्ति और परिवार, मानव के समाजीकरण की संस्थाएँ और पद्धतियाँ सभी में स्नेह का स्नेहन रहेगा, तभी विघटन की यह घातक प्रक्रिया रुक सकेगी। इसके निवारण का अन्य कोई उपाय नहीं है।

●

(ख) पारिवारिक विघटन की समस्याएँ

अध्याय : १३

पारिवारिक विघटन

"मनुष्य को परिवार में प्रेम का भरपूर विस्तार करना चाहिए। उसे माता-पिता की भली-भाँति सेवा करनी चाहिए। उनका भरपूर आदर करना चाहिए। संतान का प्रेम, पत्नी का प्रेम, वीणा की तरह, बाँसुरी की तरह मीठा होता है। भाइयों के स्नेह से जीवन में मधुरता आती है। पति और पत्नी प्रेम के धागे में बँधे रहते हैं। पति गाता है, पत्नी दोहराती है। वे प्रेम से रहेंगे तो उनकी संतान भी अच्छी होगी, गुणी होगी, सदाचारी होगी, नहीं तो वह नालायक निकलेगी। नालायक संतानों से सारा राष्ट्र पतन की ओर चला जायगा।"[१]

ये शब्द हैं कांगफ्यूत्सी के, कन्फ्यूशस के। ईसा से ५५१ वर्ष पूर्व जन्मे इस महापुरुष ने चीन को ही नहीं, सारे विश्व को एक अत्यंत उदार धर्म की भेंट दी। मनुष्य का कर्त्तव्य एक शब्द में बताने के लिए जब उससे कहा गया था तो वह बोला—'भाईचारा, प्रेम!' वस्तुतः यही वह रसायन है जो मानव मात्र को एक सूत्र में बाँध सकती है। उसी का एक छोटा-सा उदाहरण है—परिवार।

परिवार ही मानव की सबसे पहली पाठशाला है। परिवार की ही गोद में बालक का सबसे पहले प्रवेश होता है। यहीं पर उसे सामाजिक गुणों की घूंटी पिलायी जाती है। स्नेह, सहयोग, सहिष्णुता, शिष्टाचार, परोपकार, सेवा, सहायता, सम्मान, आदर, आज्ञापालन, त्याग, बलिदान, कष्टसहन, सदाचार, संयम, श्रम आदि अनेक गुण व्यावहारिक रूप में बालक के समक्ष उपस्थित रहते हैं। यहीं पर उसे नैतिकता का, धार्मिकता का, लौकिक व्यवहार का शिक्षण प्राप्त होता है। परिवार की, घर की देहली लाँघने के पूर्व ही उसे नाना प्रकार के गुणों की शिक्षा मिल जाती है जो आगे चल कर उसके जीवन का पाथेय बनती है और उसके जीवन को परिपुष्ट एवं परिपक्व बनाती है।

पारिवारिक पाठशाला

---

१. श्री कृष्ण दत्त भट्ट : ताओ और कनफ्यूश धर्म क्या कहता है? १९६८, पृष्ठ ५६-५७

परिवार : मानव समाज की मूल इकाई

परिवार मानव समाज की मूल इकाई है। यह व्यक्ति के समाजीकरण की पहली सीढ़ी है। बालक पृथ्वी पर आते ही परिवार की गोद में अपने को पाता है। जीवन की इस पहली पाठशाला में पप-पप सीख कर ही, इस ज्ञान मंदिर में पल-पुस कर ही वह विश्व रंगमंच का खिलाड़ी बनता है। व्यक्ति के विकास का मूलाधार परिवार ही होता है। सभ्यता के उदय के साथ ही परिवार संस्था की नींव पड़ती है।

समाजशास्त्रियों ने इस तथ्य को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि मनुष्य को मनुष्य बनाने में सबसे बड़ा हाथ परिवार का होता है। माता और पिता, दादा और दादी, चाचा और चाची, भाई और बहन आदि के स्नेह की छाया में ही पनप कर मनुष्य, मनुष्य बनता है और अपने जीवन को सार्थक बनाता है।

अगस्त कौंत कहता है—'आज्ञापालन तथा अनुशासन की दृष्टि से पारिवारिक जीवन सामाजिक जीवन की शाश्वत पाठशाला के रूप में बना रहेगा।' मेजिनी कहता है-—'माँ के चुम्बन तथा पिता के वात्सल्य से ही बालक नागरिकता का पहला पाठ पढ़ता है।' बोगर्ड्स कहता है—'आत्मत्याग ही परिवार की आधारशिला है। बच्चों के शिक्षण के लिए यह सर्वोत्तम पाठशाला है।' बर्जेस और लॉक का मत है—'परिवार एक ऐसा छोटा सामाजिक वर्ग है, जिसमें सामान्यतः माता-पिता और बच्चे रहते हैं, जिसमें प्रेम एवं उत्तरदायित्व का न्यायोचित विभाजन होता है और जिसमें बच्चों को आत्मनियंत्रित बनाने की तथा सामाजिक बनने की शिक्षा दी जाती है।' अल्फ्रेड जे० शा कहता है—'रोगियों, वयोवृद्ध लोगों तथा असहायों की सेवा-सहायता की शिक्षा बच्चों को परिवार में ही सबसे पहले प्राप्त होती है। वे उसके मूकदर्शक ही नहीं रहते, अपितु उसमें हाथ भी बँटाते हैं।'

परिवार : एक सामाजिक संस्था

परिवार एक सामाजिक संस्था है। बोगर्ड्स ने सामाजिक संस्था की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक संस्था समाज का वह ढांचा है, जिसका संगठन सुव्यवस्थित रीति से मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है।'[1]

---

१. ई० एस० बोगर्ड्स; सोशियोलाजी, पृष्ठ ४७८।

किसी भी सामाजिक संस्था के कुछ निश्चित कार्य होते हैं। जैसे, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना, मानव का मार्गदर्शन करना, मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण करना, मानवीय व्यवहारों में अनुरूपता उत्पन्न करना आदि। ये संस्थाएँ संस्कृति की वाहिकाएँ होती हैं। उनके कुछ कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, कुछ अप्रत्यक्ष। समाज के संगठन के लिए संस्थाओं की आवश्यकता अनिवार्य है। संस्थाओं का अस्तित्व मानव जाति की सेवा करने के लिए होता है।

मैकाइवर ने संस्थाओं की विवेचना करते हुए ठीक ही लिखा है कि 'सामाजिक संस्थाएँ जब मानव सेवा के उद्देश्य की पूर्ति करना बंद कर देती हैं तो उनकी मृत्यु निश्चित है। फिर न तो प्राचीनता की दुहाई उन्हें मरने से बचा सकती है और न पावित्र्य की भावना।'[१]

संस्थाएँ जिस प्रकार सामाजिक संगठन का आधार एवं साधन होती हैं, उसी प्रकार वे सामाजिक विघटन का भी साधन बन सकती हैं। विघटन की स्थिति में वे स्वयं ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार कर अपने सर्वनाश का आह्वान करती हैं।

कौंत कहता है—'परिवार एक सामाजिक इकाई है। मनुष्य अकेला रह कर जीवित नहीं रह सकता, पर परिवार अकेला रहकर जीवित रह सकता है।' और 'परिवार भूत और भविष्य को जोड़ने वाली कड़ी है। वह सामाजिक सातत्य की एक अनिवार्य शृंखला है।'[२]

परिवार की महत्ता किसी से छिपी नहीं है। मानव सभ्यता की प्रथम किरणों के साथ ही परिवार का जन्म हुआ है। संत कंफ्यूत्सी—कन्फ्यूशियस—वात्सल्य भावना की व्याख्या करते हुए कहता है—'संतान के प्रति वात्सल्य की पवित्र भावना सभी गुणों का मूलाधार है। उसी में से सारे नैतिक उपदेशों का जन्म होता है। हम अपने शरीर के लिए अपने माता-पिता के ऋणी हैं।

परिवार की महत्ता

उन्हें हम किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचायें— यहाँ से इस वात्सल्य भावना का श्री गणेश होता है और जब हम अपने सत्कर्मों द्वारा माता-पिता की कीर्ति में चार चाँद जोड़ते हैं तो यह भावना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। (धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू।।) इसका आरम्भ होता है माता-पिता की सेवा से, इसका विस्तार होता है शासक या

---

१. आर० एम० मैकाइवर : कम्युनिटी, पृष्ठ १६२—१६३।

२. अगस्त कौंत : पाजिटिव फिलासफी, खंड २, पृष्ठ २८७-२९२।

स्वामी की सेवा से और इसकी पूर्ति होती है चरित्र के निर्माण से।...जो व्यक्ति अपने माता-पिता से प्रेम करेगा, वह ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे कोई उसके प्रति घृणा प्रकट करे। लोगों को प्रेममय बनाने के लिए वात्सल्य भावना से उत्कृष्ट कोई वस्तु नहीं है। जीवनकाल में माता-पिता की सेवा में प्रसन्नता प्राप्त करना और उनके निधन पर दुःखी होना मानव का कर्तव्य है। इस वात्सल्य द्वारा सभी लोग प्रेममय एवं आनन्दमय जीवन बिताते हैं। इसके कारण बड़ों और छोटों के बीच किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं रहता।'[१]

परिवार में बालक का सर्वांगीण विकास होता है। उसके मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का तथा उसके व्यक्तित्व का भरपूर विकास होता है। आज की दुःखद स्थिति की चर्चा करते हुए सोरोकिन कहता है कि 'आज के इस युग में भी जब पारिवारिक संगठन बहुत-कुछ दुर्बल हुआ है, नागरीकरण और औद्योगीकरण के चलते वह विघटन की दिशा में बढ़ रहा है, फिर भी आज बालकों की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक गढ़न के लिए परिवार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था बना हुआ है।'[२]

ईसा ने परिवार को धर्म तथा राज्य से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कहना था कि 'माता-पिता का आदर करो। पत्नी का आदर करो।

परिवार का महत्त्व

बच्चों का आदर करो। बच्चों में तो प्रभु की निर्मलता तथा पवित्रता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।'[3] ईसा के प्रसिद्ध शिष्य संत पाल का भी यही कहना था—'बच्चे अपने माता-पिता का आदर तथा उनकी सेवा करें। पत्नी पति की आज्ञा का पालन करे। पति अपनी पत्नी से प्रेम करे।'[४]

समाजशास्त्री हेईस कहता है कि 'परिवार सामाजिक नियंत्रण तथा शिक्षण की सर्वश्रेष्ठ सामाजिक संस्था है।'[५]

डब्ल० एच० बेवरिज कहता है कि 'परिवार के घेरे के भीतर ही बालक अपनी पसन्दगी और नापसंदगी, घृणा और प्रेम की उपलब्धि करता है। परि-

---

१. दि सिआओ किंग एंड क्लैसिक ऑफ फाइलियल पाइटी, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, (आक्सफोर्ड, १८७९), खंड ३, पृष्ठ ४६८-४८८।

२. पी० ए० सोरोकिन: दि वेज एंड पावर आफ लव, १९५७, पृष्ठ १९१।

३. मार्क ९।४२

४. एफेशियंस ५: २२-२३; कोलोशियंस, ३:१८-१९।

५. एच० सी० हेईस : इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ सोशियालाजी, पृष्ठ १६९।

बार ही उसे सिखाता है कि वह किस वस्तु की कामना करे, किन सुखों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे तथा किन कार्यों को उत्तम एवं वांछनीय माने। परिवार के भीतर ही वह सहयोग और आत्म-नियंत्रण, नम्रता और सहानुभूति तथा परार्थवाद जैसे गुणों का शिक्षण प्राप्त करता है।'

मानव जीवन पर परिवार का जो प्रभाव पड़ता है उस सम्बन्ध में अनेक अनुसंधान तथा शोध किए गए हैं, उनसे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गयी है कि

शोधों का परिणाम

जो बालक प्रेम, सद्भाव और सहानुभूति की छाया में पलते हैं, वे आगे चलकर स्वस्थ और पवित्र मानव के रूप में विकसित होते हैं। जिन बालकों को भरपूर स्नेह, सम्मान और आदर नहीं मिलता, वे आगे चलकर समाजविरोधी रूप धारण कर बैठते हैं। एस०एण्ड ई० ग्लूएक की 'अनरेवलिंग जुविनाइल डेलिनक्वेंसी; (न्यूयार्क,१९५०), 'फाइव हंड्रेड डेलिनक्वेंट वीमेन', (न्यूयार्क, १९३४) और एस० एस०ग्लूएक की 'वन थाउजेंड जुविनाइल डेलिनक्वेंट्स', (न्यूयार्क, १९३४) में इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में कोई निर्विवाद मत नहीं है।

परिवार की उत्पत्ति

दन्तकथाओं में अनेक प्रकार की बातें कही जाती हैं। उनके आधार पर कुछ लोग ऐसा मत व्यक्त करते हैं कि आरम्भिक आदि काल में स्त्री-पुरुष सर्वथा स्वच्छन्द रूप से विहार करते थे। बाद में उन्हें परिवार बनाकर रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

महाभारत में श्वेतकेतु की कथा आती है। कहते हैं कि एक बार उसकी माता को लेकर कोई ऋषि जाने लगा तो उसने पिता से जिज्ञासा की। यह ज्ञात होने पर कि स्त्री-पुरुष पशुओं की भाँति स्वच्छन्द विहार करते हैं, उसे अत्यन्त बुरा लगा। तभी से उसने समाज में विवाह की पद्धति चलायी और व्यवस्थित सदाचारपूर्ण जीवन बिताने पर बल दिया।[1]

कुछ इतिहासज्ञ मानते हैं कि पहले समाज में बहुपति प्रथा प्रचलित थी। भारत में कुमायूँ और शिवालक के पहाड़ी प्रदेशों में आज भी ऐसी प्रथा पायी जाती है। डाक्टर जोलो ने 'हिन्दु लॉ एण्ड ज्यूरिसप्रूडेन्स' में इसी प्रथा को परिवार संस्था के उदय का कारण माना है।

---

१. हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ ३।

जीवविज्ञानवेत्ता मानते हैं कि प्राचीन काल में वन्य जीवन में आखेट ही मुख्य व्यवसाय था। माँ बच्चे का पालन करती थी। पति वन में आखेट की खोज में जाता था। बच्चा माँ को ही जानता था। इस प्रकार मातृप्रधान परिवार का जन्म हुआ।

भाषाविद् कहते हैं कि प्राचीन काल में आर्य लोग विश्व के विभिन्न अंचलों में फैल गये। कोई कहीं गया, कोई कहीं। संस्कृत उनकी मूल भाषा थी। उसका 'पितृ' शब्द लैटिन में 'पेटर' और अंग्रेजी में 'फादर' हो गया। प्राचीन पारिवारिक शब्दों में 'पितृ' शब्द की ही प्रधानता बताकर सर विलियम जोन्स यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राचीन काल में परिवार का स्वरूप पितृ-प्रधान था।[१]

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये सिद्धांत विवादास्पद हैं। मूल बात यह है कि पति, पत्नी और बच्चों को लेकर परिवार का उदय हुआ।

आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी होती है। मानव की नाना प्रकार की आवश्यकताओं ने ही 'परिवार' संस्था को जन्म दिया है। इस संस्था में मानव की नाना प्रकार की आवश्यकताओं की सहज पूर्त्ति होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य परिवार के भीतर रहता है, वहीं पुष्पित-पल्लवित होता है और वहीं उसकी अनेकानेक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। जैसे,

परिवार में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति

१. जीवन धारण संबंधी आवश्यकताएँ,

२. सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताएँ,

३. सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकताएं,

४. आर्थिक आवश्यकताएँ,

५. नैतिक, धार्मिक तथा अन्य आवश्यकताएं।

जीवन-धारण संबंधी आवश्यकताएँ : मानव शिशु जन्म के समय अत्यंत असहाय होता है। पैरों पर खड़े होने में उसे पर्याप्त समय लगता है। उसका शरीर अत्यंत कोमल होता है। यदि उस समय उसकी रक्षा न की जाय, उसके लिए आवश्यक दूध तथा अन्य पौष्टिक आहार की तथा उसकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न की जाय, तो उसका जीवित रहना ही कठिन है।

---

१. शिवस्वरूप सहाय : हिन्दू सामाजिक संस्थाएँ, १९६४, पृष्ठ ९४-९६।

निवास, भोजन, वस्त्र, सुरक्षा आदि के बिना किसी भी व्यक्ति का जीवन धारण कठिन ही नहीं, असंभव जैसा है। मानव की ये सभी आवश्यकताएँ परिवार की छाया में सहज ही पूरी होती हैं। यहाँ उसकी सुरक्षा तथा जीवन धारण के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ अत्यंत सावधानीपूर्वक जुटायी जाती हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताएँ : मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानव की ४ दुर्दमनीय सामाजिक प्रवृत्तियाँ होती हैं—(१) शिशुरक्षण, (२) यूथाचारिता, (३) आत्मप्रदर्शन, और काम-प्रवृत्ति। इनकी पूर्त्ति परम आवश्यक मानी गयी है।

माता-पिता तथा परिवार के सभी सदस्य शिशु-रक्षण के लिए नाना प्रकार के कष्ट हँसते-हँसते उठाते हैं। बच्चों को कष्टमुक्त रखने के लिए, उनके भली प्रकार पालन-पोषण के लिए माता-पिता क्या नहीं करते ? उनके विकास, उनकी उन्नति और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए वे अपनी शक्ति भर प्रयत्न करते हैं। कोई भी बात उठा नहीं रखते। आज मानव जाति इतनी उन्नत, विकसित एवं समृद्ध है, उसका सारा श्रेय माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों को ही है।

मानव 'एकाकी न रमते'। उसे संग-साथ चाहिए। घर-परिवार में सभी आयु के संगी-साथी, छोटे-बड़े, हितचिंतक लोग रहते हैं। उनके व्यवहार और स्नेह से मानव की प्यार की भूख मिटती है। वह सुखपूर्वक बढ़ता है।

मानव की आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति परिवार में सहज ही पूरी होती है। पत्नी और पति, बालक और वयस्क सभी एक दूसरे के गुणों की प्रशंसा करते हैं। 'ज्यों बड़री अँखिया निरखि आंखिन को सुख होत।' घर के सभी व्यक्ति अपने हैं। यह अपनत्व की भावना अत्यंत गहरी होती है। उसकी छाया में सारे दोष छिप जाते है और गुण-ही-गुण दीखने लगते हैं। इससे सभी की संतुष्टि होती है।

परिवार में यौनेच्छाओं की पूर्ति के लिए विवाह की तथा उत्तम प्रकार से वैवाहिक जीवन विताने की भरपूर व्यवस्था रहती है। भारतीय जीवन में काम-प्रवृत्ति के उदात्तीकरण के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्यवस्था है। पति-पत्नी को विवाह के समय ही इस बात की शिक्षा दे दी जाती है कि उन्हें पवित्र और संयमपूर्ण जीवन विताते हुए मोक्ष की साधना करनी है।

हँसना, खेलना, मनोरंजन करना मानव के लिए परम आवश्यक होता है। परिवार में इसके लिए खूब खुला क्षेत्र रहता है। वहाँ बच्चों की तोतली

बोली भी है, देवर-भाभी, ननद-भाभी का विनोद है और विभिन्न लोगों के विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप भी हैं। उन सब में मस्त होकर मनुष्य अत्यंत प्रसन्न रहता है। एक क्षण के लिए भी उसे नीरसता और मनहूसी का अनुभव नहीं होता।

सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकताएँ : मानव यह चाहता है कि उसका सामाजिक जीवन सम्मानपूर्ण रहे। वह आदर और प्रतिष्ठा का पात्र बने। यह सामाजिक प्रतिष्ठा ही मानव की सामाजिक सुरक्षा का कारण बनती है।

आर्थिक आवश्यकताएँ : परिवार में सभी प्रकार के सदस्य रहते हैं। कुछ समर्थ, कुछ असमर्थ, कुछ बाकार, कुछ बेकार। परिवार इन सबकी—छोटे से लेकर बड़े तक की—आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अनाथ, बूढ़े और विधवा, अपाहिज और उपार्जन में अक्षम व्यक्ति भी परिवार में निश्चिततापूर्वक भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। इस संबंध में परिवार कभी कोई भेद नहीं करता। सब की आवश्यकताओं की पूर्ति का वह पूरा ध्यान रखता है और सभी को वह परिवार का अंग मानकर तदनुकूल यथासमय व्यवस्था करता है। परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना परिवार का पुनीत कर्त्तव्य माना जाता है।

नैतिक, धार्मिक तथा अन्य आवश्यकताएँ : धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि मानव की शाश्वतकालीन जिज्ञासा के विषय हैं। नीति और सदाचार उस दिशा में बढ़ने के साधन हैं। परिवार में इन सभी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए, सदाचार और सद्गुणों के विकास के लिए उत्तम स्थान रहता है। समय-समय पर होनेवाले तिथि, त्यौहार, उत्सव और इसी प्रकार के विभिन्न आयोजन मानव को मूल आनन्द के स्रोत की ओर उन्मुख करते हैं।

परिवार के प्रकार्य

परिवार संस्था पुरातन काल से लेकर औद्योगिक क्रांति और सामाजिक परिवर्त्तन के पूर्व तक जिन अनेक प्रकार्यों को करती आ रही थी, उनमें प्रमुख प्रकार्य वे ही हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। जीवन रक्षक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक, नैतिक, सामाजिक सुरक्षात्मक प्रकार्य परिवार के विशिष्ट प्रकार्य रहे हैं। पारंपरिक परिवार इन सभी प्रकार्यों को करता आ रहा था, परंतु सामाजिक एवं औद्योगिक क्रांति के उपरांत उसके

अनेक प्रकार्य इधर-उधर बँट गये हैं। इलियट और मेरिल के अनुसार ये तीन प्रकार्य आज भी परिवार के साथ संलग्न हैं—[1]

१. **प्राणिशास्त्रीय प्रकार्य :** इसमें परिवार का वह प्रकार्य आता है जिसके अन्तर्गत परिवार समाज द्वारा स्वीकृत उन संबंधों का आयोजन करता है जिससे बालकों का जन्म होता है।

२. **समाजीकरण प्रकार्य :** इसमें परिवार का वह प्रकार्य आता है जिसके माध्यम से सामाजिक अंतर्क्रियाओं द्वारा बालक का समाजीकरण होता है। परिवार में मानव स्वीकृत सामाजिक व्यवहारों, कार्यों, रुचियों, मूल्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। परिवार के माध्यम से वह भाषा, धार्मिक विश्वास तथा अन्य सांस्कृतिक तत्व को सीखता है।

३. **स्नेहन प्रकार्य :** इसमें परिवार का वह प्रकार्य आता है जिसके माध्यम से परिवार में स्नेह और प्रेम का वितरण होता है। केवल यौन-संतुष्टि ही नहीं, इसमें सहानुभूति, सद्‌भाव, आत्मसंतुष्टि आदि वे सभी बातें रहती हैं जिनसे मानव परस्पर घनिष्ठता का बोध करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इसमें मानव की प्रेम पाने और प्रेम करने की क्षुधा की तृप्ति होती है।

परिवार के ये प्रकार्य मानव की नाना प्रकार की आकांक्षाओं की संतुष्टि तो करते ही हैं, उसे सच्चे अर्थ में मानव बनाते हैं। उसके व्यक्तित्व का विकास, उसका समाजीकरण परिवार की पाठशाला से ही होता है। परिवार का स्नेह-वितरण का प्रकार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें जहाँ कमी पड़ी कि व्यक्ति भी विघटित होने लगता है, परिवार भी।

परिवार की संरचना और उसके कार्यों को देखते हुए ग्रीन ने परिवार की जो परिभाषा की है उसमें कहा है कि परिवार में अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा निवास की औपचारिक व्यवस्थापना के साथ-साथ आयु, लिंग तथा उनके संबंधों की स्थिति भी सम्मिलित मानी जाती है।

परिवार की परिभाषा

ग्रीन के मत से परिवार में तीन प्रकार की उपसंरचनाएँ रहती हैं—(१) पारिवारिक परिस्थिति और घर-गृहस्थी के निवास आदि की संरचना, (२) सदस्यों की आयु, लिंग और पारस्परिक संबंधों को लेकर जैविकीय संरचना तथा सदस्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की संरचना।

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३५०-३५२

अमेरिका के जनगणना ब्यूरो—ब्यूरो ऑफ दि सेंसस—ने परिवार की जो परिभाषा दी है, उसमें कहा है कि 'परिवार दो या दो से अधिक व्यक्तियों का वह समूह है, जो एक साथ निवास करते हैं और रक्त-संबंध, विवाह अथवा दत्तक व्यवस्था के कारण वे परस्पर संबद्ध रहते हैं।' इलियट और मैरिल ने कहा है कि इस परिभाषा के अंतर्गत बड़े और कई पीढ़ियों वाले परिवार को छोड़ कर और सभी परिवार आ जाते हैं। जैसे, बालकहीन परिवार, विधवा अथवा विधुर के परिवार, अवैध संतानों वाले परिवार, अविवाहित माता तथा संततिवाले परिवार, विवाह-विच्छेद की हुई महिला और उसके बच्चों के परिवार और 'सामान्य' परिवार जिसमें माता, पिता और बच्चे सम्मिलित रहते हैं।[1]

परिवार के प्रकार

परिवारों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। जैसे, परिवार के प्रधान के आधार पर, विवाह के आधार पर, संगठन के आधार पर, संपत्ति के उत्तराधिकार के आधार पर।

१. प्रधान के आधार पर—
   (१) पितृमूलक परिवार—(२) मातृमूलक परिवार।
२. विवाह के आधार पर—
   (१) एक-विवाह परिवार, (२) बहु-विवाह परिवार, (३) बहु-पतिपरिवार।
३. संगठन के आधार पर—
   (१) संयुक्त परिवार, (२) व्यक्तिगत परिवार
४. संपत्ति के आधार पर—
   (१) मिताक्षरा परिवार, (२) दायभाग परिवार

पितृमूलक परिवार : पितृमूलक परिवार में सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति ही परिवार का प्रधान होता है। इसमें वंशपरंपरा पुरुषों से चलती है। पुत्र ही संपत्ति का उत्तराधिकारी माना जाता है। परिवार का सारा प्रबंध पिता के ही हाथ में रहता है। परिवार के सभी सदस्यों पर उसी का नियंत्रण रहता है। ऐसे परिवार में स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी मिलकर एक साथ रहते हैं। प्राचीन काल में रोम में ऐसी ही व्यवस्था थी। वहाँ पर गृहपति 'पेटर फेमिलिया' कहलाता था। आज विश्व के अधिकांश अंचलों में पितृमूलक परिवार ही देखने में आते हैं।

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३३९-३४०

मातृमूलक परिवार : मातृमूलक परिवार में माता का प्राधान्य रहता है। सबसे वयोवृद्ध महिला के हाथ में ही परिवार के शासन की व्यवस्था रहती है। मैकाइवर के अनुसार ऐसे परिवारों में वंश-परंपरा का निश्चय माता से ही होता है। पितृमूलक परिवार में विवाह के उपरांत वधू पति के घर में आती है, जबकि मातृमूलक परिवार में पति को ही पत्नी के यहाँ जाकर रहना पड़ता है। असम की गारो और खसी जातियों में मातृ-मूलक परिवार की ही परंपरा है। केवल असम में ही क्यों, मलाबार की नायर, वेल्लार, वरवी, देवदिन, गुरुक्कल, जोगीपुरुष, केलसी, मलभाली पल्लन, समंतन, थियन आदि जातियों में मातृमूलक परिवारों की प्रथा जीवित है। ऐसे परिवारों में माता ही परिवार का केंद्र होती है। परिवार की मूल पूर्वजा भी स्त्री ही मानी जाती है। यहाँ पत्नी का महत्त्व पति से अधिक माना जाता है। बहन की संतान भाई की संपत्ति की अधिकारिणी मानी जाती है। माता के अधिकारों का प्रयोग उसके पिता अथवा भाई करते हैं।

एक-विवाह परिवार : जहाँ पर पुरुष केवल एक विवाह करता है, वे परिवार 'एक-विवाह परिवार' कहलाते हैं। यहूदियों और ईसाइयों में तो चिरकाल से यह प्रथा चली आ रही है, आज सारे विश्व में इसका प्रचलन हो रहा है। मुसलमानों में जहाँ पुरुष को चार-चार विवाह करने का प्रचलन रहा है, वहाँ भी अब यह मांग की जाने लगी है कि एक-विवाह की पद्धति अपनायी जाय।

बहु-विवाह परिवार : कहीं-कहीं पर पुरुष को एकाधिक विवाह करने और एक से अधिक पत्नियाँ रखने की छूट है। इसका एक कारण यह भी रहा है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक रहने से ऐसा प्रचलन ठीक मान लिया गया। इसलाम में पुरुषों को ४-४ पत्नियाँ तक रखने की छूट है, किंतु इसके लिए शर्त यह रखी गयी है कि कोई भी पुरुष तभी एकाधिक विवाह करे जब वह सभी पत्नियों के साथ समान व्यवहार कर सके और सभी पत्नियों को बरावर-बरावर स्नेह प्रदान कर सके। भारत में अनेक स्थानों पर बहु-विवाह परिवार हैं।

बहुपति परिवार : इस प्रकार के परिवारों में पत्नी एक रहती है, पति अनेक। सभी लोग मिलकर संयुक्त रूप में रहते हैं। कई-कई भाइयों के बीच एक ही पत्नी रहने का कारण या तो दरिद्रता होती है अथवा स्त्रियों की संख्या में कमी। पारिवारिक संपत्ति और खेती के अनेक छोटे-छोटे टुकड़े न

हो जायँ, इस दृष्टि से भी कहीं-कहीं ऐसी प्रथा प्रचलित है। जौनसर बावर, मलाबार, नीलगिरि आदि भारत के कई प्रदेशों में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। इनमें से कुछ परिवार अपने को द्रौपदी का वंशज बताकर अपनी प्रथा के औचित्य का समर्थन करते हैं।

संयुक्त परिवार : संयुक्त परिवार में माता और पिता, चाचा और चाची, पति और पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू, भाई और भावज, उनकी संतानें—इस प्रकार कई पीढ़ियाँ एक साथ मिल कर रहती हैं। परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का प्रधान रहता है। सभी लोग अपनी कमाई उसके पास एकत्र करते हैं। वह सब की आवश्यकता के अनुरूप उस कमाई का वितरण करता है और पूरे परिवार का पालन-पोषण करता है। चीन और भारत जैसे पुरातन देशों में संयुक्त परिवारों का बाहुल्य है।

व्यक्तिगत परिवार : पति, पत्नी और संतान को लेकर ही बननेवाला परिवार 'व्यक्तिगत परिवार' कहलाता है। परिवार का यह सरलतम रूप है। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के परिवारों का बाहुल्य है। आजकल प्रायः सभी देशों में संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और व्यक्तिगत परिवारों की वृद्धि होती चल रही है।

मिताक्षरा परिवार : पारिवारिक संपत्ति के उत्तराधिकार को लेकर भारत में मिताक्षरा परिवार और दायभाग परिवारों का प्रचलन हुआ। ये परिवार सपिंड के आधार पर बनते हैं। मिताक्षरा को जन्मना स्वत्व भी कहा जाता है। इस सिद्धांत में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का संपत्ति में जन्मना ही अधिकार मानते हैं। पिता—कर्ता—पैतृक संपत्ति का स्वामी नहीं माना जाता। वह उसका रक्षक मात्र माना जाता है। मिताक्षरा सिद्धांत के संस्थापक विज्ञानेश्वर हैं। नीलकंठ तथा नंद पंडित ने विज्ञानेश्वर के मत को कुछ संशोधन के साथ स्वीकार किया है। असम और बंगाल के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में यह पद्धति चालू है।

दायभाग परिवार : जीमूतवाहन दायभाग सिद्धांत के उन्नायक माने जाते हैं। इस सिद्धांत में 'सपिंड' का अर्थ पिंडदान किया गया है। इसमें सगोत्रों का भी अधिकार स्वीकार किया गया है। इस सिद्धांत को 'उपरम स्वत्व सिद्धांत' भी कहा जाता है। बंगाल में इसका विशेष रूप से प्रचलन है। इस पद्धति में परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का संपत्ति में अधिकार माना जाता है, परंतु वह अधिकार व्यक्तिगत रूप में न मानकर सामूहिक रूप में माना जाता है।

मिताक्षरा पद्धति जहाँ अप्रतिबंधित है, वहाँ दायभाग पद्धति सप्रतिबंधित है। मिताक्षरा में जहाँ संपत्ति में प्रत्येक सदस्य का जन्मजात अधिकार माना जाता है, दायभाग में ऊपर के सदस्य की मृत्यु पर ही संपत्ति का बँटवारा किया जा सकता है। मिताक्षरा में पिता को चल संपत्ति को यथारुचि व्यय करने का अधिकार रहता है, अचल संपत्ति के संबंध में ऐसा अधिकार नहीं रहता, फिर वह अचल संपत्ति चाहे पैतृक हो, चाहे स्वार्जित हो। दायभाग में पिता को चल एवं अचल, दोनों प्रकार की संपत्तियों पर पूर्ण अधिकार रहता है।[1]

काणे ने 'धर्मशास्त्रों के इतिहास' में बहुत विस्तार से इन सिद्धांतों का विवेचन किया है और बताया है कि धर्मशास्त्रों ने उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार करते समय कितनी बारीकी से अनेक पक्षों पर विचार किया था।

विभिन्न कारणों से परिवार के ये अनेक स्वरूप बन गये हैं। विश्व के विभिन्न अंचलों में कहीं किसी प्रकार के परिवार हैं, कहीं किसी प्रकार के। परंतु मोटे तौर पर दो प्रकार के परिवार ही मुख्य हैं—संयुक्त परिवार और व्यक्तिगत परिवार। पहले प्रधानतः संयुक्त परिवार ही सर्वत्र प्रचलित है। पारिवारिक विघटन के तत्वों ने संयुक्त परिवारों को व्यक्तिगत परिवारों में विभक्त कर दिया है। आज तो व्यक्तिगत परिवार भी खंडित होते जा रहे हैं।

संयुक्त परिवार विस्तृत परिवार होता है। इसमें केवल माता-पिता और संतानें ही नहीं, भाई-भतीजे, सौतेले भाई-भतीजे, उनके बाल-बच्चे आदि कई पीढ़ियों के लोग एक ही परिधि के भीतर रहते हैं।[2]

संयुक्त परिवार के लक्षण

श्रीमती कर्वे के मत से 'संयुक्त परिवार लोगों का वह परिवार है जो सामान्यतः एक ही मकान के भीतर रहते हैं, एक ही भोजनशाला में भोजन करते हैं, संयुक्त संपत्ति के स्वामी होते हैं, संयुक्त पूजा में सम्मिलित रहते हैं और वे परस्पर रक्त संबंध से बँधे रहते हैं।'[3]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि संयुक्त परिवार में ये ३ लक्षण होते हैं—

१. संयुक्त निवास,

---

१. शिवस्वरूप सहाय : हिन्दू सामाजिक संस्थाएँ, पृ० १३५-१४६
२. जॉली : हिंदू लॉ एंड कस्टम, पृष्ठ १७८
३. डाक्टर इ० कर्वे : किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इंडिया, पृष्ठ १०।

२. सम्मिलित पाकशाला और
३. संयुक्त संपत्ति एवं कोष।

परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में निवास करते हैं। उनकी रसोई एक होती है। सभी लोग उसी में भोजन करते हैं। सारे परिवार की संपत्ति संयुक्त रहती है। सब का एक ही कोष रहता है। उसी में से सब खर्च किया जाता है। सभी लोग अपनी शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता और योग्यता द्वारा उत्पादन करते हैं और उसका उपभोग सभी लोग अपनी आवश्यकता के अनुरूप करते हैं। भारत में इस प्रथा का सर्वोत्तम विकास हुआ था।

संयुक्त परिवार के गुण

संयुक्त परिवार के अपने कुछ विशिष्ट गुण हैं। जैसे, समष्टि की भावना, सद्‌गुणों की पाठशाला, बालकों का विधिवत् पालन-पोषण, असहायों का आश्रय, नवदंपति को चिंता-मुक्ति, अनुशासन, आर्थिक लाभ, मनोरंजन का केंद्र, प्रधान का दायित्व आदि।

समष्टि की भावना : संयुक्त परिवार की मूल भावना होती है—समष्टि की भावना, 'हम' की भावना। साथ रहना, साथ खाना-पीना, सबका सुख-दुःख एक मानकर, एक होकर चलना। यह एकता की शक्ति, प्रेम से मिल-जुलकर रहने की शक्ति अपने आप में ही ऐसी विशिष्टता है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। संयुक्त परिवार विश्व परिवार का ही संक्षिप्त संस्करण माना जा सकता है।

सद्‌गुणों की पाठशाला : संयुक्त परिवार में सामूहिक जीवन के अतिरिक्त उदारता, परोपकार, सेवा, सद्‌भाव, सहानुभूति, त्याग और कष्ट सहन की पवित्र परंपरा रहती है। इस पाठशाला में बालक को जन्म से ही इन सभी सद्‌गुणों का शिक्षण मिलता चलता है, जिससे वे आगे चलकर परोपकारी और सेवापरायण नागरिक बनते हैं। सोरोकिन ने अमेरिका के कुछ 'भले पड़ोसियों' तथा संतों के गुणों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि पारिवारिक पाठशाला में प्राप्त इन सद्‌गुणों के शिक्षण का जीवनव्यापी प्रभाव पड़ता है और उत्तम गुणों के विकास से लोग उत्तम पड़ोसी और संतों के आदर्श के अनुरूप बनकर अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं।[1]

---

१. सोरोकिन : आलट्रूइस्टिक लव, न्यूयार्क, १९६९, पृष्ठ २६, २०१; एक्सप्लोरेशंस इन आलट्रूइस्टिक लव एंड बिहेवियर, न्यूयार्क, १९७०, पृष्ठ २६५, २६६ और २९१

बालकों का पालन-पोषण : संयुक्त परिवार में बालकों का समुचित रीति से लालन-पालन होता है। माता-पिता के अतिरिक्त, दादा-दादी, चाचा-चाची, भाई-बहन आदि बालकों के पालन-पोषण में अपना पर्याप्त योगदान करते हैं।

असहायों का आश्रय : अशक्त और असमर्थ, बेकार और बीमार, वृद्ध और निराधार, विधवा और विधुर, कुमार और कुमारी—सभी लोगों को संयुक्त परिवार में प्रेम और सम्मानपूर्वक रहने और बढ़ने-पनपने का अवसर रहता है। एक का दुःख सब का दुःख माना जाता है। किसी को भी कष्ट में देखकर सारा परिवार उसे कष्ट मुक्त करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। सभी की सुरक्षा और सभी के विकास का उसमें समुचित प्रबंध रहता है। संयुक्त परिवार असहायों के लिए आश्रय का काम करता है।

नवदम्पति को चिंतामुक्ति : वर और वधू विवाह के बंधन में जैसे ही बँधते हैं, वैसे ही उनके सिर पर भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। 'नून तेल लकड़ी' से लेकर जीवन के लिए असंख्य सामग्रियों को जुटाने तथा नाना प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रश्न उठ खड़ा होता है। असंख्य चिंताएँ उन्हें घेर लेती हैं। परंतु संयुक्त परिवार में नवदम्पति को किसी प्रकार की चिंता ही नहीं करनी पड़ती। उल्टे, घर के वयोवृद्ध नवदम्पति को अपने बीच पाकर फूले नहीं समाते। नववधू को सास-ससुर, देवर-ननद, देवरानी-जेठानी के बीच पहुँचकर ऐसा लगता है मानों ससुराल मायके का ही दूसरा स्वरूप है। विवाह का कोई भार उसे महसूस नहीं होता। 'दीप बाति नहि टारन कहई!'-जैसी उसकी स्थिति रहती है। व्यक्तिगत परिवार में यह सुख-सुविधा कहाँ ?

अनुशासन : संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों पर आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध लोगों का अनुशासन एवं नियंत्रण रहता है। युवक-युवतियों को सन्मार्ग पर आरूढ़ रखने में यह अनुशासन अत्यंत उपयोगी होता है। व्यक्तिगत परिवारों में नियंत्रण तथा अनुशासन के अभाव में उच्छृंखलता पनप सकती है, जिसके दुष्परिणाम किसी से छिपे नहीं हैं।

आर्थिक लाभ : एक चूल्हा-चक्की के कारण संयुक्त परिवार में भोजन, निवास, स्वास्थ्य रक्षा आदि पर कम खर्च होता है। संपत्ति का विभाजन न होने के कारण खेतों का भी विभाजन नहीं होता। भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं बँटती, जिससे अनुपयोगी जोत की समस्या उत्पन्न नहीं हो पाती। एक ओर खर्च में कमी होती है, दूसरी ओर उपज आदि में वृद्धि होती है जिससे

२. सम्मिलित पाकशाला और
३. संयुक्त संपत्ति एवं कोष।

परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में निवास करते हैं। उनकी रसोई एक होती है। सभी लोग उसी में भोजन करते हैं। सारे परिवार की संपत्ति संयुक्त रहती है। सब का एक ही कोष रहता है। उसी में से सब खर्च किया जाता है। सभी लोग अपनी शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता और योग्यता द्वारा उत्पादन करते हैं और उसका उपभोग सभी लोग अपनी आवश्यकता के अनुरूप करते हैं। भारत में इस प्रथा का सर्वोत्तम विकास हुआ था।

संयुक्त परिवार के गुण

संयुक्त परिवार के अपने कुछ विशिष्ट गुण हैं। जैसे, समष्टि की भावना, सद्गुणों की पाठशाला, बालकों का विधिवत् पालन-पोषण, असहायों का आश्रय, नवदंपति को चिंता-मुक्ति, अनुशासन, आर्थिक लाभ, मनोरंजन का केंद्र, प्रधान का दायित्व आदि।

समष्टि की भावना : संयुक्त परिवार की मूल भावना होती है—समष्टि की भावना, 'हम' की भावना। साथ रहना, साथ खाना-पीना, सबका सुख-दुःख एक मानकर, एक होकर चलना। यह एकता की शक्ति, प्रेम से मिल-जुलकर रहने की शक्ति अपने आप में ही ऐसी विशिष्टता है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। संयुक्त परिवार विश्व परिवार का ही संक्षिप्त संस्करण माना जा सकता है।

सद्गुणों की पाठशाला : संयुक्त परिवार में सामूहिक जीवन के अतिरिक्त उदारता, परोपकार, सेवा, सद्भाव, सहानुभूति, त्याग और कष्ट सहन की पवित्र परंपरा रहती है। इस पाठशाला में बालक को जन्म से ही इन सभी सद्गुणों का शिक्षण मिलता चलता है, जिससे वे आगे चलकर परोपकारी और सेवापरायण नागरिक बनते हैं। सोरोकिन ने अमेरिका के कुछ 'भले पड़ोसियों' तथा संतों के गुणों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि पारिवारिक पाठशाला में प्राप्त इन सद्गुणों के शिक्षण का जीवनव्यापी प्रभाव पड़ता है और उत्तम गुणों के विकास से लोग उत्तम पड़ोसी और संतों के आदर्श के अनुरूप बनकर अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं।[1]

---

१. सोरोकिन : आलट्रूइस्टिक लव, न्यूयार्क, १९६९, पृष्ठ २६, २०८; एक्सप्लोरेशंस इन आलट्रूइस्टिक लव एंड बिहेवियर, न्यूयार्क, १९७०, पृष्ठ २६५, २६६ और २९१

बालकों का पालन-पोषण : संयुक्त परिवार में बालकों का समुचित रीति से लालन-पालन होता है। माता-पिता के अतिरिक्त, दादा-दादी, चाचा-चाची, भाई-बहन आदि बालकों के पालन-पोषण में अपना पर्याप्त योगदान करते हैं।

असहायों का आश्रय : अशक्त और असमर्थ, बेकार और बीमार, वृद्ध और निराधार, विधवा और विधुर, कुमार और कुमारी—सभी लोगों को संयुक्त परिवार में प्रेम और सम्मानपूर्वक रहने और बढ़ने-पनपने का अवसर रहता है। एक का दुःख सब का दुःख माना जाता है। किसी को भी कष्ट में देखकर सारा परिवार उसे कष्ट मुक्त करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। सभी की सुरक्षा और सभी के विकास का उसमें समुचित प्रबंध रहता है। संयुक्त परिवार असहायों के लिए आश्रय का काम करता है।

नवदम्पति को चिंतामुक्ति : वर और वधू विवाह के बंधन में जैसे ही बँधते हैं, वैसे ही उनके सिर पर भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। 'नून तेल लकड़ी' से लेकर जीवन के लिए असंख्य सामग्रियों को जुटाने तथा नाना प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रश्न उठ खड़ा होता है। असंख्य चिंताएँ उन्हें घेर लेती हैं। परंतु संयुक्त परिवार में नवदम्पति को किसी प्रकार की चिंता ही नहीं करनी पड़ती। उल्टे, घर के वयोवृद्ध नवदम्पति को अपने बीच पाकर फूले नहीं समाते। नववधू को सास-ससुर, देवर-ननद, देवरानी-जेठानी के बीच पहुँचकर ऐसा लगता है मानों ससुराल मायके का ही दूसरा स्वरूप है। विवाह का कोई भार उसे महसूस नहीं होता। 'दीप बाति नहिं टारन कहई!'-जैसी उसकी स्थिति रहती है। व्यक्तिगत परिवार में यह सुख-सुविधा कहाँ ?

अनुशासन : संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों पर आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध लोगों का अनुशासन एवं नियंत्रण रहता है। युवक-युवतियों को सन्मार्ग पर आरूढ़ रखने में यह अनुशासन अत्यंत उपयोगी होता है। व्यक्तिगत परिवारों में नियंत्रण तथा अनुशासन के अभाव में उच्छृंखलता खुल खेलती है, जिसके दुष्परिणाम किसी से छिपे नहीं हैं।

आर्थिक लाभ : एक चूल्हा-चक्की के कारण संयुक्त परिवार में भोजन, निवास, स्वास्थ्य रक्षा आदि पर कम खर्च होता है। संपत्ति का विभाजन न होने के कारण खेतों का भी विभाजन नहीं होता। भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं बँटती, जिससे अनुपयोगी जोत की समस्या उत्पन्न नहीं हो पाती। एक ओर खर्च में कमी होती है, दूसरी ओर उपज आदि में वृद्धि होती है जिससे

परिवार को दोहरा लाभ होता है। घर के सभी लोग छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार घर-गृहस्थी, खेती-व्यवसाय आदि में हाथ बँटाते हैं, जिसमे परिवार को पर्याप्त आर्थिक लाभ रहता है।

मनोरंजन : संयुक्त परिवार में चौबीसों घंटे सुख और आनंद का वातावरण बना रहता है। माता-पिता और बड़ों का वात्सल्य, भाई-बहनों का स्नेह, पति-पत्नी का प्रेम, ननद-भौजाई, देवर-भाभी का हास-परिहास, शिशुओं की खिलखिलाहट, उनकी तोतली बोली, बड़े-बूढ़ों की डाँट-डपट आदि मिलकर परिवार को मनोरंजन का केंद्र बना देती हैं।

प्रधान का दायित्व : संयुक्त परिवार में प्रधान का दायित्व सबसे अधिक रहता है। सारी पारिवारिक संपत्ति का वह ट्रस्टी होता है। उसे परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और रुचियों का ध्यान रखना होता है। उसकी विवेकपूर्ण व्यवस्था पर ही परिवार की समृद्धि निर्भर करती है। रामायण में राम ने भरत को यही बात समझायी थी—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कँह एक।
पालै पोसै सकल अंग 'तुलसी' सहित विवेक।।

संयुक्त परिवार संस्था सामाजिक संस्थाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उसका यदि विधिवत् परिपालन हो तो उसमें मानव के सर्वांगीण विकास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। परिवार के सभी सदस्य अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन करें तो संयुक्त परिवार से उत्तम व्यवस्था दूसरी हो नहीं सकती। उसके आधुनिक स्वरूप में कुछ दोष आ गये हैं। समाजशास्त्रियों ने सयुक्त परिवार के इन दोषों की विशेष चर्चा की है—

सयुक्त परिवार के दोष

वैयक्तिक प्रेरणा में कमी, अकर्मण्यता में वृद्धि, अधिक संतानोत्पत्ति, मानसिक तनावों में वृद्धि और महिलाओं की उपेक्षा।

वैयक्तिक प्रेरणा में कमी : समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि संयुक्त परिवार के सदस्यों में स्वतंत्र रूप से किसी विशिष्ट कार्य को करने की प्रेरणा कम होती है। इससे व्यक्तित्व के विकास में बाधा आती है। परिवार के प्रधान के आदेशानुसार चलने में व्यक्तियों का भरपूर विकास नहीं हो पाता। बाल्यावस्था से ही सभी लोग परोपजीवी तथा परतंत्र बने रहते हैं। इस कारण वे स्वावलंबी बनकर अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते।

अकर्मण्यता में वृद्धि : संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों के खानपान और निवास तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था रहती है, फिर कोई सदस्य काम करे चाहे न करे। इसके चलते बहुत-से लोग काम करने में समर्थ होते हुए भी आराम की रोटियाँ तोड़ते रहते हैं। इससे उन लोगों में असंतोष भी उत्पन्न होता है जो श्रम करके उपार्जन करते हैं और जिनके योगदान से परिवार की आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है।

अधिक संतानोत्पत्ति : संयुक्त परिवार में बच्चों के लालन-पालन की समुचित व्यवस्था रहने से संतानोत्पादन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। विभक्त परिवार में पहले से ही सोचना पड़ता है कि बच्चों के लालन-पालन के लिए पर्याप्त आर्थिक व्यवस्था पहले से करनी पड़ेगी। जीवन स्तर को ऊँचा बनाये रखने की दृष्टि से भी परिवार नियोजन की ओर लोग झुकते हैं।

मानसिक तनाव : संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक रहने से विभिन्न कारणों को लेकर मानसिक तनावों में वृद्धि होना सहज बात है। सभी की इच्छाओं के अनुकूल व्यवस्था न हो पाने पर लोगों का असंतोष होना स्वाभाविक और सहज है। मानसिक तनाव जब भीतर-भीतर पनपता रहता है तो किसी दिन उसका विस्फोट होता है और पारिवारिक विघटन का कारण बन बैठता है।

महिलाओं की उपेक्षा : संयुक्त परिवार में और मुख्यतः भारत के संयुक्त परिवार में नारी की उपेक्षा सामान्य बात बन बैठी है। स्त्रियों को स्वतंत्रता-पूर्वक रहने, बात करने और अपना विकास करने आदि की सुविधा नहीं रहती। गोपनीय स्थान का भी अभाव रहता है। पति-पत्नी के मिलन और मनोनुकूल ढंग से जीवनयापन में भी बाधाएँ पड़ती रहती हैं। नयी वधू को नाना प्रकार की रुचियों और आदर्शों वाले व्यक्तियों के बीच, उनकी बातों को सहन करते हुए रहना पड़ता है। इसका महिलाओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है—उनके शरीर पर भी, मन पर भी।

व्यक्तिगत परिवार के गुण

पति-पत्नी और बच्चों मात्र के व्यक्तिगत परिवार आज के युग की विशेषता हैं। इस प्रकार के परिवार में व्यक्ति के विकास का अधिक अवसर रहता है। मनुष्य अपने मन के अनुकूल अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। वह पर्याप्त आय करके अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सकता है। संयुक्त परिवार में कभी-कभी सदस्यों की महत्त्वाकांक्षाओं को

पल्लवित होने का अवसर नहीं मिल पाता। व्यक्तिगत परिवार में उसकी सुविधा रहती है।

व्यक्तिगत परिवार में जहाँ कुछ गुण हैं, वहाँ कुछ दोष भी हैं। संयुक्त परिवार में मनुष्य को जो सुरक्षा, सम्मान-प्रतिष्ठा आदि सहज ही उपलब्ध रहती है, यहाँ उसके लिए भारी प्रयत्न करना पड़ता है। माता-पिता तथा गुरुजनों का मार्गदर्शन नहीं मिल पाता। सद्‌गुणों के विकास में भी कमी आती है। संयुक्त परिवार की संयुक्त शक्ति से भी वंचित रहना पड़ता है।

व्यक्तिगत परिवार के दोष

आज परिवार विघटन की दिशा में अग्रसर हो रहा है, फिर वह चाहे संयुक्त परिवार हो, चाहे व्यक्तिगत परिवार। संयुक्त परिवार टूटकर व्यक्तिगत परिवार बन रहा है और व्यक्तिगत परिवार टूटकर पति कहीं जा रहा है पत्नी कहीं जा रही है, बच्चे कहीं जा रहे हैं। अपराध, मानसिक तनाव, कलह, झगड़े, मारपीट, पागलपन, वेश्यावृत्ति, मद्यपान आदि सब पारिवारिक विघटन के स्वरूप हैं।

परिवार विघटन की दिशा में

परिवार के संगठन में मुख्य बात होती है—मूल्यों, आदर्शों, रुचियों में एकरूपता और समानता। यह तत्व जबतक स्थिर रहता है, तबतक परिवार संगठित रहता है, अन्यथा उसका विघटन प्रारंभ हो जाता है।

मानव की अनेक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक और शारीरिक आवश्यकताएँ, प्रेम, प्यार और मुहब्बत की उसकी आकांक्षाएँ परिवार समूह में भली-भाँति तृप्त होती हैं। इनकी तृप्ति अथवा पूर्ति में जब बाधा पड़ने लगती है तो परिवार विघटन की दिशा में बढ़ने लगता है।

भारत में अनेक शताब्दियों से ऐसी परंपरा चलती आ रही है कि पुरुष पारिवारिक जीवन का बाहर का उत्तरदायित्व सम्हाले, नारी भीतर का। पति बाहर से कमाकर लाये और पत्नी—घर की रानी उस कमाई का सुव्यवस्थित रीति से आवश्यकता के अनुरूप वितरण करे। तभी परिवार ठीक ढंग से चल सकेगा। भारत में ही नहीं, अमेरिका जैसे आधुनिक सभ्यतावाले देशों में भी इसी से मिलती-जुलती अपेक्षाएं रखी जाती हैं। इलियट और मैरिल ने अमरीकी समाज की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'हमारे (अमरीकी) समाज में पति से प्रायः यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह परिवार के लिए आवश्यक द्रव्य

का उपार्जन करेगा, बच्चों पर अनुशासन रखेगा और पुत्रों के सहयोगी के रूप में रहेगा। पत्नी से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह घर-गृहस्थी का भार सम्हालेगी, मकान को सजाएगी, उसे व्यवस्थित रखेगी, सबपर प्रेम की वर्षा करेगी और सामुदायिक कार्य-कलापों में परिवार का प्रतिनिधित्व करेगी। इनमें से कुछ कार्य पारिवारिक अंतःक्रिया द्वारा पति-पत्नी को सीख लेने होंगे।'[1] ऐसी अपेक्षाओं की जब पूर्ति नहीं हो पाती तो विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

पारिवारिक विघटन में रुचियों का विशिष्ट स्थान रहता है। रुचियाँ जिस मात्रा में मिलती हैं, उस मात्रा में सदस्यों में सहयोग, मैत्री और प्रेम रहता है। रुचियाँ अच्छी भी हो सकती हैं, बुरी भी। लॉक ने कुछ सुखी दंपतियों तथा कुछ परित्यक्त दंपतियों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अच्छी रुचियाँ, जैसे धर्मस्थल पर जाना, अध्ययन करना, रेडियो, संगीत, खेल-कूद आदि में साम्यवाली रुचियाँ परिवार को संगठित बनाये रखने में सहायक होती हैं। इसके विपरीत मद्यपान, नृत्य, ताश, जुआ जैसे व्यसनवाली बुरी रुचियाँ परिवार को विघटन की, पति-पत्नी के परित्याग की स्थिति की ओर घसीट ले जाती हैं।[2]

पारिवारिक विघटन का अर्थ है—पारिवारिक संगठन का टूट जाना। परिवार के सदस्यों के बीच जो स्नेह, प्रेम, सहयोग और सद्भाव रहता है, जिन तंतुओं के सहारे परिवार एक इकाई के रूप में बँधा रहता है, उन तंतुओं का टूट जाना ही पारिवारिक विघटन है। परिवार के सदस्यों के बीच जो हितों, उद्देश्यों और आदर्शों की एकरूपता और समानता रहती है, उसमें कमी होना और उस एकता का टूटना, प्रेम के स्थान पर द्वेष, सद्भाव के स्थान पर दुर्भाव, सहयोग के स्थान पर असहयोग की भावना का आ जाना ही पारिवारिक विघटन है। इस परिवर्तित स्थिति में प्रेमपूर्ण, मैत्रीपूर्ण वातावरण द्वेषपूर्ण और कटुतापूर्ण बन जाता है जिससे लाख का घर खाक में मिल जाता है।

पारिवारिक विघटन का अर्थ

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३४४।

२. हार्वे जे० लॉक : प्रेडिक्टिंग एडजस्टमेंट इन मैरिज, न्यूयार्क, १९५१, पृष्ठ २५६-२६२

मार्टिन एच० न्यूयेयर ने पारिवारिक विघटन की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'व्यापक अर्थ में कहा जाय तो पारिवारिक विघटन का अर्थ है—ऐकमत्य और निष्ठा का भंग होना, पहले के संबंधों का टूटना अथवा पारिवारिक चेतना का विनाश और उदासीनता में वृद्धि होना। संकुचित अर्थ में पारिवारिक विघटन का अर्थ है—टूटा हुआ परिवार।'

इलियट और मैरिल ने भी पारिवारिक विघटन की परिभाषा इसी प्रकार दी है। कहा है कि 'विस्तृत रूप में देखा जाय तो ऐसा कहना होगा कि अनेक प्रकार के परिवारों में जब किसी-न-किसी प्रकार का प्रकार्यात्मक असंतुलन आ जाता है तो पारिवारिक विघटन हो रहा है। इस विघटन में केवल पति-पत्नी के बीच आनेवाले तनाव ही नहीं, अपितु माता-पिता और संतानों के बीच उठनेवाले तनाव भी सम्मिलित रहते हैं।'[1]

पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होने पर परिवार के सदस्यों के बीच आरंभ से रहनेवाला प्रेम, सौहार्द्र, सहयोग और आत्मबलिदान का भाव समाप्त हो जाता है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि की पारस्परिक घनिष्ठता कम हो जाती है। पहले जहाँ सब एक दूसरे के लिए सर्वस्व होम करने को प्रस्तुत रहते थे, वहाँ अब एक दूसरे को फूटी आँख देखना नहीं चाहते। भले ही ऊपर से परिवार के सदस्य कोई विघटनकारी कार्य न करें, विवाह-विच्छेद, मारपीट, परित्याग जैसी कोई वस्तु सामने न दीख पड़े, परंतु यदि उनके हृदय भीतर से फट जाते हैं तो मानना होगा कि परिवार विघटित हो गया। भीतर-भीतर सुलगनेवाला तनाव का ज्वालामुखी ऊपर से भले ही शांत दिखता रहे, परंतु कहा नहीं जा सकता कि किस क्षण उसका विस्फोट हो जाय।

विघटन की प्रकृति

परिवार के सदस्य जब कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके अधिकारों पर बल देने लगें, परार्थवाद के स्थान पर स्वार्थवाद को प्रश्रय देने लगें, जब उनके मूल्य और आदर्श परस्पर टकराने लगें और समंजन और सामंजस्य का मार्ग छोड़कर वे परस्पर अपनी ही जिद पर अड़ने लगें तो परिवार का विघटन अवश्यम्भावी है। प्रेम और स्नेह का मूलाधार ही जब हिलने की स्थिति में आ जाय तो परिवार का विघटन रोकने की शक्ति किसमें है ! संघर्ष, निराशा, तनाव जब बढ़ने लगते हैं, एक दूसरे के संबंध में पाली-पोसी

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३४५।

आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती, आंतरिक संबंध और सहयोग की भावना ढीली पड़ने लगती है तो पारिवारिक विघटन निकट आ जाता है।

समाजशास्त्री ऐसा मानते हैं कि कोई ऐसी परिस्थिति नहीं होती जिसे शुद्ध पारिवारिक संगठन की स्थिति कहा जाय अथवा शुद्ध पारिवारिक विघटन की स्थिति कहा जाय। यह तो स्थिति परिवर्तन की एक प्रक्रिया मात्र है। किसी अंश में संगठन और किसी अंश में विघटन का चक्र सतत घूमता चलता है। उसी के अंतर्गत पारिवारिक विघटन भी एक प्रक्रिया के रूप में होता चलता है। परिवर्तन का जो चक्र घूमता है उसमें कभी परिवार को विघटित करनेवाले तत्वों का प्राबल्य रहता है, कभी संगठित करने वाले तत्वों का प्राधान्य रहता है। जिसका प्रभाव अधिक रहता है, उसी के आधार पर परिवार को संगठित अथवा विघटित माना जाता है।

विघटन : एक प्रक्रिया

परिवार के सदस्यों के बीच उत्पन्न तनाव के कारण ही पारिवारिक विघटन होता है। परिवार के किसी सदस्य की कोई दुर्बलता, कोई विसंगति, कोई अभिरुचि और उसके लिए उस पर अड़ जाने की वृत्ति पारिवारिक विघटन का कारण बन सकती है। तनाव की खाई बढ़ने लगती है। उसे पाटने का प्रयत्न नहीं किया जाता, तब उसका परिणाम पारिवारिक विघटन के रूप में प्रकट होता है।

विघटन के प्रकार

पारिवारिक विघटन के एक नहीं, अनेक प्रकार हो सकते हैं। तनावों के रूप में मोटे-मोटे प्रकार ये कहे जा सकते हैं—

१. पति और पत्नी के बीच तनाव,

२. माता-पिता और संतानों के बीच तनाव,

३. सास-ससुर और बहू के बीच तनाव,

४. देवर-ननद और भाभी के बीच तनाव,

५. पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच तनाव।

तनाव कभी प्रकट रहते हैं, कभी अप्रकट। उनके चलते आये दिन परिवार में कलह, संघर्ष, मारपीट और मनोमालिन्य की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि समय रहते उसे सुधारा न गया तो पारिवारिक विघटन होकर ही रहता है।

तनावों के उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं। जैसे, अव्यवस्थित चित्त, अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधा, अतृप्तवासना, नैतिक और सामाजिक मूल्यों में संघर्ष, नारी-स्वातंत्र्य, आर्थिक अभाव, औद्योगीकरण, शिक्षा का प्रभाव, उत्तराधिकार के अधिनियम, विभिन्न लोगों के परस्पर विरोधी 'रोल' (कार्य) आदि।

विघटन के कारण

इन कारणों पर थोड़ा विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

चित्त की अव्यवस्थित स्थिति : लेविस एम० टर्मन ने सन् १९३८ में ७९२ विवाहित दंपतियों का अध्ययन करके कुछ निष्कर्ष निकाले थे। इलियट और मैरिल मानते हैं कि आज भी स्थिति वैसी ही है।[१] हमारा अनुमान है कि अमरीका में ही क्यों, भारत में भी यदि अनुसंधान किया जाय तो लगभग यही स्थिति यहाँ भी पाई जायगी। भारत में भी ये निष्कर्ष सही उतरेंगे।

टर्मन ने ७९२ दंपतियों का अध्ययन किया था। उसने जो प्रश्नमाला भेजी थी, उसका ७६० पतियों नें उत्तर दिया था और ७७७ पत्नियों ने। टर्मन ने मुख्यतः उन तनावों का पता लगाया जिन तनावों की शिकायत पति या पत्नी की ओर से की जाती है। टर्मन की विवेचना में पतियों को पत्नियों से ५७ शिकायतें थीं और पत्नियों को पतियों से ५३ शिकायतें। पति और पत्नी को एक दूसरे से मुख्य-मुख्य ९ शिकायतें थीं।[२]

पतियों की शिकायतें :

१. पत्नी बात-बात पर नखराती है।
२. पत्नी प्यार नहीं करती।
३. पत्नी स्वार्थी है, हमारा कोई ख्याल नहीं करती।
४. पत्नी हरदम शिकायतों का दफ्तर खोले रहती है।
५. पत्नी हमारी विशेष रुचियों—'हावियों' में दखल देती है।
६. पत्नी फूहड़ है।
७. पत्नी बहुत जल्दी गरम हो जाती है।
८. पत्नी घमंडी है।
९. पत्नी बेवफा है।

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ३७७
२. लेविस एम० टर्मन : साइकोलॉजिकल फैक्टर्स इन मैरिटल हैपिनेस, १९३८; पृष्ठ ३६८

पत्नियों की शिकायतें :

१. पति स्वार्थी है, हमारा कोई ख्याल नहीं करता ।
२. पति व्यापार में असफल है ।
३. पति झूठा है ।
४. पति हरदम हमारी शिकायतें करता रहता है ।
५. पति प्रेम का प्रदर्शन नहीं करता ।
६. पति घरेलू समस्याओं पर साथ बैठकर विचार नहीं करता ।
७. पति 'छुईमुई' है—भावुक नंबर एक ।
८. पति हमारे बच्चों में रस नहीं लेता ।
९. पति घर के मामलों में कोई रस नहीं लेता ।

ये हैं पतियों और पत्नियों की मोटी-मोटी शिकायतें । छोटी-छोटी शिकायतें तो बहुत हैं । जैसे—

पति को शिकायत है—पत्नी हमें सुधारना चाहती है, खुद नहीं सुधरना चाहती । वह बड़ी बातूनी है । सुस्त है । शाहखर्च है । उसे रसोई बनाने की तमीज नहीं है, आदि ।

पत्नी को शिकायत है—पति बड़ा अभद्र है । वह अपने सगे-संबंधियों के साथ अभद्रता से पेश आता है । उसे खान-पान का, शिष्टाचार का तौर-तरीका नहीं मालूम । रात-दिन अपने व्यापार-व्यवसाय की ही बातों में डूबा रहता है । बहुत देर करके भोजन करने आता है, आदि ।

टर्मन ने दुःखी दंपतियों के स्वभावगत दोषों का इस प्रकार विश्लेषण किया है—

१. वे 'छुईमुई' होते हैं । छोटी-सी भी बात उन्हें बहुत खटक जाती है ।
२. वे बहुत शीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं ।
३. वे अपने मन की सनक पूरी करने को लड़ बैठते हैं ।
४. वे दूसरों की आलोचना करते रहते हैं ।
५. उन्हें दूसरों की भावनाओं पर ध्यान देने की कोई चिंता नहीं रहती ।
६. अनुशासन की बात सुनते ही वे भड़क उठते हैं ।
७. अपनी नापसंदी, अपनी अरुचि वे तत्काल प्रकट कर देते हैं ।
८. प्रशंसा से अथवा निंदा से वे तुरत प्रभावित हो उठते हैं ।
९. उनमें आत्मविश्वास की बड़ी कमी रहती है ।

१०. वे प्रायः उत्तेजना की-सी स्थिति में बने रहते हैं।

११. वे बिना किसी विशेष कारण के ही मस्ती और उदासी, खुशी और गम, प्रफुल्लता और मनहूसियत के बीच झूलते रहते हैं।

चित्त की यह अव्यवस्थित स्थिति कितनी भयंकर होती है, इसका कुपरिणाम किसी से छिपा नहीं है। कहा ही गया है—

क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा रुष्टा-तुष्टा क्षणे-क्षणे।
अव्यवस्थित चित्तानां प्रसादोपि भयंकरः॥

जिन व्यक्तियों के चित्त का संतुलन पल-पल पर बिगड़ता रहता है, उनकी कृपा भी, उनकी प्रसन्नता भी भयंकर होती है। जिन दंपतियों में किसी एक का भी स्वभाव ऐसा बन गया है, उनकी गृहस्थी की गाड़ी किसी भी क्षण पटरी से उतर सकती है। दुर्भाग्य से यदि दोनों में इस प्रकार का स्वभावगत दोष आ गया है तो पारिवारिक विघटन, व्यक्तिगत विघटन होने में विलंब नहीं। जहाँ तनाव बढ़े कि विस्फोट हुआ।

अपेक्षाओं की पूर्ति में बाधा : विवाह के दिन से ही पति-पत्नी से और पत्नी-पति से अनेक प्रकार की अपेक्षाएँ रखने लगती है।[1] कभी-कभी तो दोनों की अपेक्षाएँ इतनी ऊँची होती हैं कि आकाश के तारे तोड़ लाने जैसी बात भी उनमें आ जाती है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो खीझ और तदुपरांत तनाव का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

पति चाहता है कि उसकी पत्नी सती सीता जैसी, पार्वती जैसी, सावित्री जैसी 'आदर्श पत्नी' बने, वह पति की तो सेवा करे ही, पति के सभी घरवालों की उनके आदर्श के अनुरूप सेवा करे। उधर पत्नी चाहती है कि उसका पति राम जैसा, कृष्ण जैसा, सत्यवान जैसा कर्त्तव्य परायण और प्रेमिल पति, 'आदर्श पति' बने। आज के युग में इन आदर्शों की पूर्ति तो कठिन ही है। उस स्थिति में पारिवारिक विघटन का मार्ग प्रशस्त होता है।

दांपत्य जीवन का सुख और आनंद, समंजन और सहयोग, त्याग और बलिदान पर निर्भर करता है। आदान-प्रदान और लेन-देन, झुकने और तरह देने की वृत्ति से ही उसमें सफलता के सुमन खिलते हैं। दो में से कोई पक्ष यदि केवल अपनी ही बात पर अड़ता रहे, अपने मन की-सी ही कराने पर बल देता रहे, अपनी ही अपेक्षाओं की पूर्ति पर जोर देता रहे तो गृहस्थी का छकड़ा अधिक दिनों तक सुचारु रूप से चलता नहीं रह सकता। पति और

---

१. श्रीकृष्णदत्त भट्ट : 'पति चाहता क्या है?' 'पत्नी चाहती क्या है?'

पत्नी जब विवेक और समझदारी से काम करते हैं, एक दूसरे की भावनाओं और सुख-सुविधाओं का ध्यान रखते हैं, मिलजुल कर आपसी परामर्श से गृहस्थी की समस्याएँ सुलझाते हैं तब गृहस्थी आनंददायक बनती है, अन्यथा उसमें तनाव दुःख और क्लेश की वृद्धि होती है और परिवार विघटन की ओर बढ़ने लगता है।

पति और पत्नी की, उनके घरवालों की अपेक्षाओं में जब विवेक और व्यावहारिकता नहीं रहती अथवा कम रहती है, जब सभी लोगों के 'अहं' परस्पर टकराने लगते हैं तो असंतोष की आग भीतर-ही-भीतर सुलगने लगती है जो आगे चलकर पारिवारिक संगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है।

अतृप्त वासना : दांपत्य जीवन की सफलता के लिए कुछ समाजशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता मानते हैं कि दंपति को कामकला का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। वे तो चाहते हैं कि कामकला शिक्षण को पाठ्यक्रमों में भी स्थान दिया जाय। यौन संबंध में पूर्ण संतुष्टि की उपयोगिता पर उनका विशेष बल रहता है। यद्यपि अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि दांपत्य समंजन के लिए वह सर्वथा अनिवार्य नहीं है।[1] फिर भी इस तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा ठीक नहीं। आज के कामासक्त वातावरण में यौन-दृष्टि से असंतुष्ट पुरुष सहज ही अन्यत्र संतुष्टि की खोज में लग जाते हैं और पतन की दिशा में चल पड़ते हैं।[2]

मूल्यों में संघर्ष : समय की गति के साथ-साथ सामाजिक और नैतिक मूल्यों में परिवर्तन होता चल रहा है। प्राचीन परंपराएँ, प्राचीन संस्कार, प्राचीन मूल्य जिस पीढ़ी में बाल्यावस्था से पुष्पित-पल्लवित हुए हैं, उससे यह अपेक्षा रखना दुराशामात्र है कि वह समय की गति के साथ अपना समंजन कर लेगी। जो सास अपनी सास के निरंकुश शासन में बढ़ी और पनपी है, वह सहज ही यह चाहेगी कि अपनी बहू पर निरंकुश शासन करे। उधर पढ़ी-लिखी बहू सास-ससुर की कौन कहे, पति का भी शासन स्वीकार नहीं करना चाहती। पति को वह 'स्वामी' नहीं, सहकर्मी और जीवन संगी के रूप में देखना चाहती है। उसकी यह मांग उचित हैं। परंतु पति अपने 'स्वामित्व'

---

१. टर्मन : वही, पृष्ठ ३७३; तथा लेख "को-रिलेशन आफ आर्गेज्म एडेक्वेसी इन ए ग्रुप ऑफ ५५६ वाइव्ज", जर्नल आफ साइकोलाजी, अक्टूबर १९५१

२. अर्नेस्ट डब्लू० बर्गिस और पालबालिन : एनगेजमेंट एण्ड मैरिज, १९५३, पृष्ठ १७६-१७७

के अहंकार को छोड़ना नहीं चाहता। उसके मन में पत्नी पर शासन करने का संस्कार पड़ा हुआ है। इसी प्रकार अनेक नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक मूल्य परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। वे परिवार को भी और व्यक्ति को भी विघटन की ओर आकृष्ट करते हैं।

नारी का स्वातंत्र्य : 'न नारी स्वातंत्रमर्हति' के समर्थक और 'स्वतंत्र हुई बिगरहिं नारी' के अनुमोदक नारी को घर की चहारदिवारी के भीतर कैद रखकर शताब्दियों से उस पर नाना प्रकार के अत्याचार करते आ रहे हैं। लोकतंत्रात्मक पद्धति वाले देशों में तथा अन्य स्वतंत्र देशों में भी आज नारी-जागरण के फलस्वरूप नारी स्वतंत्र होकर जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रही है। अब वह पुरुष के साथ कंधा मिलाकर विश्व के रंगमंच पर अपना महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कर रही है। शिक्षा, समाज सेवा आदि के क्षेत्रों में नारी ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। अब वह कारखाने और कार्यालय में भी पुरुष के साथ होड़ ले रही है, राजनीति के क्षेत्रों में भी। नारी की यह स्वतंत्रता नारी को उत्पीड़ित करनेवाले समाज के लिए चौंकाने वाली है। मुँह से ऐसा पुरुष वर्ग भले ही चुप रहे पर भीतर-ही-भीतर वह नारी को यह स्वतंत्रता देना नहीं चाहता। नारी को उसने काम-क्रीड़ा का, मनोरंजन का, सेवा का साधन बना रखा है, उस स्थिति को वह बदलना नहीं पसंद करता। वह चाहता है कि नारी गुलाम की भाँति उसकी गुलामी करती रहे, उसकी वासना की तृप्ति करती रहे, उसे माँ की भाँति प्रेम से भोजन परोस कर खिलाती रहे, बाल-बच्चों को सम्हालती रहे—'कार्ये दासी रतौ रम्भा, भोजने जननी समा।' बस। इससे आगे बढ़ने की उसे आवश्यकता नहीं। इस वृत्ति का समाजव्यापी प्रभाव पड़ता है। एक ओर पुरुष समाज नारी को उसके समता और स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित रखने को सचेष्ट रहता है, दूसरी ओर नारी अपने अधिकारों के लिए पूरा जोर लगा रही है। दोनों प्रकार की ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ टकराती हैं। इसके चलते पारिवारिक और वैयक्तिक, दोनों ही प्रकार के विघटन होते हैं।

आर्थिक परवशता : मार्क्स मानता था कि विश्व के सभी संघर्षों, सारे उत्पातों और सारे अनर्थों की जड़ है—पैसा। नारी भी पैसे की परवशता का शिकार होकर नाना प्रकार के क्लेश झेलती है। परिवारों की आर्थिक परवशता, आर्थिक अभाव की स्थिति, आर्थिक संकट भी परिवार को विघटन की दिशा में ले जाते हैं। आर्थिक तंगी के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे—

१. परिवार के सभी सदस्यों का यथाशक्ति धनोपार्जन न करना,
२. सदस्यों में अधिकांश की अथवा कुछ की बेकारी,
३. सभी सदस्यों की संयुक्त व्यवस्था की ओर ध्यान न देकर केवल कुछ की ओर ध्यान, दूसरों की उपेक्षा,
४. आय में कमी और व्यय में वृद्धि आदि ।

'नहि दरिद्रसम दुःख जग मांही' । दारिद्र्य के चलते जब लोगों की सामान्य और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो असंतोष और तनावों का बढ़ना स्वाभाविक होता है । परिवार का कोई सदस्य अधिक कमाई करे, दूसरे लोग कम कमाई करें, कुछ लोग शक्ति भर काम न करें तो तनाव बढ़ने लगते हैं । दहेज, भोज आदि व्यवसाध्य प्रथाएँ, रोग, बीमारी, दुर्व्यसन, संकट, मंहगी आदि के कारण भी अनेक परिवारों में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाते हैं । आर्थिक संकट के चलते कलह, व्यंग्य, ताने, मारपीट, पलायन, तलाक, आत्महत्या, नैतिक अपराध, सामाजिक अपराध, वेश्यावृत्ति आदि अनेक कुफल सामने आते हैं और परिवारों के विघटन के कारण बनते हैं । कम आयवाले, किसानों, मजदूरों अथवा मध्यम श्रेणीवाले परिवारों में यह स्थिति कहीं भी देखी जा सकती है । अनेक शोधों से इस तथ्य का समर्थन होता है ।[१]

परिवार की आय का विनियोग कैसे किया जाय, किस मद में कितना पैसा खर्च किया जाय, पति को, पत्नी को, बच्चों को जेब खर्च कितना मिले,—ऐसे प्रश्नों को लेकर भी पति-पत्नी के बीच झगड़े होते रहते हैं । पत्नी की नौकरी, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और उस स्वतंत्रता के नाते अहंकार और गर्व, दुकान, कंपनी और पेढ़ी के अधिकारियों को प्रसन्न रखने के लिए नाना प्रकार के खर्चीले आयोजन, भोज, दावतें जैसे प्रश्न भी आग में घी का काम करते हैं । यदि विवेकपूर्वक आर्थिक समस्याओं को सुलझाया नहीं जाता तो पारिवारिक और वैयक्तिक विघटनों को रोकना संभव नहीं । आज के अर्थ-प्रधान युग में 'सर्वेगुणा: कांचनमाश्रयन्ते' की स्थिति है । आर्थिक कारण ही आज के पारिवारिक विघटन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक बनता है ।

---

१. जे० एल० रोने : 'स्पेशल स्ट्रेसेज ओन लो इनकम फैमिलीज', सोशल केस वर्क (फरवरी-मार्च, १९५८); विलियम जे० गुडे : 'इकोनोमिक फैक्टर्स एण्ड मैरिटल स्टेबिलिटी', अमेरिकन सोशियोलाजिकल रिव्यू, दिसबर. १९५१

औद्योगीकरण : नागरीकरण, औद्योगीकरण तथा यातायात-साधनों के विस्तार के साथ परिवार का क्षेत्र उत्तरोत्तर व्यापक होता चलता है। लोग घर-परिवार के, गाँव-देहात के सीमित दायरे से निकल कर नगरों की ओर, उद्योगों की ओर दौड़ रहे हैं। नगरों में निवास आदि की जो विषय समस्या है, काम आदि का जो क्रम है, उसके कारण पति को कहीं रहना पड़ता है, पत्नी को कहीं और बच्चों को कहीं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि छुट्टी आदि के दिन पिता को घर पर देख लड़के माँ से पूछते हैं—'यह नया आदमी कौन है ?' बेचारा मुँह अंधेरे काम पर जाने के लिए निकल पड़ता है और रात को तब लौटता है जब बच्चे सो जाते हैं। ऐसे परिवारों में विघटन होना आश्चर्य की बात नहीं। औद्योगीकरण, नागरीकरण, तकनीकी प्रगति आदि के कारण कितने ही परिवार टूटते रहते हैं।

शिक्षा का प्रभाव : भारत में वैदिक काल में शिक्षा का आदर्श मानव को मुक्ति की दिशा में ले जानेवाला रहता था—'सा विद्या या विमुक्तये।' परंतु आज की शिक्षा का आदर्श है विलासमय उच्चस्तरीय जीवन। रस्किन के अनुसार 'माता-पिता चाहते हैं कि उनके बेटे को ऐसी शिक्षा मिले जिससे उसके शरीर पर शानदार कोट आ जाय, जिससे वह पूरे विश्वास के साथ किसी भी बड़े आदमी के दरवाजे की घंटी घनघना सके, जिससे वह शानदार बंगला बनवा कर उसमें ठाठ के साथ रह सके। इसी को आज जीवन में 'प्रगति' माना जा रहा है।'[1] यद्यपि 'सच्ची प्रगति तो यह है कि मानव का हृदय अधिक कोमल बने, उसके रक्त में अधिक उष्णता आ जाय, उसका मस्तिष्क अधिक तीक्ष्ण बने और उसकी आत्मा जीवित शांति में प्रवेश करे। ऐसे ही व्यक्ति हैं—इस पृथिवी तल के सच्चे स्वामी, सच्चे राजा।'[2] आज की शिक्षा ऐसे पवित्र उद्देश्य की पूर्ति कहाँ करती है ? वह तो मानव को भोग-परायण, विलासी जीवन की ओर उन्मुख करती है। वह त्याग के स्थान पर स्वार्थ, योग के स्थान पर भोग, सेवा के स्थान पर हुकूमत का पाठ पढ़ाती है। उसमें सहिष्णुता, सहनशीलता और कर्त्तव्यों पर नहीं, अधिकारों पर जोर दिया जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर उसका प्रभाव पड़ता है। 'विद्या ददाति विनयम्'—विद्या से विनय आती है—यह बात केवल कहने को रह गयी है। आज तो विद्वान् गर्व और अहंकार में फूल नहीं समाते।

---

१. जॉन रस्किन : सीसेम एण्ड लिलीज, १९२३, पृष्ठ ४।
२. जॉन रस्किन : सीसेम एण्ड लिलीज, पृष्ठ ४५।

पारिवारिक जीवन में आज की शिक्षा के चलते आलस्य, शरीरश्रम से घृणा, अहंकार, फैशन, विलासिता आदि दुर्गुण प्रवेश करते हैं, समष्टिवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद, परार्थवाद के स्थान पर स्वार्थवाद पनपता है। उसके फलस्वरूप अच्छे-भले, संपन्न और शिष्ट परिवारों में भी विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

उत्तराधिकार के कानून : उत्तराधिकार के संबंध में बने हुए कानून भी पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहन देते हैं। उनके कारण जमीन के टुकड़ों के साथ-साथ कभी-कभी हृदयों के भी टुकड़े हो जाते हैं। भारत में अँग्रेजों ने यहाँ की स्थिति को समझे बिना हिंदू उत्तराधिकार के जो कानून बनाये, उनसे मिताक्षरा और दायभाग को लेकर अनेक परिवारों में स्नेह के स्थान पर कटुता का निर्माण होता है। राधाकमल मुखर्जी का यह कथन उपयुक्त है कि 'संयुक्त परिवार आज न्यायालयों द्वारा प्रोत्साहित की जानेवाली व्यष्टिवादी प्रवृत्तियों का शिकार बनता जा रहा है।'[१] डाक्टर कापड़िया ने भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि 'उत्तराधिकार संबंधी अधिनियम विघटन के कार्य को आगे बढ़ाते हैं।'[२]

परस्पर-विरोधी कार्य : सामाजिक परिस्थितियों में वैषम्य के कारण परिवार के सदस्यों पर नाना प्रकार के कार्य और उत्तरदायित्व आ जाते हैं। पुरुषों पर भी, स्त्रियों पर भी। आज के व्यस्त जीवन में पुरुष को पुत्र, भाई, पिता, पति आदि के कार्य तो करने ही पड़ते हैं, अपनी नोकरी और व्यवसाय के अनुरूप कुछ विशिष्ट कार्य भी करने पड़ते हैं। उसी प्रकार स्त्री को जहाँ बेटी, बहन, माँ, गृहिणी, आदि के दायित्व निभाने पड़ते हैं, वहाँ यदि वह कहीं नौकरी भी करती है तो 'बॉस' की मर्जी से भी कितने ही कार्य करने पड़ते हैं। इन कार्यों में कितने ही कार्य परस्पर-विरोधी भी होते हैं, परंतु करने पड़ते हैं। 'मरता क्या न करता!' इससे मानव का, पुरुष का, स्त्री का व्यक्तित्व खंडित होता है। इन सारे कार्यों के चलते भी कभी-कभी पारिवारिक विघटन को बल मिलता है।

सामाजिक संरचना में परिवर्तन, सामाजिक, नैतिक मूल्यों में संघर्ष, भूमिकाओं में परिवर्तन, उनका बाहुल्य, पारस्परिक अपेक्षाओं की पूर्ति में

---

१. राधाकमल मुखर्जी : प्रिंसिपल्स ऑफ कंपरेटिव इकोनोमिक्स, पृष्ठ २३, २४
२. के० एम० कापड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया, १९५८, पृष्ठ २५७

बाधा, औद्योगीकरण, नागरीकरण, आर्थिक कारक आदि अनेक कारण पारिवारिक विघटन को बढ़ाते हैं। उनके कारण परिवार का समूह टूटता है, तनाव बढ़ता है, पारस्परिक प्रेम के स्थान पर घृणा, सहयोग के स्थान पर असहयोग और सद्भाव के स्थान पर दुर्भाव पनपने लगता है। पति-पत्नी के बीच यह संघर्ष बढ़ते-बढ़ते संबंध-विच्छेद का स्वरूप धारण कर लेता है। बच्चों का विधिवत् लालन-पालन रुक जाता है। उनकी उपेक्षा आरंभ हो जाती है। उनका तिरस्कार बढ़ते-बढ़ते उनके मन में भी माता-पिता के प्रति, परिवार के प्रति घृणा उत्पन्न होकर बढ़ने लगती हैं। फलतः परिवार खंड-खंड होने लगता है।

विघटन रोकने के उपाय

विघटन के कारणों से स्पष्ट है कि औद्योगीकरण, नागरीकरण, आर्थिक दरिद्रता, शिक्षण की पद्धति, राजनीतिक स्थिति, प्राचीन एवं नवीन मूल्यों में संघर्ष, कुरुचिपूर्ण मनोरंजन, रोमांचक प्रेम, विलासितामय वातावरण, स्वार्थपरता, कालचक्र का प्रभाव आदि अनेक बातें पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहन दे रही हैं। नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कारण इसकी तह में रहते हैं। इन सभी कारणों का यदि विवेक तथा सद्भावपूर्ण ढंग से विश्लेषण करके इन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया जाय तो पारिवारिक विघटन रोका जा सकता है।

पारिवारिक जीवन को विघटन की दिशा में ले जाने वाले तनावों, मतभेदों तथा कारणों को यदि समझदारी से हल करने की चेष्टा की जाय तो आज जहाँ कलह, द्वेष तथा हाहाकार फैला है, वहाँ सुख, शांति और आनंद की त्रिवेणी प्रवाहित की जा सकती है।

सामंजस्य

पति-पत्नी के बीच भावनात्मक सामंजस्य लाकर तथा परिवार के अन्य सदस्यों के भेदों को दूर करके पारिवारिक विघटन को सरलता से रोका जा सकता है। प्रकृति तथा स्वभावगत भेदों को विवेक, सूझबूझ और बुद्धिमत्ता से अच्छी दिशा में मोड़ा जा सकता है। मनुष्य जब अपनी ही बात पर अड़ जाता है और दूसरे की बात भी सुनना नहीं चाहता, तब असामंजस्य की समस्या उत्पन्न होती है। यह अविवेक का स्वर है। इस स्वर को विवेक के स्वर में बदलने की आवश्यकता है। उसका सूत्र यह है कि सभी लोग यह मानकर चलें कि हमारी बात या हमारा पक्ष भी गलत हो सकता है

और आपकी बात और आपका पक्ष सही हो सकता है। अतः हम पुरानी बातों को भूलकर नये सिरे से सबके संयुक्तहित को दृष्टि में रख कर सभी समस्याओं पर विचार करें। विवेकपूर्वक यदि आगे बढ़ा जाय तो सामंजस्य स्थापित होना कठिन नहीं है।

किसी भी प्रकार के विघटन को रोकने के लिए जिस मूल तत्व की आवश्यकता होती है—वह है त्याग। जब तक त्याग की भावना नहीं होगी तब-तक सहयोग की दिशा में अग्रसर होना कठिन है। समंजन और सहयोग के लिए कुछ-न-कुछ त्याग करना ही पड़ता है। त्याग की तैयारी हो तो समस्याओं को सुलझने में देर नहीं लगती। स्वार्थपरता के कारण ही अनेक तनाव बढ़ते-पनपते हैं। स्वार्थ त्याग ही उन्हें दूर करने का उचित और सफल उपाय है। परिवार के संयुक्त हित को ध्यान में रखकर सभी सदस्य त्याग की भावना से आगे बढ़ें तो कठिनतम समस्या भी सरलतम बन जायेगी।

त्याग और सहयोग

पारिवारिक विघटन को दूर करने तथा पारस्परिक तनावों को मिटाने का एकमात्र रामबाण उपाय है—प्रेम। प्रेम वह संजीवनी बूटी है जिससे केवल परिवार के ही मृतप्राय जीवन में प्राण संचार नहीं किया जा सकता, अपितु सारे विश्व को एक परिवार में ग्रथित किया जा सकता है। विश्व परिवार की स्थापना की जा सकती है। प्रेम की पवित्र मंदाकिनी में स्नान करके कोई भी व्यक्ति स्वार्थ की परिधि से ऊपर उठ जाता है। प्रेम के सीमेंट द्वारा टेढ़े-मेढ़े; ऊबड़-खाबड़ पत्थर भी जोड़े जा सकते हैं। प्रेम के आगे तनाव, संघर्ष, वैर-विरोध आदि टिक ही नहीं सकते। आज घर-परिवार में, समाज में, विश्व में जो इतने संघर्ष और तनाव दीख पड़ते हैं, उनका मूल कारण यही है कि प्रेम का अभाव है। प्रेम-शक्ति के विकास से ये सारी समस्याएँ सुलझायी जा सकती हैं।

प्रेम का पुट

प्रेम का मार्ग सरल नहीं है। उसमें त्याग और तपस्या, कष्ट सहन और धैर्य की अनिवार्य आवश्यकता है। तभी तो कहा गया है कि जिसे प्रेम मार्ग में आना हो वह आत्मबलिदान की पहले से ही तैयारी करके रखे—

सीस उतारै भुंइ धरै तापर राखै पाँव।

प्रेम का पुट हो तो वैर और विरोध स्वयमेव शांत हो जाते हैं। परंतु यह प्रेम होना चाहिए हार्दिक और सच्चा। प्रेम में बनावट के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है।

परिवार में जब प्रेम का सूत्र सारे सदस्यों को गुंफित किये रहता है तो परिवार की पुष्पवाटिका सौरभ से गमक उठती है। उसकी सुगंध, उसकी शोभा, उसका सौंदर्य सबको मुग्ध कर देता है। सोरोकिन कहता है कि 'माता-पिता चाहें तो नयी पौध में आरंभ से ही प्रेम के बीज बिखेरकर पारिवारिक पुष्पवाटिका को सजा सकते हैं। विवेकपूर्ण प्रेम द्वारा इस वाटिका में परार्थवाद के पुष्प लगाये जा सकते हैं और स्वार्थपरता तथा दुष्टता की कंटीली घास उखाड़ कर फेंकी जा सकती है। पारिवारिक पुष्पवाटिका में सद्गुणों की फसल पुष्पित-पल्लवित करने से यह विश्व भयावह नरक के स्थान पर स्वर्ग का नंदन निकुंज बन जायेगा।'[1]

पारिवारिक पुष्पवाटिका

परिवार का भविष्य यदि प्रेम के आधार पर विकसित किया जायगा तो वह निश्चय ही उज्ज्वल होकर रहेगा। परंतु यह केवल किसी एक व्यक्ति के वश का नहीं है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक दंपति को, प्रत्येक विचारक को, प्रत्येक अर्थशास्त्री को, प्रत्येक समाजशास्त्री को, प्रत्येक राजनीतिज्ञ को, प्रत्येक शिक्षाविद् को इस बात का प्रत्यन करना होगा कि समाज में प्रेम-शक्ति का अधिकतम विकास हो। प्रत्येक धर्म और उसके उन्नायकों को यह बात देखनी होगी कि उनके धर्म के माध्यम से प्रेम की भावना का विस्तार कैसे किया जा सकता है। सहयोग, सद्भाव, सहिष्णुता, सेवा, कष्टसहन आदि ही वे मूल नैतिक गुण हैं जिनके विकास द्वारा ही समाज में, परिवार में, घर में प्रेम-बेलि पल्लवित की जा सकती है। ये ही पारिवारिक जीवन की आधारशिलाएँ हैं। समाज की मूल इकाई—परिवार को विघटन से बचाने का अर्थ है—व्यक्ति को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र को और इस प्रकार सारे संसार को विघटन से बचाना।

परिवार का भविष्य

प्रेम, सहयोग, समंजन और सद्भाव की भावना जितनी अधिक मात्रा में विकसित की जायगी, उसी मात्रा में विघटन रुकेगा। उसी से परिवार की पुष्पवाटिका नाना प्रकार के रंगबिरंगे और सुंदर सौरभमय पुष्पों से भरपूर होकर सारी पृथ्वी को नंदन निकुंज बनाने में समर्थ हो सकेगी।

---

१. पी० ए० सोरोकिन : वेज एंड पावर ऑफ लव, १९५७, पृष्ठ २०५।

अध्याय : १४

भारत में पारिवारिक विघटन

अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना:।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च: सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।[1]

'पुत्र पिता की इच्छा के अनुसार चले। माँ पुत्र के अनुकूल रहे। पत्नी पति से मीठा बोले। भाई भाई से द्वेष न करे। बहन और भाई परस्पर द्वेष न करें। सब भाई एक-सा काम करें। सबकी गति एक-सी हो। सब लोग परस्पर मीठी मंगलमयी बातें करें।'

यह है भारतीय परिवार का मूल आदर्श। प्रेम, सहयोग, मैत्री और हित मनोहारि वाणी ही पारिवारिक संगठन की आधारशिला है। इसी नींव पर परिवार का प्रासाद खड़ा होता है। सेवा, सहानुभूति, परोपकार, सद्भाव—आदि के ही बल पर भारतीय परिवार का संगठन दृढ़ एवं स्थिर बना था। सहयोग, मैत्री और सद्भाव भारत के पारिवारिक संगठन की प्रमुख विशेषताएँ रही हैं।

धन्य गृहस्थ आश्रम

भारत में गृहस्थ आश्रम धन्य माना गया है। वही अन्य तीनों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ तथा संन्यास का आधार था। उसी के सहारे ये तीनों आश्रम परिपुष्ट होते थे। प्राचीन भारत में परिवार संस्था अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। उसके स्वरूप की कल्पना इस विवरण से की जा सकती है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मधुर-भाषिणी।
सन्मित्रं सुधनं सुयोषिति रतिश्चाज्ञापरा सेवकाः ।।

---

१. अथर्ववेद ३।३०।२-३

आतिथ्यं शिव पूजनं प्रतिदिन मिष्ठान्नपानं गृहे।
साधो संग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

आनंदमय भवन, बुद्धिमती संतानें, प्रियंवदा पत्नी, उत्तम मित्र, परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष, आज्ञाकारी सेवक, प्रतिदिन अतिथि सेवा, शिव का पूजन, मिष्ठान्न भोजन, सज्जनों का सत्संग—जहाँ ऐसा सब आयोजन रहता है, वह गृहस्थ आश्रम धन्य है।

जीवन को आनंद और सुख प्रदान करनेवाली सभी वस्तुएँ जिस आश्रम में एकत्र हो गयी हों, उसकी धन्यता स्वयंसिद्ध हैं। भारत के पारिवारिक जीवन में यह सारा वैभव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। आजतक यत्र-तत्र उसकी सुगंध के बिखरे कण लोगों को गद्‌गद कर देते हैं।

भारत में संयुक्त परिवार की पद्धति आरंभ काल से विद्यमान रही है।

परिवार का कार्य

माता और पिता, पुत्र और पुत्री, भाई और बहन, बेटी और बहू आदि सभी को लेकर बननेवाले संयुक्त परिवार का मुख्य कार्य था—परिवार का सर्वांगीण विकास। उसके स्वरूप भिन्न-भिन्न थे। जैसे,—

१. बाल-बच्चों का पालन-पोषण,
२. पारिवारिक चेतना की रक्षा,
३. परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति,
४. सभी सदस्यों के सुख-दुःख में समरसता और
५. सबके विकास का सामूहिक चिंतन।

भारत के संयुक्त परिवार की संपत्ति सबकी संयुक्त संपत्ति मानी जाती थी। परिवार का वयोवृद्ध पुरुष ही मुखिया होता था। परिवार का एक कुल देवता होता था। परिवार का मुखिया सभी सदस्यों की आवश्यकताओं का

संयुक्त परिवार के गुण

ध्यान रखता था और सब की पूर्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्न करता था। सभी रक्त संबंध से तो जुड़े ही रहते थे, सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर उसमें पूरी शक्ति से सहयोग करते थे। साथ रहना, साथ खाना-पीना, साथ हँसना-खेलना, साथ उत्सव मनाना—सब कुछ साथ-साथ चलता था। परिवार का मूल था—'हम' की भावना। 'मेरी' अथवा 'तेरी' की भावना, स्वार्थमूलक भावना का परिवार में कोई स्थान नहीं था। समष्टि की भावना परिवार में भली प्रकार विकसित हुई थी। वेद ने कहा है—

संगच्छध्वं संवदध्वं व मनांसि जानताम्।[1]

हम सब मिल-जुल कर चलें, मिल-जुलकर रहें, मिल-जुलकर बात करें और भली प्रकार एक दूसरे को समझें।

विश्व परिवार : परिवार से लेकर विश्व समाज तक भारत ने इस भावना का विस्तार किया था। कहा था—

अयं निजः परोवेत्ति गणना यः लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

संकुचित चित्तवाले यह 'मेरा', यह 'तेरा'—इस प्रकार की भावना रखते हैं। उदार हृदयवालों के लिए तो सारा विश्व ही अपना परिवार होता है। आज भी देहातों में हम देखते हैं कि वहाँ छोटे से लेकर बड़े तक, मेहतर से लेकर ब्राह्मण तक स्नेह के इस सूत्र में बँधे हैं। सभी ग्राम परिवार के सदस्य परिवार के नातों में आबद्ध हैं; चाचा, दादा, भाई, भतीजा-जैसे संबोधन दैनिक जीवन में चलते हैं। गाँव की बेटी हर एक की बेटी मानी जाती है।

विघटन की दिशा में

इधर कुछ शताब्दियों से भारतीय परिवार शनैः-शनैः विघटन की दिशा में अग्रसर हो रहा है। औद्योगिक विकास, नागरीकरण, प्रोद्योगिकी, पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता, विदेशी शासकों द्वारा निर्मित कानून, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति, सामाजिक परिवर्तन आदि के कारण भारत की संयुक्त परिवार प्रथा भी पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई है। जनसंख्या की वृद्धि, उसकी गतिशीलता तथा नयी रोशनी की सभ्यता ने स्वार्थवाद को भरपूर प्रोत्साहन दिया है। इन सबके चलते भारत में पारिवारिक विघटन आरंभ होकर ही नहीं रह गया, वह धीरे-धीरे बढ़ता ही चलता है।

कृषक समाज में संयुक्त परिवार की परंपरा सर्वत्र देखने में आती है। विश्व के अनेक अंचलों में आज भी उसके उदाहरण उपलब्ध हैं। एशिया में जहाँ-जहाँ कृषक समाज का बाहुल्य रहा है, वहाँ संयुक्त परिवार मिलाते हैं। भारत में भी जबतक कृषि संपन्न और समृद्ध स्थिति में थी, तबतक ग्रामीण जीवन के संयुक्त परिवार सुगठित और उन्नत थे। परंतु जबसे कृषि को शोषण तथा दोहन का साधन बनाया जाने लगा, उसकी उपेक्षा आरंभ हो गयी और भूमि का भार बढ़ने लगा, तब से कृषक समाज भी टूटा और उसके साथ-साथ पारिवारिक संगठन भी टूटने लगा। अंग्रेजी राज्य में भारत के

---

१. ऋग्वेद १०।१९१।२

शोषण और दोहन की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई और पाश्चात्य सभ्यता का जो प्रसार हुआ उसने पारिवारिक विघटन की नींव डाल दी। दिन-दिन वह नींव गहरी होती चली जा रही है।

विघटन के कारण

विनोबा कहते हैं कि यदि कोई पत्थर बीस चोटों से टूटता है तो यह नहीं मानना चाहिए कि बीसवीं चोट से ही वह टूटा है और पहले की १९ चोटें बेकार गयीं। पत्थर के टूटने में बीसों चोटों का हाथ है, भले ही पहले की चोटें दिखाई न पड़ें। भारत के पारिवारिक विघटन के लिए भी इसी प्रकार कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं है। अनेक कारकों ने संयुक्त होकर विघटन को आधुनिक स्थिति में ला दिया है। मोटे तौर पर इन तथ्यों को विघटन का कारण माना जा सकता है—

आर्थिक कारण

१. कृषि की उपेक्षा
२. ग्रामोद्योगों की समाप्ति
३. जनसंख्या की वृद्धि
४. औद्योगीकरण और नगरीकरण
५. बेकारी और निर्धनता

सामाजिक-सांस्कृतिक कारण

१. प्राचीन मूल्यों का ह्रास
२. शिक्षण की भोगपरक पद्धति
३. 'खाओ पियो मौज करो' का आदर्श
४. पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार, फैशन, मनोरंजन
५. विघटनमुखी कानून
६. स्वार्थवाद और व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन

राजनीतिक कारण

१. विदेशी शासन सत्ता की स्वार्थी नीति का प्रभाव
२. राजनीतिक अधिकार
३. चुनाव, दलबंदी आदि।

अंग्रेजी शासनकाल में कृषि की अत्यधिक उपेक्षा की गयी। सिंचाई आदि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इंग्लैंड की मानचेस्टर की मिलों का,

उनके मजदूरों का ध्यान रखकर भारत के कुटीर और ग्रामोद्योगों का सर्वनाश किया गया। यहाँ भारत का पक्का माल विदेशों में खप कर भारत में सोना-ही-सोना लाया करता था, वहाँ उसके प्रवाह की दशा ही उलट दी गयी। भारत का कच्चा माल इंग्लैंड जाने लगा। इंग्लैंड का पक्का माल भारत में खपने लगा। भारत का सोना लूटने में, भारत को हर प्रकार से दुहने में विदेशी शासकों ने कोई वात उठा नहीं रखी। आयात-निर्यात की नीति गोरे अफसरों की नियुक्ति उनकी पेंशन और भत्ते सव इंग्लैंड के हित को ध्यान में रखकर निश्चित किये जाने लगे। विश्व का समृद्धतम देश अंग्रेजों की कृपा से विश्व का दरिद्रतम देश वन गया। उसकी निर्धनता चरम सीमा पर पहुँच गयी। किसान और कारीगर वेकार होकर नगरों की ओर दौड़ने लगे। कुछ बड़े उद्योग जव भारत में पनपे, कारखाने खुले तो वहाँ मजदूरों से अत्यधिक काम लिया जाने लगा। उनका आर्थिक शोषण किया जाने लगा। औद्योगीकरण और नागरीकरण की विषम समस्याएँ भारत के किसानों और मजदूरों को सताने लगी। जनसंख्या भी उत्तरोत्तर वढ़ने लगी। फलत: संयुक्त परिवार टूटने लगे। आर्थिक दुरवस्था ज्यों-ज्यों वढ़ने लगी, संयुक्त परिवार के सदस्यों के वीच तनाव भी त्यों-त्यों बढ़ने लगा। उसका परिणाम पारिवारिक विघटन के रूप में होना स्वाभाविक था।

अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति चलाकर भारत के विशाल भू-भाग पर शनैः-शनैः अपना आधिपत्य जमाया। उनके जीवन का लक्ष्य था—'खाओ-पियो मौज करो'। भोगविलास और स्वच्छंदता के, पाश्चात्य सभ्यता के भोगवादी आदर्श के कारण, उनके रहन-सहन, फैशन, व्यवहार आदि के कारण, उनकी शैक्षणिक नीति के कारण भारत के त्याग और तपस्यावाले नैतिक और सामाजिक मूल्यों को बड़ा धक्का लगा। भारत के प्राचीन मूल्य उपहास और उपेक्षा की वस्तु बना दिये गये। अंग्रेजी शिक्षा, सिनेमा और क्लवों की वृद्धि, रोमांसी जीवन, मादक पदार्थों का प्रचलन और प्रोत्साहन—सबने मिलकर भारत की शाश्वत परपरा का आघात किया। उसके चलते स्वार्थवाद और व्यक्तिवाद की भावना बढ़ने लगी। सरकार ने ऐसे-ऐसे कानून वना दिये, कोर्ट-कचहरी का ऐसा जाल बिछा दिया कि गाँवों की सामुदायिकता, उनकी पंचायत पद्धति टूटने लगी, परिवारों में झगड़े बढ़ने लगे, परिवार टूटने लगे।

विदेशी शासन सत्ता की स्वार्थवादी नीति का एकमात्र लक्ष्य था पाश्चात्य सभ्यता का विस्तार और इंग्लैंड के हितों को प्राथमिकता। भारत के आर्थिक,

सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर उसका चतुर्मुखी प्रभाव पड़ा। उसके चलते भारत की पारिवारिक इकाई बुरी भाँति टूटने लगी। जाते-जाते भी अंग्रेज भारत के दो टुकड़े करते गये, साम्प्रदायिक विद्वेष का विष बिखेरते गये। साम्प्रदायिकता, भाषावाद, जातिवाद, कूटनीति, दलबंदी, चुनाव, राजनीतिक अधिकारों आदि का ऐसा जाल बिछाते गये कि ये सभी समस्याएँ भारत को खंड-खंड करने में तीव्र गति से अग्रसर हो रही हैं। उनके चलते सामुदायिक और सामाजिक विघटन तो हो ही रहा है, वैयक्तिक और पारिवारिक विघटन भी कम नहीं हो रहा है।

पारिवारिक परिवर्तन

प्रोफेसर कर्वे ने भारत के पारिवारिक परिवर्तन की चर्चा करते हुए कहा है कि कृषि पर आधृत भारतीय समाज-व्यवस्था में संयुक्त परिवार अत्यंत आवश्यक थे। परंतु आज वह स्थिति नहीं रह गयी है। परिवार के मुखिया की मृत्यु होते ही संयुक्त परिवार कई छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाते हैं।

आई० पी० देसाई ने पारिवारिक परिवर्तनों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि विगत ५० वर्षों के बीच संयुक्त परिवार भारी मात्रा में विघटित हुए हैं। आपके मत से इस परिवर्तन के मूल कारण हैं—आर्थिक विकास की प्रक्रिया, औद्योगीकरण की आधुनिक प्रक्रिया, तकनीकी परिवर्तन, नागरीकरण और शिक्षा की पद्धति।

एलिन डी० राव ने भी दक्षिण भारत के पारिवारिक परिवर्तनों का अध्ययन करके इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। उनका भी यही मत है कि औद्योगीकरण और नागरीकरण का संयुक्त परिवार को विघटित करने में बड़ा हाथ है। इन परिवर्तनों का जाति, भाषा, आय आदि की अपेक्षा पारिवारिक संरचना पर कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है।

परिवर्तन के स्वरूप

रास ने पारिवारिक विघटन के कारण होने वाले पारिवारिक परिवर्तनों के चार स्वरूप बताये हैं, देसाई ने पाँच। रास के अनुसार संयुक्त परिवार का स्वरूप इस प्रकार है—

१. बड़ा संयुक्त परिवार,
२. छोटा संयुक्त परिवार,
३. एकाकी परिवार और
४. आश्रितों सहित एकाकी परिवार।

देसाई के अनुसार परिवारों के पाँच स्वरूप हैं। उनके दो मोटे भेद हैं—संयुक्त परिवार और एकाकी परिवार। इन दोनों के बीच पर्याप्त महत्त्वपूर्ण अंतर हैं।

१. बड़ा संयुक्त परिवार—इसमें तीन या अधिक पीढ़ियों के लोग एक में मिलकर रहते हैं। इनमें संपत्ति, आय, कर्त्तव्य और अधिकारों के संबंध में कई प्रकार के संबंध रहते हैं।

२. छोटा संयुक्त परिवार—इसमें माता-पिता, अविवाहित पुत्र-पुत्री और विवाहित पुत्र-पुत्री और पौत्र आदि रहते हैं।

३. एकाकी परिवार—पिता, माता तथा उनके अविवाहित बच्चों का परिवार। ये स्वतंत्र होते हैं। धनसंपत्ति, आय, कर्त्तव्य और अधिकार—सभी विषयों में ये पृथक् रहते हैं। अन्य संबंधियों से इनका कोई संबंध नहीं रहता।

४. एकाकी परिवार—इन परिवारों का अन्य संबंधियों से संबंध रहता है। आय और संपत्ति का संबंध रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता।

५. एकाकी परिवार—ये यद्यपि पृथक् रहते हैं, परंतु अपने को संयुक्त परिवार का अंग ही मानते हैं।

एक लोकोक्ति है कि "न्यारो पूत परोसी दाखिल"। बेटा यदि अलगोझा कराकर, संपत्ति का विभाजन कराकर माता-पिता से पृथक् हो जाता है, तो उसकी गणना पड़ोसी के रूप में ही करनी चाहिए। आज पारिवारिक विघटन इस स्थिति में पहुँच गया है और स्वार्थवाद इतना बढ़ गया है कि पुरातन पारिवारिक स्नेह, सद्भाव, सहयोग, कर्त्तव्यपरायणता और सेवा तथा कष्ट सहन की भावना उत्तरोत्तर कम हो जाती है। यह स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

अध्याय : १५

भारत में नारी की स्थिति

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो ?'—कवि जयशंकर 'प्रसाद' की यह उक्ति वैदिक परम्परा की ही अभिव्यक्ति कर रही है। संत विनोबा कहते हैं कि "भारत में स्त्रियों के लिए इतना आदर है कि वेद में कहा है : 'स्त्री अधिक सूक्ष्म बुद्धिवाली होती है, पुरुषों से उदार होती है, क्योंकि पुरुष परमेश्वर की आराधना, भक्ति, दातृत्व में कम पड़ता है। स्त्री माता होती है। वह पुरुष का दुःख जानती है। किसी को प्यास लगती है तो वह जानती है। किसी को पीड़ा होती है तो जानती है और अपना मन हमेशा भगवान की भक्ति में लगा रखती है।" मनु महाराज ने स्मृति में स्त्रियों के लिए कितना आदर व्यक्त किया है :

उपाध्यायान दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन् माता गौर वेणाति रिच्यते ॥ (२।१४५)

"दस उपाध्याय के बराबर एक आचार्य होता है। सौ आचार्यों के बराबर एक पिता होता है और हजार पिताओं से भी एक माता का गौरव बड़ा है।"[1]

महात्मा गाँधी स्त्री को अहिंसा की साक्षात् मूर्ति मानते थे। उनका कहना था कि 'बहनों को मैंने अनेक बार अहिंसा की साक्षात् मूर्ति बताया है। उन्हें प्रभु ने ऐसा प्रेमालु हृदय प्रदान किया है, जैसा पुरुषों में नहीं है।'[2]

अहिंसा की मूर्त्ति

'अहिंसा' का अर्थ है—असीम और अनन्त प्रेम। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है, कष्ट सहन की अपार क्षमता। स्त्री के सिवा, जो पुरुष की माता है, यह क्षमता अधिक-से-अधिक मात्रा में कौन दिखाता है ? शिशु को नौ मास तक अपने गर्भ में रखने तथा उसका पालन-पोषण करने में वह अपनी यह क्षमता प्रकट करती है और इसके लिए उसे जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, उनमें

---

१. विनोबा : तीसरी शक्ति, १९६६, पृष्ठ ११५-११६।
२. मो० क० गांधी : बिहारनी कोमी आगमां, पृष्ठ ६४।

आनंद मानती है। प्रसव की जो पीड़ा वह भोगती है, उससे अधिक बड़ी पीड़ा दूसरी क्या हो सकती है? लेकिन शिशु जन्म के आनंद में वह इस पीड़ा को भूल जाती है।'[१] 'स्त्री जाति पुरुष जाति से अधिक उदात्त और अधिक ऊँची है। कारण, वह आज भी त्याग की, मूक कष्ट सहन की, नम्रता की, श्रद्धा की और ज्ञान की जीवित मूर्ति है।'[२]

वेद में तथा हिंदू धर्म-ग्रंथों में ही नहीं, इस्लाम में भी स्त्रियों का आदर करने का आदेश दिया गया है। मुहम्मद साहब का उपदेश है कि 'अल्लाह कहता है कि औरतों की इज्जत करो। वे तुम्हारी मां हैं, बेटियाँ हैं, चाचियाँ हैं।'[३]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वैदिक युग : वैदिक युग में नारी को अत्यन्त आदर का स्थान प्राप्त था। वेदों की अनेक ऋचाएं नारी ऋषियों के हृदय से उद्भूत हुई हैं। ज्ञानार्जन में ही नहीं, समाज के विकास एवं नियमन में भी उनका हाथ रहता था। उन्हें आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सार्वजनिक, सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। पारिवारिक जीवन की तो वे आधारशिला मानी ही जाती थीं, सामाजिक जीवन में भी उनका विशिष्ट स्थान था। ज्ञान एवं विद्वत्ता में वे पुरुष जाति से किसी भी अर्थ में कम नहीं थीं। अनेक अवसरों पर वे शास्त्रार्थ भी करती थीं।

नारी पुरुष की सहधर्मिणी मानी जाती थी। विद्याध्ययन के लिए उसका भी उपनयन संस्कार होता था। कोई भी धार्मिक कृत्य नारी के बिना सम्पन्न नहीं होता था। पति और पत्नी एक ही सिक्के के दो बाजू माने जाते थे। शारीरिक ही नहीं, उनका आत्मिक संबंध भी रहता था। सभी धार्मिक कार्यों में दोनों ही संयुक्त रूप से भाग लेते थे।[४]

वेदादि धर्म-ग्रंथों का, शास्त्रों का अध्ययन ब्रह्मचर्य आश्रम का अनिवार्य अंग था। बालक एवं बालिका समान रूप से वेदाध्ययन करते थे। दोनों में कोई भेद नहीं माना जाता था।[५] छात्राओं के लिए दो प्रकार के

---

१. निर्मल कुमार बसु : सिलेक्शंस फ्राम गांधी, १९४८, पृष्ठ २४१।

२. प्रभु और राव : दि माइंड आफ महात्मा गांधी, १९४५, पृष्ठ १११-११२

३. श्री कृष्णदत्त भट्ट : इस्लाम धर्म क्या कहता है? १९६३, पृष्ठ ५८।

४. प्रो० इन्द्र : दि स्टेटस ऑफ विमेन इन एंश्येंट इंडिया, १९५ पृष्ठ १२१।

५. प्रो० इंद्र : वही, पृष्ठ १३३। नीरा देसाई : विमेन इन माडर्न इंडिया, १९५७, पृष्ठ १९

विशिष्ट वर्ग थे। वे थे—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू अथवा सद्योद्वाह। जीवनपर्यंत दर्शन एवं अध्यात्म विद्या का अध्ययन करने की इच्छुक छात्रा प्रथम वर्ग में अध्ययन करती थी। वह वेदों के अतिरिक्त पूर्व मीमांसा में विशेषता प्राप्त करके तदनुकूल जीवन बिताती थी। उसका जीवन निवृत्ति-परक होता था। सद्योवधू या सद्योद्वाह गार्हस्थ जीवन सबंधी शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करके अपने को तदनुकूल बनाने का प्रयत्न करतीं थीं। गार्हस्थ जीवन संबंधी संस्कारों का, दैनिक जीवन संबंधी उपयुक्त प्रार्थनाओं, स्तुतियों आदि का ज्ञान प्राप्त करती थी। तत्कालीन शिक्षा में मानव के, स्त्री एवं पुरुष दोनों के सर्वांगीण विकास का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था। उसका लक्ष्य यही रहता था कि स्नातक होने के उपरांत युवक और युवती यदि संन्यास लेना चाहें तो उसके लिए भी सक्षम एवं समर्थ हों। यदि वे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना चाहें तो सफल और श्रेष्ठ गार्हस्थ जीवन बिता सकें।

ज्ञानार्जन की इस विशिष्टता के फलस्वरूप हम देखते हैं कि लोपामुद्रा, अपालात्रेयी, घोषा, गोगा, विश्ववारा, अदिति सरमा जैसी ऋषि महिलाओं ने वैदिक वाङ्मय में अपना अमर स्थान बनाया था। उपनिषदों में भी गार्गी, मैत्रेयी, विदग्वा-उद्यालका जैसी विदुषी नारियों का वर्णन प्राप्त होता है।

गार्हस्थ जीवन में प्रविष्ट होने के लिए वैदिक काल में स्वयंवर की प्रथा थी, राजकुमारियाँ ही नहीं, सामान्य आर्य कन्याएँ भी स्वयंवर की पद्धति से मनोनुकूल वर का चयन करती थीं। विवाह के वैदिक मंत्रों में नववधू को अत्यधिक आदर एवं प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है। उसे गृहलक्ष्मी मान कर उस पर आनंद की वृष्टि की जाती है। घर और परिवार की सम्राज्ञी है वह। वेद कहता है :[1]

सम्राज्येधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्येधि सम्राज्युत श्वश्र्वाः॥

'हे नववधू, तू जिस नवीन गृह में पदार्पण कर रही है, वहाँ की तू रानी है, सम्राज्ञी है। वहाँ तेरा ही राज्य है। तेरे श्वसुर और सास, ननद और देवर तेरे राज्य में प्रसन्न एवं आनंदित रहें।'

नारी की यह प्रतिष्ठा, उसकी यह महत्ता पारिवारिक जीवन में सुख, शांति एवं आनंद की त्रिवेणी प्रवाहित करती थी। प्राचीन युग में नारी की यह स्थिति अत्यन्त गरिमापूर्ण एव प्रशंसनीय थी। वह उत्तम जीवन सहचरी

१. अथर्ववेद १४।१४

थी, पवित्र भगिनी थी, वात्सल्य एवं स्नेहपूरित माता थी और आदर्श कन्या थी। उसके कन्या, बहन, पत्नी और माता —ये सभी रूप उज्ज्वल एवं पवित्र थे। विद्या एवं बुद्धि, कला एवं कौशल, सेवा एवं त्याग, संगीत एवं शृंगार स्वच्छता एवं पवित्रता—सभी गुण उसमें विकसित हुए थे। यही कारण है कि विचारक इस तथ्य को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि 'ऋग्वेद ने तत्कालीन योग्य नारियों को उच्चतम सामाजिक पद प्रदान किया था।'[1]

उत्तर वैदिक काल : वैदिक काल को पूर्व एवं उत्तर काल में विभाजित करके हम देखें तो लगता है कि उत्तर वैदिक काल मे भी नारी की पूर्व स्थिति में कोई अंतर नहीं आया था। वह वेदाध्ययन करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होती थी—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम्'। गोमिल गृह्यसूत्र में आता है कि कन्या उपनीत होकर, यज्ञोपवीत धारण करके ही विवाह मंडप में आती थी। स्पष्ट था कि उसने समुचित विद्याध्ययन कर लिया है। विदुषी नारियाँ ब्रह्मवादिनी भी होती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में परम विदुषी कुमारी गंधर्वगृहीता का उल्लेख प्राप्त होता है।

विवाह अत्यन्त पवित्र एवं दृढ़ संस्कार माना जाता था। जीवन संगी के परित्याग का निषेध था। यदि कोई पति अन्यायपूर्वक पत्नी का परित्याग कर देता था तो उसे कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ता था। आपस्तम्ब सूत्र में आता है कि ऐसे पति को छः मास तक गर्दभचर्म ओढ़ कर प्रति दिन ७ घरों से यह कह कर भिक्षा मांगनी पड़ती थी कि 'उस पुरुष को भिक्षा दीजिये जिसने अपनी पत्नी का त्याग कर दिया है।'

स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में नारी की स्थिति पूर्ववत सम्मानपूर्ण बनी हुई थी। वाशिष्ठसूत्र में माता को पिता से सहस्रगुने आदर की पात्र माना गया है।

महाकाव्य काल : रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों के काल में भी नारी की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी थी। उसका विद्याध्ययन, उसका शैक्षणिक विकास पूर्ववत चालू था। वाल्मीकि रामायण में सीता द्वारा वैदिक संध्या प्रार्थना करने का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है—

संध्या कालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थं वरवर्णिनी॥

---

१. राधाकुमुद मुखर्जी : 'वीमेन इन एंश्येंट इंडिया, १९५८, पृष्ठ २।

सीता, सावित्री, दमयन्ती जैसी सती-साध्वियों का आदर इस बात का प्रमाण है कि इस काल में भी नारी आदर और सम्मान की पात्र थी। माता को गुरु से भी श्रेष्ठ माना जाता था—"गुरुणां चैव सर्वेषां माता परमे को गुरुः।"[1]

विवाहों के आठ प्रकारों का वर्णन मिलता है। उनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य उत्तम प्रकार माने जाते थे। गांधर्व, राक्षस, असुर एवं पिशाच निकृष्ट प्रकार माने जाते थे। नियोग की प्रथा भी शास्त्रानुमोदित थी। राजा तथा संपन्न वर्ग के लोगों में बहुविवाह का प्रचलन आरंभ हो गया था।

द्यूत आदि का कुव्यसन इस काल में विशेष रूप से व्यापक होने लगा था। कुछ लोगों में नारी की अवहेलना की भी भावना बढ़ने लगी थी। भरी सभा में द्रौपदी का अपमान ऐसी शोचनीय घटना है, जिसके द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काल में नारी की स्थिति ह्रासोन्मुखी होने लगी थी।

बौद्ध काल : नारी को कुछ झिझक के साथ भगवान बुद्ध ने संघ में प्रवेश की अनुमति दी। उन्हें आशंका थी कि ऐसा करने से नैतिक मर्यादाओं का कुछ ह्रास संभव है। विनय पिटक में स्थान-स्थान पर दुक्कट संबंधी निषेधात्मक जो नियम बनाये गये, उनसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यह प्रयोग बहुत कुछ सफल नहीं हो सका। फिर भी हम देखते रहते हैं कि बौद्ध मठों में भिक्षुणियों के शिक्षण की व्यवस्था रहती थी और 'थेरी गाथा' जैसी रचनाएं उनकी योग्यता एवं बुद्धिमत्ता का प्रमाण हैं। विदुषी नारियों के अनेक विवरण तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध हैं।

बौद्ध साहित्य में कहीं-कहीं पर ऐसा वर्णन मिलता है कि पारिवारिक जीवन में सास-बहू में पटरी नहीं बैठती है, अतः वैसे कलहपूर्ण जीवन से ऊब कर कितनी ही स्त्रियां भिक्षुणी बन जाती हैं। डाक्टर आल्तेकर ने ऐसे उदाहरणों को अपवाद बताया है जिसके औचित्य को स्वीकार करते हुए शिवस्वरूप सहाय कहते हैं कि इन बौद्ध ग्रंथों में बहुत-से ऐसे स्थल भी प्राप्य हैं जिनके वर्णन में वधू के प्रति सास द्वारा सद्भावना एवं श्वसुर द्वारा आदर का भाव प्रदर्शित किया गया है तथा वधू द्वारा भी इनके प्रति श्रद्धा एवं आस्था का भाव वर्णित है।[2]

---

१. महाभारत १।२११।१६।

२. शिवस्वरूप सहाय : हिन्दू सामाजिक संस्थाएँ, १९६४, पृष्ठ १५४

स्मृतिकाल। स्मृतियों के रचनाकाल में एक ओर नारी की आदरणीय स्थिति के प्रमाण मिलते हैं, दूसरी ओर इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि पुरुष वर्ग उसे 'रक्षणीया' मानने लगा था और जन्म से मरण तक उसे पराधीन रखने की बात करने लगा था, मनुसंहिता में ही दोनों प्रकार की बातें मिलती हैं।

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राफला: क्रिया:॥ (३ – ५६)

'जिस कुल में स्त्रियों की पूजा की जाती है, उस कुल के देवता प्रसन्न रहते हैं। जहाँ ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ सभी क्रिया-कर्म निष्फल हो जाते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्व्वदा॥ (३—५७)

'जिस कुल में स्त्रियाँ दुखी रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही नाश हो जाता है। जहाँ वे दुखी नहीं रहतीं, वहाँ परिवार की सतत श्रीवृद्धि होती चलती है।'

नारी-समस्या का उदय

भारत में पारिवारिक जीवन का जिस प्रकार विकास हुआ है, उसमें नारी की प्रतिष्ठा आरंभ मे ही आवश्यक मानी जाती रही है। उसके सुख और संतोष की आधारशिला पर ही परिवार का सुख और संतोष निर्भर है,—इस तथ्य को अत्यंत प्राचीन काल से स्वीकार किया जाता रहा है। वैदिक काल से स्मृतिकाल तक आते-आते यह स्थिति तो अक्षुण्ण रही, पर स्मृतिकाल में नारी की स्थिति पर आजीवन नियंत्रण करने की बात चालू कर दी गयी—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥ (मनुसंहिता ९ – ३)

'कौमारावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री की रक्षा करे। स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे।'

नारी पर आजीवन इस प्रकार का नियंत्रण रखना आवश्यक बताते हुए स्मृतिकार कहते हैं कि स्त्रियों की यदि लेशमात्र भी उपेक्षा की गयी तो वे पिता एवं पति—दोनों के कुलों को डुबा देंगी—

'सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्य: स्त्रियो रक्ष्या विशेषत:।
द्वयोर्हि कुलयो: शोकमावहेयुर रक्षिता:॥ (९ - ५)

इसका कारण स्मृतिकार की दृष्टि में यह है कि नारी अत्यंत कामुक होती है—

नैतां रूपं परीक्ष्यन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुंमानित्येव भुञ्जते ॥ (९ - १४)

'स्त्री न रूप देखती है, न आयु। सुरूप या कुरूप—कैसा भी पुरुष मिलते ही वह उसके साथ संभोग करने लगती है।'

मनुसंहिता के ऐसे श्लोक नारी जाति के लिए अत्यंत ही अपमानजनक हैं। गांधी जी से इसी प्रसंग की चर्चा करते हुए एक व्यक्ति ने लिखा था कि सांप के बिल में हाथ ही क्यों डाला जाय? उत्तर में उन्होंने कहा[१] कि 'स्त्री की निर्दोष संगति की तुलना साँप के बिल से करने में मैं तो अज्ञान ही पाता हूँ। इसमें स्त्री जाति का और पुरुष का अपमान है। क्या जवान लड़का अपनी माँ के पास नहीं बैठेगा? बहन के पास नहीं बैठेगा? रेल में उनके साथ एक बेंच पर नहीं बैठेगा? ऐसे संग से भी जिसका मन चंचल और विकारवश होता हो, उसकी स्थिति कितनी दयाजनक मानी जायगी।'

नारी की अवहेलना : यहीं से नारी की स्थिति बिगड़ने लगती है और वह समस्या का रूप धारण करने लगती है। उसकी स्वतंत्रता में बाधा दी जाने लगती है। वैदिक काल में नियोग की व्यवस्था स्मृतिकाल में समाप्त कर दी जाती है।[२] पत्नी के परित्याग के लिए भी स्मृतियों ने अनुमति दे दी। कहा गया कि मद्यपान करने वाली, दुष्चरित्रा, पति से द्वेष करने वाली, असाध्य रोगिणी, बुराई करने वाली, अधिक खर्चीली स्त्री का पति परित्याग कर दे—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥[३]

इतना ही नहीं, जो स्त्री वंध्या निकल जाय उसका आठवें वर्ष में और जिसके बाल-बच्चे मर जाते हों, जो मृतप्रजा हो उसका दसवें वर्ष में और जो केवल बेटियों को ही जन्म देती हो, स्त्री जननी हो उसका ग्यारहवें वर्ष में परित्याग कर दे। कटुभाषिणी, अप्रियवादिनी पत्नी का तो तत्काल परित्याग कर दे—

---

१. मो० क० गांधी : हरिजन सेवक, २७-७-१९४७

२. मनुसंहिता ९।६८

३. मनुसंहिता ९।८०

वन्ध्याष्टमेऽधिवेधाब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्री जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥[1]

इन श्लोकों से पत्नी परित्याग करने के लिए ये कारण उचित मान लिये गये हैं—

१. मद्यपान करना
२. दुष्चरित्र
३. पति का द्रोह
४. असाध्य रोग
५. बुराई करने की आदत
६. अपव्यय
७. वंध्यात्व
८. मृत प्रजात्व—संतान का दीर्घजीवी न होना
९. स्त्री-जनन—कन्याएँ-ही-कन्याएँ उत्पन्न करना
१०. कटु भाषण।

पुरुष के लिए ये सब छूटें थीं; परंतु स्त्री के लिए स्मृतिकार आदेश देते हैं—

विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित:।
उपचर्य: स्त्रिया साध्वया सततं देववत् पति: ॥[2]

पति शीलरहित हो, व्यसनी हो, दुराचारी हो, विद्या आदि गुणों से शून्य हो, फिर भी पत्नी को उसकी उपेक्षा न करके देवता की भाँति उसकी सेवा करनी चाहिए।

वैदिक काल में स्त्री को उपनयन एवं यज्ञ में सम्मिलित होने का अधिकार था। आगे उपनयन निषेध हो जाने पर वह उस अधिकार से वंचित कर दी गयी। घर में पुत्र को पुत्री से अधिक सम्मान दिया जाने लगा। पितृप्रधान परिवार व्यवस्था में पुत्र को वरीयता स्वाभाविक मान ली गयी। पितृ पूजा की भावना विकसित हुई। सपिण्ड होने के नाते पुत्र को ही इसका अधिकार था। इसी बीच सती प्रथा चल पड़ी और साथ ही सती न होने वाली विधवा की दुर्दशा। संपत्ति में पुत्र के अभाव में पुत्री का, संतानहीन पुत्र की सम्पत्ति

---

१. मनुसंहिता ९।८१
२. मनुसंहिता ५।१५४

पर माता का और संयुक्त परिवार से मृत्यु से पूर्व पृथक् हो जाने वाले व्यक्ति की विधवा का अधिकार स्मृतिकारों ने मान लिया, यह उनकी बड़ी उदारता ही माननी चाहिए।

व्यापक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि वैदिक काल में नारी का जो सम्मान था, जो आदर था, स्मृतिकाल में उसमें बहुत ह्रास हो गया। पहले यहाँ वह सहधर्मिणी और गृहस्वामिनी मानी जाती थी, शिक्षा और ज्ञान में पति से कन्धे-से-कन्धा मिला कर गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थी, वहाँ अब वह घर की दासी-जैसी स्थिति में आ गयी। पति की सेवा करना, इसके हर प्रकार के दुर्गुणों को चुपचाप सहन करना उसका कर्तव्य मान लिया गया। पत्नी के छोटे से बड़े तक सभी अपराध अक्षम्य कहकर उसे जब चाहे निकाल बाहर कर देने के लिए पर्याप्त मान लिये गये।

कुछ विचारकों ने इस तथ्य पर बल दिया है कि नारी शरीर से कोमल थी, समाज का संचालन पुरुष वर्ग के हाथ में था तथा सामाजिक नियमों का निर्धारण भी पुरुषों की ही मुट्ठी में था, उसी का यह परिणाम था कि नारी की स्थिति इतनी दयनीय बना दी गयी।

नारी जीवन समस्यामूलक बना सो बनता ही चला गया। बौद्ध और जैन धर्मों में अनेक विदुषी भिक्षुणियाँ, सती-साध्वियाँ निकलीं। हिंदू धर्म में शिक्षा आदि की वैसी स्वतंत्रता नहीं रही। फलतः हिन्दू नारी का विकास घर की चहारदीवारी के भीतर कुंठित होकर रहने लगा।

मध्यकालीन युग

महाभारत काल के बाद से लेकर हर्षवर्धन के भी ११०० वर्ष बाद तक स्थिति लगभग इसी प्रकार की बनी रही।

मुसलिम आक्रामकों ने जब देश के अनेक भागों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा तो एक ओर जहाँ राजपूत और मराठा वीरांगनाओं ने अपने शौर्य से उनके दाँत खट्टे कर दिये, वहाँ दूसरी ओर अनेक कायर व्यक्ति मुसलिम संस्कृति के रंग में अपने को रंगने लगे। उसी युग में भारत के उत्तरी भाग में मुख्यतः पंचनद और गंगा-यमुना के प्रदेश में पर्दा-प्रथा का आरम्भ हुआ। पर्दा-प्रथा दिन-दिन बढ़ने लगी। कुलीन हिन्दू परिवारों में पर्दा-प्रथा ने धीरे-धीरे सामाजिक मर्यादा का स्वरूप धारण कर लिया।

मध्यकालीन युग में नारी पर लगे हुए प्रतिबन्ध बढ़ते ही चले गये। पर्दे आदि की रोकों के बावजूद उसे धार्मिक सत्संगों, देवदर्शन, कथा भागवत आदि

श्रवण करने की यत्किंचित सुविधा रहती थी। नारी का सहज श्रद्धायुक्त हृदय भक्ति और पौराणिक धर्म की ओर विशेष रूप से झुका। संतों की परम्परा में कुछ नारियाँ भी आ गयीं। उन्होंने अपने आचरण और उपदेशों से नारी समाज को प्रभावित किया। लोगों की ऐसी धारणा है कि 'पौराणिक धर्म तथा भक्ति धर्म का अनुसरण करने से नारी को अवलम्ब मिला, किंतु एक अनिष्ट यह हुआ कि शिक्षा के अभाव और विवेक-बुद्धि की कमी के कारण नारियों में अंधविश्वास फैला और वे अनेक कपोलकल्पित बातों में भी विश्वास करने लगीं और उनसे कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रखने में चूक होने लगी।'[1]

शिक्षा की स्थिति भी शोचनीय रही। उच्च परिवारों को छोड़ सामान्य परिवार की नारी शिक्षा से वंचित रहने लगी। दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश देर से हुआ। उस बीच संस्कृत तथा दक्षिण की प्रादेशिक भाषाओं में नारियों ने भी हाथ बँटाया।

मध्यकालीन युग की विशिष्ट कवयित्रियों में जनुलक्ष्मी, असुलद्धी, अवन्ति-सुन्दरी, शीलयहारिका, प्रभुदेवी, तेलुगु में मोल्ला, विजयनगर की तिरुमलाम्बा, होतम्मा, चेतुवाम्बा, मराठी में महदम्बा, मुक्ताबाई, जनाबाई, मीराबाई आदि का विशिष्ट स्थान है। राजपूतों में अनेक वीरांगनाओं ने, अनेक राजवंशों की शासिकाओं ने अपनी योग्यता प्रमाणित कर भारत का गौरव बढ़ाया। शिवाजी की माता जीजाबाई, पुत्रवधू ताराबाई, इन्दौर की अहल्याबाई, कश्मीर की रानी दिद्दा जैसी शासिकाएँ अपने शासन-कौशल के लिए प्रख्यात थीं।

ब्रिटिश सरकार अठारहवीं शताब्दी के अन्त से भारत में अपना आधिपत्य जमाने लगी। उसके साथ भारत में पाश्चात्य सभ्यता, पाश्चात्य रहन-सहन, पाश्चात्य शिक्षा फैलने लगी। नयी रोशनी की इस सभ्यता के कारण भारत की पुरातन सभ्यता पर, पुराने रीति-रिवाजों और पुरानी प्रथाओं पर आक्रमण होने लगा। अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों पर राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा ऐसे ही अन्य समाज सुधारकों ने तीव्रतम प्रहार किये। उसके उपरांत महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने जो आन्दोलन चलाये, उन्होंने नारी को पद से निकाल कर राष्ट्र

वर्तमान युग : ब्रिटिश काल

१. नन्दिता मिश्र : मध्ययुग में नारी की स्थिति; समर्पण और साधना, पृष्ठ १०७।

की सेवा में खुल कर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। नारी की स्थिति में आशातीत सुधार होने लगा।

पर्दा : नारी की स्थिति को दयनीय बनाने में पर्दा प्रथा का बड़ा हाथ रहा है। पर्दे में बंद की गयी नारी का विकास भली-भाँति होना संभव नहीं है। उससे स्वास्थ्य पर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है, आवागमन, बोलचाल, बात-व्यवहार में भी बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। शिक्षा-दीक्षा तथा समाज-सेवा का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है? घर की चहारदीवारी में भी स्वतंत्रता-पूर्वक निवास करने में कठिनाई होती है।

नारी के शील, संकोच और मर्यादा का प्रश्न पर्दे से सर्वथा भिन्न है। लज्जा और शील जहाँ नारी का भूषण है, पर्दा का प्रतिबंध वहाँ उसे हर प्रकार से पीड़ित और त्रस्त करता है। इससे उसमें हीनता की भावना तो विकसित होती ही है, सामान्य व्यवहार में भी नाना प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। उत्तर भारत, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में पर्दे की कुप्रथा के उदाहरण प्रतिदिन देखे जा सकते हैं। घर-परिवार के परम विश्वस्त एवं हितैषी व्यक्तियों के समक्ष इतना पर्दा किया जाता है कि ससुर और जेठ अपनी पुत्रवधू और अनुजवधू को पहचान नहीं सकते। पर्देवाली बहुएँ कभी-कभी पर्दे के कारण बदल तक जाती हैं! बात करना दूर, सामने से निकलने तक का निषेध होता है। नारी के व्यक्तित्व का इससे बढ़कर अपमान और क्या हो सकता है? तमाशा यह है कि वज्र देहाती ही नहीं, उत्तम-से-उत्तम पदवी-धारी देश-विदेश में घूमकर आनेवाले व्यक्ति भी इस कुप्रथा की व्यर्थता अनुभव करते हुए भी इससे अपने परिवार को मुक्त करने का साहस नहीं करते हैं।

पंडित जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं—'पर्दे की प्रथा विशेषकर ऊँचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेजी से फैली जहाँ कि मुसलमानों का प्रभाव था। उत्तर और पूर्व के बड़े प्रदेश—दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, बंगाल आदि सब उसमें आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में पर्दे की पाबंदी बहुत कड़ी नहीं है। दक्षिण और पश्चिम हिन्दुस्तान में कुछ हद तक मुसलमानों को छोड़कर पर्दे का रिवाज नहीं रहा है।'[1]

पर्दा का विरोध : पर्दे की प्रथा पर आधुनिक युग में सबसे बड़ा प्रहार किया महात्मा गांधी ने। जमनालाल बजाज की पत्नी जानकी देवी जब विवाह के

१. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ १८४।

बाद ससुराल आयीं तो पर्दा चालू था। वे लिखती हैं—'जब खादी पहनना शुरू किया तो हमारे यहाँ घूँघट था। मोटी खादी के कारण घूँघट में से देखने में बहुत कठिनाई होती थी। बापू से पूछा तो बापू ने कहा, 'खोजे जाति की तरह आँखों की जगह जाली लगवा लो।' बापू ने यह बात विनोद में कही थी, बड़ी हँसी आयी।[१]

पर्दा छोड़ने की कहानी सुनाते हुए माता जानकी देवी कहती हैं[२]—'वर्धा में अग्रवाल महासभा का अधिवेशन होनेवाला था। जमनालाल जी ने अपना जो भाषण तैयार किया था उसमें पर्दाप्रथा का विरोध था। जमनालाल जी जो कुछ कहते थे उसकी शुरुआत घर से करते थे। हमारी स्थिति बड़ी विचित्र हो गयी। घूँघट का संस्कार पुराना था। राजस्थान में घूँघट प्रतिष्ठा, सभ्यता और कुलीनता का चिह्न माना जाता था।

'एक दिन जमनालाल जी ने हमसे कहा, 'अपणे घर में घूंघट छोड़नो है, शुरुआत काका जी (कनीराम जी) से करनी है।' हम उनके पास कैसे जातीं। सुनकर पसीना-पसीना हो गयी। किसी तरह मैं अपनी देवरानी के साथ उनके पास गयी। उन्होंने हमको आशीर्वाद दिया,—'सुखी रहो बेटा।' वे भी पसीने से तर हो गए।

'सन् सैंतीस में मुझे कलकत्ता के मारवाड़ी महिला सम्मेलन में अध्यक्षा बनाया गया। उस समय बापू ने संदेश भेजा था—'क्या सीता घूँघट खींचकर रामजी के साथ जंगलों में भटकी होगी ? सीता से अधिक पवित्र स्त्री जगत में कभी हुई है···पर्दा तोड़ो, धर्म रखो।'

'मैं मानती हूँ कि पर्दा छोड़ना साहस की बात है। उससे दिल तथा दिमाग खुल जाता है।'

वैदिक काल में पर्दे का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे पुरुषों के साथ सभी धार्मिक और सामाजिक उत्सवों में विधिवत् भाग लेती थीं। सभा-समितियों के अधिवेशनों में भाषण करती थीं। न्यायालयों में उपस्थित होकर सांपत्तिक प्रश्न उठाती थीं।

सीता के स्वयंवर की कथा से स्पष्ट है कि रामायण-महाभारत के महाकाव्य काल में पर्दे का प्रचलन नहीं था। मौर्यकाल, शुंग काल आदि की कलाकृतियों में नारी का चित्रण सिद्ध करता है कि उस समय घूँघट की प्रथा

१. जानकी देवी बजाज : मेरी जीवन-यात्रा, समर्पण और साधना, पृष्ठ १५५
२. वही, पृष्ठ १५४

नहीं थी । उसके उपरांत कुषाण काल में स्थिति कुछ शोचनीय हुई । डाक्टर अल्तेकर ने स्वप्नवासवदत्ता में अंकित पद्मावती चरित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पद्मावती विवाह के उपरांत पर्दा करने लगी थी । वह नहीं चाहती थी कि वह जब पति के साथ हो तो उसका पति किसी राजदूत से न मिले ।[१] गुप्त काल में पर्दे का प्रचलन नहीं दीखता । पर्दा मुख्यतः मुसलमानी शासकों के साथ आता है । बुर्का की उनकी प्रथा ने भारत में भी अपना प्रभाव डाला । पद्मिनी के रूप की प्रशंसा जिस प्रकार युद्ध का कारण बनी, उसी प्रकार अन्यत्र भी ऐसी घटनाएँ घटती रहीं । अशिक्षा, भय, सुरक्षा, आदि अनेक कारणों से हिन्दू समाज ने पर्दा की प्रथा अपना ली । इससे नारी की स्थिति पर जो कुप्रभाव पड़ा उससे कौन अनभिज्ञ है ?

दक्षिण भारत, महाराष्ट्र तथा कुछ राजवंशों में पर्दा प्रथा का प्रवेश नहीं हुआ । पर जहाँ पर वह प्रविष्ट हो गयी वहाँ की नारी की स्थिति को उसने बुरी भाँति प्रभावित किया और उसके सर्वांगीण विकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित कर दी ।

बाल विवाह : मुसलिम काल में एक ओर पर्दा, दूसरी ओर अशिक्षा और तीसरी ओर बाल-विवाह जैसी कुरीतियाँ समाज में प्रवृष्ट हो गयीं । वेद में जहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण कर विवाह करने का आदेश था, वहाँ छोटी-छोटी, आठ-आठ, दस-दस वर्ष की बच्चियों के विवाह की कुप्रथा चालू हो गई ।

वेद कहता है—

> युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः ।
>
> तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो ३ मनसा देवयन्तः ।।[२]

जो पुरुष सब ओर से यज्ञोपवीत ब्रह्मचर्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त सुंदर वस्त्रधारी हो, ब्रह्मचर्ययुक्त पूर्ण युवक हो विद्या प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में आता है, वही दूसरे विद्याजन्म में प्रसिद्ध होकर अतिशय शोभा युक्त मंगलकारी होता है । भली प्रकार ध्यानयुक्त विज्ञान से विद्या-वृद्धि की कामना युक्त धैर्ययुक्त विद्वान उसी को उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं ।

---

१. अल्तेकर : पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ २००

२ ऋग्वेद ३।८।४

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः शवर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥[1]

विना दुही गौओं की भाँति बाल्यावस्था से रहित सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों से पूर्ण कुमारावस्था को उल्लंघन करके नई-नई शिक्षा और अवस्था से पूर्ण युवतियाँ ब्रह्मचारी महान ज्ञानी तरुण पतियों को प्राप्त होकर गर्भ धारण करें।

इन वेदमंत्रों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में पूर्ण यौवनावस्था में ही विवाह करने का आदेश था।

कारण : मुसलिम काल में धर्म-रक्षा के निमित्त और अपहरण आदि से अपनी जान बचाने के लिए ही संभवतः बाल विवाह का प्रचलन कर दिया गया। परंतु भारत तो धर्मपरायण देश ठहरा। अतः धर्म की स्वीकृति वांछनीय थी। अतः पाराशरी और शीघ्रबोध जैसे ग्रंथों की रचना करके धर्म-व्यवस्था दे दी गई।

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥

आठवें वर्ष में कन्या का विवाह हो उसकी संज्ञा 'गौरी' होगी। नवें वर्ष में कन्या का विवाह करने पर उसकी संज्ञा 'रोहिणी' होगी और दसवें वर्ष में 'कन्या'। इससे ऊपर कन्या रजस्वला हो जाती है। रजस्वला कन्या को देखनेवाले माता-पिता और बड़े भाई, तीनों ही नरकगामी होते हैं।

ऐसी धर्मव्यवस्था बाल विवाह का कारण बन बैठी।

बाल विवाहों की संख्या-वृद्धि होने पर बाल विवाह ने भी सामाजिक प्रतिष्ठा का रूप धारण कर लिया। छोटी आयु में कन्या के 'हाथ पीले कर देना' गौरव का विषय बन गया। आज भी यदि कन्या कुछ सयानी होने लगती है तो पास-पड़ोस में, नाते-रिश्तेदारों और सगे-संबंधियों में कानाफूसी होने लगती है, उंगलियाँ उठने लगती हैं। सामाजिक निंदा का भय बहुत से माता-पिताओं को कम आयु में ही कन्या का विवाह कर देने के लिए विवश करने लगता है।

---

१. ऋग्वेद ३।५५।१६

गौना और विदा कई-कई वर्षों में करने की भी प्रथा जहाँ-तहाँ चालू है। इस कारण भी लोग बाल्यावस्था में विवाह कर देते हैं। कहते हैं विवाह अभी करने से क्या हानि है, लड़की ससुराल में तो गौने के बाद निवास करेगी। तबतक काफी सयानी हो जायेगी। संयुक्त परिवारों में वृद्धाओं की बड़ी लालसा रहती है कि उनके जीवित रहते ही उनके घर में उनकी पुत्रवधू ही नहीं, पौत्रवधू भी आ जाय।

कुछ संरक्षक दहेज की लंबी रकम से छुटकारा पाने के लिए बचपन में विवाह कर देते हैं। लड़की अधिक सयानी हो जायगी तो उपयुक्त वर मिलने में भी कठिनाई होगी और उसके लिए अधिक दहेज भी देना पड़ेगा।

बाल विवाह का सबसे प्रमुख कारण है—अशिक्षा। प्राचीन काल में शिक्षण और ब्रह्मचर्य की जो आश्रम व्यवस्था थी, उसके टूट जाने पर बाल विवाह जैसी सामाजिक रूढ़ियाँ समाज में सहज ही चल पड़ीं। उनका कुपरिणाम हमारी आँखों के समक्ष है।

हानियाँ : बाल विवाह की हानियाँ एक नहीं, अनेक हैं। उससे सबसे बड़ी हानि है—व्यक्तित्व के विकास में बाधा। जो आयु विद्याध्ययन तथा जीवन के निर्माण की होती है, जिस आयु में मनुष्य स्वास्थ्य और शिक्षा का अर्जन कर भावी जीवन का सामना करने के लिए योग्य बनता है, उसी आयु में उसका विवाह कर देने से उसके सर्वांगीण विकास में बाधा पड़ती है। यह विवाह विवाह नहीं, विवाह का उपहास है। विवाह का उत्तरदायित्व न समझनेवाले बच्चों का विवाह कर देना उनके प्रति घोर अन्याय है। इसमें विवाह के उद्देश्यों की भी उपेक्षा है, साथ ही अनभिज्ञ लोगों पर उत्तरदायित्व लाद देना भी है जो कि सर्वथा अनुचित है। उचित और मनोनुकूल जीवन साथी का चुनाव न होने देकर संरक्षक अपनी मर्जी बच्चों पर लाद देते हैं। अल्प आयु में ही जीवन भार हो उठता है।

बचपन के विवाहों की निष्पत्ति भी अच्छी नहीं होती। निर्बल संतानें होती हैं। संतान का भार वहन करने में अशक्त कन्याएँ माताएँ बन बैठती हैं। वे असमय काल के गाल में समा जाती हैं। उनका स्वास्थ्य बिगड़ता है। उधर बच्चों की संख्या भी अंधाधुंध बढ़ती चलती है। वैधव्य का भी संकट त्रस्त करता रहता है।

आज की स्थिति : बाल विवाह की प्रथा जिस काल में आरंभ हुई थी, तब से लेकर अबतक समाज में बहुत जागृति आ चुकी है, फिर भी यह प्रथा आज भी विद्यमान है। महात्मा गांधी आत्मकथा में लिखते हैं—

'यह लिखते हुए मन दुःखी होता है कि तेरह साल की उमर में मेरा विवाह हुआ था। आज मेरी आँखों के सामने बारह-तेरह साल के बालक मौजूद हैं। जब उन्हें देखता हूँ और अपने विवाह का स्मरण करता हूँ, तो मुझे अपने ऊपर दया आती है। तेरहवें वर्ष में हुए अपने विवाह के समर्थन में मुझे एक भी नैतिक दलील सूझ नहीं सकती।'[1] 'उस समय मेरे मन में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, बाजे बजने, बढ़िया भोजन पाने, एक नई बालिका के साथ विनोद करने आदि की अभिलाषा के सिवा दूसरी कोई खास बात रही हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है।'[2]

विवाह की आयु : बाल विवाह की स्थिति भारत में कैसी है, इस पर १९५५-५७ में डाक्टर एस० एन० अग्रवाल ने एक शोध किया था, उसमें वे लिखते हैं कि प्राचीन हिन्दू धर्मग्रंथों में रजस्वला होने के पूर्व कन्या का विवाह कर देने का विधान ही बाल विवाह का कारण है।[3] उनका कहना है कि भारत की अधिकांश जनता धर्मांतरित हिन्दुओं की ही संतति है, इसलिए *अन्य धर्मों में भी बाल विवाह चालू है।*[4]

धर्मों के अनुसार विवाह की आयु डाक्टर अग्रवाल ने इस प्रकार दी है।[5]

विवाह की औसत आयु—सन् १८९१ से १९३१ तक

		१८९१-१९०१	१९०१-१९११	१९११-१९२१	१९२१-१९३१
हिन्दू	पुरुष	१९·३	१९·८	२०·१	१८·०
	स्त्री	१२·३	१२·४	१२·८	१२·१
जैन	पुरुष	१८·६	२१·४	२१·४	२०·७
	स्त्री	१२·९	१३·१	१३·५	१३·३
सिख	पुरुष	२१·२	२१·७	२१·८	२१·०
	स्त्री	१४·४	१४·२	१४·९	१४·८
मुसलमान	पुरुष	२१·१	२१·७	२१·८	१९·०
	स्त्री	१३·४	१३·४	१३·७	१२·४
ईसाई	पुरुष	२४·२	२४·१	२३·८	२२·५
	स्त्री	१६·९	१६·८	१७·३	१६·९

१. मो० क० गांधी : आत्मकथा, १९६१ सं०, पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ ६
३. एस० एन० अग्रवाल : एज ऐट मैरिज इन इंडिया, १९६२, पृष्ठ १-४; जनगणना भारत १९०१, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ४४०; पी० जे० टामस : वूमेन एण्ड मैरिज इन इंडिया, पृष्ठ २२४
४. वही, पृष्ठ ४। जनगणना भारत १९३१, खण्ड १८, भाग १, पृष्ठ २८९ ३०६-३१५।
५. वही, पृष्ठ १२६

भारतीय जनगणना के आधार पर प्रस्तुत इन आँकड़ों से प्रकट है कि हिन्दुओं में स्त्रियों का विवाह १२ साल की आयु में, जैनों-मुसलमानों में १२-१३ साल की आयु में, सिखों में १४-१५ की आयु में और ईसाइयों में १६-१७ साल की आयु में प्रायः होता आया है। विवाह के समय हिन्दू वर की आयु १८ से २० साल, जैन की १८ से २०-२१साल, सिख और मुसलमान की २१ साल और ईसाई वर की आयु २२ से २४ वर्ष रहती आयी है।

सन् १८९१ से १९३१ तक भारत में विवाह की औसत आयु
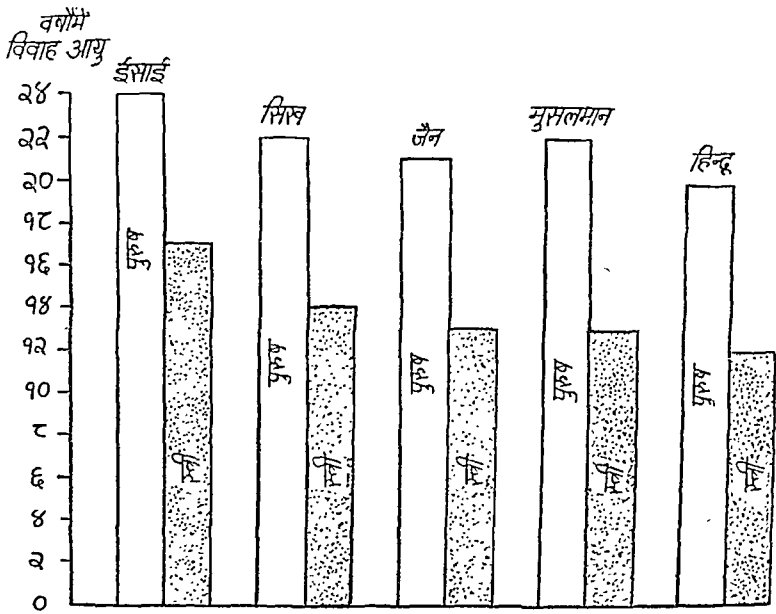
[स्रोत : अग्रवाल : एज ऐट मैरिज इन इण्डिया, पृष्ठ १२८]

विगत ४ दशकों में भारत में शिक्षा, नयी विचारधारा तथा समाज-सुधार और स्वातंत्र्य आंदोलनों के चलते बालविवाह की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है। नगरों मे तथा विशेष रूप से उच्च शिक्षित वर्ग में विवाह की आयुमर्यादा में निरंतर वृद्धि हो रही है। कन्याओं की शिक्षा ने भी उसे

गति दी है। व्यक्तिवाद, संयुक्त परिवार का विघटन, महिला आंदोलन आदि तथ्य बाल विवाह को रोकने में सहायक हो रहे हैं।

अधिनियम : बाल विवाह नियंत्रण के लिए सन् १८६० से ही प्रयत्न चल रहा है। राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। १८६० के कानून के अनुसार दस वर्ष से कम आयु की पत्नी के साथ शारीरिक संबंध को बलात्कार माना गया और उसके लिए आजीवन कारावास का दंड रखा गया। इस संबंध में कई कानून बने पर उनमें १९२९ का हरबिलास शारदा का बाल विवाह निरोधक अधिनियम विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'शारदा ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध इस अधिनियम में ऐसी व्यवस्था थी कि १८ वर्ष से कम आयु के लड़के और १५ वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह बाल विवाह माना जायगा और वह दंडनीय होगा। १९४९ में इसमें कुछ संशोधन भी हुए।

शारदा ऐक्ट में इतना सामान्य दंड था कि वर पक्ष पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। साथ ही कानून में यह कमी थी कि किसी के शिकायत करने पर ही पुलिस ऐसे विवाह में हस्तक्षेप कर सकती थी। कोई पास-पड़ोसी शिकायत कर क्यों व्यर्थ की झंझट और परेशानी मोल ले ?

श्री रामबिहारी सिंह तोमर ने राजस्थान में बाल विवाह के संबंध में एक सर्वेक्षण में देखा कि वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया पर हजारों की संख्या में बाल विवाह होते हैं। उनके आश्चर्य का पारावार न रहा जब उन्होंने देखा कि एक पुलिस थाने में बाल विवाह का मंडप रचा हुआ है। अनेक समाज-सुधारक, विधिनिर्माता तथा कानून के रक्षक बाल विवाहों के उत्सवों में सम्मिलित होकर इस अधिनियम की अवहेलना को प्रोत्साहन देते हैं, यह प्रतिदिन का सभी का अनुभव है[1]। ब्यावर में एक ग्राम सर्वेक्षण में पता लगा कि ६३ प्रतिशत लोगों को पता ही नहीं कि ऐसा कोई अधिनियम बना है। ७३% को पता नहीं कि विवाह की कोई आयु निर्धारित की गयी है।[2]

बाल विवाहों की यह स्थिति शोचनीय है। शारदा कानून-जैसे कानूनों की खुलेआम अवहेलना चिंता का विषय है। परंतु ऐसे कानूनों का कुछ-न-कुछ प्रभाव तो समाज पर पड़ा ही है। डाक्टर अग्रवाल लिखते हैं—'कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बाल विवाह रोकने के लिए बने शारदा

---

१ रामबिहारी सिंह तोमर : भारतीय समाज, संस्कृति एवं संस्थाएं, १९७०, पृष्ठ ३६५

२. तोमर : वही, पृष्ठ ३६६

कानून का समाज पर थोड़ा प्रभाव पड़ा है। उसमें १८ वर्ष से कम आयु की लड़कियों के विवाह का निषेध है। आँकड़ों से प्रकट है कि कम आयु में लड़कियों के विवाह की प्रवृत्ति कम होती जा रही है।[1]

बाल विवाह की सामाजिक कुप्रथा शिक्षा और सामाजिक सुधार आंदोलनों के चलते धीरे-धीरे सुधर रही है। अधिनियमों में जो कमियाँ हैं, उन्हें दूर किये बिना कानून सफल नहीं हो सकेगा। जैसे, जुर्माने का थोड़ा-सा दंड, बाल विवाह का ज्ञातव्य अपराध न होना, विवाह को त्याज्य न ठहराने की व्यवस्था, एक वर्ष के उपरांत न्यायालय द्वारा कोई कारवाई न कर सकने का नियम। ज्ञातव्य अपराध के कारण पुलिस स्वयं कोई कार्रवाई करती नहीं और 'कोउ नृप होइ हमहि का हानी'—वाली लोगों की सहज प्रवृत्ति। कानून की ये गुत्थियाँ जबतक नहीं सुलझेंगी तबतक देश को इस दुर्व्याधि से छुटकारा मिलने वाला नहीं।

बाल विवाह-निवारण के उपाय

कानून की अपनी मर्यादा होती है। उसके अंतर्गत वह सामान्य सुधार ला सकता है, परंतु किसी क्षेत्र में आमूल क्रांति के लिए यह आवश्यक है कि वैचारिक क्रांति की जाय। पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य की विविध विधाओं द्वारा, कविता, नाटक, प्रहसन आदि के द्वारा लोक मानस में इस प्रथा के विरुद्ध भावना दृढ़ करनी चाहिए। प्रचार के विविध साधनों का उपयोग करके जनता के मस्तिष्क में यह बात बैठा देनी चाहिए कि बाल विवाह नैतिक और सामाजिक अपराध है।

समाज सुधार करनेवाली संस्थाएँ इस दिशा में अधिक सचेष्ट हों तो इस दोष का निवारण कठिन नहीं है। आज तो समाज के कर्णधार ही ऐसे आयोजनों में सम्मिलित होकर बालक वरवधू को आशीर्वाद देते हैं। वे जब इसे गलत बतायेंगे और इसका बहिष्कार करेंगे तभी स्थिति बदल सकेगी। नारी आंदोलनों द्वारा भी इस दिशा में अच्छा काम हो सकता है।

नारी जीवन से संबंधित एक समस्या जो मध्य कालीन युग से पनपकर आज भयंकर रूप धारण कर चुकी है, वह है— दहेज। दहेज का अभिशाप बीसवीं शताब्दी में अत्यंत भयंकर हो उठा। दहेज की वेदी पर असंख्य नारियों को अपनी बलि चढ़ानी पड़ी। कुछ ने तिल-तिलकर अपना जीवन समाप्त

दहेज

---

१ एस० एन० अग्रवाल : एज ऐट मैरिज इन इंडिया, पृष्ठ २२८-२२९।

किया, कुछ ने आत्महत्या की शरण ली।[1] आज के पैसे के प्रभुत्ववाले युग में यह समस्या दिन-दिन विषम बनती चल रही है।

परिभाषा : दहेज क्या है, इसकी जानकारी किसे नहीं है? आज तो दहेज का अर्थ उस धनराशि से लिया जाता है जो विवाह के अवसर पर कन्या पक्ष से प्राप्त की जाती है। चार्ल्स विनिक कहता है कि दहेज में वे सब बहुमूल्य वस्तुएँ आती हैं, जो विवाह के समय दोनों ओर से दी जाती हैं।[2] मेक्स रेडिन लिखता है कि 'सामान्यतः उस अर्थराशि को दहेज कहा जाता है जो किसी पुरुष को उसकी स्त्री से अथवा ससुरालवालों से विवाह के अवसर पर प्राप्त होती है।'[3]

यों प्रायः दोनों ही पक्ष—वर पक्ष और वधू पक्ष—परस्पर कुछ-न-कुछ वस्त्राभूषण, सामग्री और धन आदि देते हैं, परंतु वस्तुतः 'दहेज' वह धनराशि है जो कन्यापक्ष वर पक्ष को देता है। धनी और संपन्न परिवार जब अपनी इच्छा से बिना किसी कष्ट के वर पक्ष को धनधान्य, वस्त्राभूषण आदि प्रदान करते हैं तो उसमें समस्या नहीं खड़ी होती। दहेज की समस्या तो तब खड़ी होती है जब कन्यापक्ष को विवश होकर अपने लौकिक स्तर से ऊपर जाकर कहीं अधिक सामग्री वरपक्ष को देनी पड़ती है। यह लाचारी का सौदा ही दहेज है। किसी की हैसियत सौ रुपये की है, पर वर पक्ष जब हजार से एक भी कौड़ी कम पर विवाह करने को प्रस्तुत नहीं होता, तब कन्या के भविष्य को ध्यान में रखकर उसके माता-पिता कर्ज लेकर, मकान गिरवी रखकर अथवा अन्य कोई उपाय करके हजार रुपये चुकाते हैं, तब दहेज की समस्या समस्या-रूप धारण करती है। सामाजिक रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और प्रथाओं की विवशता जब सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होकर उसे विषाक्त करने लगती है तो सामाजिक विघटन होने लगता है। नारी का नारीत्व मातृत्व से ही सफल होता है—लोकमानस की यह धारणा लोगों को प्रेरित करती है कि वे कन्या के हाथ पीले कर दें, फिर भले ही उसके लिए ऋण के सागर में कण्ठ तक क्यों न निमग्न हो जाना पड़े।

---

१. हनुमान प्रसाद पोद्दार : दहेज का बढ़ा हुआ पाप, 'कल्याण' जून १९५५, पृष्ठ ११०९।

२. चार्ल्स विनिक : डिक्शनरी आफ एंथ्रोपोलॉजी, पृष्ठ १७४।

३. मैक्स रेडिन : एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, लेख, दहेज, खंड ५, पृष्ठ २३०।

मनुस्मृति में जो ८ प्रकार की विवाह-पद्धतियाँ दी गयी हैं, उनमें चार पद्धतियाँ उत्तम मानी गयी हैं, चार पद्धतियाँ निकृष्ट। उत्तम पद्धतियों में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाहों में कन्या को वस्त्रालंकार से सज्जित कर वर को समर्पित करने का विधान है।

विवाह की प्राचीन पद्धतियाँ

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥[१]

कन्या को सम्मानपूर्वक बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से अलंकृत कर विद्या एवं सदाचार से सम्पन्न वर को स्वयं बुलाकर दान करना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैव धर्म्मं प्रचक्षते ॥[२]

ज्योतिष्ठोमादि यज्ञ के उपरांत उस यज्ञकर्ता ऋत्विज को अलंकृत कन्या दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्म्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्म्मः स उच्यते ॥[३]

यज्ञादि अनिवार्य करणीय धर्म के निमित्त एक-दो जोड़ी गौ-बैल लेकर वर को विधिपूर्वक कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह कहलाता है।

सहोभौचरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधि.स्मृतः ॥[४]

'तुम दोनों गृहस्थ धर्म का पालन करो'—इस अनुरोध के सहित विधिवत् आभूषण आदि से पूजा करके वर को कन्यादान करना 'प्रजापत्य' विवाह कहलाता है।

'आसुर' विवाह में वर की ओर से कन्या पक्ष को धन देने की बात थी।[५] कन्या और वर की पारस्परिक सहमति से होने वाला विवाह 'गंधर्व' विवाह कहलाता था।[६] युद्ध में जीती हुई अपहृत रोती-विलपती कन्या से विवाह

१. मनुसंहिता ३।२७
२. मनुसंहिता ३।२८
३. मनुसंहिता ३।२९
४. मनुसंहिता ३।३०
५. मनुसंहिता ३।३१
६. मनुसंहिता ३।३२

'राक्षस' विवाह कहलाता था।[१] निद्रित, मत्त, उन्मत्त कन्या गमन 'पैशाच' विवाह था। यह अधमाधम कोटि का विवाह माना जाता था।

विवाह की इन पद्धतियों में दहेज प्रथा की प्रारंभिक जड़ें खोजी जा सकती हैं। कन्या के उज्ज्वल भविष्य के लिए अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार कन्यादान के साथ वस्त्राभूषण तथा चरखा-चक्की आदि प्रदान करने की परिपाटी भारत में अत्यंत प्राचीन काल से रही है। परंतु उसमें स्वेच्छा, प्रेम और सौहार्द्र ही ओत-प्रोत रहता था। रामायण में—'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी।' जैसा शंकर के विवाह का वर्णन है और 'दाइज दीन्ह न जाइ बखाना'—करके सीता के विवाह का भव्य वर्णन है।

संपन्नता का वह युग लद गया, भारत विपन्नता के युग में है। परंतु उस समय की परिपाटियाँ आज भी विद्यमान हैं। बीसवीं शताब्दी में इन पुरातन परिपाटियों ने भारतीय समाज की कमर ही तोड़ दी है।

दहेज का वीभत्स रूप

दहेज का आज जो वीभत्स रूप है, उसमें वर को प्राप्त करने के लिए भाग-दौड़ और परेशानी की तो सीमा ही नहीं है, वर प्राप्त होने पर वर और उसके सगे-संबंधियों की फर्माइशें कोढ़ में खाज का काम करती हैं। वर पक्ष के लोग फूका की वीभत्स प्रथा की भाँति कन्या पक्ष के रक्त की एक-एक बूँद दुह लेना चाहते हैं। शाईलाक की भाँति उसे पूरे तौर से चूस डालना चाहते हैं। इतना फलदान में, इतना द्वार पर, इतना अमुक समय पर, इतना अमुक समय पर मिलना ही चाहिए। गाजे-बाजे का, आतिशबाजी का, पालकी और कार का, धूमधाम का इतना प्रबंध तो होना ही चाहिए। लड़के को अमुक-अमुक वस्तुएँ चाहिए, उसके पिता को, उसके बहनोई को, उसके फूफा को, उसके मामा को, उसकी माँ को, उसकी बहन को अमुक-अमुक चीजें चाहिए। खातिरदारी में कोई कमी नहीं होनी चाहिए। बारात में दो-चार दस आदमी ही आयें सो भी नहीं। पचीस कहेंगे तो पचास, पचास कहेंगे तो सौ-डेढ़ सौ बाराती आना सामान्य बात है। अभी उस दिन एक सामान्य दफ्तरी से बात हो रही थी। पूछा, 'काशी से राँची बारात ले जा रहे हो, कितने आदमी ले जाओगे'। बोला—'एक बस कर ली है।' 'कितने में ?' 'पंद्रह सौ में। बस का खर्चा लड़की वाला देगा !'

---

१. मनुसंहिता ३।३३।
२. मनुसंहिता ३।३४

विवाह की प्राचीन पद्धतियाँ

मनुस्मृति में जो ८ प्रकार की विवाह-पद्धतियाँ दी गयी हैं, उनमें चार पद्धतियाँ उत्तम मानी गयी हैं, चार पद्धतियाँ निकृष्ट। उत्तम पद्धतियों में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाहों में कन्या को वस्त्रालंकार से सज्जित कर वर को समर्पित करने का विधान है।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥[१]

कन्या को सम्मानपूर्वक बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से अलंकृत कर विद्या एवं सदाचार से सम्पन्न वर को स्वयं बुलाकर दान करना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म्मं प्रचक्षते ॥[२]

ज्योतिष्ठोमादि यज्ञ के उपरांत उस यज्ञकर्ता ऋत्विज को अलंकृत कन्या दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्म्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्म्मः स उच्यते ॥[३]

यज्ञादि अनिवार्य करणीय धर्म के निमित्त एक-दो जोड़ी गौ-बैल लेकर वर को विधिपूर्वक कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह कहलाता है।

सहोभौचरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥[४]

'तुम दोनों गृहस्थ धर्म का पालन करो'—इस अनुरोध के सहित विधिवत् आभूषण आदि से पूजा करके वर को कन्यादान करना 'प्रजापत्य' विवाह कहलाता है।

'आसुर' विवाह में वर की ओर से कन्या पक्ष को धन देने की बात थी।[५] कन्या और वर की पारस्परिक सहमति से होने वाला विवाह 'गंधर्व' विवाह कहलाता था।[६] युद्ध में जीती हुई अपहृत रोती-विलपती कन्या से विवाह

---

१. मनुसंहिता ३।२७
२. मनुसंहिता ३।२८
३. मनुसंहिता ३।२९
४. मनुसंहिता ३।३०
५. मनुसंहिता ३।३१
६. मनुसंहिता ३।३२

'राक्षस' विवाह कहलाता था।[1] निद्रित, मत्त, उन्मत्त कन्या गमन 'पैशाच' विवाह था। यह अधमाधम कोटि का विवाह माना जाता था।

विवाह की इन पद्धतियों में दहेज प्रथा की प्रारंभिक जड़ें खोजी जा सकती हैं। कन्या के उज्ज्वल भविष्य के लिए अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार कन्यादान के साथ वस्त्राभूषण तथा चरखा-चक्की आदि प्रदान करने की परिपाटी भारत में अत्यंत प्राचीन काल से रही है। परंतु उसमें स्वेच्छा, प्रेम और सौहार्द्र ही ओत-प्रोत रहता था। रामायण में—'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी।'जैसा शंकर के विवाह का वर्णन है और 'दाइज दीन्ह न जाइ बखाना'—करके सीता के विवाह का भव्य वर्णन है।

संपन्नता का वह युग लद गया, भारत विपन्नता के युग में है। परंतु उस समय की परिपाटियाँ आज भी विद्यमान हैं। बीसवीं शताब्दी में इन पुरातन परिपाटियों ने भारतीय समाज की कमर ही तोड़ दी है।

दहेज का वीभत्स रूप

दहेज का आज जो वीभत्स रूप है, उसमें वर को प्राप्त करने के लिए भाग-दौड़ और परेशानी की तो सीमा ही नहीं है, वर प्राप्त होने पर वर और उसके सगे-संबंधियों की फर्मायशें कोढ़ में खाज का काम करती हैं। वर पक्ष के लोग फूका की वीभत्स प्रथा की भाँति कन्या पक्ष के रक्त की एक-एक बूँद दुह लेना चाहते हैं। शाईलाक की भाँति उसे पूरे तौर से चूस डालना चाहते हैं। इतना फलदान में, इतना द्वार पर, इतना अमुक समय पर, इतना अमुक समय पर मिलना ही चाहिए। गाजे-बाजे का, आतिशबाजी का, पालकी और कार का, धूमधाम का इतना प्रबंध तो होना ही चाहिए। लड़के को अमुक-अमुक वस्तुएँ चाहिए, उसके पिता को, उसके बहनोई को, उसके फूफा को, उसके मामा को, उसकी माँ को, उसकी बहन को अमुक-अमुक चीजें चाहिए। खातिरदारी में कोई कमी नहीं होनी चाहिए। बारात में दो-चार दस आदमी ही आयें सो भी नहीं। पचीस कहेंगे तो पचास, पचास कहेंगे तो सौ-डेढ़ सौ बाराती आना सामान्य बात है। अभी उस दिन एक सामान्य दफ्तरी से बात हो रही थी। पूछा, 'काशी से राँची बारात ले जा रहे हो, कितने आदमी ले जाओगे'। बोला—'एक बस कर ली है।' 'कितने में ?' 'पंद्रह सौ में। बस का खर्चा लड़की वाला देगा !'

---

१. मनुसंहिता ३।३३।

२. मनुसंहिता ३।३४

उनकी अपेक्षा अधिक शिक्षित वर खोजना होगा और उसका बाजार भाव उत्तरोत्तर बढ़ता चला जायगा।

दहेज के कारण अनेक भावुक लड़कियाँ मानसिक रोगों का शिकार बन जाती हैं। कुछ आर्थिक संकट के कारण पतन और अपराधों की ओर झुक जाती हैं।

पारिवारिक विघटन : दहेज के कारण परिवारों में तनाव बढ़ता है। माता-पिता, भाई-भाभी आदि जिनके सिर पर कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व होता है, रात-दिन इस चिंता में व्यस्त रहते हैं कि किस प्रकार कन्यादायित्व से मुक्त हुआ जाय। परिवार में इस प्रश्न को लेकर रात-दिन कलह मची रहती है। पाँच-दस हजार रुपये दहेज में टूट जाना तो आज एक सामान्य बात हो गयी है। फिर यदि किसी परिवार में एक से अधिक लड़कियाँ हुई तो आर्थिक संकट का पार नहीं रहता। ऋण का भार परिवार के जीवन-स्तर को तो गिरा ही देता है, परिवार के निर्वाह की भी समस्या भयंकर बन जाती है। दहेज की मनचाही रकम न मिलने पर कितने ही विवाह-विच्छेद भी होते रहते हैं।

सामाजिक विघटन : व्यक्ति और परिवार समाज के सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण घटक हैं। दहेज के कारण उनका जीवन विघटित होता है, विश्रृंखलित होता है तो समाज की भी वही स्थिति होती है। समाज में संघर्ष, कलह, रागद्वेष, अशांति, अनैतिकता, अपराध, मानसिक रोग, आर्थिक संकट आदि बढ़ते हैं और समाज की नींव खोखली करने लगते हैं।

दहेज प्रथा समाज के लिए विषम समस्या है। इसमें नारी के व्यक्तित्व का घोर अपमान है। जिस जाति में, जिस समाज में यह प्रथा लागू है, उसकी दुर्गति निश्चित है। इसमें अन्याय, अपमान, लांछना शोषण—सब कुछ भरा पड़ा है। फिर भी इसके समर्थक इसके पक्ष में दलीलें देते हैं कि इस प्रथा के कारण लड़कियों का जीवन सुखमय होता है। पर्याप्त दहेज लानेवाली वधू का परिवार में सम्मान होता है। यह सम्मान कितना मंहगा है और कितने अनर्थों का कारण है, इस पर विचार करने की लोग आवश्कता नहीं समझते। कारण, दहेज प्राप्त करने में प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ है। इस स्वार्थ को कौन छोड़े ? बड़े-बड़े आदर्शवादी भी नाना प्रकार से घुमा-फिराकर दहेज की मांग

निवारण के उपाय

करते हैं। दहेज की इस कुप्रथा पर तीव्र प्रहार किये बिना समाज का विघटन रुकनेवाला नहीं।

महात्मा गाँधी दहेज प्रथा को मिटाने के लिए कृतसंकल्प थे। उन्होंने अत्यन्त सादगीपूर्ण विवाहों पर बल दिया। उनका कहना था कि 'दहेज की यह प्रथा नष्ट होनी चाहिए। विवाह लड़के-लड़कियों के माता-पिताओं द्वारा पैसे ले-देकर किया हुआ सौदा नहीं होना चाहिए। इस प्रथा का जाति-प्रथा से गहरा संबंध है। जबतक (शादी के लिए) चुनाव का क्षेत्र अमुक जाति के इनेगिने लड़कों या लड़कियों तक ही सीमित रहेगा, तबतक यह प्रथा भी रहेगी, भले ही इसके खिलाफ कुछ भी कहा जाय। यदि इस बुराई का उच्छेद करना हो तो लड़कियों को या लड़कों को या उनके माता-पिताओं को जाति के बंधन तोड़ने पड़ेंगे। इन सबका मतलब यह है कि चरित्र की ऐसी तालीम की जरूरत है जो देश के युवकों और युवतियों के मानस में आमूल परिवर्तन कर दे।'[१]

दहेज माँगनेवाले युवकों से गाँधी जी कहते हैं—'जो युवक दहेज को विवाह की शर्त्त बनाता है, वह अपनी शिक्षा को कलंकित करता है, अपने देश को कलंकित करता है और नारी जाति का अपमान करता है। देश में आजकल बहुतेरे युवक आन्दोलन चल रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि ये आन्दोलन इस प्रकार के प्रश्नों को अपने हाथ में लें। यह सुधार कार्य उन्हें अपने अन्दर से ही शुरू करना चाहिए। दहेज की इस नीचे गिरानेवाली प्रथा के खिलाफ बलवान लोकमत पैदा करना चाहिए। जो युवक इस पाप के सोने से अपने हाथ गंदे करते हैं, उनका समाज से बहिष्कार किया जाना चाहिए। लड़कियों के माता-पिताओं को अँग्रेजी डिग्रियों का मोह छोड़ देना चाहिए और अपनी कन्याओं के लिए सच्चे और स्त्री जाति के प्रति सम्मान की भावना रखनेवाले सुयोग्य वरों की खोज में अपनी जाति या प्रान्त के भी तंग दायरे के बाहर जाने में संकोच नहीं करना चाहिए।'[२]

दहेज प्रथा के निवारण के लिए उत्तम उपाय वही है जो महात्मा गाँधी ने बताया है—

१. प्रबल लोकमत। पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा नाटक, फिल्म आदि प्रचार के अन्य साधनों के माध्यम से लोकमत तैयार करना कि दहेज प्रथा अनुचित, अन्यायपूर्ण, शोषणपूर्ण और घृणित हैं।

---

१. मो० क० गाँधी, हरिजन (अँग्रेजी साप्ताहिक), २२ मई, १९३९

२. मो० क० गाँधी, यंग इंडिया (अंग्रेजी साप्ताहिक), २१ जून १९२८

२. अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाह। जाति और प्रान्त आदि की संकुचित सीमाओं से बाहर निकलना।

३. युवकों से दहेज विरोधी संकल्प करना। वे दहेज के पाप के सोने से अपने हाथ गंदे न करने की प्रतिज्ञा करें।

४. दहेज लेनेवालों का सामाजिक बहिष्कार।

५. दहेज विरोधी कानून बनवाना। राजस्थान, आंध्र, केरल आदि राज्यों में दहेज विरोधी कानून बने हैं। पर ऐसे कानूनों में कुछ-न-कुछ ऐसे दोष रह जाते हैं जिनका लोग दुरुपयोग करने लगते हैं। अतः कानून ऐसे हों जो वस्तुतः दहेज की प्रवृत्ति पर प्रहार करें।

६. विवाह में आडम्बरों का तीव्र विरोध। सादगीपूर्ण विवाहों की प्रतिष्ठा।

७. शिक्षा में सुधार। लोग ऐसा मानते हैं कि शिक्षा के प्रयास से दहेज प्रथा नष्ट हो जायगी, परंतु ऐसा बहुत कम हुआ है। उदाहरण तो उसके विपरीत भी मिलते हैं। पढ़े-लिखे युवक तो उच्च शिक्षा, विदेश यात्रा आदि के नाम पर इस कलंक को गौरव का विषय बनाने लगते हैं। वर के माता-पिता ऊँची डिग्रियों के नाम पर दहेज की रकम पर शून्यों की संख्या बढ़ाने लगते हैं। कापड़िया ने ठीक ही लिखा है कि 'शिक्षा ने इस कुप्रथा को मिटाने के स्थान पर निन्दित मात्रा में इसे उल्टे बढ़ा दिया है।'[१] शिक्षा के पाठ्यक्रम में दहेज विरोधी ऐसे लेखों को स्थान देना चाहिए जिनसे बालकों पर उपयोगी संस्कार पड़ें।

८. नारी आन्दोलन। नारी के सम्मान पर प्रहार करनेवाली इस शोषण-पूर्ण कुप्रथा के विरुद्ध नारी जाति को व्यापक आन्दोलन करना चाहिए। यह अवश्य है कि इसके लिए नारी को वैभव और समृद्धि के सपने छोड़ने पड़ेंगे। उसे सादगी, शालीनता और श्रम की प्रतिष्ठा हृदय में बैठानी होगी। उसे दहेज मांगनेवाले वर से विवाह न करने का निश्चय करना होगा। ऐसे विवाहों में सम्मिलित होने से इन्कार करना होगा जहाँ दहेज लिया जाता हो।

९. नयी परिपाटियाँ। समाज में ऐसी नयी परिपाटियाँ डालनी चाहिए, जिनमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा सचाई, ईमानदारी, सादगी और अपरिग्रह में हो; धन, विलास और वैभव में नहीं। नये मूल्यों में श्रम की प्रतिष्ठा हो। सदाचार और त्याग की प्रतिष्ठा हो।

---

१. कापड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया, १९५८, पृष्ठ १३७

१०. नारी का सम्मान। नारी पुरुष की जननी है। उसकी जीवन-सहचरी है। वह पुरुष की क्रीड़ा की वस्तु नहीं है। उसके व्यक्तित्व का भरपूर सम्मान किया जाना चाहिए। विनोबा ने अश्लील फिल्मों के विज्ञापनों का जो आन्दोलन चलाया था, उसका मूल उद्देश्य यही था कि नारी को उचित सम्मान दिया जाय।

इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राज्य—जब सभी मिल कर संयुक्त प्रयत्न करेंगे, तभी दहेज जैसी कलंकपूर्ण प्रथाएँ समाप्त हो सकेंगी और सामाजिक विघटन में कमी आ सकेगी।

स्मृति काल में जब नारी अवहेलना का पात्र बन उठी, तो विधवा की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन गयी। पति का देहांत होते ही पत्नी उसकी चिता में भस्म हो जाय तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी—यह धारणा जब व्यापक हो उठी तो उसने एक समस्या का रूप धारण कर लिया। पति प्रेम से प्लावित होकर अनेक महिलाएँ स्वेच्छा से सती होने लगीं। परंतु अनेक ऐसे भी उदाहरण उपस्थित होने लगे जब अनेक स्त्रियों को सती होने के लिए विवश किया जाने लगा। जो स्त्री पति के साथ सती नहीं होना चाहे, उसे समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। अत्याचार इस स्तर तक जा पहुँचा कि नशा पिलाकर विधवा को चिता पर जोश देकर बैठा दिया जाता था और इस बात का प्रबंध कर दिया जाता था कि वह अग्नि की लपटों से भयभीत होकर कहीं चिता पर से भाग न खड़ी हो।

सती प्रथा

मुगल सम्राट् अकबर ने इस प्रथा को रोकने का कुछ प्रयत्न किया था, परंतु उसे सफलता नहीं मिली। ब्रिटिश काल में गोरे अधिकारियों तथा मिशनरियों ने इसे समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर जोर डाला, परंतु सरकार इस काम में हाथ डालने से कतराती थी कि कहीं यह धार्मिक हस्त-क्षेप विद्रोह का स्वरूप न धारण कर ले।

बंगाल में सती प्रथा अत्यन्त व्यापक रूप में प्रचलित थी। बिहार में भी किसी मात्रा में थी। सन् १७८९ ई० में शाहाबाद के कलक्टर ने लार्ड कार्नवालिस को लिखा था कि आप की स्पष्ट अनुमति के बिना मैं अपने क्षेत्र में सती की अमानुषिक घटनाएँ नहीं घटने दूँगा। लार्ड कार्नवालिस ने उसे समझाते हुए लिखा था कि सती की घटनाओं को समझा-बुझा कर रोकने का प्रयत्न करो। सरकारी दबाव डालना ठीक नहीं।

समाज सुधारक लोग फिर भी सरकार का द्वार खटखटाते रहे। उसके फलस्वरूप सरकार ने सन् १८१२, १८१५ और १८१७ में कानून बनाकर यह प्रतिबंध लगा दिया कि ऐसी विधवाओं को सती नहीं होने दिया जा सकता जो कम आयु की हों, गर्भवती हों अथवा जिनके बच्चे बहुत छोटे-छोटे हों। यह भी प्रतिबंध लगा दिया गया कि किसी विधवा को सती होने के लिए विवश न किया जाय और न उसे मादक पदार्थ आदि खिलाकर इसके लिए प्रस्तुत किया जाय।

सामाजिक रूढ़ियाँ प्रबल होने के कारण सती प्रथा को रोकने में ये कानून विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सके। कहते हैं कि उन दिनों कलकत्ता के आस-पास के क्षेत्र में प्रतिवर्ष ५०० विधवाएँ सती होती थीं।

राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन छेड़ा। छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ आदि प्रकाशित कर उन्होंने सती प्रथा के विरोध में लोकमत का निर्माण किया। कट्टरपंथियों ने सती निषेध कानूनों के विरुद्ध १८१७ ई० में अपील की। राजा राममोहन ने उस अपील का विरोध किया। सन् १८२८ में लार्ड विलियम बैंटिंग जब भारत के गवर्नर जनरल होकर यहाँ आये तो उन्होंने दोनों पक्षों की बातें सुनकर सती प्रथा का अंत करने का निश्चय किया। उन्होंने ४ दिसबंर, १८२९ को यह घोषणा कर दी कि सती प्रथा दंडनीय अपराध है। कट्टरपंथियों ने इसके विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की। राजा राममोहन राय ने इंग्लैंड जाकर इसके लिए प्रयत्न किया, जिससे प्रिवी कौंसिल ने सती-निषेध कानून को वैध घोषित कर दिया। इस प्रकार इस प्रथा का अंत हुआ। बाद में लार्ड हार्डिंग प्रथम ने देशी रियासतों से भी इसकी समाप्ति कर दी।

विधवाओं की स्थिति सुधारने, उनके पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान करने, लड़कियों की विवाह वय को बढ़ाने, उनके शिक्षण की व्यवस्था कराने, एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह न होने देने आदि के लिए राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज-सुधारकों ने जोरदार प्रयत्न किये और उनका अच्छा परिणाम हुआ।

स्थिति में सुधार

बहरामजी मलाबारी ने बाल विवाह और विधवा विवाह निषेध पर १८८४ में एक पुस्तक लिखी—'नोट्स ओन इनफैंट मैरिज इन इंडिया एण्ड एनफोर्संड विडोहुड'। १८९० ई० में उन्होंने इंगलैंड जाकर इस दिशा

में प्रयत्न किया। न्यायमूर्ति रानाडे ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए पर्याप्त प्रयत्न किये। देवधर ने 'सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी' के माध्यम से, महर्षि धोंडो केशव कर्वे ने स्वयं विधवा विवाह करके तथा महिला विश्व-विद्यालय स्थापित करके नारी की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। बड़ौदा के राजा गायकवाड़, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानंद, श्रीमती एनी बेसेंट, मार्गरेट कजिन्स, डाक्टर भगवान दास जैसे समाज सुधारकों ने नारी जाति को ऊपर उठाने के लिए अथक परिश्रम किया।

अखिल भारत महिला सम्मेलन, नारी राष्ट्रीय समिति, विश्वविद्यालय स्त्री संघ, ईसाई युवती संघ, कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक समिति ने नारी जाति की सेवा करने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

महात्मा गाँधी ने नारी जाति को ऊपर उठाने में जितना अधिक कार्य किया उससे कौन अनभिज्ञ है? राष्ट्रीय आंदोलन में नारी जाति ने जिस वीरता और साहस के साथ योगदान किया, जो जेल यातनाएँ तथा लाठी-गोली आदि के संकट झेले, उन्होंने भारतीय नारी के गौरव में चार चाँद लगा दिये। देश के स्वातंत्र्य संग्राम में नारियों की आहुति विश्वविख्यात है। संसद, धारा सभाओं और सार्वजनिक सेवा क्षेत्र में भारतीय नारी ने प्रशंसनीय स्थान प्राप्त किया है।

स्वातंत्र्य आंदोलन

पण्डिता रमाबाई, स्वर्ण कुमारी देवी, सरोजिनी नायडू, तोरूदत्त, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा जैसी विदुषी और कवियित्री महिलाएँ भारत के लिए गौरवास्पद हैं। रेणुका राय, राधाबाई सुब्बारायन, अम्मू स्वामिनाथन, विजयालक्ष्मी पंडित जैसी राजनीति कुशल महिलाएँ देश के समाज को ऊपर उठाने वाली हैं।

स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय नारी की स्थिति में क्रांतिकारी सुधार हुआ है। एक तो संवैधानिक दृष्टि से नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हो गये हैं। दूसरे नारी की स्थिति को दयनीय बनाने-वाली समस्याओं का अनेकांश में निवारण होने लगा है। विवाह, उत्तराधिकार, विवाह-विच्छेद आदि के संबंध में कितने ही अधिनियम बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। उनके द्वारा नारी की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधरने में पर्याप्त प्रगति होगी। 'विशेष विवाह अधिनियम' (१९५४), 'हिंदू विवाह और विवाह-विच्छेद

स्वातंत्र्य युग

अधिनियम' (१९५५), 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम' (१९५६), 'दहेज निषेध अधिनियम' (१९६१) इसके थोड़े-से उदाहरण हैं।

नारी बाल क्रय-विक्रय निषेध अधिनियम (१९५६) द्वारा नारी के शोषण को रोकने का प्रयत्न किया गया है।

जीविका की स्थिति सुधारने के लिए, कारखानों आदि में स्त्री मजदूरिनों को सुविधा प्रदान करने के लिए भी कितने ही अधिनियम स्वीकृत हुए हैं।

स्वतंत्र भारत की नारी आज घर-बाहर सर्वत्र गौरवपूर्ण तथा प्रतिष्ठित जीवन बिता रही है। विधान सभाओं और संसद में भी बहु ऊँचे-से-ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित है। राजनीतिक क्षेत्र में, सामाजिक सेवा क्षेत्र में, पत्रकारिता के क्षेत्र में, लेखन में, कविता में, कला में, शिक्षा में, चिकित्सा में,—जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में भारतीय नारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

भारतीय नारी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

अध्याय : १६

विवाह-विच्छेद

गार्हस्थ जीवन की आधारशिला है—विवाह। विवाह के पवित्र बंधन में बंधकर युवक और युवती अपनी जीवन-नौका को संसार सागर में डाल देते हैं और इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह सकुशल पार हो जाय।

विवाह का लक्ष्य

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि कामवासना की तृप्ति अथवा रति ही विवाह का मुख्य लक्ष्य है, परंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। माना, वह भी उसका एक अंग है, पर मूलतः विवाह का लक्ष्य है धर्म का परिपालन। धर्म के साथ-साथ काम और प्रजोत्पत्ति भी जुड़ी है, परंतु उसका अंतिम लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष है मानव का चरम विकास। इस विकास तक पहुँचने के साधनों में विवाह का एक विशिष्ट स्थान है।

समाज का नियमन करने के लिए, वासना को परिष्कृत करने के लिए और उसके माध्यम से मानव के सर्वांगीण विकास के लिए वैदिक धर्म में विवाह की संस्था स्थापित की गयी है। पति-पत्नी मिलकर अपना जीवन शुद्ध एवं पवित्र बनायें, तथा दाम्पत्य स्नेह का अधिकतम विकास करें—इसी उद्देश्य से विवाह को गार्हस्थ जीवन की सीढ़ी का पहला डंडा बनाया गया।

प्रतिज्ञाएँ

विवाह की प्रतिज्ञाओं में इस सत्य की झाँकी स्पष्ट दीखती है। वरवधू अग्नि देवता के समक्ष, घर-परिवार वालों और हितू-मित्रों के समक्ष ये प्रतिज्ञाएँ करते हैं। वे कहते हैं कि ऐश्वर्य, सुख और सौभाग्य की कामना से हम विवाह के पवित्र बंधन में बँध रहे हैं—

ॐ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्ह पत्याय देवाः ॥[1]

हे सुन्दरी ! ऐश्वर्य, सुख, सौभाग्य आदि की वृद्धि के लिए मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ सुखपूर्वक वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

---

१. ऋग्वेद १०।८५।३६

हे वीर ! मैं सुख, सौभाग्य आदि की वृद्धि के लिए आप का हाथ पकड़ती हूँ। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था तक प्रसन्न और अनुकूल रहें।

आज से हम पति-पत्नी रूप में एक दूसरे को प्राप्त हुए हैं। सकल ऐश्वर्य-युक्त न्यायकारी, सारे जगत के उत्पादक, जगत के धारणकर्ता परमपिता परमात्मा और इस सभा में उपस्थित विद्वान लोग गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिए तुझको मुझे सौंपते हैं। हम आज से परस्पर एक दूसरे को अर्पित करते हैं। हम कभी कोई ऐसा आचरण नहीं करेंगे जो एक दूसरों को अप्रिय हो।

ॐ भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तत्र ॥[1]

हे प्रिये ! ऐश्वर्ययुक्त मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। धर्म-मार्ग में प्रेकर मैं तेरा हाथ पकड़ चुका हूँ। तू धर्म से मेरी पत्नी है। मैं तेरा गृहपति हूँ। हम दोनों मिलकर गृह-कार्यों को पूरा करें। दोनों को जो आचरण अप्रिय हो, उसे कभी न करें। हमारे गृह के सुख-सौभाग्य की सतत वृद्धि होती रहे।

कुरान का आदेश

इसलाम में विवाह को-भले ही संविदा का रूप दिया गया हो, पर जहाँ तक दाम्पत्य जीवन बिताने का प्रश्न है, कुरान की अनेक आयतों में दाम्पत्य स्नेह को दृढ़ बनाने पर जोर दिया गया है। जैसे—

'अल्लाह की निशानियों में यह है कि तुम दोनों—पति और पत्नी—आराम और चैन पाओ। उसने तुम दोनों के बीच प्रेम और दयालुता रख दी है।'[2]

'तुम्हारा और तुम्हारी पत्नी का संबंध इतना निकट का है जैसा शरीर और कपड़े का।'[3]

'अल्लाह ने स्त्री-पुरुष का जोड़ा इसीलिए बनाया कि उससे शांति मिले।'[4]

'अपनी पत्नियों के साथ भले तरीके से अपना जीवन बिताओ'।[5]

---

१. अथर्ववेद १४।१।१।५२

२. कुरान शरीफ ३०।२१

३. कुरान शरीफ २।१८७

४. कुरान शरीफ ७।१८९

५. वही, ४।१९

'स्त्रियों को भी पुरुषों पर उसी तरह का अधिकार प्राप्त है जिस तरह पुरुषों को स्त्रियों पर अधिकार प्राप्त है।'[1]

ऐसी आयतों से स्पष्ट है कि इसलाम दाम्पत्य प्रेम और सौहार्द्र पर पूरा बल देता है और उसका आदेश है कि पति-पत्नी मिल-जुलकर रहें और दाम्पत्य सुख का आनन्द उठायें।

ईसाई धर्म का आदेश

ईसाई धर्म में विवाह को पवित्र संस्कार माना गया है और दाम्पत्य जीवन के पावित्र्य और स्नेह पर बल दिया गया है। पादरी विवाह-सूत्र में वरवधू को बाँधते हुए दोनों से इस संबंध में प्रतिज्ञा कराता है। वह वर से पूछता है :

"क्या तुम वायदा करते हो कि विवाह के पाकीजा (पवित्र) हालत में अपनी बीबी के साथ जिंदगी गुजारोगे ? आज से आगे को खुशी में और रंज, तंगी और फरागत में, बीमारी और तंदुरुस्ती में और हर हालत में उसे प्यार करोगे ? अच्छे शौहर की मानिंद सारी बातों में उससे वफादारी बरतोगे और दूसरों को छोड़कर उसी के साथ रहोगे और जब तक मौत जुदा न करे उसको हरगिज न छोड़ोगे ?"

वर प्रतिज्ञा करता है—'हाँ, मैं वायदा करता हूँ।'

वधू से भी पादरी ऐसा ही वादा कराता है। अंत में आशीर्वाद देता है—"खुदावंद तुझे बरकत दे। तेरी निगहबानी करे। तुझे सलामती बख्शे। आमीन।"

बाइबिल की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'विवाहों का निर्णय स्वर्ग में होता है।' ईश्वरेच्छा से दम्पति का जोड़ा बनता है। अतः दम्पति को प्रेमपूर्वक दाम्पत्य जीवन बिताने का आदेश दिया गया है। उनके शरीर दो और प्राण एक माने गये हैं—'एक जान दो कालिब' हैं। हमारे यहाँ भी कहा जाता है—

मुझमें समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है,
जिसमें न कोई कह सके 'मैं' और हूँ 'तू' और है।

ईसा ने भी कहा है—'पति और पत्नी देखने में भले दो शरीर हों, पर हैं वे एक ही। प्रभु ने जिन्हें जोड़ा है, उन्हें मनुष्य पृथक् न करे।'[2]

---

१. कुरानशरीफ, २।२: ८

२. मत्ती, १९।५

सभी धर्मों ने इसी प्रकार इस बात पर बल दिया है कि पति-पत्नी मिल कर पवित्र जीवन बितायें और पारस्परिक स्नेह से पारिवारिक नौका को खेयें। दोनों परस्पर पूरक हैं। पति की कमियाँ पत्नी पूरी करे। पत्नी की कमियाँ पति पूरी करे। ऐसी भावना से चलने से ही उनके दाम्पत्य जीवन की फुलवारी में सुख और संतोष, शांति और आनन्द के सुमन खिलेंगे और उनकी सुगंध से सारा वातावरण गमक उठेगा।

पावित्र्य और स्नेह पर बल

दंपति जब अपने इस कर्त्तव्य को भूल जाता है, तभी गार्हस्थ जीवन में तनाव और कलह का प्रवेश होता है। तनावों के मूल में एक ही बात रहती है और वह है—स्वार्थपरता। पति यदि पत्नी को केवल अपने मनोरंजन और भोग की वस्तु मान बैठता है, उससे हर प्रकार की सेवा की अपेक्षा रखते हुए स्वयं उसकी सेवा करने में ढील करता है तो तनावों का उत्पन्न होना परम स्वाभाविक है। उसी प्रकार पत्नी यदि पति को अपनी फर्मायशों की पूर्ति का साधन और उसका बोझ ढोनेवाला 'गदहा' मान बैठती है तो भी वही स्थिति उठ खड़ी होती है। प्रेम का मूल आधार होता है—त्याग, समर्पण और सेवा। जहाँ इस प्रेम में कमी आयी, कुछ भी शिथिलता आयी, वहाँ प्रेम की रस्सी में गाँठ पड़ने लगती है। एक ओर से भी यदि विवेक और सहनशीलता में कमी रही तो उसका परिणाम बुरा हो सकता है। तनाव और कलहों की चट्टानों से टकराकर दांपत्य जीवन की नाव मझधार में डूब जाती है। इस तनाव के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे, वैचारिक मतभेद, सास-ननद आदि का दुर्व्यवहार, कुरीतियाँ, आर्थिक कठिनाइयाँ, बच्चों की समस्या, नौकरी आदि।

तनाव और कलह

तनाव और कलह के बहुत बढ़ जाने पर विवाह-विच्छेद की नौबत आ जाती है। या तो जीवनसंगी संग छोड़कर अन्यत्र चला जाता है अथवा वह कानून की शरण लेकर विवाह-विच्छेद, तलाक या 'डाइवोर्स' कर लेता है। पति-पत्नी का यह अलग होना ही, दोनों का पारस्परिक संबंध टूट जाना ही विवाह-विच्छेद है।

विवाह-विच्छेद

अर्थ और अवधारणा

विवाह-विच्छेद का अर्थ है—पति और पत्नी का एक दूसरे से पृथक् हो जाना, एक दूसरे का परित्याग कर देना और कोई भी पारस्परिक संबंध न रखना।

जब वैवाहिक जीवन इतना कष्टमय और दुःखमय हो जाय कि पति-पत्नी साथ-साथ रहना पसंद न करें, एक दूसरे से प्रेमपूर्वक बात करने के लिए भी प्रस्तुत न हों और दोनों को मिलकर गृहस्थी चलाना अस्वीकार हो तो वैवाहिक संबंध को तोड़कर वे विवाह-विच्छेद प्राप्त कर लेते हैं। कानून का सहारा ले कर वे अपने संबंध-विच्छेद की मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। बड़े-बड़े हौसले, बड़े-बड़े मंसूबे बाँधकर दोनों विवाह के बंधन में बँधे थे। वे सारी कल्पनाएँ चूर-चूर हो जाती हैं। परस्पर विश्वास, सद्भाव और स्नेह सब कुछ समाप्त हो जाता है। वस्तुतः 'विवाह-विच्छेद परम दुःखांत घटना होती है।'[1]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विवाह-विच्छेद की समस्या यों तो विवाह के साथ ही जुड़ी थी, पर उसका आरंभिक उल्लेख ईसा से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व हेम्म रब्बी के विधान में मिलता है। यहूदियों के धर्मग्रन्थों में भी उसका उल्लेख है। प्रारंभिक रोमन कानून में भी उसकी व्यवस्था है। पहले केवल पुरुष को ही तलाक देने का अधिकार था, पर ईसाई धर्म के विकास के साथ उसके नियमों में कुछ सुधार हुए। स्त्रियों को भी तलाक प्राप्त करने के अधिकार मिले। मध्ययुग में यूरोप में कैनन ला का प्राधान्य था। लूथर ने इस संबंध में कैथोलिक मत को अस्वीकार किया। 'सिविल मैरिज' पर धीरे-धीरे जोर दिया जाने लगा। हालैंड में १५८० में और इंग्लैंड में १६५३ में 'सिविल मैरिज' कानून बना। इन कानूनों में समय-समय पर सुधार और संशोधन होते आये। सन् १९५० से इंगलैंड में जो कानून लागू है उसमें कुछ विशिष्ट कारणों के लिए विवाह-विच्छेद की व्यवस्था है।

भारत में विवाह-विच्छेद की पहले कल्पना ही नहीं की जाती थी। पति और पत्नी का संबंध केवल इस जीवन के लिए ही नहीं है, अपितु जन्म-जन्मांतर के लिए है-ऐसी धारणा प्राचीन युग में बनी थी। स्मृतिकाल में विशिष्ट स्थिति में विवाह-विच्छेद की अनुमति का उल्लेख मिलता है। जैसे, पति के नपुंसक होने पर, अज्ञात होकर निकल जाने पर, जाति से बहिष्कृत होने पर, संन्यास ले लेने पर आदि।[2] विवाह के उपरांत पत्नी के क्षतयोनि का

---

१. इलियट और मैरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३८३।

२. नारद स्मृति १२, १६, ९६।

ज्ञान होने पर पति को विवाह-विच्छेद की अनुमति है।[१] दुश्चारित्र्य के लिए कौटल्य ने भी विवाह-विच्छेद की व्यवस्था रखी थी। परंतु ऐसी घटनाएँ अत्यंत विरल थीं। भारतीय जीवन में न प्राचीन काल में विवाह-विच्छेद चलता था, न मध्यकाल में। कापड़िया का यह कथन उपयुक्त है कि 'हिंदू लोग जिस सामाजिक प्रतिमान में शताब्दियों से रहते आये हैं, उसमें विवाह-विच्छेद का सिद्धांत अपरिचित ही माना जायगा।'[२] भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार से विवाह-विच्छेद की भावना आयी। अंग्रेजी पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने इसके लिए विधिवत् आंदोलन खड़ा किया। उसके कारण १९४२ से ऐसे अधिनियम बनने लगे। पहले बड़ौदा राज्य ने (१९४२ में) कानून बनाया, फिर बंबई राज्य ने (१९४६ में), मद्रास राज्य ने (१९४९ में), सौराष्ट्र राज्य ने (१९५२ में) ऐसे कानून बनाये। सन् १९५५ में भारत सरकार ने हिंदू विवाह अधिनियम लागू कर दिया। इस अधिनियम की धारा १० में न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था है और धारा १३ में विवाह-विच्छेद की।

भारत में विवाह-विच्छेद

पाश्चात्य देशों में विवाह विच्छेद का बड़ा प्रचलन है। अमेरिका के 'नेशनल आफिस आफ वाइटल स्टैटिक्स, मैरेज एंड डाइवोर्स' के अनुसार प्रति हजार पर विवाह-विच्छेद के आँकड़े इस प्रकार हैं—

विच्छेद के आँकड़े

सन् १९५४	२·४	सन् १९५६	२·३
१९५५	२·३	१९५७	२·२

सन् १९५६ में अमेरिका में ९,२६,००० पुरुषों का विवाह-विच्छेद स्वीकृत हुआ, और १४,९२,००० स्त्रियों का। यह अनुपात १८६९ में ०·३ था जो सन् १९४३ में २·६ हो गया। १९४६ में उसकी मात्रा ४·३ तक पहुँच गयी। उस वर्ष ६, १०,००० विवाह विच्छेद हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत की यह स्थिति भयंकर थी।[३] युरोप भी इस दिशा में कुछ पीछे नहीं है। इंगलैंड, फ्रांस आदि में यह अनुपात १·२५ है, डेनमार्क में १·५, हंगरी में १·८, रुमानिया में १·९ है।[४] इंग्लैंड की संसद सदस्या जे० मान ने ७ फरवरी, १९५८

१. मनुस्मृति ९।७२।
२. के० एम० कापड़िया : मैरेज एण्ड फैमिली इन इंडिया, १९५८, पृ० १८०।
३. इलियट और मेरिल: सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३९१-३९२, ४१८-४१९
४. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, पृ० १७३

को लोक सभा में बताया कि २१ वर्ष से कम आयु में विवाह करने वाली लड़कियों में से एक चौथाई के विवाह का अंत विवाह-विच्छेद में होता है।[1]

विवाह-विच्छेद के कानूनी कारण

अमेरिका, इंग्लैंड तथा अन्य पाश्चात्य देशों में विवाह-विच्छेद के लिए अधिनियम बने हैं। विश्व के अन्य देशों में भी इसके अधिनियम बनते जा रहे हैं। पर ये सभी अधिनियम एक से नहीं हैं। कहीं पर कुछ कारण मान्य किये गये हैं, कहीं पर कुछ। अमेरिका में विवाह-विच्छेद के कारणों का विस्तार से विश्लेषण करते हुए इलियट और मेरिल ने मुख्यतः इन कारणों को विवाह-विच्छेद का कानूनी आधार बताया है—

१. पति या पत्नी का अन्य व्यक्ति के साथ व्यभिचार।

२. द्विविवाह—एक के रहते दूसरा विवाह।

३. क्रूरतापूर्ण व्यवहार—इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ हैं। कहीं उसमें शरीर पर किया गया अत्याचार ही केवल माना गया है जिससे स्वास्थ्य अथवा जीवन पर संकट आये और कहीं पर मानसिक अत्याचार भी उसमें सम्मिलित है। कहीं ताना, व्यंग्य, कटूक्ति को भी अत्याचार माना गया है।

४ मद्यपान की आदत।

५. मादक पदार्थों के सेवन की आदत।

६. छोड़ भागना—सम्परित्याग।

७. नपुंसकता।

८. पागलपन।

९. कुत्सित रोग, घृणित यौन रोग आदि भी।

१०. सगोत्र, सपिंड संबंध।

११. विवाह के अवसर पर किसी अन्य पुरुष द्वारा गर्भधारण।

१२. अशिष्ट आचरण।

१३. अप्राकृतिक अनैतिक आचरण।

१४. असंगति—कलह, तनाव आदि।

१५. पालन-पोषण न करना।

१६. कपट, धूर्तता, बाध्यता, दबाव, लाचारी तथा पहचानने में भूल आदि।[2]

---

१. वर्जीनिया बिम्पेरिस : दि अनमैरिड मदर एण्ड हर चाइल्ड, १९६०, पृ० ७९

२. इलियट और मेरिलः सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३९४-४०६

अन्य देशों में ऐसे ही आधार विवाह-विच्छेद के लिए माने गये हैं। भारत में हिंदू विवाह अधिनियम की धारा में १० में परित्याग, निर्दयता, विषाक्त कुष्ठ रोग, संक्रामक यौन रोग, विक्षिप्तता, व्यभिचार, न्यायिक पृथक्करण का आधार माना गया है। धारा १३ में विवाह-विच्छेद के ये आधार माने गये हैं—व्यभिचार, धर्म-परिवर्तन, असाध्य विक्षिप्तता, कुष्ठ, संक्रामक यौन रोग, संन्यास, ७ वर्षों से जीवित नहीं सुनाई पड़ना, दूसरा विवाह, बलात्कार, गुदामैथुन और पशुता का अपराध आदि।

भारत में कानूनी आधार

मुसलिम विवाह में तलाक के ७ प्रकार हैं—(१) तलाक—तलाक अहसन, तलाके हसन, तलाक उलबिद्दत या तलाके बिदाई (२) इला, (३) जिहर (४) खला, (५) मुबारात, (६) लिआन और (७) कानूनी तलाक।

मुसलिम कानून के अनुसार पति को किसी भी समय, बिना कारण बताये तलाक देने का अधिकार रहता आया है। तलाक के लिए शब्दों का उच्चारण ही पर्याप्त माना गया है। १९३७ के शरीअत कानून के पहले मुसलिम पत्नी को केवल दो आधारों पर तलाक पाने का अधिकार था—(१) पति का नपुंसक होना और (२) पति द्वारा लगाया गया व्यभिचार का आरोप झूठा सिद्ध होने पर। १९३९ के मुस्लिम तलाक कानून द्वारा शरीअत कानून में समुचित सुधार हो गया। उसके अनुसार मुसलिम स्त्रियों को इन आधारों पर विवाह-विच्छेद प्राप्त करने का अधिकार मिल गया है—

१. चार वर्ष तक पति के विषय में कोई सूचना न मिलने पर।

२. दो वर्ष तक ठीक से पत्नी का भरण-पोषण न करने पर।

३. पति को सात या अधिक वर्षों की सजा मिलने पर।

४. तीन वर्ष तक वैवाहिक कर्तव्य पूरे न करने पर।

५. नपुंसकता।

६. दो वर्ष से पागल, कुष्ठरोगी या संक्रामक यौन रोगी होने पर।

७. पिता या संरक्षक द्वारा १५ वर्ष से पूर्व विवाह कर दिये जाने पर।

८. पति का क्रूरतापूर्ण व्यवहार।

९. मुसलिम कानून के अनुसार मान्य अन्य आधार।

ईसाई लोगों पर लागू तलाक कानून १८६९ में धारा १० से १७ में विवाह-विच्छेद के लिए ये आधार दिये गये हैं—व्यभिचार, धर्म-परिवर्तन,

बहु विवाह, दूसरा विवाह, बलात्कार, गुदामैथुन, पशुता, क्रूरता, स्त्री-परित्याग।

विच्छेद टालने के उपाय

विवाह-विच्छेद पारिवारिक जीवन की परम दुखांत घटना है। इसका कुफल केवल संबंधित दम्पति को ही नहीं भोगना पड़ता, उनके बाल-बच्चों को, उनके परिवार और सगे-संबंधियों को भी भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उसका कुप्रभाव सारे समाज पर भी पड़ता ही है। इलियट और मेरिल ने ठीक ही इसे 'केवल व्यक्तिगत घटना' न बताकर एक 'विषम सामाजिक समस्या' बताया है।[1] जहाँ विवाह-विच्छेद टालना सम्भव ही न हो, वहाँ की बात भिन्न है, पर यों यथासंभव उसे टालना ही चाहिए।

धार्मिक प्रतिबंध

हिंदू धर्म में आरंभ से ही विवाह को आजीवन स्थायी रहनेवाला संस्कार माना गया है। उसी को विशेष आदर और मान्यता दी जाती रही है। पातिव्रत और पत्नीव्रत की उज्ज्वल भावना विवाह संस्था के स्थायित्व का ही उपादान रही है। वैवाहिक प्रतिज्ञाओं से लेकर गार्हस्थ धर्म के सारे नियम और कर्तव्य इसी लक्ष्य और उद्देश्य को ध्यान रखकर बने हैं कि दाम्पत्य जीवन में सुख, शांति और आनन्द की त्रिवेणी सदैव प्रवाहित होती रहे।

धार्मिक प्रतिज्ञाएँ और विधिनिषेध सभी धर्मों में ऐसे ही हैं जिनके द्वारा विवाह-विच्छेद को सदैव ही टालने का प्रयत्न किया जाता रहा है। इन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव भी होता ही रहा है। वर्जीनिया विम्पेरिस लिखती है कि 'प्रायः प्रत्येक विवाह में थोड़े-से तनाव के ऐसे क्षण आते ही हैं जब पति और पत्नी थोड़ी देर के लिए केवल अपनी वैवाहिक प्रतिज्ञाओं पर, विवाह के स्थायित्व पर और समाज के इस आग्रह पर निर्भर करते हैं कि वैवाहिक संबंध टूटना ठीक नहीं। यह अवलंबन न होता तो अनेक अच्छे विवाह-संबंध चूर-चूर हो गये होते!'[2]

इस्लाम में तलाक देना सरल है, फिर भी कुरानशरीफ में स्थान-स्थान पर इस बात पर जोर दिया गया है कि तलाक को यथासाध्य टलना चाहिए। जब पति-पत्नी का साथ रहना असंभव हो जाय, तभी तलाक देना चाहिए।

---

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ३८३-३८४

२. वर्जीनिया विम्पेरिस : दि अनमेरिड मदर एंड हर चाइल्ड, पृ० ३४७

तभी पुनर्विवाह कर सकेंगे जब कि न्यायालय द्वारा विवाह-विच्छेद का आदेश मिल गया हो और उसके विरुद्ध किसी प्रकार की भी अपील की कोई गुंजाइश न हो। न्यायालय की अनुमति मिलने के बाद भी एक वर्ष तक पुनर्विवाह नहीं किया जा सकता। उस एक वर्ष के भीतर किया गया पुनर्विवाह अवैध माना जायगा (धारा १५)। १९३९ के मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम में भी ऐसी गुंजाइश है कि पति यदि इस बात का विश्वास दिला दे कि वह अपने वैवाहिक कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए तैयार है तो तलाक की आज्ञा वापस ली जा सकती है। ईसाइयों के लिए बने विवाह-विच्छेद कानून में भी ऐसी व्यवस्था है कि विच्छेद के प्रार्थना-पत्र पर न्यायालय पूरी तरह से छानबीन करेगा और पूर्णतः संतुष्ट हो जाने पर ही विवाह-विच्छेद प्रदान करेगा। जिला न्यायाधीश द्वारा दी गयी राजाज्ञा जबतक हाईकोर्ट द्वारा प्रमाणित न होगी तबतक विवाह-विच्छेद वैध नहीं माना जायगा (धारा १७)।

ये धार्मिक और न्यायिक प्रतिबंध विवाह-विच्छेद को टालने में थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य करते हैं। इनके चलते भावावेश में होनेवाले विवाह-विच्छेदों पर थोड़ी-बहुत रोक लगती है। पर विवाह-विच्छेद की समस्या के निराकरण के लिए कुछ विशेष प्रयत्न करने की भी आवश्यकता है।

विवाह-विच्छेद के उपरांत दंपति की संतानों की समस्या तो विषम रूप धारण करती ही है, विच्छेदित नारी की समस्या भी कम विषम नहीं रहती।

नारी की विवशता

भारत जैसे देश में तो यह समस्या और अधिक करुण इसलिए बन जाती है कि यहाँ शताब्दियों से यह परंपरा चलती आ रही है कि—'न नारी स्वातंत्र्यमर्हति।' नारी रक्षणीया मानी गई है। पिता-भाई-पति-पुत्र—कोई-न-कोई उसका संरक्षण करता रहे। जब पति से उसका संबंध टूट जाता है तो उसके लिए स्थिति अत्यंत कठिन हो जाती है। आर्थिक दृष्टि से पराधीन नारी परम दयनीय बन जाती है। विवाह-विच्छेद के कानून से नारी को पति के उत्पीड़न से मुक्त होने की सुविधा तो मिली है, पर प्रायः देखने में यही आता है कि विच्छेद से लाभ पुरुष ही अधिक उठा रहा है, स्त्री नहीं।

अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में विवाह-विच्छेद की समस्या दिन-दिन विषम होती चल रही है। इसके समाधान के लिए वहाँ स्थान-

सामंजस्य संस्थान

स्थान पर मनोवैज्ञानिक संस्थान खुले हैं। अपने दाम्पत्य जीवन से दुःखी लोग ऐसे संस्थानों में जा

कर मनोवैज्ञानिक परामर्शदाताओं से परामर्श लेते हैं। ये मनोवैज्ञानिक दाम्पत्य तनावों को दूर करने में यथाशक्ति सहायता करते हैं। अनेक दम्पति इनके परामर्श से लाभान्वित होते हैं और उनकी दाम्पत्य नैया टकराकर चूर-चूर होने से बच जाती है।

भारत में विवाह-विच्छेद की समस्या नयी समस्या है। यहाँ पर इसके समाधान के लिए अभी से समुचित प्रयास होना चाहिए। परिवार नियोजन का जाल तो सारे देश में बिछा दिया गया है पर परिवार को स्थायित्व प्रदान करने की दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। दाम्पत्य समस्याओं को सुलझाने के लिए, पारस्परिक तनावों को दूर करने के लिए, पति-पत्नी के बीच प्रेम और सद्भव बढ़ाने के लिए, उनकी आर्थिक समस्याओं, यौन समस्याओं, ननद-भाभी, सास-बहू आदि की समस्याओं के समाधान के लिए स्थान-स्थान पर सामंजस्य संस्थान खुलने चाहिए। ऐसे संस्थानों में योग्य, विवेकशील मनोवैज्ञानिक तथा उत्तम चरित्रवान वरिष्ठ लोग अपनी सेवाएँ अर्पित करें और समुचित परामर्श देकर दंपतियों के प्रेम की रज्जु को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करें। तदनुकूल उपयुक्त साहित्य का भी विशेष निर्माण और प्रसार होना चाहिए। समय रहते इस दिशा में यदि कार्य किया जायगा तो, विवाह-विच्छेद की समस्या का निश्चय ही निराकरण हो सकेगा।

विच्छेद का मूल कारण होता है, स्वार्थ, अहंकार और विलास। इन वृत्तियों के निराकरण के लिए त्याग, नम्रता, सेवा और बलिदान की अनिवार्य आवश्यकता है। इन सद्गुणों का जितना अधिक विकास होगा, उतना ही दाम्पत्य जीवन सुखी और संतुष्ट होगा। उसी के साथ-साथ विवाह-विच्छेद की समस्या का स्वयं निराकरण हो जायगा।

(ग) सामुदायिक विघटन की समस्याएँ

अध्याय : १७

साम्प्रदायिक विघटन

मानव सामाजिक प्राणी है। उसके लिए कहा गया है कि वह—'एकाकी न रमते।' जेल में कैदी को जो कड़ी सजाएँ दी जाती हैं, उनमें एक बहुत कड़ी सजा है—तनहाई। एक अकेली कोठरी में उसे रख दिया जाता है। उससे न कोई बोलता है, न बात करता है। समुदाय से उसे सर्वथा बहिष्कृत कर दिया जाता है। तनहाई की सजा की एक मर्यादा रहती है। कारण, अधिक समय तक समुदाय से बहिष्कृत रहने पर पागल हो जाने का अंदेशा रहता है।

समुदाय

समुदाय मनुष्य के लिए परम आवश्यक तत्व है। वह समुदाय में रहता है। उसी में बढ़ता, पनपता और विकसित होता है। समुदाय से दूर रहना एकांतप्रेमी साधु-संन्यासियों के लिए भले ही अच्छा माना जाय, पर यों सामान्य लोगों के लिए वह एक दंड ही माना जायगा।

अर्थ और परिभाषा

समुदाय के लिए अंग्रेजी शब्द है—कम्युनिटी। यह शब्द लैटिन के दो शब्दों को लेकर बना है—Com 'कॉम' और Munis 'म्यूनिस'। कॉम का अर्थ है : एक साथ। म्यूनिस का अर्थ है : सेवा करना। अतः कम्यूनिटी शब्द का अर्थ हुआ—'एक साथ अथवा मिलकर सेवा करना।'

समुदाय की भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं। जैसे—

मेकाइवर और पेज—'जब किसी छोटे-बड़े समूह के सदस्य इस प्रकार एक साथ रहते हैं कि उनका साथ-साथ रहना किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा स्वार्थ से नहीं होता, अपितु वह उनके संयुक्त जीवन की आधारभूत शर्त होती है, तब हम उस समूह को 'समुदाय' कहते हैं।'

गिसबर्ग—'किसी निश्चित भू-भाग पर रहनेवाली वह समस्त जनता 'समुदाय' कही जा सकती है, जो उनके जीवन की नियंत्रक सामान्य स्थिति से बँधी होती है।'

बोगर्डस—'वह सामाजिक समूह 'समुदाय' कहलाता है, जो कुछ अंशों में 'हम' की भावना रखता है और किसी निर्दिष्ट क्षेत्र में निवास करता है।'

ग्रीन—'संकीर्ण प्रादेशिक क्षेत्र के भीतर निवास करनेवाला वह जन-समूह 'समुदाय' कहलाता है जो सामुदायिक जीवन को अपनाता है।'

जार्ज ए० हिलेरी ने 'रूरल सोशियालाजी' (जून, १९५५) में समुदाय की ऐसी ९४ परिभाषाएँ दी हैं।

समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ हैं—निश्चित भू-भाग, व्यक्तियों का समूह, सामुदायिक जीवन और सामुदायिक भावना। समुदाय स्वतः जन्म लेता है। उसका विकास भी स्वतः होता है। समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। समुदाय में एकसूत्रता रहती है, 'हम' की सामुदायिक भावना रहती है। व्यक्तियों के समूह से उसका निर्माण होने से वह मूर्त होता है, सामाजिक संबंधों के जाल की भाँति, समाज की भाँति वह अमूर्त नहीं होता।

विशेषताएँ

इलियट और मेरिल ने समुदाय के दो पक्ष बताये हैं—(१) भौगोलिक और (२) मनोवैज्ञानिक। भौगोलिक दृष्टि से समुदाय व्यक्तियों और संस्थाओं का निकटवर्ती समूह माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समुदाय एक मानसिक तत्व कहा जा सकता है जो लोगों को एक साथ रहने के लिए प्रेरित करता है।[१] पार्क और वर्गेस ने समुदाय को स्थान की दृष्टि से निकटवर्ती सामाजिक इकाइयों का समूह तथा संस्थाओं का समूह बताया है। संरचना की दृष्टि से समुदाय ऐसे व्यक्तियों का समूह बताया जाता है जो विशेष अभिरुचियों, उद्देश्यों और व्यवहारों में सहभागी होते हैं।

समुदाय में दो तत्व प्रमुख हैं—एक है भौगोलिक और दूसरा है मनोवैज्ञानिक। समुदाय का भौतिक आधार तो होता ही है, उसके अतिरिक्त उसमें मनोवैज्ञानिक ऐकमत्य भी रहता है। समुदाय के संगठन की ये दो विशेषताएँ हैं—सहयोग और ऐकमत्य।

समुदाय का संबंध बड़े जनसमूह से रहता है। अतः यह स्वाभाविक

---

१ इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ४५७

है कि उसमें अनेक प्रश्नों को लेकर परस्पर मतभेद और विचार वैषम्य रहे। पूर्ण और शत-प्रतिशत सहयोग और ऐकमत्य तो अत्यंत कठिन होता है। अधिकांश में ये दोनों बातें सामुदायिक संगठन को स्थायित्व प्रदान करती हैं, पर कुछ मात्रा में तनाव, विरोध और संघर्ष भी बना रहता है, पर यह विरोध इतना अधिक नहीं होता कि सामुदायिक संगठन के लिए संकट-मय हो। पर जब बाह्य परिस्थितियों के कारण अथवा वैचारिक भावनाओं में गतिशीलता आ जाने के कारण तनाव और विरोध की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तो सामुदायिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सामुदायिक निष्ठा घटने से सामुदायिक विघटन की नींव पड़ने लगती है।

सामुदायिक विघटन

अवधारणा

सामुदायिक संगठन का सहयोग और ऐकमत्य जब लड़खड़ाने लगता है, तनाव और विरोध बढ़ने लगता है और 'हम' की भावना के स्थान पर जब 'मैं' की भावना महत्वपूर्ण होने लगती है, परार्थ के स्थान पर स्वार्थ का प्राबल्य होने लगता है तो सामाजिक विघटन आरंभ हो जाता है। परिवर्तन की प्रक्रिया जब तीव्र गति से काम करने लगती है, सामाजिक और सांस्कृतिक मतैक्य पर जब प्रहार होने लगता है, गतिशील प्रक्रियाएं जब समूहों और संस्थाओं में असामंजस्य उत्पन्न करनें लगती हैं तो समुदाय के विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

परिभाषा

इलियट और मेरिल ने एडवर्ड जे० बार के अनुसार सामुदायिक विघटन की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'सामुदायिक विघटन ऐसी जटिल प्रक्रिया है जिसमें उन सभी समूहों, संस्थाओं और स्वैच्छिक समितियों का आंशिक अथवा संपूर्ण विनाश निहित रहता है जिसकी संयुक्त गतिविधियाँ समुदाय की अंतःक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं।'[1]

स्वरूप

सामुदायिक विघटन का स्वरूप समुदाय की तत्कालीन स्थिति से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं से उसकी झाँकी मिल जाती है। जैसे, जन-संख्या, स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास व्यवस्था, सामाजिक कल्याण, मनोरंजन आदि। समाज का ढाँचा यदि विशृंखलित हो रहा है,

---

१. इलियट और मेरिलः सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ४६३

वैयक्तिक विघटन हो रहा है, पारिवारिक विघटन हो रहा है, अपराध, बाल अपराध आदि बढ़ रहे हैं, वर्ग-संघर्ष बढ़ रहा है, भ्रष्टाचार बढ़ रहा है, तो स्पष्ट है कि सामुदायिक विघटन हो रहा है। जहाँ व्यक्ति टूटता है, परिवार टूटता है, बच्चे अनाथ होते हैं, विवाह-विच्छेद होते हैं, अपराध बढ़ते हैं, वहाँ समुदाय का विघटन होता ही है। व्यक्ति और परिवार ही तो समुदाय की मूल इकाइयाँ हैं। उनका विघटन सामुदायिक विघटन नहीं तो और क्या है ? घर, परिवार और गाँव से लेकर नगरों तक यह विघटन की परंपरा चलती रहती है।

सामुदायिक विघटन के एक नहीं, अनेक कारण हैं। सामाजिक विघटन के जो कारण हैं वे ही सामुदायिक विघटन के भी कारण हैं। भौतिक और

कारण

जैविकीय, प्रौद्योगिक और मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक—सभी कारक मिल-जुलकर सामुदायिक विघटन के कारण बनते हैं। यह बात दूसरी है कि कहीं पर कोई कारक प्रबल कारण बनता है, कहीं पर अन्य कोई।

सामुदायिक विघटन के कुछ प्रमुख कारण ये माने जा सकते हैं—

१. सामाजिक परिवर्तन,

२. मूल्यों में परिवर्तन,

३. सामाजिक गतिशीलता,

४. वर्ग-संघर्ष

५ राजनीतिक भ्रष्टाचार

६ व्यक्तिवाद

सामाजिक परिवर्तन क्या है, कैसे होते हैं, उनके कारण क्या हैं, उनके

सामाजिक परिवर्तन

परिणाम क्या आते हैं, इसकी चर्चा आरंभ में 'सामाजिक संगठन' अध्याय में की जा चुकी है। सामाजिक परिवर्तन सामुदायिक जीवन को व्यापक रूप में प्रभावित करते हैं। इलियट और मेरिल का यह कहना उचित ही है कि "सामाजिक परिवर्तन सामाजिक विघटन लाता है। कारण, समूह को जोड़ने वाले संबंधों में उसके चलते तनाव आता है और वे टूटने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन से अभिवृत्तियों और मूल्यों में परिवर्तन

होने लगता है।'[1] नये प्रौद्योगिक परिवर्तन, आर्थिक स्थिति में, सामाजिक स्थिति में परिवर्तन और लोकरीति, प्रथा, परिपाटी आदि में होनेवाले आदर्शात्मक परिणाम सामाजिक परिवर्तन के साथ जुड़े हुए हैं।[2]

सामाजिक संगठन में कुछ निशिष्ट सामाजिक मूल्य बन जाते हैं। प्रथाएँ, पद्धतियाँ, परिपाटियाँ, आदर्श आदि धीरे-धीरे सामाजिक मूल्यों का स्वरूप धारण कर लेते हैं। सामाजिक परिवर्तन द्वारा, प्रौद्योगिक परिवर्तन द्वारा, औद्योगिक क्रांति, संघर्ष, युद्ध, क्रांति आदि के कारण इन मूल्यों में जब परिवर्तन आता है तो सारा समुदाय उससे प्रभावित हो उठता है। समाज का पुरातन ढाँचा टूटने लगता है। नाना प्रकार के वैचारिक संघर्ष उठने लगते हैं। उससे वैयक्तिक संगठन भी प्रभावित होता है, पारिवारिक संगठन भी। फिर सामुदायिक संगठन का प्रभावित होना तो स्वाभाविक है। उससे चिरस्वार्थी वर्ग भी व्यापक रूप से प्रभावित होता है। शक्ति का खेल आरंभ होता है। सत्ता अपना प्रभाव डालने लगती है, जिससे 'आतंक, निराशावाद और चुपचाप सहन करो' वाली स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[3]

मूल्यों में परिवर्तन

गतिशीलता भी सामुदायिक विघटन का एक प्रमुख कारण है। गतिशीलता को समाज की नाड़ी बताया गया है। व्यक्ति जबतक समुदाय को छोड़कर अन्य समुदाय में जाता है तो वह दोनों में से किसी भी समुदाय का व्यक्ति नहीं रह जाता। 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'—ऐसी उसकी स्थिति हो जाती है। पहले समुदाय के साथ उसके पुरातन संबंध रह नहीं जाते। नये समुदाय के साथ वह पूर्णतः मिल नहीं पाता। मानव के अंतः पारस्परिक संबंध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। गतिशीलता इस प्रकार सामुदायिक विघटन का कारण बन बैठती है। आज के गतिशील युग का यह स्वाभाविक परिणाम है।

सामाजिक गतिशीलता

समूहों, संस्थाओं और वर्गों के बीच जब विरोध और तनाव बहुत बढ़ जाता है तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ये संघर्ष कहीं प्रजातीय होते हैं, कहीं धर्म को लेकर हो जाते हैं। कहीं नीतिशास्त्र को लेकर होते हैं, कहीं सामाजिक प्रतिष्ठा को लेकर। कहीं जाति को लेकर होते हैं,

१. इलियट और मेरिलः सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ७५२:

२. वही, पृ० १२

३. वही, पृ० ४६९,४७०

वर्ग-संघर्ष

कहीं संप्रदाय को लेकर। कहीं क्षेत्र को लेकर होते हैं, कहीं भाषा को लेकर। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि नाना प्रकार की समस्याएँ समुदाय में रहती हैं। किसी भी समस्या को लेकर ये संघर्ष उठ खड़े होते हैं। यदि समय रहते उन्हें सुलझाया न गया तो समुदाय का विघटन तीव्र गति से आरंभ हो जाता है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार

राजनीति-परायण आज के युग में राजनीतिक भ्रष्टाचार अपनी पूरी शक्ति से खुल-खेल रहा है। राजनीतिक संरचना इस प्रकार की है कि उसमें भ्रष्टाचार के लिए पर्याप्त स्थान है। राजनीतिज्ञ और व्यापारी, सरकारी अधिकारी और कर्मचारी, शासक और अपराधी एक ही थैली के चट्टे चट्टे बन जाते हैं। उसका परिणाम होता है—सामुदायिक विघटन। जनता चारों ओर से सतायी और दबायी जाती है और जनता का राज कहलाता है फिर भी जनता की कहीं पूछ नहीं रहती। सारा समुदाय इस अभिशाप से त्रस्त और जर्जर हो उठता है। अपराध और अत्याचार दिन-दिन बढ़ते चलते हैं। जहाँ तानाशाही है, वहाँ का तो कहना ही क्या? जहाँ लोकतंत्र है, वहाँ भी जनता की, लोक की आवाज नहीं सुनाई पड़ती। सर्वत्र भ्रष्टाचार की ही तूती बोलती है। छोटे से लेकर बड़े तक सब पर उसका जादू किसी-न-किसी रूप में हावी रहता है।

व्यक्तिवाद

सामुदायिक संगठन की आधारशिला है—सामुदायिक भावना, 'हम' की भावना। सामुदायिक जीवन इस सामुदायिक भावना द्वारा ही पुष्पित-पल्लवित होता है। उसका विकास, उसकी संपुष्टि इसी मूल तथ्य पर आश्रित करती है कि वह समुदाय के स्वार्थ को सर्वोपरि स्थान देता है। समुदायवाद व्यक्तिवाद दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं। जहाँ एक का प्राधान्य होगा, वहाँ दूसरा रह नहीं सकेगा। व्यक्ति जब अपने स्वार्थ को सर्वोपरि रखता है, 'मैं' और 'मेरे' की भावना को सर्वोच्च स्थान देता है, तब सामुदायिक जीवन पनप नहीं सकता। आज संयुक्त परिवार टूट कर व्यक्तिगत परिवार का रूप धारण कर रहा है। व्यक्तिगत परिवार में भी पति अपने स्वार्थ और इच्छाओं को अधिक महत्त्व दे रहा है, पत्नी अपने स्वार्थ को। इसका परिणाम पारिवारिक विघटन के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। यह प्रवृत्ति

ही स्वार्थवाद की प्रवृत्ति है। सामुदायिक विघटन में स्वार्थवाद भी एक प्रमुख कारण है। समुदाय तभी पुष्ट और दृढ़ हो सकेगा जब मानव स्वार्थ-वाद की अपनी प्रवृत्ति को नियंत्रित कर सामुदायिक हित को अपने हित से अधिक ऊंचा स्थान देगा।

विघटन की प्रक्रिया

सामुदायिक विघटन उसी समय आरंभ हो जाता है, जब मनुष्य सामुदायिक सहयोग और ऐकमत्य से अपना हाथ खींच लेता है। वह सामुदायिक जीवन में, सामुदायिक हित में भाग लेना बंद कर देता है। समुदाय के विकास के कार्यों से जब उसे अरुचि हो जाती है, समुदाय के स्थान पर जब वह अपने स्वार्थ को विशिष्टता देने लगता है, उसी क्षण से सामुदायिक विघटन की प्रक्रिया चालू हो जाती है।

व्यक्ति की अनेक भूमिकाएं रहती हैं। वह घर में जिस प्रकार पुत्र भी होता है, भाई भी होता है, पिता और चाचा भी होता है और उसे उन सभी भूमिकाओं का पृथक्-पृथक् निर्वाह करना पड़ता है; उसी प्रकार समुदाय में भी उसे अनेक भूमिकाएं निभानी पड़ती हैं। कभी-कभी उसके निजी हित में और सामुदायिक हित में विरोध और टकराव की-सी स्थिति भी उत्पन्न होती है। उस समय यदि वह निजी हित को कम महत्त्व देकर सामुदायिक हित को अधिक महत्त्व देता है तो समुदाय शक्तिशाली बनता है। यदि ऐसा नहीं करता तो सामुदायिक विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

समूह, संस्थाएं और समितियां ही समुदाय की संरचना का आधार होती हैं। इन सबको जोड़नेवाली कड़ी यदि कहीं से टूटने लगती है तो सामुदायिक विघटन प्रारंभ हो जाता है। कौन-सा कार्य सामुदायिक संगठन के अनुकूल है, कौन-सा कार्य सामुदायिक हित में है, इसकी परख के लिए भी कुछ कसौटियाँ निर्धारित की गयी हैं। उन कसौटियों पर परख कर यह देखा जा सकता है कि समुदाय विघटन की ओर अग्रसर हो रहा है कि नहीं। ये कसौटियाँ हैं—

१. पारस्परिक हितों की मात्रा कितनी विस्तृत हो रही है और आवश्यकताओं की कितनी पूर्ति हुई है?

२. स्थानीय आधार पर कार्य के सामंजस्य की मात्रा कितनी है?

३. सापेक्ष संख्या, पद और स्थानीय निवासियों के संबंध की मात्रा कितनी है?

४. सापेक्ष संख्या और उससे संबद्ध समितियों का कितना क्या महत्त्व है ?

५. चालू कार्य की क्या मात्रा है ? स्थानीय समाज में किस मात्रा में परिवर्तन हो रहा है ?

६. कार्य के संगठन की परिमिति कैसी है ?

व्यक्ति जब अपने निजी स्वार्थ को सर्वोपरि स्थान देने लगता है, अथवा अपने समूह, वर्ग, जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि को सर्वोच्च स्थान देने लगता है और अपने ही हितों के साधन पर सर्वाधिक बल देने लगता है तो सामुदायिक विघटन तीव्र गति से बढ़ने लगता है। उसी के चलते व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समुदाय के बीच, परिवार और समुदाय के बीच और समाज और समूहों के बीच संघर्षों की नौबत आती है और सामुदायिक संगठन नष्ट होने लगता है। वैयक्तिक अथवा अपने माने हुए जाति, वर्ग, समूह, संस्था, समिति के स्वार्थों का सामुदायिक स्वार्थों से संघर्ष छिड़ जाने पर सामुदायिक विघटन बढ़ता चलता है। घृणा, द्वेष, उपेक्षा और मतभेद बढ़ते चलते हैं और उनके कारण सहयोग और ऐकमत्य की समाप्ति हो जाती है। 'मैं' की भावना 'हम' की भावना को विनष्ट कर डालती है।

भारत में सामुदायिक विघटन

भारत में सामुदायिक विघटन ने विगत दो शताब्दियों में विशेष चिंताजनक स्वरूप धारण कर लिया है। यों तो विश्व के अन्य अंचलों में भी सामुदायिक विघटन हुआ और हो रहा है, पर भारत में विदेशी शासन सत्ता ने उसका स्वरूप अत्यंत दयनीय बना दिया है। इतिहास के पुरातन पृष्ठों को उलटने पर हम देखते हैं कि भारत ही वह देश है जिसने सबसे पहले 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष किया। भारत ही वह देश है जिसमें जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण के लिए धर्म की आधारशिला अनिवार्य बतायी गयी। भारत ही वह देश है जिसका सामाजिक संगठन त्याग, तपस्या, सेवा, बलिदान और प्रेम के तत्वों पर पल्लवित हुआ। उसकी वर्णाश्रम व्यवस्था, उसकी गार्हस्थ्य जीवन की व्यवस्था, उसकी सामाजिक व्यवस्था इतने उच्च आदर्शों पर विकसित हुई कि शताब्दियों के उथल-पुथल के झोंके, युद्धों और संघर्षों के झंझावात उसका कुछ न बिगाड़ सके। प्रमाण तो इस बात के भी है कि आसपास युद्ध होता रहा है, परंतु किसान अपने खेतों में निर्द्वंद्व होकर हल जोतते रहे हैं। जीवन का साधारण क्रम विधिवत चलता रहा है।

समय ने पलटा खाया। प्राचीन युग गया। मध्यकालीन युग गया। विदेशी आक्रामकों द्वारा बीच-बीच में आक्रमण होते रहे, परंतु भारत की संपन्नता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उसके सामाजिक संगठन में भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। परंतु क्रमशः आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में कुछ परिवर्तन आने लगे। देश के इतिहास ने भी करवटें लीं। मुस्लिम शासनकाल में कुछ सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी होने लगीं। उनसे सामुदायिक जीवन भी प्रभावित हो उठा।

वर्तमान युग में जब से भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ, पहले ईस्ट इण्डिया कंपनी का राज हुआ, फिर ब्रिटिश सरकार का राज हुआ, तब से भारत के सामुदायिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शासन ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति चलाकर धीरे-धीरे सारे देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया, अपनी कूटनीति की ऐसी चाले चलीं कि लज्जा को भी लज्जा आये। क्लाइव तथा कपनी के अन्य डाइरेक्टरों ने भारत के आर्थिक शोषण और दोहन का जो क्रम आरंभ किया, ब्रिटिश सरकार ने भी उसी नीति का जो प्रसार किया, उसके चलते 'सोने की चिड़िया' कहा जाने वाला विश्व का समृद्धतम राष्ट्र विश्व का दरिद्रतम राष्ट्र बन गया। अंग्रेजी राज्य के काले कृत्यो मे ही भारत की विपन्नता का इतिहास छिपा पड़ा है। अर्थव्यवस्था किसी भी देश की रीढ़ होती है। वह जहाँ विश्रृंखलित हुई वहाँ राष्ट्र के सारे जीवन पर उसका कुप्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।

इंग्लैंड में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उसका स्पर्श भारत को होना तो था ही, परंतु अंग्रेजी शासन के चलते उसने विकृत रूप धारण कर लिया। जिस देश की वस्त्रनिर्माण कला अद्वितीय थी, इतना बारीक वस्त्र जहाँ बुना जाता था कि अंबारी सहित हाथी को ढँक लेनेवाला मसलिन का थान अंगूठी के छेद से पार हो जाता था, जिस देश के पक्के माल का सारे विश्व में बोलबाला था, इंग्लैंड में जिस देश के बने वस्त्रों को पहनने में लोग गौरव का अनुभव करते थे, उस देश के कारीगरों के हाथ कटवा दिये गये। उस देश का वस्त्र उद्योग चौपट कर दिया गया। लंकाशायर और मानचेस्टर के कारखानों को चलाने के लिए भारत की कला नष्ट कर दी गयी। भारत से कपास और अन्य कच्चा माल विलायत जाने लगा और वहां से तैयार माल आकर भारत में खपने लगा। भारत की कृषि, भारत के उद्योग, भारत की समृद्धि बुरी भाँति नष्ट कर दी गयी।

शिक्षा हो, सभ्यता हो, न्याय-व्यवस्था हो या व्यापार नीति हो—सब पर अंग्रेजी सरकार हावी हो गयी। उसने इंग्लैंड के हित में सारी नीति गढ़ ली। गुलाम भारत गरीबी और बेकारी, अकाल और भुखमरी, अन्याय और अत्याचार की गोद में पड़ा छटपटाता रहा। यहाँ की न्याय-व्यवस्था, यहाँ की भूमि-व्यवस्था, यहाँ की रहन-सहन, यहाँ की शिक्षा-दीक्षा, यहाँ की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का एकमात्र लक्ष्य रह गया—इंग्लैंड का सर्वतोमुखी लाभ और विकास।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत में स्वातंत्र्य संग्राम चला। उसके पहले देश में सशस्त्र क्रांति का आंदोलन चला। उसे तो अंग्रेजों ने संगीनों के बल से दबा दिया पर गांधी के सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह आंदोलनों को ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार न दबा सकी। भारत ने अहिंसा और सत्य के मार्ग से अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

भारत स्वतंत्र तो हुआ, अंग्रेज अपना बोरिया-बंधना बाँधकर सात समुद्र पार चले गये परंतु भारत को पूर्णतः निर्धन, अशक्त और दयनीय बनाते हुए। फूट डालने की उनकी नीति ने पहले तो भारत को भारत और पाकिस्तान—ऐसे दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया, उसके उपरांत जातिवाद, अस्पृश्यता, सांप्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद जैसे विष को आरोपित कर दिया। औद्योगीकरण, नागरीकरण तथा उसके साथ बेकारी, श्रम-समस्या, भिक्षावृत्ति, निर्धनता और अपराधों की विषम समस्याएँ खड़ी कर दीं।

स्वतंत्र भारत विगत पचीस वर्षों से इन सारी समस्याओं से जूझ रहा है। अपने पैरों पर खड़े होने का उसका सत्प्रयास अविराम गति से चल रहा है, परंतु उपरिलिखित समस्याएँ अभी सुलझ नहीं पा रही हैं। कोढ़ में खाज की भाँति उनमें राजनीतिक भ्रष्टाचार आकर और जुड़ गया है।

विघटन की समस्याएँ भारत राष्ट्र के सामुदायिक विघटन की प्रमुख समस्याएँ ये हैं—

१. जातिवाद

२. अस्पृश्यता

३. साम्प्रदायिकता

४. भाषावाद : क्षेत्रवाद

५. औद्योगीकरण : नागरीकरण

६. बेकारी और श्रमसमस्या

७. भिक्षावृत्ति

८. निर्धनता

९. अपराध और

१०. भ्रष्टाचार

ये सभी समस्याएँ भारत के सामुदायिक जीवन को विषाक्त कर रही हैं। राष्ट्र के पुनर्निर्माण के मार्ग में भयंकर बाधा सिद्ध हो रही हैं।

भारत में वैयक्तिक विघटन और पारिवारिक विघटन की समस्याएँ भी कम नहीं हैं। उनपर हम पीछे विचार कर चुके हैं। सामुदायिक विघटन की समस्याओं पर हम आगे विचार करेंगे।

कारण, प्रभाव और परिणाम

सामुदायिक विघटन की समस्याओं का मूल कारण तो स्वार्थवाद ही मानना चाहिए। दूसरा प्रमुख कारण है—भोग की लालसा। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' —का परम पुरातन आदर्श धूमिल पड़ जाने से स्थिति यहाँ तक भयंकर हो बैठी है कि जिन लोगों ने स्वातंत्र्य संग्राम में अधिकतम कष्ट सहन किया, अधिकतम त्याग और बलिदान किया, उन्हीं में से अधिकांश कुर्सी के मोह में पड़ गये, पद और प्रतिष्ठा के गुलाम बन गये और राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के स्थान पर उसको खंड-खंड करने में योगदान करने लगे। कहने को देश में जनता का राज्य है, लोकतंत्र है, पर देखने में आ रहा है कि अंग्रेजों के मानस पुत्र नौकरशाह ही जनता के चुने हुए मन्त्रियों को नचा रहे हैं। लालफीताशाही और भ्रष्टाचार खुल-खेल रहा है सच्चे और ईमानदार लोग या तो यह सब देखकर सत्ता से विमुख हैं या उनमें से कोई वहाँ किसी तरह पहुँच जाता है तो उसकी बात सुनी नहीं जाती।

इसका भयंकर परिणाम हमारी आँखों के सामने है। सामुदायिक विघटन की ये विषम और जटिल समस्याएँ यदि समय रहते सुलझायी न गयीं तो देश का भविष्य अंधकारमय है। आवश्यकता इस बात की है कि देश की सभी प्राणवान शक्तियाँ पारस्परिक मतभेदों और स्वार्थों को किनारे रखकर एक जुट हो, लोकहित को सर्वोपरि स्थान दें जिससे भारत में गांधी के रामराज्य का,

स्वराज्य का स्वप्न पूरा हो सके। राजनीतिक स्वातंत्र्य ही सब कुछ नहीं है, आर्थिक और सामाजिक स्वातंत्र्य भी परम आवश्यक है। वह जब हो सकेगा तभी भारत में शोषणहीन, वर्गविहीन समाज का निर्माण हो सकेगा, जिसके लिए गांधी आजीवन लड़ता रहा और विगत २२ वर्ष से विनोबा अपने भूदान ग्रामदान आंदोलन द्वारा लड़ रहा है।

अध्याय : १८

जातिवाद

हमने अपने संविधान में संकल्प किया है—

"हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय—विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करनेवाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में...इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

संविधान की प्रतिज्ञा

स्वतंत्र भारत के संविधान में हमने देश के प्रत्येक नागरिक के लिए न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुता की प्रतिज्ञा की है।

भारतीय संविधान की धारा १५ में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

संविधान में अस्पृश्यता भी समाप्त कर दी गयी है। कहा गया है कि केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक, (क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के, अथवा (ख) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बंधन अथवा शर्त के अधीन न होगा। धारा १७ में कहा है कि 'अस्पृश्यता' का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता'

से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा।

संविधान के ये मूल अधिकार न्याय, स्वतंत्रता, समता एवं बंधुता का मार्ग प्रशस्त करते हैं, यह बात निर्विवाद है। इन आदर्शों का परिपालन निश्चय ही राष्ट्र को ऊपर उठायेगा। परंतु समस्या यह है कि जातिवाद और छुआछूत जैसी कुप्रथाओं द्वारा हम स्वयं ही इन आदर्शों पर पानी फेर रहे हैं।

'आठ कनौजिया नौ चूल्हे' की कहावत निरर्थक नहीं है। ऊँच और नीच की भावना, उत्कृष्टता और पावित्र्य की भावना, अपनी ही जाति और उपजाति की श्रेष्ठता की भावना, उसी को प्राथमिकता देने की भावना देश में जातिवाद की बेल को भलीभाँति पल्लवित-पुष्पित कर रही है, जिसका कुपरिणाम हमारे नेत्रों के समक्ष है। हम बनाना तो चाहते हैं जातिहीन समाज, वर्गहीन समाज, शोषणहीन समाज; परंतु हम बनाते चल रहे हैं जातिवादी समाज, वर्गवादी समाज, शोषणपूर्ण समाज।

जातिवाद का अर्थ

आज हमारे देश में जातियों और उपजातियों के समाजों की कमी नहीं है। साढ़े तीन हजार जातियों और असंख्य उपजातियों के हिंदू समाज में नाना प्रकार के जातीय समाज, जातीय सभाएँ, जातीय पंचायतें हैं जो अपने-अपने समाज और गुट को प्रोत्साहन दे रही हैं। उसी को प्रश्रय देना, उसीका पक्षपात करना और उसी को सर्वोपरि मानना—यही है जातिवाद का अर्थ और स्वरूप।

आज जाति के नाम पर स्कूल और कालेज खोले जाते हैं, अस्पताल और मंदिर बनवाये जाते हैं। जाति के नाम पर चुनाव लड़े जाते हैं। जाति के नाम पर वोट डाले जाते हैं। जाति के नाम पर नौकरियाँ दी जाती हैं। ठेके और लैसंस दिये जाते हैं। पद और पुरस्कार दिये जाते हैं। मेरी जाति का व्यक्ति लाख दोषी हो, निर्दोष है। उसके लाख खून माफ है। असंख्य अपराध क्षम्य हैं। पर दूसरी जातिवाले को छोटे-से-छोटे दोष के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता। इस भेद-भाव का नाम है—जातिवाद।

अपनी ही जाति को श्रेष्ठ मानना, अपनी ही जाति के व्यक्ति का पक्षपात करना और अपनी ही जाति के व्यक्ति को आगे बढ़ाना ही

जातिवाद की परिभाषाएँ

जातिवाद है। इसमें न कहीं न्याय है, न औचित्य। इसमें न कहीं समता है, न बंधुता। समाज के विघटन का, समाज को खंड-खंड करने का यह एक भयंकर कुठार है।

समाज शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से जातिवाद की परिभाषाएँ की हैं। परंतु सब का अर्थ एक ही है कि जातिवाद सामाजिक विघटन की एक प्रमुख समस्या है।

के० एम० पणिक्कर—'राजनीति की भाषा में उपजाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है।'[१]

डॉक्टर जी० एम० घुरए—'अब जातीय एकता की भावना इतनी सुदृढ़ है कि उसे जातिभक्ति ठीक ही कहा गया है।'

काका कालेलकर—'जातिवाद ऐसी अंधी और सर्वोच्च समूह भक्ति है, जो न्याय के स्वस्थ सामाजिक स्तरों, औचित्य, समता और विश्व बंधुत्व की भावना की सर्वथा उपेक्षा करती है।'

डॉक्टर नर्मदेश्वर प्रसाद—'जातिवाद राजनीति में रूपांतरित जाति के प्रति निष्ठा है।'[२]

रामबिहारी सिंह तोमर—'जातिवाद उस भावना से संबंधित है जिसके कारण व्यक्ति अपने को जाति के आधार पर, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा एक दूसरे से संबंधित समझते हैं तथा अन्य जाति के लोगों को अपने से पृथक्।'[३]

स्पष्ट है कि जाति के प्रति निष्ठा जब ऐसा विकृत रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य आँख मूँद कर अपनी जातिवालों का समर्थन और पक्षपात करने लगता है, तब 'जातिवाद' उत्पन्न हो जाता है।

जाति से जातिवाद

जातिवाद का उद्‌गम 'जाति' से होता है। जातिवाद को समझने के लिए जाति को पहले समझना होगा।

एक बार अहमदाबाद में पानी पीने प्याऊ पर पहुँचा तो पानी पिलाने-वाली बाई ने पहला प्रश्न किया—'शुं दूध ?'

---

१. के० एम० पणिक्कर : हिन्दू समाज निर्णय द्वार पर, पृ० २२।

२. एन० प्रसाद : दि मिथ आफ दि कास्ट सिस्टम, पृ० १२४।

३. रामबिहारी सिंह तोमर : भारतीय समाज, संस्कृति, एवं संस्थाएँ, १९७०, पृ० २४१।

मैं हक्का-बक्का खड़ा था। उसने फिर अपना प्रश्न दोहराया—'शु' दूध ?

फिर भी मुझे उत्तर न देते देख महिला बोली—'कौन जात है ?'

पानी पिलाने के लिए भी जाति पूछी जाती है ! बंगाल का एक क्रांतिकारी एक बार ब्रिटिश सरकार से लोहा लेते हुए एक मल्लाह के घर पहुंचा। भूखा था, भात मांगा। मल्लाह ने उसे भात दिया ही नहीं। वह ऐसा पाप कैसे करता कि ऊंची जातिवाले को अपनी हांडी का भात खिलाकर उसकी जाति ले लेता !

तो, खिलाने-पिलाने से जाति चली जाती है। पानी पीने के पहले लोग पानी पिलानेवाले से जाति पूछते हैं। नीची जाति का आदमी हो तो प्यासे बने रहते हैं, पर उसके हाथ का पानी नहीं पीते। डर है कि जाति चली जायगी। पानी पिलानेवाले भी ऊंची जाति को लोटे से पिलाते हैं, नीची जातिवालों को पत्ते से।

'तू कौन जात है ?' यह प्रश्न केवल सामान्य या कम पढ़े-लिखे लोग ही नहीं पूछते। पढ़े-लिखे सभ्य शिक्षित लोग भी पूछते हैं। इतना अवश्य होता है कि उनकी भाषा लच्छेदार होती है। वे पूछते हैं: 'आप कौन आस्पद हैं ?' 'आपने किस वंश और किस कुल की प्रतिष्ठा बढ़ायी है ?' 'किस जाति को आपने गौरवान्वित किया है ?' राम-लक्ष्मण की सुंदर जोड़ी देखकर जनक पूछे बिना नहीं रहते—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ?

विश्वामित्र उनका समाधान करते हैं :

रघुकुलमनि दशरथ के जाए।
मम हित लागि नरेस पठाए ॥

जाति का अर्थ

जाति भारत का एक विशिष्ट सामाजिक संगठन है। यों मुसलमानों, ईसाइयों आदि में भी जाति प्रथा है, परंतु इसने सबसे अधिक व्यापक रूप हिंदुओं में प्राप्त किया है।

जाति क्या है ? जाति की परिभाषा क्या है ?—इस संबंध में समाजशास्त्रियों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं।

अंग्रेजी में जाति के लिए 'कास्ट' शब्द प्रयुक्त होता है, जो पुर्तगीज शब्द 'Casta' से बना है। उसका अर्थ होता है—

जाति की परिभाषाएं

प्रजाति या भेद। ग्रेसिया द आर्ता ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया।

'जाति' शब्द के अंतर्गत अनेक भाव निहित हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने उसे परिभाषा में बांधने की चेष्टा की है, परंतु यह कठिन प्रयास है।

सी० एच० कूले ('सोशल आर्गेनाइजेशन' में) लिखते हैं—"जब कोई वर्ग पूर्णतः वंशानुगत हो जाता है, तो उसे 'जाति' कहा जा सकता है। वर्ग में तो मनुष्य एक से दूसरे वर्ग में जा सकता है, परंतु 'जाति' में ऐसा नहीं हो सकता।"

मेकाइवर और पेज ('सोसाइटी' में) लिखते हैं—'जब मनुष्य की सामाजिक स्थिति पहले से ही निश्चित हो, जब जन्म लेने के उपरांत वह उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न कर सके, भाग्य उसे जहां पर लाकर पटक दे, वहीं पर वह पड़ा रहे, तब ऐसा माना जायगा कि वर्ग ने 'जाति' का रूप धारण कर लिया।"

ए० डब्लू० ग्रीन ('सोशियालॉजी' में) लिखते हैं—"जाति एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वैचारिक दृष्टि से कोई गतिशीलता नहीं है। सामाजिक स्तरीकरणों में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे नहीं जाया जा सकता। जन्म से समाज में जिसे जो स्थान प्राप्त हो जाता है, आजीवन उसे वहीं रहना पड़ता है।"

डी० एन० मजूमदार और टी० एन० मदान ('एन इंट्रोडक्शन टु सोशल एंथ्रोपोलाजी' में) लिखते हैं—"जाति' एक बंद वर्ग है।

केतकर ('हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया' में) लिखिते हैं—"जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें दो विशेषताएं हैं—(१) सदस्यता केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित है जो उसी के सदस्यों से जन्म लेते हैं और इस प्रकार उत्पन्न सभी व्यक्ति उसमें सम्मिलित रहते हैं; और (२) उसके सदस्यों को एक कठोर सामाजिक नियम के द्वारा समूह से बाहर विवाह करने का निषेध कर दिया जाता है।"

जाति की विशेषताएं

डॉक्टर घुरये और एन० के० दत्त ने 'जाति' की ऐसी कोई परिभाषा तो नहीं दी है, परंतु जाति के विशेष लक्षण इस प्रकार दिये हैं।

घुरये ('कास्ट एंड क्लास इन इंडिया' में) लिखते हैं—"जाति में ये विशेषताएं होती हैं—(१) यह समाज को अनेक टुकड़ों ने विभक्त कर देती है। (२) इसमें स्तरीकरण का, ऊँचाई निचाई का पूरा ढांचा रहता है। (३) खान-पान एवं सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध रहता है। (४) कुछ वर्गों को विशेष सुविधाएं रहती हैं और कुछ को नागरिक तथा धार्मिक अयोग्यताएँ रहती हैं। (५) मनोनुकूल व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता नहीं रहती। (६) जाति के बाहर विवाह का निषेध रहता है।"

एन० के० दत्त ('ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया' में) लिखते हैं—(१) "एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। (२) अन्य जाति के सदस्यों के साथ खान-पान पर भी प्रतिबंध रहता है, परंतु यह प्रतिबंध विवाह जितना कठोर नहीं रहता। (३) कुछ जातियों के व्यवसाय पहले से निश्चित रहते हैं। (४) जातियों में स्तरीकरण का एक निश्चित क्रम रहता है, जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर रहती है। (५) जाति का निर्णय जन्म से रहता है और वह सारे जीवन के लिए होता है। एक जाति से अन्य जाति की सदस्यता ग्रहण करना संभव नहीं। नियमों के परिपालन न करने से जातिच्युति की बात दूसरी है। (६) जाति की संपूर्ण पद्धति ब्राह्मण की प्रतिष्ठा पर केंद्रित एवं आधृत है।"

रिजले ने ('पीपुल ऑफ इंडिया' में) जाति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जाति परिवारों का ऐसा समूह है, जो एक ही पूर्वज से अपनी वंश-परम्परा बताता है, फिर यह पूर्वज चाहे काल्पनिक मानव हो चाहे देवता। वह समूह समान अनुवांशिक कार्यों को करने की अनुमति प्रदान करता है और समर्थ लोगों द्वारा एकरस समुदाय माना जाता है।" रिजले का ऐसा कथन गोत्र की बात जाति पर लागू करता है, जो कि ठीक नहीं है। अन्य विचारकों की बातों पर भी कुछ आपत्तियां उठायी जा सकती हैं। परंतु इनसे हम कुछ तथ्यों का निर्धारण कर सकते हैं जिन्हें जाति के प्रमुख लक्षण माना जा सकता है।

जाति के प्रमुख लक्षण

१. जाति की सदस्यता जन्म पर आधृत होती है।

जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म पा जाता है, मृत्यु पर्यंत वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने पर उसे जातिच्युत कर दिया जाता है।

२. जाति के सदस्य अपने समूह के अंतर्गत ही विवाह कर सकते हैं।

जाति के बाहर विवाह करने पर अधिकतर लोगों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। अनुलोम विवाह भले ही सहन कर लिया जाय, प्रतिलोम विवाह सहन भी नहीं किया जाता और उसे घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता है।

३. जाति में खान-पान के संबंध में कठोर बंधन रहते हैं।

ई० ए० ब्लण्ट ने ऐसे सात प्रकार के बंधन बताये हैं—

१ पंगत का बंधन; किसके साथ बैठकर भोजन किया जा सकता है।

२. रसोइया का बंधन; किसके हाथ का भोजन स्वीकार किया जा सकता है,

३. विधि-विधान का बंधन; भोजन के समय कौन से नियमों का पालन हो।

४. पानी पीने का बंधन; किसके हाथ का छुआ पानी पिया जा सकता है।

५. कच्चे-पक्के का बंधन; किसके हाथ की कच्ची रसोई खायी जा सकती है, किसके हाथ की पक्की,

६, हुक्का-चिलम का बंधन; किस जाति की चिलम लेकर पी जा सकती है।

७. बर्तनों का बंधन; खाने-पीने आदि में किसके बर्तनों का उपयोग किया जा सकता है।

४. जाति में ऊँच-नीच और छुआ-छूत के अनेक प्रतिबंध रहते हैं।

जिन जातियों को नीचा माना जाता है, उनके प्रति व्यवहार करने में छुआछूत आदि के अनेक बंधन रहते हैं। उनका पालन न करने पर जाति के सदस्यों को अनेक प्रकार के दंड दिये जाते हैं। जुर्माना, जातिभोज, प्रायश्चित्त और जाति से बहिष्कार आदि कितने ही दंड उपयोग में लाये जाते हैं।

५. जाति के निश्चित व्यवसाय रहते हैं।

अनेक जातियों के व्यवसाय वंश-परंपरा से हस्तांरित होते चलते हैं। एक जाति का व्यवसाय अन्य जाति का व्यक्ति ग्रहण करता है तो उसपर बावैला मचता है। बेन्स के कथनानुसार 'जाति का व्यवसाय परंपरागत होता

है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि सब जातियाँ उसी व्यवसाय द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करें।

६. जाति अपने समूह पर नियंत्रण करती है।

जाति की अपनी पंचायत होती है जो अपने समूह के सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण रखती है। जाति के उत्थान और विकास के अतिरिक्त वह निषिद्ध कार्यों से अपने सदस्यों को रोकती है और उन नियमों के उल्लंघन पर दंड देती है।

७. जाति संस्मरण को प्रश्रय देती है।

जाति संस्तरण की प्रणाली पर विकसित हुई है। उसमें ब्राह्मण को सर्वोपरि मान लिया गया है और शुद्र को सबसे निकृष्ट। इस संस्तरण के चलते निम्न कोटि की जातियों को अनेक सामाजिक और धार्मिक अयोग्यताएँ प्रदान की गयी हैं। अस्पृश्यता का कलंक इसी संस्तरण का कुपरिणाम है।

८. जाति की अनेक उपजातियाँ होती हैं।

जाति प्रथा के विस्तार के साथ-साथ जातियों की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गयी हैं। एक-एक जाति की अनेक उपजातियाँ बन गयी हैं। प्रत्येक उपजाति अंतर्विवाहित समूह बन गयी है।

जाति की उत्पत्ति

डाक्टर नर्मदेश्वर प्रसाद ने ('दि मिथ आफ दि कास्ट सिस्टम' में) एक सामाजिक शोध का उल्लेख किया है। उस शोध के अंतर्गत मियांबीघा गाँव, पटना नगर और जमशेदपुर शहर में ३७७९ व्यक्तियों से जाति की उत्पत्ति के संबंध में प्रश्न किया गया कि जाति आयी कहाँ से? ४९ प्रतिशत व्यक्तियों के पास तो इस प्रश्न का कोई उत्तर ही नहीं था। जिन्होंने उत्तर दिया, वह इस प्रकार था—

६८ प्रतिशत व्यक्ति बोले : जिसने जो व्यवसाय ग्रहण कर लिया, उसी के अनुसार उसकी जाति बन गयी।

२७ प्रतिशत व्यक्तियों ने कहा : वेद, पुराण, गीता आदि धर्म-ग्रंथों में जाति की उत्पत्ति का जो विवरण है, उसी प्रकार जाति की उत्पत्ति हुई।

३ प्रतिशत ने रंग को जाति की उत्पत्ति का कारण बताया और २ प्रतिशत ने प्रजाति को।

उत्पत्ति के सिद्धांत

जाति प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। अनेक विचारकों ने अपने-अपने ढंग पर उसकी व्याख्या

को है और अनेक सिद्धांत गढ़ डाले हैं। कुछ प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं—

१. वेद और स्मृति का परंपरात्मक सिद्धांत
२. प्रजातिक सिद्धांत
३. व्यावसायिक सिद्धांत
४. उद्विकासीय सिद्धांत
५. टोटम का सिद्धांत
६. धार्मिक सिद्धांत
७. भौगोलिक सिद्धांत
८. चातुर्य सिद्धांत
९. सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धांत
१०. रंग का सिद्धांत
११. बहुकारक सिद्धांत

परंपरात्मक सिद्धांत वेद, स्मृति, उपनिषद्, गीता आदि हिंदू धर्म-ग्रंथों में वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में जो बातें कही गयी हैं, उन बातों को कितने ही विद्वान जाति प्रथा का आधार बताते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा है [१]—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य : कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

मनुस्मृति में आता है [२]—

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निवर्तयत् ॥

गीता में कृष्ण भगवान ने कहा है [३]—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागतः।

हिंदू परंपरा में ऐसा माना जाता है कि ब्राह्मण का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ, क्षत्रिय का भुजाओं से, वैश्य का जंघाओं से और शूद्र का चरणों से। गीता में गुणों और कर्मों के अनुसार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है। वर्णों की प्राचीन परंपरा ने क्रमशः जाति का रूप धारण कर लिया।

---

१. ऋग्वेद १०।९०।११-१२
२. मनुसंहिता १।३१
३. गीता ४।१३

हर्बर्ट रिजले जैसे विचारक ऐसा मानते हैं कि इंडो-आर्य जाति फारस से जब भारत आयी तो भारत में कई प्रजातियाँ थीं। उनकी प्रजाति एवं संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। पहले तो इनमें संघर्ष हुआ, परंतु बाद में इनमें परस्पर मेल हो गया। आर्यों के साथ स्त्रियों की संख्या कम थी। उन्होंने भारतीय जनजातियों की स्त्रियों के साथ विवाह आरंभ कर दिये। बाद में उन्होंने ऐसे विवाह बंद कर दिये और यहाँ की पहले की प्रजातियों को वे नीचा मानने लगे। ये समूह भिन्न-भिन्न जातियों में परिवर्तित हो गये।

प्रजातिक सिद्धांत

डाक्टर घुरये का मत है कि इंडो-आर्यों ने भारत की पहले की जनजातियों को पराजित कर उन्हें दास बना लिया। उन्हें अपने से निम्न मान कर वे उनसे पृथक् रहने लगे। इस प्रकार 'जाति प्रथा इंडो-आर्य संस्कृति के ब्राह्मण का बच्चा है, जिसे गंगा मैदानों में पाला गया है।'

डाक्टर मजूमदार कहते हैं कि 'संस्कृति के संघर्ष तथा प्रजातियों के संपर्क ने ही भारत में सामाजिक समूहों को जन्म दिया।'[1]

नेसफील्ड जैसे विचारक मानते हैं कि जातियों की उत्पत्ति का मूल कारण है—व्यवसाय। उद्योग-धंधों के स्वाभाविक परिणामस्वरूप जाति का जन्म हुआ है।

व्यावसायिक सिद्धांत

डालमैन कहते हैं कि वंश-परंपरा से लोग अपने-अपने व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करते रहे और उसे आगे बढ़ाते रहे। अपने उद्योग का तांत्रिक गुरु लोग अपनी ही वंश-परंपरा को बताते रहे। ये विभिन्न उद्योग-व्यवसायवाले लोग क्रमशः विभिन्न जातियों में परिवर्तित होते गये।

डाक्टर नर्मदेश्वर प्रसाद कहते हैं कि जातियों संबंधी सारे विवाद इस तथ्य की ओर ले जाते हैं कि जातियाँ न्यूनाधिक मात्रा में व्यावसायिक समूह मात्र थीं। जिस समूह का व्यवसाय जितना निम्न था उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही निम्न मानी जाती है।[2]

डेंजिल ईबटसन जैसे विचारक विकासवादी सिद्धांत को जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। मानव जाति के आर्थिक विकास में ऐसा माना

---

१. डो० एन० मजूमदार : रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इंडिया, १९५८, पृ० २९१
२. एन० प्रसाद : दि मिथ आफ दि कास्ट सिस्टम, १९५७, पृ० ५५

जाता है कि पहले मनुष्य फिरंतू जीवन बिताता था। फिर कुछ समय बाद उसने कोई आर्थिक व्यवसाय अपना लिया। इनकी अनेक श्रेणियाँ बन गयीं। इनमें परस्पर संघर्ष होते रहे। विजयी लोग स्थिर होकर बसने लगे और विभिन्न व्यवसाय करने लगे। उन्हीं के आधार पर अनेक जातियाँ बन गयीं जो अंतर्विवाह करने लगीं।

इहिकासीय सिद्धांत

राइस ('हिंदू कस्टम्स' में) लिखते हैं कि जाति की उत्पत्ति 'टोटम' से हुई है। टोटम वह चिह्न होता है, जिसके कारण एक समूह के व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध होता है। यह चिह्न कहीं सर्प होता है, कहीं सिंह, कहीं बाघ तो कहीं रीछ। कहीं आम का वृक्ष होता है, कहीं और कुछ। यह चिह्न ही उनका कल्पित पूर्वज होता है। जो लोग जिस 'टोटम' को मानते हैं, उसी की पूजा-उपासना करते हैं। अपने टोटम वालों से ही वे खानपान का संबंध रखते हैं, दूसरों से नहीं। विवाह अन्य टोटम वालों के साथ करते हैं। इसी प्रकार अनेक जातियाँ बनती चली गयीं। विश्वास के सूत्र में बंधी हुई इन जातियों ने अपनी-अपनी जाति के लिए कठोर नियम बना दिये।

'टोटम' का सिद्धांत

एन० के० दत्त (ओरिजिन ऐंड ग्रोथ आफ कास्ट इन इंडिया' में) लिखते हैं कि आर्यों ने भारत की जनजातियों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया तब भी वे इन जातियों के विश्वासों को परिवर्तित नहीं कर सके, प्रत्युत उनके नियम और अधिक कठोर बन गये। दक्षिण भारत में द्रविड़ जातियों में, ब्राह्मणों और अब्राह्मणों में, स्पृश्यों और अस्पृश्यों में जातियों के नियम उत्तर भारतीयों की अपेक्षा अधिक कठोर बन गये।

ए० एम० होकार्ट ('लेस कास्टेस' में) लिखते हैं कि जाति प्रथा की उत्पत्ति धर्म संबंधी संस्कारों से हुई है। प्राचीन भारत में धार्मिक संस्कारों, विश्वासों और प्रथाओं का प्राबल्य था। ये ही संस्कार वर्णों के विभागीकरण के आधार बने। राजा को ईश्वर का स्वरूप माना जाता था। उसके दरबार में अनेक सेवक होते हैं। उन्हीं के विभिन्न कार्यों के आधार पर जातियों का विकास हुआ।

धार्मिक सिद्धांत

सेनार्ट ने अन्य देशों में आर्य प्रजाति के समुदायों का वर्णन करते हुए बताया कि यूनान, रोम आदि में आर्य प्रजातीय समुदायों में परिवार को

एक धार्मिक समूह माना जाता था। परिवार के पावित्र्य की रक्षा पर, उसका चूल्हा पवित्र बनाये रखने पर बहुत बल दिया जाता था। परिवार की पूजा में अन्य लोगों को सम्मिलित होने से वर्जित कर दिया जाता था। इसी के फलस्वरूप अनेक समूह बनते गये और वे विभिन्न जातियों का स्वरूप धारण करते गये। भारत में भी इसी प्रकार जाति प्रथा की उत्पत्ति हुई।

भौगोलिक सिद्धांत

गिलबर्ट का कहना है कि भौगोलिक स्थिति ही जाति की उत्पत्ति का कारण है। विभिन्न क्षेत्रों और स्थानों में निवास करने के कारण भिन्न-भिन्न जातियाँ बन गयीं। तमिल साहित्य में विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार विभिन्न लोगों के विभिन्न नाम पड़ गये हैं। इसका उदाहरण देते हुए गिलबर्ट ने भौगोलिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

चातुर्य सिद्धांत

एबे दुबीय ने जाति प्रथा के लिए चातुर्य सिद्धांत खोज निकाला है। उसका कथन है कि जातिप्रणाली ब्राह्मणों की चातुर्यपूर्ण योजना है। अपना वर्चस्व एवं महत्त्व बनाये रखने के लिए उन्होंने अपने को श्रेष्ठ बताने और तदनुकूल व्यवहार करना आरंभ किया। अपने व्यवसाय को उत्तम तथा अन्य व्यवसायों को निकृष्ट बताना प्रारंभ कर दिया। उनका उद्देश्य यही था कि उनकी अपनी सत्ता अक्षुण बनी रहे। उन्होंने ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ, सबसे अधिक पवित्र एवं सबसे ऊँचा बताकर जातियों के संस्तरण का ढाँचा खड़ा किया। डाक्टर घुरये जैसे विचारक भी मानते हैं कि जाति प्रथा के विकास में ब्राह्मणों का स्वार्थ निहित था। डॅजिल इबेटसन ने दुबीय के सिद्धांत का समर्थन किया है।

सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धांत

आर्य संस्कृतियों में वर्ण व्यवस्था एक ही संस्कृति का अंग है—चारों वर्ण एक ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंग हैं। गुणकर्म के अनुसार उनका विभाजन किया गया। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह से उनमें से अनेक जातियाँ बन गयीं। इस प्रकार की विचारधारावाले सांस्कृतिक एकीभाव के सिद्धांत पर बल देते हैं।

ग्रिसवोल्ड जैसे विचारक कहते हैं कि रंगभेद के कारण विभिन्न जातियाँ बनीं। जाति का अर्थ है वर्ण और वर्ण का अर्थ है रंग। आर्यों के गौर वर्ण का द्रविडों के कृष्ण वर्ण के साथ जो मेल हुआ, उसके फलस्वरूप नाना प्रकार की जातियाँ बन गयीं। प्रजातीय मिश्रण के कारण नाना रंगों के अनुसार नाना जातियों का विकास हो गया।

वर्ण और रंग का सिद्धांत

इस प्रकार हम देखते हैं कि जातियों के संबंध में अनेक विचारकों ने अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। अधिकतर सिद्धांत एकांगी हैं। कुछ तो सर्वथा कपोल-कल्पित हैं। उनके खूब खंडन-मंडन भी हुए हैं। तर्क की कसौटी पर कसने से अनेक सिद्धांत खोखले सिद्ध होते हैं।

बहुकारक सिद्धांत

वस्तुस्थिति यह है कि जाति प्रथा अनेक कारणों से उत्पन्न हुई है और शताब्दियों की अवधि में विकसित हुई है। हट्टन के इस तर्क में बहुत कुछ तथ्य है कि 'भारतीय जाति प्रथा अनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक कारकों की संयुक्त प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। ऐसी स्थिति अन्यत्र देखने में नहीं आती।'[1]

भारत की अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति है। उत्तर में हिमालय की गगनचुंबी चोटियाँ और दक्षिण में तीन महासागरों ने भारत को जो विशिष्ट स्थान प्रदान किया है, उसके फलस्वरूप भारत में भारतीय संस्कृति को स्वच्छंद रूप से विकसित होने का अवसर मिला। आर्यों की और द्रविड़ों की संस्कृति के सम्मिश्रण से, गुणों, कर्मों के आधार पर समाज रचना के विकास से, पितृ सत्तात्मक और मातृ सत्तात्मक परिवार प्रथाओं के संघर्ष से, नाना प्रकार के व्यवसायों से, सामाजिक संस्तरण और पावित्र्य आदि के नियमों से तथा समय-समय पर भिन्न-भिन्न धर्मों के विकास से भारत में जाति प्रथा पनपी। उसकी गतिशीलता का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि शताब्दियों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया है।

जातियों की गतिशीलता का इतिहास वैदिक काल से प्रारंभ होता है। उसे प्राचीन युग, मध्यकालीन युग और आधुनिक युग—इस प्रकार तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

जातियों की गतिशीलता

---

1 जे० एच० हट्टन : कास्ट इन इंडिया, पृ० १८८

प्राचीन युग में वर्ण व्यवस्था विधिवत् विकसित हुई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—समाज के चार स्तंभ माने जाते थे। वैदिक काल में इन चारों वर्णों का ही प्राधान्य था। ज्ञान की उपासना ब्राह्मण का धर्म माना जाता था, प्रजा-पालन करना क्षत्रिय का। वैश्य गो पालन करता था, व्यापार करता। शूद्र सब की सेवा करता था। चारों वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। ऐसा माना जाता था कि मनुष्य अपने वर्ण धर्म का विधिवत् पालन करेगा तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी। वैदिक काल में सारा समाज परस्पर प्रेम से मिलकर रहता था। ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं था। कोई भी व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता था। क्षत्रीय ब्राह्मण वर्ण में भी जा सकता था, वैश्य वर्ण में भी। खानपान पर भी कोई प्रतिबंध नहीं था, विवाह आदि पर भी नहीं।

प्राचीन युग

वैदिक काल : वैदिक काल में जाति प्रथा का जन्म नहीं हुआ था। उस काल में केवल वर्णों के आधार पर समाज संगठित था। ऊँच-नीच, श्रेष्ठता और निकृष्टता का कोई प्रश्न ही नहीं था।

उत्तर वैदिक काल : उत्तर वैदिक काल में समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों का प्राधान्य आरंभ हुआ। इतना ही नहीं, इन दोनों में पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता भी आरंभ हो गयी। ब्राह्मण अपने आधिपत्य के लिए प्रयत्न-शील हो उठा और क्षत्रिय अपने आधिपत्य के लिए। वैदिक कर्मकांड दिन-दिन बढ़ने लगा। यज्ञों और बलियों की धूम मचने लगी।

यही वह काल था जब राजा बेनु ने ब्राह्मणों को यज्ञ करने से वर्जित किया। राजा पुरुरवा ने ब्राह्मणों के आभूषण उतरवा लिये। राजा नहुष ने १००० ब्राह्मणों से अपनी पालकी उठवायीं।

यज्ञ और कर्मकांड के विस्तार के साथ करुणा से प्रेरित होकर भगवान महावीर ने जैन धर्म और भगवान बुद्ध ने बौद्ध धर्म का श्री गणेश किया। इन दोनों धर्म-संस्थापकों ने अहिंसा पर तो बल दिया ही, जातिपांति के भेदों का भी विरोध किया। उस समय तक जाति प्रथा का विस्तार होने लगा था।

वाल्मीकि रामायण के रचना काल में ब्राह्मण का हल जोतकर जीविका उपार्जन करना बुरा नहीं माना जाता था, परंतु महाभारत काल में ब्राह्मण

का हल जोतना 'निंद्य' कर्म माना जाने लगा था। गौतम, बोधायन और आपस्तंब संहिताओं से प्रकट होता है कि समाज में नाना प्रकार के व्यवसायों को संस्तरित कर दिया गया था। उनके अनुसार अनेक जातियाँ बना दी गयी थीं, जिनमें ऊँच-नीच का भेद-भाव आ गया था। फिर भी विभिन्न जातियों में विवाह करने की स्वतंत्रता बनी थी।

मौर्यकाल : मौर्यों के शासन काल के पूर्व शूद्रों को समाज में सबसे निम्न स्थान दिया जा चुका था। चन्द्र गुप्त मौर्य के शासनारूढ़ होने पर शूद्रों की उपेक्षा और निम्न स्थिति में परिवर्तन हुआ। उसके गुरु कौटल्य ने शूद्रों को अनेक अधिकार प्रदान किये। उनकी दासता समाप्त कर उन्हें वेदाध्ययन आदि की सुविधा प्रदान की। कौटल्य के अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि मौर्यकाल में जाति प्रथा की रूढ़िवद्धता में बहुत कमी आयी और शूद्र कही जानेवाली जातियों को ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हुआ।

अशोक अत्यन्त प्रभावशाली सम्राट् था। युद्ध में रक्त की नदियाँ प्रवाहित होते देखकर उसका हृदय करुणा से विगलित हो उठा। भगवान बुद्ध के उपदेशों ने उसे प्रभावित किया। उसने बौद्ध धर्म की शरण ली। यज्ञों में होनेवाली पशु बलि बंद करा दी। स्थान-स्थान पर 'धर्म माहात्म्य' नियुक्त कर दिये। कानून बना दिया कि न्याय की दृष्टि में सभी लोग समान माने जायँगे और अपराध करने पर सबको समान दंड दिया जायगा। ब्राह्मण को दंड न मिले और शूद्र को कठोर दंड मिले—यह भेदभाव नहीं चलेगा। अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित कर देश-विदेश में उसके व्यापक प्रचार का भी आयोजन किया।

अशोक के उपरांत मौर्य साम्राज्य जब लड़खड़ाने लगे तो अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को समाप्त कर उसका सेनापति पुष्यमित्र शुंग सिंहासनारूढ़ हुआ। इस प्रकार भारत में प्रथम बार ब्राह्मण राजसिंहासन पर आसीन हुआ। शुंग शासकों के उपरांत कण्व शासकों का शासन चला। इस प्रकार लगभग १५० वर्षों तक देश में ब्राह्मणों का शासन रहा। इस अवधि में यज्ञों और पशुवलियों की पुनः प्रतिष्ठा की गयी। मनुस्मृति, वशिष्ठस्मृति आदि की रचना की गयी। इन स्मृतियों ने शूद्रों को पुनः पददलित करने का प्रयत्न किया। अनेक वर्णसंकर जातियों को नीच एवं अस्पृश्य बताया। इन स्मृतियों का प्रभाव शताब्दियों तक भारत पर बना रहा। आज भी कुछ-न-कुछ है ही।

शक और कुषणों के शासन काल में जाति प्रथा की कठोरता कुछ कम हुई। कुषण शासकों द्वारा बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने पर उत्तर भारत में ब्राह्मणों की प्रभुता पर कुछ अंकुश लगा, परंतु दक्षिण भारत में सातवाहन शासकों ने ब्राह्मणों का वर्चस्व बनाये रखा। भारशित्र और वकाटकों ने वर्णाश्रम धर्म को विशेष रूप से प्रश्रय दिया।

गुप्तकाल : गुप्त शासन काल (३२० से ५०० ई०) में जाति प्रथा पूर्णतः विकसित और पल्लवित हुई। गुप्त शासकों ने वेदों को दैवी वाणी स्वीकार किया, ब्राह्मण को सर्वोच्च वर्ण। शुद्धता, पावित्र्य और उसके साथ-साथ अस्पृश्यता पर विशेष रूप से बल दिया जाने लगा। इस काल में 'ब्राह्मणवाद भारत का प्रजातीय धर्म बन बैठा।'[१] आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ अर्थात पूरे भारत वर्ष में वर्णाश्रम प्रधान पौराणिक हिंदू धर्म का भली-भांति विकास हुआ।

वर्धनकाल : वर्धन शासकों के राज्य काल में बौद्ध धर्म ने पुनः मस्तक उठाया। ब्राह्मणों और बौद्धों में समय-समय पर झगड़े होते रहे। इस बीच बंगाल के पल्ल, राजपूताता के गुर्जर, प्रतिहार और दक्षिण के राष्ट्र कूट अपने-अपने आधिपत्य के लिए प्रयत्नशील रहे। वर्धन साम्राज्य की समाप्ति के उपरांत जाति व्यवस्था ने समाज में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

प्राचीन युग के इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस बीच वर्ण के स्थान पर जाति व्यवस्था आ बैठी। ऊँच-नीच की भावना बढ़ती गयी। व्यवसाय और अन्य अनेक कारणों के फलस्वरूप जातियों के बंधन कठोर होते चले और अस्पृश्यता दिन-दिन पनपने लगी।

मध्यकालीन युग में भारत मुसलमानों के आक्रमण से संत्रस्त रहा। आरंभ में तो आक्रामक लूटपाट कर ही चले जाते थे, परंतु बाद में उन्होंने भारत का शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया।

मध्यकलीन युग

पठानों और मुगलों के शासन काल में जब कुछ धर्मान्ध शासक तलवार के बल से धर्म परिवर्तन कराने लगे और उन्होंने जजिया जैसे भेदमूलक कर लगाने आरंभ किये तो हिंदू जनता में भय, आतंक और असुरक्षा की भावना पनपने लगी। इस समय जैसा कि स्वाभाविक था—जातियों के नियम कठोर से कठोर बन गये। महिलाओं की सुरक्षा की दृष्टि से जौहर और सती प्रथा, पर्दा प्रथा, आदि का प्रचलन हुआ। अंतर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन किया जाने

---

१. एन० प्रसाद : दि मिथ ऑफ दि कास्ट सिस्टम पृ० ७९

लगा। मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष की भावना बढ़ने लगी, जिसके कारण उन्हें 'म्लेच्छ' की संज्ञा दे दी गयी। शकों, हूणों, कुषाणों को तो पहले हिंदू समाज ने पचा लिया था, परंतु मुसलिम शासन काल में पठानों और मुगलों आदि को पचाना संभव न रह गया था। उसकी ये सब प्रतिक्रियाएँ हो उठीं।

मुसलिम शासन काल में जाति प्रथा रूढ़ हो उठी। विवाह और खानपान के नियम कड़े हो उठे। छुआछूत और अस्पृश्यता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। लुहार, बढ़ई, जुलाहा आदि कारीगर भी नीची श्रेणी में गिने जाने लगे।

'निर्बल के बल राम!' मनुष्य को जब और कोई सहारा नहीं सूझता तो उसकी दृष्टि भगवान की ओर मुड़ती है। हिंदू समाज जब शासकों द्वारा बुरी भाँति पीड़ित किया जाने लगा तो उसका झुकाव ईश्वर, देवता और मंदिर की ओर हुआ। मूर्ति पूजा बढ़ने लगी। मंदिरों की संख्या और प्रतिष्ठा भी बढ़ने लगी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मंदिरों में संपत्ति एकत्र होने लगी। दक्षिण भारत में मंदिरों का विशेष रूप से प्राधान्य हुआ। वहाँ पर लाखों रुपये चढ़ावे के रूप में चढ़ने लगे। मूर्तिभंजक मुसलिम शासकों ने इन मंदिरों को इसलिए नहीं तोड़ा कि इनसे उन्हें लाखों रुपयों की आय होती थी। 'बड़े-बड़े नगरों और शहरों के बड़े-बड़े मंदिर प्रायः शासक के खजाने के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे।'[1]

इस बीच हिंदू समाज अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया। दक्षिण में लिंगायतों ने और उत्तर में सिखों ने इन भेदभावों का विरोध किया, परंतु उन्हें विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी।

अंग्रेजी शासन का तो सूत्र ही था—'फूट डालो और राज करो।' ईस्ट इंडिया कंपनी ने इसी घृणित नीति द्वारा धीरे-धीरे भारत के अधिकांश भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

आधुनिक युग

जाति और संप्रदाय के भेद अंग्रेजों के लिए अनुकूल ही सिद्ध हुए। ईस्ट इंडिया कंपनी ने १७६७ ई० में जाति अदालत बनायी। हिंदू धर्मग्रंथों, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि के आधार पर उन्होंने भारत के लिए कानून बनाये। मंदिरों की अकूत संपत्ति को अपनी आय का एक प्रमुख साधन बनाया।[2]

---

१ स्वामी धर्मतीर्थ: दि मिनेस ऑफ हिंदू इम्पीरियलिज्म, पृ० ६१।

२. श्रीकृष्ण दत्त भट्ट: जातिवाद और कौमवाद, १९६३, पृ० २७।

धर्म और जाति की पुरातन रूढ़ियों की पीठ ठोक कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया। कौन जाति ऊँची है, कौन नीची—इसका निर्णय करने का अधिकार अंग्रेजों ने अपने हाथ में ले लिया।' 'जाति कचहरी' का सामना करने से लोग काँपते थे। उन्हें इस बात का भय रहता था कि यदि कहीं कचहरी ने उनके विरुद्ध निर्णय दे दिया तो वे समाज में मुँह दिखने के योग्य भी नहीं रह जायँगे। अंग्रेजों ने यह मान रखा था कि जाति बहिष्कार एवं समाज बहिष्कार के भय से लोग उनकी मुट्ठी में बने रहेंगे। इस कारण अंग्रेजी शासन काल में जाति प्रथा को केवल जीवित ही नहीं रखा गया, उसे बढ़ाकर राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि का उत्तम साधन बनाया गया। शूद्रों को पंचम वर्ण या बहिष्कृत जातियाँ कहकर सन् १९३१ में जिस प्रकार हिंदूओं से पृथक् करने का प्रयत्न किया गया और महात्मा गाँधी को जिस प्रकार प्राणों की बाजी लगानी पड़ी, उससे कौन अनभिज्ञ है? आज भी अनुसूचित अथवा दलित कहकर उन्हें अलग किया जाता है।

जातियों का विस्तार

वर्ण केवल चार थे। जातियाँ बनने और बढ़ने लगीं तो हजारों की संख्या में। आज भारत में ३५०० जातियाँ हैं। केवल ब्राह्मण में २००० भेद हैं। उनमें ८०० भेद तो ऐसे हैं जिनमें परस्पर खानपान और विवाह संबंध वर्जित है। केवल सारस्वत ब्राह्मणों में ४६९ शाखाएँ हैं। क्षत्रियों में ५९० शाखाएँ हैं। वेश्यों और शूद्रों में ६०० से अधिक शाखाएँ हैं। यह बात दूसरी है कि किसी जाति के सदस्य लाखों की संख्या में होंगे, किसी के दस-बीस, पचीस-पचास। पर, इन भेदों ने समाज को हजारों टुकड़ों में विभक्त कर रखा है, यह तथ्य निर्विवाद है।

वर्गीकरण : सर आथेल्स्टेन ने ३००० से अधिक जातियों को पहले ५०० भागों में विभाजित किया, फिर मोटे-मोटे इन सात भागों में बाँटा—

१. **विशेष श्रेणी :** ब्राह्मण, राजपूत; व्यवसायी—बनिया, अग्रवाल, अरोड़ा, भाटिया, कोमटी, चेट्टी, बोहरा; लेखक—खत्री, कायस्थ, कणक्कन, करणम, वैद्य, धार्मिक, साधु-गोसाई, वैरागी, फकीर, जोगी आदि।

२ **ग्राम समाज :** जमींदार, सैनिक—जाट, गूजर, मराठा, नायर, किसान-मम्बो, मेव, कुरमी, कोइरी, लोधा, किरार, नमः शूद्र, लिंगायत, माली-बरई, काछी; पशुपाल-अहीर, ग्वाला, रबारी; कला-कौशलवाले—सुनार, बढ़ई, लुहार, कसेरा; बुननेवाले—पटवा, कोरी, जुलाहा, कोष्टा; तेली, कुम्हार;

नाई; धोबी, बिद, पासी, खेत मजूर—धानुक, बागदी, मुसहर, भर, फुलयन, महार, चमार, सादिग; दुसाध, मीना; सफाई करनेवाले—भंगी, मेहतर, चुहड़ा, भुंइमाली, डोम, हांडी, वासिय आदि।

३. **गौण पेशेवाले** : जोशी, पुजारी, बंदी, चारण, पंडारम, फुलारी, कलावंत, दासी देवाली आदि।

४. **शहरी जातियाँ** : अत्तारी, केसरवानी, गांधी, कुंजड़ा, भड़भूजा, भठियारा, हलवाई, कसाई, खटिक, मनिहार, दरजी, छीपी, रंगरेज, वेहवा, धुनिया, कलाल, भिश्ती, चाकर आदि।

५. **खानबादोष जातियाँ** : बनजारा, लबाना, गड़रिया, वेलदार, बसोर, कंजर, वहुरूपिया, भांड़, नट, बागरिया, हवूरा, मोधिया, बहेलिया आदि।

६. **पहाड़ी जातियाँ** : हो, मुंडा, भूमिज, भुइंयां, खरिया, संताल, ओरांव, गोंड़, शवर, भील, काटकरी, वादो, गारो, खासी, नागा, आहोम आदि।

७. **मुसलिम जातियाँ** : अरब, शेख, सैयद, तुर्क मुगल, पठान, बलूच, ब्राहुई, आदि।

हिंदूओं की भाँति मुसलमानों और ईसाइयों में भी जाति प्रथा का विस्तार हुआ है। जियाउद्दीन अहमद लिखते हैं—मुसलमानों के यहाँ मोटे

मुसलिम जातियाँ

तौर पर समाज के दो भाग हैं—उच्च जाति के मुसलमान और नीच जाति के मुसलमान। बंगाल में उनके दो भेद हैं—अशराफ और अजलाफ। शरीफ और बड़े लोग हैं—अशराफ। उनसे नीचे हैं अजलाफ। अशराफ में हैं—सैयद, शेख, पठान, मालिक और शाह साहेवान। अजलाफ में हैं—मोमिन, मंसूरी, रामीन, इब्राहीमी। जुलाहे, धुनिया, दर्जी, कुंजड़े चिक, धोबी और हजाम। नीची जाति के हिंदूओं से मुसलमान बने ये लोग ही समाज में बड़ी संख्या में हैं। सबसे नीचे हैं—'अरजाल', जिसका अर्थ ही है—सबसे नीच। इनमें लाल वेगी, हलाल खोर, अब्दाल आदि आते हैं। इनकी हालत जाति से निकाले लोगों की-सी है। ये लोग मसजिदों में नमाज पढ़ने नहीं जा सकते। इनके मुर्दे आम कब्रिस्तानों में गाड़े नहीं जा सकते ![१]

जनगणना में मुसलमानों को दो भागों में बाँटा गया है—

ऊँची जातियाँ—शेख सैयद और पठान।

१. जियाउद्दीन अहमद : भारत की सामाजिक संस्थाएँ, १९५८ पृ० ९५-९६

नीची जातियाँ — दर्जी, धुनिया, जुलाहा, हज्जाम, कलाल, कुंजरा और फकीर ।

ईसाई जातियाँ

ईसाइयों में भी मोटे तौर पर ६ जातियाँ हैं— चैलडियन सिरियन, जोकोबाइट सीरियन, लैटिन कैथोलिक, मार्थोन्यूट सीरियन, सीरियन कैथोलिक और प्रोटेस्टट ।

भारत में ईसाई पादरियों ने धर्म परिवर्तन का जो चक्र चलाया, एक ओर कहा कि 'प्रभु ईसू की शरण में जाने से ही मुक्ति मिलेगी' दूसरी ओर नौकरी, विवाह, पुरस्कार आदि का प्रलोभन दिया.—उसके चलते अशिक्षित और नीची जातिवाले अनेक हिंदू ईसाई बन गये । अंग्रेजी सरकार उनकी पीठ पर थी । समता और स्वतंत्रता के समर्थक गोरे ईसाई इन काले ईसाइयों के साथ भेदभाव का जो व्यवहार करते हैं, उन्हें घृणा और तिरस्कार की जिस दृष्टि से देखते हैं, उसका साक्षात् प्रमाण यह है कि इन काले ईसाइयों को गोरों के साथ उनके गिरजा घरों में बैठने नहीं दिया जाता । उन्हें वे अपने घरों में भी प्रविष्ट नहीं होने देते, न उनसे कोई घरेलू काम लेते हैं ।

ऊँच-नीच का भेद

स्पष्ट है कि हिंदू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, भारत में जाति प्रथा के अंतर्गत भेदभाव व्यापक पैमाने पर पल्लवित हुआ है । ऊँच-नीच का यह भेद सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है ।

अपने को उच्च बताकर दूसरे को निम्न बताना, उनका तिरस्कार करना, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखना एक सामान्य बात है । जाति प्रथा ने इस घृणा, द्वेष और तिरस्कार को अत्यधिक बढ़ावा दिया है । प्रति दिन हम राह चलते ऐसी अनेक कहावतों और ताने सुनते हैं जिनसे प्रकट होता है कि जाति के विषवृक्ष में कैसे विषैले फल लटक रहे हैं ।

विषैली लोकोक्तियाँ

धर्म निरपेक्षता का डंका पीटनेवाली सरकार द्वारा प्रकाशित एक लोकोक्ति कोप के उदाहरण लीजिए —

'अग्गम बुद्धि बानिया, पच्छम बुद्धी जाट ।' (पृष्ठ १३)
'अहीर से जब गुन निकले, जब बालू से घी ।' (पृष्ठ १९)
'आधी रोटी बस, कायथ है कि पस ।' (पृष्ठ २९)

'ऊजड़ में तो गूजर नाचे, ढाक देख बैरागी।
खीर देख के बामन नाचे, तन-मन होवे राजी।' (पृष्ठ ४८)
'कायथ का हतिथार कलम है।' (पृष्ठ ७४)
'चार जात गावें हरबोंग, अहीर डफाली धोबी डोम।' (पृष्ठ १२१)
'चूना और चमार कूटे पर ठीक रहता है।' (पृष्ठ १२५)
'जात के बुलाइये बराबर बिठाइये।
कम जात के बुलाइये नीचे बिठाइये।।' (पृष्ठ १४४)
जिसका बनिया यार, उसको दुश्मन की क्या दरकार?' (पृष्ठ १४९)
'डोम बनिया पोस्ती, तीनों बेइमान।' (पृष्ठ १८१)
'तुरक का के मीत, सरप से का प्रीत।' (पृष्ठ १८७)
'धान पान पनियावले, नान्ह जात लतियावले।' (पृष्ठ २१५)
'नीचेन कूटन, देवन पूजन।' (पृष्ठ २२६)
'बजाज बदजात।' (पृष्ठ २५१)
'भंगी की जात क्या, झूठे की बात क्या?' (पृष्ठ २७९)
'शराब कायथों की घुट्टी में पड़ती है।' (पृष्ठ ३३८)
'सुनार अपनी मां की नथ में से भी चुराता है।' (पृष्ठ ३७२)

अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए क्षुद्र आशयवाले व्यक्ति दूसरों में निकृष्टता का आरोपण करते हैं। ये कहावतें इसी के प्रमाण हैं। उन्होंने लोक-मानस में अपना स्थान बना रखा है। इनके रहते भेदभाव और घृणा-द्वेष कभी कम होनेवाला है?

भ्रामक धारणाएँ

अहंकार के वशीभूत होकर हम सबने 'तू नीचा है, मैं ऊँचा हूँ!'—इस प्रकार की अनेक उल्टी-सीधी झूठी धारणाएँ अपने मस्तिष्क के साँचे में ढाल रखी हैं। कुछ वर्ष पूर्व बिहार में इस प्रकार के 'स्टीरियो टाइप' का अनुसंधान किया गया था। पटना के एम० ए० के ३५ छात्रों से, स्कूल के ६० छात्रों से, २६ अध्यापकों से और सेक्रेटारियट के २८ किरानी बाबुओं से—कुल १४९ व्यक्तियों से प्रश्न करने पर यह परिणाम आया।

मापदंड: कौन जाति ऊँची मानी जाती है, कौन नीची इसके लिए बोगर्डस और लिकर्ट के पैमानों में कुछ संशोधन करके १३ जातियों की ऊँचाई-निचाई की धारणा का पता लगाया गया। सामाजिक प्रतिष्ठा ऊँचे से नीचे का क्रम इस प्रकार बना—

बोगर्डस का पैमाना	लिकर्ट का पैमाना
१. ब्राह्मण	१. ब्राह्मण
२. कायस्थ	२. कायस्थ
३. राजपूत	३. राजपूत
४. भूमिहार	४ नाई
५. कलवार	५. कलवार
६. कोरी	६. कोरी
७. कुरमी	७. अहीर
८. अहीर	८. कुरमी
९. सुनार	९. चमार
१०. नाई	१०. भूमिहार
११. चमार	११. सुनार
१२. तेली	१२. दुसाध
१३. दुसाध	१३. तेली

इन जातियों की गुण-दोष संबंधी धारणाएँ इस प्रकार निकलीं—

१. ब्राह्मण—धर्मात्मा, पोंगापंथी, शिक्षित, शांतिप्रिय, दयालु, दरिद्र लोभी।

२. कायस्थ—शिक्षित, बुद्धिमान, फैशनप्रिय, शाहखर्च, धूर्त, छली, कपटी, बेईमान।

३. राजपूत—वीर, संपन्न, शिक्षित, शक्तिशाली, घमंडी, पहलवान, उदार।

४ भूमिहार—संपन्न, धूर्त, चतुर, छली, कपटी, बुद्धिमान, शिक्षित, अविश्वसनीय।

५. कलवार—उद्योगी, संपन्न, अशिक्षित, शराबी।

६. कोरी—परिश्रमी, सरल, अशिक्षित, पिछड़ा, कायर।

७. कुरमी - परिश्रमी, पिछड़ा, दरिद्र, अशिक्षित, कृपण, गंदा, कायर, सरल, अविश्वसनीय।

८. अहीर—अशिक्षित, मूर्ख, पहलवान, चोर, बुद्धू, पिछड़ा।

९ सुनार—लोभी, बेईमान, उद्योगी, अविश्वसनीय।

१०. नाई—धूर्त, दरिद्र, बातूनी, अशिक्षित, लोभी, बुद्धिमान, छली, कपटी।

११. चमार—पिछड़ा, गंदा, दरिद्र, अशिक्षित, अछूत, शराबी, बुद्धू, ।

१२. तेली—गंदा, अपशकुन, पिछड़ा, कृपण, अशिक्षित ।

१३. दुसाध—पिछड़ा, दरिद्र, अशिक्षित, गंदा, शराबी, बुद्धू चोर ।

किसी के कहने से, किसी से सुनकर अथवा किसी के किसी व्यवहार से प्रभावित होकर हम इस प्रकार की जाति संबंधी धारणाएँ अपने मस्तिष्क में बैठा लेते हैं और जब कोई प्रसंग आता है, इसी झूठी कसौटी का हवाला देकर हम बिना सोचे-समझे जातियों को बदनाम करने लगते हैं। व्यक्ति में किसी में दोष संभव है, परंतु उसे सारी जाति पर लाद देना अन्याय नहीं तो और क्या है ?

जातियों के ऊँचाई-निचाई के पैमाने के कारण नीचे स्तर वाली जातियाँ समय-समय पर अपना सिर उठाती रही हैं—और नीचे से ऊपर उठने का प्रयत्न करती रही हैं। विश्वामित्र का 'ब्रह्मर्षि' बनने का प्रयत्न तो पौराणिक प्रसंग है, आधुनिक युग में भी अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ जातियाँ ऊपर उठी हैं और जहाँ और नीचे गिरी हैं। किसी के घर जाकर उसके हाथ का भोजन न करना, छुआ हुआ पानी न पीना, गले में कंठी धारण कर तिलक और भस्म आदि लगा लेना—आदि श्रेष्ठता या उच्चता का परिचायक है, तो हम भी ऐसा क्यों न करें। इस प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर अनेक छोटी कही जानेवाली जातियाँ ऐसा व्यवहार और आचरण करके अपने को श्रेष्ठ बताने लगीं।

जातियों में परिवर्तन

क्षिति मोहन सेन ने ('भारतवर्ष में जाति भेद' में) लिखा है कि 'बंगाल के युगी' या नाथ लोग पहले तो वेद-स्मृति-शासित हिंदू ही नहीं थे। मध्ययुग में इनमें से अनेक मुसलमान बना लिये गये। इनमें बहुत से जुलाहे थे। इनमें कुछ लोग पौरोहित्य का कार्य करने लगे और जनेऊ पहने लगे। टिपरा जिले के कृष्णचन्द्र लाल ने यज्ञोपवीत धारण करने का आंदोलन ही चला दिया। लोकोक्ति बन गयी कि 'जुगी के पास जनेऊ था ही कब ? उसे तो कृष्णचन्द्र लाल ने जनेऊ पहनाया। अब इनमें से कितने ही बाहर जाकर पंडित, शर्मा, उपाध्याय बनकर बाकायदा ब्राह्मण कहलाने लगे हैं।'

जुलाहे से उपाध्याय

'कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ दि पंजाब' में बताया गया है कि पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों के अनेक राजपूत परिवार पहले ब्राह्मण थे। क्रुक ने ('ट्राइब्स

ब्राह्मण से डोम

एण्ड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्ट प्राविंस एण्ड अवध' में) लिखा है कि डोमों के आदि पुरुष ब्राह्मण थे। सब के कल्याणार्थ वे मृत गौ उठाने गये और अपनी जाति दे बैठे। बेंग नामक ओझा पहले अनार्य थे, बाद में ब्राह्मण बन गये। थर्सटन ('कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ सदर्न इंडिया' में) लिखते हैं कि मत्ति पहले योगार या कैवर्त थे, बाद में एक संन्यासी की कृपा से ब्राह्मण बन गये। हट्टन ('कास्ट्स इन इंडिया' में) लिखते हैं कि असम के ब्रिशियल बनिया मूल में डोम थे। नर्मदेश्वर प्रसाद ('दि मिथ आफ दि कास्ट सिस्टम' में) लिखते हैं कि सामाजिक प्रतिष्ठा में ब्राह्मणों के बाद आज कायस्थों का ही स्थान है। उनकी माथुर और निगम उपजातियाँ तो अपने को ब्राह्मण मानती हैं। परंतु १८वीं शताब्दी में उनकी गणना शूद्रों में की जाती थी।

आर्थिक उन्नति से भी जाति की प्रतिष्ठा ऊँची होती है। फारसी में एक शेर है—

> पेशईं कस्साब बूदेम, बाद ज़ आं गश्तम शेख।
> ग़ल्ला चूं अर्जांशवद, इम्साल सैय्यद शूयेम॥

कसाई से सैय्यद

'पहले साल मैं कसाई था, दूसरे साल शेख बन गया। यदि इस साल गल्ले का दाम चढ़ा तो मैं सैय्यद बन जाऊँगा।'

जन गणना में प्रति दस वर्ष में जातियों की प्रगति देखने में मिलती है। १९२१ में जो अपने को पंचाल बढ़ई लिखाते थे, वे १९३१ में 'विश्वकर्मा ब्राह्मण' लिखाने लगे। चमार 'गहलौत राजपूत' बन गये, नाई 'नाई ब्राह्मण' ग्वाला 'चंद्रवंशी यादव क्षत्रिय'। जातियों का यह प्रगति अभियान चालू है।

जाति प्रथा के गुण-दोष

हिंदू समाज ने आरंभ में श्रम विभाजन की दृष्टि से ४ वर्णों की पद्धति प्रचलित की। कालांतर में उसने जातियों का रूप धारण कर लिया। क्रमशः गुणों ने दोषों का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

महात्मा गाँधी वर्ण व्यवस्था में विश्वास करते थे पर जाति-पांति और छुआछूत में लेशमात्र भी नहीं। उनका कहना था कि 'वर्ण की रचना पीढ़ी दर पीढ़ी के धंधों की बुनियाद पर हुई है। मनुष्य के चार धंधे सार्वत्रिक हैं। वे हैं—विद्यादान करना, दुःखी को बचाना, खेती तथा व्यापार और

श्रम द्वारा शारीरिक सेवा। इन्हीं को चलाने के लिए चार वर्ण बनाये गये हैं। ये धंधे सारी मानव जाति के लिए समान हैं, पर हिंदू धर्म में उन्हें जीवन धर्म करार देकर उनका उपयोग समाज के संबंधों और आचार-व्यवहार को नियमन में लाने के लिए किया है। गुरुत्वाकर्षण के कानून को हम जानें या न जानें, उसका प्रभाव तो हम सभी पर होता ही है। किंतु वैज्ञानिकों ने उसके भीतर से ऐसी बातें निकाली हैं, जो संसार को चौंकानेवाली हैं। इसी प्रकार से हिंदू धर्म ने वर्ण धर्म की तलाश करके और उसका प्रयोग करके संसार को चौंकाया है। जब हिंदू अज्ञान के शिकार हो गये, तब वर्ण के अनुचित उपयोग के कारण अनगिनत जातियाँ बनीं और रोटी-बेटी-व्यवहार के अनावश्यक और हानिकारक बंधन पैदा हो गये। जात-पांत के विषय में मैंने बहुत बार कहा है कि आज के अर्थ में मैं जात-पांत को नहीं मानता। यह समाज का 'फालतू अंग' है और उन्नति के मार्ग में रुकावट जैसा है। हम सब पूरी तरह बराबर हैं। आदमी-आदमी के बीच ऊँच-नीच का भेद मैं नहीं मानता। कोई भी मनुष्य अपने को दूसरे से ऊँचा मानता है तो वह ईश्वर और मनुष्य दोनों के सामने पाप करता है।'[1]

जाति प्रथा को भारतीय समाज की प्रयोगशाला का एक प्रयोग बताते हुए गांधीजी कहते हैं कि 'इस प्रयोग का उद्देश्य समाज के विविध वर्गों का पारस्परिक अनुकूलन और संयोजन था। आर्थिक दृष्टि से जाति प्रथा का किसी समय बहुत मूल्य था। उसके फलस्वरूप नयी

सामाजिक प्रयोग

पीढ़ियों को उनके परिवारों में चले आये परंपरागत कला-कौशल की शिक्षा सहज ही मिल जाती थी और स्पर्धा का क्षेत्र सीमित बनता था। गरीबी और कंगाली से होनेवाले कष्ट को दूर करने का यह एक उत्तम इलाज थी। पश्चिम में प्रचलित व्यापारियों के संघों की संस्था के सारे लाभ उसमें भी मिलते थे।'[2]

अस्पृश्यता और जातिप्रथा का संबंध बताते हुए गांधीजी कहते हैं कि 'अस्पृश्यता जाति व्यवस्था की उपज नहीं है, बल्कि उस ऊँच-नीच भेद की भावना का परिणाम है जो हिंदू धर्म में घुस कर उसे भीतर-ही-भीतर कुतर रही है। अस्पृश्यता के विरुद्ध हमारा आक्रमण इस ऊँच-नीच की

---

१. मोहनदास करमचंद गांधी : वर्ण व्यवस्था, १९५९, पृ० ४९-५०

२. मो० क० गांधी : यंग इंडिया, ५ जनवरी, १९२१

भावना के विरूद्ध ही है। ज्यों ही अस्पृश्यता मिट जायेगी, जाति व्यवस्था स्वयं शुद्ध हो जायेगी।"[१]

जाति के कार्य और लाभ

जातिप्रथा का दीर्घकालीन इतिहास बताता है कि वह हिंदू समाज व्यवस्था का एक प्रमुख आधार रही है। उसकी शताब्दियों की परंपरा हिंदू समाज में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि उसे पूर्णतः निकाल फेकना अत्यंत कठिन हो गया है। कोई भी संस्था अथवा संगठन इतने दीर्घ काल तक तभी टिक सकता है, जब उसमें कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। आज जाति प्रथा का स्वरूप विकृत हो उठा है, अतः उसकी समाप्ति के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है, परंतु प्राचीन काल में उसमें कुछ गुण रहे हैं, इसी से वह इतना टिक सकी।

सामाजिक एकीभाव : जाति प्रथा में विभिन्न समुदायों को एकता के सूत्र में बाँधने की अद्भुत क्षमता रही है। हट्टन ने तो इस गुण को जाति प्रथा का सर्वोत्तम गुण बताया है। वह कहता है कि 'भारतीय समाज को अखंड बनाना और विभिन्न प्रतिद्वंद्वी समूहों को एक समुदाय में जोड़ना—ये ऐसे गुण हैं जिनके चलते जाति प्रथा एक अद्वितीय संस्था बन जाती है।'[२] शक हों या हूण, कबीर पंथी हों या राधास्वामी, आर्यसमाजी हों या सनातन धर्मी, कोल हों या भील, गोंड हों या संथाल—सभी व्यावहारिक रूप से हिंदू समाज के अंतर्गत समाविष्ट हैं। आस्तिक हों या नास्तिक, शैव हों या वैष्णव, सभी हिंदू समाज के अंग माने जाते हैं। अपनी विभिन्न परंपराओं को सुरक्षित रखते हुए भी वे एक विशाल समुदाय के ही अंग समझे जाते हैं।

सामाजिक सुरक्षा : आपत्ति-विपत्ति में, आर्थिक संकट में, वृद्धावस्था आदि में जाति अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करती रही है। जाति के सदस्यों की सर्वांगीण उन्नति के लिए वह प्रयत्नशील रहती है।

परंपरागत कला-कौशल : प्रत्येक उद्योग-व्यवसाय, कला-कौशल का अपना रहस्य होता है। जाति के सदस्य इन रहस्यों का अपनी परंपरा से ज्ञान प्राप्त करते हैं। बचपन से ही वे अपने जातिगत उद्योग में निपुणता

---

१. मो० क० गांधी : अंग्रेजी 'हरिजन', ११ फरवरी, १९३३

२. हट्टन : कास्ट इन इंडिया, पृ० ११९।

प्राप्त करने लगते हैं। उसके लिए उन्हें अन्यत्र शिक्षण के लिए नहीं जाना पड़ता।

सामाजिक नियंत्रण : जाति अपने सदस्यों पर अपनी पंचायत, समाज अथवा संगठन द्वारा नियंत्रण रखती है और निषिद्ध कार्यों से रोककर सत्पथ पर चलाने का प्रयत्न करती है। रक्त की शुद्धता, अंतर्विवाह, सदाचार आदि पर बल देती है। वह अपने संगठन द्वारा धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्य भी करती है।

जाति प्रथा में कुछ गुण रहे हैं, परंतु कालक्रम से उसमें जो दोष आ गये, उन्होंने जाति प्रथा का स्वरूप इतना विकृत बना दिया कि उससे पूर्णतः मुक्ति ले लेना ही आज समीचीन प्रतीत होता है। जाति प्रथा के मोटे-मोटे दोष ये हैं —

जाति प्रथा के दोष

सामाजिक असमानता : ऊँच-नीच की और छूआछूत की भावना का जाति प्रथा ने इतना व्यापक विस्तार किया है कि निम्न कहीं जानेवाली जातियों का जीवन नरकमय हो उठा है। मनुष्य अपने ही जैसे दूसरे मनुष्य को अपमानित और तिरस्कृत करता है, केवल इसलिए कि उसे 'निम्न' गिनी जानेवाली जाति में जन्म मिल गया है। इन लोगों के प्रति साधारण मानवोचित व्यवहार की तो बात ही क्या, पशुओं से भी गया-गुजरा व्यवहार किया जाता है। उन्हें स्पर्श करने की तो कौन कहे, उनकी छांह तक से बराव किया जाता है। यह सामाजिक असमानता हिंदू समाज के लिए कलंक बन गयी है।

महिलाओं की उपेक्षा : यों 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' जैसी बातें मनुस्मृति आदि में कही गयी हैं, तथापि स्त्रियों को तदनुकूल आदर-सम्मान नहीं दिया गया। जाति प्रथा के कारण महिलाओं को मध्यकालीन युग में दासी की स्थिति प्रदान कर दी गयी। पर्दा, अशिक्षा, उपेक्षा, तिरस्कार और कुरीतियों के चलते उनकी स्थिति अत्यंत दयनीय होती गयी। स्वतंत्र भारत में और उसके पूर्व महात्मा गांधी की कृपा से नारी को उसका सम्माननीय पद देने का प्रयत्न चालू है। पुरुष वर्ग द्वारा उसे नाना प्रकार के अधिकारों से वंचित करके रखा गया है। उससे उसमें हीनता की भी भावना आ गयी थी।

श्रम का तिरस्कार : जाति प्रथा ने शूद्रों पर सेवा का भार लाद कर उच्च कही जानेवाली जातियों को श्रम मुक्त कर दिया। हाथ से श्रम करना नीची जातियों का, ओछा काम माना जाने लगा। इसके कारण

समाज में श्रम की प्रतिष्ठा घटी और समाज में 'हजूर' और 'मजूर' जैसे दो वर्ग बन गये—एक रात-दिन जी तोड़ परिश्रम करनेवाला और दूसरा हाथ-पर-हाथ रखे श्रमिक वर्ग की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाला।

प्रगति में वाधा : जाति प्रथा जहाँ उच्च जाति के लोगों को अकर्मण्य एवं निष्क्रिय बनाने लगी, वहाँ वह प्रगति में भी वाधक बन गयी। देश-विदेश में जाकर कुछ कार्य या व्यापार करने में, आर्थिक विकास में, नये आविष्कारों आदि में भी उसने अनेक वाधाएँ उपस्थिति कीं।

राष्ट्रीय एकता में वाधा : साढ़े तीन हजार जातियों के बाड़े हैं जो परस्पर मिलने में वाधक सिद्ध होते हैं। सब अपने निजी स्वार्थ को प्राथमिकता देते हैं, दूसरों के हित की ओर उनका ध्यान ही नहीं रहता। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता का विकास संभव ही कैसे हो सकता है ?

प्रजातंत्र पर प्रहार : स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र की स्थापना यह मानकर की गयी कि इस माध्यम द्वारा न्याय समता, स्वतंत्रता और बंधुता के आधार पर प्रजा अपना सर्वांगीण विकास कर सकेगी। परंतु जाति प्रथा ने प्रजातंत्र के मूल पर ही कुठाराघात आरंभ कर दिया है। प्रजातंत्र का प्रमुख साधन है—चुनाव। लोक प्रतिनिधि ही प्रजा पर शासन करते हैं। कोई भी वयस्क चुनाव में खड़ा होकर विधान सभा और संसद आदि में प्रवेश कर जनता के हित में विधि-विधान बनवा सकता है। सामान्य व्यक्ति भी राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री जैसे पदों पर प्रतिष्ठित होकर प्रजा की भावनाओं को मुखरित कर सकता है। इस पद्धति का मूल उद्देश्य यही था कि योग्यतम व्यक्ति जनता के प्रतिनिधि रूप में चुने जायें। परंतु आज होता क्या है ? निष्पक्ष चुनाव के लिए निर्दिष्ट चुनाव की यह पद्धति जातिवाद का सबसे प्रबल साधन बन बैठी है। लोग चुनाव के प्रत्याशी की निष्पक्षता, योग्यता और ईमानदारी पर कोई ध्यान न देकर अपनी जाति के व्यक्ति को वोट डाल आते हैं। जयप्रकाश नारायण जैसे तटस्थ लोगों ने यह मत व्यक्त किया है कि चुनावों ने जातिवाद को इतना अधिक प्रोत्साहन दिया है कि निष्पक्ष और ईमानदार व्यक्तियों के लिए जीत कर आना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो गया है। चुनावों ने जातिवाद को अत्यधिक वल प्रदान किया है। लोग आँख मूंदकर अपनी जातिवाले व्यक्ति को वोट डाल आते हैं। उसके गुण-दोषों पर कोई विचार नहीं करते। यदि यही स्थिति वनी रही तो प्रजातंत्र का भविष्य अंधकारमय है।

जाति प्रथा ने आज जो विकृत रूप धारण कर लिया है, उसमें जाति प्रथा के ये सभी दोष मूर्तिमान हो रहे हैं। यदि इस स्थिति को समय रहते सुधारा न गया तो राष्ट्रीय एकता तो छिन्न-भिन्न होगी ही, न्याय और औचित्य का कहीं नाम न रह जायेगा। सर्वत्र भाई-भतीजावाद, जातिवाद, पक्षपात का ही प्राधान्य होगा। उसका अवश्यम्भावी परिणाम यही होगा कि भारत ने इतना खून-पसीना बहाकर जो स्वतंत्रता प्राप्त की है, वह फूट, वैमनस्य एवं जातिवाद की वेदी पर बलिदान हो जायेगी।

जातिवाद का विकृत रूप

जाति से उत्पन्न जातिवाद आज देश के कोने-कोने में व्याप्त हो रहा है। लोग अपनी-अपनी जाति को ऊपर उठाने के लिए और दूसरी जातियों को नीचे गिराने के लिए आकाश-पाताल एक कर रहे हैं। मेरी जातिवाले चुनाव में सबसे अधिक चुने जायँ शासन-सत्ता हमारे हाथ में आ जाय, फिर हम चाहे जो करें—यही सपना सभी लोग देखते हैं। आज जाति के नाम पर गलत-से-गलत काम किये जाते हैं। जाति के नाम पर अंधाधुंध पक्षपात किया जाता है। भारी-से-भारी अपराधों पर पर्दा डाल दिया जाता है। नौकरी, व्यवसाय, उद्योग-धंधा जिधर देखिये जातिवाद का विकृत रूप स्पष्ट दीख पड़ेगा। सारा देश जातिवाद का क्षेत्र बन रहा है और सर्वत्र उसी का प्रभाव बढ़ता दिखाई पड़ रहा है।

जाति बंधन में शैथिल्य

समय की गति के अनुसार जातियों के बंधन क्रमशः ढीले पड़ते जा रहे हैं। बंगाल में एक कहावत है—

'जात मारलो तीन सेने। स्टेसेने विल्सेने केशव सेने!'

'तीन सेनों ने जाति समाप्त कर दी—स्टेशेन ने, विल्सन ने और केशव सेन ने!'

स्टेशैन का अर्थ है—रेलवे स्टेशन। विल्सन था एक बड़ा होटलवाला। केशव सेन थे ब्रह्म समाज के नेता।

इस कहावत में बहुत सार है। रेल, मोटर, अस्पताल, होटल, क्लब, सिनेमा; अंग्रेजी शिक्षा और विदेशी सभ्यता; प्रेस, अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, कल-कारखाने, नगर तथा समाज सुधारक संस्थाएँ—अपने-अपने ढंग पर जाति प्रथा के मूल पर ऊँच-नीच और छूआछूत की भावना पर कुठाराघात करती आयी हैं। क़ानून-कचहरी, न्याय की दृष्टि में समानता आदि के कारण

भी जाति के बंधन कुछ ढीले पड़े हैं। गाँव के संकुचित दायरे से निकल कर मनुष्य जब दूर नगरों के भीड़ संकुल वातावरण में रहने को विवश होता है तो उसके जात-पाँत के कठोर बंधन स्वतः शिथिल हो जाते हैं।

जाति बंधनों के संबंध में की गयी शोधों से स्पष्ट है कि गावों में जाति-धर्म आज भी कठोरता से लागू है। ब्राह्मण का आदर, चमारों, धोबियों तथा अन्य निम्न मानी जानेवाली जातियों पर दूसरों का दबाव रहता है और पुरानी मर्यादाएँ कायम हैं। नीची जातिवाले ऊँची जाति-वाले के सामने न तो कुर्सी पर बैठ सकते हैं, न छाता लगा सकते हैं। छूआ-छूत बनी है। जाति की पंचायतें कठोरता से अब भी अपने विधि-निषेधों का पालन कराती हैं। पर नगरों में ऐसा नहीं है। रेलवे के रनिंग रूम में—ड्राइवर, फायरमैन, खलासी—सभी भोजन कर सकते हैं, फिर वे किसी जाति के क्यों न हो। वहाँ भोजन करने वाला ब्राह्मण इस बात की चिंता नहीं करता कि उसके पहले किसी चमार या मेहतर ने उसी थाली में खाना खाया था जिसमें वह खा रहा है। नगरों में न जाति धर्म चलता है, न जाति भोज। चमार या धोबी तभी किसी ऊँची जातिवाले का आदर करता है जब वह उसके कारखाने में उससे ऊँचे दर्जे पर काम करता है। कुलीनता का घमंड कम हो रहा है। छूआछूत मिट रही है। जातिगत व्यवसाय छूट रहे हैं। परंतु जाति का एक बहुत बड़ा लक्षण है—विवाह। जाति के अंदर ही विवाह की यह प्रथा नगरवासी भी उसी कड़ाई से पालन करते हैं—जिस प्रकार गाँववाला। इक्के-दुक्के पैसेवालों की बात दूसरी है।[१]

दक्षिण में वीर शैवों ने, लिंगायतों ने जाति विरोधी आंदोलन चलाया। ऊँच-नीच का भेद मिटाने के लिए ब्राह्मणों और चंडालों के बीच विवाह चलाया, पर कुछ दिनों में इन लिंगायतों की ही अपनी एक जाति बन गयी। दक्षिण से वैष्णव आंदोलन उत्तर की ओर बढ़ा। संतों की इस परंपरा 'हरि को भजे सो हरि का होय' कहकर ऊँच-नीच की भावना को अच्छा धक्का लगाया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, राम-कृष्ण मिशन, जात-पाँत तोड़क मंडल आदि ने इस दिशा में अच्छा काम किया।

जाति विरोधी आंदोलन

१. श्री कृष्ण दत्त भट्ट: जातिवाद और कौमवाद, पृ० ४२-४४; ५४-५८।

सत्याग्रह आंदोलन ने जाति प्रथा पर सर्वाधिक प्रहार किया। आज भूदान का जो देशव्यापी आंदोलन चल रहा है, उसका श्री गणेश हरिजनों की आर्थिक समस्या से ही आरंभ हुआ। जाति के सामाजिक बंधनों को ढीला करने में उसका भी बहुत बड़ा हाथ है। हरिजन सेवक संघ, आदिम जाति सेवक संघ जैसी संस्थाएँ भी इस दिशा में सराहनीय कार्य कर रही हैं।

जनवरी, १९२८ में मोरवी में वहाँ के राजा तथा वहाँ की मोढ़ जाति की ओर से महात्मा गाँधी का स्वागत किया गया था तो महात्मा गाँधी ने कहा था—"मेरा यह दृढ़ मत है कि जातियों के छोटे-छोटे बाड़ों का नाश करना ही चाहिए। मुझे इस बात में लेशमात्र भी संदेह नहीं कि हिंदू धर्म के अंतर्गत जातियों के लिए स्थान नहीं है। जाति के ये बाड़े भूल जाइये। इन छोटे बाड़ों के खड्डों में पड़े रहेंगे तो बदबू ही उठेगी। जाति के ये बाड़े मनुष्य के लिए घातक हैं। उदार भाव से देखेंगे तो जान पड़ेगा कि ये जातियाँ उन्नति को, धर्म को, स्वराज्य को और रामराज्य को—जिसे मैं रट रहा हूँ, उस राम राज्य को रोकने वाली हैं।"

जाति-विरोधी कारक

जातियों के ये असंख्य बाड़े जबतक टूटेंगे नहीं, तबतक न तो प्रजातंत्र के मूल सिद्धांत—न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुता का विकास होगा, न राष्ट्रीय एकता ही स्थापित हो सकेगी। तबतक न तो राष्ट्र का विघटन रुकेगा और न जातिवाद और अस्पृश्यता मिट सकेगी।

जातियों के दूषित विष को रोकने में अभी तक इन कारकों ने सहायता की है—

१. सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन
२. ज्ञान और विज्ञान की प्रगति
३ औद्योगीकरण और नागरीकरण
४. यातायात, आवागमन के साधनों में वृद्धि
५. देशी राज्यों की समाप्ति
६, स्वतंत्रता का उदय
७. महात्मा गांधी का प्रयास
८. कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों का प्रयास
९. पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार

१०. धन की महत्ता का प्रभाव

११. न्यायव्यवस्था का प्रभाव

सुधार आंदोलन : ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, जात-पांत तोड़क मंडल जैसी समाज सेवी संस्थाओं ने और अनेक संतों तथा समाज सुधारकों ने जातीय भेद-भाव और ऊँचाई-निचाई के विरुद्ध समय-समय पर जो आंदोलन चलाये, उन्होंने जाति की कट्टरता में बहुत कमी ला दी है। भारत जैसे धर्म प्रवण देश में धार्मिक नेताओं की बात सर्वाधिक प्रभाव डालती रही है। आज भी वैसी ही स्थिति है।

ज्ञान-विज्ञान : ज्ञान और विज्ञान का क्रमश: जो प्रसार हो रहा है, उसका भी अच्छा प्रभाव पड़ा है। ज्ञान से मनुष्य को भेद-भाव की निस्सारता का पता चलता है। विज्ञान की प्रगति जो पृथ्वी से चंद्रलोक तक जा पहुँची है, उसके कारण अनेक प्राचीन विश्वास उखड़ रहे हैं। विज्ञान ने रक्त शुद्धि, आनुवंशिकता, खान-पान आदि के संबंध में जो शोधें की हैं, उनका भी प्रभाव पड़ रहा है। जल, कल, औषधि, अस्पताल का प्रभाव प्रत्यक्ष है।

औद्योगीकरण : औद्योगीकरण के विस्तार और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के परिवर्तन से नागरीकरण को बल मिला है। नगरों में आवास की कमी, ग्राम से भिन्न वातावरण और नारी शिक्षा के प्रसार के कारण प्राचीन रुढ़ियाँ स्वत: टूटती चलती हैं। कल-कारखानों में एक साथ काम करने से, होटलों आदि में साथ-साथ खाने-पीने, जलपान करने आदि से छुआछूत और भेद-भाव में बहुत कमी आयी है।

आवागमन में वृद्धि : यातायात के, आवागमन के, संदेशवाहन के साधन दिन-दिन बढ़ते चल रहे हैं। यात्रा और साथ-साथ काम करने के कारण स्थान की दूरी भी कम होती है, संकोच की दूरी भी कम होती है।

रियासतों का अंत : भारत की स्वतंत्रता के पूर्व देश में कई सौ देशी रियासतें थीं। उनमें प्राचीन रुढ़ियों का प्रचलन था। देश के स्वतंत्र होने के उपरांत देशी राज्यों का विलयन हो गया। उनका पार्थक्य समाप्त होने का वहाँ की जातिगत रुढ़ियों पर भी प्रभाव पड़ा है।

भारतीय संविधान : भारतीय स्वतंत्रता के फलस्वरूप देश में नवीन संविधान बना है। उसने जातिगत भेद-भावों और अस्पृश्यता को मिटाने के लिए स्पष्ट नियम बना दिये हैं।

गाँधीजी का प्रयास : महात्मा गांधी जब बालक थे तभी से जातिप्रथा

और अस्पृश्यता उन्हें खटकने लगी थी। १९२०-२१ में जब उन्होंने राष्ट्र का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और स्वतंत्रता आंदोलन छेड़ा तो अस्पृश्यता निवारण और साम्प्रदायिक एकता को उन्होंने सर्वाधिक प्राथमिकता दी। अस्पृश्यता के संबंध में उन्होंने कहा कि 'यदि हम भारत की जनसंख्या के पंचमांश को स्थायी दासता की स्थिति में रखना चाहते हैं और उन्हें जान-बूझकर राष्ट्रीय संस्कृति के फलों से वंचित करना चाहते हैं, तो 'स्वराज्य' एक अर्थहीन शब्द मात्र होगा। आत्मशुद्धि के इस महान आंदोलन में तो हम भगवान की सहायता की आकांक्षा रखते हैं, किंतु उसकी प्रजा के सर्वाधिक सुपात्र अंश को हम मानवता के अधिकारों से वंचित रखते हैं। यदि हम स्वयं मानवीय दया से शून्य हैं तो उसके सिंहासन के निकट दूसरों की निष्ठुरता से मुक्ति पाने की याचना हम नहीं कर सकते।'[१]

हरिजनों को ऊपर उठाने के लिए, उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए, उनकी आर्थिक उन्नति के लिए प्राणों की बाजी लगाकर महात्मा गांधीजी ने जो प्रयास किये, वे किससे छिपे हैं।

राजनीतिक दल : कांग्रेस तथा अन्य कई राजनीतिक दलों ने जाति भेद कम करने के लिए जो प्रयत्न किये हैं, उनका देशव्यापी प्रभाव पड़ा है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जो रचनात्मक आंदोलन चलाये उनमें हरिजन आंदोलन का विशिष्ट स्थान है। साम्यवादी दल, समाजवादी दल ने भी इस दिशा में अच्छा काम किया है। आज २०-२२ वर्ष से भूदान आंदोलन इसमें अपना पूरी शक्ति लगा रहा है।

पाश्चात्य सभ्यता : अंग्रेज भारत में आये तो अपने साथ पाश्चात्य सभ्यता भी लाये। उन्होंने भारत में 'रंग-रूप से काले पर आचार-विचार में गोरे' दुभाषियों की पलटन खड़ी करने के लिए मेकाले की शिक्षा-पद्धति आरंभ कर दी। उसने भारतीय संस्कृति और उसके पुरातन मूल्यों पर तो ठोकर लगायी ही, जाति-पाँति की विषमता और भेद-भाव को कम करने में भी कुछ सहायता की।

धन की महत्ता : इधर कुछ समय से भारत में धन की महत्ता सर्वोपरि होती चल रही है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' का वेदकालीन आदर्श समाप्त होता जा रहा है। धन-संपत्ति, वैभव और विलास का महत्व बढ़ता जा रहा है। देश के जिन कर्णधारों ने त्याग और तपस्या का वरण कर नाना प्रकार

---

१. मो० क० गाँधी : यंग इंडिया, २१ मई, १९२१

के कष्ट झेले थे, उन्होंने भी जब वैभव और विलास का मार्ग अपना लिया तो देश में धन का महत्त्व बढ़ना स्वाभाविक था। आज धन की इस महत्ता का कुपरिणाम यह है कि पैसे के आगे सारे नैतिक मूल्य फीके पड़ गये हैं। धन की महत्ता बढ़ जाने से जाति की महत्ता कम हुई है। जिन्हें नीची जाति का माना जाता है, वे यदि किसी भी प्रकार से धनवान बन जाते हैं तो बड़े-बड़े कुलीन जातिवाले भी उनका आदर करने लगते हैं। सर्वे गुणा: कांचनमाश्रयंते' की स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

न्याय व्यवस्था : ब्रिटिश शासन काल से न्याय की दृष्टि में समानता का जो सिद्धांत लागू किया गया, उसने जातिगत विषमताओं को कम करने में सहायता की है। 'जाति निर्योग्यताएँ निमूर्लन कानून', 'अंतर्जातीय विवाह कानून', 'हिंदू विवाह कानून', 'अस्पृश्यता निवारण कानून' आदि उसके उत्तम उदाहरण हैं।

जाति विरोधी ये कारक जाति प्रथा के दोषों को मिटाने में बहुत सहायक हुए हैं। परंतु इधर जातिवाद का जो स्वरूप उभड़ता चल रहा है, उसका यदि पूरी शक्ति से विरोध नहीं किया जायगा तो जातिवाद भारत के सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण बन बैठेगा।

जातिवाद के परिणाम

जातिवाद के परिणामस्वरूप पक्षपात और भ्रष्टाचार अपनी पूरी सेना के साथ आक्रमण करता है। योग्यता, क्षमता, शिक्षा आदि एक ओर रखी रहती है और केवल जातिवाद के आधार पर नीचे से ऊँचे पदों तक नियुक्तियाँ होती हैं, सहायताएँ दी जाती हैं और नाना प्रकार से आर्थिक तथा अन्य लाभ पहुँचाये जाते हैं। जातिवाद से संविधान की अवहेलना होती है तथा प्रजातंत्र और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ती है।

निवारण के उपाय

जातिवाद और अस्पृश्यता का जबतक पूर्णत: उन्मूलन नहीं किया जायगा, तबतक देश का उद्धार होनेवाला नहीं है। इसके निवारण के लिए जाति विरोधी कारकों की प्रमुख और उपयोगी बातों का सदुपयोग करना चाहिए जैसे—

१. सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों पर बल दिया जाय। देश के सभी राजनीतिक दल इसमें अपनी पूरी शक्ति लगायें। समाज-सुधारक,

सेवाभावी संस्थाएँ और नेता लोग इस ठोस रचनात्मक कार्य को आगे बढ़ाने में कोई बात उठा न रखें।

२. सामाजिक असमानता और स्तरीकरण को दूर करने के लिए शिक्षण पद्धति में सुधार किया जाय। पाठ्यक्रम में ऐसी कोई बात न रखी जाय जिससे जातिगत भावना, जातिगत द्वेष और घृणा को किसी प्रकार की भी उत्तेजना मिले। स्कूलों में, उच्च पाठशालाओं में, विश्वविद्यालयों में—सर्वत्र इस प्रकार की शिक्षण पद्धति व्यवहार में लायी जाय जिसके फलस्वरूप बालकों में जातिवाद और श्रेष्ठता या नीचता की कोई भावना विकसित न हो सके।

३. संविधान में तो इस कलंक को दूर करने का प्रयत्न है ही, ऐसे अन्य कानून भी बना देने चाहिए जिनसे जाति-प्रथा और जातिवाद को पनपने का अवसर न मिल सके।

४. फिल्मों, चलचित्रों, नाटकों आदि के माध्यम से जाति और जातिवाद विरोधी प्रचार को प्रोत्साहन दिया जाय।

५. विभिन्न जातियों के बीच समानता और निकटता लाने के उद्देश्य से समय-समय पर ऐसे प्रीतिभोजों और सामाजिक सम्मेलनों का आयोजन करना चाहिए जिनमें सभी लोग बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित हों।

६. विभिन्न जातियों के बीच अंतर्जातीय विवाहों को भरपूर प्रोत्साहन दिया जाय।

७. जाति के आधार पर नहीं, योग्यता और पात्रता के आधार पर पद और नौकरियाँ, सुख और सुविधाएँ दी जायँ।

८. जातिगत पक्षपात करनेवाले व्यक्तियों, अधिकारियों और संस्थाओं को समुचित दंड दिया जाय।

९. मानव मात्र समान हैं, कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं—इस भावना के विस्तार के लिए आवश्यक शिक्षण और प्रचार की व्यवस्था की जाय।

१०. समाज सुधारक, विचारक, प्रचारक, लेखक, पत्रकार, अधिकारी तथा अन्य ऐसे लोग जिनके हाथ में जनमत मोड़ने के साधन रहते हैं, अपनी शक्ति इस दिशा में मोड़ें। वे जातिवाद का केवल मौखिक या लेखनी से ही प्रचार करके न रह जायँ, उसे जीवन में भी चरितार्थ करके दिखायें।

११. चुनावों में जातिवाद को समाप्त करने के लिए चुनाव अधिकारियों को समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। जातिगत उपाधियों को, अल्लों को

निकाल देने के साथ-साथ ऐसा भी प्रयत्न करना चाहिए जिससे मतदाताओं की प्रत्याशियों को जाति के आधार पर मत देने की प्रवृत्ति को बल न मिले। उम्मीदवारों की योग्यता, ईमानदारी, त्याग और सेवावृत्ति की कसौटी ही उनके समक्ष रहे।

संयुक्त प्रयत्न आवश्यक

जातिवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें उखाड़ फेंकना कठिन कार्य है। परंतु समाज को विघटन से बचाना है तो इस कठिन कार्य को हाथ में लेना ही पड़ेगा। सरकार और जनता, समाज सुधारक और सेवाभावी संस्थाएँ, विचारक और अधिकारी यदि मिलकर प्रयत्न करें, सभी राजनीतिक दल इसमें हाथ बँटायें तो इस कठिन समस्या को भी सरलता से हल किया जा सकता है। सबके संयुक्त प्रयत्न से जातिवाद और अस्पृश्यता के कलंक को निश्चय ही धो बहाया जा सकता है। स्वस्थ लोकतंत्र के विकास के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

❂

अध्याय : १९

अस्पृश्यता

लोकगीतों के प्रेमी पंडित रामनरेश त्रिपाठी गीतों की अपनी चार साल की यात्रा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"गीत संग्रह करने में मुझे जो-जो तकलीफें उठानी पड़ी हैं, मेरा शरीर और मन उनके लिए असमर्थ था। केवल गीतों के लिए सच्ची लगन ही मुझे उन तकलीफों को पार लगाने में समर्थ हुई है।

जरा ध्यान से यह दृश्य देखिये तो—सावन का महीना है। घटा घिरी हुई है। कभी झींसें पड़ रहे हैं। कभी लहरे पर लहरे आ रहे हैं। धान के खेत में घुटने तक पानी में खड़ी चमारिनें खेत में लगे हुए घास-पात को खोंट कर, नोंच कर निकाल रही हैं। वे गा भी रही हैं। शरीर तो उनका धान के खेत में काम कर रहा है, और मन गीत की दुनिया में है। मैं धान की मेंड़ पर बैठा गीत सुनता जाता हूँ और लिखता जाता हूँ। धान की पतली मेंड़ों से तो ईश्वर ही बचावे। उसके दोनों ओर के खेत लबालब पानी से भरे रहते हैं। जरा-सी दृष्टि चूकी, या ध्यान बँटा कि धड़ाम से पानी और कीचड़ के अंदर!

हरिजन का घर : जो गीत मैंने चमारिनों के घर जाकर लिखे हैं, उनके लिखने में मुझे अपने मन को बड़ी कड़ी परीक्षा में बैठाना पड़ा है। ध्यान से देखिये, गाँव से बिलकुल बाहर चमार का घर है, जिसकी दीवारें लोनी से गल गयी हैं। दीवारों के अंदर कंकड़ खीस काढ़े हैं। दीवारों में सैकड़ों दरारें, छेद, बिल और गुफाएँ हैं, जिनमें छिपकलियों, मकड़ियों, चींटियों, चूहों, झींगुरों के सैकड़ों परिवार निवास कर रहे हैं। दीवारों पर बीसों स्थान से फटा हुआ, सहस्रों नेत्रोंवाला एक सड़ा-गला छप्पर रखा है। एक ही घर है। उसी में खाना भी पकता है। उसी में चक्की भी है। उसी में सैकड़ों स्थानों पर सिले हुए मैले-कुचैले कपड़े भी पड़े हैं। घर में छोटा बच्चा है तो एक किनारे उसका पाखाना भी पड़ा है। चमार-चमारिन को पेट के धंधे ही से फुरसत नहीं मिलती, पाखाना कौन उठाता ?

एक किनारे महुआ, सामां या धान पड़ा हुआ है। यही उनका आहार है। एक तरफ घास की चटाई लपेटी रखी है, जिसे घर के लोग जाड़े में ओढ़ते हैं और बरसात में बिछाते हैं। गर्मी में ओढ़ने-बिछाने की ज्यादा जरूरत ही नहीं पड़ती। जमीन पर सो गये, आसमान ओढ़ लिया। किसी तरह रात कट गयी।

झोपड़ी के आसपास सूअर और उनके छौने घूम रहे हैं। छौने कभी-कभी घर के अंदर भी घुस आते हैं। घर के आस-पास खेत हैं, जो सूअर के मैले से भरे हुए हैं। पानी बरस जाने से मैला सड़कर जमीन पर फैल रहा है। उसकी बू से लवेंडर सूँघनेवाली शहर की नाक फटी जा रही है। एक किनारे चूल्हे पर मरी हुई गाय का मांस पक रहा है।

मैं उसी झोंपड़े के द्वार पर दीवार से पीठ टेके, रूमाल पर बैठा हुआ, एक साठ बरस की बुड्ढी चमारिन से गीत लिख रहा हूँ। बुड्ढी की धोती में जुलाहे से अधिक सीने वाले को मेहनत करनी पड़ी है। वह उसी धोती को कई बरस से पहन रही है। एक ही धोती होने के कारण वह धोती धो भी नहीं सकती और नहाती भी कम है। इससे उसके शरीर और धोती की बदबू नाक-भौं को सिकोड़ने के लिए काफी है।

बताइये, ऐसे स्थानों से गीत संग्रह का काम बड़े साहस का है या नहीं?

शिक्षित ब्राह्मण का मानस : एक तो, ब्राह्मण वंश में पैदा होने का अभिमान ही मुझमें क्या कम? दूसरे, चमारों के लिए वंश-परंपरा से चली आती हुई घृणा भी भरपूर। तीसरे, 'खाओ-पीओ और मौज करो' वाली विलायती शिक्षा वहाँ से उठ चलने के लिए नोंच-कोंच रही है। चौथे, शहर की साफ-सुथरी सड़कों पर, बगुले के पंख जैसा सफेद धुला हुआ कपड़ा पहन-कर निकलने की आदत वहाँ से भाग चलने को फुसला रही है। पाँचवें, तेल-साबुन से चमकीले तथा मुस्कुराते हुए शहर के चेहरों के अंदर से निकली हुई मुहावरेदार और रस तथा अलंकारों से अलंकृत भाषा कान पकड़ कर खींच रही है। इन सब के मुकाबले में केवल गीतों का प्रेम। अब आप मेरी मानसिक दशा का अंदाज लगा सकते हैं कि मुझे प्रतिदिन मन की किन-किन भयानक घाटियों के अंदर से निकलना पड़ता रहा होगा।"

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने मानस का यह जो सच्चा चित्रण उपस्थित किया है, उससे इस बात की सहज ही कल्पना की जा सकती है कि समाज से तिरस्कृत और बहिष्कृत हरिजन किस प्रकार के वातावरण में बढ़ते

और पनपते हैं। उनके निवास, उनके भोजन, और उनके जीवन की यह झाँकी भारत के प्रत्येक हरिजन टोले मे देखी जा सकती है। भूदान पद-यात्रा में विनोबा के साथ लेखक ने सैकड़ों गाँवों में हरिजनों की इस दुखद स्थिति का दर्शन किया है। दरिद्रता, अभाव, अशिक्षा और सामाजिक तिरस्कार के बीच रहते हुए वे अपना सारा जीवन बिताते हैं। उच्च शिक्षित और शहरी वर्ग उन्हें किस दृष्टि से देखता है, उसका त्रिपाठीजी ने सही चित्रण किया है।

अस्पृश्यता का अभिशाप

जातिवाद की ही भाँति जाति-प्रथा का अत्यंत भयंकर अभिशाप है—अस्पृश्यता। विश्व में अन्यत्र कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। मानव मानव के प्रति इतनी अधिक घृणा करे कि उसे निकट आने तक से रोक दे। उसे 'अस्पर्श्य' बना दे—'जासु छाँह छुइलेइय सींचा'—की स्थिति में डाल दे। उसे मंदिरों में दर्शन तक से वंचित कर दे, अपने कुओं और जलाशयों से पानी तक न भरने दे। साथ बैठने-उठने न दे। समानता की तो बात ही क्या, उसे अधमाधम मानकर मानवीय अधिकारों से भी वंचित कर दे—इससे बढ़कर और अभिशाप क्या होगा?

अस्पृश्य माने जानेवाले स्त्री-पुरुषों की दयनीय स्थिति, निद्य और नीचे माने जानेवाले व्यवसायों की उनकी बाध्यता और हर प्रकार से उन्हें शोषित और अपमानित किये जाने की वृत्ति जाति-प्रथा की ही देन है। स्वतंत्र भारत में उसे कानूनन समाप्त कर दिया गया है अवश्य, परंतु लोक मानस के भीतर गहरी प्रविष्ट अस्पृश्यता सहज ही दूर होनेवाली नहीं है।

अस्पृश्यता का अर्थ

अस्पृश्यता का सामान्य अर्थ है—स्पर्श न करना। यह ऐसी सामाजिक असमानता है, जिसके आधार पर ऐसा माना जाता है कि अस्पृश्य माना जानेवाला व्यक्ति यदि छू जायगा तो छू लेनेवाला व्यक्ति भ्रष्ट या अपवित्र हो जायगा। स्थिति तो यहाँ तक दयनीय बना दी गयी थी कि ऐसे लोगों का निकट आने तक वर्जित कर दिया गया था। दक्षिण में तो ऐसे व्यक्तियों को अनेक मार्गों पर चलने से भी रोक दिया जाता था। 'मैं आ रहा हूँ'—ऐसी सूचना देते हुए उन्हें निकलना होता था। देवमंदिरों में उन्हें भीतर जाने का तो निषेध था ही, बाहर भी जाने को नहीं मिलता था।

स्टेनले राइस ('हिंदू कस्टम्स एंड देअर ओरिजिन्स' में) लिखते हैं कि अस्पृश्य लोग उन विजित लोगों के वंशज हैं जिन्हें पहले तो दास बना कर रखा गया, तदुपरांत उन्हें निम्न कोटि की जातियों में रहने के लिए बाध्य कर दिया गया। ये अनार्य, द्रविड़ और भारत के मूल निवासी हैं। इन्हें सबसे अधिक दबाकर इस स्थिति में पहुँचाया गया है।

उत्पत्ति के सिद्धांत

डाक्टर अम्बेदकर अस्पृश्य लोगों को गोमांस भक्षक बौद्ध बताते हैं। गोमांस खाने से ब्राह्मण इन्हें अत्यधिक घृणा करते थे, अतः हिंदू समाज से इनका बहिष्कार कर दिया गया था।

हट्टन के मत से 'बहिष्कृत जातियों की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक तथा सामाजिक प्रथा के फलस्वरूप हुई है।'[१] हट्टन ने सामाजिक निषेध (टैबू) को उसका एक प्रधान कारण बताया है। धोबी रजस्वला स्त्रियों के वस्त्र धोता है। अतः वह अपवित्र माना जाता है। इसी प्रकार अन्य मल-मूत्र, गंदगी आदि साफ करने वाले व्यक्ति गंदे और अस्पृश्य माने जाने लगे। हट्टन के अनुसार 'जब कोई बहिष्कृत वर्ग अपना सामाजिक स्तर उठाना चाहता है तो वह अन्य वर्गों को अपनी कन्याएँ देना बंद कर देता है। यह वर्ग पृथक् जाति का रूप धारण कर लेता है। उसकी दृष्टि से अन्य वर्ग अस्पृश्य बन जाते हैं।

शौच और स्वच्छता : कुछ लोग कहते हैं कि पावित्र्य की भावना में से अस्पृश्यता की भावना उत्पन्न हुई है। पतंजलि ने योग शास्त्रों में शौच का वर्णन करते हुए लिखा है—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(साधनपाद ४०)

'शौच से अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होती है और दूसरे मनुष्यों से असंसर्ग की भावना पैदा होती है।' योग के नियमों में शौच का अपना विशिष्ट स्थान है। चित्त शुद्धि के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है। साधकों के लिए उसकी उपादेयता निर्विवाद है। परंतु शौच की भावना जब बाह्य आडंबर का स्थान ग्रहण कर ले, 'मैं पवित्र हूँ, दूसरे अपवित्र हैं, 'दूसरों को छूना पाप है'— तो शौच का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता

१. जे० एच० हट्टन : कास्ट इन इंडिया, पृष्ठ २०६।

है। शौच से तो आत्मदर्शन की योग्यता आनी चाहिए—

सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्म दर्शन योग्यत्वानिच ॥

(साधनपाद ४१)

शौच से सत्वशुद्धि-चित्तशुद्धि, सौमनस्य -सुप्रसन्नता, एकाग्र्य-एकाग्रता, इन्द्रिय जय और आत्मदर्शन प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है। विनोबा ने इंदौर में स्वच्छता आंदोलन का श्रीगणेश पाखानों की सफाई करके पतंजलि के इन दोनों सूत्रों की सटीक व्याख्या की थी।[१]

वेदों में अस्पृश्यता का उल्लेख नहीं है। वैदिक काल में अस्पृश्यता नहीं थी। इसने तो मनुस्मृति आदि संहिताओं के समय से मुख्यतः धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्षों के कारण व्यापक और वीभत्स रूप ग्रहण किया। धीरे-धीरे इसके चलते लाखों व्यक्ति नारकीय जीवन बिताने के लिए विवश हो गये। उनकी दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए गांधीजी ने लिखा—

अस्पृश्यों का नारकीय जीवन

"सामाजिक दृष्टि से वे कोढ़ी हैं। आर्थिक दृष्टि से वे गुलामों से भी बदतर हैं। धार्मिक दृष्टि से उन्हें 'भगवान के घर' में प्रवेश करने की मनाही है। उन्हें सार्वजनिक मार्ग, विद्यालय, अस्पताल, कुओं, नलों, पार्कों आदि का उपयोग करने का निषेध है। कुछ मामलों में निश्चित दूरी के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है और कहीं-कहीं उनका दर्शन भी सामाजिक अपराध है। नगर हों या ग्राम, सर्वत्र अत्यंत निकृष्ट कोटि के मकानों में उन्हें रहना पड़ता है, जहाँ उनकी सामाजिक सेवाओं की कोई व्यवस्था नहीं रहती। सवर्ण हिंदू वकील और डाक्टर उनकी न तो वकालत करते हैं, न चिकित्सा। धार्मिक उत्सवों पर ब्राह्मण उनकी पुरोहिती भी नहीं करते।"[२]

अस्पृश्यता का मूर्तिमंत प्रतीक है—मेहतर। उसके माथे पर रहती है विष्ठा की बाल्टी और बगल में रहती है जूठन की पोटली। स्वच्छता के हमारे ये ठेकेदार एक दिन को भी अपना काम बंद कर देते हैं तो सभ्य और प्रतिष्ठित माने जाने वाले लोगों की दुर्गंध से नाक फटने लगती है। गंदगी को दूर कर हमें स्वच्छ करनेवाला व्यक्ति हमारी 'कृपा' से अस्वच्छता का अवतार बना बैठा है। उसके पास न खाने को अन्न है, न पहनने को वस्त्र, न रहने को मकान।

---

१. विनोबा : शुचिता से आत्मदर्शन।

२. मो० क० गांधी . हरिजन्स टुडे, पृष्ठ १–२।

अस्पृश्य कौन ?

अंग्रेजी सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए एक ओर साम्प्रदायिक तत्वों को बढ़ावा दिया, दूसरी ओर हिंदुओं को सवर्ण और अनुसूचित जातियों के टुकड़ों में विभक्त कर अंततः देश विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर दी। जिन दिनों महात्मा गांधी का स्वराज्य आंदोलन तीव्रता पर था, उन दिनों ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्य जातियों के मोरचे का भी सहारा ले कर देश की एकता को खंडित करने का प्रयत्न किया।

सन् १९३१ में सरकार ने अस्पृश्यों को पृथक् करने की दृष्टि से कुछ कसौटियाँ निर्धारित कीं। अस्पृश्य कौन है, किसे अस्पृश्य लोगों की कोटि में गिना जाय, इसका निर्धारण करने के लिए सरकार ने ये कसौटियाँ प्रस्तुत कीं। इनमें से एकाधिक कसौटी पर जो खरा उतरे, उसे अस्पृश्य मान लेने का सरकार ने निश्चय किया। ये कसौटियाँ इस प्रकार हैं—

१. उस जाति की पुरोहिती ब्राह्मण करते हैं कि नहीं ?

२. सवर्ण हिंदुओं की सेवा करनेवाले नाई, कहार, दर्जी आदि उस जाति की सेवा करते हैं कि नहीं ?

३. उस जाति के लोगों के स्पर्श से सवर्ण हिंदू अपने को अपवित्र मानते हैं कि नहीं ?

४. उस जाति के लोगों के हाथ का पानी सवर्ण हिंदू पीते हैं कि नहीं ?

५. उस जाति के लोगों को सड़कों, कुओं, विद्यालयों आदि सार्वजनिक सुविधाओं के प्रयोग का अधिकार है कि नहीं ?

६. उस जाति के लोगों के लिए हिंदू मंदिरों में प्रवेश खुला है कि नहीं ?

७. उस जाति का शिक्षित व्यक्ति सामाजिक व्यवहार में अपने समकक्ष सवर्ण हिंदू जैसा व्यवहार पाता है कि नहीं ?

८. वह जाति अपनी अज्ञानता, अशिक्षा या दरिद्रता के कारण निम्न कोटि की मानी जाती है या अन्य किन्हीं निर्योग्यताओं का उसे सामना करना पड़ता है ?

९. वह जाति केवल अपने व्यवसाय के कारण निंद्य समझी जाती है या उसका कोई ध्यान नहीं रखा जाता ?

अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ

अस्पृश्यों को धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सार्वजनिक—अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं का शिकार बनना पड़ता रहा है।

अंग्रेजी सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए एक ओर साम्प्रदायिक तत्वों को बढ़ावा दिया, दूसरी ओर हिंदुओं को सवर्ण और अनुसूचित जातियों के टुकड़ों में विभक्त कर अंततः देश विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर दी। जिन दिनों महात्मा गाँधी का स्वराज्य आंदोलन तीव्रता पर था, उन दिनों ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्य जातियों के मोरचे का भी सहारा ले कर देश की एकता को खंडित करने का प्रयत्न किया।

अस्पृश्य कौन ?

सन् १९३१ में सरकार ने अस्पृश्यों को पृथक् करने की दृष्टि से कुछ कसौटियाँ निर्धारित कीं। अस्पृश्य कौन है, किसे अस्पृश्य लोगों की कोटि में गिना जाय, इसका निर्धारण करने के लिए सरकार ने ये कसौटियाँ प्रस्तुत कीं। इनमें से एकाधिक कसौटी पर जो खरा उतरे, उसे अस्पृश्य मान लेने का सरकार ने निश्चय किया। ये कसौटियाँ इस प्रकार हैं—

१. उस जाति की पुरोहिती ब्राह्मण करते हैं कि नहीं ?

२. सवर्ण हिंदुओं की सेवा करनेवाले नाई, कहार, दर्जी आदि उस जाति की सेवा करते हैं कि नहीं ?

३. उस जाति के लोगों के स्पर्श से सवर्ण हिंदू अपने को अपवित्र मानते हैं कि नहीं ?

४. उस जाति के लोगों के हाथ का पानी सवर्ण हिंदू पीते हैं कि नहीं ?

५. उस जाति के लोगों को सड़कों, कुओं, विद्यालयों आदि सार्वजनिक सुविधाओं के प्रयोग का अधिकार है कि नहीं ?

६. उस जाति के लोगों के लिए हिंदू मंदिरों में प्रवेश खुला है कि नहीं ?

७. उस जाति का शिक्षित व्यक्ति सामाजिक व्यवहार में अपने समकक्ष सवर्ण हिंदू जैसा व्यवहार पाता है कि नहीं ?

८. वह जाति अपनी अज्ञानता, अशिक्षा या दरिद्रता के कारण निम्न कोटि की मानी जाती है या अन्य किन्हीं निर्योग्यताओं का उसे सामना करना पड़ता है ?

९. वह जाति केवल अपने व्यवसाय के कारण निंद्य समझी जाती है या उसका कोई ध्यान नहीं रखा जाता ?

अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ

अस्पृश्यों को धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सार्वजनिक—अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं का शिकार बनना पड़ता रहा है।

अस्पृश्यता सामाजिक विघटन की एक प्रमुख समस्या है। मानव मानव के बीच भेद की मोटी दीवार खड़ी करने वाली यह समस्या, मानव के प्रति मानव जैसा समानता का व्यवहार रोकनेवाली यह समस्या भारत के लिए कलंक रूप रही है। ऐसा नहीं है कि इस समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। ध्यान तो आकृष्ट हुआ, परंतु इसके निर्मूलन के लिए जितना तीव्र आंदोलन अपेक्षित था, वह आंदोलन विधिवत् चल नहीं सका।

अस्पृश्यता का निवारण

भगवान बुद्ध ने जाति, वर्ण, लिंग आदि किसी भी बात का भेदभाव न करते हुए मानव मात्र को अपने धर्म में स्थान दिया। कोई भी व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनकर संघ का सदस्य बन सकता था। अनेक अस्पृश्य लोग हिंदू समाज से तिरस्कृत एवं बहिष्कृत होने से बौद्ध बन गये।

मध्यकालीन युग में स्वामी रामानंद, संत कबीर, भक्त रैदास, नाभादास आदि संतों ने प्रेम और भक्ति की जो शांतिदायिनी धारा प्रवाहित की, उसने जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता के निवारण में बहुत ठोस काम किया।

इन संतों ने आत्मा की एकता पर सबसे अधिक बल दिया और पवित्र जीवन अपनाने पर किसी भी जाति के व्यक्ति को आदर-सम्मान और प्रतिष्ठा देनी चाहिए—इस मार्ग को प्रशस्त किया। उन्होंने कहा—

जाति पांति पूछै ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥
जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान॥
एकै बूंद एक मलमूतर एक चाम, एक गूदा।
एक जोति ते सब उतपन्ना, को बाम्हन को सूदा॥

भक्ति रस की इस भावधारा ने देश का बहुत बड़ा कल्याण किया। मुसलिम अत्याचारों से त्रस्त हिंदू जनता को इससे बड़ी सांत्वना प्राप्त हुई। अस्पृश्य जातियों में उत्पन्न संतों को भी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी।

अस्पृश्यता निवारण में स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। केशवचंद्र सेन, राजा राममोहन राय, कुदूमल रंगाराव, वी० आर० शिन्दे जैसे समाज सुधारकों ने और सिखधर्म, ब्रह्मसमाज आर्य समाज, प्रार्थना समाज, राधास्वामी मत आदि धार्मिक संस्थाओं ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

गाँधीजी का योगदान

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है महात्मा गाँधी का। उन्होंने हरिजनों के उत्थान के लिए और अस्पृश्यता निवारण के लिए समय-समय पर जीवन की बाजी तक लगा दी। उनका यह विश्वास था कि हिंदू धर्म का अस्पृश्यता से कोई संबंध नहीं है। अपने को कट्टर हिंदू बताते हुए वे कहा करते थे कि यदि मुझे यह पता चल जाय कि हिंदू धर्म वस्तुतः अस्पृश्यता का समर्थन करता है तो हिंदू धर्म का त्याग करने में मुझे लेशमात्र की भी हिचकिचाहट नहीं होगी।

महात्मा गाँधी की प्रेरणा से कांग्रेस ने हरिजनोद्धार आंदोलन पूरे बल से उठा लिया। हरिजन सेवक संघ तथा आदिम जाति सेवा संघ जैसी संस्थाओं ने, 'हरिजन' तथा ऐसे ही अनेक पत्रों ने हरिजन सेवा के कार्य को उठा लिया। देशव्यापी आंदोलन होने से उसका जनमानस पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। आज भी सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, भारत सेवक

इन संतों ने आत्मा की एकता पर सबसे अधिक बल दिया और पवित्र जीवन अपनाने पर किसी भी जाति के व्यक्ति को आदर-सम्मान और प्रतिष्ठा देनी चाहिए—इस मार्ग को प्रशस्त किया। उन्होंने कहा—

> जाति पांति पूछै ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥
>
> जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
> मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान॥
>
> एकै बूंद एक मलमूतर एक चाम, एक गूदा।
> एक जोति ते सब उतपन्ना, को बाम्हन को सूदा॥

भक्ति रस की इस भावधारा ने देश का बहुत बड़ा कल्याण किया। मुसलिम अत्याचारों से त्रस्त हिंदू जनता को इससे बड़ी सांत्वना प्राप्त हुई। अस्पृश्य जातियों में उत्पन्न संतों को भी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी।

अस्पृश्यता निवारण में स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। केशवचंद्र सेन, राजा राममोहन राय, कुदूमल रंगाराव, वी० आर० शिन्दे जैसे समाज सुधारकों ने और सिखधर्म, ब्रह्मसमाज आर्य समाज, प्रार्थना समाज, राधास्वामी मत आदि धार्मिक संस्थाओं ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है महात्मा गांधी का। उन्होंने हरिजनों के उत्थान के लिए और अस्पृश्यता निवारण के लिए समय-समय पर जीवन की बाजी तक लगा दी। उनका यह विश्वास था कि हिंदू धर्म का अस्पृश्यता से कोई संबंध नहीं है। अपने को कट्टर हिंदू बताते हुए वे कहा करते थे कि यदि मुझे यह पता चल जाय कि हिंदू धर्म वस्तुतः अस्पृश्यता का समर्थन करता है तो हिंदू धर्म का त्याग करने में मुझे लेशमात्र की भी हिचकिचाहट नहीं होगी।

गाँधीजी का योगदान

महात्मा गाँधी की प्रेरणा से काँग्रेस ने हरिजनोद्धार आंदोलन पूरे बल से उठा लिया। हरिजन सेवक संघ तथा आदिम जाति सेवा संघ जैसी संस्थाओं ने, 'हरिजन' तथा ऐसे ही अनेक पत्रों ने हरिजन सेवा के कार्य को उठा लिया। देशव्यापी आंदोलन होने से उसका जनमानस पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। आज भी सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, भारत सेवक

समाज, हिंदू मिशन, रामकृष्ण मिशन, ईश्वरशरण आश्रम जैसी अनेक सामाजिक संस्थाएँ इस दिशा में उत्तम कार्य कर रही हैं। अनुसूचित जाति संघ जैसी हरिजन संस्थाएँ और सरकारों के हरिजन कल्याण विभाग आदि सरकारी विभाग अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्रयत्नशील हैं। संविधान में अस्पृश्यता समाप्त कर दी गयी है। फिर भी अभी इसके लिए बहुत कुछ कार्य करना शेष है। केवल कानून और सरकारी अनुदानों आदि से अस्पृश्यता का निवारण संभव नहीं है। उसके लिए देश में स्वैच्छिक सेवा संस्थाओं राजनीतिक संस्थाओं, समाज सुधारकों तथा लोक सेवकों को व्यापक प्रयत्न करके जनमानस को शिक्षित करना होगा। 'आज नगरों की अपेक्षा ग्राम में अस्पृश्यता की रूढ़ि गहरी पैठी है।'[१] उसे जबतक उखाड़ कर नहीं फेंका जायगा, तबतक यह कलंक मिटनेवाला नहीं।'

चतुर्मुखी प्रयास वांछनीय

हरिजनों के उत्थान के लिए चतुर्मुखी प्रयत्न करना होगा। उन्हें धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक– सभी दृष्टियों से ऊपर उठाना होगा। उनके शिक्षण, आर्थिक विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए ठोस और स्थायी योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित करना पड़ेगा। अस्पृश्यता मिटाकर उन्हें समानता का स्तर प्रदान करना होगा। उनकी कुटेवें मिटाकर सद्गुणों का विकास करना होगा। उनकी ऋणग्रस्तता, बेकारी और अशिक्षा दूर कर उन्हें देश के प्रतिष्ठित नागरिक बनाना होगा। महात्मा गाँधी के शब्दों में 'जबतक हम हरिजनों के साथ मैत्री और भाईचारे का संबंध स्थापित नहीं करते, तबतक हम मानवता के एक सूत्र में नहीं बँध सकते। अस्पृश्यता निवारण का आंदोलन शुद्ध विश्वबंधुत्व का आंदोलन है।'

○

१. के० एस० शिवम : लेख 'शेड्यूल्ड कास्ट्स इन इंडिया' सोशल वेलफेयर इन इंडिया, पृ० ४५४।

इन संतों ने आत्मा की एकता पर सबसे अधिक बल दिया और पवित्र जीवन अपनाने पर किसी भी जाति के व्यक्ति को आदर-सम्मान और प्रतिष्ठा देनी चाहिए—इस मार्ग को प्रशस्त किया। उन्होंने कहा—

जाति पांति पूछै ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥
जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान॥
एकै बूंद एक मलमूतर एक चाम, एक गूदा।
एक जोति ते सब उतपन्ना, को बाम्हन को सूदा॥

भक्ति रस की इस भावधारा ने देश का बहुत बड़ा कल्याण किया। मुसलिम अत्याचारों से त्रस्त हिंदू जनता को इससे बड़ी सांत्वना प्राप्त हुई। अस्पृश्य जातियों में उत्पन्न संतों को भी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी।

अस्पृश्यता निवारण में स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। केशवचंद्र सेन, राजा राममोहन राय, कुदूमल रंगाराव, वी० आर० शिन्दे जैसे समाज सुधारकों ने और सिखधर्म, ब्रह्मसमाज आर्य समाज, प्रार्थना समाज, राधास्वामी मत आदि धार्मिक संस्थाओं ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

गाँधीजी का योगदान

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है महात्मा गांधी का। उन्होंने हरिजनों के उत्थान के लिए और अस्पृश्यता निवारण के लिए समय-समय पर जीवन की बाजी तक लगा दी। उनका यह विश्वास था कि हिंदू धर्म का अस्पृश्यता से कोई संबंध नहीं है। अपने को कट्टर हिंदू बताते हुए वे कहा करते थे कि यदि मुझे यह पता चल जाय कि हिंदू धर्म वस्तुतः अस्पृश्यता का समर्थन करता है तो हिंदू धर्म का त्याग करने में मुझे लेशमात्र की भी हिचकिचाहट नहीं होगी।

महात्मा गाँधी की प्रेरणा से काँग्रेस ने हरिजनोद्धार आंदोलन पूरे बल से उठा लिया। हरिजन सेवक संघ तथा आदिम जाति सेवा संघ जैसी संस्थाओं ने, 'हरिजन' तथा ऐसे ही अनेक पत्रों ने हरिजन सेवा के कार्य को उठा लिया। देशव्यापी आंदोलन होने से उसका जनमानस पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। आज भी सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, भारत सेवक

समाज, हिंदू मिशन, रामकृष्ण मिशन, ईश्वरशरण आश्रम जैसी अनेक सामाजिक संस्थाएँ इस दिशा में उत्तम कार्य कर रही हैं। अनुसूचित जाति संघ जैसी हरिजन संस्थाएँ और सरकारों के हरिजन कल्याण विभाग आदि सरकारी विभाग अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्रयत्नशील हैं। संविधान में अस्पृश्यता समाप्त कर दी गयी है। फिर भी अभी इसके लिए बहुत कुछ कार्य करना शेष है। केवल कानून और सरकारी अनुदानों आदि से अस्पृश्यता का निवारण संभव नहीं है। उसके लिए देश में स्वैच्छिक सेवा संस्थाओं राजनीतिक संस्थाओं, समाज सुधारकों तथा लोक सेवकों को व्यापक प्रयत्न करके जनमानस को शिक्षित करना होगा। 'आज नगरों की अपेक्षा ग्राम में अस्पृश्यता की रूढ़ि गहरी पैठी है।'[१] उसे जबतक उखाड़ कर नहीं फेंका जायगा, तबतक यह कलंक मिटनेवाला नहीं।'

चतुर्मुखी प्रयास वांछनीय

हरिजनों के उत्थान के लिए चतुर्मुखी प्रयत्न करना होगा। उन्हें धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक–सभी दृष्टियों से ऊपर उठाना होगा। उनके शिक्षण, आर्थिक विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए ठोस और स्थायी योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित करना पड़ेगा। अस्पृश्यता मिटाकर उन्हें समानता का स्तर प्रदान करना होगा। उनकी कुटेवें मिटाकर सद्‌गुणों का विकास करना होगा। उनकी ऋणग्रस्तता, बेकारी और अशिक्षा दूर कर उन्हें देश के प्रतिष्ठित नागरिक बनाना होगा। महात्मा गाँधी के शब्दों में 'जबतक हम हरिजनों के साथ मैत्री और भाईचारे का संबंध स्थापित नहीं करते, तबतक हम मानवता के एक सूत्र में नहीं बँध सकते। अस्पृश्यता निवारण का आंदोलन शुद्ध विश्वबंधुत्व का आंदोलन है।'

---

१. के० एस० शिवम : लेख 'शेड्यूल्ड कास्ट्स इन इंडिया' सोशल वेलफेयर इन इंडिया, पृ० ४५४।

अध्याय : २०

सांप्रदायिकता

साम्प्रदायिकता आज के भारत की अत्यंत विषम समस्या है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा गाँधी के निधन पर फरवरी, १९४८ के अपने ब्राडकास्ट में कहा था कि 'हम सबको साम्प्रदायिकता नष्ट करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगानी चाहिए जिसने हमारे युग के महानतम व्यक्ति की हत्या कर दी है।'[१] १६ सितंबर, १९५१ को उन्होंने लखनऊ में कहा कि 'साम्प्रदयिकता को मैं भारत का शत्रु नंबर १ मानता हूँ।'[२] २७ फरवरी, १९५७ को उन्होंने कहा कि 'साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सकता, फिर वह चाहे हिंदू साम्प्रदायिकता हो चाहे मुसलिम साम्प्रदायिकता, क्योंकि वह भारतीय राष्ट्रत्व और भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध, एक भारी चुनौती है।'[३]

जो साम्प्रदायिकता देश का महानतम शत्रु है, वह है क्या, उसका अर्थ क्या है, इस पर हम विचार करें। 'मेरा सम्प्रदाय, मेरा पंथ, मेरा मत ही

अर्थ

सबसे अच्छा है। उसी का महत्त्व सर्वोपरि होना चाहिए। उसी का प्राधान्य रहना चाहिए। मेरे सम्प्रदाय की ही तूती बोलनी चाहिए। उसी की सत्ता मानी जानी चाहिए। अन्य सम्प्रदाय हेय हैं। उन्हें या तो पूर्णतः समाप्त कर दिया जाना चाहिए या यदि वे रहें भी तो मेरे मातहत हो कर रहें। मेरे आदेश का सतत पालन करें। मेरी मर्जी पर आश्रित रहें।'—यह है सम्प्रदायवाद का अर्थ। साम्प्रदायिकता के मूल में यही भावना रहती है। हिंदू साम्प्रदायिकता चाहती है कि सारे राष्ट्र पर उसी का आधिपत्य रहे : मुस्लिम साम्प्रदायिकता चाहती है कि सारे राष्ट्र पर उसी की सत्ता

---

१. एन० एल० गुप्त (सं०) : नेहरू ओन कम्यूनलिज्म, दिसम्बर, १९६५, पृ० २०६।
२. वही, पृ० २२२।
३. वही, पृ० २५३।

रहे। वैर, विरोध, घृणा, उपेक्षा, वैमनस्य, निंदा, तिरस्कार, हिंसा, मारकाट आदि इस साम्प्रदायिकता के शस्त्र हैं। इन्हीं शस्त्रों का प्रयोग करके वह अपनी विजय की दुंदुभि बजाने के लिए आतुर रहती है। जो भी सम्प्रदाय इस पद्धति का आश्रय लेता है, वह साम्प्रदायिक है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार की भावनाएँ अपने हृदय में पालता है और अपने सम्प्रदाय का समर्थन और पक्षपात करता है तथा दूसरे सम्प्रदायों से वैमनस्य रखता है, वह साम्प्रदायिक है। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही यह विषवृक्ष राष्ट्र के जीवन में विष फैलाता रहता है। साम्प्रदायिक तनाव, संघर्ष और उपद्रव इसी वृक्ष के जहरीले फल हैं।

परिभाषा

सांप्रदायिकता की कोई विशिष्ट परिभाषा नहीं। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि 'अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य संप्रदाय अथवा संप्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, दयादृष्टि, घृणा, विरोध और आक्रमण की वह भावना 'सांप्रदायिकता' है, जिसका आधार वह वास्तविक या काल्पनिक भय या आशंका है कि उक्त संप्रदाय हमारे अपने सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देने या हमें जान-माल की क्षति पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हैं।'

साम्प्रदायिक संगठन

सांप्रदायिकता की भावना से प्रेरित होकर अनेक सांप्रदायिक संगठन खड़े कर दिये जाते हैं। ये संगठन भले ही अपने को धार्मिक अथवा अ-राजनीतिक कहें पर उनका उद्देश्य मूलतः राजनीतिक ही होता हैं। नेहरूजी के शब्दों में 'ऐसे सांप्रदायिक संगठन यद्यपि धर्म के नाम का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी धार्मिक नहीं होते। संस्कृति का नाम लेते हैं, पर संस्कृति का कोई काम नहीं करते, पुरातन संस्कृति के गीत भले ही गाते रहें। नैतिकता का नाम लेते हैं, पर नैतिकता से कोसों दूर रहते हैं। ये आर्थिक समूह भी नहीं होते क्योंकि उन्हें जोड़नेवाली कोई आर्थिक कड़ी नहीं होती। वे केवल राजनीतिक होते हैं, अपने को कहते हैं—अराजनीतिक। उनकी मांगें राजनीतिक ही होती हैं।'[१]

अंग्रेज शासक आरंभ से ही 'फूट डालो और राज करो' की नीति का आश्रय लेकर भारत में विभिन्न संप्रदायों और शासकों को आपस में लड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते आ रहे थे। बम्बई के एक गवर्नर एलीफेंस्टन

१. वही, पृष्ठ २७

के मुख से यह सत्य मुखरित भी हो उठा था - भेदनीति द्वारा शासन—DIVIDE ET IMPERA—पुराना रोमन मंत्र है और यही मंत्र हमारा भी होना चाहिए।'[1] भारत पर आधिपत्य स्थापित करने में अंग्रेजों ने इसी नीति का खुलकर प्रयोग किया था। टारेंस लिखता है कि 'मालकम के कथनानुसार यदि भारत के ही लोगों ने सहायता न की होती तो वह कभी विजित न हुआ होता। पहले निजाम आरकट के विरुद्ध और आरकट निजाम के विरुद्ध और फिर मराठे मुसलमानों के विरुद्ध और अफगान हिंदुओं के विरुद्ध भिड़ाये गये।[2] मराठा दरबार में अंग्रेजों की दुरभिसंधि ने मराठों में फूट डाली। शिवाजी के साहस ने मराठा साम्राज्य की नींव डाली और रघुनाथ राव की दुरभिसंधि ने उसे पतन के गड्ढे में ढकेल दिया।[3]

इतिहास

भेदनीति : अंग्रेजों की इस कूटनीति में न्याय और विवेक के लिए, सच्चाई और ईमानदारी के लिए कोई स्थान ही नहीं था। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं कि 'जिस प्रकार हिंदू मुसलमानों के विरुद्ध खड़े किये गये और मुसलमान हिंदुओं के विरुद्ध खड़े किये गये, उसी प्रकार मुसलमान भी हिंदुओं और मुसलमानों के विरुद्ध समान रूप से खड़े किये गये। उद्देश्य था एक की सहायता से दूसरे को पराभूत कर पहले के साथ भी वही बर्ताव करना। इसका ज्वलंत उदाहरण वारेन हेस्टिंग्स के काल में रुहेलों के साथ किया गया बर्ताव है। रुहेलखंड की बिक्री की बात तय कर ली गयी। गुप्त संधि हुई। बहाने बनाकर रुहेलों पर आक्रमण कर दिया गया। 'रुहेला नामधारी प्रत्येक व्यक्ति को या तो तलवार के घाट उतार दिया गया या देश का परित्याग करके उसे अपनी जान बचानी पड़ी।' टारेंस के अनुसार हेस्टिंग्स ने इस संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बीस हजार पौंड तो अपनी जेब में डाले और चार लाख पौंड की रकम सरकारी खजाने में पहुँची।'[4]

भारत में अंग्रेजी राज्य के पनपने का सारा इतिहास इसी प्रकार की काली करतूतों से भरा पड़ा है। सन् १७५७ से लेकर १८५७ तक यह कुचक्र

---

१. वही, पृष्ठ ४८
२. डब्ल्यू० एम० टारेंस: इम्पायर इन एशिया, पृष्ठ १९
३. डी० डी० बसु : राइज ऑफ क्रिश्चियन पावर इन इंडिया, पृष्ठ २०९
४. राजेन्द्र प्रसाद : खंडित भारत, १९४६, पृ० १३७-१३९

चलता रहा और अंग्रेजी वणिक भारत के शासक बन बैठे। उन्होंने देश के उद्योग और व्यापार पर भी उसी के साथ-साथ अपना डंडा फेरा। भारत के आर्थिक शोषण और दोहन की नीति से इंगलैंड को संपन्न बनाया गया और ईस्ट इंडिया कंपनी के गुमास्तों ने लाखों-करोड़ों रुपयों से अपनी जेबें भर लीं।

सत्तावन की क्रान्ति : इन अन्यायों और अत्याचारों की बदौलत भारत में जिस तीव्र असंतोष और अशांति की सृष्टि हुई, उसमें से १८५७ की क्रांति फूट पड़ी। 'पयामे आजादी' पत्र में सम्राट् बहादुरशाह की अपील छपी—'हिंदुस्तान के हिंदुओ और मुसलमानो उठो! भाइयो, उठो! खुदा ने इंसान को जितनी बरकतें अता की हैं, उनमें सबसे कीमती बरकत आजादी की है। वह जालिम नाकिस (अंग्रेज) जिसने धोखा देकर हमसे वह बरकत छीन ली है, क्या हमेशा के लिए हमें उससे महरूम रख सकेगा?'

नाना धोंडूपन्त, रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, कुंवर सिंह, अजीमुल्ला खाँ जैसे अनेक देशभक्तों के नेतृत्व में लाखों हिंदू-मुसलमान अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता के लिए मैदान में उतर आये। सेना में भी आजादी की यह लहर फैली। पर अंग्रेजों की कूटनीति के भुलावे में आकर कुछ सरदार और सामंतों आदि ने देश के साथ विश्वासघात किया। क्रांति असफल हो गयी।

उसके उपरान्त देश में दमन चक्र का जो दौर-दौरा चला, उससे बर्बरता तक थर्रा उठी। अंग्रेजों ने मुसलमानों का सफाया करने में विशेष तत्परता दिखायी। सेना में पहले हिन्दू, मुसलमान, सिख और पुरबिया सभी लोग रहते थे, पर जब विद्रोह में सेना ने भी प्रमुख भाग लिया तो अंग्रेजों ने भारतीय सेना का नये ढंग से संगठन किया। बंगाल सेना ने विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था। उसमें बिहार और बंगाल के लोगों की संख्या अधिक थी, उत्तर प्रदेश के लोग भी पर्याप्त थे। नव संगठन में बिहार और उत्तर प्रदेश वालों की संख्या घटा दी गयी, पंजाबियों की बढ़ा दी गयी, क्योंकि पंजाब ने अंग्रेजों की रक्षा में सहायता की थी।

बेक और सर सैयद : इसी बीच सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों में शिक्षा का प्रचार करने के लिए १८७५ में अलीगढ़ कालेज की स्थापना की। वे केवल मुसलमानों के ही नहीं, हिन्दुओं के भी नेता थे; राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्गदर्शक बंगालियों के प्रशंसक थे और कहते थे कि 'हिन्दुस्तान में बसने के कारण हिन्दू, मुसलमान और ईसाई भी एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। जिस

प्रकार आर्य लोग हिन्दू कहलाते हैं उसी प्रकार मुसलमान भी हिन्दुस्तान के निवासी होने के नाते 'हिन्दू' ही हैं।'[१] सन् १८८३ में श्री बेक अलीगढ़ कालेज के प्रिंसिपल होकर आये जो १८९९ तक उसी पद पर रहे। बेक ने सर सैयद पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे उनके हाथ की कठपुतली बन बैठे। सर सैयद को 'राष्ट्रवाद से विलग करने, उनके राजनीतिक झुकाव को ब्रिटेन के लिबरल—उदार दल से हटाकर अनुदार दल—कंजरवेटिवों की ओर करने और सरकार के साथ पुनः मेल कराने का अध्यवसायपूर्वक प्रयत्न किया जिसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली।'[२] सर सैयद ने मुसलमानों को सलाह दी कि वे कांग्रेस से अलग रहें। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना सिविल सर्विस के सदस्य ए० सी० ह्यूम की सहायता से हो चुकी थी। उसका पहला अधिवेशन दिसम्बर, १८८५ में बम्बई में डब्लू० सी० बनर्जी की अध्यक्षता में हुआ, दूसरा दिसम्बर, १८८६ में कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ और तीसरा अधिवेशन दिसम्बर, १८८७ में मद्रास में बदुरुद्दीन तैयब की अध्यक्षता में हुआ। तैयबजी ने सर सैयद से कहा कि यदि मुसलमान प्रतिनिधि आपत्ति करें तो किसी विषय पर विचार करना रोका जा सकता है। सर सैयद बोले कि कांग्रेस राजनीतिक संस्था है, इसलिए ऐसा कोई राजनीतिक प्रश्न हो ही नहीं सकता जो मुसलमानों के हित के विरुद्ध न हो। बेक के हाथ में सर सैयद किस प्रकार खेलने लगे थे, इसका यह एक अच्छा उदाहरण माना जा सकता है। फलतः मुसलमानों में कुछ लोग सरकार के साथ हो गये, कुछ कांग्रेस में बने रहे।

सन् १८४३ में भारत के गवर्नर जनरल लार्ड एलेनबोरो ने लिखा था कि 'हम इस तथ्य की ओर से आंख मूंदे नहीं रह सकते कि मुसलमान सम्प्रदाय हमारा मूलतः शत्रु है, इसलिए हिन्दुओं को अपनी ओर मिलाने का पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए।' १८५७ की क्रांति के वाद मुसलमानों पर विशेष प्रकोप का कारण यही नीति थी। जुलाई, १८८९ में कलकत्ता के फारसी पत्र में डब्लू०-डब्लू०-हंटर ने लिखा था कि 'सरकारी पदों में हिन्दुओं को प्रश्रय दिया जाता है, मुसलमानों को नहीं।' पर सर सैयद के प्रयत्न से अंग्रेजों की नीति धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होंने मुसलमानों को

---

१. राजेन्द्र प्रसाद : खण्डित भारत, पृष्ठ १५२-१५३

२. अशोक मेहता और पटवर्धन : कम्यूनल ट्रिंगिल, पृ० ५८

अपनी ओर मिलाकर हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काना आरम्भ किया। इसी नयी नीति के चलते लार्ड कर्जन ने बंग-भंग किया।

बंगभंग : दिसम्बर, १९०३ में लार्ड कर्जन ने चटगांव और ढाका डिवीजनों को बंगाल से पृथक् कर असम में मिला देने की एक योजना बना डाली। इससे लोगों में बड़ी खलबली मची। ढाका की एक सभा में कर्जन ने कहा कि बंगाल के विभाजन का हमारा उद्देश्य एक ऐसे प्रदेश का निर्माण करना है जिसमें मुसलमानों का प्राधान्य रहे। १९०५ में उन्होंने बंगाल का विभाजन कर दो प्रान्तीय सरकारों की स्थापना की—एक में असम और बंगाल के पूर्वी और उत्तरी जिले सम्मिलित किये गये, दूसरी में बंगाल के शेष जिले और बिहार तथा उड़ीसा का भू-भाग सम्मिलित किया गया। यह योजना इस उद्देश्य से बनायी गयी थी कि इससे भारत के राजनीतिक जीवन को कुचला जा सकेगा और मुसलमानों को अपने पक्ष में करके हिन्दुओं के विरुद्ध उभाड़ा जा सकेगा। उसका कुछ वैसा प्रभाव हुआ भी, परन्तु बंगाल के हिंदुओं और कुछ प्रभावशाली मुसलमानों को इससे भयंकर क्षोभ हुआ। राष्ट्रीय चेतना को दवाने के लिए बनायी गयी यह योजना चेतना जागरण का कारण बन गयी। बंगभंग ने सारे देश में स्वदेशी का आंदोलन जागृत कर दिया। उससे भारत में इतनी चेतना जागृत हुई जितनी १८५७ के बाद अन्य किसी घटना से जागृत नहीं हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने अन्ततः दिसम्बर १९११ में बंगभंग का निश्चय रद्द कर दिया।

पृथक निर्वाचन प्रणाली : कर्जन गये तो नवम्बर, १९०५ में मिण्टो वायसराय बनकर भारत आ गये। जुलाई-अगस्त १९०६ में मुसलमानों को राजनीति से विरत करने के लिए अलीगढ़ के गोरे प्रिंसिपल के माध्यम से योजना बनायी गयी। तदनुकूल १ अक्टूबर, १९०६ को आगा खां के नेतृत्व में मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल वायसराय से मिला। श्रीमती मिण्टो ने उस दिन की अपनी डायरी में लिखा कि 'आज का दिन महत्त्वपूर्ण है। किसी के मत से आज से 'भारतीय इतिहास का एक नया युग' ही आरम्भ हो रहा है। राजभक्त ६ करोड़ २० लाख मुसलमान इसलिए चिढ़े हैं कि उन्हें उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा है। वे मानते हैं कि हिन्दुओं को तरजीह देकर उनकी उपेक्षा की जा रही है!'[1]

---

१. लेडी मिण्टो : इण्डिया, मिंटो एण्ड मार्ले, पृष्ठ ४५-४७

लेडी मिंटो उसी दिन की डायरी में आगे लिखती हैं कि 'आज सायंकाल एक अफसर ने मुझे यह पत्र भेजा है कि 'आज के इस राजनीतिज्ञतापूर्ण कार्य का भारतीय इतिहास पर बहुत दिनों तक प्रभाव पड़ेगा। यह ऐसा काम है जिससे ६ करोड़ २० लाख व्यक्ति राजद्रोहात्मक श्रेणी में जाने से रोक दिये गये हैं।'

वायसराय ने मुसलमानों के विशेष दावे को स्वीकार कर पृथक् निर्वाचन प्रणाली के आधार पर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया। उस दिन से साम्प्रदायिक विष-वृक्ष का लहलहाना आरम्भ हो गया।

मुस्लिम लीग : दिसम्बर, १९०६ में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की नींव पड़ी। १९०७ में हिन्दू सभा की नींव पड़ी। लन्दन के 'टाइम्स' ने लीग की स्थापना का स्वागत किया। रेमजे मेकडानेल्ड ने 'दि अवेकनिंग आफ इण्डिया' में लिखा—'कुछ ऐंगलो-इण्डियन अधिकारियों ने मुसलमान नेताओं को प्रेरणा दी, शिमला तथा लन्दन में षड्यंत्र रचते रहे और बुराई करने की नीयत से जो पहले से ही उनके मन में थी, उन्होंने मुसलमानों के प्रति विशेष कृपा प्रदर्शित कर हिंदू और मुसलमान समुदायों के बीच मतभेद का बीज बो दिया।'[१]

अंग्रेजों का कुचक्र चल तो रहा ही था, परन्तु धीरे-धीरे मुसलिम लीग में राष्ट्रीय भावनाओं वाले व्यक्तियों का प्रवेश होने लगा। १९१० के बाद इस दिशा में अच्छी प्रगति हुई और मौलाना अबुलकलाम आजाद, हकीम अजमल खां, डाक्टर अंसारी आदि ने लीग में प्रविष्ट होकर उसे प्रभावित करना आरम्भ कर दिया।

१९१५ तक आगा खां लीग के स्थायी अध्यक्ष बने रहे। बाद में बम्बई के मुसलमानों के समर्थन से मुहम्मद अली जिना और अजीज अली ने लीग पर अपना आधिपत्य जमाया और वे लीग को कांग्रेस के निकट लाने में समर्थ हो गये। सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का भी वार्षिक अधिवेशन हुआ, मुसलिम लीग का भी। उसी समय कांग्रेस और लीग में समझौता हुआ। दोनों ने पारस्परिक मतभेद मिटाकर ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपनी सयुक्त मांग उपस्थित की।

खिलाफत आन्दोलन : १९१५ में ही महात्मा गांधी अफ्रीका से लौटे। उन्होने देश की और कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ली। १९२० में देश

(१) अशोक मेहता और पटवर्धन : कम्यूनल ट्रिएंगिल, पृ० ६६

में खिलाफत आंदोलन तीव्र गति से छिड़ गया। रौलट कानून और अमृतसर के जलियांवाला बाग के हत्याकांड से सारा देश क्षुब्ध था ही, तुर्किस्तान के खलीफा के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार के रुख को देखकर भारत के मुसलमान तथा अन्य लोग और अधिक क्षुब्ध हो उठे। ब्रिटिश सरकार के विश्वास-घात का जवाब देने के लिए खिलाफत आंदोलन छिड़ गया। इस आंदोलन में गांधी जी को खिलाफत कमेटी ने अधिकार दे दिया कि वे लार्ड चेम्सफोर्ड से बात करें और यदि संतोषप्रद निर्णय न हो तो सरकार से असहयोग करें।

गांधी जी ने मुसलमानों की धार्मिक भावना पर किये जानेवाले इस प्रहार का तीव्र विरोध किया। कहा कि 'खिलाफत के प्रश्न को मैं सर्वोपरि स्थान देता हूं। मुझे इसलाम की रक्षा के लिए मरने को तैयार रहना चाहिए। हिंदू अपना धर्म समझकर मुसलमानों की मदद करें। जबतक हिंदू मुसलमान एक नहीं होते तबतक स्वराज्य एक अर्थहीन आदर्श है। हिंदू-मुसलमान सगे भाई-बहन की तरह एक दूसरे से प्रेम करें और एक दूसरे का आदर करें। जबतक हिंदू और मुसलमानों के बीच सच्ची एकता स्थापित नहीं हो जाती तब तक इस साम्राज्य को मिटाना असम्भव है। दोनों में हार्दिक एकता हो तो हम एक साल में स्वराज्य की स्थापना कर सकते हैं'।[१]

कांग्रेस, खिलाफत कमेटी, जमैयतुल उलेमा तथा अन्य संस्थाओं ने जब एक साथ मिलकर आंदोलन छेड़ा तो सरकार के कान खड़े हुए। लार्ड लायड के शब्दों में आंदोलनकर्ता 'सफलता के एकदम निकट' तक पहुंच गये। बड़े लाट घबड़ा उठे।

असहयोग : पहली अगस्त १९१९ को गांधी जी ने असहयोग आरम्भ करने की घोषणा की थी, परंतु उसी दिन लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया। 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है'—ऐसी घोषणा करनेवाले उग्र नेता के निधन से देश को एक धक्का लगा। देश के बड़े-बड़े नेता जेल में बंद कर दिये गये। ५ फरवरी १९२२ को चौराचौरी हत्याकाण्ड से द्रवित होकर गांधी जी ने सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया। देश में अशांति के विरुद्ध गांधी जी ने उपवास किये। १० मार्च '२२ को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और ६ वर्ष की सजा दे दी गयी।

---

१. हरिभाऊ उपाध्याय : बापू कथा, अक्टूबर १९६९, पृ० १९-२०

फूट डालने का कुचक्र चालू रहने से देश में अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक उपद्रव होने लगे। लखनऊ समझौता और खिलाफत आंदोलन के कारण हिंदू-मुसलमानों के बीच जो भ्रातृत्व भावना बढ़ी और पनपी थी, उस पर पानी फिर गया। प्रतिक्रियावादी लोगों को, संप्रदायवादी लोगों को उभाड़ कर सांप्रदायिक एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया गया। ई० एम० एस० नंबूदरीपाद 'गांधी और उनका वाद' में लिखते हैं कि 'ईश्वर-अल्लाह का नाम लेनेवाले लोगों के अमानवीय कृत्यों से गांधी जी को अपार पीड़ा हुई। धर्म के नाम पर किये गये लोमहर्षक अत्याचारों का विरोध उन्होंने अनशन व्रत से किया। विभिन्न संप्रदायों के नेताओं ने उनसे वादा किया कि वे सांप्रदायिक शांति स्थापित करने में कोई बात उठा न रखेंगे। पर देश के जनजीवन पर उनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे, गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस स्वराज्य के सफल संग्राम की दिशा में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गयी, त्यों-त्यों सांप्रदायिक स्थिति बिगड़ती गयी। स्थिति यहाँ तक जा पहुँची कि आगे आने वाले सभी साम्राज्य विरोधी संघर्षों में सांप्रदायिक स्थिति गांधी जी की राह का सबसे बड़ा रोड़ा बन गयी।'

सांप्रदायिक त्रिकोण : भारत की सांप्रदायिक समस्या अंग्रेजों ने आरंभ से ही ऐसी बना दी कि उसका त्रिकोण बन गया। हिंदू और मुसलमान उसकी दो भुजाएँ थीं और ब्रिटिश सरकार उसका आधार। आधार की लंबाई जैसी-जैसी बढ़ती जाती, दोनों भुजाओं के बीच का कोण भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता। जहाँ हिंदू और मुसलमानों के बीच मैत्री और एकता बढ़ने लगती, वहाँ सरकारी दांवपेंच ऐसे चलने लगते कि स्थिति विषम हो उठती।

डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं कि 'सन् १९१६ से लेकर विगत ३० वर्ष के सांप्रदायिक उपद्रवों के इतिहास का निष्पक्ष रूप से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि देश के राजनीतिक इतिहास में जब-जब अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षण उपस्थित हुए हैं, तभी ये उपद्रव होते दिखाई देते हैं। जब-जब ब्रिटिश सरकार से जोरदार शब्दों में अधिकार प्रदान की मांग की जाती रही है और भारत के दो प्रमुख संप्रदायों के लक्ष्य और कार्य में साम्य हो गया है, तब-तब ये दंगे हुए हैं। दिसंबर १९१६ में कांग्रेस तथा लीग के बीच मैत्रीपूर्ण समझौता हो गया था। उसके बाद ही १९१७ में 'होमरूल' के लिए जोरदार आंदोलन छिड़ा। १९१७ के अन्त में बिहार के शाहाबाद जिले में भयंकर उपद्रव हुआ। दूसरे वर्ष १९१८ में युक्तप्रांत के कतारपुर में वैसा ही भीषण उपद्रव हुआ। खिलाफत आंदोलन और पंजाब के अत्या-

चारों के फलस्वरूप १९१२ से १९२२ तक हिंदू और मुसलमानों में पूर्ण मैत्री हो गयी, किंतु १९२२ में पुनः हिंदू-मुस्लिम दंगे आरंभ हो गये जो कई वर्ष तक जारी रहे।'[1]

भयंकर बीमारी के कारण गांधी जी ५ फरवरी १९२४ को ही जेल से मुक्त कर दिये गये। देश की सांप्रदायिक स्थिति देखकर उन्हें घोर कष्ट हुआ। दिल्ली, गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद, जबलपुर आदि में दंगे हुए। कोहाट में ऐसा भयंकर दंगा हुआ कि उसने भारत की कमर ही तोड़ दी। गाँधीजी ने इस उन्माद और हिंसा के लिए अपने आपको दोषी ठहराया और प्रायश्चित्त स्वरूप २१दिन का उपवास करने का निश्चय किया। अभी-अभी वे अपेंडीसाइटिस के भयंकर आपरेशन से उठे थे। स्वास्थ्य सुधर भी नहीं पाया था कि उन्होंने फिर अपने को अग्नि परीक्षा में झोंक दिया।

गाँधी जी के उपवास के निश्चय से सारा देश थर्रा उठा। तुरत विभिन्न संप्रदायों की 'एकता परिषद्' बुलायी गयी। उसके विभिन्न सदस्यों ने प्रतिज्ञा की कि वे धर्म और मत की स्वतंत्रता के सिद्धांत का पूरा पालन करने का प्रयत्न करेंगे और उत्तेजना मिलने पर भी इसके विपरीत आचरण की भरपूर भर्त्सना करेंगे। उपवास की समाप्ति पर गाँधी जी ने सबसे यह वचन चाहा कि हम हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के लिए मर मिटेंगे।

आश्वासनों के बावजूद १९२५ और १९२६ में भी दंगे होते रहे। इससे दुःखी होकर गाँधी जी ने कलकत्ता की एक सभा में कहा कि'मैंने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर ली है, पर मैं यह मानता हूँ कि एक-न-एक दिन हिंदू-मुसलमानों को एक होना पड़ेगा।'

वैधानिक सुधार की मांगें : इस बीच भारत के प्रमुख दलों की ओर से ब्रिटिश सरकार से वैधानिक सुधारों की मांगें सतत की जा रही थीं। मुस्लिम लीग की मांगें सुरसा के बदन की भांति बढ़ती चल रही थीं। मुहम्मद अली जिना की १४ मांगें मुसलमानों की मांगें बन गयीं। उनकी दो प्रमुख मांगें थीं—(१) भारत का शासन विधान संघ-शासन के आधार पर हो और (२) व्यवस्थापिका सभाओं और अन्य प्रतिनिधि संस्थाओं का संगठन ऐसा हो कि प्रत्येक प्रांत में बहुमत को अल्पमत या बराबरी का बनाये

---

१. राजेन्द्र प्रसाद : खण्डित भारत; पृ० १९०-१९१।

बिना ही अल्पमत को उचित तथा प्रभावी प्रतिनिधित्व दिया जाय। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में संघ-शासन को स्वीकृति मिल गयी। प्रतिनिधित्व के संबंध में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेमजे मेकडानेल्ड ने 'सांप्रदायिक निर्णय' दिया। इस निर्णय में मुसलमानों के १४ में से अधिकांश मांगें समाविष्ट कर ली गयीं। इस निर्णय में हिंदू और सिख, दोनों के साथ अन्याय किया गया। उन्होंने इस निर्णय का घोर विरोध किया किंतु उसे १९३५ के शासन विधान में सम्मिलित कर लिया गया।[1] पर न जाने क्यों मुस्लिम लीग संघ-शासन की सबसे बड़ी शत्रु बन गयी। चुनाव में लीग को चार प्रांतों में से एक में भी बहुमत न मिल सका। एक ही प्रांत में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि अधिक थे। इस कारण वह कांग्रेस का कट्टर शत्रु बन गयी।[2]

मुस्लिम लीग का आक्रोश बढ़ता गया। जिना साहब ने यह हठ पकड़ ली कि कांग्रेस हिंदुओं की प्रतिनिधि संस्था मान ली जाय और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। विश्वयुद्ध में भारत को बलात् सम्मिलित कर लेने के विरोध में जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पदत्याग किया तो उसके बाद ही लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया।

कांग्रेस चाहती थी कि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वाधीनता की घोषणा कर दे और युद्धकाल तक के लिए भारत में राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर दे। पर ब्रिटिश सरकार ने इन मांगों को ठुकरा दिया और १९३५ के संघ शासन वाले अंश को स्थगित कर यह घोषणा कर दी कि मुसलमान, दलित वर्ग और देशी नरेशों की सहमति बिना कोई भी शासन सुधार नहीं किया जायगा।

देश का विभाजन : सन् १९३० में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया कि हिंदू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं। मुसलमानों का राष्ट्र—पाकिस्तान—हिन्दुस्तान से पृथक् होना चाहिए। मुहम्मद अली जिना ने घोषणा की कि 'राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र हैं। अतः उनका अपना निवास स्थान, अपना प्रदेश और अपना राज्य होना चाहिए।'[3]

हिंदू महासभा एक ओर हिंदू राष्ट्र का राग अलापने लगी, मुस्लिम लीग दूसरी ओर पाकिस्तान का। अक्टूबर १९३८ में सिंध की प्रांतीय

१. राजेन्द्र प्रसाद : खण्डित भारत, पृ० २५२-२५३।
२. वही, पृ० २५४।
३. रीसेंट स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ मिस्टर जिना, पृ० १५५।

मुस्लिम लीग ने मांग की—'भारतीय महाद्वीप में शांति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दुस्तान को दो संघ शासनों में बाँट दिया जाय जिनमें से एक मुस्लिम राज्यों का संघ हो और दूसरा गैर-मुस्लिमों का।'[1]

गांधीजी ने देश को खंडित होने से बचाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी, पर जिना साहब पाकिस्तान की मांग पर ऐसे अड़े कि पाकिस्तान लेकर ही माने। पंडित जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल ने यह महसूस किया कि आये दिन के दंगों, उत्पातों, मारकाट और इन सांप्रदायिक उपद्रवों से देश की आंतरिक स्थिति भी नहीं संभाली जा सकती, उधर इस फूट का फायदा उठाकर ब्रिटिश सरकार मुसलमानों की पीठ ठोंकती रही, तब उन्होंने विवश होकर 'पाकिस्तान' अलग बनाने की मांग मंजूर कर ली।[2]

मार्च ४७ में लार्ड माउंटबेटन भारत के वाइसराय बनकर दिल्ली आ गये। उनके ध्यान में यह बात आ गयी कि गाँधी जी देश के विभाजन के लिए कतई तैयार नहीं हैं, चाहे सरकार-गठन का काम जिना साहब को ही सौंप दिया जाय। परंतु जिना साहब विभाजन के सिवा किसी बात के लिए तैयार ही नहीं थे। उधर कांग्रेस के नेताओं ने और कांग्रेस कार्य-समिति ने राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले दंगे-लूटपाट और रोमांचकारी घटनाओं को देखते हुए विवश होकर विभाजन की मांग को मंजूर कर लिया था। १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हो गया। लाहौर में ली गयी स्वतंत्रता पूरी हुई, परंतु लाहौर ही भारत में नहीं रहा।[3]

भयंकर नरमेध : कांग्रेस ने जिस नरमेध से बचने के लिए देश को खंडित करना स्वीकार कर लिया था, वह नरमेघ होकर ही रहा। आशंका से भी अधिक नरमेध हुआ। लाखों निरपराध स्त्री, पुरुषों और बच्चों पर पाशविक अत्याचार किये गये। स्त्रियों के सतीत्व के साथ खुलकर होली खेली गयी। पाशविकता का ऐसा नग्न नृत्य हुआ जिसकी किसी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। लाखों व्यक्ति लाखों की सम्पत्ति से वंचित होकर

---

१. एस० एम० चांद : महात्मा गाँधी और सांप्रदायिक एकता, १९७०, पृ० ८८

२. हरिभाऊ उपाध्याय: बापू कथा, पृ० १८७

३. वही, पृष्ठ १९६-१९७

दर-दर के भिखारी बन गये। उधर पंजाब में भारी प्रव्रजन हुआ, सांप्रदायिक उपद्रव हुए, इधर बंगाल में दंगों की बाढ़-सी आ गयी।

गांधी ने देश के विभाजन का विष भरा घूंट पीकर सोचा था कि शायद अब सांप्रदायिक उपद्रव न हों। पर जब उन्होंने देखा कि कलकत्ता में पुनः सांप्रदायिक ज्वाला भड़क उठी है तो वे प्राणों की बाजी लगाकर अनशन पर बैठ गये। पंजाब में एक लाख सैनिक जो शांति स्थापित नहीं कर सके थे, वह शांति गांधीजी ने कलकत्ता में अपने अनशन द्वारा स्थापित कर दी थी। बंगाल में शांति हो जाने पर वे पंजाब के लिए चल पड़े।

गांधी का बलिदान : देश के विभाजन के समय से जो सांप्रदायिक विष सारे देश में फैला, उसमें दिल्ली की स्थिति अत्यन्त भयंकर हो उठी। गांधीजी दिल्ली में शांति और सद्भाव स्थापित करने के लिए आतुर हो उठे। प्रार्थना सभाओं में वे अपना हृदय उंड़ेल देते थे, पर सांप्रदायिक विष अपना प्रभाव दिखाने से बाज नहीं आता था। तब उन्होंने आमरण उपवास का निश्चय किया। कुछ संप्रदायवादी तब भी गुमराह शरणार्थियों को लेकर "मरने दो गांधी" के नारे लगा रहे थे, पर जनता पर उपवास का असर पड़ने लगा। विभिन्न संप्रदायों के सौ के लगभग नेताओं ने प्रतिज्ञा की कि वे सांप्रदायिक एकता के लिए प्राणपण से चेष्टा करेंगे। वातावरण सुधरने लगा। तब गांधीजी ने उपवास तोड़ दिया। पर ३० जनवरी १९४८ को सायंकाल ५ बजे प्रार्थना सभा जाते-जाते सांप्रदायिकता ने उन्हें गोली से उड़ा ही दिया। उनके हाथ प्रणाम की "मुद्रा" में थे और मुंह पर "अंतिम शब्द" थे—"हे राम !"

गांधी जैसी पवित्र आत्मा का रक्त पान करके भी सांप्रदायिकता की काली तृप्त नहीं हुई। स्वतंत्र भारत के २५-२६ वर्षों के भीतर समय-समय पर अनेक बहानों से सांप्रदायिकता खुल खेलती है और सामुदायिक विघटन का कारण बनती रहती है।

संप्रदाय के लक्षण बताते हुए दादा धर्माधिकारी कहते हैं कि 'जिसमें हम जा सकते हैं और जिसमें से हम निकल सकते हैं, वह 'संप्रदाय' कहलाता है। इस्लाम संप्रदाय है। ईसाइयों का संप्रदाय है। सिखों का संप्रदाय है। मुसलमान, सिख, ईसाइयों में संप्रदाय ही वास्तविकता है। संप्रदाय हमेशा आक्रमणशील होता है, जयिष्णु होता है। उसमें विजिगीषा होती है। दूसरों को परास्त करने की आकांक्षा होती है। उसका स्वरूप चाहे जितना सौम्य

सांप्रदायिकता की प्रकृति

हो, वह उसमें अधिक-से-अधिक लोगों को शामिल करना चाहता है। संप्रदायवादी मानता है कि मेरा ही मार्ग सही है। लोग जब तक मेरे मार्ग पर नहीं आयेंगे तबतक वे नरक से बच नहीं सकते। वह दूसरों को उसमें आने के लिए फुसलाता है। शादी का, सम्मान का प्रलोभन देता है। फिर भी जो उसके चकमे में नहीं आते, उन्हें वह धमकाता है। संप्रदाय आक्रमण-शील बन जाता है। उसमें अपने सिद्धांत के लिए, अपने धर्म के लिए एक उन्माद, आवेश, जनून होता है। इस अंध आवेश के कारण संप्रदायवादी कहता है कि 'यह समझता नहीं है। यह बेवकूफ है, इसे मारपीट कर समझाना चाहिए।' संप्रदाय में जो उत्कृष्टता और तीव्रता होती है, उसका लक्षण यह है कि दुनिया में जितने आदमी हैं, सब को हम अपने में मिला लेना चाहते हैं।[1] दादा मानते हैं कि हिंदूओं के जातिवाद में से मुसलमानों का संप्रदायवाद इस देश में पनपा है।[2] उनका कहना है कि संप्रदायवाद का निराकरण प्रति संप्रदायवाद से नहीं हो सकता। 'इस्लामियत ही राष्ट्रीयता है'—मुसलमान ने कहा। हिंदू समाज ने जवाब दिया—"हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता है।" यह प्रतिसंप्रदायवाद है। वह कहता है, 'हमारी सत्ता जहाँ पर होगी वही पुण्यभूमि है।' पाकिस्तान का ठीक-ठीक अनुवाद है—पाक-पुण्य, स्तान-भूमि। मुसलमानों के संप्रदायवाद का जवाब है हिंदुओं का प्रति संप्रदायवाद। इससे लोक सत्ता की स्थापना हर्गिज नहीं हो सकती।[3]

स्पष्ट है कि उन्माद, आवेश, जनून, आक्रमणशीलता, प्रलोभन और जबरदस्ती, अपने को श्रेष्ठ मानना और सबको अपने ही मत का बनाने के लिए जी तोड़ प्रयत्न करना, उसके लिए सामदामदंडभेद सबका प्रयोग करना सांप्रदायिकता की प्रकृति है।

आधुनिक स्वरूप

सांप्रदायिकता आज भारतीय जीवन की नस-नस में व्याप्त हो गयी हैं। 'हिंदू पानी' और 'मुसलमान पानी' से लेकर जीवन के सभी क्षेत्रों में उसका प्रवेश हो गया है। जीवन के आर्थिक और राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक—सभी क्षेत्रों में सांप्रदायिकता का रंग भर गया है। कोई भी समस्या शायद ही उससे अछूती रहती हो। लोकतंत्र की रीढ़ है- मतदान। मतदान के हर बैलट

---

१. दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन, १९५७, पृ० २१०-२११

२. वही, पृ० २१४

३. वही, पृ० २२१-२२२

बक्स में, हर मतदाता पर उसकी छाप दीख पड़ती है। चुनाव ने, पदों और कुर्सियों की सुनहली माया ने सांप्रदायिकता को फूलने-फलने का अधिकतम अवसर प्रदान कर दिया है।

संप्रदायवादियों के प्रकार

संप्रदायवाद इतनी बुरी तरह व्यापक है कि उसके नाना प्रकार हो गये हैं। कहीं यह किसी रूप में प्रकट होता है, कहीं किसी रूप में। संप्रदायवादियों के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करते हुए रफीक खाँ कहते हैं—संप्रदायवादी अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ प्रमुख प्रकार ये हैं[1]—

१. करुणाप्रेरित संप्रदायवादी—अपनी राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक वरीयतासे प्रेरित होकर ये लोग अल्पसंख्यक संप्रदायवालों को 'बेचारे', 'राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े', 'धार्मिक दृष्टि से दकियानूसी', 'परिस्थितियों और स्वार्थी नेताओं के शिकार' आदि बताते हुए उनपर दया दिखाते हैं। पर जैसे ही कोई अल्पसंख्यक ऐसी दया से अपनी विरक्ति दिखाता है, वैसे ही ये चिढ़ उठते हैं और उन्हें 'कृतघ्न और दुष्ट' आदि बताने लगते हैं।

२. अफसरी पसंद संप्रदायवादी—ऐसे व्यक्ति अन्य संप्रदायवालों के प्रति उनके मातहत हों तो, बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं। उनका व्यवहार उदारतापूर्ण और मैत्रीपूर्ण होता है। पर यदि इन्हीं लोगों को स्वयं किसी अन्य संप्रदायवाले के मातहत काम करना पड़े अथवा वे उनके समकक्ष आ जायँ और उनके मतों और आचरणों की टीका करने की स्थिति में आ जायँ तो ऐसी स्थिति उन्हें सहन नहीं होती। फिर वे अन्य संप्रदायवालों के प्रति वैर-विरोध और द्वेषपूर्ण ही व्यवहार करते हैं।

३. सिद्धांत से संप्रदायवादी, व्यवहार से नहीं—ऐसे व्यक्ति अपने से भिन्न संप्रदायवालों को गंदा, दुष्ट, पिछड़ा और संकुचित मानते हैं। पर व्यवहार में उनमें से अनेक व्यक्तियों के साथ भाईचारे का व्यवहार करते हैं। इतनी घनिष्ठता भी कर लेते हैं कि वैवाहिक संबंध तक स्थापित कर लेते हैं। अपने मित्रों को कहते हैं कि वह 'उस' संप्रदाय का होते हुए भी अपने संप्रदायवालों की तरह नहीं है।

---

१. एम० रफीक खाँ (सम्पा०) : नेशनल इंटेग्रेशन : इट्स मीनिंग एंड रेलेवेन्स, १९७०, पृ० २०१—२१८

४. व्यवहार से संप्रदायवादी, सिद्धांत से नहीं—ऐसे व्यक्ति अधिकांश में बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ आदि होते हैं। संप्रदायवाद उन्हें पसंद नहीं। धर्म निरपेक्षता की ओर उनकी रुझान होती है, पर व्यवहार के अवसर पर उनका आचरण संप्रदायवादियों का-सा ही होता है। कहते हैं कि जब अन्य संप्रदायवाद सांप्रदायिक है तो मुझे आत्म-रक्षार्थ सांप्रदायिक व्यवहार करना पड़ता है।

५, प्रतिक्रियावादी और परस्पर संप्रदायवादी—ऐसे व्यक्ति अपने सांप्रदायिक विचारों को उचित मानते हैं और उपद्रव के लिए अपर संप्रदाय को ही दोषी ठहराते हैं कि उसी ने पहल की। अपने प्रतिक्रियावादी रुख से वे निर्दोष लोगों की हत्याओं और ऐसे अत्याचारों को भी सही ठहराते हैं। इन्हीं की तरह कुछ परस्पर संप्रदायवादी होते हैं जो कहते हैं कि अन्य संप्रदाय यदि सांप्रदायिकता का त्याग कर दे तो हम भी सांप्रदायिकता का त्याग कर देंगे।

६. पृथकतावादी संप्रदायवादी—ये चरम कोटि के संप्रदायवादी मानते हैं कि अन्य संप्रदायवालों के साथ कोई सामंजस्य संभव नहीं है। उनसे पृथक् हो जाना अथवा उन्हें देश से पृथक् कर देना ही एक-मात्र निराकरण का उपाय है।

७. विपर्यस्त संप्रदायवादी—हीनता की भावना से ग्रस्त ऐसे व्यक्ति अपने ही संप्रदाय के प्रति घृणा करते हैं कि उनका संप्रदाय अन्य संप्रदाय की भाँति उच्च आदर्शवाला क्यों नहीं है। कुछ लोग ऐसे व्यक्तियों को धर्म निरपेक्ष समझ बैठते हैं, पर है वह संप्रदायवादी।

८. ऐतिहासिक संप्रदायवादी—ये लोग मध्यकालीन इतिहास को आधार बनाकर देवस्थानों की तोड़-फोड़ और धार्मिक उपद्रवों की तथा वीर पूजा की चर्चा करते हैं। उनके मत से ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ ही संप्रदायवाद की प्रेरक बनती हैं।

रफीक खाँ का यह वर्गीकरण बहुत कुछ सही माना जा सकता है। सिद्धांत से हो चाहे व्यवहार से—जो भी व्यक्ति अन्य संप्रदाय के प्रति घृणा, द्वेष की भावना रखता है, विरोध और वैर की भावना को पालता-पोसता है, अपने धर्म और संप्रदाय को ही श्रेष्ठ मानता है, वह किसी भी रूप में क्यों न हो, है संप्रदायवादी। मात्रा का अंतर भले ही हो, पर अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो ऊपर से धर्म-निरपेक्षता का दावा करते हैं, पर भीतर-भीतर

साम्प्रदायिकता की भावना को ही प्रश्रय देते हैं। हमें पता है कि विधान सभा के एक चुनाव में एक मुसलमान सज्जन को भारतीय क्रांति दल का टिकट मिल गया था यद्यपि पहले वे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट थे। वे मुसलमानों से यह कह कर वोट मांगते थे कि मैं मुसलमान हूँ। कम्युनिस्टों से कहते थे कि मैं कम्युनिस्ट हूँ। हिंदुओं से कहते थे कि चरण सिंह की पगड़ी की लाज बचाना आपका कर्त्तव्य है! ऐसे बेपेंदी के लोटे जिस देश की राजनीति में रहते हैं, वहाँ यदि साम्प्रदायिकता और भ्रष्टाचार बढ़ता है तो आश्चर्य की कौन बात है?

साम्प्रदायिक उपद्रव

साम्प्रदायिक भावना साम्प्रदायिक उपद्रवों की जननी है। आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-सांस्कृतिक आदि कारण उसमें जुड़ जाते हैं। अविश्वास, भय, आशंका, नारे, अफवाहें, अराजक तत्त्व आदि मिलजुलकर सामान्य सी घटना को विकराल दंगे का रूप दे देते हैं। भारत का साम्प्रदायिक इतिहास बताता है कि अत्यंत सामान्य कारणों से समय-समय पर उपद्रवों की आग भड़क उठती है जिसमें सैकड़ों-हजारों ही नहीं, कभी-कभी असंख्य व्यक्ति हताहत होते हैं। धन-संपत्ति की लाखों की क्षति होती है उसके अतिरिक्त। पैशाचिकता और बर्बरता का नग्न नृत्य होने लगता है। रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं। लूटपाट और अग्निकांड, मारकाट, बलात्कार– कुछ भी बाकी नहीं रहता। मानव आनन-फानन दानव बन बैठता है। 'धर्म और सम्प्रदाय खतरे में है।'—इस नारे से बहक कर पढ़ा-लिखा समझदार व्यक्ति भी जघन्य कृत्य करने को तत्पर हो उठता है, निरक्षरों और अंधविश्वासियों का तो कहना ही क्या! 'हर हर महादेव' और 'अल्ला हो अकबर' का उद्घोष करनेवाले लोग धर्म के नाम पर निरपराध भाई-बहनों का रक्त बहाने में रत्ती भर नहीं शर्माते। कैसी भयंकर विडंबना है यह धर्म की!

उपद्रवों के कारण

साम्प्रदायिक उपद्रवों के मूल में साम्प्रदायिकता की भावना रहती है। ऊँच-नीच, छुआछूत, और भेदभाव की भावना, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, आर्थिक स्वार्थ, राजनीतिक स्वार्थ, संदेह, अविश्वास, भय, अफवाहें, नारे, अराजक तत्त्व, आदि मिल-मिलाकर पहले से बारूद तैयार रखते हैं। कोई भी उत्तेजक सामान्य-सी घटना सलाई का काम कर बैठती है। बस,

दंगा भड़क उठता है। हिंदू-मुसलिम दंगों के कुछ सामान्य कारण ये माने जा सकते हैं—

१. गोवध
२. मसजिद के आगे बाजा बजाना
३ होली के अवसर पर रंग पड़ जाना
४. मंदिरों, मस्जिदों की अवमानना
५. धार्मिक जुलूसों पर आक्रमण
६. देशभक्ति पर अविश्वास
७. पूर्वाग्रह, संदेह, शक, तनाव और भय
८. आर्थिक कारण
९ संकीर्ण राजनीति
१०. अराजक तत्त्व
११. अफवाहें आदि।

गोवध के प्रश्न को लेकर वर्षों से साम्प्रदायिक दंगे होते आ रहे हैं। गांधीजी कहते थे कि 'गोवध के लिए हम केवल मुसलमानों पर ही रोष करते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। अंग्रेजों के लिए रोज कितनी ही गायें कटती हैं, परंतु इस बारे में हम कभी जबान तक भी शायद ही हिलाते होंगे। लेकिन जब कोई मुसलमान गाय की हत्या करता है, तभी हम क्रोध के मारे लाल-पीले हो जाते हैं। गाय के नाम से जितने झगड़े हुए हैं, उनमें से प्रत्येक में निरा पागलपन भरा शक्ति क्षय हुआ है। इससे एक भी गाय नहीं बची। उलटे मुसलमान ज्यादा जिद्दी बने हैं और इस कारण ज्यादा गायें कटने लगी हैं।[1]

गोवध

गाँधीजी का कहना था कि[2] 'हिंदू और मुसलमान मुँह से तो कहते हैं कि धर्म में जबरदस्ती को कोई स्थान नहीं है, किंतु यदि हिंदू गाय को बचाने के लिए मुसलमान की हत्या करें, तो यह जबरदस्ती के सिवा और क्या है? यह तो मुसलमान को बलात् हिंदू बनाने जैसी ही बात है। और इसी तरह मुसलमान जोर जबरदस्ती से हिंदुओं को मस्जिदों के सामने बाजा बजाने से रोकने की कोशिश करते हैं, तो यह भी

मस्जिद के आगे बाजा

१. मो० क० गाँधी : यंग इण्डिया, २४-१२—१९३१
२. वही।

जबरदस्ती के सिवा और क्या है ? धर्म तो इस बात में है कि आस-पास चाहे जितना शोरगुल होता रहे, फिर भी हम अपनी प्रार्थना में तल्लीन रहें। यदि हम एक दूसरे को अपनी धार्मिक इच्छाओं का सम्मान करने के लिए बाध्य करने की कोशिश करते रहें, तो भावी पीढ़ियाँ हमें धर्म के तत्व से बेखबर जंगली ही समझेंगी।'

होली पर रंग पड़ना

होली हिंदुओं का त्योहार है। उसमें रंग आदि फेकने की प्रथा है। कभी-कभी रंग फेकते समय किसी मुसलमान पर रंग पड़ जाता है और वह सांप्रदायिक हुआ तो ऐसी घटना भी दंगे का कारण बन जाती है।

देवस्थानों की अवमानना

मंदिरों, मसजिदों आदि देव स्थानों की अवमानना भी कभी-कभी दंगों का कारण बनती है। मध्यकालीन युग में यदि किसी धर्मांध शासक ने ऐसा किया तो लोग उसके इतिहास को दुहराते हुए उसे सांप्रदायिक तनाव का एक साधन बना लेते हैं।

धार्मिक जुलूस

हिंदू और मुसलमान सभी वर्ष में अनेक बार अपने धर्मानुकूल तिथि को पर्व मनाते हैं। इस संबंध में जुलूस भी निकाले जाते हैं। ये जुलूस भिन्न संप्रदायवालों के देव स्थानों के निकट से भी गुजरते हैं। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी विरोध, छेड़-छाड़ आदि होती है जो वह आगे बढ़कर दंगे का कारण बन जाता है।

देशभक्ति पर अविश्वास

पाकिस्तान बनते समय अनेक मुसलमान पाकिस्तान चले गये। उनके अनेक निकट संबंधी भारत में ही रह गये। अपने आत्मीयों के प्रति उनका स्नेह रहना स्वाभाविक है। उनसे मिलने, पत्र-व्यवहार करने आदि के प्रसंग आते ही रहते हैं। अनेक धर्मांध हिंदू संप्रदायवादी इन सब बातों को ठीक नहीं मानते। ऐसे अनेक व्यक्ति मुसलमानों की देशभक्ति में अविश्वास प्रकट करते हैं। यह अविश्वास उन अवसरों पर अधिक बढ़ जाता है जब पाकिस्तान में कोई उपद्रव होता है अथवा वहाँ के निवासी हिंदुओं पर अत्याचार होता है। ऐसे अवसरों पर इसी कारण को लेकर दंगे छिड़ जाते हैं।

हिंदू हों या मुसलमान, अनेक व्यक्ति संप्रदायवादी दृष्टि से एक दूसरे को देखते हैं। दोनों ने दोनों के प्रति नाना प्रकार के पूर्वाग्रह बना रखे हैं। बरसों साथ-साथ रहने पर भी ऐसी धारणा दूर नहीं होती

पूर्वाग्रह, संदेह, भय

है तब परस्पर संदेह और अविश्वास बढ़ता जाता है। उसी के साथ भय और आशंका भी पनपती रहती है। ये सभी वस्तुएं मानस में भरी रहती हैं और छोटे-मोटे कारणों को लेकर ही दंगे करा देती हैं।

कभी-कभी आर्थिक कारण भी सांप्रदायिक उपद्रव के कारण बन बैठते हैं। आज के युग में समाज की आर्थिक अन्योन्याश्रयिता बहुत बढ़ गयी है। सांप्रदायिक भावना जब विरोध और विद्वेष का

आर्थिक कारण

रूप धारण करने लगती है, तब आर्थिक प्रतिद्वंद्विता और आर्थिक बहिष्कार की वृत्ति बढ़ने लगती है। पेट पर जब प्रहार होता है तो लोगों का उत्तेजित हो जाना स्वाभाविक होता है। ऐसे कारण भी कभी-कभी दंगों की सृष्टि में योगदान करते हैं।

राजनीति जब संकीर्ण रूप धारण कर लेती है, भाई-भतीजावाद, जाति-वाद, संप्रदायवाद, पक्षपात पनपने लगता है और अपने धर्म, संप्रदाय और पक्ष का ही हित सर्वोपरि बन बैठता है तो उसके चलते भी दंगे हो उठते हैं। इसी वृत्ति के कारण अन्य संप्रदायों के प्रति

संकीर्ण राजनीति

अन्याय और जबरदस्ती की नीति बरती जाने लगती है, जिसका कुपरिणाम आये दिन दंगों के रूप में दिखाई पड़ता है।

सांप्रदायिक उपद्रव हों, अथवा अन्य उपद्रव, समाज में कुछ अराजक तत्व ऐसे होते हैं जो अवसर का पूरा लाभ उठाना जानते हैं। समाज की अशांति से वे अपना स्वार्थसाधन करने में पटु रहते हैं। वे इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि समाज में किसी बहाने हिंसा फूट पड़े तो उन्हें लूटपाट करने और अपनी वासनाओं को चरितार्थ करने का मौका मिले। ऐसे

अराजक तत्व

तत्वों का हाथ दंगा करने में रहता ही है। स्पष्ट रूप से भले ही न दीख पड़ें पर अप्रत्यक्ष रूप से वे अपना कुचक्र चलाते ही रहते हैं।

अफवाहों का, जनप्रवाद का एक मनोविज्ञान होता है। भय, चिंता और जटिलता की स्थिति में राई का पर्वत बनते देर नहीं लगती। सामान्य-सी

बात पचीसों मुँहों से होते-होते, ऐसा रूप धारण कर लेती है कि उसे देखकर ही आश्चर्य होता है। एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा व्यक्ति अपनी ओर से कुछ-न-कुछ नमक-मिर्च लगाता हुए उसे बढ़ाता है – यही अफवाह का लक्षण और गुण है। एलपोर्ट और पोस्टमैन के अनुसार – किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति तक फैलायी गयी मौखिक चर्चा के माध्यम से विश्वास के निमित्त कही गयी कोई भी विशिष्ट गाथा अफवाह कहलाती है।'[१] गार्डनर मर्फी 'इन दि माइंड्स आफ मैन' में एक उदाहरण देते हैं—

अफवाहें

गली में एक हिंदू लड़के का एक मुसलिम लड़के से झगड़ा हो गया। मुसलिम लडका पिट गया।

१. एक मुसलमान ने दूसरे मुसलमान से कहा—'आजकल हिंदू लड़के मुसलिम लड़कों को पीटते हैं।'

२. दूसरे ने तीसरे से कहा—'अब तो हिंदू मुसलमानों को पीटने लगे।'

३. तीसरे ने चौथे से कहा—'मुसलमानों को अपना बचाव कर लेना चाहिए। हिंदू उन्हें मारने की योजना बना रहे हैं।'

४. चौथे ने पाँचवें से कहा—'हिंदुओं की योजना है कि होली के त्यौहार पर मुसलमानों पर आक्रमण करेंगे।'

५. पाँचवें ने छठे से कहा—'होली के दिन हिंदू लोग समूचे अलीगढ़ के मुसलमानों को मार भगायेगा।'

६. कोई अशुभ घटना न घटे यह सोचकर डिप्टी कमिश्नर ने मुनादी करा दी—'होली के दिन मुसलमान बाहर न निकलें।'

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से अफवाहों के चार प्रकार होते हैं—अत्युक्ति पूर्ण अफवाह, भयोत्पादक अफवाह, कपोलकल्पित अफवाह और औत्सुक्यपूर्ण अफवाह। ये चारों प्रकार की अफवाहें अपना-अपना प्रभाव डालती हैं। दंगों के प्रमुख कारणों में अफवाहों का अपना विशिष्ट स्थान होता है। दंगे भले ही उनके फलस्वरूप न हों पर दंगों के उत्तेजन में उनका हाथ रहता है।

राउरकेला के दंगे

मार्च १९६४ में राउरकेला में हुए उपद्रवों का गांधी विद्या संस्थान (वाराणसी) की ओर से जो अध्ययन हुआ, उसकी रिपोर्ट से पता चलता है कि अफवाहें कैसा अनर्थ ढाती हैं।

१. जी० डब्ल्यू० एलपोर्ट और लियो पोस्टमैन : दि साइकोलाजी ऑफ रयूमर, पृ० ६

जैसोर (पूर्वी पाकिस्तान—अब बंगला देश) में हिंदू लोगों पर अत्याचार हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया कलकत्ता में देखी गयी। उसके बाद राउरकेला से होकर पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की जो ट्रेनें गुजरीं उनमें मरे लोगों की कहानियाँ सुनकर राउरकेला में अफवाहों का बाजार गरम हुआ। ये अफवाहें उड़ीं—

भयोत्पादक

(क) मुसलमान (१०० से १०,००० तक) हिंदुओं पर आक्रमण करने आ रहे हैं।

(ख) मुसलमान हिंदुओं पर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं।

(ग) मुसलमानों ने पीने के पानी में विष मिला दिया है।

विद्वेषपूर्ण

(घ) हिंदू पूर्वी पाकिस्तान की घटनाओं का प्रतिशोध लेना चाहते हैं।

(ङ) मुसलमान हिंदुओं पर झूठे आरोप लगा रहे हैं।

(च) मुसलमानों ने शरणार्थियों को विष मिश्रित भोजन दिया है।

(छ) मुसलमानों ने स्टील कारखाने को बम से उड़ाने का प्रयत्न किया है।

(ज) मुसलमान एक मसजिद से एक ट्रांसमीटर का उपयोग कर रहे हैं।

उत्तेजनात्मक

(झ) सरकार ने मुसलमानों को कत्ल करने का आदेश दिया।

(ञ) प्रत्येक मुसलिम सिर लाने को २०० रु० मिलेगा।

(ट) मुसलमानों ने एक ग्वाला को मार दिया।

(ठ) आदिवासी मुसलमानों को मारना और लूटना चाहते थे।

(ड) पुराने राउरकेला में दंगा शुरू हो गया।

(ढ) पाकिस्तान कश्मीर के पीछे पड़ा है; उपद्रवों में चीनी लोगों का हाथ है आदि।[१]

सुगत दास गुप्त ने लिखा है कि ऐसी अफवाहें भी उड़ायी गयीं—

१. भारत में निवास करनेवाले सभी मुसलमान पाकिस्तान के गुप्तचर हैं।

२. आज जल कल में विष घोलते हुए एक मुसलमान रंगे हाथ पकड़ा गया।

---

१. चटर्जी, सिंह, राव : रॉयट्स इन राउरकेला, १९६७, पृ० ५७, ५८

३. पाकिस्तानी लोग शीघ्र ही भारत पर तोपों-बंदूकों से हमला करेंगे ।[१]

रिपोर्ट में कहा गया है कि राउरकेला के ८४·७ मुसलमानों ने बताया कि कुछ लोगों या दलों ने जान बूझकर ये अफवाहें फैलायीं ।[२] उनके मत से अफवाह फैलाने वालों में सबसे बड़ा हाथ प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का था, उसके बाद हिंदू महासभा और पंजाबियों का, फिर आदिवासियों, बंगालियों, सांप्रदायिक नेताओं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ और बाहरी लोगों का था ।[३] अफवाहें फैलाने का उद्देश्य था—हिंदू-मुसलमानों में भेद पैदा करना, प्रतिशोध लेना; नौकरी पाना, व्यापारिक होड़, गुप्तचरी, कश्मीर समस्या ।[४]

दंगों के कारण रिपोर्ट में बताया गया है कि उत्तरदाताओं ने राउरकेला के दंगों के कारण ये बताये—[५]

१. शरणार्थियों की ट्रेनें ।
२. यह अफवाह कि मुसलमान भारी संख्या में आक्रमण करने आ रहे हैं ।
३. यह अफवाह कि प्रत्येक मुसलमान सिर का २०० रु० मिलेगा ।
४. यह अफवाह कि मुसलमानों ने भोजन में विष मिला दिया ।
५. पाकिस्तान में हुए दंगों का प्रतिशोध लेने की भावना ।
६. समुदायों के बीच मतभेद और तनाव ।
७. उत्तेजनापूर्ण वातावरण ।
८. विरोधी तैयारी के बावजूद मुसलमानों की उदासीनता ।
९. प्रशासन की ढिलाई ।

राउरकेला के मुसलमानों ने यह मत प्रकट किया कि यदि सरकार ऐसी ही निष्क्रिय रही, अफवाहें ऐसी ही फैलती रहीं, अन्य संप्रदायों में विश्वास का अभाव रहा, बहुसंख्यक दल यदि धमकियाँ देता रहा और कश्मीर की समस्या का उचित समाधान न हुआ तो पुनः ऐसे दंगे हो सकते हैं ।[६]

---

१. वही, पृ० १२८
२. वही, पृ० ४७-४८
३. वही, पृ० ४९-५०
४. वही, पृ० ५१-५२
५. वही, पृ० १०१
६. वही, पृ० १०४

शोधकर्ताओं ने रिपोर्ट में स्थान-स्थान पर कहा है कि आदिवासियों ने अपनी हृद्गत भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति की। उन्होंने बताया कि अफवाहों को सुनकर वे (६६.६ प्रतिशत) बुरी भाँति डर गये और परिस्थिति का सामना करने के लिए सन्नद्ध हो गये। वे चाहते हैं कि सभी मुसलमान भारत से चले जायँ; मुसलमान भारत को अपनी मातृभूमि मानें; भारत-पाक मतभेद मिटाये जायँ; पाकिस्तान की ओर से की जानेवाली उत्तेजना रोकी जाय और भारत के मुसलमान पाकिस्तान में हिंदुओं पर किये जानेवाले अत्याचारों का विरोध करें।[१]

गाँधी विद्या संस्थान के बी० एन० जुयाल ने १९६७ के मुहर्रम के अवसर हुए काशी के सांप्रदायिक दंगे का अध्ययन करके यह मत प्रकट किया है कि हाल के सांप्रदायिक दंगे अधिकांशतः 'राजनीतिक दंगे' हैं। आपके कथनानुसार जनसंघ, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिंदू महासभा जैसी सांप्रदायिक संस्थाएँ दंगे को उत्तेजना देती हैं और उनके समर्थक समाचारपत्र अपने ढंग से समाचारों का प्रकाशन कर अनर्थ में सहायक बनते हैं। मतदान में भी ऐसी घटनाओं और सांप्रदायिक तनावों का लाभ उठाया जाता है। पुलिस प्रशासन उच्च अधिकारियों के प्रभाव में आकर कर्त्तव्य का ठीक ढंग से पालन नहीं करता।[२]

काशी के दंगे का अध्ययन

नस्ल की दृष्टि से हो या धर्म अथवा संप्रदाय की दृष्टि से हो, अल्पसंख्यकों की समस्या केवल भारत में ही नहीं है, विश्व में सर्वत्र है। जैसे अमरीका में काले-गोरे की समस्या, कैथोलिक प्रोटेस्टेंट की समस्या, यहूदी आदि की समस्या है, वैसे ही भारत में हिंदू-मुसलमान, सिख-ईसाई आदि अल्पसंख्यकों की समस्या है। अमेरिका में भी ऐसे पूर्वाग्रही लोग हैं जो अपने से भिन्न मत या संप्रदायवालों के प्रति पूर्वाग्रह बनाकर रखते हैं। उनमें असुरक्षा, सामाजिक आक्रमण, संकुचितता और अपने मन की गढ़ी तस्वीर रहती है।[३] उसी पूर्वाग्रह के अनुसार वे सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक

अल्पसंख्यकों की समस्या

---

१. वही, पृ० ६१, १०६

२. रफीक खाँ : नेशनल इंटेग्रेशन, लेख : बी० एन० जुआल : कम्यूनल रायट एण्ड कम्युनल पालिटिक्स : केस स्टडी आफ ए टाउन, पृ० १७२-२००

३. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ०, ६३२-६३७

और धार्मिक भेदभाव बरतते हैं।[१]

भारत में मुसलमान अल्पसंख्या में तो हैं, परंतु वे पीड़ित अल्पसंख्यक हैं; यह हाल की खोज है। ब्रिटिश सहायता से पृथकतावादी बुद्धिजीवियों ने यह खोज कर डाली। इस आधार पर अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच भेदभाव बढ़ाया गया। सांप्रदायिक संघर्ष द्वारा अंग्रेजों को भारत पर राज करना सुगम हो गया।[२]

ज्वलंत समस्या

सांप्रदायिक समस्या भारत की ज्वलंत समस्या है। गाँधी जी ने इस समस्या के निराकरण के लिए कोई भी बात उठा नहीं रखी। अल्पसंख्यक होने के नाते मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों अथवा हरिजनों को कोई असुविधा न हो, इसके लिए उन्होंने स्वयं ही उन्हें अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान कीं, अधिकतम प्रतिनिधित्व प्रदान किया और अधिक-से-अधिक अधिकार देने के लिए अपनी तैयारी बतायी। फिर भी सांप्रदायिक विद्वेष से अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले तत्व संतुष्ट नहीं हुए। उसका कुपरिणाम वैर-विरोध और संघर्ष के रूप में आज भी दिखाई पड़ता है।

क्षेत्र

सांप्रदायिक समस्या का क्षेत्र भारतव्यापी तो है ही, पाकिस्तान से भी उसका बड़ा लगाव है। एक देश में चलनेवाली घृणा और विद्वेष की लहर अन्य देश में भी अपनी प्रतिक्रिया दिखाती रहती है। सांप्रदायिकतावादी दल और व्यक्ति समय-समय पर जो विषवमन करते रहते हैं, उसकी हिलोर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जा पहुँचती है। सीधे-सादे सरल व्यक्ति, धर्म और जाति आदि के नाम पर सहज ही आततायियों के हाथ में खेल जाते हैं। एक स्थान की लपट दूसरे स्थान को और दूसरे स्थान की लपट तीसरे स्थान को अपने प्रभाव में लपेट लेती है। सारे देश में ज्वाला धधक उठती है।

सांप्रदायिकता का प्रभाव थोड़े से पीड़ित व्यक्तियों पर ही नहीं पड़ता, उसका सारे समाज पर प्रभाव पड़ता है। जो लोग उस आग में स्वाहा होते हैं, जलते और झुलसते हैं, उनका तो सर्वनाश होता ही है, उनके परिवार-

---

१. वही, पृ० १३७-१४४

२. सुदीप्त कविराज : फार ए सैक्यूलर सोसाइटी, सेक्यूलर डेमोक्रेसी, वार्षिकांक, १९७३, पृ० १८

वाले उनके सगे-संबंधी, उनके पास-पड़ोसी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। धीरे-धीरे यह प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता चलता है।

प्रभाव

इससे जन-धन की तो पर्याप्त हानि होती ही है, भय और आशंका, चिंता और अविश्वास इतना बढ़ जाता है कि मानव का सहज जीवन ही कुंठित होने लगता है। प्रेम और सद्भाव से जीवन में जो निश्चिंतता, सुरक्षा और दृढ़ता आती है, भय और अविश्वास से उसकी सर्वथा उलटी स्थिति आ जाती है। सामुदायिक जीवन का सारा आनंद ही जाता रहता है।

सांप्रदायिकता निवारण का एकमात्र उपाय है सांप्रदायिक एकता। प्रेम, मैत्री और सद्भाव की आधारशिला ही सांप्रदायिक एकता ला सकती है। भेदों का निराकरण, सहजीवन का विकास,

निवारण के उपाय

परमत सहिष्णुता, सर्व धर्म समादर और आत्मीयता का विस्तार जितना अधिक होगा, एकता उतनी ही दृढ़ और पुष्ट होगी।

एकता की प्रतिज्ञा : सांप्रदायिक एकता के लिए गाँधीजी की यह प्रतिज्ञा आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी सन् १९१९ में थी—

"भगवान या अल्लाह को साक्षी देकर हम हिंदू और मुसलमान यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम एक-दूसरे के प्रति एक माता-पिता की संतान की भाँति ही व्यवहार करेंगे। हम परस्पर कोई भेद-भाव नहीं रखेंगे। एक-दूसरे की मुसीबतों और दुःखों को अपना ही मानेंगे और एक-दूसरे के दुःखों को दूर करने में भरपूर सहायता करेंगे। हम एक-दूसरे के धर्म या मजहब तथा एक-दूसरे की धार्मिक भावनाओं का सम्मान और आदर करेंगे और एक-दूसरे के धार्मिक विश्वासों तथा कार्यों के मार्ग में बाधक नहीं बनेंगे। धर्म के नाम पर हम कभी भी एक-दूसरे के प्रति हिंसात्मक व्यवहार नहीं करेंगे।"

आत्माहुति : इस प्रतिज्ञा का यदि सच्चे हृदय से पालन किया जाय तो सांप्रदायिक एकता को बढ़ते देर न लगे। यह अवश्य है कि इसके पालन के लिए त्याग और आत्माहुति की भी आवश्यकता पड़ सकती है। वैसी ही आत्माहुति जैसी कानपुर में १९३१ में गणेशशंकर विद्यार्थी ने दी अथवा अहमदाबाद में १९४६ में बसंत राव हेगिस्टे और रज्जब अली ने दी।

मार्च १९३१ के अंतिम सप्ताह में विद्यार्थीजी का बलिदान हुआ।

सांप्रदायिक आग की लपटों से पीड़ित हिंदुओं और मुसलमानों की रक्षा करने के प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी। कराँची काँग्रेस अधिवेशन में जब यह समाचार पहुँचा तो सभी लोग स्तब्ध रह गये। उनके बलिदान की सराहना का प्रस्ताव जब पढ़ा गया तो अनेक व्यक्ति सिसकियाँ लेने लगे। बाद में गाँधीजी ने भरे हृदय से कहा—

"मैं यह नहीं मानता कि गणेशशंकर की आत्माहुति व्यर्थ गयी। मुझे जब उनका नाम याद आता है तो उसकी ईर्ष्या होती है। इस देश में गणेशशंकर अमर हो गया। उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी। उसीकी तरह कुल्हाड़ी से प्रहार सहते हुए मैं शांतिपूर्वक मरूँ तो मेरी अहिंसा भी सिद्ध होगी। एक तरफ से एक-एक मनुष्य मुझपर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरा दूसरी तरफ से बर्छी मार रहा हो, तीसरा लाठी मार रहा हो और चौथा लात-घूँसे बरसाता जाता हो—ऐसी अवस्था में भी मैं खुद शांत रहूँ और लोगों से शांत होने को कहूँ और खुद हँसता हुआ मरूँ, ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे ऐसा मौका मिले और आपको भी मिले।"[१]

ऐसी आत्माहुति सरल वस्तु नहीं है। युद्ध के मैदान में जैसी वीरता अपेक्षित है, उससे कहीं ऊँची वीरता यहाँ अपेक्षित है। अहमदाबाद में दो युवकों की आत्माहुति की सराहना करते हुए गाँधीजी ने लिखा—

"सच्ची अहिंसा का काम हमेशा ही मुश्किल होगा, क्योंकि उसमें ज्यादा बहादुरी की आवश्यकता पड़ती है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि गणेशशंकर विद्यार्थी, बसंतराव और रज्जब अली आदि की अहिंसा ऐसी थी। लकिन सामूहिक या जातीय स्तर पर हम प्रत्यक्ष रूप में कुछ फल नहीं दिखा सके। ऐसा फल दिखाने के लिए अनेक विद्यार्थियों को बलिदान देना होगा। बसंतराव और रज्जब अली ने जो उदाहरण पेश किया, उसपर अहमदाबाद में दूसरे लोग अमल नहीं कर सके। यह सिद्ध करता है कि हममें अबतक सचमुच प्राणों की बलि दे देने का तत्व नहीं आया है।"[२]

अहमदाबाद के दंगों का समाचार पाकर गाँधीजी ने मोरारजी देसाई को बुलाकर कहा—'आपको अहमदाबाद जाकर दंगा ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करना चाहिए। आपस में लड़ रहे लोगों के बीच, पुलिस और फौज की मदद लिये बगैर, जाकर उन्हें लड़ने से रोकना चाहिए। जरूरत हो तो अपनी

१. ईश्वर प्रसाद वर्मा : अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी, १९७२, पृ० ११
२. मो० क० गाँधी : हरिजन सेवक, ४-८१-९४१

बलि चढ़ाकर भी आग को शांत करना चाहिए। मुझे तो आज की स्थिति में एकमात्र यही सच्चा उपाय नजर आता है।' अंत में कहा—'मुझे जो सूझा, वह मैंने आपसे कहा है, परंतु आखिर तो आप को जो ठीक लगे, वही आपको करना चाहिए, यह भी मैं मानता हूँ।"[१]

प्रशासनिक कड़ाई : प्रशासन यदि ढीला रहता है। समय पर उपयुक्त कारवाई नहीं करता तो दंगा बढ़ते देर नहीं लगती। आत्मबलि की गाँधी जी की भावना का आदर करते हुए भी मोरारजी सात दिन के भीतर अहमदाबाद दंगा दमन करने में समर्थ हुए, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी आत्मकथा में वे उपाय लिखे हैं जिनसे उन्हें सफलता मिल सकी।[२] संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. धारा १४४ उठा दी। पीड़ित क्षेत्रों में कार्यकर्ताओं के साथ घूमना और सबकी बातें सुनना आरंभ कर दिया।
२. जनता को समझाना आरंभ किया कि उत्तेजक कृत्यों में भाग मत लो। इससे घबराहट घटने लगी।
३. उपद्रव में संलग्न प्रत्येक व्यक्ति के साथ कड़ाई बरतना आरंभ किया, फिर वह चाहे हिंदू हो चाहे मुसलमान।
४. जो कांग्रेस जन पैसे देकर प्रतिशोध के लिए लोगों को उकसा रहे थे, उनसे स्पष्ट कहा कि यह ठीक नहीं है। इसे बंद करिये वर्ना जेल भेज दूँगा।
५. एक पुलिस कमिश्नर पक्षपाती जान पड़ा तो गवर्नर से कहा कि उसका तबादला कर दें। उसने टाल दिया। पुनः जोर डाला तो विवश होकर उसे हटाने की अनुमति दी। उसे सेवानिवृत कर दिया।
६. एक जूनियर अंग्रेज अधिकारी को नियुक्त कर उससे कहा कि ये उपद्रव ७ दिन के भीतर बंद हो जाने चाहिए अन्यथा आपको हटाकर अन्य अधिकारी को रख दूँगा। सात दिन में उपद्रव शांत हो गया।
७. शांति समिति में कुछ लोगों को जब उपद्रव उकसाते देखा तो आगे वैसी समिति बनायी ही नहीं।

---

१. मोरारजी देसाई : मेरा जीवन वृत्तांत, १९७२, पृ० २५४
२. वही, पृ० २५४-२६८

८. उपद्रवग्रस्त क्षेत्र में ५० हजार रु० से डेढ़-दो लाख रु० तक सामूहिक जुर्माना कर दिया। इसका तीव्र विरोध हुआ, परंतु लोगों को समझाया कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि शांति बनाये रखने में सक्रिय सहयोग प्रदान करे।
९. जुर्माना से दंगापीड़ित लोगों की सहायता की।
१०. कुछ उपद्रव भड़कानेवाले हिंदू नेता मिले तो उनसे स्पष्ट कह दिया कि भविष्य में ऐसी बात करेंगे तो जेल भेज दूँगा।
११. सिखों से कहा कि वे तलवार लेकर न चलें। विरोध करने पर समझाया कि अशांत वातावरण में तलवार लेकर चलने की अनुमति नहीं दी जा सकती।
१२. सिखों ने 'आत्मघाती दल' की योजना बनायी थी कि दस-दस, बारह-बारह सिख लोग मुसलिम बस्ती में जाकर उत्तेजना पैदा करें जिससे मुसलमान उनपर आक्रमण कर दें। जिससे वे मर जायँ। इसके फलस्वरूप मुसलमानों के विरुद्ध जब सरकार कड़ी कार्रवाई करेगी तो वे विवश होकर बंबई छोड़कर भाग जायँगे। सिख नेताओं को बुलाकर कहा कि यदि इस तरह आत्मघाती दल की योजना चालू करेंगे तो याद रखें कि भारी मुसीबत उठानी पड़ेगी। अतः यह योजना समाप्त हो गयी।

उसी समय होमगार्ड योजना बनायी गयी। उससे आगे चल कर पर्याप्त लाभ हुआ।

मोरारजी की इस योजना में मुख्य बातें ये हैं—

१. उपद्रव भड़कानेवाले व्यक्तियों, दलों, संप्रदायों के प्रति लेश मात्र भी नरमी न बरती जाय।
२. उपद्रव में पक्षपात करनेवाले अधिकारियों को तुरत हटा दिया जाय।
३. सामूहिक जुर्माना और पीड़ितों के लिए उसका उपयोग किया जाय।
४. शांति समिति भी यदि अपने नाम को सार्थक करती न दिखे तो उसकी भी उपेक्षा की जाय।
५. आतंक समाप्त करने के लिए दंगा पीड़ित क्षेत्र में जाना, लोगों को समझाना और प्रतिबंधों को ढीला करना।

विवेक और सूझबूझ से, तत्परता और कड़ाई से काम किया जाय तो सांप्रदायिक उपद्रवों को रोकना कठिन नहीं है। इसके लिए समाचारों, अफवाहों और अखबारों पर भी कड़ा नियंत्रण आवश्यक है।

राउरकेला के दंगों के संबंध में की गयी शोध में वहाँ के ९२·४ मुसलमानों ने, १०० प्रतिशत आदिवासियों ने और ७९·७ प्रतिशत हिंदुओं ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि यदि सरकार की ओर से उचित कदम उठाये जाते तो राउरकेला के दंगे रोके जा सकते थे।[1] प्रशासनिक कड़ाई और अधिकारियों की तत्परता तथा कर्त्तव्यपरायणता से दंगा शमन कठिन नहीं है।

सहजीवन : ये तो तात्कालिक उपाय हैं। परंतु सांप्रदायिकता के निराकरण के लिए स्थायी और दीर्घकालीन उपाय हैं—पारस्परिक प्रेम, सद्‌भाव और परमत सहिष्णुता। इसके लिए सहजीवन परम आवश्यक वस्तु है। 'खण्डित भारत' में राजेन्द्र बाबू ने विस्तार के साथ बताया है कि किस प्रकार हिंदू और मुसलमान शताब्दियों से परस्पर मिल-जुलकर रहते आये हैं। उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर, उनके रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज आदि पर जो स्थायी प्रभाव रहे हैं, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनों संप्रदाय इतने दीर्घकाल तक साथ-साथ रहते आये हैं, दोनों के मैत्री संबंध इतने दृढ़ रहे हैं कि उन्हें अलग-अलग मानने का प्रश्न ही नहीं है। दूर देहातों में आज भी हिंदू और मुसलमान सगे भाइयों की भाँति रहते और एक दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बँटाते हैं। शहरों में ऐसा सद्‌भाव कम है। राजनीति ने और अंग्रेजों की भेदनीति ने सांप्रदायिकता की आग सुलगाकर सारा वातावरण विषाक्त बना दिया है। सहजीवन द्वारा, प्रेम और सद्‌भाव द्वारा, मैत्री और विश्वास द्वारा ही सांप्रदायिकता को मिटाया जा सकता है।

धार्मिक एकता : कोई यह मानकर चले कि भारत से मुसलमान पूर्णतः नेस्तनाबूद हो जायँगे अथवा हिंदू समाप्त हो जायँगे, वह स्वप्नलोक का ही प्राणी माना जायगा। तो जब दोनों को साथ-साथ रहना ही है तो क्यों न प्रेम और सद्‌भावपूर्वक रहें ? आज भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ किसी गाँव में किसी हिंदू की लड़की ब्याही है तो उस गाँव के मुसलमान भी उस गाँव का पानी नहीं पीते ! भाईचारे की यह भावना पनपाने की आवश्यकता है। संतों और फकीरों ने इस भ्रातृ-भावना को बहुत विकसित किया है। उनके उस सूत्र को आगे बढ़ाना ही सांप्रदायिकता का स्थायी समाधान है—

---

१. रायट्स इन राउरकेला, पृ० ७१-७२

दोनों भाई हाथ पग दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं हिंदू-मुसलमान।।
हम सब देख्या सोधि कैं, दूजा नाहीं आन।
सबकी एक हि आतमा क्या हिंदू-मुसलमान।।—दादू

वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए।
को हिंदू को तुरक कहावै एक जमी पर रहिए।।
पढ़े कतेब वे मुल्ला कहिए वेद पढ़ैं वे पांडे।
बेगरि बेगरि नाम धराए इक मटिया के भांडे।।
गहना एक कनक तें गहना इन महिं भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे सोइ नमाज सोई पूजा।।
अल्ला गैब सकल घट भीतर हिरदै लेहु विचारी।
हिंदू तुरक दुहूं महं एकै कहै कबीर पुकारी।।—कबीर

कृष्ण करीम रहीम राम हरि जब लगि एक न देखा।
वेद कतेब कुरान पुरानंनि तब लगि भ्रम ही देखा।।—रैदास

दुई दूर करो कोई सोर नहीं हिंदू तुरक कोई होर नहीं।
सब साधु लखो कोई चोर नहीं घट-घट में आप समाया है।।
—बुल्ला शाह

हिंदू कहैं सोहम बड़े मुसलमान कहें हम्म।
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म।।
कुण जादा कुण कम्म कभी करना नहिं कजिया।
एक भगत हो राम दूजा रहिमान से रजिया।।
कहै दीन दरवेश दोय सरिता मिल सिंधू।
सबका साहब एक, एक मुसलिम इक हिंदू।।—दीन दरवेश

सब मंह रमि रहिया प्रभु एकहि।
पेखि-पेखि नानक बिगसाई।।—नानक

कोई वोले राम राम कोई खुदाइ।
कोई सेवै गुसईआ कोई अलाहि।।
कारण करम करीम।
किरपा धारि रहीम।।

कोई नावै तीरथि कोई हज जाइ। कोई करै पूजा कोई सिरु निवाइ।।
कोई पढ़ै वेद कोई कतेव। कोई ओढ़ै नील कोई सुपेद।।

कोई कहै तुरकु कोई कहै हिंदू । कोई बाछे भिसतु कोई सुरगिंदु ।।
कहु 'नानक' जिनि हुकमु पछाता । प्रभु साहिब का तिनु भेदु जाता ।।[१]
—नानक

सभी धर्मों का बाह्य स्वरूप और आचार भिन्न दीखता है, पर मूलतः सभी धर्मों के अंतस् में सत्य, प्रेम और करुणा की ही त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है । भारत की इस रंग-बिरंगी फुलवारी की शोभा उसके विकास में ही है । अनेकता के भीतर एकता के दर्शन करने से ही भारतीय समाज और भारतीय कल्याण होगा ।

शांति सेना : गांधी जी ने शांति सेना की जो कल्पना की थी, विनोबा ने उसे विकसित किया है । भारतीय शांति सेना मंडल देश के विभिन्न भागों में शांति सेना के माध्यम से देश में शांति लाने के लिए प्रयत्नशील हैं । तरुण शांति सेना तरुणों में शांति की सक्रिय भावना विकसित कर रही है । स्थान-स्थान पर शांति समितियाँ दंगा शमन का कार्य तो करती ही हैं, सांप्रदायिक ऐक्य के लिए यथासाध्य प्रयत्न करती हैं । अभी शांति सैनिकों की संख्या बहुत थोड़ी है । आवश्यकता इस बात की है कि देश के प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक नगर में और नगर के प्रत्येक मुहल्ले में शांति सेना खड़ी रहे । वह केवल अशांति के अवसर पर ही शांतिस्थापन न करे, शांति-काल में सांप्रदायिक प्रेम, सद्भाव और मैत्री को यथाशक्ति बढ़ाये ।' जैसे-जैसे यह मैत्री भावना बढ़ेगी, वैसे-वैसे सांप्रदायिक एकता की नींव पुष्ट होने लगेगी ।

सत्साहित्य : साहित्य का जनता के मानस पर स्थायी और व्यापक प्रभाव पड़ता है । पत्रिकाएँ भी जनमानस को उद्वेलित करने में बड़ा हाथ बँटाती हैं । सांप्रदायिक एकता के विस्तार और विकास के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार का अधिकतम प्रयास किया जाय । पुस्तकों में और पत्र-पत्रिकाओं में सांप्रदायिक एकता, राष्ट्रीय एकता और प्रेम, मैत्री तथा सद्भाव बढ़ानेवाले लेख ही प्रकाशित किये जायँ । घृणा और विद्वेष, वैर और विरोध फैलाने वाले विचारों और समाचारों पर कड़ा प्रतिबंध लगाया जाय । आज ऐसे साहित्य की अत्यधिक आवश्यकता है जिससे विभिन्न धर्मोंवाले, मतों और संप्रदायों वाले लोग एक दूसरे को समझें और एक-दूसरे के निकट आयें ।

---

१. श्री गुरुग्रंथ साहिब जी, पृ० ८८५

अन्य उपाय : सांप्रदायिक एकता के प्रसार के लिए साहित्य के अतिरिक्त कला, संगीत, नाटक तथा ऐसे सभी प्रचार साधनों का भी भरपूर उपयोग होना चाहिए। बालकों से लेकर वृद्धों तक, स्त्रियों से लेकर पुरुषों तक सब में प्रेम और एकता की भावना का विकास होना चाहिए। सभी लोग, सभी दल और सभी संप्रदाय जब मिलकर ऐसा प्रयत्न करेंगे, तभी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है और तभी सांप्रदायिक समस्या का निराकरण हो सकता है।

अध्याय : २१

भाषावाद : क्षेत्रवाद

जातिवाद और सांप्रदायिकता से ही जुड़ी हुई कड़ी है—भाषावाद और क्षेत्रवाद। भारतीय लोकतंत्र की नींव पर प्रहार करनेवाली इन दोनों समस्याओं का जबतक स्थायी समाधान नहीं होता तबतक देश के टुकड़े होना बंद न होगा।

भारतीय भाषाएँ

५४ करोड़ ८० लाख की जनसंख्यावाले भारत जैसे विशाल देश में १६५० से अधिक भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं, एक-से-एक उत्तम, बढ़िया और एक-से-एक मीठी और सलोनी। १५-१५ समृद्ध भाषाओं वाले इस महान देश में हिंदीभाषी १६ करोड़ ९० लाख हैं, तेलगुभाषी ४।। करोड़। बंगलाभाषी ४ करोड़ १० लाख हैं, मराठीभाषी ४ करोड़ ५ लाख। तमिलभाषी ३ करोड़ ६० लाख हैं, गुजराती-भाषी २ करोड़ ६० लाख। कन्नड़भाषी २१ करोड़ हैं, मलयालम २ करोड़ २० लाख। उड़ियाभाषी १ करोड़ ९० लाख हैं, पंजाबीभाषी १ करोड़ २० लाख। असमीभाषी ९० लाख हैं, कश्मीरी-भाषी ५५ लाख। संस्कृतभाषी ३ हजार हैं तो उर्दूभाषी २।।। करोड़। ७ करोड़ से ऊपर अन्य भाषाभाषी हैं। इन भाषाओं का साहित्य कितना समृद्ध, उन्नत, भव्य एवं विशाल है कि देखकर चित्त गद्‌गद हो उठता है।

तुलसी का रामचरित मानस हो, चाहे सूर, कबीर, मीरा रैदास के पद हों; गुरु ग्रंथ साहिब हों, चाहे तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर के अभंग हों; कुवलय माला हो, चाहे लल्लेश्वरी के गीत हों; गीतांजलि हो, आनंदमठ हो चाहे श्रीकांत; चंडीदास के पद हों चाहे रामप्रसाद के; विद्यापति के पद हों चाहे कमलाकान्त के; शंकर देव के पद हों, चाहे नामघोषा के; तिरुवल्लुदर कुरल हो चाहे कंबन की रामायण; वल्लातोल की कविता हो चाहे नृपतुंग का कविराज मार्ग; गिरनारा के सोरठी दोहे हों चाहे धूमकेतु और मेघाणी की प्राणदायी रचनाएँ हों; मीर और गालिब के शेर हों चाहे इकबाल और अकबर की बुलंदखयाली हो—तमाम भारतीय भाषाओं की झोली में ऐसे असंख्य अनूठे रत्न भरे पड़े हैं कि उनकी शोभा देख-देख कर हृदय और गद्‌गद् हो जाता

है। कालिदास और भवभूति की रचनाएँ जिस प्रकार मानव को भावविभोर कर देती हैं, उसी प्रकार हिंदी, उर्दू, कश्मीरी, पंजाबी, सिंधी, मराठी, गुजराती, असमिया, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं की अमर रचनाएँ मानव को मुग्ध किये बिना नहीं रहतीं। रस-ही-रस भरा पड़ा है इन भाषाओं के अमर वाङ्मय में। जो भी उसमें गोते लगाता है, कृतकृत्य हो उठता है।

भाषावाद

मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन है—भाषा। कोषकार रामचन्द्र वर्मा के अनुसार—'मुख से उच्चरित होनेवाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह 'भाषा' है जिसके द्वारा मन की बात बतलायी जाती है।' हृद्गत भावों के आदान-प्रदान से ही मानव का विकास होता है। उसी के माध्यम से ज्ञान का प्रचार और प्रसार होता है। भाषा के सर्वोत्तम स्वरूप का विकास काव्य और साहित्य में होता है। रस की अनंत धारा बह उठती है।

यह हुआ भाषा का सर्वहितकारी स्वरूप। पर जब यही भाषा भाषावाद का स्वरूप धारण कर लेती है तो उसका स्वरूप विकृत हो उठता है। मेरी ही भाषा सबसे अच्छी। मेरी ही भाषा सब लोग ग्रहण करें। देश में ही नहीं, विदेश में भी मेरी ही भाषा चले, उसी की उन्नति और उसी का विकास हो, अन्य भाषाओं का न हो—यह भावना जब वाद का रूप धारण कर लेती है, तब उसे 'भाषावाद' कहते हैं।

परिभाषा

सांप्रदायिक आवेश के समान ही भाषा संबंधी आवेश जब हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है, किसी एक भाषा के समर्थन या विरोध में जब अनेक व्यक्ति उग्र प्रदर्शन करते हैं, उसके लिए मारपीट और हिंसा पर आमादा हो जाते हैं, तब भाषावाद खुल खेलता है—'अपनी ही भाषा को सर्वश्रेष्ठ मान कर उसी की सर्वोपरि मान्यता के लिए उत्कट आंदोलन करना 'भाषावाद' है।' अपनी भाषा का समर्थन और अन्य भाषाओं का विरोध भाषावाद की प्रकृति है।

अंग्रेजों के साथ-साथ भारत में अंग्रेजी भाषा का पदार्पण हुआ। अंग्रेजी की शिक्षा दीक्षा के विकास के साथ उस का भारत में विशेष प्रचार आरंभ हुआ। शासकों की भाषा सहज ही प्रचलित हो उठती है। स्कूल,

इतिहास

कालेज, विश्वविद्यालय आदि शिक्षा संस्थानों में अंग्रेजी का आधिपत्य जमा, साथ ही शासन-व्यवस्था, न्यायालय आदि में भी उसका सिक्का जमा। अधिकारी और अध्यापक, जज और वकील, शिक्षक और शिक्षित सभी अंग्रेजी की ओर झुके। सारे देश में अंग्रेजी भाषा ने आदर और सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया। उसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी सर्वत्र छा गयी। सत्ता के साथ-साथ उसका देश के कोने-कोने में प्रसार हो गया। भारत पर अंग्रेजी लाद दी गयी।

अंग्रेजी प्रसार : विनोबा कहते हैं कि जब भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का राज्य चला, तब शिक्षण का सवाल उठा। एक विचार यह था कि पुराने ढंग से तालीम दी जाय। परंतु मेकाले ने कहा कि अंग्रेजी तालीम दी जाय। आखिर अंग्रेजी तालीम का विचार जीत गया और सरकार ने यहाँ अंग्रेजी चलायी। उसने केवल अंग्रेजी सिखायी ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी के द्वारा तालीम दी। जो भी विषय सिखाये, वे सब अंग्रेजी में सिखाये। मराठी भाषा भी सीखनी होती थी तो अंग्रेजी के माध्यम से ही सीखनी होती थी। संस्कृत तो अंग्रेजी के द्वारा पढ़ाते थे ही। इस तरह अत्यन्त अस्वाभाविक रीति से अंग्रेजी यहाँ लादी गयी। डेढ़ सौ साल के अंग्रेजी राज्य में सिर्फ १० प्रतिशत लोग शिक्षित हुए और ९० प्रतिशत अशिक्षित रहे। परिणामस्वरूप शिक्षितों-अशिक्षितों के बीच एक दीवाल खड़ी हो गयी। उससे हिंदुस्तान का बहुत नुकसान हुआ। कोई भी ज्ञान देहात तक जा ही नहीं सका।"[1]

भाषाधार प्रांतों की मांग : कांग्रेस ने जब भारत की स्वतंत्रता का संग्राम छेड़ा तो उसके समक्ष भाषा का प्रश्न भी आया। सन् १९२० में नागपुर काँग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि प्रांतों का विभाजन भाषा के आधार पर होना वांछनीय है। १९२७ में भारतीय 'स्टेचुटरी कमीशन' की नियुक्ति के उपरांत कांग्रेस ने भाषाधार प्रांतों की मांग की और कहा कि आंध्र, उत्कल, सिंध और कर्णाटक के रूप में ऐसे प्रांतों का निर्माण आरंभ कर दिया जाय। १९२८ में सर्वदलीय सम्मेलन की नेहरू कमेटी ने भी इस प्रश्न पर विचार किया। कमेटी ने कहा कि 'यदि किसी प्रांत को अपने को शिक्षित करना है, और अपनी भाषा के माध्यम से अपने दैनंदिन कार्य

---

१. विनोबा : भाषा का प्रश्न, अप्रैल १९७०, पृ० २१, २२

का वहन करना है तो वह निश्चित रूप से भाषीय क्षेत्र होना चाहिए। प्रांतों का निर्माण भाषाधार पर होना वांछनीय है। भाषा के साथ संस्कृति, परंपरा और साहित्य की कड़ी जुड़ी हुई है। भाषीय क्षेत्र में ये सभी तत्व मिलकर प्रांत के विकास में सहायता प्रदान करें।' नेहरू कमेटी ने इस बात पर बल दिया कि प्रांतों का पुनस्संघटन जनता की इच्छाओं और संबंधित क्षेत्र की भाषीय एकता के अनुसार होना चाहिए।[1] कांग्रेस ने अक्तूबर में १९३७ में कलकत्ता अधिवेशन में, जुलाई १९३८ में कार्य समिति की वर्धा बैठक में और १९४५-४६ के अपने चुनाव घोषणा पत्र में भाषाधार प्रांत की बात पर बल दिया और कहा कि प्रशासनिक इकाइयों की स्थापना यथा-संभव भाषा और संस्कृति के आधार पर होनी चाहिए।

दर कमीशन—देश के विभाजन और स्वातंत्र्य के बाद ही २७ नवंबर, १९४७ को प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में भाषाधार प्रांत के सिद्धांत की घोषणा करते हुए कहा कि 'हमें सबसे पहले जिस बात पर ध्यान देना है वह है भारत की सुरक्षा और दृढ़ता।' उसके बाद भाषाधार प्रांत का एक आयोग—दर कमीशन—नियुक्त किया गया, जिसमें श्री एस० के० दर के अतिरिक्त श्री पन्ना लाल और श्री जगत नारायण लाल सदस्य थे। दर कमीशन ने दिसंबर, १९४८ में अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। दर कमीशन ने कहा वर्तमान स्थिति में ऐसे किसी पुनस्संघटन की बात नहीं सोचनी चाहिए। उसने यह मत भी प्रकट किया कि केवल भाषाधार प्रांत बनाने की सलाह नहीं दी जा सकती और न यही सलाह दी जा सकती है कि ऐसे प्रांत बनाये जायँ जिनमें भाषा का आधार प्रमुख आधार हो। कमीशन ने इस बात पर बल दिया कि ऐसी प्रत्येक बात का समर्थन होना चाहिए जिससे राष्ट्रीयता की वृद्धि हो और ऐसी प्रत्येक बात अस्वीकृत कर देनी चाहिए जिससे राष्ट्रीयता में बाधा उत्पन्न होती हो।'[2] कमीशन ने भाषीय क्षेत्र के संबंध में कुछ कसौटियाँ निर्धारित कीं, जिनपर विचार करने के उपरांत ही प्रांत बनाने की सलाह दी। जैसे, भौगोलिक सामीप्य, आर्थिक स्वावलंबन, प्रशासकीय सुविधा, भविष्य में विकास के अवसर और वहाँ की जनता के भारी बहुमत की सहमति कि उसका पृथक् प्रांत बनाया जाय तथा उसी भाषा-भाषी अल्पमत वाली जनता पर बहुमत द्वारा ऐसा प्रांत थोपा न जाय।[3]

---

१. रिपोर्ट ऑफ दि नेहरू कमेटी, ऑल पार्टीज कान्फरेन्स, १९२८; पृ० ६२
२. रिपोर्ट आफ दि लिंग्विस्टिक प्राविन्सेज कमीशन, पैरा १३१, १४७
३. वही, पैरा १०

जवाहर-वल्लभ-पट्टाभि कमेटी—दर कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए दिसंबर १९४८ में जयपुर के कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस ने एक कमेटी नियुक्त की, जिसमें जवाहर लाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल और पट्टाभि सीतारामैया थे। इस कमेटी ने ये बातें स्वीकार कीं—(१) कांग्रेस ने भाषाधार प्रांत का सिद्धांत तो स्वीकार किया था, पर उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों पर विचार नहीं किया था। (२) हमारा मुख्य उद्देश्य है भारत की सुरक्षा, एकता और आर्थिक समृद्धि। इसमें बाधक कोई भी पृथक्तावादी प्रवृत्ति को उकसाया नहीं जा सकता (३) भाषा जोड़नेवाली कड़ी ही नहीं है, तोड़नेवाली कड़ी भी सिद्ध हो सकती है। (४) भाषाधार प्रांत की पुरानी कांग्रेस नीति भली-भाँति सोच-विचार कर ही व्यवहार में लायी जा सकती है जिससे देश की एकता और आर्थिक स्थिरता में कोई बाधा न पड़े।[१] कमेटी ने बहुत-कुछ सोचने के उपरांत कहा कि सभी प्रांतों के पुनस्संघटन का कार्य एक साथ नहीं किया जा सकता। जिस प्रांत के संबंध में परस्पर समझौता हो, उसी का प्रश्न उठाया जा सकता है। सबसे पहले आंध्र के निर्माण की रिपोर्ट ने संस्तुति की।[२]

इस कमेटी ने मद्रास नगर को छोड़कर मद्रास राज्य के तेलगु भाषा-भाषी लोगों को लेकर आंध्र प्रदेश बनाने का सुझाव दिया था। कांग्रेस कार्यसमिति ने भी तदनुसार आंध्र राज्य के निर्माण की भारत सरकार से संस्तुति की। इस बीच सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयत्न से लगभग ६ सौ देशी रियासतों का भारत में विलीनीकरण हो गया। २३ नवंबर, १९४९ को हैदराबाद ने भी घुटने टेक दिये।

कुछ दिनों तक मद्रास नगर का झगड़ा चलता रहा। स्वामी सीताराम ने इस आंदोलन के सिलसिले में आमरण अनशन आरंभ कर दिया। विनोबा-जी के समझाने पर ४५ दिन के बाद उन्होंने अनशन तोड़ा। भारत सरकार ने तमिलभाषियों और तेलगुभाषियों से कहा कि वे आपस में परामर्श करके मद्रास नगर के संबंध में कुछ निश्चय करें। उधर-तेलगु के पक्ष में पोट्टि श्री रामालु ने आमरण अनशन आरंभ कर दिया। १५ दिसंबर, १९५२ को ५८ दिनपर उनका प्राणांत हो गया। इस दुर्घटना के ४ दिन बाद भारत के प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि दिसंबर १९५३ तक आंध्र राज्य की स्थापना हो जायगी। १ अक्टूबर १९५३ को आंध्र राज्य का जन्म हुआ।

---

१. रिपोर्ट ऑफ दि लिंग्विस्टिक प्राविन्सेज कमेटी, कांग्रेस, पृष्ठ २,४,५,७,१५
२. वही, पृष्ठ १५—१६

पुनस्संघटन आयोग—२२ दिसंबर, १९५३ को प्रधानमंत्री ने संसद में एक वक्तव्य में कहा कि भारतीय संघ के राज्यों के पुनस्संघटन के प्रश्न पर 'वस्तुनिष्ठ, निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से विचार करने के लिए शीघ्र ही एक आयोग नियुक्त किया जायगा जो इस बात का ध्यान रखेगा कि प्रत्येक संबद्ध इकाई के निवासियों का कल्याण हो, साथ ही देश का भी समग्र रूप से कल्याण हो।'

उक्त घोषणा के अनुसार २९ दिसंबर, १९५३ को ऐसे आयोग की नियुक्ति की गयी। सैयद फजल अली उसके अध्यक्ष बनाये गये और हृदय नाथ कुंजरू और कवलम माधव पणिक्कर सदस्य। आयोग के उद्देश्य की चर्चा करते हुए सरकारी विज्ञाप्ति (५३/६९/५३-पब्लिक) में कहा गया कि 'आयोग इस समस्या पर, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर, तात्कालिक स्थिति पर और उसके सभी आवश्यक मुद्दों पर शोध करेगा। आयोग अधिक विस्तार में न जाकर व्यापक सिद्धांतों की संस्तुति करेगा जिससे इस समस्या का समाधान हो सके। वह चाहे तो किन्हीं विशेष राज्यों के पुनस्संघटन के संबंध में मोटी रूपरेखा उपस्थित कर सकता है।'

आयोग से ३० जून १९५५ तक अपनी रिपोर्ट दे देने के लिए कहा गया था। बाद में यह अवधि ३० सितंबर, ५५ तक बढ़ा दी गयी। आयोग के आमंत्रण पर उसके पास १,५२,२५० संदेश और सुझाव आये। उनमें महत्त्व पूर्ण स्मृतिपत्र २००० के लगभग थे। आयोग ने लोगों से मुलाकातें भी कीं। दिल्ली के अतिरिक्त देश के १०४ स्थानों का दौरा भी किया। सारी बातों पर विचार कर आयोग ने ३० सितंबर, १९५५ को अपनी रिपोर्ट उपस्थित कर दी। उसके अंत में फजल अली ने हिमाचल प्रदेश पर और पणिक्कर ने उत्तर प्रदेश पर एक-एक पृथक् वक्तव्य जोड़ा।

आयोग के सुझाव—राज्य पुनस्संघटन आयोग ने सुझाव दिया—निम्न १६ राज्य संघटित किये जायँ और ३ संघ शासित क्षेत्र रहें—

राज्य

१. मद्रास, २. केरल, ३. कर्णाटक, ४. हैदराबाद, ५. आंध्र, ६. बंबई, ७. विदर्भ, ८. मध्यप्रदेश, ९. राजस्थान, १०. पंजाब, ११. उत्तर प्रदेश, १२. बिहार, १३. पश्चिमी बंगाल, १४. असम, १५. उड़ीसा और १६. जम्मू और कश्मीर।

संघ शासित क्षेत्र

१. दिल्ली, २. मणिपुर और ३ अंदमान-निकोबार द्वीपसमूह।

आयोग ने इन राज्यों और संघ शासित क्षेत्रों की सीमाओं का भी उल्लेख किया।

आयोग ने भाषीय समूहों के लिए कुछ संरक्षणों के भी सुझाव दिये। उसने कहा कि प्राइमरी स्कूल स्तर पर भाषीय अल्पसंख्यकों को अपनी मातृभाषाओं में शिक्षण की सुविधा रहनी चाहिए। प्रशासनिक कार्य में विभिन्न भाषाओं के उपयोग के संबंध में भी आयोग ने कुछ सुझाव दिये। लोक सेवा आयोगों की परीक्षाओं में प्रांतीय भाषाओं के अतिरिक्त हिंदी या अंग्रेजी भाषा का माध्यम रखने का भी विकल्प रखा जाय। आयोग ने प्रशासनिक तथा अन्य विषयों में भी कुछ सुझाव दिये। अंत में कहा कि राज्यों के पुनस्संघटन का इस देश में उपयुक्त स्थान है, परंतु उसकी मर्यादाओं और सीमाओं की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। आयोग ने यह मत प्रकट किया कि 'भारत इस समय व्यापक आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के प्रवेश-द्वार पर है। ये परिवर्तन प्रत्येक संस्था को प्रभावित करेंगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन की पद्धति एवं विचारधारा की पारंपरिक पद्धतियों पर समय-समय पर पुनर्विचार करते रहें। जैसे, इस समय देश सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समानता की दिशा में तीव्रगति से बढ़ रहा है। पुरातन धारणाएँ बदल रही हैं। औद्योगीकरण, नागरीकरण, प्रव्रजन आदि बातों का भी प्रभाव पड़ रहा है। स्वतंत्र भारत आगे बढ़ रहा है। हमें आशा है कि सभी लोग सहयोग और सद्भाव की भावना से सहिष्णुतापूर्वक इन सुझावों पर विचार करेंगे।'[१]

आंदोलन और उपद्रव—राज्य पुनस्संघटन आयोग के सुझावों को कार्यान्वित करने की बात उठते ही देश में यत्र-तत्र विरोध, आंदोलन और उपद्रव आरंभ हो गये। विभिन्न राज्यों की और केंद्र शासित क्षेत्रों की सीमाओं और क्षेत्रों आदि को लेकर स्थान-स्थान पर जो असंतोष उठा, वह कहीं-कहीं विकराल रूप ले बैठा। पंजाब, असम, मैसूर, महाराष्ट्र, नागालैंड, हरियाणा आदि देश के विभिन्न अंचलों में तब से आंदोलन चल रहे हैं। कहीं राष्ट्रभाषा हिंदी को लेकर आंदोलन चलता है, कहीं अंग्रेजी, उर्दू, बंगला, असमी, तमिल, तेलगु, कन्नड़ आदि क्षेत्रीय और प्रादेशिक भाषाओं को लेकर चलता है। सरकार जब ऐसे आंदोलन को दबाने में असमर्थ रहती है,

१. रिपोर्ट ऑफ दि स्टेट्स रिआर्गेनाइजेशन कमीशन, १९५५, पृ० २३५-२३७

तो उपद्रवी आंदोलनकारियों के समक्ष नतमस्तक हो जाती है। फलस्वरूप छोटे-बड़े राज्यों की संख्या बढ़ती चल रही है। आंदोलनकारी मान बैठे हैं कि सरकार को झुकाने के लिए हिंसात्मक आंदोलन तत्काल प्रभाव दिखाता है।

विनोबा का अनशन--फरवरी १९६५ में जब तमिलनाड में भाषावादी आंदोलन उग्र हो उठा और उसने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया, पुलिस की गोलियों से १९ व्यक्ति मरे, दो स्कूल सब-इंसपेक्टर जला दिये गये और एक दिन में अन्य २० व्यक्ति मारे गये तो विनोबा को तीव्र वेदना हुई। अनशन करना उनकी वृत्ति में नहीं है। वे बोले 'बापू अनशन में निष्ठा मानते थे, मैं सामान्यतया अनशन में निष्ठा नहीं मानता। फिर भी मुझे अनशन की प्रेरणा हुई।'[१]

१२ फरवरी, १९६५ को बापू श्राद्धदिवस पर अपने हृदय की व्यथा प्रकट करते हुए विनोबा ने पवनार में कहा[२], 'तमिलनाड में जो हिंसक आंदोलन चला है, उससे मेरे हृदय को अत्यंत वेदना हुई। उस आंदोलन के लिए गलतफहमी के सिवा और कोई कारण नहीं था।

'हिंदी लादी नहीं जा रही थी। अंग्रेजी हटायी नहीं जा रही थी। प्रांतीय भाषाओं के लिए कोई खतरा नहीं था। उससे नौकरी में भी कोई दखल होनेवाला नहीं था। हिंदी के साथ अंग्रेजी भी तबतक चलेगी जबतक उसकी जरूरत है। यह जरूरत कब तक है, इसका निर्णय हिंदीभाषी नहीं बल्कि अहिंदीभाषी करेंगे। इससे अधिक आश्वासन और क्या हो सकता है? इसमें किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं है, फिर भी इसे लेकर एक हिंसक आंदोलन चला। मैं इसके लिए विद्यार्थियों को दोष नहीं देना चाहता। वे जोशीले होते हैं और उनके सामने भविष्य का चित्र होता है। अच्छा रास्ता मिला तो वे उसे पकड़ लेते हैं। अगर गलत-गलत रास्ता मिला तो उसे भी पकड़ लेते हैं। इसलिए मैं उनको दोष नहीं देता।

'आजकल वातावरण में हिंसा भरी हुई है। वह किसी-न-किसी रूप में प्रकट होती है। इससे मुझे तीव्र वेदना हुई है। वह मुझे खाने नहीं देती। अंदर से प्रेरणा हुई कि आज के मंगल दिन की स्मृति में मैं अनशन शुरू करूँ। यह अनशन जबतक भगवान की इच्छा होगी तबतक रहेगा। मेरे पास के लोग जानते हैं कि मैं उपवास के खिलाफ हूँ। इन सत्रह सालों में मैंने किसी

---

१. विनोबा का अनशन, १९६५, पृ० ३४

२. वही, पृ० १-४

भी उपवास का समर्थन नहीं किया। इन दिनों मेरा मौन चल रहा है। कुछ चक्कर भी आते हैं। इसलिए किसी प्रकार के अहंकार से उपवास शुरू करना शक्य नहीं था। लेकिन यह मुझे भगवान की ओर से आज्ञा मिली है। हम अत्यंत नम्र बनें, भगवान से, गाँधी जी से प्रार्थना करें कि हमारे दिलों से हिंसा, वैर निकल जाय, तरह-तरह के झगड़े हमारे दिल से मिट जायं और आपस में, भारत में तथा विश्व में शांति हो।'

इस प्रवचन के साथ विनोबा ने अनशन आरंभ कर दिया। उनके अनशन के समाचार से सारा देश चिंतित हो उठा। राष्ट्रपति राधाकृष्णन, प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री, काँग्रेस अध्यक्ष कामराज, राजगोपालाचारी, भक्तवत्सलम आदि ने तार भेजकर चिंता प्रकट की। गृहमंत्री गुलजारी लाल नन्दा १४ फरवरी को विमान से पवनार पहुँचे। फिर उन्होंने देश के सभी मुख्यमंत्रियों से फोन द्वारा संपर्क स्थापित किया। उधर दक्षिण का उपद्रव भी शांत होने लगा। सभी ने विनोबा की यह त्रिसूत्री स्वीकार कर ली—

१. भाषा की समस्या के समाधान के लिए हिंसा का सहारा कदापि न लिया जाय।

२. गैर-हिंदी भाषाभाषियों पर हिंदी न लादी जाय।

३. जो अँग्रेजी नहीं चाहते, उनपर अँग्रेजी न लादी जाय।

इसके उपरांत १७ फरवरी को विनोबा ने अपना अनशन समाप्त किया। कहा कि इस अनशन का कुछ परिणाम निकलेगा, इसकी कोई आसक्ति मेरे मन में नहीं है। लेकिन ५ दिनों में सारे देश का वातावरण अनुकूल हुआ।'[१]

१९६५ के बाद भी समय-समय पर भाषा की समस्या को लेकर, भाषावाद को लेकर यत्रतत्र अशांति और उपद्रव होता आया है।

भाषावाद का वर्तमान स्वरूप चिंताजनक है। कहीं वह राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर उभड़ उठता है, कहीं किसी क्षेत्रीय भाषा के प्रश्न को लेकर।

वर्त्तमान स्वरूप

असम में १९४८, १९५५, १९५७ और १९७० में बीच-बीच में वह उभड़ा, कभी वह हिंदी और अँग्रेजी के रूप में, कभी हिंदी और उर्दू के रूप में, कभी हिंदी और पंजाबी के रूप में विवाद के रूप में प्रकट होता है। कभी शिक्षा के माध्यम के रूप में तो कभी लिपि के विवाद के रूप में वह अभिव्यक्त होता है। सभी अपने-अपने ढंग से अपनी समस्या उपस्थित करते हैं। भाषाधार

---

१. विनोबा : भाषा का प्रश्न, १९७०, पृ० ४६

प्रांतों की मांग भी बीच-बीच में उठती रहती है। भाषाओं की तो बात ही क्या, बोलियों के नाम पर भी प्रांतों के पुनस्संघटन की आवाज बुलंद की जाने लगी है।

भाषावाद का क्षेत्र

भाषावाद के इस आंदोलन का क्षेत्र सारा भारतवर्ष है। भाषाधार प्रांतों के गठन की बात जबसे आरंभ हुई तभी से कुछ लोग उसके पक्ष में आंदोलन करने लगे, कुछ विपक्ष में। विभिन्न राजनीतिक दलों की ओर से विभिन्न सुझाव और प्रस्ताव उपस्थित किये गये। जिसके अनुकूल निर्णय हुआ, वह तो शांत रहा, पर जिसके प्रतिकूल निर्णय हुआ, उसने विरोध में चिल्लाना आरंभ कर दिया। देश के विभिन्न अंचलों से समय-समय पर इसकी प्रतिध्वनियाँ आती रहती हैं।

प्रभाव

भाषावाद का प्रभाव जीवन के अनेक क्षेत्रों पर पड़ता है। शिक्षा पर तो उसका सबसे पहला और व्यापक प्रभाव पड़ता ही है, नौकरी और व्यापार पर भी उसका कम प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्य में, पत्र-पत्रिकाओं में, आचार-व्यवहार में, वाद-विवाद में, बहस-मुबाहसे में—सर्वत्र उस का प्रभाव पड़ता है। स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों में, छात्रों में, अध्यापकों में, राजनीतिक दलों में उसकी गहरी छाया दीख पड़ती है। अप्रत्यक्ष रूप से तो कभी प्रत्यक्ष रूप से उस के कुपरिणाम देश को भुगतने पड़ते हैं।

भाषावाद का सबसे विषम प्रभाव यह होता है कि उसके समर्थक एकांगी दृष्टि से और केवल अपने भाषावादी दृष्टिकोण से ही विचार करते हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि भाषा के छोटे-छोटे बाड़े बनाकर वे राष्ट्रीय एकता के मूल पर, लोकतंत्र के मूल पर प्रहार कर रहे हैं। भाषावादी आवेश यह नहीं देखता कि वह स्वयं अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है और राष्ट्र की नींव को खोखला कर रहा है।

निवारण के उपाय

जहाँ तक भिन्न-भिन्न भाषाओं की समस्या है, सभी भाषाएँ भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग हैं। सभी के वाङ्मय से भारतीय वाङ्मय समृद्ध हुआ है। सभी की अपनी-अपनी देन है, अपना-अपना महत्त्व है। सबका विकास वांछनीय है। सभी प्रादेशिक भाषाओं को विकास का भरपूर अवसर मिलना चाहिए।

राष्ट्रभाषा : भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी है। वह यहाँ की अधिकतम जनता की भाषा है। संविधान में यह बात स्वीकृत की गयी है। उस पर विवाद करने का कोई अर्थ नहीं है। गांधी जी सन् १९१७-१८ से ही इस तथ्य पर बल देते आ रहे थे। १९२१ में उन्होंने 'हिंदी नवजीवन' आरंभ किया तो लिखा 'जिस भाषा को करोड़ों हिंदू-मुसलमान बोल सकते हैं, वही अखिल भारत की सामान्य भाषा हो सकती है।'

राष्ट्रभाषा के लक्षण बताते हुए गाँधीजी कहते हैं—

१. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए सरल होनी चाहिए।
२. उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज हो सकना चाहिए।
३. उस भाषा को भारत के अधिकतर लोग बोलते हों।
४. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।
५. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहने-वाली स्थिति पर जोर न दिया जाय।

अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं। हिंदी भाषा में ये सारे लक्षण मौजूद हैं। वही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।[1]

विनोबा कहते हैं कि 'हिंदी भाषा भारत के लिए बुनियादी भाषा के तौर पर है। उसमें शब्द संग्रह भी एक प्रकार से सीमित ही है। वह हमारे देश के लिए सबसे संपन्न भाषा है, ऐसा दावा भी हम नहीं करते। लेकिन वह है एक संपन्न भाषा की पुत्री और दूसरी अनेक समर्थ भाषाओं की बहन। और सबसे बड़ी बात यह है कि वह प्रेम-प्रचार और धर्म-प्रचार की भाषा है। इसे प्रेम-प्रचार का साधन बनाया है हिंदुस्तान के यात्रियों ने। बद्री-केदार से रामेश्वरम् तक यात्रियों का जो आवागमन रहा, उससे यह हुआ। हिंदी से डरने की कोई बात है ही नहीं।'[2] विनोबा मानते हैं कि हिंदी 'लिगुआ-इण्डिका' होगी। वे कहते हैं कि 'अखिल भारत की बोध भाषा हिन्दी होगी। जैसे हम 'लिंगुआ-फ्रांका' कहते हैं, वैसे ही हिन्दी 'लिंगुआ इण्डिका' होगी।[3]

---

१. गुजरात शिक्षा परिषद् के द्वितीय अधिवेशन, भड़ोंच में अध्यक्षीय भाषण से, २० अक्तूबर, १९१७
२. विनोवा : भाषा का प्रश्न, पृ० २८
३. वही, पृ० ३३

हिंदी का गुण : हिंदी का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है आत्मसात करने की उसकी क्षमता। खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी आदि बोलियों को तो वह अपने भीतर आत्मसात करती ही है, अरबी और फारसी, गुजराती और मराठी, अंग्रेजी और उर्दू आदि के असंख्य शब्दों को भी वह प्रेमपूर्वक अपना लेती है। बंगाली और मराठी, असमी और उड़िया, गुजराती और पंजाबी आदि भाषाभाषी जिस प्रकार की हिंदी का व्यवहार करते हैं, उसे वह अत्यंत सहिष्णुतापूर्वक स्वीकार कर लेती है। उसमें साहित्यिक भाषा के लिए भी स्थान है, सधुक्कड़ी भाषा के लिए भी। आज से कोई २० वर्ष पूर्व पहली मुलाकात में लेखक से विनोबा ने कहा था कि 'तुम्हारी हिंदी के इसी गुण का मैं आभारी हूँ। मेरी टूटी-फूटी हिंदी व्याकरण की दृष्टि से चाहे जितनी दोषपूर्ण हो, हिंदी उसे सहिष्णुता से स्वीकार करती है। इतना ही नहीं उसके लिए मुझे पुरस्कृत भी करती है। अन्य भाषाओं में ऐसी सहिष्णुता कम है। हमारी मराठी में कोई वक्ता थोड़ी-सी भी गलत भाषा बोल जाय तो तुरत उसपर तालियाँ पड़ जायँगी।'

अनेकता में एकता : विनोबा ने अपनी भारतव्यापी भूदान पदयात्रा में अहिंदी प्रांतों में हिंदी का प्रचार किया। उनका उद्देश्य यही है कि भारत की आत्मा एक है। उस एकरसता का अनुभव देश के सभी सामाजिक स्तरों को होना चाहिए। वे प्रेम के सूत्र से सबको एक करना चाहते हैं। हिंदी प्रचार उसी का एक माध्यम है। वे कहते हैं कि 'सारे देश के लिए एक भाषा चाहिए, नहीं तो आपस में व्यवहार कैसे चलेगा ? भारत में अनेक प्रकार की विविधता होते हुए भी एक सभ्यता है। यह विविधता भारत का गौरव है। जैसे विभिन्न स्वर मिलकर सुंदर संगीत बनता है। वैसे ही विविधता से यह एक सुंदर सभ्यता बनी है। यह विविधता और एकता भारत की शक्ति है।'[1] हिंदी का उपकार मानते हुए विनोबा कहते हैं कि 'अगर हिंदी भाषा का आधार न होता तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक और असम से केरल तक के गाँव-गाँव में जाकर भूदान-ग्रामदान का क्रांतिकारी संदेश मैं नहीं पहुँचा सकता था।'[2]

विनोबा कहते हैं कि 'हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का श्रेय अहिंदीभाषी लोगों को ही है। स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, गांधीजी आदि अहिंदी-भाषी महान लोगों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाया।'

१. विनोबा : भाषा का प्रश्न, पृ० ३१
२. वही, पृ० ३२

भाषाओं का अध्ययन—भाषा-समस्या के निराकरण के लिए भाषावाद को मिटाने का एक सुन्दर उपाय है—प्रेमपूर्वक अन्य भाषाओं का अध्ययन। उत्तर भारत के निवासी प्रेम से दक्षिण भारत की भाषाएँ सीखें और दक्षिण भारत वाले उत्तर की भाषाएँ सीखें। 'हम परस्पर एक दूसरे की भाषा स्वेच्छा से सीखने का प्रयत्न करेंगे तो दोषों का निरसन होगा और गुण बढ़ेंगे।'[1]

जबर्दस्ती का परित्याग—भाषावाद पनपने का मूल कारण है—जबर्दस्ती। किसी भी भाषा के प्रसार-प्रचार के लिए बल का प्रयोग किया जाना सर्वथा गलत है। फिर वह चाहे हिंदी हो, चाहे अंग्रेजी, उर्दू हो चाहे बंगला, तमिल हो चाहे तेलगु। भाषा की समस्या इसीलिए विषम बन गयी है कि लोग जबरन एक-न-एक भाषा लादना चाहते हैं। इधर कुछ वर्षों से सरकार ने उत्तर भारत वालों को दक्षिण भारत की भाषाएँ सीखने के लिए और दक्षिणवालों को उत्तर की भाषाएँ सीखने के लिए प्रोत्साहन और पुरस्कार की पद्धति आरंभ की है। यह पद्धति अच्छी है। इसका विकास होना चाहिए।

नागरी लिपि—विनोबा का सुझाव है कि भारत की सभी भाषाएं नागरी लिपि में लिखी जायँ। इससे एक दूसरे की भाषा सीखने में बड़ी सहायता मिलेगी और एकता के लिए इसका उत्तम उपयोग हो सकेगा।[2] उनकी सर्वाधिक प्रचलित पुस्तक 'गीता प्रवचन' देश की सभी भाषाओं में छपी है और विभिन्न भाषाओं के नागरी संस्करण निकले हैं। अरबी कुरान-सार भी नागरी लिपि में निकला है। कुछ अहिंदी भूदान पत्र-पत्रिकाएँ भी नागरी लिपि में निकलने लगी हैं। भाषाओं के समन्वय और राष्ट्रीय एकता का यह उत्तम साधन है।

प्रेम का विस्तार—भाषाएँ माननीय विचारों की अभिव्यक्ति का साधन हैं। मानव के पारस्परिक मिलन का माध्यम हैं। उनका सदुपयोग होना चाहिए। सब लोग प्रेमपूर्वक अन्य भाषाओं को सीखें, उनका आदर करें, उनके जाज्वल्यमान रत्नों को परखें और उनके वाङ्मय का रसास्वादन करें तो भाषावाद की समस्या स्वतः हल हो जायगी।

---

१. विनोबा : भाषा का प्रश्न, पृ० ४०-४१

२. वही, पृ० ४३-४४

क्षेत्रवाद

भाषा, आर्थिक विषमता और क्षेत्रीय संकीर्ण राजनीति को लेकर जब किसी क्षेत्र के निवासी आंदोलन छेड़ देते हैं और क्षेत्रीय भावना को राष्ट्रीय भावना से ऊपर स्थान देते हैं तब क्षेत्रवाद बढ़ने-पनपने लगता है।

अर्थ

क्षेत्रीय समुदाय के विकास और उत्थान के लिए जब संकीर्ण दृष्टि से मांग की जाने लगती है, कभी भाषा को उसका आधार बनाया जाता है, कभी आर्थिक पिछड़ेपन को आधार बनाया जाता है, तब क्षेत्रवाद उग्र रूप धारण करने लगता है। राष्ट्र का विकास भले ही न हो अथवा कम हो, पर हमारे क्षेत्र का विकास होना चाहिए—ऐसी भावना से क्षेत्रवाद की उत्पत्ति होती है। यह भावना जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही क्षेत्रवाद की वृत्ति बढ़ती जाती है। इसी को लेकर देश के अधिकाधिक विभाजन की नौबत आती है।

परिभाषा

किसी क्षेत्र विशेष की भाषा अथवा बोली को लेकर, उस क्षेत्र की आर्थिक स्थिति को लेकर केवल वहीं के हित को सर्वोपरि रखकर जो आंदोलन छेड़ा जाता है, जिसमें राष्ट्रीय हितों की भी उपेक्षा की जाती है, उसी का नाम है—क्षेत्रवाद।

इतिहास

क्षेत्रवाद का इतिहास भाषाधार प्रांत रचना के साथ जुड़ा हुआ है। पीछे उसकी चर्चा की जा चुकी है। भाषाधार प्रांतों की रचना पर इसलिए विशेष बल दिया गया कि उससे जनता को अपनी मातृभाषा के माध्यम से अपनी भावनाएँ प्रकट करने का और सभी दिशाओं में विकास करने का अच्छा अवसर मिलेगा। उससे प्रशासनिक सुविधा भी होगी, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास आदि को भी शीघ्र गति मिलेगी। कांग्रेस ने भाषाधार प्रांत रचना की बात स्वीकार कर रखी थी और वह उसे व्यवहृत करने के लिए वचनबद्ध थी। आलोचकों ने कांग्रेस की इस स्वीकृति की तीव्र आलोचना की और कहा कि प्रांत रचना के लिए इस स्वीकृति का तर्क उपस्थित करना इस योजना की सबसे दुर्बल कड़ी है। क्या कांग्रेस से कभी कोई भूल ही नहीं होती ? वह बिना भरपूर विचार-विमर्श के यदि किसी बात

को स्वीकार कर बैठती है तो उसे क्यों न समय रहते सुधार लिया जाय ?[1]

राज्य पुनस्संघटन आयोग ने भाषाधार प्रांतरचना के पक्ष-विपक्ष के तर्कों पर विचार किया।[2] प्रशासनिक दृष्टि तथा अन्य दृष्टियों से भी इस समस्या पर विचार किया।[3] अंत में उसने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रांत रचना के लिए केवल भाषा का आधार ही एकमात्र आधार मानना ठीक नहीं। भाषा अथवा संस्कृति का आधार छोड़कर राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए एक संतुलित दृष्टिकोण रखना ही उचित होगा।[4]

वर्तमान स्वरूप : आयोग ने १६ राज्यों तथा ३ केंद्र शासित क्षेत्रों के पुनस्संघटन का सुझाव सरकार के समक्ष उपस्थित किया। सरकार ने उसकी संस्तुतियों का आदर कर जो नयी प्रांत रचना स्वीकार की, उसका कुछ समर्थन हुआ, कुछ विरोध। विरोध जब उग्र होने लगा तो सरकार तदनुकूल अपनी नीति में सुधार करने लगी। सन् १९७१-७२ में प्रांत रचना निम्न प्रकार है, उसकी आयोग के सुझावों से तुलना करने से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी :

१९७१-७२ की स्थिति	१९५५ में आयोग का सुझाव
राज्य	राज्य
१. असम	१. असम
२. आंध्रप्रदेश	२. आंध्र प्रदेश
३. उड़ीसा	३. हैदराबाद
४. उत्तर प्रदेश	४. उड़ीसा
५. केरल	५. उत्तर प्रदेश
६. गुजरात	६. केरल
७. जम्मू-कश्मीर	७. बंबई
८. तमिलनाडु	८. जम्मू-कश्मीर
९. नागालैंड	९. मद्रास
१०. पंजाब	१०. पंजाब
११. पश्चिम बंगाल	११. पश्चिम बंगाल

१. कृष्ण पी० मुखर्जी और श्रीमती सुहासिनी : रिआर्गेनाइजेशन ऑफ इंडियन स्टेटस, १९५५, पृ० २२

२. रिपोर्ट ऑफ दि स्टेटस रिआर्गेनाइजेशन कमीशन, १९५५, पृ० ३५-४०

३. वही, पृ० ४०-४५

४. वही, पृ० ४५-४६

राज्य	राज्य
१२. बिहार	१२. बिहार
१३. मध्यप्रदेश	१३. मध्यप्रदेश
१४ महाराष्ट्र	१४. विदर्भ
१५. मैसूर	१५. कर्णाटक
१६. राजस्थान	१६. राजस्थान
१७. हरियाणा	
१८. हिमाचलप्रदेश	
१९७१-७२ की स्थिति	**१९५५ में आयोग का सुझाव**
केंद्र शासित क्षेत्र	**केंद्र शासित क्षेत्र**
१. दिल्ली	१. दिल्ली
२. मणिपुर	२. मणिपुर
३. अंदमान, निकोबार द्वीप समूह	३. अन्दमान, निकोबार द्वीपसमूह
४. अरुणाचल प्रदेश	
५. गोवा, दमण तथा द्वीव	
६. चंडीगढ़	
७. दादरा तथा नगर हवेली	
८. पांडिचेरि	
९. मेघालय	
१०. ल० मि० अ० द्वीप समूह	
११. त्रिपुरा	

१९ का सुझाव राज्य पुनस्संघटन आयोग ने दिया था, आज उसके स्थान पर २९ राज्य और संघीय क्षेत्र हैं। आश्चर्य नहीं यदि निकट भविष्य में यह २९ की संख्या और अधिक बढ़ जाय।

अशांति और उपद्रव

भाषावाद और क्षेत्रवाद को लेकर समय-समय पर देश में यत्र-तत्र आंदोलन चलते रहते हैं। कभी यह अशांति असम में फूट पड़ती है, तो कभी बिहार में; कभी उत्तर प्रदेश में फूट पड़ती है, तो कभी किसी अन्य क्षेत्र में। किसी सामान्य प्रश्नों को लेकर उपद्रव खड़ा हो जाता है और देखते-देखते वह उग्र रूप धारण कर लेता है। प्रदर्शन, विरोध, मारपीट, हिंसा, अग्निकांड आदि क्या नहीं होता इस संबंध में ?

क्षेत्रवाद का प्रभाव संबंधित क्षेत्र पर तो पड़ता ही है, उसके आसपास के

क्षेत्र भी अछूते नहीं बचते। देश के एक कोने में लगी आग धीरे-धीरे सुलगते-सुलगते सारे देश को प्रभावित करने लगती है।

प्रभाव

सामान्य जन से लेकर बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं तक पर उसकी छाया पड़ने लगती है। शासन सत्ता जब विरोध को बढ़ते देखती है, तब वह उसे कुचलने का प्रयास करती है। पर, उससे आंदोलन दबता नहीं, उलटे उसमें गतिशीलता आती है। अंत में सरकार सीमा संबंधी विवाद के निराकरण के लिए देश का और अधिक विभाजन स्वीकार कर लेती है।

निवारण के उपाय

क्षेत्रवाद के निवारण के लिए राष्ट्रीय एकता की भावना को सर्वोपरि स्थान देने की आवश्यकता है। जब तक क्षुद्र और संकीर्ण मनोवृत्ति दूर नहीं की जायगी तबतक इस विषम समस्या का निराकरण संभव नहीं।

राष्ट्रीय एकता की भावना : सारा राष्ट्र एक है। सारे राष्ट्र के हित में सभी प्रांतों, प्रदेशों और क्षेत्रों का हित समाया हुआ है। दोनों के हित परस्पर विरोधी नहीं हैं। इस भावना को जब सर्वोपरि स्थान दिया जायगा, तभी क्षेत्रवाद की पृथकतावादी प्रवृत्ति कम हो सकेगी।

आर्थिक संतुलन : अभी तक भारत का जो पुनस्संघटन हुआ है, उसमें प्रशासनिक सुविधा, क्षेत्रीय जनता की भाषा तथा आर्थिक विकास के साधनों आदि का ध्यान रखने का प्रयत्न किया गया है। क्षेत्रीय जनता की आकांक्षाओं का भी विचार रखा गया है। फिर भी कहीं-कहीं असंतोष बना रहा है। उस असंतोष का एक बड़ा कारण यह भी है कि सभी राज्यों और क्षेत्रों के आर्थिक विकास का समस्तरीय ध्यान नहीं रखा गया है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो राज्य और क्षेत्र पहले से साधन-संपन्न रहे हैं, उन्हें अधिक आर्थिक सुविधा और सुयोग मिले हैं। जो क्षेत्र पहले से पिछड़े रहे हैं, उन्हें कम आर्थिक सुयोग मिले हैं। यह आर्थिक विषमता यदि क्षेत्रवाद को उभाड़ता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

प्रोफेसर डी० एस० नाग ने आँकड़े देकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि देश में आर्थिक विकास में भेदभाव और विषमता के कारण देश समृद्ध और दरिद्र,—ऐसे दो भागों में विभाजित हो गया है।[1]

---

१. डी० एस० नाग : नेशनल इंटेग्रेशन, 'लेख' रीजनल डिसपैरिटीज इन डेवेलपमेंट, पृ० ९५-१०७।

सन् १९६०-६१ से १९६४-६५ तक की प्रति व्यक्ति की आय के ये आँकड़े उन्होंने उपस्थित किये हैं—

राज्य	१९६०-६१ (रुपये)	१९६१-६२ (रुपये)	१९६२-६३ (रुपये)	१९६३-६४ (रुपये)	१९६४-६५ (रुपये)
१. आंध्रप्रदेश	३१४	३४१	३३८	३८१	४३८
२. असम	३४९	३५३	३४९	३६३	४४१
३. बिहार	२१६	२२०	२३२	३६५	२९९
४. गुजरात	३८०	४१२	४१३	४५१	५२३
५. हरियाणा	३५९	३७२	३८१	४८१	५०४
६. जम्मू-कश्मीर	२६७	२६३	२६७	२९८	३४१
७. केरल	२७८	२९५	३०३	३२८	३९३
८. मध्यप्रदेश	२७४	२८२	२६०	३२३	३७३
९. महाराष्ट्र	४१९	४०५	४२९	४७८	५२६
१०. मैसूर	२९२	३१६	३२७	३७२	४२०
११. उड़ीसा	२२६	२३३	२६१	३०९	३४७
१२. पंजाब	३८३	४००	४६१	४८०	५७५
१३. राजस्थान	२७१	२९४	२८९	२९७	३५६
१४. तमिलनाडु	३४४	३६१	३६५	४०१	४३४
१५. उत्तर प्रदेश	२४४	२५२	२५८	२८७	३७४
१६. पश्चिम बंगाल	३८६	३९३	४२०	४७६	४९८
नागालैंड छोड़कर सभी राज्य	३०४	३१५	३२५	३६४	४१८

ब्रह्मानन्द ने महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में आय के १९५५-५६ के ये आँकड़े प्रस्तुत किये हैं[1]—

क्षेत्र	पश्चिमी महाराष्ट्र		विदर्भ		मराठवाड़ा		महाराष्ट्र राज्य	
	करोड़	लाख	करोड़	लाख	करोड़	लाख	करोड़	लाख
कृषि	१८०	५०	९३	२०	५७	९०	३३१	६०
खदानें, बड़े छोटे उत्पादन	१९६	३०	३७	८०	१२	३०	२४५	४०

१ ब्रह्मानन्द : नेशनल इन्टेग्रेशन, लेख : दि मीनिंग एण्ड रेलेवेन्स आफ नेशनल इंटेग्रेशन, पृ० २२।

	करोड़ लाख	करोड़ लाख	करोड़ लाख	करोड़ लाख
वाणिज्य, आवा-गमन, संचार	१८७ ६०	३० ६०	१० ३०	२२८ ५०
अन्य	१६४ २०	२० ६०	१३ ९०	११८ ७०
	७२८ ६०	१८२ २०	९४ ४०	१००४ २०
प्रति व्यक्ति आय	३४५	२३१	१७४	२९२

उत्तर प्रदेश में ब्रह्मानन्द ने क्षेत्रीय आय के ये आँकड़े दिये हैं[१]—

	(रुपये)			(रुपये)	
पश्चिमी उत्तरप्रदेश	२९४	प्रति व्यक्ति आय	पूर्वीय उत्तरप्रदेश	२२७	प्रति व्यक्ति
मध्य ,,	२९६ ,,	,,	बुंदेलखंड	३५७ ,,	,,
पर्वतीय क्षेत्र ,,	२८४ ,,	,,			

पूर्वीय उत्तरप्रदेश में राष्ट्रीय औसत से ही नहीं, राज्यीय औसत से कम आय है।

प्रमोद एस० नावलकर का यह कथन अनेकांश में सही है कि इस आर्थिक वैषम्य के कारण भारत के दो टुकड़े हो गये हैं—एक वह भारत जो लाखों-करोड़ों पिछड़े ग्रामवासियों का है, जिनके लिए जीवन एक भयंकर अभिशाप है, और दूसरा वह भारत है जिसमें कई सौ नगर और शहर हैं जो विकास के नखलिस्तान कहे जा सकते हैं। महाराष्ट्र का विकास में पंजाब के बाद दूसरा स्थान है, पर यदि उसमें से बृहत्तर बंबई को निकाल दें तो सारा राज्य अन्य राज्यों का ही भाँति पिछड़ा माना जायगा।[२]

गाँधी विद्या संस्थान की ओर से राष्ट्रीय एकता और उसकी समस्याओं पर विचार करने के लिए फरवरी, १९७० के अन्त में शिलांग में केंद्रीय गृह मंत्रालय की आर्थिक सहायता से एक गोष्ठी हुई थी, उसमें क्षेत्रवाद की समस्याओं पर भी विचार किया गया था। क्षेत्रवाद पर उक्त गोष्ठी ने यह निष्कर्ष निकाला कि विगत दो दशकों में देश में जो विकास हुआ, उसमें से अनेक असंतुलनों की सृष्टि हुई है। ये असंतुलन विभिन्न राज्यों के बीच हुए हैं, राज्यों के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों के बीच हुए हैं, नगरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच हुए हैं और काम में लगे लोगों और बेकारों के बीच हुए हैं। इनके कारण देश में स्थान-स्थान पर तनाव बढ़े हैं और राष्ट्र की एकता

१. वही, पृ० २२-२३।

२. नेशनल इंटेग्रेशन, : लेख—'कंसेप्ट आफ नेशनहुड एण्ड सेक्युलरिज्म', पृ० १३०।

के लिए संकट की स्थिति बनी है। गोष्ठी ने यह मत प्रकट किया कि बड़े उद्योगों के विकास और आर्थिक मुनाफाखोरी का यह स्वाभाविक परिणाम है कि ऐसे असंतुलन बढ़ें। इसके निवारण के लिए सरकार को बड़ी सूझ-बूझ से अपनी नीतियाँ निर्धारित और व्यवहृत करनी चाहिए जिनमें केवल आर्थिक दृष्टि ही न रहे, अपितु व्यापक मानवीय एवं सामाजिक दृष्टि से भी विचार किया जाय।[१]

विकास योजनाएँ : क्षेत्रवाद की विषम समस्या के निराकरण के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि देश के विकास की योजनाएँ व्यवहृत करते समय आर्थिक संतुलन बनाये रखने की ओर भरपूर ध्यान रखा जाय। यह असंतुलन जब अधिक बढ़ने लगता है, एक क्षेत्र को विकास का अधिक अवसर मिलता है, दूसरे की उपेक्षा होती है तो संकीर्ण राजनीति को सिर उठाने की गुंजाइश निकल आती है। अतः पंचवर्षीय योजनाओं पर विचार करते समय, क्षेत्रवाद की समस्याओं पर विचार करते समय आर्थिक असंतुलन मिटाने का पूरा प्रयत्न होना चाहिए।

सरकार यदि सूझबूझ से काम ले, राजनीतिक नेता भी राष्ट्रीय एकता को सर्वोपरि महत्त्व दें और देश के सर्वांगीण विकास के लिए सभी लोग मिलकर कृतसंकल्प हों तो भाषावाद और क्षेत्रवाद की समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी।

---

१. नेशनल इंटेग्रेशन, पृ० २१९-२२०।

अध्याय : २२

औद्योगीकरण : नागरीकरण

औद्योगीकरण और नागरीकरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही परस्पर सहगामी हैं। दोनों की प्रक्रियाएँ परस्पर संबद्ध हैं। जहाँ उद्योगों का प्रसार हो रहा है, वहाँ नगर बढ़ रहे हैं। जहाँ नगर हैं, वहाँ उद्योगों का प्रसार हो रहा है। कस्बे धीरे-धीरे नगर बनते चलते हैं, नगर धीरे-धीरे शहर। डेविस के कथनानुसार भारत के नागरीकरण के साथ औद्योगीकरण का और उद्योगों के साथ नागरीकरण का घनिष्ठ संबंध है।

उपयोगी वस्तुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन और विकास का नाम है औद्योगीकरण। इसके माध्यम से उत्पादन और उपभोग की सामग्रियों का व्यापक रूप से उत्पादन होता है। यंत्रों के द्वारा

औद्योगीकरण का अर्थ

बड़े-बड़े उद्योगों का पूँजीवादी पद्धति से विकास करना ही औद्योगीकरण है। यह उत्पादन कपड़े का भी हो सकता है, लोहे और सीमेंट का भी। आलमोनियम के बर्तनों का भी हो सकता है, घड़ी, साबुन, चीनी, कागज, इंजिन, मशीन, जहाज, खनिज पदार्थ आदि का भी हो सकता है। बिजली और रासायनिक पदार्थों का भी हो सकता है; चाय, कहवा और वनस्पति का भी। हथियार, गोला, बारूद और शस्त्रास्त्र का भी हो सकता है और परमाणुशक्ति का भी।

औद्योगीकरण में उत्पादन की प्रक्रिया बदल जाती है। हाथ से उत्पादन करने के स्थान पर यंत्र से उत्पादन किया जाने लगता है। प्राचीन पद्धति के स्थान पर नयी वैज्ञानिक और तकनीकी पद्धतियाँ

विशेषताएँ

काम में लायी जाती हैं। व्यवसाय संबंधी विशेषीकरण, श्रमविभाजन, कार्य-कौशल आदि का विस्तार होने लगता है। इन विशेषताओं का मानव के वैयक्तिक जीवन पर ही नहीं, पारिवारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है और सामुदायिक जीवन पर भी। एम० एस० घुरये ('अर्बनाइजेशन एण्ड फेमिली चेंज' में) कहते हैं कि औद्योगीकरण में जब हाथ के स्थान पर यंत्र से कार्य होने लगता है तो उसका समस्त जीवन पर प्रभाव पड़ता है। यातायात के साधन, संचार,

व्यापार, वित्तीय व्यवस्था आदि सभी बातों पर उसका असर होता है। पुराने अंधविश्वास जाते रहते हैं। कार्य और कारण की पद्धति का विकास होने लगता है। नयी मान्यताएँ खड़ी होती हैं, वर्ग का उदय होता है और समाज में गतिशीलता आने लगती है।

संक्षेप में, औद्योगीकरण की ये विशेषताएँ मानी जा सकती हैं—

१. हाथ के स्थान पर यंत्र का, उत्पादन के लिए उपयोग।
२. प्राचीन पद्धतियों के स्थान पर नयी वैज्ञानिक तकनीकी पद्धतियों का उपयोग।
३. व्यावसायिक विशेषीकरण, कार्य-कौशल का विस्तार।
४. श्रम विभाजन।
५. वर्ग का उदय।
६. प्राचीन विश्वासों-मान्यताओं का ह्रास।
७. कार्य-कारण की पद्धति का विकास।
८. सामाजिक, आर्थिक गतिशीलता।

भारत में औद्योगीकरण

औद्योगीकरण का इतिहास अठारहवीं शताब्दी के मध्य से आरंभ होता है। १७३८ ई० में के नामक अंग्रेज ने इंग्लैंड में कपड़ा बुनने की सरकवां ढरकी बनायी। १७६४ में हारग्रीब्ज ने कातने की जेनी का आविष्कार किया। रिचर्ड आर्कराइट और अन्य लोगों ने कुछ अन्य आविष्कार किये, जिनसे जलशक्ति और भापशक्ति का उपयोग किया जाने लगा। १७६५ में जेम्स वाट ने भाप के इंजन का आविष्कार किया। धीरे-धीरे इंगलैंड में कपड़ा, लोहा और कोयले के उद्योगों का विकास होने लगा। इससे इंगलैंड की तो काया ही पलट गयी। वहाँ औद्योगिक क्रांति हो गयी। उस क्रांति का विश्व के अन्य अंचलों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा।

पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में 'औद्योगिक क्रांति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने यांत्रिक युग की शुरुआत की। मशीनें पहले भी थीं, परंतु इतनी बड़ी नहीं थीं। मशीन इंसान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है। आदमी औजार बनानेवाला जंतु कहा जाता है। मशीन औजार का बढ़ा हुआ रूप है। औजार और मशीन ने मनुष्य को पशु जगत से ऊपर उठा लिया। इन्होंने मनुष्य समाज को प्रकृति की गुलामी से छुड़ाया। औजार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीजें बनाना आसान हो

गया। वह ज्यादा चीजें बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फुर्सत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओं में और विचारों में और विज्ञान में प्रगति हुई।"[१]

औद्योगिक क्रांति के दौरान रेल, स्टीमर, मोटर, हवाई जहाज, तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखाने आदि अनेक वस्तुएँ संसार में तेजी से विकसित होने लगीं।

भारत में अंग्रेजों का पदार्पण हो चुका था। इंगलैंड में होनेवाली औद्योगिक क्रांति उनके माध्यम से भारत में भी अपना प्रभाव दिखाने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में रेल व्यवस्था चालू हुई। भारत में कुटीर उद्योग खूब पनपे थे। यहाँ का वस्त्र उद्योग विश्व में अपना सानी नहीं रखता था। पर जब मानचेस्टर और लंकाशायर में कपड़े की मिलें खुल गयीं तो उनके मजदूरों को काम देने के लिए भारत के वस्त्र उद्योग को नष्ट करना अंग्रेजों को आवश्यक प्रतीत हुआ। पहले भारत का बना पक्का माल इंग्लैंड तथा अन्य देशों में छाया रहता था। अब उसका प्रवाह उलट दिया गया। भारत की कपास, भारत का कच्चा माल विलायत जाने लगा, रेलों ने उसके लिए सुविधा कर दी। विलायती पक्का माल भारत में आकर भारत का बाजार पाटने लगा।

धीरे-धीरे भारत में बड़े उद्योगों का भी आरंभ हुआ। १८५० में सबसे पहले भारत में कपड़े की मिल खुली। १८७९ तक कपास की ५६ मिलें खुल गयीं। कोयले की ५६ खानें भी खुल गयीं। कपड़ा, जूट और कोयले के उद्योग बढ़ने लगे। क्रमशः देश में बड़े उद्योगों का विकास होने लगा। पर इन उद्योगों की स्थापना में विदेशी पूँजी का ही बड़ा हाथ रहता था और ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी प्राविधिज्ञ ही इन उद्योगों को यहाँ बैठाते थे और उनकी देख-रेख करते थे। बहुत बाद में भारतीय पूँजीपति—ताता, बिड़ला आदि भी अपनी पूँजी से उद्योग खड़े करने लगे।

प्रमुख उद्योग भारत के प्रमुख बड़े उद्योग अनेक हैं। उन्हें कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे,—

१. खनिज उद्योग—कोयला, खनिज लोहा।

२. धातु कर्म उद्योग—कच्चा लोहा, इस्पात, अलुमिनियम, ताँबा आदि।

---

१. जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, १९६६, खण्ड १, पृ० ४८१।

३. मशीनी इंजीनियरिंग और बिजली इंजीनियरिंग उद्योग—मशीनी औजार, मालगाड़ी के डिब्बे, मोटरगाड़ियाँ, मोटर साइकिल, स्कूटर, पंप, डीजल इंजिन, बाइसिकिल, सिलाई मशीन, मीटर, पंखे, वल्व, रेडियो, केबिल, तार आदि।

४. रसायन तथा संबद्ध उद्योग—नत्रजन उर्वरक, फास्फेटी उर्वरक, गंधक अम्ल, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, कागज, गत्ता, टायर-ट्यूब, सीमेंट, पेट्रोलियम उत्पाद आदि।

५. वस्त्र उद्योग—पटसन की वस्तुएँ, सूती धागा, सूती वस्त्र, रेयन धागा, कृत्रिम रेशमी वस्त्र, ऊनी सामान।

६. खाद्य पदार्थ उद्योग—चीनी, चाय, कहवा, वनस्पति।

७. बिजली उद्योग।

सरकारी क्षेत्र में रेलें, सड़क, परिवहन सेवाएँ, बंदरगाह, डाक और तार, बिजली और सिंचाई परियोजनाएँ केंद्रीय और राज्य सरकारों के विभागीय उपक्रम जैसे, रेलडिब्बों के कारखाने, रक्षा उत्पादन प्रतिष्ठान आदि तथा अन्य औद्योगिक उपक्रम हैं। इस्पात, इंजीनियरी, समुद्री जहाज निर्माण, रसायन, पेट्रोलियम, खानें और खनिज, विमानन, जहाजरानी, व्यापार, वित्तीय संस्थाएँ आदि सरकार द्वारा संचालित हैं।

भारतीय जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण का भारतीय जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है और पड़ता चल रहा है। भारत के सामाजिक जीवन में उससे बहुत परिवर्तन आया है, उससे भारत की ग्रामीण संस्कृति, परंपरा ही केवल प्रभावित नहीं हुई है, अपितु भारत का पारिवारिक जीवन, नागरिक जीवन, विवाह, जाति-प्रथा, धर्म और विश्वास आदि सभी प्रभावित हुए हैं। उससे आर्थिक जीवन तो व्यापक रूप से प्रभावित हुआ है, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण के चलते भारत का सामुदायिक जीवन बहुत प्रभावित हुआ है। ग्रामीण जीवन में रहनेवाली सरलता और एकता कम हुई है। सामुदायिक भावना का ह्रास हुआ है। जाति-प्रथा का महत्त्व घटा है। सामाजिक दूरी में कमी आने लगी है। खान-पान, छुआछूत

आदि के बंधन शिथिल हुए हैं। सामाजिक नियंत्रण में कमी आ गयी है। सामुदायिक विकास में कमी आकर व्यक्तिवादी आदर्शों का विकास हो रहा है। धर्म और जाति-प्रथा के बंधन ढीले हुए हैं। गंदी बस्तियों का, व्यभिचार, व्यसन, वेश्यावृत्ति, अपराध बढ़ने लगे हैं। व्यापारिक मनोरंजन—सिनेमा, नाच-घर, क्लबों आदि का विस्तार हुआ है। मानसिक रोग, संघर्ष और तनाव का प्राबल्य हो रहा है। गाँव मिट रहे हैं, नगर बस रहे हैं। नगरों के विस्तार के साथ नागरीकरण के अभिशाप भी बढ़ते चले आ रहे हैं।

पारिवारिक जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण ने पारिवारिक जीवन को विघटन की ओर बढ़ाने में सहायता की है। उसके चलते परिवार टूटने लगे। संयुक्त परिवार बिखरने लगे। गाँवों से खिच-खिच कर लोग औद्योगिक केंद्रों में एकत्र होने लगे। परिवारों का नियंत्रण, उनकी मर्यादाएँ, उनके संस्कार, उनके विश्वास घटने लगे, मिटने लगे। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी कारखानों में काम करने के लिए जाने लगीं। नगरों में वासस्थान की कमी, पतन और विचलन के अधिक अवसर आने लगे। भौतिकवादी विलास की परंपरा पनपने लगी। विवाह का पावित्र्य कम होने लगा। चारित्रिक पतन, व्यसन, व्यभिचार, तलाक, प्रेम-विवाह की ओर लोगों का झुकाव होने लगा। इन सब उच्छृंखलताओं की वृद्धि से पारिवारिक विघटन बढ़ने लगा।

आर्थिक जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण का सबसे प्रकट प्रभाव आर्थिक जीवन पर दृष्टिगत होता है। पूँजीवाद का विकास होने लगा। श्रमविभाजन, विशेषीकरण बढ़ने लगा। आर्थिक संकट, वर्ग भावना का विस्तार, औद्योगिक झगड़े, हड़तालें, तालाबंदी, बेकारी, बीमारी, दुर्घटनाएँ आदि बढ़ने लगीं। पूँजीपति दिन-दिन समृद्ध होने लगे। गरीब दिन-दिन विपन्न होने लगे। उत्पादन सुरसा की भाँति बढ़ने लगा। उपभोग की वस्तुएँ बढ़ने लगीं। आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न पीछे पड़ गया। आवश्यकताओं की आवश्यकता उत्पन्न की जाने लगी। एक ओर वस्तुओं का बाहुल्य हो उठा, दूसरी ओर गरीबों की सामान्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति में कमी आने लगी। जीवन-स्तर ऊँचा उठाने की आवाज उठायी जाने लगी, इधर गरीबों का स्तर दिन-दिन नीचे गिरने लगा। आर्थिक वैषम्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। छोटे उद्योग समाप्त होने लगे।

औद्योगीकरण का धर्म और संस्कृति पर भी भारी प्रभाव पड़ने लगा। प्राचीन आदर्शों, प्राचीन परंपराओं की उपेक्षा और अवहेलना आरम्भ हो गयी। नैतिक मर्यादाएँ उपहास की वस्तु बन गयीं। गुरुजनों का आदर और सम्मान मिटने लगा। संस्कृति और सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर नग्न नृत्य, विलास और भोग की सरिता प्रवाहित हो उठी। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह विश्रृंखलता प्रविष्ट हो गयी।

धर्म, संस्कृति पर प्रभाव

औद्योगीकरण को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जहाँ अच्छा बताया, उसके विकास का समर्थन किया, वहाँ उन्होंने उसके अभिशापों से सावधान रहने की भी बात कही। वे लिखते हैं – 'बड़ी मशीन और उसके सब साथी निरी बरकतें ही नहीं साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की में मदद दी है तो लड़ाई और बर्बादी के भयंकर हथियार ईजाद करके वहशीपन को बढ़ाने में भी मदद की है। अगर इसने चीजों की बहुतायत पैदा की है तो यह बहुतायत जनता के लिए नहीं, बल्कि कुछ थोड़े-से लोगों के लिए हुई है। इसने तो दौलतमंदों के ऐश-आराम और गरीबों की गरीबी के अंतर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है। यह मनुष्य का औजार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी होने का दावा करने लगी है। एक तरफ तो इसने सहयोग, संगठन, समय की पाबंदी आदि गुण सिखाये हैं, दूसरी तरफ लाखों की जिंदगी को एक ऐसा नीरस ठर्रा और ऐसा मशीनी बोझ बना दिया है जिसमें जरा भी खुशी और आजादी नहीं हैं।'[1]

अभिशापों की वृद्धि

औद्योगीकरण से वायुमंडल दूषित होता है, पर मनुष्यों को विवश होकर उसी वायुमंडल में, उसी अस्वास्थ्यकर स्थिति में रहना पड़ता है। इंगलैंड में जब औद्योगीकरण आरंभ हुआ तो वहाँ की स्थिति का वर्णन करते हुए नेहरूजी लिखते हैं—'हरे-हरे खुशनुमा देहात के बजाय अब बहुत-सी जगह ये कारखाने पैदा हो गये, जिनकी लंबी-लंबी चिमनियाँ धुआँ उगलकर आसपास अँधेरा करने लगीं। कोयलों के ऊँचे टीलों और कूड़े-कचड़े के ढेरों से घिरे हुए ये कारखाने सुंदर चीजें नहीं थीं। इन कारखानों के पास बसनेवाले उद्योगी नगर भी कोई सुंदर नहीं थे। वे तो किसी तरह खड़े कर लिये गए थे, क्योंकि मिल-मालिकों का असली मकसद था रुपये

१. जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, पृ० ४८१-४८२

बनाते रहना। ये नगर बड़े भद्दे, बड़े और गंदे थे और भूखे मरते मजदूरों को मजदूरी से इन नगरों और कारखानों की बड़ी बुरी और तंदुरुस्ती खराब करनेवाली हालतों में रहना पड़ता था।'[१]

इंगलैंड हो या भारत, औद्योगीकरण का यह अभिशाप सर्वत्र है। गांधीजी ने उद्योगवाद के अभिशाप की चर्चा करते हुए लिखा था कि 'पंडित नेहरू समझते हैं कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर देने से वह पूंजीवाद के दोषों से मुक्त हो जायगा, मेरी अपनी राय है कि उद्योगवाद में ये दोष निहित हैं और कितना भी राष्ट्रीयकरण क्यों न किया जाय उन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता।'[२]

शोषण और अशांति

यंत्र शोषण का शक्तिशाली माध्यम है। उसके कारण सारे विश्व की स्थिति संकटमय बनी है और बनती है। गांधीजी कहते हैं कि 'मेरा स्पष्ट मत है कि बड़े पैमाने पर माल उत्पन्न करने का पागलपन ही दुनिया की मौजूदा संकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। वर्त्तमान अराजकता और अंधाधुंधी का कारण आज का यह शोषण है। यंत्रों से मेरा बुनियादी विरोध इस सत्य के आधार पर खड़ा है कि यंत्र ही वह चीज है जिसने इन राष्ट्रों (युरोप और अमेरिका) को दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने की क्षमता दी है। यंत्रों के मौजूदा उपयोग का झुकाव तो इसी ओर बढ़ता जा रहा है कि कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में खूब संपत्ति पहुँचायी जाय और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषों के मुँह से रोटी छीन ली जाती है, इन बेचारों की जरा भी पर्वाह न की जाय।'[३]

औद्योगीकरण में यंत्रों का भरपूर उपयोग करके उत्पादन प्रणाली को इस पद्धति से बढ़ाया जाता है कि अधिकाधिक उत्पादन अधिकतम लाभ दे सके।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया

पी० कांगचांग ने औद्योगीकरण की परिभाषा यही की है कि "औद्योगीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा क्रमबद्ध रीति से उत्पादन कार्यों में परिवर्तन किया जाता है। उसमें किसी उद्योग प्रतिष्ठान का

१. वही, पृष्ठ ४८७

२. मो० क० गाँधी, 'हरिजन', २९ सितम्बर, १९४०

३. मो० क० गाँधी : मेरे सपनों का भारत, १९६९, पृष्ठ २०-२२

यंत्रीकरण, नवीन उद्योगों का विकास, नयी बाजार व्यवस्था और किसी भूभाग का उपयोग निहित रहता है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया पूँजी को समृद्ध करने की एक प्रक्रिया है।" पूँजी को समृद्ध करनेवाली इस प्रक्रिया में शोषण और अशांति के बीज रहनेवाले ही हैं।

नागरीकरण

नये-नये नगरों का उद्भव, उनका प्रसार और विकास अथवा पुराने नगरों का नये सिरे से पुनर्गठन और विस्तार ही नागरीकरण है।

प्राचीनकाल में, मध्यकाल में राजधानी, तीर्थस्थान, धर्मक्षेत्र आदि की दृष्टि से नगर बसते थे। पाटलिपुत्र हो या उज्जयिनी, काशी हो या अवध,

अर्थ और परिभाषा

हस्तिनापुर हो या अन्य कोई नगर, सबका महत्त्व इन्हीं दृष्टियों से होता था। पर आज तो नगर औद्योगीकरण की दृष्टि से बसते और बढ़ते हैं। उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय और व्यापार को ध्यान में रखकर नये-नये नगरों का जो निर्माण होता है अथवा पुराने नगरों का विस्तार होता है, उसी का नाम है—नागरीकरण। व्यापार और वाणिज्य के केंद्र, उद्योगों के केंद्र, बिजली और यातायात की सुलभता के स्थान, कच्चे माल की प्राप्ति के स्थान सहज ही इस परिधि में आ जाते हैं। ऐसे नगरों के विकास की प्रक्रिया ही 'नागरीकरण' कहलाती है।

ओडम ने नागरीकरण की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'नागरीकरण का अर्थ है जीवन के विभिन्न पहलुओं में सतत परिवर्तन होते जाना। इस परिवर्तन से व्यक्ति की विचारधारा, उसका आपसी व्यवहार और उसके कार्य करने की मनोवृत्ति बदलती चलती है जिससे प्रतिदिन नये श्रम विभाजन के दर्शन होते हैं।'

कार्ल मेनहीम लिखता है कि 'नागरीकरण पारस्परिक व्यवहार, दृष्टिकोण और सामाजिक मान्यताओं में मौलिक परिवर्तन लानेवाली प्रक्रिया है। इससे व्यक्ति का ही परिवर्तन नहीं होता, समग्र ढाँचे में परिवर्तन हो जाता है जिसके फलस्वरूप समाज में श्रम-विभाजन जैसी नयी व्यवस्था आ खड़ी होती है।'

गोल्ड और कोब ('डिक्शनरी आफ सोशल साइंसेज' में) लिखते हैं कि 'नागरिक जीवन संबंधी व्यवहार का ग्रामीण समुदाय पर प्रसार हो जाने का नाम है 'नागरीकरण'।

ब्राइस और खाँ के मत से 'तकनीकी और परिस्थितिजन्य घटनाओं द्वारा जीवन-निर्वाह की पद्धतियों का परिवर्तन ही नागरीकरण है।'

श्रीमती सुधा कहती हैं कि 'नागरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें नगरों के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाता है। नगरों में जनसंख्या का दबाव और घनत्व अधिक होने से लोग नये व्यक्तियों के निकट संपर्क में आते हैं, नयी जीवन पद्धतियों का प्रसार होता है, बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास, सामाजिक गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता, व्यवसायों की विविधता और विशेषीकरण पर आधृत जटिल अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव होने लगता है।'

स्पष्ट है कि नागरीकरण से नागरिकों के रहन-सहन की पद्धति, उनकी आदतें, उनके विचार आदि में परिवर्तन आता है। भौतिक वातावरण भी उससे प्रभावित होता है, मानसिक वातावरण भी प्रभावित होता है। आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक—सभी प्रकार के वातावरण पर उसका प्रभाव पड़ता है। उसका ग्रामीण जीवन और ग्रामीण संस्कारों पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। ग्रामों से नगरों में आनेवाले व्यक्ति नगरों में जिस परिवर्तन को अपना लेते हैं, उसका स्पर्श उनके ग्रामीण परिवार को भी होता ही है।

विशेषताएँ

नागरिक जीवन की अनेक विशेषताएँ हैं। ग्रामीण जीवन से नागरिक जीवन में अनेक भिन्नताएँ होती हैं। जैसे, सामाजिक विषमता, वैयक्तिकता, पृथकता, सामाजिक गतिशीलता, ऐच्छिक और द्वैतियक संपर्क, द्वैतियक नियंत्रण आदि। डेविस ने इन विशेषताओं पर बल दिया है।[१]

सामाजिक विषमता : नगर में प्रायः एकाध को छोड़कर अन्य लोगों का सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर एक-सा ही रहता है, नगरों में ऐसा नहीं होता। देश के विभिन्न अंचलों से आनेवाले विभिन्न स्तरों वाले व्यक्ति नगर में एकत्र हो जाते हैं। जैसे, राउरकेला में वहाँ के आदिवासियों का अत्यन्त निम्न स्तर था, बड़े-बड़े अधिकारी और विशेषज्ञ देश के विभिन्न भागों से आकर जुट गये। उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ सामाजिक विषमता सहज ही पनप उठी।

वैयक्तिकता : गाँवों में सहयोग और एक दूसरे के सुख-दुःख में हाथ

---

१ किंग्सले डेविस : ह्यूमैन सोसाइटी, पृ० ३२९-३३६

बँटाने की भावना रहती है, पर नगरों में उसका बड़ा अभाव रहता है। यहाँ पर स्वार्थ भावना सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लेती है। मनुष्य अपने को किसी से संबद्ध नहीं पाता। उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही एकमात्र ध्यान रहता है।

पृथकता : नगरों की सघनता ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों निवास की समस्या कठिन होती चलती है। लोग नगरों से हट कर उपनगरों में जा बसते हैं। विभिन्न कामों, व्यवसायों, धर्मों और आर्थिक हितोंवाले अपने पृथक्-पृथक् समूह बना लेते हैं और अपने ही समूहों से विशेष संपर्क रखते हैं।

सामाजिक गतिशीलता : व्यक्तिगत स्वार्थ, प्रतिद्वंद्विता, पृथकता आदि के कारण तथा श्रम विभाजन आदि के चलते लोग अपनी बुद्धि, ज्ञान, शक्ति और क्षमता का अधिकतम उपयोग कर अपनी उन्नति के लिए जी-जान से प्रयत्न करते हैं। अनुकूल अवसर पाकर लोग आशातीत प्रगति कर लेते हैं। इससे सामाजिक गतिशीलता आ जाती है।

ऐच्छिक और द्वैतियक संपर्क : नगरों में लोगों को ऐच्छिक संपर्क रखने की सुविधा है। विशाल क्षेत्र होने से तथा यातायात आदि की सुविधा होने से लोग इच्छित लोगों से सहज संपर्क स्थापित कर सकते हैं। यों ये संपर्क मुख्यतः स्वार्थ भावना से ही प्रेरित होते हैं और इनमें हार्दिकता कम रहती हैं।

द्वैतियक नियंत्रण : नगरों का व्यक्ति दूसरों के निकट होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से दूर रहता है। उस पर प्राथमिक समूहों जैसा नियंत्रण नहीं रहता है। उसपर द्वैतियक नियंत्रण रहता है।

नागरीकरण का प्रभाव

औद्योगीकरण का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर जैसा प्रभाव पड़ता है, लगभग वैसा ही प्रभाव नागरीकरण का भी पड़ता है। पारिवारिक संगठन, सामाजिक संगठन, कृषि, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, कला-कौशल, मनोरंजन, यातायात, संचार, खानपान, आवास, रीति-रिवाज आदि सभी बातों पर उसका प्रभाव पड़ता है। मुख्य प्रभाव इन क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है।

पारिवारिक क्षेत्र : नगर में एकाकी परिवार की प्रवृत्ति बहुत पनपती है। ग्रामीण जीवन में संयुक्त परिवार की जो आधारशिला रहती रही है, वह नगरों में आकर ध्वस्त हो जाती है। परिवारों के प्राथमिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। ग्राम से आया हुआ व्यक्ति भी नगर में रहने पर व्यक्तिगत स्वार्थ

को ही विशेष महत्त्व देने लगता है। पारिवारिकता की पुरातन भावना नगर में आकर धूमिल पड़ जाती है।

गन्दी बस्तियाँ : गंदी बस्तियाँ नागरिक जीवन का एक भयंकर अभिशाप हैं। अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, मद्रास और पूना की गवेषणा से पता चलता है कि विभिन्न नगरों में ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक जनता गंदी बस्तियों में निवास करती है। बम्बई में ऐसी बस्तियाँ चाल कहलाती हैं, दिल्ली में कटरा, कानपुर में अहाता और अबादी, कलकत्ता में बस्ती और मद्रास में चेरी।[१] बम्बई के गवर्नर श्रीप्रकाश जी कहते थे कि "ये बस्तियाँ नागरिक जीवन और औद्योगीकरण का अभिशाप है।'[२] जवाहर लाल जी कहते थे कि 'जब-जब मुझे ऐसी बस्तियों में जाना पड़ा है तो मेरा हृदय भर जाता है।'[३] मद्रास के नगर नियोजन अधिकारी जी० गोविंदन नैयर का कहना है कि इन बस्तियों में १५-१५ परिवार पानी के एक नल और एक खुले पाखाने से गुजर करते हैं।[४] कानपुर में १८ व्यक्ति, आगरा में ८० व्यक्ति और लखनऊ में ३८ व्यक्ति एक पाखाने से काम चलाते हैं। कानपुर में ६० प्रतिशत, आगरा में ७५ प्रतिशत और लखनऊ में ६०% के लिए बम्पुलिस की व्यवस्था ही नहीं है।[५] डाक्टर बी० एच० मेहता के अनुसार इन बस्तियों में रोग-बीमारी, अस्वास्थ्य खूब पनपता है। यौन दुराचार, वेश्यावृत्ति, अपराध, बाल अपराध, जुआ, व्यभिचार भी धड़ल्ले से बढ़ता है।[६]

यंत्रीकरण का प्रसार : नगरों में तो यंत्र का प्रसार हुआ ही है, देहात भी उससे वंचित नहीं रह गये हैं। आटा पीसने, चारा काटने, खेत जोतने, कपास ओटने, तेल पेरने, लकड़ी चीरने, तथा ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए यंत्र बन गये हैं। हल की जगह ट्रैक्टर अब देहातों में पहुँच गया है। बिजली भी फैलती जा रही है। इस प्रकार नगरों की छूत ग्रामों को भी लग रही है और ग्रामीण कुटीर उद्योगों के नाश में सहायक हो रही है।

---

१. रिपोर्ट ऑफ दि सेमिनार ओन स्लम क्लीयरेंस, १९५७, पृष्ठ १६०-१६१
२. वही, पृष्ठ २६-२७
३. वही, पृष्ठ ३२३
४. वही, पृष्ठ ६६
५. वही, पृ० १३२
६. वही, पृ० ७९-१०१

कृषि का व्यापारीकरण : औद्योगीकरण और नागरीकरण का प्रभाव कृषि के उत्पादन पर भी पड़ा है। पहले कृषि द्वारा जीवन के लिए उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर ही दृष्टि रहता थी, पर अब उसके स्थान पर ऐसी फसलों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जिनकी बिक्री से अच्छी रकम की प्राप्ति हो, फिर वह चाहे तम्बाकू की फसल हो, चाहे पोस्ते या अफीम की।

सामाजिक जीवन : नगरों के सामाजिक जीवन में व्यक्तिवाद, स्वार्थ और निरपेक्षता का आधिक्य रहता है। मकान की दीवाल मिली है, पर दिलों की दीवाल कोसों दूर रहती है। पास-पड़ोस और मुहल्ले के हित के लिए ही कुछ करने में जब लोगों को रुचि नहीं रहती तो दूर के मुहल्लों और पूरे नगर के हित के लिए कुछ करना तो और भी कठिन होता है। व्यक्ति अपने कार्य-व्यवसाय में व्यस्त रहता है, उसे निकटवर्ती लोगों के निकट संपर्क में आने का अवकाश ही नहीं। कभी कुछ अवकाश मिला तो वह सिनेमा, रेडियो, क्लब का उपयोग करता है। कुछ लोग जुआ-घर, मदिरालय तथा ऐसे ही अन्य उग्र मनोरंजन खोज लेते हैं। विलास और पतन के साधनों का नगरों में चारों ओर बाहुल्य रहता है। कुछ लोग प्रयत्न करके उनसे बचे रहते हैं, पर अधिकांश लोग तो उनके आकर्षण में पड़ कर अपने विनाश का स्वयं ही साधन बन जाते हैं।

परिणाम

औद्योगीकरण और नागरीकरण का परिणाम व्यक्ति, परिवार, समाज और समुदाय—सभी के विघटन में दिखाई पड़ता है। जनसंख्या की भारी वृद्धि के साथ-साथ जीवन में व्यस्तता भी बहुत बढ़ गयी है। मनुष्य यंत्र की भांति वेग से कार्य करने लगा है। व्यक्ति में स्वार्थ, पृथकता और निरपेक्षता की भावना बढ़ने लगी है। अपने स्वार्थ से ही उसे मतलब रह गया है। सहयोग और सामुदायिक भावना घटने लगी है। परिवार टूटने लगे हैं। विवाह की मर्यादाएँ घटने लगी हैं। विवाह-विच्छेद बढ़ने लगे हैं। पारिवारिक सुख, स्थायित्व और सामंजस्य कम होने लगा है। स्त्रियों और बच्चों के काम में लग जाने से नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होने लगी हैं। प्राचीन आदर्श, परम्पराएँ, शिष्टाचारों के स्थान पर नये विचारों का, आधुनिकता का प्रसार होने लगा है। सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन आने लगा है। आर्थिक विषमता बढ़ने लगी है। कहीं-कहीं

सामाजिक विभेद भी कुछ घटने लगे हैं, परंतु मानव जीवन में व्यस्तता, अशांति बढ़ने लगी है।

औद्योगीकरण और नागरीकरण के चलते ३ बातें मुख्य रूप से पनप रही हैं—१. बेकारी, २. फैशन और ३. नैतिक मूल्यों का ह्रास। ग्रामीण जनता शहरों की ओर दौड़ती है कि काम मिलेगा, पर प्रत्येक को काम मिलना सम्भव नहीं। उत्पादन की यांत्रिक प्रक्रिया के साथ बेकारी और श्रम समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। उधर भौतिक उन्नति के साथ फैशन का गठबन्धन स्वाभाविक है। स्तर ऊँचा दिखाने की आकांक्षा मनुष्य से नाना प्रकार के गलत कार्य कराती है। पैसे की हविस मनुष्य को नैतिक मार्ग से गिरा कर भ्रष्टाचार, पतन, विलास और भोग की दिशा में खींच ले जाती है। उसके साथ व्यसन, व्यभिचार और नाना प्रकार के अपराध जुड़े हुए हैं। गन्दी बस्तियाँ कोढ़ में खाज बन बैठी हैं।

भारत में नागरीकरण

१९७१ की जनगणना के अनुसार भारत में ५४ करोड़ ७४ लाख व्यक्तियों में से १० करोड़ ८८ लाख व्यक्ति नगरों और कस्बों में निवास करते हैं। ४३ करोड़ ८६ लाख लोग ५,६६, ८७८ गांवों में निवास करते हैं। नगरों और कस्बों की संख्या २६९९ है। दो लाख से ऊपर जनसंख्या वाले नगरों की संख्या इस प्रकार है—आंध्र ५, उत्तर प्रदेश ११, केरल ३, गुजरात ६, जम्मू-कश्मीर १, तमिलनाडु ५, पंजाब ३, पश्चिम बंगाल २, बिहार ४, मध्यप्रदेश ७, महाराष्ट्र ५, मैसूर ५, राजस्थान ४, दिल्ली १, चंडीगढ़ १। १० लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर हैं—हैदराबाद (१८ लाख), कानपुर (१३ लाख), अहमदाबाद (१६ लाख), मद्रास (२५ लाख), कलकत्ता (७० लाख), बृहत्तर बम्बई (६० लाख), बंगलौर (१६।। लाख) दिल्ली (३६। लाख)।

सन् १९३१ में नगरों की जनसंख्या ३ करोड़ ३४ लाख थी, जो १९४१ में ४ करोड़ ३८ लाख और १९५१ में ६ करोड़ से अधिक हो गई। अब वह ११ करोड़ के लगभग है। इससे नगरों की जनवृद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

कारखानों और उनमें काम करनेवाले मजदूरों की निम्न संख्या से औद्योगीकरण के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है—

सन् १९४८	१५,९०६	कारखाने	२३,६०,२०१	मजदूर
१९५०	२७,७५४	,,	२५,०४,३९९	,,
१९५२	३०,३५१	,,	२५,६७,४५३	,,
१९५५	२६,३०८	,,	२६,५८,५३७	,,
१९६६	१२,२००	,,	३९,३४,०००	,,

सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९६९ में ४७ लाख ७१ हजार मजदूर कारखानों में काम कर रहे थे।[1] कारखाने बढ़ते चल रहे हैं और मजदूरों की संख्या भी बढ़ती चल रही है। उसी प्रकार नगरों की जनसंख्या भी बढ़ती चल रही है।

इंग्लैण्ड में जहाँ ८० प्रतिशत, अमेरिका में ५६ प्रतिशत, आयरलैंड में ५१ प्रतिशत और फ्रांस में ४९ प्रतिशत लोग नगरों में निवास करते हैं, वहाँ भारत में १९४१ में १३ प्रतिशत और १९५१ में १५ प्रतिशत से बढ़कर १९७१ में २० प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है। नगरों की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है तो उसके साथ समस्याएँ भी बढ़ रही हैं।

नगरों की समस्याएँ

नगरों की प्रमुख समस्याएँ हैं—

१. आवास सम्बन्धी समस्याएँ
२. स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ
३. सुरक्षा सम्बन्धी समस्याएँ
४. शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ
५. सुख-सुविधा सम्बन्धी समस्याएँ
६. आर्थिक समस्याएँ
७. प्रशासनिक समस्याएँ

आवास सम्बन्धी समस्याओं में नव-भवन निर्माण तथा जीर्णशीर्ण पुराने भवनों की उपयुक्त व्यवस्था और गन्दी बस्तियों की समस्या आदि प्रमुख है। नागरिकों को सुख-सुविधापूर्ण, पर्याप्त लम्बे-चौड़े हवादार मकान मिल सकें। उनमें आवासीय सभी सुविधाएँ रहें। ये सभी समस्याएँ जबतक ठीक ढंग से हल नहीं की जायँगी तबतक नागरिक सुखी नहीं रह सकते।

स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं में शुद्ध और पर्याप्त पीने के पानी की समस्या, खाद्य पदार्थों में मिलावट की समस्या, सफाई की समस्या, महामारियों की

१. भारत, १९७१-७२, पृ० ३४७

रोकथाम की समस्या, नगर को स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद बनाने की, पर्याप्त चिकित्सालयों आदि की व्यवस्था आदि आती है। साथ ही नागरिकों को स्वास्थ्य के नियमों के पालन की ओर प्रवृत्त करने की भी समस्या आती है।

सुरक्षा सम्बन्धी समस्याओं में यातायात नियंत्रण, अग्नि से रक्षा, तथा नागरिकों के जानमाल की सुरक्षा सम्बन्धी समस्याएँ आती हैं। अपराधों और नगर में चलनेवाली हलचलों का नियंत्रण करने की भी समस्याए इसी के अन्तर्गत हैं।

शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं में नागरिकों के बालकों के शिक्षण की समस्याएं तो आती ही हैं. स्कूल, कालेजों के अतिरिक्त नागरिकों को कला-कौशल और शिल्प आदि के प्रशिक्षण आदि की समस्याएं भी आती हैं।

सुख-सुविधा सम्बन्धी समस्याओं में सड़कों का निर्माण, पुलियों, नालियों की व्यवस्था, वृक्षारोपण, पार्क बनाना, पानी छिड़कना, बाजार, मेला, प्रदर्शनी की व्यवस्था, धर्मशाला, पुस्तकालय आदि की समस्याएँ आती हैं।

आर्थिक समस्याओं में नगर की व्यवस्था के लिए पर्याप्त आय उपलब्ध करने, कर लगाने, कर वसूलने और बड़ी योजनाओं की पूर्ति के लिए सरकार से अनुदान और ऋण आदि लेने की समस्याएं आती हैं।

प्रशासनिक समस्याओं में प्रशासन संबंधी वे सभी समस्याएँ आती हैं जिनके द्वारा नगर का प्रशासन विधिवत चल सके। नगर संबंधी नियमों का ठीक ढंग से पालन हो सके तथा नगर की सेवा करनेवाले अधिकारी और कर्मचारी अपने कर्तव्य का भली-भाँति पालन कर सकें।

नगरों से संबद्ध स्वायत्त शासनवाली संस्थाएँ हैं—नगर निगम महापालिकाएं या नगरपालिकाएं। कहीं-कहीं नगर स्वायत्त शासन व्यवस्था सुधार निगम—इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और बंदरगाहों पर पोर्ट ट्रस्ट भी रहते हैं।

भारत में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में नगर निगम सन् १६८७ में बन गये थे, पर उनका सारा नियंत्रण अंग्रेजों के ही हाथ में था। सन् १९२० से स्थानीय स्वशासन हस्तांतरित विषय हो गया। स्वतंत्र भारत में नगरों के स्वायत्त शासन की व्यवस्था राज्य सरकार के विषयों में आगयी है। तबसे महानगरपालिकाओं और नगरपालिकाओं के चुनाव होते हैं। सभासद नगर के प्रबंध में भाग लेते हैं। यह व्यवस्था है तो अच्छी, पर राजनीतिक

दलबंदी की चपेट में आ जाने से स्वायत्त शासन एक खिलवाड़ जैसा बनकर रह गया है। उसके सभासद प्रस्ताव स्वीकृत करते हैं, परंतु राज्य सरकार चाहती है तो उन्हें कार्यान्वित करती है, अन्यथा रद्दी की टोकरी में फेंक देती है। नगरपालिकाओं के अधिकार बहुत सीमित हैं। पुलिस उनके नियंत्रण से मुक्त है। अतः उनके नियमों का पालन ठीक से हो नहीं पाता। उधर सारा तंत्र ऐसा बन गया है कि उसके भीतर लाल फीताशाही और भ्रष्टाचार ने अपनी जड़ जमा ली है। फलतः स्वायत्त शासन की व्यवस्था होते हुए भी उसका लाभ नागरिकों को मिल नहीं पाता।

पुनर्निर्माण

औद्योगीकरण और नागरीकरण ने जो अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं तथा समाज को विघटन की दशा में जिस तीव्रता से ढकेला है, उसके निवारण के लिए यह परम आवश्यक है कि सरकार तो स्थिति के सुधार के लिए भरपूर शक्ति लगाये ही, नागरिकों का भी कर्तव्य है कि वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जितनी तत्परता दिखाते हैं, उतनी ही तत्परता वे अपने कर्तव्यों के पालन के लिए भी दिखायें। नागरिक शासन में राजनीति के लिए तो कोई स्थान होना ही नहीं चाहिए।

अध्याय : २३

बेकारी और श्रम समस्या

मनुष्य स्वस्थ है, सबल है, कार्य करने में समर्थ है, कार्य करने को इच्छुक है, फिर भी उसे काम नहीं मिलता, कार्य नहीं मिलता, नौकरी या रोजगार नहीं मिलता, उसका नाम है—बेकार। मनुष्य पढ़ा-लिखा है, शिक्षित है, डिग्रीधारी है, योग्य है, समर्थ है, कार्य करना चाहता है, फिर भी उसे स्थान-स्थान पर 'नो वैकेंसी' 'काम नहीं है'—लिखा हुआ साइन बोर्ड दिखा दिया जाता है, उसका नाम है—बेकार, शिक्षित बेकार। अकबर के शब्दों में :

कालेज से सदा आ रही है 'पास' 'पास' की !
ओहदों से सदा आ रही है 'दूर' 'दूर' की !!

पढ़ा-लिखा हो या अपढ़, शिक्षित हो या अशिक्षित, काम करने के इच्छुक व्यक्ति को काम न मिलने की स्थिति का नाम है—बेकारी।

बेकारी : अर्थ और परिभाषा

कार्यक्षमता और कार्य करने की लालसा रखते हुए भी कार्य, रोजगार या वृत्ति न मिलने का नाम ही निवृत्ति, बेकारी या बेरोजगारी है। जीविका मनुष्य के लिए परम आवश्यक वस्तु है, उसी पर मनुष्य के जीवन का और उसके परिवार के पालन-पोषण का आधार रहता है, उससे वंचित होना उसके लिए तो दुःखद होता ही है, उसके परिवार के लिए भी चिंता और क्लेश का कारण होता है। समुदाय और समाज के लिए भी वह एक समस्या है। आज के युग में बेकारी एक विषम समस्या बन बैठी है।

अर्थशास्त्रियों और समाज शास्त्रियों ने बेकारी की समस्या पर समय-समय पर विचार किया है। उन्होंने अपने-अपने ढंग पर उसकी परिभाषा भी की है। जैसे,

लार्ड बेवरिज—'मनुष्यों की इच्छा रहते हुए भी उन्हें काम न मिलना बेकारी है। बेकारी का सबसे बड़ा दोष भौतिक न होकर नैतिक है। बेकारी नष्ट किये बिना देश की प्रगति संभव नहीं।'

कार्ल प्रीव्रम—'बेकारी श्रम बाजार की वह स्थिति है जिसमें श्रमशक्ति की पूर्ति कार्य करने के जितने स्थान हैं, उनकी संख्या से अधिक होती है।'

पीगू—'काम करने की इच्छा रखते हुए भी किसी व्यक्ति को काम न मिले तो वह बेकार कहलाता है और उसकी स्थिति बेकारी है।'

फेयर चाइल्ड—'श्रमिकों को सामान्य स्थिति में, सामान्य मजदूरी से बलपूर्वक और उनकी इच्छा के विपरीत पृथक् कर देने का नाम बेकारी है।'

गिलिन—'अपने और अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी कमाई पर आश्रित रहनेवाले व्यक्ति को जब लाभप्रद रोजगार नहीं मिल पाता तो उस स्थिति को 'बेकारी' कहा जाता है।'

सार्जेण्ट फ्लोरेंस—'कार्य करने में समर्थ तथा उसके लिए इच्छुक व्यक्तियों को काम न मिलने की स्थिति का नाम 'बेकारी' है।'

बेकारी के प्रकार

बेकारी के कितने ही स्वरूप और प्रकार होते हैं। जैसे, ग्रामीण बेकारी, नगरी बेकारी, शिक्षितों की बेकारी अथवा मौसमी बेकारी, यांत्रिक या तकनीकी बेकारी, चक्रीय बेकारी, आंशिक बेकारी, घर्षणात्मक बेकारी, प्रच्छन्न बेकारी, स्पष्ट बेकारी आदि।

ग्रामीण बेकारी : भारत की ८० प्रतिशत जनता देहातों में रहती है। ग्रामों का मुख्य धंधा कृषि है। कृषि का यह कार्य फसल बोने और काटने के समय ही विशेष रूप से रहता है। शेष समय में लोग बेकार रहते हैं। ४ महीने काम, ८ महीने बेकाम। ग्रामोद्योगों, कुटीर उद्योगों के अभाव में यह बेकारी बुरी तरह खलती है।

नगरी बेकारी : नगरों में बड़े उद्योग चलते हैं। उनमें यंत्रों का प्रयोग होता है। यंत्रों के विस्तार के साथ बेकारी की भी वृद्धि होती चलती है। औद्योगीकरण के चलते, पूँजीवाद के चलते बेकारी का बढ़ना स्वाभाविक है।

शिक्षितों की बेकारी : आये दिन विश्वविद्यालयों के दीक्षांत अवसरों पर यह देखने को मिलता है कि स्नातक लोग डिप्लोमा और डिग्री के स्थान पर नौकरी और काम की मांग करते हैं। कभी-कभी तो वे वहीं पर अपनी डिग्रियों को फाड़ कर फेंक देते हैं कि जिस डिग्री से नौकरी नहीं मिलती, उस डिग्री का उपयोग ही क्या! जब हजारों-लाखों इंजीनियर, डाक्टर और वैज्ञानिक काम के अभाव में बेकार मारे-मारे फिरते हैं, तब कला आदि के स्नातकों को कौन पूछता है?

मौसमी बेकारी : चीनी मिलें जिस प्रकार सर्दी के दिनों में ही चलती हैं जबकि गन्ना पेरा जाता है और चीनी तैयार की जाती है, उसी प्रकार कुछ अन्य उद्योगों और व्यवसायों में विशिष्ट मौसम में ही कार्य चलता है। मौसम के दिनों में उनमें लाखों व्यक्ति काम करते हैं, अन्य दिनों में वे बेकार रहते हैं। खेती में भी रवी की फसल कट जाने पर किसान उस समय तक बेकार रहते हैं जब तक खरीफ के लिए पानी न बरस जाय।

तकनीकी बेकारी : विज्ञान के युग में यंत्रों में और तकनीक में समय-समय पर परिवर्तन होता चलता है। उसका परिणाम यह होता है कि नयी प्रक्रियाओं का प्रसार होता है। उससे पुराने ढंग से काम करनेवाले व्यक्ति बेकार होते चलते हैं। कपड़े का उद्योग हो या चमड़े का, मशीन जुलाहों को भी बेकार बनाती है, चमारों को भी।

चक्रीय बेकारी : व्यापार में तेजी और मंदी का चक्र सतत चलता रहता है। सुख-दुख के लिए कहा गया है कि 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुखानि च।' उसी प्रकार व्यापार में तेजी के बाद मंदी आती है, मंदी के बाद तेजी। यह स्थिति समय-समय पर आती ही रहती है। इसकी लपेट में देखते-देखते असंख्य लोग बेकार हो जाते हैं।

आंशिक बेकारी : कभी-कभी लोग पूरे-के-पूरे बेकार होते हैं, कभी आंशिक रूप में। पूरा काम नहीं है, थोड़ा काम है तो 'बैठे से बेगार भली' कहकर लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी बेकारी बहुत बड़ी मात्रा में रहती है।

घर्षणात्मक बेकारी : जब मनुष्य एक काम छोड़ कर दूसरा ग्रहण करना चाहता है तो बीच की अवधि में उसकी बेकारी को घर्षणात्मक बेकारी कहा जाता है।

प्रच्छन्न बेकारी : जब मनुष्य देखने के लिए तो काम में लगा रहता है, पर उसकी शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का भरपूर उपयोग नहीं होता तो उसे प्रच्छन्न बेकारी कहा जाता है। भारत के किसान और कृषि-मजदूर यों सालभर कृषि कार्य में लगे रहते हैं परंतु उनके पास पूरा काम रहता नहीं। उनकी यह स्थिति प्रच्छन्न बेकारी की है।

स्पष्ट बेकारी : काम करने की शक्ति और सामर्थ्य है, रुचि और आवश्यकता भी है, फिर भी काम न मिलना स्पष्ट बेकारी है।

भारत में बेकारी एक अत्यंत विषम समस्या बनी बैठी है, पर उसकी

ठीक मात्रा का पता चलना भी कठिन है। गुन्नर मिरडाल का कहना है कि सही आंकड़ों का प्राप्त करना भारत में ही नहीं, दक्षिण एशिया के सभी देशों में कठिन है। आठवीं राष्ट्रीय सेंपुल सर्वे के मत से 'भारत के नगरी क्षेत्र में १९५५ में लगभग २० प्रतिशत लोग कृषि कार्य में लगे बताये गये थे!'[१] पश्चिम में ऐसे प्रश्नों का सही उत्तर मिल सकता है कि 'क्या आप १ मास से अधिक समय से काम खोज रहे हैं?' या 'गत वर्ष अपने कितने दिन काम किया?' पर भारत में ऐसे प्रश्नों का सही उत्तर कठिन है, क्योंकि अपढ़ उत्तरदाताओं की स्मृति इतनी तीक्ष्ण कहाँ है?[२]

भारत में बेकारी

सही आंकड़े भले ही उपलब्ध न हों, पर यह निर्विवाद है कि भारत में बेकारी एक विषम समस्या का रूप धारण कर चुकी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही मार्च १९५० में भारत सरकार ने योजना आयोग की नियुक्ति की और भारत के योजनाबद्ध विकास के लिए उपयुक्त सुझाव देने का कार्य उसे सौंपा। उक्त योजना आयोग ने सवा साल तक देश की समस्याओं का अध्ययन करने के उपरांत ७ जुलाई १९५१ को प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा का प्रारूप उपस्थित किया।

योजना आयोग

इस प्रारूप में 'आयोजन से अभिप्राय' का स्पष्टीकरण करते हुए आयोग के सदस्यों (जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष, गुलजारीलाल नन्दा—उपाध्यक्ष, वी. टी. कृष्णमाचारी, चिन्तामन देशमुख, जी. एल मेहता और रामकृष्ण पाटिल) ने लिखा कि आयोजन के भावी लक्ष्यों की एक विशाल कल्पना के भीतर भी अनेक प्रतियोगी लक्ष्य हमारे सम्मुख आते हैं और हमारे लिए समस्या उत्पन्न हो जाती है कि इनमें एक दूसरे की तुलना में हम किस लक्ष्य को पहले अपनाते हैं—

योजना से अभिप्राय

१. अधिकतम उत्पादन,
२. सब व्यक्तियों के लिए पूरा रोजगार,
३. मूल्यों में कमी,
४. लोगों की आय में अधिक समानता।

---

१. गुन्नर मिरडाल : एशियन ड्रामा, खण्ड २, पृ० १०२५ १०२६।
२. वही, पृ० १०२६।

ये सभी लक्ष्य कतिपय दशाओं में इकट्ठे एक साथ पूरे नहीं हो सकते। प्रत्येक लक्ष्य बांछनीय है और इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक लक्ष्य पर उचित मात्रा में बल दिया जाय।'[१]

पूरा रोजगार

सब लोगों को पूरी तरह रोजगार दिलाने के प्रश्न पर प्रारूप में कहा गया था कि 'यह भी आवश्यक है कि योजना सब लोगों को पूरी तरह रोजगार दिलाने की व्यवस्था करे। आधुनिक आर्थिक जीवन के भीतर ही भीतर से क्षीण करनेवाले कारणों में बेकारी एक सबसे बड़ा और भयंकर कारण है। बेकारी से आर्थिक हानि होती है। परंतु उससे भी अधिक उससे सामाजिक अव्यवस्था पैदा होती है। उसके विपरीत बेकार पड़े हुए मानव श्रम और मानव शक्ति को कार्य निरत किया जाय और उत्पादन कार्य में लगा दिया जाय तो वह शक्ति का एक स्रोत बन जाता है।'[२] प्रारूप आगे कहता है कि 'सबको पूरा रोजगार दिलाने की नीति को अपना तात्कालिक लक्ष्य बनाने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं।'[३]

१० अगस्त १९५१ को श्री रामकृष्ण पाटिल जब इस प्रारूप पर विनोबा का मत जानने के लिए उनके पास पहुँचे और चर्चा की तो विनोबा ने कहा कि 'अपने संविधान में आपने यह आश्वासन दिया है कि देश के सभी नागरिकों को रोजी-रोटी दी जायगी। परंतु इस योजना में आपने इस आश्वासन को सर्वथा भूला दिया है। आपका यह दायित्व है कि आप देश के प्रत्येक नागरिक की रोजी-रोटी की व्यवस्था करें।'

जवाहरलाल जी ने श्री पाटिल से विनोबा के विचार जानकर इस संबंध में विस्तृत चर्चा करने के लिए विनोबा को दिल्ली बुलाया। विनोबा पद यात्रा करके नवंबर १९५१ में दिल्ली पहुँचे। योजना आयोग के सदस्यों ने उनसे तीन दिन चर्चाएँ कीं। वहाँ भी विनोबा ने इसी तथ्य पर बल दिया कि सरकार को चाहिए कि सभी नागरिकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करे। राष्ट्रीय योजना में सबके लिए रोजी और सबके लिए रोटी का प्रबंध होना ही चाहिए। इस प्रारूप में दोनों ही बातें नहीं हैं। अनिश्चित

---

१. योजना कमीशन भारत सरकार : प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा का प्रारूप, १९५१, पृष्ठ १२

२. वही, पृ० १४

३. वही, पृ० १६

काल तक विदेशों से अन्न मंगाते रहना गलत है। अन्न के विषय में सरकार को चाहिए कि वह देश को स्वावलंबी बनाये और एक तारीख निश्चित कर दे कि उसके बाद विदेशों से अन्न का आयात होगा ही नहीं। रोजगार के बारे में भी सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को काम मिले। यदि सरकार कम लोगों को ही काम दे सकती है तो उसे सबसे पहले उन लोगों की योजना बनानी चाहिए जो सबसे अधिक विपन्न है।

बेकारों की संख्या

देश में बेकारों और अर्द्धबेकारों की संख्या का ठीक-ठीक पता तो नहीं है, परंतु जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ उनकी संख्या भी बढ़ती चल रही है, इसमें संदेह नहीं है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९५६ में १६ लाख ६९ हजार व्यक्ति बेकार थे। १९६१ में उनकी संख्या३२ लाख ३० हजार हो गयी। १९६५ में ३९ लाख ११ हजार हो गयी और १९७० में ४५ लाख १५ हजार। फरवरी १९७२ में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के मध्यकालीन मूल्यांकन में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया कि १९६८ में आयोग द्वारा नियुक्त बेकारी अनुमान विशेषज्ञ समिति ने यह मत प्रकट किया है कि भारत में बहुत से व्यक्ति स्वयं अपने निजी रोजगार में लगे हैं या घरेलू उद्योग में लगे हैं, अतः योजना काल में कितने लोगों को काम मिला, इसका कोई अर्थ नहीं और न उससे आर्थिक स्थिति का ही कोई ठीक अनुमान लगता है। अतः भविष्य में ऐसे आँकड़े न दिये जायँ। समिति की संस्तुति मानकर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ऐसे आंकड़े नहीं दिये गये।[१] भारत के श्रम और रोजगार उपमंत्री बालगोविंद वर्मा ने १६ नवंबर १९७३ को राज्य-सभा में बताया कि १९७१ में ५१ लाख, १९७२ में ६९ लाख थे, और १९७३ में ८० लाख ७९ हजार बेकार हैं।

बेकारी के कारण

बेकारी के कारण अनेक हैं। कुछ आर्थिक हैं, कुछ तकनीकी; कुछ व्यक्तिगत हैं, कुछ सामाजिक; कुछ भौतिक हैं; कुछ शैक्षणिक; कुछ राजनीतिक कुछ अन्य।

---

१. योजना आयोग, भारत सरकार: दि फोर्थ प्लान-मिडटर्म एप्रेजल, १९७२, पृ० ४२

योजना आयोग ने बेकारी के प्रमुख कारण ये बताये हैं —

१. जन संख्या में तीव्रगति से वृद्धि,

२. ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों का ह्रास,

३. विस्थापितों का आगमन,

४. कृषि से भिन्न अन्य क्षेत्रों में रोजगार का विषम विकास,

५. कृषि क्षेत्र में परम्परागत और अनुपयुक्त पद्धतियों का प्रचलन।

भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी बेकारी की समस्या है। जनसंख्या की वृद्धि, श्रम की पूर्ति का अधिक होना, उपभोग के स्तर में गिरावट, नयी मशीनों का प्रचलन, प्रतिकूल व्यापार चक्र, श्रमसंघों की वृद्धि और हड़-ताल, तालाबन्दी आदि श्रम अशान्ति जैसे कारण मुख्य रूप से बेकारी के कारण बनते हैं। भारत में बेकारी के प्रमुख कारण ये माने जा सकते हैं—

कृषि की स्थिति : भारत में कृषि पिछड़ी अवस्था में है। किसान के पास न तो पर्याप्त पूंजी है, न हल, बैल, बीज खाद आदि आवश्यक साधन हैं। उसकी जोतने, काटने और गाहने आदि की पद्धति पुरानी है। वह खेत में अपने परिवार के साथ लगा रहता है। काम पड़ने पर वह कृषक मजदूर रखता है। उसे स्वयं भी कृषि में पूरा रोजगार नहीं मिलता, मजदूरों को तो देगा ही कहां से ? साल में कई महीने उसे बेकारी में काटने पड़ते हैं। जिन किसानों के पास पूंजी आदि साधन हैं, वे कृषि में यंत्रों का प्रयोग करने लगे हैं। इन यंत्रों से भी बेकारी को पनपने का अवसर मिलता है। आदमी का काम जब मशीन करने लगती, है तब बेकारी का बढ़ना स्वाभाविक है।

भौतिक विपत्तियाँ : अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, अकाल जैसी आपत्तियाँ भारतीय कृषक को समय-समय पर सताती रहती हैं। सिचाई आदि के साधन भी बहुत कम हैं। फलतः जितनी उपज हो सकती है, वह भी हो नहीं पाती। अधिक उपज हो तो अधिक लोगों को काम और रोजगार दिया जा सकता है। इससे भी बेकारी बढ़ती चलती है।

ग्रामोद्योग का ह्रास : भारत में अंग्रेजी राज्य के जमने के साथ-साथ भारत के ग्रामोद्योगों का नाश आरंभ हो गया। सरकारी अनुमान है कि स्वतंत्र भारत में इन उद्योगों के विकास के लिए जो व्यापक प्रयत्न किया जा रहा है, उसके फलस्वरूप २ करोड़ व्यक्ति ग्रामद्योगों में लगे हैं, परन्तु ५४ करोड़ में यदि २ करोड़ व्यक्ति ग्रामोद्योगों में लगे भी हैं तो वह कौन-सी बड़ी उप-लब्धि है। आवश्यकता तो यह है कि गाँव-गाँव में, घर-घर में ग्रामोद्योग

और कुटीर उद्योगों का जाल बिछ जाय जिससे किसान और ग्रामीण लोगों में बेकारी रह ही न जाय।

दोषपूर्ण भूमिव्यवस्था: अंग्रेजी शासन काल में भारत में जमींदारी, तालुकदारी, रैयतदारी आदि अनेक प्रकार की भूमि व्यवस्थाएँ खड़ी की गयीं। जमींदार, तालुकदार जैसा एक मध्यवर्ती वर्ग खड़ा किया गया। ऐसी दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था खड़ी की गयी जिसमें स्वतंत्र भारत में बने जमींदारी उन्मूलन कानून आदि भी विशेष सुधार लाने में असमर्थ रहे हैं। कानूनी दांव-पेंचों के चलते जमीन जोतने वाले को अभी तक नहीं मिल सकी। उसका परिणाम यह है कि आये दिन किसान जमीन से बेदखल होते रहते हैं। उनके हाथ से उनका रोजगार छीन लिया जाता है। बेकारी, असन्तोष, अशांति और तनाव बढ़ता चलता है।

भूमि के भार में वृद्धि: भूमि तो ठहरी सीमित। उसकी उर्वरा-शक्ति की भी एक सीमा है। उस सीमा के उपरांत उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं होती। उत्पादन ह्रास का नियम लागू हो जाता है। जनसंख्या बढ़ने से भूमि का भार बढ़ता चलता है, उधर उपज में वृद्धि होती नहीं। परिणाम यह होता है कि भूमि से ही अपना निर्वाह करने वाले लोगों की स्थिति दिन-दिन विषम होती जाती है। भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन कोढ़ में खाज की स्थिति उत्पन्न करता है।

औद्योगीकरण: नगरों में जहाँ बड़े उद्योग हैं, वहाँ पर हजारों मजदूरों को काम मिलता है। पर यंत्र तो ऐसा दानव है जो दानवीय गति से उत्पादन करता है। जिस काम को सौ आदमी पूरे दिन में नहीं कर पाते, उसे वह एकाध घंटे में ही कर डालता है। फलतः उतने व्यक्तियों की रोजी स्वतः छिन जाती है। यंत्रीकरण और विवेकीकरण की चपेट में हजारों व्यक्ति आते रहते हैं और रोजी-रोटी से वंचित होते रहते हैं।

तेजी-मंदी का चक्र: व्यापार में तेजी-मंदी का जो चक्र चलता रहता है, उसकी चपेट में भी हजारों व्यक्ति आते रहते हैं। उसके कारण भी समय-समय पर लोगों की छंटनी होती रहती है और बेकारी बढ़ती रहती है।

जनसंख्या की वृद्धि: भारत में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। जिस अनुपात में आबादी बढ़ रही है, उस अनुपात में उद्योग, व्यवसाय, काम और रोजगार के अवसर नहीं बढ़ रहे हैं। इसलिए बेकारी का बढ़ना स्वाभाविक

है। विस्थापितों ने भारी संख्या में आकर समस्या को और अधिक विषम बना दिया है।

दोषपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था : मैकाले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित करने का उद्देश्य यह माना था कि ऐसे लोगों की पलटन खड़ी की जाय जो रंग रूप में काले हों परंतु रहन-सहन, वेशभूषा और सभ्यता में गोरे हैं। ऐसे किरानी बाबुओं की उसे आवश्यकता थी जो अंग्रेजों के दुभाषिये बनकर उनके साम्राज्य की जड़े मजबूत बनाने में सहायक हों। उस दोषपूर्ण लक्ष्य से प्रसारित की गयी अंग्रेजी शिक्षा ने अपना काम कर दिखाया। किरानी काले बाबुओं की पलटन खड़ी हो गयी जो हाथ से काम करना घृणा की दृष्टि देखने लगी। यही शिक्षा पद्धति सामान्य सुधार के साथ आज भी चालू है। भोग-विलास परायण इस पद्धति ने छात्रों में शरीरश्रम के प्रति घृणा की भावना फैला दी। उपयोगी श्रम के साथ शिक्षा को जोड़ने की महात्मा गाँधी की नयी तालीम या बुनियादी तालीम को लोगों ने विशेष रूप से आगे बढ़ने नहीं दिया। इसका परिणाम यह होता है कि परीक्षा पास करके लोग नौकरी की ही तलाश में बादलें बनकर घूमते हैं। हाथ से काम करने में उन्हें लाज लगती है। शिक्षण का दूसरा दोष यह है कि उसने प्रतिभाओं के विकास की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जिससे देश को उत्तम शासक, राजनेता और नाना प्रकार के तज्ञ मिलते। अब इस दिशा में कुछ प्रगति हो रही है।

विश्वविद्यालयों से निकलनेवाले लाखों स्नातक आज सरकारी नौकरी और ऐसा कामकाज खोजते हैं जिसमें श्रम तो कम-से-कम करना पड़े, पर आमदनी अधिक-से-अधिक हो। वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनने की ओर लोगों का झुकाव विशेष रूप से है। कारण, आधुनिक शिक्षा ने विलास और उच्चस्तर की जो भावना बालमानस में बोयी है, उसी का यह परिणाम है।

संकुचित भावनाएँ : जातिवाद, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, धार्मिक रूढ़ियां, पुरातन संस्कार आदि संकुचित भावनाएं बेकारी बढ़ाने में सहायक होती हैं। ये भावनाएं मनुष्य को आगे बढ़ने नहीं देतीं। मनुष्य संकुचित दायरे में कैद होकर रह जाता है। न स्वयं आगे बढ़ता है, न दूसरों को बढ़ने देता है।

राजनीतिक दांवपेंच : राजनीति का आज जिस प्रकार विकास हो रहा है, दलबंदी और भ्रष्टाचार का जो प्राबल्य हो रहा है, उसके चलते देश का

विधिवत विकास नहीं हो पा रहा है। भारत जैसा साधन संपन्न देश, इतना विशाल देश यदि अपनी शक्ति का ठीक ढंग से सदुपयोग करे तो हर आदमी को रोजी-रोटी मिलना कठिन नहीं है, परंतु दलगत सत्ता की राजनीति जब अपनी संकीर्णता का त्याग करे तब न ? अंग्रेजी शासन ने भारत में भोग, फैशन और विलासिता की नदी बहायी। स्वतंत्र भारत में दलगत राजनीति देश को गिरा रही है।

यंत्रयुग की देन : रामकृष्ण शर्मा का यह कहना ठीक ही है कि राजनीतिक आर्थिक सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—सभी अव्यवस्थाओं के समुच्चय मात्र से ही बेकारी-स्थिति भूत हुई है। आज 'सर्वसुयोग्यों का जीवनाधिकार' और जीवन संघर्ष की गाथाएँ तथ्यहीन-सी मालूम पड़ने लगी हैं। भोजन के भरे भंडारों में भूख से तड़पते नरकंकालों को देख कर कहना ही पड़ता है कि दुनिया की चक्की में कहीं-न-कहीं दोष अवश्य है और हम जब तक उसी मूल बिंदु पर उंगली नहीं रखते तबतक रूस के पंच-वर्षीय विधान, भारत के योजना आयोग के बड़े-से-बड़े मनसूबे, चीन या अमेरिका के सारे प्रयास, उमड़ती नदी के भंवर में पड़े लाचार प्राणियों को 'डूबना नहीं' की आवाज सुनाने के सिवा और कुछ नहीं है। आज राज-नीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सभी समस्याएं उलझी हुई दीख रही हैं। रूस का साम्यवाद या अमेरिका का लोकतंत्र—सर्वत्र बेकारी का साम्राज्य देखकर हमें यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि बेकारी का उद्भव किसी ऐसे कारण से हुआ है जिसका नाता देश या राष्ट्रीय विधान से नहीं, युग से है। हम इसे 'यंत्रयुग' कहते हैं। युरोप का पूंजीवाद, रूस और चीन का साम्यवाद, ब्रिटेन और अमेरिका का लोक-तंत्र—सभी केंद्रवादी यंत्रीकरण के वाहन पर दौड़ रहे हैं और सभी बेकारी के शिकार हैं—कहीं प्रत्यक्ष, कहीं 'प्रच्छन्न' रूप से।[१]

इलियट और मेरिल ने भी यह बात मानी है कि केवल एकाध कारण ही बेकारी के लिए उत्तरदायी नहीं है। अनेक कारण मिलकर बेकारी की स्थिति उत्पन्न करते हैं। जैसे, वस्तुओं का आवश्यक मात्रा से अधिक उत्पादन, संतुलित आयोजन का अभाव, तकनीकी सुधार, स्वयंचालित यंत्रों का विस्तार, स्टाक मार्केट की सट्टेबाजी, कारखानों की हड़तालें आदि अवैयक्तिक कारक और शिक्षा और कौशल का अभाव, आयु, मानसिक

१. रामकृष्ण शर्मा : नव भारत, १९६७, पृ० १९३-१९४।

और शारीरिक अयोग्यता आदि वैयक्तिक कारक बेकारी के लिए उत्तर-दायी हैं।[१]

बेकारी का प्रभाव

कृषि में बेकारी, उद्योगों में बेकारी, अन्य व्यवसायों में बेकारी जब बढ़ने लगती है, मशीन जब आदमी की रोजी-रोटी पर आघात करने लगता है, पूँजीवाद और औद्योगीकरण जब बढ़ने लगता है, हाथ का काम मशीनें छीन लेती है, मस्तिष्क का काम कम्पूटर छीन लेता है, नये-नये उपकरण निकल कर छंटनी और कटौती करने लगते हैं, नये-नये कानून-कायदे सक्षम लोगों को कार्य से वंचित करने लगते हैं, तो केवल व्यक्ति ही प्रभावित नहीं होते, सारा समाज, सारा समुदाय प्रभावित होने लगता है। उसके फल-स्वरूप वैयक्तिक विघटन तो होता ही है, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन भी होने लगता है। आज के अर्थ प्रधान युग में जब श्रम और ईमान-दारी से काम करने वाले मनुष्य को उसकी जीविका से वंचित कर दिया जाता है तो असंतोष, उपद्रव, हिंसा, बेईमानी, अपराध आदि बुराइयों का बढ़ना स्वाभाविक है।

बेकारी का चक्र कैसे घूमता है और किस प्रकार एक बेकार दूसरे को बेकार बनाता चलता है, इसकी विवेचना करते हुए पट्टाभि कहते हैं—

'गाँव के नाई ने जर्मनी का उस्तरा इस्तेमाल कर और गाँव के बढ़ई ने विदेश से आयी कीलों का प्रयोग करके गाँव के लुहार की रोजी मारी है। लुहार ने विदेशी वस्त्र पहनकर जुलाहे की रोजी बर्बाद कर दी है। जुलाहे ने जापान का जूता पहनकर मोची की और मोची ने कलईदार तश्तरियां और प्यालियों का इस्तेमाल कर कुम्हार का व्यवसाय नष्ट कर दिया है, कुम्हार ने अपने कपड़े धुलाई की दुकान में देकर धोबी का धंधा चौपट कर दिया है। इस प्रकार प्रत्येक अपने पड़ोसी की रोजी मारता है और गाँव अपने जवार के दूसरे गाँव को बर्बाद करता है।'[२]

बेकारी व्यक्ति को ही प्रभावित करके नहीं रह जाती, गाँव, नगर, पास-पड़ोस और सारे समुदाय को इसी प्रकार प्रभावित और बर्बाद करती चलती है। बेकार व्यक्ति के आय के स्रोत सूख जाने से उसकी तो स्थिति दयनीय बनती ही है, उसके परिवार की भी स्थिति बिगड़ने लगती है। खान-पान,

---

१ इलियट और मेरिल : स्पेशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ६०५–६१२।

२. पटाभि सीतारामैया : महत्मा गांधी का समाजवाद, पृ० ८२-८३।

रहन-सहन, जीवन-यापन के स्तर आदि सभी बातों पर उसकी छाप पड़ने लगती है। निर्धनता, ऋणग्रस्तता, भिक्षावृत्ति, आत्महत्या जैसी बुराइयाँ इसी शृंखला की कड़ियाँ बनती चलती हैं।

वैयक्तिक विघटन

बेकारी से व्यक्ति टूटता है। उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती है। उसके कारण जब भुखमरी की स्थिति आती है, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और निवास आदि की तंगी होती है तो एक ओर समाज उसे दुतकारता है, घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, तो दूसरी ओर स्वयं उसमें हीनता की भावना पनपती है। उसमें यह भाव आने लगता है कि वह पूर्णतः अपदार्थ है, कौड़ी काम का व्यक्ति नहीं है। यह भावना उसके विनाश और पतन का कारण बनती है।

'आलसी दिमाग शैतान का घर।' व्यक्ति बेकारी से त्रस्त होकर पतन के मार्ग पर पैर रख देता है। उत्तर प्रदेश के अवकाशप्राप्त जेल अधीक्षक एस० बी० सिनहा ने आज से दस साल पहले लिखा था—'बेकारों की संख्या १ करोड़ के लगभग पहुँच गयी है। बेकारों के आलसी दिमाग की शैतानी हमारे लिए समस्या है। शिक्षित बेकारों के श्वेतवसन अपराधों की दूसरी समस्या है। उनके अपराध दिन-दिन बढ़ते चलते हैं। शिक्षित बेकार सहज ही समाज विरोधी तत्वों से सांठ-गांठ कर लेते हैं जिससे उनकी अल्प आय में थोड़ी-सी वृद्धि हो जाय।'[1] इधर हाल के अपराधों में यह बात सहज ही दृष्टिगत होती है कि पढ़े-लिखे बेकार युवकों का डकैती, पाकेटमारी, चोरी, कत्ल, हिंसा, जुआ आदि में प्रमुख हाथ रहता है। बेकारी इस प्रकार वैयक्तिक विघटन का कारण बनती है।

परिवारिक विघटन

बेकारी की मार परिवार पर भी पड़े विना नहीं रहती। पैसे की तंगी पगपग पर परेशानी, चिंता और कलह को जन्म देती है। बच्चों को, पत्नी को, घर के अन्य सदस्यों को जब भरपूर भोजन, वस्त्र और जीवन की अन्य सुविधाओं से वंचित होना पड़ता है तो उनका दुखी होना स्वाभाविक है। गृह स्वामी जरा-जरा-सी बात पर क्षुब्ध और उत्तेजित हो उठता है और वह अपना क्रोध बाल-बच्चों पर उतारता है। इस स्थिति में परिवार की

---

१. एस० बी० सिंह; लेख—क्राइम इन ए वैलफेयर स्टेट, वबैस्ट (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर १९६३, पृ० ५४-५५।

शांति भग्न होती है। दांपत्यक्लेश बढ़ता है। बच्चे बालापराधों की दिशा में मुड़ते हैं। परिवार विघटित होने लगता है। निराशा की स्थिति में कभी-कभी आत्महत्या की भी घटनाएँ घटती हैं। पतिपत्नी स्वयं विषपान कर लेते हैं। बच्चों को भी जहर चटा देते हैं, बच्चे बच जाते हैं तो अनाथ होकर समाज के लिए भार हो उठते हैं।

सामुदायिक विघटन

बेकारी ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ती है, त्यों-त्यों सारा समुदाय उससे प्रभावित होने लगता है। उद्योग व्यवसाय विफल होने से, काम रोजगार न रहने से समुदाय का जीवन अस्त-व्यस्त होने लगता है। असामाजिकता, अपराध, अनैतिकता बढ़ने लगती है जो सामुदायिक विघटन को बढ़ाने में सहायक होती है।

बेकारी निवारण के उपाय

बेकारी की समस्या भारत के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए विषम समस्या है। यूरोप, अमेरिका आदि में बेकारी का भत्ता, वृद्धों को पेंशन आदि देकर किसी भाँति उसे थामने का प्रयत्न हो रहा है, पर यंत्रयुग, केंद्रीकरण पूँजीवाद, शोषण आदि के रहते इसका निराकरण संभव नहीं है। साथ ही ये बातें अब स्थायी होकर आ बैठी हैं, इसलिए समस्या उत्तरोत्तर विषम बनती चल रही है।

अवकाश का प्रश्न : मशीन हाथ का काम कर लेगी और मनुष्य को अधिक अवकाश मिलेगा,—यह भावना एक दृष्टि से अच्छी प्रतीत होती है परंतु यह अवकाश सबको अनुकूल नहीं सिद्ध हो रहा है। उससे लोगों को 'ऊब' लगने लगी है। अवकाश ही अवकाश, फुर्सत-ही-फुर्सत, कोई काम करने को नहीं—यह स्थिति थोड़ी देर को अच्छी लग सकती है, परंतु वस्तुतः अच्छी है नहीं। अवकाश भी मनुष्य को चाहिए, परंतु इतना अवकाश भी किस काम का कि उसका जी ही अवकाश से ऊब उठे।[1] आज तो अवकाश जीवी लोगों का एक वर्ग ही बन बैठा है। जिसे जितना अधिक अवकाश, वह उतना ही बड़ा मनुष्य! जो अफसर घंटे-आध-घंटे के लिए दफ्तर में आता है, वह उतना ही बड़ा अफसर। इस भ्रामक धारणा के चलते अवकाशजीवी वर्ग अवकाश ही अवकाश मनाता रहता है, उधर श्रमजीवी वर्ग श्रम में पिसता चलता है। एक के पास कोई काम ही नहीं

१. अवकाश विस्तार समस्या पर लेखमाला, 'पायनियर,'. १७ जुलाई १९६०।

आराम-ही-आराम। दूसरे पास काम-ही-काम, आराम का कहीं नाम भी नहीं। इस स्थिति को बदले बिना स्वस्थ समाज का विकास संभव ही नहीं है।

पंचवर्षीय योजना : रूस तथा अन्य देशों की भांति भारत में भी पंचवर्षीय योजनाएँ बनी हैं और उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयत्न हो रहा है। ये योजनाएँ अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकी हैं, यह बात योजनाओं के जनक भी स्वीकार करते हैं। देश के प्रत्येक नागरिक की रोजी-रोटी की व्यवस्था करना राज्य का पहला कर्त्तव्य होता है, पर इस पहले कर्त्तव्य का ही पालन नहीं हो पा रहा है। ऐसा नहीं है कि योजनाओं से कोई लाभ नहीं हुआ। लाभ तो हुआ है। देश में अनेक क्षेत्रों में प्रगति हुई है। कृषि, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, वाणिज्य आदि अनेक क्षेत्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं, हो रहे हैं, परंतु उनके बावजूद न तो अभी तक भारत की बेकारी मिटी है, न गरीबी मिटी है।

माना देश में कुछ लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठा है, कुछ लक्षाधीश, कुछ कोट्याधीश बने हैं, रेलें बिछी हैं, पुल बने हैं, सड़कें बनी हैं, नहरें बनी हैं, बांध बने हैं, सिंचाई के साधन बढ़े हैं, उर्वरकों के कारखाने खुले हैं, कोयला, लोहा, इस्पात, बिजली, धातु आदि के कारखाने खुले हैं, बड़े उद्योग पनपे हैं, उपज बढ़ी है, बड़ी-बड़ी इमारतें बनी हैं,—परंतु सम्पन्नता और समृद्धि के ऐसे प्रतीकों के साथ-साथ विपन्नता और दारिद्रय के प्रतीक भी बढ़े हैं। अमीरी बढ़ी है तो गरीबी भी बढ़ी है। बेकारी की समस्या पहले से सुधरी नहीं, उलटे उलझी ही है।

योजना की प्रगति : पंचवर्षीय योजना में पहले तो बेकारी मिटाने और हर व्यक्ति को काम देने की बात सोची नहीं गयी थी, १९५३ में इस दिशा में योजना निर्माताओं ने थोड़ा-सा ध्यान दिया। उन्होंने प्रथम योजना का आकार बढ़ाकर उसमें ३०९ करोड़ रुपया अधिक व्यय करना स्वीकार किया। इससे ५४ लाख व्यक्तियों को काम मिला। फिर भी योजना के अंत में कहा गया कि ५३ लाख व्यक्ति अभी भी बेकार हैं। इनमें २५ लाख नगरों में हैं, २८ लाख ग्रामों में।

दूसरी योजना में ८० लाख व्यक्तियों को गैर-कृषि क्षेत्रों में काम दिलाने की और १६ लाख को कृषि क्षेत्र में काम दिलाने की बात सोची गयी, पर सरकारी आंकड़ों के अनुसार ६५ लाख को गैर-कृषि क्षेत्रों में और १५ लाख

को कृषि क्षेत्र में काम दिलाया जा सका। योजना-अवधि के अंत में कहा गया कि अब भी देश में ५३ लाख व्यक्ति बेकार हैं। १९६०-६१ वर्ष के अंत में सरकारी अनुमान के अनुसार पूरे और आधे बेकारों की संख्या १ करोड़ ८० लाख थी।

तीसरी योजना में १ करोड़ ५ लाख बेकारों को गैर-कृषि क्षेत्रों में और ३५ लाख को कृषि क्षेत्र में काम दिलाने की बात सोची गयी। चौथी योजना के अंत में सोचा गया कि देश में काम दिलाने पर भी १ करोड़ ४० लाख व्यक्ति बेकार बने रहेंगे।

योजना आयोग के मत से बेकारी निवारण के लिए ये उपाय लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। ये उपाय अच्छे हैं भी—

१. राजकीय सहायता कानून के अनुसार लघु उद्योगों की सहायता,

२. श्रमिकों और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था,

३. सड़क यातायात का विकास,

४. कम आय वालों के लिए भवन निर्माण,

५. व्यक्तिगत पूँजी द्वारा विद्युत शक्ति का विकास,

६. ग्रामों में, नगरों में शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, रात्रि पाठशालाओं द्वारा शिक्षा प्रसार।

शिक्षित बेकारों की संख्या जून, १९६९ में १४ लाख थी जो जून, १९७१ में २१ लाख हो गयी। ये आँकड़े कामदिलाऊ दफ्तरों के हैं, जिनमें अधिकांश बेकार नाम लिखाने जाते भी नहीं। सरकार ने १९७१-७२ में शिक्षित बेकारों के लिए २५ करोड़ का विशेष प्रावधान किया। उनके उग्र प्रदर्शन आदि से प्रभावित होकर सरकार उनकी बेकारी मिटाने के लिए कुछ-न-कुछ करेगी ही, पर अन्य बेकारों की बेकारी मिटाने के लिए उसके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। देहाती बेकारी के लिए सरकार के पास ये योजनाएँ हैं—

श्रम-गहन कृषि, अनेक फसलों का आयोजन, सिंचाई व्यवस्था, बाढ़ नियंत्रण, देहातों में विद्युत व्यवस्था, पशुपालन, मत्स्य पालन, कृषि के साथ चल सकने वाले अन्य उद्योगों का विकास, भूमि संरक्षण, भूमि-सुधार, छोटे किसानों को आर्थिक सहायता, सूखी भूमि में कृषि, छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगों का विकास, सड़कों, रेल, कारखानों और भवन निर्माण का विस्तार, विपणन, कार्य (वर्क्स) समितियाँ आदि। सरकार की ये योजनाएँ हैं तो उत्तम, पर वह इस तथ्य को भी स्वीकार करती है कि इनमें से थोड़ी

योजनाएँ ही चालू की जा सकी हैं, परंतु उनकी प्रगति 'बहुत ही धीमी' है।[१]

सरकार का कहना है कि बेरोजगारी और अल्प-रोजगारी की समस्या का मूल कारण है अर्थव्यवस्था का अल्प विकास और उसी के साथ-साथ जन-संख्या में तीव्र गति से वृद्धि का होना। इसके समाधान के लिए विकास को चतुर्मुखी प्रेरणा देनी होगी जिसमें कृषि, उद्योग, सेवा, विज्ञान, तकनीकी और संस्कृति—सभी क्षेत्र में आ जायँ। इससे कम में किसी प्रकार काम नहीं चलेगा।[२]

विशेषज्ञ समिति : देश में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए केंद्रीय सरकार ने १९ दिसंबर, १९७० को श्री बी० भगवती की अध्यक्षता में दस सदस्यीय बेरोजगारी विशेषज्ञ समिति की स्थापना की जो सभी पहलुओं से बेरोजगारी और अल्प रोजगारी का मूल्यांकन करे और इस समस्या के समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत करे।[३]

विशेषज्ञ समितियाँ बनती हैं। सुझाव मिलते हैं। योजनाएँ बनती हैं। पर उसके व्यवहृत होने में एक नहीं, अनेक बाधाएँ आ जाती हैं। परिणाम यही होता है कि समस्या जहाँ-की-तहाँ बनी रहती है।

सरकार ने स्थान-स्थान पर नियोजन केंद्र खोल रखे हैं। १९४५ में ये रोजगार कार्यालय सबसे पहले खोले गये थे। १९७० के अंत में ऐसे कार्यालयों की संख्या ४७९ थी। इनमें ४८ केंद्र विश्वविद्यालयों में भी थे। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार १९७० में ४५,१५,९३४ व्यक्तियों ने इन कार्यालयों में अपने नाम लिखाये और ४,४७,१९५ व्यक्तियों को काम दिलाया गया। ये कार्यालय यदि ठीक ढंग से कार्य करें तो श्रम और पूर्त्ति के बीच संतुलन स्थापित करने में बड़ी सहायता कर सकते हैं। बेकार व्यक्ति इन कार्यालय में जाकर अपना नाम पंजीकृत करा सकते हैं। वहाँ उनकी आयु, नाम, पता, योग्यता और अमुक कार्य करने की ओर रुचि है, ऐसी बातें लिखी जाती हैं। रोजगार कार्यालय अधिनियम १९५९ द्वारा ऐसी सभी संस्थानों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वे अपने यहाँ के रिक्त स्थानों

नियोजन केंद्र

---

१. दि फोर्थप्लानः मिडटर्म एप्रेजल, १९७२, पृष्ठ ४६
२. वही, पृ० ४७
३. भारत १९७१-७२, पृ० ३५७-३५८

की सूचना रोजगार कार्यालय में भेजें, जहाँ २५ या अधिक व्यक्ति काम करते हैं। इस व्यवस्था द्वारा संस्थानों को उनकी आवश्यकता के अनुरूप काम करने वाले व्यक्ति मिल जाते हैं और बेकार लोगों को उनकी रुचि के अनुकूल कार्य मिल जाता है।

ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग

भारत जैसे विशाल कृषि-प्रधान देश की बेकारी की समस्या के समाधान का सबसे बड़ा उपाय है–ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योग।

पचास साल पहले जब गाँधीजी ने 'कातो चरखा मिले स्वराज्य' की आवाज लगायी थी तो बहुत-से लोगों ने चरखे का उपहास किया। परंतु चरखा उपहास की वस्तु नहीं था। गाँधीजी ने देश का दौरा करके देख लिया था कि देश के आर्थिक पुनर्निर्माण का एक ही सबल साधन हो सकता है और वह है चरखा और खादी। वे कहते थे कि 'मेरा पक्का विश्वास है कि हाथ कताई और हाथ बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धार में सबसे बड़ी मदद मिलेगी। करोड़ों आदमियों को खेती की आय में वृद्धि करने के लिए कोई सादा उद्योग चाहिए। बरसों पहले वह गृह उद्योग कताई का था। करोड़ों लोगों को भूखों मरने से बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें और हर गाँव को अपना ही बुनकर फिर से मिल जाय।"[१] गाँधीजी जीवन के अंतिम क्षण तक खादी और ग्रामोद्योगों पर बल देते रहे। कारण, वे मानते थे कि ग्रामीण बेकारी के समाधान का एकमात्र साधन चरखा और ग्रामोद्योग ही हो सकता है। वे कहते थे कि चरखा मुझे जन-साधारण की आशाओं का प्रतीक मालूम होता है। चरखे को खोकर उन्होंने अपनी आजादी खो दी। चरखा देहात की खेती की पूर्ति करता था और उसे गौरव प्रदान करता था। वह विधवाओं का सहारा था। वह देहातियों को आलस्य से बचाता था। चरखे में आगे-पीछे के सब उद्योग–लोढाई, पिंजाई, ताजा करना, मांड लगाना, रंगाई और बुनाई–आ जाते थे। इनसे गाँव के बढ़ई और लुहार काम में लगे रहते थे। चरखे से सात लाख गाँव आत्मनिर्भर रहते थे। चरखे के चले जाने पर तेल-घानी आदि दूसरे ग्रामोद्योग भी समाप्त हो गये। इन धंधों की जगह और किसी धंधे ने नहीं ली। इसलिए गाँवों के विविध धंधे, उनकी उत्पादक प्रतिभा और उनसे होनेवाली

---

१. मो० क० गाँधी : यंग इण्डिया, २१ जुलाई, १९२०

आमदनी, सबका सफाया हो गया। इसलिए अगर ग्रामीणों को फिर से अपनी स्थिति में वापस लाना हो तो सबसे स्वाभाविक बात यह है कि चरखे और उसके साथ लगी हुई सब बातों का पुनरुद्धार हो।"[१] 'चरखे के पुनरुद्धार पर मैंने सारी बाजी लगा दी है, क्योंकि चरखे के हर तार में शांति, सद्भाव और प्रेम की भावना भरी है। चूंकि चरखे को छोड़ देने से हिंदुस्तान गुलाम बना है, इसलिए चरखे के सब फलितार्थों के साथ उसके स्वेच्छापूर्ण पुनरुद्धार का अर्थ होगा हिंदुस्तान की (सच्ची) स्वतंत्रता।"[२] "वह धंधा जो करोड़ों को काम देगा, केवल हाथ कताई का ही हो सकता है।'[३]

गांधी जी का विश्वास था कि भारत के उद्धार के लिए खादी और ग्रामोद्योगों का विस्तार ही एकमात्र उपाय है, ग्रामोद्योगी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ा कर और उन्हें अपनाकर ही देश गरीबी, भुखमरी और बेकारी आदि भयंकर समस्याओं से त्राण पा सकेगा। वे कहते थे कि 'खादी के अतिरिक्त अन्य ग्रामोद्योग खादी के मुख्य काम में सहायक हो सकते हैं। खादी के अभाव में उनकी कोई हस्ती नहीं है और उनके बिना खादी का गौरव नहीं है। हाथ से पीसना, हाथ से कूटना-पछोरना, साबुन बनाना, कागज बनाना, चमड़ा बनाना, तेल पेरना तथा ऐसे ही अन्य ग्रामीण धंधों के बिना गांवों की आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती। इसके बिना गांव स्वयं पूर्ण घटक नहीं बन सकते। जब हम गांवों के लिए सहानुभूति से सोचने लगेंगे और गांवों की बनी चीजें हमें पसंद आने लगेंगी, तो पश्चिम की नकल के रूप में यंत्रों की बनी चीजें हमें नहीं जंचेंगी और हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेंगे जो गरीबी, भुखमरी और आलस्य या बेकारी से मुक्त नये हिंदुस्तान के आदर्श के साथ मेल खाती होगी।'[४]

चरखा संघ : खादी और ग्रामोद्योगों के विकास के लिए गांधीजी ने अखिल भारतीय चरखा संघ की स्थापना की थी। इस संघ ने धीरे-धीरे सारे देश में अपने पैर फैला लिये। आचार्य जे. बी कृपालानी ने सन् १९३९ के चरखा संघ के आंकड़े प्रस्तुत करते हुए कहा था कि 'चरखा संघ की पूंजी

---

१. मो० क० गांधी : हरिजन (अंग्रेजी साप्ताहिक) १३ अप्रैल, १९४०

२. मो० क० गांधी : यंग इंडिया, ८ दिसंबर १९२१

३. मो० क० गांधी, यंग इंडिया, २० मई १९२१

४. मो० क० गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृ० २६-२७

लगभग ४० लाख रुपया थी। इसके द्वारा ३ लाख ५० हजार व्यक्तियों को कताई, बुनाई, बढ़ई, रंगरेज, छीपी और धोबी आदि के कामों में व्यस्त रखा गया। लगभग १००० उत्पादन और विक्रय केंद्र काम कर रहे थे जिनमें ३००० संगठक लगे थे। यह सारी पूँजी देश में ही लगी थी। इसके अधिकांश भाग को मजदूरों की ही कमाई मानना पड़ेगा। उस समय संगठकों की मासिक आय २५-३० रु० थी जो उच्च कोटि के कुशल कारीगरों के बराबर थी।'[1]

चरखा, खादी और ग्रामोद्योगों का यह कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उसमें बेकारों को काम देने की अपूर्व क्षमता है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा? देश स्वतंत्र होने पर खादी ग्रामोद्योग के कार्य को विकसित करने के लिए सरकार ने कुछ ध्यान अवश्य दिया, परंतु उसका अधिक झुकाव बड़े उद्योगों के विकास की ओर ही रहा।

खादी-ग्रामोद्योग कमीशन : सन् १९५७ में संसद् के अधिनियम (सन् १९५६ के अधिनियम ६१) के अंतर्गत खादी ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य है ग्रामीण क्षेत्र के लिए खादी और ग्रामोद्योगों का विकास करना। इस कमीशन ने १९५३ में गठित भूतपूर्व अखिल भारत खादी-ग्रामोद्योग मंडल को अपने हाथ में ले लिया। कमीशन ११०० पंजीकृत संस्थाओं, २३००० सहकारी समितियों और राज्य खादी-ग्रामोद्योग मंडलों को वित्तीय तथा तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

कमीशन क्रमशः उन्नति कर रहा है। १९५३ में खादी-ग्रामोद्योग मंडल जहाँ ८० लाख और १ करोड़ के बीच खादी का उत्पादन करता था, वहाँ अब वह २६ करोड़ रुपये तक का उत्पादन करने लगा है। उसकी बिक्री भी २६ करोड़ रुपये की होती है। ग्रामोद्योगी वस्तुओं का उसका वार्षिक उत्पादन अब ८६ करोड़ रुपया तक पहुँच गया है। पहले कुछ हजार गाँवों में ही उसका क्षेत्र था, अब वह सवा लाख गाँवों में फैल गया हैं। खादी कमीशन ने १९७३ में अपनी स्वर्ण जयंती के अवसर पर खादी का ५० वर्ष का इतिहास प्रकाशित किया है। उसकी विगत १६ वर्ष की प्रगति इस प्रकार है[2]—

---

१. जे. बी. कृपालनी : पालिटिक्स आफ चरखा. पृ० १९

२. डायरी खादी गामोद्योग कमीशन, सन १९७३

	१९५५-५६			१९७०-७१		
	खादी	ग्रामोद्योग	योग	खादी	ग्रामोद्योग	योग
उत्पादन (करोड़ रु. में)	५·५४	१०.९३	१६·४७	२५·८५	८५·६०	१११·४५
रोजगार (लाखों में)	६·५८	३·०१	९·५९	९·४१	९·७९	१९·२०
पारिश्रमिक (करोड़ रु. में)	३·३२	३·६०	६·९२	१४·२२	१४·१४	२८ ३६

खादी उत्पादन में १६ वर्ष में ४।। गुनी वृद्धि हुई है और ग्रामोद्योगी वस्तुओं के उत्पादन में ८ गुनी। खादी में रोजगारी में १५० प्रतिशत वृद्धि हुई। ग्रामोद्योगों में ३०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। पारिश्रमिक में खादी में ४ गुना और ग्रामोद्योग में भी ४ गुना बढ़ा है।

ग्रामोद्योगों में प्रमुख उद्योग हैं—अनाज तथा दाल प्रशोधन, तेलघानी, ग्रामीण चर्म, कुटीर दियासलाई, गुड़ खांडसारी, ताड़ गुड़, अखाद्य तेल और साबुन, हाथ कागज, मधुमक्खी पालन, कुम्हारी, रेशा, लुहारगीरी, बढ़ईगीरी, चूना उत्पादन, खाद तथा मीथेन गैस का उत्पादन, लाख उत्पादन, वन्य फलों, पौधों का एकत्रण, फल प्रशोधन, बाँस और बेंत का काम, अलुमिनियम के बर्तनों का उत्पादन, गोंद, कत्था का उत्पादन आदि।

१९६८-६९ में खादी ग्रामोद्योगों में पूरे समय काम करने वाले लोगों की संख्या २ लाख ११ हजार थी और आंशिक समय वाले कार्यकर्त्ताओं की संख्या १९ लाख ४१ हजार थी।[1] हथकरघा, विद्युतकरघा, दस्तकारियाँ, नारियल जटा, रेशम आदि के लघु और कुटीर उद्योगों में और खादी ग्रामोद्योगों में लगे हुए लोगों की संख्या २ करोड़ मानी गयी है।'[2] देश की ४४ करोड़ जनता देहातों में निवास करती है, उसमें से यदि २ करोड़ व्यक्ति कुटीर उद्योगों में पूरा या आंशिक काम पा भी गये तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। ग्रामोद्योगों के विस्तार की शक्यताएँ बहुत अधिक हैं। उस ओर अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकताएँ हैं। अब तो ४ तकुओंवाले अंबर चरखे ने अच्छी प्रगति दिखायी है। उसका यदि गाँव-गाँव में, घर घर में प्रवेश हो जाय तो बेकारी की समस्या का भी अधिकांश में समाधान हो सकता है और वस्त्र स्वावलंबन की समस्या भी हल हो सकती है।

बड़े उद्योगों का विकास : ग्रामोद्योगों के साथ बड़े उद्योगों का भी विकास चल रहा है। देश की अत्यधिक पूँजी बड़े उद्योगों में लगी है।

---

१. भारत १९७१-७२, पृ० ३०६

२. वही, पृ० ३०५

इन उद्योगों में यंत्र का व्यापक उपयोग होता है। यंत्र के अभिशाप की पीछे चर्चा की जा चुकी है। एक मशीन आती है तो पचीसों-पचासों ही नहीं, सैकड़ों व्यक्तियों को बेकार बना देती है। भारत जैसे देश में छोटी मशीनों का, घर में चलायी जा सकनेवाली सिंगर सिलाई मशीन जैसी मशीनों के लिए स्थान है। बड़ी मशीनों को सर्वथा वहिष्कृत तो अब किया नहीं जा सकता, पर उनका उचित रीति से उपयोग तो किया ही जा सकता है। उनसे उत्पादन आवश्यकता के अनुरूप हो और शोषण सर्वथा न हो, सुनियोजित ढंग से सारा उत्पादन किया जाय, श्रमिकों को जहाँ तक हो, उसमें भागीदारी दी जाय, श्रम-समस्याओं को विवेक और सहानुभूतिपूर्वक सुलझाया जाय तो इस सर्प का दंश निष्फल किया जा सकता है।

श्रम समस्या—भारत में मशीन के विस्तार के साथ श्रमिकों की समस्या भी खड़ी होने लगी। आर्थिक जीवन के विकास के लिए तो श्रम का महत्त्व है ही, श्रम का राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, कलात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। श्रमजीवी के पास उसका श्रम और उसकी कारीगरी ही एकमात्र पूंजी होती है जिसे वह समाज को अर्पण कर समाज को परिपुष्ट करता है। समाज के सर्वांगीण विकास में श्रमिकों का ही खून और पसीना लगा हुआ है।

कृषि में लगे कई करोड़ कृषि मजदूरों के साथ कारखानों में भी लाखों मजदूर काम करते हैं। १९६६ में भारत के उद्योगों का जो सर्वेक्षण हुआ था, उससे पता चला कि १० या अधिक मजदूरों से विद्युत शक्ति की सहायता से काम लेनेवाले कारखानों की संख्या १२,३०० थी, जिनमें ७,५४८ करोड़ की उत्पादक पूंजी लगी थी और ३९ लाख ३४ हजार श्रमिक काम कर रहे थे। १९६९ में कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों की दैनिक औसत संख्या ४७ लाख ७१ हजार थी। सबसे अधिक उद्योगों वाले राज्य महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, गुजरात, बिहार और उत्तर प्रदेश हैं जिनमें देश के ६४ प्रतिशत कारखाने हैं।[१] कल-कारखानों, बागानों, रेलों, खानों, बन्दरगाहों, यातायात, भवन निर्माण आदि में लाखों मजदूर काम करते हैं। इनके निम्न आँकड़ों से उनकी संख्या का कुछ अनुमान किया जा सकता है—

सन्	प्रकार	संख्या
१९५५	बागान के मजदूर	१२,१२,६३६
१९५६	खानों के मजदूर	६,२८,५८७

१. भारत १९७१-७२, पृष्ठ २६६, ३४७

सन्	प्रकार	संख्या
१९५६	बन्दरगाहों के मजदूर	३०,६२६
१९५७	कल-कारखानों के मजदूर	३०,८.. ,८६४
१९५७-५८	रेलवे के मजदूर	११,११,०२६
१९६९	कोयला खानों के मजदूर	६,३८,५१५
,,	खानों के मजदूर	३,९५,३६४

१९६९ में कल-कारखानों के मजदूरों की संख्या राज्यों के अनुसार इस प्रकार थी—

महाराष्ट्र	९,७८,०००	उत्तर प्रदेश	३,९९,०००
पश्चिम बंगाल	८,२३,०००	बिहार	२,६२,०००
तमिलनाडु	४,११,०००	आंध्र प्रदेश	२,५८,०००
गुजरात	४,१५,०००	मैसूर	२,५२,०००

भारत में बड़े कल-कारखानों का विकास प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से हुआ। यहाँ कारखाने खोलने का एक प्रमुख कारण यह था कि यहां पर मजदूरी सस्ती थी। पूँजीपतियों ने विदेशियों से सांठ-गांठ करके यहाँ कारखाने खोल दिये। सस्ती से सस्ती मजदूरी देकर मजदूरों से १५-१५ घण्टे काम लिया जाने लगा। न उनके आवास की कोई व्यवस्था, न उनके स्वास्थ्य-सुधार की, न उनके अच्छे खान-पान की व्यवस्था और न उन्हें जीवन की अन्य सुविधाओं की कोई व्यवस्था। स्त्रियों और बच्चों से भी मनमाना काम लिया जाने लगा। श्रमिकों की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई।

श्रम कानून—यों तो पहला कारखाना कानून १८८१ में ही बन गया था, इसमें ७ वर्ष से कम के बच्चों से काम लेने का मनाही की गयी थी, ७ से १२ वर्ष के बच्चों से ९ घण्टे से अधिक काम पर रोक लगी थी, पर उसमें वयस्क स्त्री-पुरुषों से काम लेने के सम्बन्ध में कारखानेदारों को खुली छूट दे रखी गयी थी। १८९१ में इसमें कुछ सुधार किया गया। ९ से १४ वर्ष के बच्चों से ७ घण्टे से अधिक काम लेने की मनाही की गयी। स्त्रियाँ तथा बच्चे प्रातः ८ से ५ तक के बीच ही काम कर सकेंगे। स्त्रियों से ११ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकेगा, बीच में १॥ घण्टे आराम की छुट्टी देनी होगी। सप्ताह में सबको १ दिन की छुट्टी का विधान था। १९११ में तीसरा कानून बना, बिजली की सुविधा बढ़ने से रात-दिन कारखाने चलने लगे। अन्धाधुन्ध काम लिये जाने का विरोध होने पर यह कानून बना।

इसमें पहली बार निश्चय हुआ कि मजदूर से १२ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जाय और उसे बीच में १ घण्टे की छुट्टी दी जाय। १९२२ में चौथा कानून बना। इसमें वयस्क मजदूर से ११ घण्टे से अधिक काम लेने की मनाही की गयी। १२ वर्ष से १५ साल के बच्चों से ६ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकेगा। १२ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से काम नहीं लिया जा सकेगा।

१९३१ में राजकीय श्रम आयोग नियुक्त हुआ, जिसने १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। उसके अनुसार १९३४ में कारखाना कानून में संशोधन किये गये। १९४६ में उसमें पुनः संशोधन हुए। १९४८ में एक विस्तृत कानून बना और अनेक दोष कम हुए। यह कानून बिजली से काम करनेवाले १० मजदूरों और बिना बिजली के २० मजदूरों के कारखाने पर लागू कर दिया गया। वयस्क स्त्री-पुरुष के लिए ९ घण्टे काम, बीच में १ घण्टा आराम और छुट्टी आदि की सुविधा दी गयी। बच्चों के लिए १४ वर्ष काम की आयु मानी गयी।

कारखाना कानून के अतिरिक्त कोयला, लोहा, सोना की खानों के लिए कानून (१९५२), बागान कानून (१९५१), दुकान कानून, न्यूनतम मजदूरी कानून (१९४८) बने हैं। इनमें काम, आराम, छुट्टी आदि की सुविधाएँ हैं।

औद्योगिक विवाद—श्रम और पूँजी, मजदूरी और मालिक की समस्या को लेकर हड़तालों और तालाबन्दियों का प्रश्न आरम्भ से ही उठता रहा है। १९१८ से ही श्रम क्षेत्र में हड़ताल का प्रवेश हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध में मूल्य-वृद्धि होने पर भी मजदूरा नहीं बढ़ी तो मजदूरों में अशान्ति फैली। लाला लाजपत राय, वी० पी० वाडिया, लोखांडे आदि ने मिल मजदूर संघ स्थापित किये। १९२० में गाँधीजी के प्रोत्साहन से अहमदाबाद में सूती मिल मजदूर संघ बना। अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस भी बनी।

हड़तालों का क्रम जब से चला तबसे जारी है। उसके विस्तार का अनुमान इन आँकड़ों से लगाया जा सकता है।

सन्	हड़तालें और तालाबन्दियाँ	हड़तालियों की सख्या	काम के दिनों का हानि
१९२१	३९६	६,००,३५१	६९,८४,४२६
१९३९	४०६	४,०९,१८९	४९,९२,७९५
१९४६	१६२९	१९,६१,९४८	१,२७,१७,७६२
१९४७	१८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९५५	११६६	५,२८,०००	५६,९८,०००
१९५७	१६३०	८,८९,०००	६४,२९,०००

सन् १९६८ में २७७६ औद्योगिक विवाद हुए जिनसे १६,६९,२९४ मजदूर प्रभावित हुए और १,७२,४३,६७९ दिनों के काम की हानि हुई। १९६९ में २६२७ विवाद हुए, १८,२६,८६६ मजदूर प्रभावित हुए और १,९०,४८,२८८ जन दिनों की क्षति हुई।

औद्योगिक विवादों के उपचार के लिए १८६० में जो कानून बना था, वह १९३२ में रद्द कर दिया गया। १९२९ में नया कानून बना, जिसमें १९३४ में संशोधन हुआ। १९३८ में उसमें संशोधन हुआ। १९४७ में नया कानून बना। १९५६ में नया संशोधित कानून बना। झगड़े के निपटारे के लिए लेन-देन की बात, सामूहिक सौदेबाजी, समझौता, झगड़े के कारणों की जाँच और मध्यस्थ द्वारा निपटारे का प्रयत्न किया जाता है।

श्रमिकों के रहन-सहन, आवास आदि की स्थिति सुधारने के लिए श्रम-कल्याण की अनेक सुविधाएँ देने की सरकारी योजनाएँ हैं। कारखाने के स्वामियों को भी कुछ सुविधाएँ देने के लिए बाध्य किया गया है। ट्रेड यूनियनों की ओर से भी इस दिशा में प्रयत्न किये जाते हैं।

श्रमिक संघ—भारत में १९६८ में ५८४ केन्द्रीय श्रमिक संघ और १५, १२८ राज्य श्रमिक संघ थे। इनमें सरकार को विवरण देने वाले संघों की संख्या क्रमश: १६,२ और ३९२६ थी। इनके सदस्य क्रमश: ४,०४, ६३८ और १७,७९,२११ थे। ३१ मार्च को अखिल भारतीय मजदूर संगठनों की सदस्य संख्या इस प्रकार थी—

श्रमिक संघ	संबद्ध संघ	सदस्य
१. इण्डियन नेशनल ट्रेड युनियन कांग्रेस	११६५	१३,२६,१५२
२. आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस	१००८	६,३४,८०२
३. हिन्द मजदूर सभा	२४८	४,६३,७७२
४. युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	२१६	१,२५,७५४
	२६३७	२५,५०,४८०

श्रमिक संघों में विभिन्न राजनीतिक दल अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राजनीति का खेल चलता रहता है। उसके कारण कभी-कभी स्वयं मजदूरों का भी अहित होता है, देश के उत्पादन में बाधा पड़ने से राष्ट्रीय हानि तो होती ही है।

श्रम-संगठन और मजदूर और मालिक के बीच अधिकार और कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से समन्वय होने से ही श्रम समस्या सुलझ सकती है। प्रेम, सौहार्द और कर्तव्य-पालन से ही श्रमिक क्षेत्र में शान्ति और सुख का विकास हो सकता है। श्रमिकों का शोषण न हो, उनकी समस्याओं का विवेकपूर्ण रीति से समाधान किया जाय, उन्हें भागीदारी दी जाय और सुनियोजित ढंग से उत्पादन किया जाय, तभी बेकारी भी कम होगी और उत्पादन भी बढ़ेगा।

गाँधी जी ने इसीलिए इस बात पर जोर दिया है कि मजदूरों का अच्छा संगठन हो, उनमें बलिदान की भावना हो और वे इस बात को पूरी तरह समझ लें कि श्रम का सहारा पाये बिना पूँजी कुछ नहीं कर सकती तो मजदूरों को अपने प्रयत्नों में सदैव सफलता मिल सकती है।[1]

कृषि और भूमि-व्यवस्था : भारत में कृषि के विकास में अनेक बाधाएँ हैं। न पर्याप्त खेत, न सिंचाई की भरपूर सुविधा, न अच्छे औजार और साधन, न पूँजी, न बीज, न बैल। कभी अनावृष्टि, कभी अतिवृष्टि। कभी सूखा, कभी अकाल। उसके साथ-साथ भूमिव्यवस्था दोषपूर्ण। जमींदारी, तालुकदारी और बिचौलियों की समाप्ति के बाद भी जमीन जोतने वाले के हाथ में नहीं आ सकी। भूमि-व्यवस्था के सुधार के कानून बनते तो हैं अच्छे उद्देश्य से, पर उनमें स्वार्थी लोग सत्ताधारी लोगों, दलों आदि को मिलाकर व्यर्थ बना देते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि कृषि से जितना उत्पादन होना चाहिए, उतना उत्पादन हो नहीं पाता। उससे जितने लोगों को रोजी और रोटी मिलनी चाहिए, मिल नहीं पाती। बेकारी की समस्या के निराकरण के लिए कृषि के सर्वांगीण विकास की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे केवल साधन-सम्पन्न किसान ही लाभान्वित न हों, सभी किसान लाभ उठा सकें।

छोटे-छोटे खेतों की भारी संख्या का बड़ा रोना रोया जाता है और उसे उत्पादन में बाधक माना जाता है। उसके लिए चकबंदी, सहकारिता और बड़े-बड़े यंत्रों की सहायता से जोतने-बोने आदि का सुझाव दिया जाता है, पर इसमें भी खतरे की गुंजाइश है। जैसा कि चौधरी चरण सिंह का कहना है आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका आदि देशों में बड़े

---

१. मो० क० गाँधी : मेरे सपनों का भारत. पृ० ९८

पैमाने पर, बड़े खेतों पर खेती से लाभ उठाया जा सकता है, वहाँ जनसंख्या विरल है, पर घने बसे चीन या जापान, भारत या पाकिस्तान, इटली या जर्मनी, नार्वे, मिस्र या इंडोनेशिया आदि में नहीं।[१] छोटे खेतों में भी अच्छे ढंग से खेती की जाय तो बड़े चकों की अपेक्षा अच्छी उपज हो सकती है।[२] बड़े पैमाने पर और सहकारिता द्वारा खेती में भी कुछ दोष हैं। उन पर भली-भाँति विचार करके ही कोई उपयुक्त निर्णय करना चाहिए। यदि प्रयोग सफल न हो तो उसे परिवर्तित करने में संकोच नहीं करना चाहिए। शक्ति और सामर्थ्य का विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग करके छोटे खेतों से भी अच्छी उपज ली जा सकती है। यदि खेत पर श्रम करनेवाले व्यक्ति को खेत की उक्त उपज बढ़ाने में रुचि और दिलचस्पी है। सिंचाई और ऋण आदि की सरकारी सुविधाओं और काश्तकारी कानूनों की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे किसान को उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा मिले और उसके मार्ग में आनेवाली अड़चनें दूर हो जायँ। ऐसी व्यवस्था होने पर ही कृषि उद्योग विकसित होगा और बेकारी निवारण में उसका योगदान मिल सकेगा।

शिक्षा पद्धति में सुधार : अंग्रेजों द्वारा चलायी अंग्रेजी शिक्षा पद्धति भारत के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुई है। वह क्लर्क ढालने की मशीन बनकर रह गयी है। स्नातक कालेज और विश्वविद्यालयों से निकल कर नौकरी की ओर ही बेतहाशा दौड़ते हैं। उन्हें हाथ से काम करने में लज्जा लगती है। फैशन और विलासिता, कम काम करके अधिक पैसा प्राप्त करने की लालसा उनमें आरंभ से ही भर जाती है। इसका परिणाम आँखों के सामने है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा-पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन किया जाय। उसमें गाँधी जी की बुनियादी तालीम के तत्वों का प्रवेश होना चाहिए। शिक्षा के साथ शरीरश्रम और उद्योगों का प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए, जिससे स्नातक बाहर निकल स्वतंत्र कार्य और रोजगार कर सकें और स्वावलम्बन की दिशा में बढ़ सकें।

श्रमनिष्ठा : बेकारी निवारण के लिए श्रमनिष्ठा एक अनिवार्य आवश्यकता है। पसीने की कमाई की रोटी कितनी स्वादिष्ट होती है, इसका अनुभव तो श्रमनिष्ठ व्यक्ति को ही होता है। सभी धर्मों ने इस तथ्य पर बल दिया है कि मनुष्य को श्रम की कमाई पर निर्वाह करना चाहिए।

---

१. चरण सिंह : इण्डियाज् पावर्टी एण्ड इट्स सौल्यूशन, १९६४, पृ० १०६।

२. वही, ९६,९८,११४।

श्रमसीकरों से पवित्र अन्न ही मानव को ऊपर उठाता है। गांधी जी ने श्रमसाधना को अपने आश्रम-जीवन का एक व्रत बना दिया था। चरखा प्रत्येक व्यक्ति काते, भले ही आधा घंटा काते, पर काते अवश्य, —इस पर वे इसीलिए सतत बल देते थे कि वे मानते थे कि चरखा श्रम का प्रतीक है। उसके माध्यम से देश के नागरिकों में श्रमनिष्ठा जागृत होगी, ऐसा मानकर वे सभी से अपील करते थे कि जो व्यक्ति देश-सेवा के लिए, देश के गरीबों के लिए, दरिद्रनारायण की सेवा के लिए अधिक नहीं कर सकता, वह कम-से-कम आधा घंटा चरखा ही काते। उस पवित्र सूत्र को दरिद्रनारायण को अर्पित कर दे। वे कहते थे—'अपने देश में जो भयानक गरीबी और बेकारी है, उसे देखकर मुझे रोना आता है। लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस स्थिति के लिए हमारी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर-श्रम करने में जो गौरव है, उसे हम नहीं जानते। उन सब लोगों के लिए, जो अपने हाथों और पाँवों से ईमानदारी के साथ मेहनत करना चाहते हैं, हिंदुस्तान में काफी धंधा है। ईश्वर ने हर एक को काम करने की और अपनी रोज की रोटी से ज्यादा कमाने की क्षमता दी है। जो भी इस क्षमता का उपयोग करने के लिए तैयार हो, उसे काम अवश्य मिल सकता है। ईमान की कमाई करने की इच्छा वाले को चाहिए कि वह किसी भी काम को नीचा न माने। जरूरत इस बात की है कि ईश्वर ने हमें जो हाथ-पाँव दिये हैं, हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहें।'[१]

जनसंख्या पर रोक : जनसंख्या-वृद्धि को बेकारी का बड़ा कारण माना गया है। उसके लिए संतति नियमन और वंध्याकरण का तीव्र आंदोलन खड़ा किया गया है। सरकार मुक्तहस्त से उस पर पानी की तरह पैसा बहा रही है। कृत्रिम साधनों के उपयोग और प्रजनन-शक्ति की समाप्ति के लिए नसबंदी, लूप आदि का धुआँधार प्रचार हो रहा है। उसके लिए इनाम भी बाँटे जा रहे हैं, दबाव भी डाले जा रहे हैं और वे सभी उपाय काम में लाये जा रहे हैं जिनके द्वारा सरकारी मत से संतति नियमन में सहायता मिलेगी। आश्चर्य है कि इतना सब होने पर भी यह परिवार-नियोजन का आंदोलन बुरी भाँति असफल हो रहा है।

भारत जैसे देश में संतति नियमन का सफल हो सकने वाला उपाय केवल यह है कि लोगों को संयम की दिशा में प्रवृत्त और प्रेरित किया जाय। भारतीय परम्परा त्याग और संयम की ही आधारशिला पर विकसित

---

१. मो० क० गांधी : हरिजन (अंग्रेजी साप्ता०), १९ दिसंबर, १९३९।

हुई है। उसी आधार पर जनसंख्या की वृद्धि को रोका जा सकता है। परंतु आज तो चारों ओर भोग और विलास को ही उकसानेवाली आग धधक रही है। वैसा ही वाङ्मय; वैसी ही पत्र-पत्रिकाएँ, वैसे ही नाटक, वैसे ही चित्र, वैसे ही फिल्म, वैसे ही प्रदर्शन, वैसे ही फैशन और वैसा ही वातावरण चारों ओर दीख पड़ता है। स्कूल और कालेजों का, विद्यालयों और छात्रावासों का, क्लबों और होटलों का, सामाजिक और सांस्कृतिक आयोजनों का सारा वातावरण भोगपरायण हो रहा है। सोरोकिन आज की संस्कृति के व्याधिकीय तत्वों की विस्तार से विवेचना करते हुए कहता है कि 'आज की संस्कृति की मूल भावना है—सच्चा वास्तविक मूल्य ऐंद्रिय है। उसका पैमाना भौतिकवादी, सुखलोलुप और उपयोगितावादी है। उसके मुख्य मूल्य हैं—बढ़िया खान-पान, सुविधाजनक वस्त्र और मकान, यौन-संतुष्टि, धनसंपत्ति और सत्ता, ख्याति और प्रशंसा। जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी इसी ढाँचे में ढले रहते हैं—परिवार, नर्सरी, पाठशाला, बच्चों का समूह, हाईस्कूल, कालेज, मिलने-जुलने वाले व्यक्ति, पढ़ने में आने वाली पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें, खेल, सिनेमा, व्यापार-व्यवस्था—ये सभी साधन मनुष्य को इसी बात के लिए प्रेरित करते हैं कि वह धनी, शक्तिशाली और प्रसिद्ध बने।'[१] ललित कला के इतिहास की विवेचना करते हुए वह कहता है कि कला तेरहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी की आदर्शवादी चोटी से ऐसी गिरी कि सामाजिक पनाले के गर्त में जा डूबी। उसने हत्या और विषयभोग की तृप्ति के उत्तेजक साधन का रूप ग्रहण कर लिया। वह रेचक पदार्थों, रबड़, बीयर, शराब, साबुन, ब्लेड आदि विज्ञापित वस्तुओं के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह गयी। वह 'पट्टी पहननेवाले नर्तकों' अथवा कोकशास्त्र के सम्भोग संबंधी आसनों के गुप्तचित्रों के स्तर पर उतर आयी!'[२]

वासना और विलास के इस सर्वग्रासी वातावरण का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता दीख रहा है। नैतिकता और संयम आज उपहास की वस्तु बन गये हैं। चारों ओर विलास-ही-विलास के साधन फैल गये हैं। इंद्रिय सुखों को उकसाने का सर्वत्र जाल-सा बिछ गया है। उसका परिणाम भी हाथोहाथ मिल रहा है। आज से दस साल पहले पटना के विकृति वैज्ञानिक—पैथालाजिस्ट—डॉक्टर पूर्णेन्दुनारायण सिंह, सदस्य विधान परिषद्, विहार, ने विहार

---

१. पितिरिम ए० सोरोकिन : मानवता की नव रचना, १९६१, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १५३-१५४।

नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य मंडल की ओर से एक सर्वेक्षण किया था जिसमें पता चला कि कम-से-कम चार दर्जन गर्भपात के मामले पटना नगर की निदानशालाओं में प्रतिदिन परिचालित होते हैं तथा बिहार के स्कूलों और कॉलेजों की सौ छात्राओं में चार विवाहपूर्व यौन संबंध करनेवाली पायी गयी हैं और उनमें से अनेक अविवाहित माताएँ भी बनी हैं। यह सर्वेक्षण अनैतिक व्यापार दमन विधान के लागू होने के ८ वर्ष बाद किया गया था। उसकी रिपोर्ट में इस अनैतिकता की वृद्धि के जो कारण बताये गये थे, वे हैं—घासलेटी सस्ते उपन्यास, गुप्त अश्लील साहित्य का प्रचार और सामाजिक प्रकृतियों में शनैः शनैः परिवर्तन। सर्वेक्षण में स्कूल-कॉलेज में यौन अपराधों की वृद्धि के कारणों में गरीबी भी एक कारण मिली। युवतियों की अपेक्षा युवक ही विशेष दोषी पाये गये।[1] केवल बिहार की ही नहीं, खोजने पर पता चलेगा कि सारे भारत में लगभग ऐसी ही स्थिति है। राजेन्द्र बाबू जब राष्ट्रपति थे तो उन्होंने एक बार कहा था कि 'मेरा बस चले तो मैं सिनेमा के सभी गंदे गाने बंद करवा दूँ।' जिस देश का राष्ट्रपति इस दूषित प्रवाह को रोकने में असमर्थ हो, उसकी विडंबना का क्या कहना!

संयम का मार्ग : सरकार भले ही जनवृद्धि रोकने के लिए कृत्रिम साधनों पर करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा दे, पर उससे मूल लक्ष्य की सिद्धि असंभव है। जनसंख्या मर्यादित रखने के लिए, परिवार नियोजन के लिए, संतति नियमन के लिए सर्वोत्तम मार्ग संयम का ही है। राष्ट्र का उद्धार उसी मार्ग से संभव है। स्वस्थ, सबल और चरित्रवान नागरिक ही राष्ट्र को ऊपर उठा सकेंगे, विलासी और भोगपरायण नहीं। गांधी जी इसीलिए बारंबार, संयम और सदाचार, त्याग और बलिदान की गुहार लगाते थे। उनका कहना था कि 'संतति के जन्म को मर्यादित करने की आवश्यकता के बारे में दो मत हो ही नहीं सकते। परंतु इसका एकमात्र उपाय है—आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य जो युगों से हमें प्राप्त है। यह रामबाण सर्वोपरि उपाय है और इसके सेवन से लाभ-ही-लाभ है। कृत्रिम साधनों की सलाह देना मानो बुराई का हौसला बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री दोनों उच्छृंखल हो जाते हैं। उसका कुफल होगा—नपुंसकता और क्षीणवीर्यता। अपने कर्म के फल को भोगने से दुम दबाना अनीतिपूर्ण है। पशु की तरह

---

१. 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड', 'कलकत्ता, १ सितंबर, १९६४, पटना कार्यालय की रिपोर्ट।

विषयभोग में गर्क रहकर अपने कृत्य के फल से वचना बहुत ही बुरा है। केवल नैतिक संयम के द्वारा ही हमें नैतिक फल मिल सकता है। अन्य साधन अपने हेतु के विनाशक ही सिद्ध होंगे।'[१] जनसंख्या नियमन के लिए कृत्रिम साधनों का तीव्र विरोध करते हुए गांधी जी कहते थे कि 'यदि भूमि संवंधी कानूनों में समुचित सुधार कर दिया जाय, खेती की दशा सुधारी जाय और एक सहायक धंधे की तजवीज कर दी जाय, तो हमारा यह देश अपनी जनसंख्या से दूने लोगों का भरणपोषण कर सकता है।'[२] बेकारी निवारण का उत्तम उपाय यही है।

---

१. मो० क० गांधी : हिन्दी नवजीवन, साप्ता० १२ मार्च, १९२५।

२. मो० क० गांधी : यंग इंडिया, २ अप्रैल १९२५।

अध्याय : २४

भिक्षावृत्ति

'मांग न आवै भीख, तो सुरती खाना सीख !'—एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। अर्थ गर्भित भी है। सुरती खानेवाला व्यक्ति जब किसी को सुरती तैयार करते देखता है तो सुरती पाने के लिए उसका हाथ सहज ही आगे बढ़ जाता है। दूसरे के आगे हाथ फैलाने की इस प्रक्रिया का नाम है—भीख मांगना।

पूँजीवादी अर्थशास्त्र की मान्यता है—'मेहनत मजदूर की, संपत्ति मालिक की।' पूँजीवाद का जन्म होता है- सौदे से, विकास होता है—सट्टे से और चरम उत्कर्ष होता है—जुए से। पूँजीवाद के तीन दोष हैं--सौदा, सट्टा और जुआ। पूँजीवाद से तीन बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं—संग्रह, चोरी और भीख।

पाश्चात्य देशों में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था है, बीमारों, अपाहिजों, अशक्तों, असहायों के लिए सहायता के कानून—पूअर लॉ—हैं, बेकारों के लिए भी सहायता और बीमा की व्यवस्था है, गरीबों के लिए, वृद्धों के लिए पेंशन, बीमा, सहायता आदि की व्यवस्था है, अतः वहाँ भीख मांगने की स्थिति उत्पन्न और विकसित होने नहीं पाती। परंतु भारत में तो जिधर दृष्टि जाती है, भिखारी-ही-भिखारी दिखाई पड़ते हैं। भिखारियों का भारत में इतना बाहुल्य हो गया है कि विदेशी लोग भारत को 'भिखारियों का देश' ही मानने लगे हैं। जिस देश की सरकार तक भीख माँगती हो, भीख मांग-माँग कर विदेशों से गल्ला आदि लाती हो, उसके लिए ऐसी धारणा बने तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ?

भिक्षावृत्ति का अर्थ

पूँजीवाद, औद्योगीकरण, नागरीकरण के चलते, यंत्रों और केंद्रीकरण के चलते आर्थिक व्यवस्था में जो असंतुलन आता है, जिस तीव्र गति से आर्थिक असमानता बढ़ती है, उसे कौन नहीं जानता ? सौदा, सट्टा, जुआ- पूँजीवाद के ये तीनों दोष ज्यों-ज्यों व्यापक बनते चलते हैं, त्यों-त्यों समाज का आर्थिक संतुलन बिगड़ने लगता है। एक ओर संग्रह बढ़ता है, दूसरी ओर चोरी। बेकार और गरीब, सीधे-सादे और विपन्न,

शोषित और पीड़ित विवश होकर भीख मांगने लगते हैं। पेट के लिए, दो मुट्ठी अन्न पाने के लिए, फटे-पुराने पहने हुए वस्त्र-उतरन को पाने के लिए वे दूसरों के आगे हाथ फैलाने लगते हैं। जो बहुत भावुक होते हैं, वे भीख न मांगकर हीरे की कनी, धतूरे के बीज या पोटाशियम परमेंगनेट चाट कर आत्महत्या कर लेते हैं। कुछ लोग चोरी करने लगते हैं, लड़कियाँ विवश होकर सतीत्व का व्यापार करने लगती हैं। शेष लोग लज्जा को तिलांजलि देकर भीख मांगने लगते हैं। पापी पेट तो आखिर भरना है न ! दर-दर घूम कर गाली, निंदा, उपहास को भी सहन कर पेट के गड़हे को भरने के लिए दूसरों के आगे हाथ फैलाने का नाम है—भिक्षावृत्ति।

परिभाषा

मैसूर में १९४४ में भिक्षावृत्ति पर प्रतिबंध लगाने का जो अधिनियम बना, उसमें भिक्षावृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की गयी है : 'भिक्षावृत्ति के अंतर्गत भीख पाने के लिए दर-दर घूमकर भीख मांगना तो आता ही है, उसके अतिरिक्त दाता की करुणा जाग्रत करने के लिए अपने शरीर के फोड़े, घाव, शारीरिक रोग या विकृतियों का प्रदर्शन और तत्संबंधी गलत बहानेबाजी भी आती है जिससे भीख मिल सके।'

बंबई के १९४५ के भिक्षावृत्ति कानून में भिक्षावृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :

'भिक्षावृत्ति ऐसे व्यक्ति की 'वृत्ति' है, जिसके जीविकोपार्जन का कोई आधार नहीं है और जो भीख मांगने के लिए दर-दर घूमता है या सार्वजनिक स्थलों पर दिखाई देता है अथवा भीख पाने के उद्देश्य से अपने को प्रदर्शन के रूप में उपयोग करने देता है।'

इंगलैंड में भिक्षावृत्ति करनेवाले भिक्षुक की जो परिभाषा दी गयी है, उसमें कहा गया है कि 'भिक्षुक वह व्यक्ति है जो भीख मांगने के लिए या तो इधर-उधर घूमा करता है या किसी सार्वजनिक स्थान पर, सड़क पर, न्यायालय के सामने या गली आदि में बैठा रहता है या भीख मांगने के लिए बच्चों को एकत्र करता है।'

स्पष्ट है कि अपने पेट के लिए या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, चाहे दर-दर घूमकर, चाहे ऐसे स्थान पर बैठकर या खड़े होकर भीख मांगना जहाँ अधिक लोग आते-जाते हों, भीख मांगना ही भिक्षावृत्ति है। दाता की करुणा जाग्रत करने के लिए भिक्षुक रोता-गिड़गिड़ाता तो है ही, अपने रोग, फोड़े

घाव, अंगविकृति आदि का प्रदर्शन भी करता-कराता है, इतना ही नहीं, वास्तविक घाव आदि न रहने पर कृत्रिम घाव आदि बनाकर लोगों को द्रवित करता है और उनसे कुछ आर्थिक सहायता झटक लेता है।

भिक्षावृत्ति में ये ३ बातें रहती हैं—

१. दर-दर घूमकर अथवा किसी सार्वजनिक स्थान पर बैठकर, लेटकर या खड़े होकर भीख मांगना।

२. रोकर, गिड़गिड़ा कर अथवा अपने अंगों की विकृति, घाव, फोड़े, पीड़ा आदि के प्रदर्शन द्वारा दाताओं की करुणा जाग्रत कर उनसे कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त करना, और

३. जीविका के उपार्जन का अन्य कोई साधन न होना।

स्वयं भीख मांगना अथवा दूसरों से मंगवाना, बच्चों को बटोर कर उनके माध्यम से भीख मांगना-मंगवाना, सीधे-सादे ढंग से अथवा घुमा-फिराकर, चालबाजी और बहानेबाजी से भीख मांगना और भीख को जीविका का साधन बना लेना, अपना व्यवसाय या वृत्ति बना लेना भिक्षावृत्ति की परिभाषा के अंतर्गत आता है।

भिक्षा की परंपरा

भारत में समाज के संघटन काल से भिक्षा की परंपरा चली आ रही है। 'भिक्षां देहि' का घोष ब्रह्मचारी और संन्यासी के मुख से सुनकर भिक्षादाता गृहस्थ अपने को कृतकृत्य मानता रहा है। मनुस्मृति में आता है—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिका कुशान्।
आहरेद्याव दर्थानि भैक्ष्यञ्वाहर हश्चरेत्॥[१]

ब्रह्मचारी आचार्य की आवश्यकतानुसार जलपूर्ण कुम्भ, पुष्प, गोबर, मृत्तिका एवं कुश लाये और प्रतिदिन भिक्षान्न का संग्रह करे।

यह भिक्षान्न उपवास के समान पवित्र माना गया है।[२] इसीलिए कहा गया है कि वह केवल 'वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां सुकर्मसु' वेदानुष्ठानयुक्त संतोषव्रती प्रशस्त सत्कर्मी गृहस्थों के यहाँ से ही लिया जाय।[३] गुरु के कुल

१. मनुसंहिता २।१८२
२. वही, २।१८८
३. वही, २।१८३

से, अपनी जातिवालों से, सगे-संबंधियों, मामा आदि के यहाँ से न लिया जाय।[1] एक ही गृहस्थ के निकट से भिक्षान्न लेने का भी निषेध है।[2]

संन्यासी के लिए भिक्षा के जो विधि निषेध हैं, उनमें कहा गया है कि जिस गृहस्थ के यहाँ वाणप्रस्थों की, अन्यान्य ब्राह्मणों की, ब्रह्मचारियों आदि की भीड़ हो, वहाँ भिक्षा के लिए न जाय।[3] एक बार से अधिक भिक्षा न मांगे—'एक कालं चरेद्भैक्ष्यं'।[4] और भिक्षा मांगे कब ? जब गृहस्थ के घर से रसोई का धुआं निकलना बंद हो जाय, ओखली-मूसल का काम निपट जाय, पाकशाला की अग्नि बुझ जाय और घर के सब लोग खा-पीकर जूठे बर्तन फेंक दें—

विधूमे सन्नमुषले व्यंगारे युक्तवर्ज्जने।
वृत्ते शवावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥[5]

साथ ही यह भी आदेश है कि भिक्षा की प्राप्ति-अप्राप्ति से प्रसन्न या दुखी न हो—'अलाभे न विवादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।'[6]

कितना पावित्र्य है इस भिक्षा-व्यवस्था में। जीविका के जिन साधनों को मनुस्मृति में स्वीकार्य माना है, उनमें सर्वोत्तम साधन ऋत् माना है—पृथ्वी में बिखरे दानों को एक-एक कर चुनने की उञ्छ-शिलवृत्ति। बिना मांगे जो प्राप्त हो उससे निर्वाह करना उसके बाद की अमृत वृत्ति है, तदुपरांत भिक्षा जीवन मृतवृत्ति है और फिर है—कृषि जीवन प्रमृत वृत्ति।[7]

पवित्र भिक्षा की यह पुरातन परंपरा धीरे-धीरे कितनी विकृत हो गयी, उसका स्वरूप आज हमारे नेत्रों के समक्ष है। आज के समाज में सबसे हेय और निन्दनीय वृत्ति है—भिक्षावृत्ति। कहते हैं—'निकृष्ट चाकरी भीख निदान'।

भिक्षा का स्वरूप

त्याग, तपस्या और ज्ञान द्वारा समाज की सेवा करना जिस ब्राह्मण का कार्य था, बड़े-बड़े प्रतापी सम्राट् जिसके चरणों में नतमस्तक होने में अपना गौरव समझते थे, वह ब्राह्मण आज 'जय हो जजमान की'—कहकर तिथि-

१ मनुसंहिता, २।१८४
२. वही, २।१८८
३. वही, ६।५१
४. वही, ६।५५
५. वही. ६।५६
६. वही, ६।५७
७. वही, ४।४५

त्योहारों पर, मंदिर और घाट पर दक्षिणा के दो-दो पैसों के लिए जजमान से झगड़ता है। पंडों, पुजारियों, महंतों, पुरोहितों की आज समाज में कौन-सी प्रतिष्ठा रह गयी है? 'ब्राह्मण के धन केवल भिक्षा' कह कर वे आत्मसंतोष भले कर लें, परंतु आज के अर्थपरायण युग में पुरातन भावभूमि सर्वथा नष्ट हो गयी है। आज ब्राह्मण का अर्थ ही मान लिया गया है—भिक्षुक, भिखारी! ब्राह्मण भी आज वेद की, ज्ञान की परंपरा से च्युत हुआ है, त्याग और तपस्या से विरत हुआ है, उसके आशी-र्वचन में वह बात नहीं रह गयी जो पहले थी, शाप में भले ही कुछ हो, आर्थिक स्तर उसका आरंभ से ही दयनीय रहा, आज तो बहुत ही गिरा है, तब उसका सम्मान हो भी तो कैसे? आज भी जो विद्वान और त्यागी तपस्वी ब्राह्मण हैं, उनकी प्रतिष्ठा है। महामानव मदनमोहन मालवीय हों या बाल गंगाधर तिलक, शांकर पीठों के शंकराचार्य हों या ऐसे ही अन्य पुरुष, उनका आदर-सम्मान बड़े-से-बड़े सम्पत्तिशालियों से, बड़े-बड़े सत्ताधीशों से अधिक होता है।

ब्रह्मचारियों, संन्यासियों और साधुओं की भिक्षा का भी पुरातन स्वरूप सर्वथा परिवर्तित हो गया है। भिक्षान्न पर निर्भर रहनेवाले ब्रह्मचारियों का तो अब पता ही नहीं है, साधु-संन्यासी अवश्य भिक्षाटन करते दीखते हैं। अनेक संन्यासी मठों में निवास करते हैं। आश्रमों में निवास करते हैं। मठों और आश्रमों की माया कभी-कभी इतनी विशद हो जाती है कि उनके लिए मुकदमे लड़े जाते हैं, झूठ बोला जाता है और ऐसे-ऐसे कर्म किये जाते हैं जो संन्यास आश्रम की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला देते हैं। कहाँ संन्यासी का वह आदर्श कि 'एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणि पात्रो दिगम्बरः' और कहाँ आज का उसका स्वरूप!

आज न पहले जैसे गृहस्थ, न पहले जैसे साधु और संन्यासी। काल प्रवाह ने सभी आश्रमों और वर्णों की स्थिति में जो सामाजिक और आर्थिक, शैक्षणिक और राजनीतिक परिवर्तन ला दिया है, उसकी छाया सर्वत्र दीख रही है। गरीबी और बेकारी, अशिक्षा और कुशिक्षा ने सारे सामाजिक ढाँचे को उलट-पुलट दिया है और भारत में भिखारियों की इतनी बाढ़ ला दी है कि भिक्षा-वृत्ति देश की एक विषम सामाजिक समस्या बन बैठी है। भिखारियों की जो लम्बी पाँत खड़ी है, उसे देखकर दुःख और खेद ही नहीं होता, लज्जा भी लगती है कि आज मानव पतन के किस गर्त तक जा पहुँचा है।

भिक्षा मांगने की विधियाँ भिक्षा मांगने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विधियाँ काम में लायी जाती हैं। जैसे,

१. रो-रोकर—अपने कष्ट, संकट, दुर्भाग्य की कथा कहना।

२. विकृत अंग दिखाकर—अपनी उपार्जन की अशक्तता व्यक्त करना।

३. तितिक्षा दिखाकर—गर्मी में पंचाग्नि तप कर, जाड़े में ठंडे पानी में खड़े होकर, काँटों के बीच में लेटकर, एक पाँव के बल अथवा एक हाथ ऊँचा करके खड़े रह कर अपनी सहन शक्ति का प्रदर्शन करना।

४. आशीर्वाद देकर—'तेरा बेटा जिये', 'तेरा सौभाग्य अमर रहे' आदि कहकर प्रभावित करना।

५. चमत्कार दिखाकर—जटाओं में से कुछ निकाल कर अथवा हाथ में से कुछ निकालकर चमत्कृत करना।

६. भविष्य कथन—भूत-भविष्य की कुछ बातें कहकर प्रभावित करना।

७. गिड़गिड़ा कर—तरह-तरह से अपना रोना रोकर सफल न होने पर गिड़गिड़ाकर पैर पकड़ लेना आदि।

८. धर्म के नाम पर—कुआँ, मंदिर, धर्मशाला, गोशाला आदि के नाम पर, कथा-कीर्तन, भागवत-रामायण के पाठ के नाम पर, दैवी प्रकोप से रक्षा के नाम पर, पूजा आदि के आयोजन के नाम पर प्रभावित करना।

९. डाँट-डपटकर—धमकी देकर, शाप देकर डराना।

१०. नाच-कूदकर, कलाबाजी दिखाकर—भजन, गीत, बाउल संगीत सुनाकर, नाच-कूदकर, मनोरंजन कर, गाय-बैल से लेकर बंदर, भालू तक का नाच और करिश्मा दिखाकर प्रभावित करना।

ऐसी दस ही नहीं, पचीसों-पचासों विधियाँ भीख मांगने की हैं। कोई चिल्लाकर दाता का ध्यान आकृष्ट करता है, कोई मौन रहकर अपना छपा कार्ड दिखाकर। कोई घाव दिखाकर दाता को द्रवित करता है, कोई अपने को 'सूर', लंगड़ा, लूला, कोढ़ी, रोगी आदि बताकर। कोई संगीत की तान से दाता को प्रभावित करता है, कोई किसी प्रकार की कलाबाजी या चमत्कार दिखाकर। बहुत से भिखारी विवश होकर भीख मांगते हैं, बहुत-से उसमें लाभ देखकर भीख मांगते हैं। किसी ने भिक्षावृत्ति को अपना व्यवसाय बना लिया है। कोई उसे अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठा है।

जिसे जिस विधि से अधिक लाभ होता है, जिस विधि से अधिक पैसे मिलते हैं, वह उसी का आश्रय लेकर भीख मांगता है।

भिक्षुकों के एक नहीं, अनेक रूप हैं। विष्णु की भाँति—'अनेक रूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।' अनेक रूप स्वरूप हैं उनके। उनका वर्गीकरण भी अनेक प्रकार से किया गया है। कोई आयु और सशक्तता, स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के आधार पर करता है। कोई धार्मिक आधार पर। कोई स्थायित्व के आधार करता है, कोई बेकारी और गरीबी आदि के आधार पर। डाक्टर कुमारी के० एच० कामा ने भिखारियों को इन १५ भागों में विभक्त किया है—

भिक्षुकों का वर्गीकरण

१. बाल भिक्षुक—इनसे भीख मंगवाकर दूसरे लोग लाभ उठाते हैं।
२. शारीरिक दृष्टि से दोषयुक्त भिक्षुक—अंधे, गूंगे, बहरे, लूले-लँगड़े आदि।
३. मानसिक दृष्टि से दोषयुक्त और मानसिक रोगी भिक्षुक- मंदबुद्धि, मानसिक रोगी।
४. रोगग्रस्त भिक्षुक—कोढ़, मिरगी, क्षय, चर्मरोग आदि के रोगी।
५. स्वस्थ भिक्षुक—हट्टे-कट्टे मुस्टंडे।
६. धार्मिक साधु—बैरागी, सांई, बाउल, योगी, फकीर, दरवेश आदि।
७. बनावटी धार्मिक साधु—रंगे साधु, फकीर।
८. जनजातीय भिक्षुक—नट, कंजर, बावरिया, मीना, बेरिया, टागू आदि।
९. काम में लगे भिक्षुक—रात में कारखानों आदि में काम। दिन में भीख मांगना।
१०. छोटा-मोटा व्यापार करनेवाले भिक्षुक—पान-बीड़ी आदि के व्यापार के साथ भिक्षावृत्ति भी।
११. अस्थायी बेकार, पर काम करने के योग्य भिक्षुक—खेती के काम से मुक्त।
१२. अस्थायी बेकार, पर काम करने के अयोग्य भिक्षुक—कुछ बेकार भी, रोगी भी।
१३. लगभग स्थायी बेकार, पर काम करने के योग्य भिक्षुक—काम न मिलने पर भिक्षावृत्ति।

१४. स्थायी बेकार और काम न दिये जाने योग्य भिक्षुक—मंद बुद्धि या रोगी।

१५. स्थायी बेकार, पर काम करने के अनिच्छुक भिक्षुक—श्रम से मुँह चुरानेवाले आलसी, भीख मांगना पसंद करनेवाले।

कुमारी कामा का यह वर्गीकरण विस्तृत है। पश्चिम में भिक्षावृत्ति थोड़ी मात्रा में चलती है, पर अभी भारत की भाँति समस्या नहीं बनी है। वहाँ जान टकर और ऐंडरसन आदि ने भिक्षुकों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

'हो बो', 'ट्रैम्प' और 'बम'।

'हो बो' हैं—प्रवासी श्रमिक।

'ट्रैम्प' हैं—प्रवासी, पर काम न करनेवाले श्रमिक।

'बम' हैं—स्थायी रूप से काम न करनेवाले श्रमिक।

ऐंडरसन बम को निकृष्टतम कोटि का भिक्षुक बताता है। इनमें वह शराबियों, मद्यपों, बूढ़ों, लूले-लंगड़ों और असहायों की गणना करता है। पश्चिम में गृहहीन, प्रवासी, मांग-मांग कर खानेवाले लोगों की भिक्षुकों में गणना की जाती है।

भारतीय भिखारियों को आयु की दृष्टि से विभाजित करें तो प्रायः सभी आयु के लोग इस श्रेणी में मिल जायेंगे। जैसे, बाल और किशोर भिक्षुक; वयस्क और प्रौढ़ भिक्षुक; वृद्ध और अतिवृद्ध भिक्षुक।

स्वास्थ्य के आधार पर विभाजित करें तो स्वस्थ भिक्षुक तो कम ही मिलेंगे, अधिकांश अस्वस्थ, रोगी, बीमार, गलितांग, विकृतांग, अंधे, बहरे, लूले, लंगड़े, कोढ़ी, पागल आदि मिल जायेंगे।

धर्म के आधार पर विभाजित करें तो मंदिरों, मठों, समाधियों, कबरों, मसजिदों आदि स्थानों पर रहनेवाले, घाटों और तीर्थों पर निवास करनेवाले घूम-घूम कर फेरी लगानेवाले और भविष्य और ज्योतिष आदि बताकर मांगनेवाले भिक्षुक मिल जायेंगे। इसमें साधुसंत, फकीर, दरवेश, साईं, वैरागी, संन्यासी आदि नाना प्रकार के भिक्षुक मिलेंगे। इसमें बने हुए धार्मिक भिक्षुक भी कम नहीं हैं।

भिक्षुकों में वंशानुगत भिक्षावृत्तिवाला भी एक विशेष समुदाय है। नट, कंजर आदि अनेक ऐसी जातियाँ हैं जो वंश-परम्परा के रूप में नाना प्रकार से नृत्य, संगीत, कलाबाजी आदि दिखाकर जनता का मनोरंजन करती आ रही हैं। भिक्षावृत्ति ही उनका मूल व्यवसाय है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में भिक्षुओं को चार वर्गों में विभाजित किया गया था। यह वर्गीकरण मोटे तौर पर अच्छा है—

१. बाल भिक्षुक,

२. अस्वस्थ, निर्बल, अयोग्य, असमर्थ और वृद्धभिक्षुक,

३. स्वस्थ और पेशेवर भिक्षुक,

४. धार्मिक उपदेशक।

यों भारत में भिक्षुकों के अनेक प्रकार हैं। शारीरिक या मानसिक अस्वस्थता, वेकारी, गरीबी आदि के कारण विवश होकर भिक्षावृत्ति करनेवाले लोगों के अतिरिक्त ऐसे भिक्षुकों की संख्या भी कम नहीं जो अकड़कर भिक्षा मांगते हैं। परिपूर्णानन्द वर्मा ने ऐसा एक उदाहरण दिया है :

एक विद्वान पंडित जी ने मुझे बताया कि एक संध्या को वे अलीगढ़ की नगरी में एक पान की दूकान पर खड़े थे। एक हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण उनके पास आया और उनके सामने हाथ फैलाकर बोला—'चार पैसे का गुड़ दिला दीजिये।'

पंडित जी को बुरा लगा। कहा, 'भाई, तुम हृष्ट-पुष्ट हो। कोई कारबार करो। भीख मांगना बड़ा भारी पाप है।'

भिखारी ने पंडितजी के नेत्रों में नेत्र गड़ा कर एक क्षण के लिए देखा। फिर दृढ़ स्वर से कहा—'हो सके तो गुड़ दिला दीजिये, वर्ना स्पष्ट उत्तर दीजिये। मैं ऐसे उपदेश रोज सुनता हूँ।'

पूछा—'यदि स्वयं नहीं कमा सकते तो तुम्हारी संतान तुम्हारा पालनपोषण क्यों नहीं करती?'

भिखारी ने सौम्य भाव से कहा—'पत्नी, संतान सभी निकम्मे निकल गये। बोलो, गुड़ खिलाते हो या नहीं?'

हमारे विद्वान मित्र ने पैसे निकाले, गुड़ खरीदा। जबतक वह गुड़ खाकर पानी पीता रहा, वे उनकी ओर देखते रहे। पानी पीकर वह आश्वस्त हुआ। फिर उसने पंडित जी से कहा कि 'जरा दूर मेरे साथ चलिये।' पास में ही एक उद्यान था। वहाँ वह कुछ क्षण मौन रहा। फिर एकाएक उस आशु कवि भिक्षुक ने कहा—

> विद्या सत्कविता तथा सुजनता सेवापि च प्रार्थना।
> पंचैताः परिणिन्यिरे जनयितुं वित्तात्मजं यत्नतः॥
> व्यापारं सकलं विहाय नितरां तत्रैव रेमे मुहुः।
> किंकुर्वे कुटिलाशयेन विधिना पंचापि वंध्याः कृताः॥

'मैंने जीवन में ५ विवाह किये। विद्या से पंडित हो गया। कविता से मैंने अच्छी कविता करना सीख लिया। सुजनता से मैं सदाचारी जीवन बिताने लगा। सेवा से मैंने नौकरी भी की। प्रार्थना से मैंने चाटुकारिता तथा प्रार्थना भी काफी की। इन पाँचों स्त्रियों के साथ मैंने सब काम छोड़-कर दत्तचित्त हो रमण किया। पर अपने कुटिल भाग्य को क्या कहूँ कि ये पाँचों वंध्या निकल गयीं। इनसे कोई संतान न हुई जो मेरा पोषण करती। यानी सब कुछ करके देख लिया, मेरा भाग्य ही साथ नहीं देता। अतएव भीख मांगता फिरता हूँ।'[१]

भारत के भिक्षुकों में मूर्खाधिराज लोगों से लेकर ऐसे-ऐसे पंडित भी रहते हैं। अधिकांश भिक्षुकों को भिक्षावृत्ति में न कोई हीन भावना लगती है, न अपमान। भीख मिलती है तो ठीक, नहीं मिलती है तो ठीक। कम मिलती है तो ठीक। अधिक मिलती है तो ठीक। गाली, तिरस्कार, निंदा, भर्त्सना मिलती है तो भी ठीक। बहुत-से भिक्षुकों की ऐसी वृत्ति ही बन गयी है—

भीख दे या न दे, सखी तेरी खुशी,
हाथ दोनों उठाकर दुआ कर चले !

पर कुछ धृष्ट भिक्षुक भीख देने के लिए पीछे भी पड़ जाते हैं और न देने पर गाली-गलौज पर भी उतर आते हैं। इन सबका वर्गीकरण करना कठिन है।

भिक्षावृत्ति के कारण

जिस प्रकार भारत में अनेक प्रकार के भिक्षुक हैं, उसी प्रकार भिक्षा-वृत्ति ग्रहण करने के कारण भी अनेक हैं। आर्थिक और धार्मिक कारण तो हैं ही, जैविकीय कारण भी हैं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक कारण भी हैं।

आर्थिक कारण—गरीबी और बेकारी भिक्षावृत्ति का सबसे बड़ा कारण है। "नहिं दरिद्र सम दुःख जग मांही'। दरिद्रता और निर्धनता असंख्य अपराधों की जननी है। बेकारी भी निर्धनता में सहायक बनती है। ये दोनों मिलकर अनेक ऐसे व्यक्तियों को भिक्षावृत्ति ग्रहण करने को विवश कर देती हैं जो सामान्य स्थिति में कभी उसका आश्रय न लेते। खाने को नहीं है, पहनने-ओढ़ने को नहीं है, रहने को नहीं है, बाल-बच्चे भूख के मारे बिलला रहे हैं—ऐसी स्थिति में विवश होकर अनेक व्यक्ति भिक्षा मांगने लगते हैं। जिनमें स्वाभिमान की मात्रा अधिक होती है, वे भिक्षा न मांग कर आत्म-हत्या की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

---

१. 'कल्याण', वर्ष ३५, अंक ५, मई १९६१, पृ० ९४९–९५०

आर्थिक कारकों में रोजगार न होना, अधूरा या अपर्याप्त होना, आर्थिक आय का समय पर न मिलना, कृषि कार्य का अभाव, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, दुष्काल, भूमिहीनता, बेदखली जैसे अनेक कारक होते हैं। डाक्टर राधाकमल मुखर्जी ने ('अवर बैगर-प्राब्लम्स' में) निर्धनता, बेकारी, जन-संख्या की वृद्धि आदि को भिक्षा-वृत्ति के कारणों में प्रमुख स्थान दिया है।

आर्थिक कारकों में विवशता का प्रधान पहलू है। पर उसके अतिरिक्त लाभदायक व्यवसाय का भी एक पहलू है। बहुत-से लोग भिक्षा-व्यवसाय में लाभ देखकर भी इस ओर झुकते हैं। भारतवासियों की दान और दया की पुरातन परम्परा का ये लोग अनुचित लाभ उठाने के लिए स्वयं भी इस व्यवसाय में उतर आते हैं और छोटे-छोटे बालकों को भी, प्रशिक्षण देकर, कभी-कभी उनके अंग विकृत करके, उन्हें अपंग बनाकर, उनके प्रदर्शन से अच्छी आय प्राप्त करते हैं। दान की परम्परा का यह दुरुपयोग देश की एक सामाजिक समस्या का कारण बन बैठता है।

धार्मिक कारण—वैदिक धर्म हो या ईसाई धर्म, सिख धर्म हो या बौद्ध धर्म, पारसी धर्म हो या इसलाम धर्म—सभी धर्मों ने दान और दया को धर्म का विशिष्ट अंग माना है। सभी ने इसे मानव का परम आवश्यक कर्तव्य माना है और कहा है कि दान के बिना मनुष्य की ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति नहीं होगी, धर्म की यह परम्परा शताब्दियों से चलती आ रही है। भले ही आज वह पहले की भाँति व्यापक एवं सार्वभौम नहीं है, फिर भी किसी-न-किसी रूप में वह जीवित है ही। दान श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, दान देते समय पात्र-कुपात्र का भी ध्यान रखना चाहिए, अपने परिश्रम की कमाई में से ही दान करना चाहिए—ऐसे अनेक विधि निषेध दान के साथ लगा रखे गये हैं। उनका पूरा-पूरा पालन तो नहीं होता, पर किसी-न-किसी रूप में वह परम्परा तो आज भी चलती ही आ रही है। न हों आज कर्ण और हरिश्चन्द्र जैसे दानी, परंतु दान की परम्परा जीवित है। भले ही कुछ लोग अपनी प्रतिष्ठा दिखाने के लिए दूसरों की दृष्टि में गौरव पाने के लिए ही दान करते हों, कुछ लोग भिखारियों से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए दान देते हों, कुछ लोग धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर अथवा करुणा से द्रवीभूत होकर दान देते हों—इतना स्पष्ट है कि धार्मिक आस्था कम होने पर भी भिक्षुकों को दान दिया जाता है, जकात दी जाती है। मंदिरों, मठों, मसजिदों, अनाथालयों, यतीमखानों आदि को, सार्वजनिक सेवा-संस्थाओं को आज भी पर्याप्त

मात्रा में दान किया जाता है और असंख्य साधु, संत, महंत, फकीर, दरवेश आदि भिक्षा के आधार पर जीवित रहते हैं।

जैविकीय कारण—अस्वस्थ, अपंग छूनेवाले रोगों के रोगी, कोढ़ी आदि शारीरिक दृष्टि से अपाहिज लोग, मानसिक दृष्टि से बीमार, विकृत मस्तिष्क वाले लोग, पागल आदि सहज ही भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेते हैं। उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति ठीक ढंग से काम या रोजगार करने की नहीं होती—ऐसा वे भी मानने लगते हैं और समाज भी। तब उनके समक्ष भीख मांगने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता।

सामाजिक-सांस्कृतिक कारण—व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन के शिकार स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध सहज ही भिक्षा-वृत्ति की ओर झुक जाते हैं। माता-पिता, संरक्षक, अभिभावक, पति आदि द्वारा परित्यक्ष कर दिये जाने पर, अथवा उनके निधन पर, उनके बेकार हो जाने पर भी अनेक व्यक्ति भिक्षावृत्ति का आश्रय लेते हैं। दहेज आदि कुप्रथाओं के कारण ऋणग्रस्तता और निर्धनता के कारण भी लोग भीख मांगने लगते हैं। फैशन. विलास और भोगपरायण जीवन के आकर्षण में पड़कर जब अनेक व्यक्ति आर्थिक और चारित्रिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो जाते हैं तो उनमें से अनेक व्यक्ति भीख मांगने लगते हैं।

आलस्य—भिक्षावृत्ति के कारणों में एक प्रमुख कारण है आलस्य। बिना हाथ-पैर डुलाये जब भोजन मिल जाय तो आलसियों को क्या! 'सबके दाता राम' कहकर वे मलूक दास की दुहाई देते रहते हैं : 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम!'

अन्य कारण। आकस्मिक संकट, प्राकृतिक प्रकोप, राजनीतिक संकट, युद्ध, मंहगी, मंदी आदि कारणों से भी भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

शोधों द्वारा प्राप्त कारण

भिक्षावृत्ति और उसके कारणों के सम्बन्ध में भारत में कई स्थानों पर शोधें की गयी हैं, सर्वेक्षण किये गये हैं। उनसे भी भिक्षावृत्ति के कारणों पर प्रकाश पड़ता है।

दिल्ली में 'दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क' की ओर से किये गये सर्वेक्षण के आधार पर ('बैगर प्राब्लम इन मेट्रोपोलिटन देलही' में) कहा गया है कि भिक्षावृत्ति के कारण ये हैं—

१. शारीरिक अथवा आर्थिक असमर्थता,

२. परिवार का व्यवसाय शिथिल होना अथवा रोटी कमानेवाले का न रहना,

३. पालनकर्त्ता द्वारा परित्याग,

४. कोढ़,

५. धार्मिक दान-पुण्य की व्यवस्था,

६. अन्य व्यक्तियों से भीख मांगने की प्रेरणा,

७. माता-पिता या संरक्षक की मृत्यु,

८. भीख मांगने की पारिवारिक परंपरा,

९. प्राकृतिक प्रकोप,

१०. अपर्याप्त आय आदि ।

डाक्टर एम० वी० मूर्ति ने 'बृहत्तर बंबई की भिक्षुक समस्या' का विवेचन करते हुए आर्थिक, सामाजिक, जैविकीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अनेक कारण बताये हैं । जैसे—

आर्थिक कारक

१. सामाजिक सुरक्षा के साधनों का अभाव—निर्धनता, बेकारी आदि ।

सामाजिक कारक

२. पारिवारिक विघटन, संयुक्त परिवारों का विघटन,

३. बच्चों पर संरक्षकों का ढीला नियंत्रण,

४. सामुदायिक विघटन,

५. सामाजिक प्रथाएँ,

जैविकीय कारक

६. रोग-बीमारी,

७. शारीरिक या मानसिक विकार,

८. वृद्धावस्था,

धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारक

९. श्राद्ध, विवाह, जन्म, मृत्यु आदि के अवसर पर दान देने की प्रथा,

१०. धर्मस्थलों के जीर्णोद्धार के लिए दान की परंपरा,

११. पाप-कर्मों के लिए प्रायश्चित्त के रूप में दान की प्रथा,

१२. परलोक में सद्गति पाने के लिए दान देने की प्रथा आदि ।

बड़े-बड़े नगरों में भिक्षावृत्ति के व्यापक प्रचार के प्रायः ये ही सब कारक हैं। अहमदाबाद के एक सर्वेक्षण में भी ऐसे ही कारण दिये गये हैं—

१. गरीबी,

२. असहायावस्था,

३. शारीरिक निर्योग्यता,

४. मानसिक हीनता और बीमारी,

५. सगे-संबंधियों का दुर्व्यवहार, अवैध यौन संबंधक प्रायश्चित,

६. भाग्यवाद,

७. स्वतंत्र जीवन बिताने की इच्छा आदि।

भिक्षावृत्ति का क्षेत्र

भिक्षावृत्ति आज देश के कोने-कोने में फैल गयी है। धर्मपरायण देश में धार्मिक स्थल तो उसके केंद्र हैं ही, बड़े-बड़े नगरों और कस्बों में भी उसका व्यापक विस्तार है। गाँव-देहात भी उससे अछूते नहीं हैं। फसल कटने के दिनों में तो खेतों और खलिहानों में भिखारी लोग टिड्डी दल की भाँति मंडराने लगते हैं। आकस्मिक आपत्ति-विपत्ति, संकट, सूखा, बाढ़ आदि के दिनों में गाँव-देहात से लेकर कस्बों, नगरों और शहरों में, रेलवे स्टेशनों और प्लेटफार्मों में भिखारियों की भीड़-ही-भीड़ दीख पड़ती है। नगरों में भीख प्राप्त करने के अच्छे अवसर देखकर वहाँ स्टेशनों, मार्गों, मंदिरों, मसजिदों, कब्रों आदि के निकट भिखारियों की पंक्तियाँ-ही-पंक्तियाँ बैठी मिलती हैं। विदेशी पर्यटक इन्हीं सब दृश्यों के चित्र उतार कर ले जाते हैं और भारत को 'भिखारियों का देश' कहकर बदनाम करते हैं।

भिक्षावृत्ति जिस प्रकार देशव्यापी हो गयी है, उसी प्रकार उसका व्यापक प्रभाव भी है। भिक्षावृत्ति का भिक्षुक के व्यक्तिगत जीवन पर

भिक्षावृत्ति का प्रभाव

तो प्रभाव पड़ता ही है, सारे समाज पर उसका प्रभाव पड़ता है। उससे वैयक्तिक विघटन का ही नहीं, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन का भी मार्ग प्रशस्त होता है।

यों दान देने की परंपरा अच्छी है। समाज में 'दानं सविभागः' की पद्धति बुरी नहीं है, परंतु उसके कारण समाज में दो वर्ण बनें, यह गलत है।

एक वर्ग दान देनेवाला, दूसरा वर्ग दान लेनेवाला। एक में दान देने का गर्व, दूसरे में दान लेने की हीनता। दाता में अहंकार और अदाता में दैन्य। यह परिपाटी सर्वथा दूषित है। दान देनेवाला चाहे जैसे अन्याय-पूर्ण कृत्यों को करता रहे, चोरी और बेईमानी, छली और प्रपंच, शोषण और दमन करता रहे और उसका नगण्य-सा अंश दान में दे दे, तो वह कर्ण की पदवी पा जाय। दूसरा श्रम करने को उद्यत हो, काम करने के लिए प्रस्तुत हो, पर उसे काम न मिले। वह उस दान के पैसे से अपना निर्वाह करे—यह व्यवस्था अत्यंत दोषपूर्ण है। आदर्श समाज तो वही होगा जिसमें सभी श्रम करें और सभी उस श्रम के फल का आवश्यकतानुसार उपभोग करें। उस समाज में न तो आर्थिक विषमता के लिए गुंजाइश होगी, न अन्याय और शोषण की।

भिक्षा मिलती है, लोग अपंगता, रोग, बीमारी, दुःख, दैन्य, संकट आदि में पड़े लोगों को देखकर द्रवित हो उठते हैं, उनकी करुणा को जागृत कर आर्थिक सहायता पर्याप्त मात्रा में प्राप्त की जा सकती है और बिना श्रम किये आराम से जीवन बिताया जा सकता है—यह भावना जिस समाज में पनपती है, उसका उद्धार होना कठिन है।

भिक्षा का व्यवसाय लाभदायक है, लोगों की करुणा को जाग्रत कर अच्छे पैसे पैदा किये जा सकते हैं, लड़कों को अंगभंग कर अथवा वैसी ही ट्रेनिंग देकर अच्छा लाभ उठाया जा सकता है—यह भावना भिक्षावृत्ति के साथ जब जुड़ जाती है तो भिक्षावृत्ति एक भयंकर अभिशाप का रूप धारण कर लेती है।

धर्म के नाम पर, परलोक में सद्गति के नाम पर हट्टे-कट्टे मुस्टंडे नाना प्रकार का स्वांग करके जब पुजने लगते हैं, भोले धर्म-भीरु पुरुष और भोली-भाली स्त्रियां जब पुण्य प्राप्ति की लालसा में अपनी शक्ति और क्षमता से कहीं अधिक धन ऐसे अनधिकारी लोगों को दे डालती है, तो इस प्रकार के धूर्त ठग तो डूबते ही हैं, धर्म का पवित्र नाम भी कलंकित होता है।

भिक्षुकों के साथ अपराधी भी जब सांठ-गांठ कर लेते हैं, भिक्षा के साधन द्वारा जब चोरी, डकैती, बदमाशी, धोखेबाजी, विश्वासघात, मादकता आदि अपराध जुट जाते हैं, तो भिक्षावृत्ति पतन की चरम सीमा पर पहुँच

जाती है। भारत में भिक्षावृत्ति के ये सभी प्रभाव स्थान-स्थान पर देखे जाते हैं।

देश में भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करनेवाले लोगों की संख्या कितनी है, यह कहना कठिन है। सन् १९६१ में जनगणना में रोजगार हीन लोगों—भिखारियों की संख्या ९९ लाख ६१ हजार ५७२ मानी गयी थी। कुछ दिन पूर्व एक सर्वेक्षण में भिखारियों की संख्या ५५ लाख कूती गयी है। इनमें ५० वर्ष से अधिक आयुवाले १२ लाख भिक्षुक है, अंधे ८ लाख हैं, गूंगे-बहरे ३ लाख हैं, पागल १ लाख हैं, कोढ़ी १॥ लाख है, हिजड़े ८५ हजार हैं।

वर्त्तमान स्थिति

सर्वेक्षण के कुछ तथ्य ये हैं—

१. ५१·८ प्रतिशत भिखारी किसी असाध्य रोग से पीड़ित होने के उपरांत भिक्षावृत्ति करने को विवश हो गये।

२. १३.९ प्रतिशत भिखारी विकलांग हैं। उनके इलाज की अथवा उन्हें कोई काम दिलाने की न तो सरकार ने कोई चिंता की और न समाज ने।

३. ६·५ प्रतिशत भिखारी असहाय हैं। उनमें १ लाख १५॥ हजार भिखारी किशोर भिखारी हैं—१४ साल से कम आयु के। इनके माता-पिता अथवा अभिभावक इन्हें अनाथ छोड़ गये। इनमें पति द्वारा परित्यक्ता स्त्रियाँ भी हैं। शराब और पारिवारिक कलह के कारण पारिवारिक विघटन ने इन्हें भीख मांगने को विवश कर रखा है।

कृषि का यंत्रीकरण, बेकारी की वृद्धि, दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था, जनसंख्या की वृद्धि, प्राकृतिक संकट आदि ने मिलकर भिक्षुकों की संख्या में वृद्धि ला दी है। ५५ लाख की यह संख्या सर्वथा सही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि सोचा जाय तो इतनी संख्या भी देश के लिए एक चिंताजनक समस्या है। इसका समाधान अत्यंत आवश्यक है।

भिक्षावृत्ति समस्या के उन्मूलन के लिए सरकार ने कुछ अधिनियम बनाये हैं। भारतीय दंड विधान की धारा १३३ के अनुसार भीख मांगना 'सार्वजनिक बलाय' (न्यूसेंस) है। यों अंग्रेजी शासन ने सन् १८७४ में ही भिक्षावृत्ति के विरुद्ध युरोप का भिक्षा-निरोध कानून लागू कर दिया था। १५ फरवरी, १९४१ को भारतीय रेलवे कानून के अंतर्गत रेलवे सीमा के

अधिनियम

भीतर भीख मांगना अपराध घोषित कर दिया गया। कानून की दृष्टि से भीख मांगना चोरी के समान ही दंडनीय अपराध है। १९५९ में भिक्षानिरोध कानून में संशोधन करके भीख मांगने के उद्देश्य से लड़कों को भगा ले जाना, उड़ा ले जाना और उनका शोषण करना दंडनीय अपराध बना दिया गया। ऐसे अपराध के लिए आजीवन कारावास तक की सजा का विधान है। भिन्न-भिन्न राज्यों ने भी ऐसे अधिनियम बनाये हैं, जिनके द्वारा बड़े नगरों, तीर्थस्थानों, पर्यटन केंद्रों आदि में भीख मांगने का निषेध किया गया है।

भिक्षावृत्ति निषेध कानून हैदराबाद में १९४१ में और बंगाल में १९४३ में बना। मैसूर में १९४४ में, मद्रास, बम्बई और त्रिवांकुर में १९·५ में, मध्यप्रदेश में १९४७ में और बिहार में १९५२ में बना। अनेक नगरपालिकाओं ने भी इस संबंध में निषेधात्मक कानून बना रखे हैं। इन कानूनों द्वारा सार्वजनिक स्थानों पर भीख मांगने की मनाही है। उल्लंघन कर्त्ताओं के लिए जुर्माना और सजा की व्यवस्था है। साथ ही बाल-भिक्षुकों के प्रति विशेष व्यवहार करने तथा उन्हें विशेष गृहों में रखने की भी व्यवस्था है।

भिक्षुक-भवन— कानून में भिक्षावृत्ति को दंडनीय अपराध माना गया है। इसके अतिरिक्त घुमंत भिक्षुकों के लिए उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मैसूर आदि राज्यों में सरकार ने कुछ भिक्षुक-भवन आदि भी बना दिये हैं। ऐसे स्थानों में भिक्षुकों को खान-पान आदि की तथा कुछ व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि की भी व्यवस्था की गयी है।

भिक्षावृत्ति निवारण के उपाय

दंडनीय अपराध करार दिये जाने पर भी तथा भिक्षुक भवनों की व्यवस्था कर देने पर भी भारत की भिक्षावृत्ति समस्या लगभग ज्यों-की-त्यों बनी है। सार्वजनिक स्थानों पर, मंदिर-मसजिदों आदि धर्मस्थलों के निकट, तीर्थों में, घाटों पर, रेलवे स्टेशनों पर, प्लेटफार्मों पर, ट्रेनों के डिब्बों में, मेलों और उत्सवों में, तिथि-त्योहारों और पर्वों पर जिधर दृष्टि डालिये, भिक्षुकों की अपार · ना खड़ी दीखती है।

कानून अपनी जगह है। भिक्षुक-भवन अपनी जगह हैं। भिक्षुक लोग भिक्षुक-भवनों में निवास करना बहुत कम पसंद करते हैं। पकड़कर रखे जाते हैं तो अवसर मिलते ही निकल भागते हैं।

स्पष्ट है कि ये उपाय भिक्षावृत्ति का निर्मूलन नहीं कर सकते। सरकारी पुलिस भिक्षानिषेध कानूनों का कड़ाई से पालन भी नहीं करती। पालन करे भी तो जेलों में अन्य अपराधियों के साथ भिक्षुकों की भारी संख्या वहाँ जा बैठेगी, जिसे खिलाने-पिलाने की समस्या सरकार का सिर दर्द बने बिना न रहेगी। भिक्षुकों पर जुर्माना करने का उपाय भी कोई बहुत अच्छा परिणाम लायेगा, इसकी भी आशा कम है। कारण, भिक्षुक जनता से ही भीख मांग कर अपना जुर्माना भर देगा।

प्रश्न है कि अधिनियम और भिक्षुक-भवनों से यदि भिक्षावृत्ति की समस्या का निराकरण नहीं हो सकेगा तो उसका उपाय क्या है? उसके लिए हमें इस समस्या पर गहराई से विचार करना पड़ेगा। भिक्षुक के दयनीय चित्र को देखकर या उसका करुणापूरित रिरियाना सुनकर हम तांबे का एकाध टुकड़ा उसकी ओर फेंककर यदि यह मान लें कि समस्या का निराकरण हो गया तो उसे मूर्खता ही कहना पड़ेगा। बिल्ली को सामने देखकर चूहा यदि आँख मूंद ले और सोच ले कि बिल्ली है ही नहीं, तो चूहे की जो स्थिति होगी, वही स्थिति हमारी भी होगी। भिक्षावृत्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें गहराई से खोदकर ही निकालना पड़ेगा।

भिक्षावृत्ति के निवारण के लिए दो प्रकार के प्रयास करने होंगे —(१) अल्पकालीन और तात्कालिक प्रयत्न तथा (२) दीर्घकालीन प्रयत्न।

तात्कालिक प्रयत्न : जो भिक्षुक आज हैं, उनकी समस्या पर तुरत ध्यान देना आवश्यक है। उनके निवास, उनके खान-पान, उनके मनोरंजन, उनके विकास, उनके कला-कौशल के प्रशिक्षण, उनके सुधार और उनके पुनर्वास के प्रश्नों पर तत्काल ध्यान देना चाहिए। जो रोगी हैं, जिन्हें छूत की बीमारियाँ हैं, उनके रोगनिवारण का, उन्हें पृथक् रखने का प्रबंध होना चाहिए। जो बालक हैं, उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनके सुधार और विकास की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वे अपराध की दिशा में न मुड़ें। जो असहाय, अशक्त, अपंग और वृद्ध हैं, उनके लिए पेंशन आदि की सरकारी व्यवस्था होनी चाहिए। बेकारों को काम की समुचित व्यवस्था रहनी चाहिए। आलसियों, ढोंगियों और बदमाशों को भिक्षावृत्ति से विरत करने के लिए कड़े कानून बनने चाहिए।

दीर्घकालीन प्रयत्न : आगे नये भिक्षुक न बनें, उसके लिए दीर्घकालीन आयोजन आवश्यक हैं। थोड़े से भिक्षुक-भवनों और कुछ कानूनों से यह

समस्या सुलझनेवाली नहीं है। केवल सरकारी प्रयत्न ही इसके लिए पर्याप्त नहीं। इसके लिए गैर-सरकारी लोक सेवी संस्थाओं को आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिए मुख्य रूप से ४ प्रकार के कार्य करने होंगे —

१. आर्थिक विषमता का निवारण

२. दान-दक्षिणा का उदात्तीकरण

३. श्रमनिष्ठा का विकास और

४. जन-जागरण तथा मानस-परिवर्तन ।

आर्थिक विषमता की समाप्ति : समाज में जबतक आर्थिक विषमता रहेगी, गरीब और अमीर नामक दो वर्ग रहेंगे, पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग रहेंगे, दाता और अदाता रहेंगे, तबतक भिक्षावृत्ति मिटनेवाली नहीं। 'हुजूर' और 'मजूर' की खाई पाटे बिना काम चलनेवाला नहीं। गरीबी और बेकारी मिटाये बिना स्वस्थ समाज का विकास असंभव है। आर्थिक वैषम्य जितना घटेगा, लोगों को काम और रोजगार की जितनी अधिक सुविधा बढ़ेगी, उतनी ही भिक्षावृत्ति घटेगी। इसके लिए सरकार को तो भरपूर प्रयत्न करना ही होगा, विभिन्न राजनीतिक दलों और समाजसेवी संस्थाओं को भी जी-जान से इसमें योगदान करना होगा।

दान का उदात्तीकरण : भारत जैसे धर्म परायण देश में आज धर्म की भावना बहुत शिथिल हुई है, परंतु लोकमानस में इस दिशा में विशेष शैथिल्य नहीं आ सका है। यदि ऐसा सोचा जाय कि भारत में दान देने की पद्धति सर्वथा बंद कर दी जाय जिससे भिक्षावृत्ति की जड़ कट जाय तो ऐसा संभव नहीं है। दान-दक्षिणा की परंपरा, श्राद्ध, परलोक, पुण्य आदि की परंपरा के संस्कार भारतीय मानस में इतने गहरे जमे हैं कि उन्हें उखाड़ फेकना सरल नहीं। यों दान कोई बुरी वस्तु है भी नहीं। आवश्यकता केवल इतनी है कि उसका सदुपयोग हो। आलसी, भ्रष्ट और चरित्रहीन लोगों के हाथ में दान न जाय। उसका उदात्तीकरण और समाजीकरण हो जाय तो इस महान संस्कार से देश का बहुत कल्याण हो सकता है। विनोबा ने भूदान, संपत्तिदान, साधनदान, बुद्धिदान आदि का जो आंदोलन चला रखा है वह दान के उदात्तीकरण की ही प्रक्रिया है।

गाँधी जी भी यही कहते थे कि 'मेरी अहिंसा किसी ऐसे स्वस्थ व्यक्ति को मुफ्त भोजन देने का विचार सहन नहीं करेगी, जिसने उसके लिए ईमान-

दारी से कुछ-न-कुछ काम न किया हो। मेरे पास सत्ता हो तो जहाँ मुफ्त भोजन मिलता है, ऐसे सब सदाव्रत मैं बंद करा दूँ। इससे राष्ट्र का पतन हुआ है और आलस्य, बेकारी, दम्भ और अपराधों को भी प्रोत्साहन मिला है।'[१]

श्रमनिष्ठा : भूखे को भोजन और नंगे को वस्त्र मिलना चाहिए, परंतु वह सम्मानपूर्वक होना चाहिए। गांधीजी के शब्दों में 'नंगे भूखे लोगों को जिन कपड़ों की जरूरत नहीं है, वे कपड़े उन्हें देकर मै उनका अपमान कैसे करूँ? हाँ, जिस काम की उन्हें सख्त जरूरत है, वही मैं उन्हें दूँ। मैं उनका 'आश्रयदाता' बनने का पाप नहीं करूँगा, बल्कि ज्यों ही मुझे मालूम होगा कि मैंने उन्हें कंगाल बनाने में सहायता दी है, त्यों ही मैं उन्हें ऊँचा स्थान दूँगा और उन्हें अपनी जूठन और फटे-पुराने कपड़े नहीं दूँगा, बल्कि अपने अच्छे-से-अच्छे भोजन में से उन्हें भोजन दूँगा और पहनने के अच्छे-से-अच्छे कपड़े उन्हें पहनाऊँगा और स्वयं उनके काम में उनका साथी बन जाऊँगा।'[२]

श्रमनिष्ठा का विकास ही वह आधारशिला है जिसके ऊपर स्वस्थ समाज का भवन खड़ा किया जा सकता है। गीता में श्रम न करके भोजन करनेवाले को 'चोर' कहा है। बाइबिल में इस पर जोर दिया है कि 'अपना पसीना बहाकर रोटी कमाओ।' गाँधी जी कहते थे कि 'सब लोग यदि अपनी रोटी कमाने जितना श्रम करें तो न आवश्यकता से अधिक जनसंख्या का हो-हल्ला मचेगा, न कोई रोग रहेगा और न ऐसा कोई दुखदर्द रहेगा, जैसा आज हम अपने चारों ओर फैला हुआ देखते हैं।'[३]

मानस परिवर्तन : आज के समाज में बिना श्रम किये लखपति बनने के अनेक धंधे चालू हैं। लाटरी और जुआ, सट्टा और चोरबाजारी, शोषण और दोहन का चारों ओर जाल बिछा है। जो जितना कम शरीर श्रम करे, वह उतना ही ऊँचा अधिकारी माना जाता है। राजा-रईस, सेठ-साहूकार, अफसर और बड़े लोग कम-से-कम काम करते हैं और अधिक-से-अधिक विलास

---

१. निर्मल कुमार वसु : सिलेक्शन्स फ्राम गाँधी, १९४८, पृ० ४६।

२. मो० क० गाँधी : 'हिन्दी नवजीवन' २१।१०।१९२१।

३. निर्मल कुमार वसु : सिलेक्शन्स फ्राम गाँधी, पृ० ५४।

का उपभोग करते हैं। येन-केन-प्रकारेण संपत्ति एकत्र करते ही समाज ऐसे व्यक्ति का आदर करने लगता है। ये ही ग़लत मूल्य समाज की नींव को खोखला कर रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इसके लिए जन-जागरण किया जाय। जनता के मानस का परिवर्तन किया जाय। सभी लोगों के मानस में यह बात भली-भांति बैठा दी जाय कि बिना कठोर श्रम किये भोजन करना अनुचित है। सच्चाई और ईमानदारी से ही रोटी कमानी चाहिए। जिसके पास जो शक्ति-सामर्थ्य और विद्याबुद्धि है, जो ज्ञान और कला-कौशल है, उसका वह समाज की सेवा के लिए भरपूर उपयोग करे। अपनी शक्तिभर श्रम करे और राज्य तथा समाज का कर्त्तव्य है कि वह उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण तथा स्वस्थ विकास का यथोचित प्रबंध करे।

अपरिग्रह : लोकमानस में भीख मांगना तिरस्कार और अपमान की वस्तु मानी जानी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि जो लोग अशक्त, असमर्थ, संकट ग्रस्त हों, उनकी समुचित सहायता न की जाय। वह तो परम आवश्यक है। परंतु समाज का ढांचा इस प्रकार का बनना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को भिक्षावृत्ति न अपनानी पड़े। अपरिग्रही साधुसंतों की बात दूसरी है। गांधीजी कहते थे कि 'प्रतिदिन की आवश्यकता के अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करने के ईश्वरीय नियम को हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत् में विषमता और तज्जन्य दुःखों का अनुभव करते हैं। धनवान के घर उसके लिए अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं। जबकि उन्हीं के अभाव में करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो और सब संतोष से रहें। आज तो दोनों तंगी का अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने की कोशिश करता है, कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगाल को पेटभर पाने से ही संतोष नहीं होता। परंतु कंगाल को पेटभर पाने का हक है और समाज का धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। धनाढ्य पहल करे। वह अपना अत्यंत परिग्रह छोड़े तो कंगाल को पेटभर सहज ही मिलने लगे। आदर्श आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसी का होता है जो मन और कर्म से दिगंबर हो। वह पक्षी की तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन रहकर विचरण करे। अन्न की उसे रोज आवश्यकता होगी

और भगवान रोज उसे देंगे। पर इस अवधूत स्थिति को तो विरले ही पा सकते हैं। हम इस आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते रहें और जैसे बने उसे घटाते रहें।'[१]

ये ही साधन हैं जिनसे भिक्षावृत्ति का उन्मूलन संभव है।

---

१. मो० क० गांधी : सप्त महाव्रत, पृ० २२-२३।

अध्याय : २५

निर्धनता

निर्धनता, दरिद्रता, गरीबी क्या है, यह कौन नहीं जानता ? धन का न होना ही निर्धनता है। यह धन क्या है ? धन है मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन। यह आवश्यक नहीं कि धन रुपये-पैसे, नोट, कलदार, सोना-चांदी आदि के रूप में ही हो। वह जमीन-जायदाद, घोड़ागाड़ी, गेहूं-चावल, चीनी-चाय, कपड़ा-लता, बर्तन-भांड़े के रूप में भी हो सकता है। अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से भिखारी का भीख मांगने का ठीकरा भी धन है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम में आनेवाली प्रत्येक वस्तु धन की परिभाषा के अंतर्गत आती है। विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, श्रम आदि सब कुछ। जिसके पास यह धन, संपत्ति है, वह धनी। जिसके पास नहीं है, वह निर्धन।

अवधारणा

निर्धनता की अवधारणा सापेक्षिक मानी जाती है। उसका विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से किया जाता है। देश, काल और समाज की दृष्टि से, रुपये-पैसे की क्रयशक्ति की दृष्टि से और मानवों की मानसिक भावना की दृष्टि से देखा जाता है कि कौन धनी है, कौन निर्धन। आर्थिक वैषम्य के युग में आर्थिक स्थिति आय और उपभोग के स्तर आदि से पता लगाया जाता है कि कहाँ संपन्नता और समृद्धि है, कहाँ विपन्नता और दारिद्रय है। भौतिक आवश्यकताओं के स्तर और उनकी पूर्ति के साधनों के बाहुल्य अथवा अभाव के विवेचन से निर्धनता को मापा जा सकता हैं।

भोजन, वस्त्र, आवास तथा ऐसी ही अन्य कतिपय अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति मानव जीवन के विकास और संवर्द्धन के लिए आवश्यक है। जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ जिस व्यक्ति को सुलभ रहती हैं, वह धनी और संपन्न माना जाता है। जिसे इन वस्तुओं का अभाव रहता है, वह

निर्धन और दरिद्र माना जाता है। जो व्यक्ति अपना और अपने आश्रितों का भली-भाँति पालन-पोषण करने में समर्थ रहता है, उसे धनी कहा जाता है। जो व्यक्ति अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में अक्षम रहता है, जिसके बाल-बच्चे भूखे, नंगे, अशिक्षित और विपन्न रहते हैं, वह निर्धन या गरीब कहा जाता है। जीवनयापन के लिए जो लोग सामान्य स्तर के उपयुक्त भी उपभोग की सामग्रियाँ नहीं पाते, वे निर्धनता की श्रेणी में आते हैं। भरपेट भोजन, तन भर वस्त्र और सर्दी,गर्मी, वर्षा से त्राण पाने के लिए आवास न पा सकनेवाले व्यक्तियों की गणना निर्धनों में होती है। उनकी यह स्थिति, 'निर्धनता' कही जाती है। निम्नतम जीवन स्तर के लिए आवश्यक वस्तुओं, सुविधाओं और सेवाओं का अभाव ही निर्धनता है।

परिभाषा

निर्धनता की परिभाषा अनेक प्रकार से की जाती है। कोई विद्वान् कुछ कहता है, कोई कुछ।

अदम स्मिथ कहता है—'मनुष्य उसी मात्रा में धनी या निर्धन कहा जायगा, जिस मात्रा में उसे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, सुविधाएँ और मनोरंजन के साधन उपलब्ध हों।'[1]

गिलिन और गिलिन कहते हैं—'निर्धनता वह स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपर्याप्त आय अथवा विवेकहीन व्यय के कारण अपना जीवन स्तर उतना ऊँचा रखने में असमर्थ रहता है कि उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता बनी रहे और उसे तथा उसके स्वाभाविक आश्रित जनों को अपने समाज के स्तर के अनुकूल उपयुक्त रीति से कार्य कर सकना संभव हो।'[2]

जे० जी० गोदार्ड कहता है—'निर्धनता उन वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति है, जिनकी कि व्यक्ति एवं उसके आश्रितों को स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने के लिए आवश्यकता है।'[3]

एडविन आर० ए० सैलिगमैन कहता है—'निर्धनता पूर्ण निर्धनता और सापेक्ष निर्धनता, ऐसे दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है। 'पूर्ण निर्धनता' वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति की आय शारीरिक क्षमता को बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम सामग्री उपलब्ध करने के लिए पर्याप्त न हो। 'सापेक्ष

---

१. अदम स्मिथ : वैल्थ ऑफ नेशंस, खंड १

२. गिलिन और गिलिन : कल्चरल सोशियालाजी, पृष्ठ ७५८

३. जे० जी० गोदार्ड : पावर्टी— इट्स जेनेसिस एण्ड एक्सोडस, पृष्ठ ५

निर्धनता वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति केवल जीवन-निर्वाह की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्तर बनाये रखने में असमर्थ रहता है।'

इन परिभाषाओं से यही बात स्पष्ट होती है कि निर्धनता वह स्थिति है जिसमें रहकर मनुष्य अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की भली-भाँति पूर्ति नहीं कर पाता। उसे अपने और अपने आश्रितों के जीवनयापन के लिए जिन वस्तुओं, सुविधाओं और सेवाओं आदि की परम आवश्यकता रहती है, उन्हीं से वह वंचित रहता है। फिर इसका कारण चाहे उसकी आय की कमी हो, चाहे उसका विवेकशून्य व्यय हो। सामान्य जीवन स्तर को बनाये रखने में अपनी असमर्थता का ही नाम 'निर्धनता' या गरीबी है।

निर्धनता का अनुमान केवल रुपये-पैसे की आय से नहीं लगाया जा सकता, उस आय से जीवन की कितनी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, इसी से लगाया जा सकता है। जब इन आवश्यकताओं की ठीक ढंग से पूर्ति नहीं हो पाती तो वह स्थिति 'निर्धनता' की स्थिति कही जाती है।

निर्धनता में मूल बात यह रहती है कि मनुष्य अपने और अपने आश्रितों की अनिवार्य आवश्यकताओं की भी ठीक ढंग से पूर्ति नहीं कर पाता। उसे निर्धन, निर्धनतर, और निर्धनतम, ऐसे तीन प्रकारों में बाँट सकते हैं। निर्धनतम वह है जिसे न भरपेट अन्न मिलता है, न तन ढकने को वस्त्र मिलता है, न रहने के लिए कोई छायादार आवास ही मिलता है। ऐसे लोग सड़कों पर, फुटपाथों पर, पुलों और पुलियों के नीचे भूखे और नंगे पड़े दीखते हैं। निर्धनता की यह चरम सीमा मानी जा सकती है। निर्धनतर इनसे कुछ अच्छी स्थिति में होते हैं और निर्धन लोग उनकी अपेक्षा भी कुछ सुविधाजनक स्थिति में होते हैं। पर ये सब रहते हैं न्यूनतम जीवनस्तर पर ही।

निर्धनता के प्रकार

निर्धन व्यक्ति जब पेट भरने को ही मोटा-झोटा अन्न भी नहीं पाते तो पौष्टिक और संतुलित आहार की तो बात ही कहाँ सोची जा सकती है ? फिर उनका स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होना संभव ही कैसे है ? उनके रहन-सहन का स्तर निम्नतम कोटि का रहता है। जीवन में चारों ओर अभावों का ही रोना रहता है।

अर्थशास्त्रियों ने निर्धनता की प्रमाप के लिए कुछ पैमाने स्थिर किये हैं। देश में उपभोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के आधार पर

प्रमाप

राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाता है। आय, आय का वितरण, मूल्यों का स्तर, रहन-सहन का स्तर आदि देखकर पता लगाया जाता है कि किस वर्ष किस देश की आर्थिक स्थिति कैसी क्या रही ? विभिन्न देशों की तुलना भी ऐसे ही आधार से की जाती है और यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अमुक देश संपन्न है या विपन्न ? अथवा प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय क्या है ? सरकारी योजनाओं के निर्माण में ऐसी प्रमापों से बड़ी सहायता मिलती है।

वर्षों से निर्धनता की समस्या अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के अध्ययन और चिंतन का विषय रही है। आज तो निर्धनता की समस्या अत्यंत उत्कट बन बैठी है, पर पहले से भी यत्र-तत्र यह समस्या विचारकों को झकझोरती रही है। माल्थस (१७६६-१८३४) ने अपने जनसंख्या वृद्धि के सिद्धांत का सन् १७९८ ई० में प्रतिपादन करते हुए इस तथ्य पर बल दिया था कि जनसंख्या रोकने के लिए यदि उचित और वैध नियंत्रणों की व्यवस्था नहीं की जायगी तो बुरे व्यवसाय, कड़े श्रमकार्य, अत्यधिक निर्धनता, गंदे और नम आवास, बीमारियाँ, महामारियाँ, युद्ध आदि अति भीषण संकट घहराने लगेंगे।[1] माल्थस ने अत्यधिक निर्धनता को जनवृद्धि के साथ जोड़कर विचारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

निर्धनता का अध्ययन

फ्रांस के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक ला प्ले (१८०६-१८८२) ने इस दिशा में प्रत्यक्ष शोध के कार्य का श्रीगणेश किया। उसने परिवारों के बीच रहकर पारिवारिक बजटों का अध्ययन किया। वैज्ञानिक पद्धति से उसने अध्ययन, अवलोकन, प्रश्न-सूची, जांच और दैव निदर्शन पद्धति आदि का आश्रय लेकर अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र की। २० वर्ष के अपने इस श्रम का उसने ६ ग्रंथों में प्रकाशन किया। फिर एक ग्रंथ में सामाजिक सुधार के लिए ठोस सुझाव प्रस्तुत किए।

कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) ने पूंजीवाद और निर्धनता का गहरा अध्ययन किया और अपना विशिष्ट सिद्धांत उपस्थित किया। एंजिल ने १८५७ ई० में जर्मनी में सेक्सोनी क्षेत्र के परिवारों को तीन भागों में विभाजित कर उनका व्यापक अध्ययन किया। मजदूर परिवार, मध्यम श्रेणी के परिवार और अमीर परिवारों के बजटों का अध्ययन करके उसने जो निष्कर्ष निकाले,

१. थामस राबर्ट माल्थस : एन ऐसे ओन दि प्रिंसिपल ऑफ पापुलेशन, पृष्ठ ८

उनकी आज भी पर्याप्त मान्यता है। उसका कहना था कि ज्यों-ज्यों पारिवारिक आय बढ़ती है, त्यों-त्यों भोजन पर किया जानेवाला व्यय का प्रतिशत घटता जाता है; वस्त्र, मकान, जलावन और रोशनी के व्यय का प्रतिशत स्थिर रहता है, परंतु शिक्षा, स्वास्थ्य, सेवा आदि का व्यय का प्रतिशत बढ़ता जाता है।

हेनरी जार्ज (१८३९-१८९७) ने संपन्नता के बीच विपन्नता का बहुत गहरा अध्ययन किया और अपने समय के पहले के अनेक सिद्धांतों का विशद रूप से विवेचन किया। उसने भाटक के सिद्धांत को निर्धनता के लिए उत्तरदायी ठहराया।

चार्ल्स बूथ (१८४०) अच्छी कमाई करने के उपरांत जब लंदन में आ बसा तो उसे जिज्ञासा हुई कि निर्धनता के क्या कारण हैं? चैंबरलेन के सुझाव पर उसने सर्वेक्षण दल बनाकर स्कूल निरीक्षकों के लेखापत्रों से सामग्री एकत्र की। फिर ३४०० गलियों में घूम-घूमकर प्रत्येक परिवार की सूचनाएं एकत्र कीं। अपने अध्ययन के निष्कर्षों का उसने 'लाइफ एण्ड लेबर आफ दि पीपुल ऑफ लंदन' के १९ अंकों में प्रकाशन किया। उसका कहना था कि लंदन के ३० प्रतिशत परिवारों का आर्थिक स्तर सामान्य जीवन-यापन के स्तर (२० शिलिंग प्रति सप्ताह) से भी नीचा है। उसके मत से १७·८ प्रतिशत लोग मध्यम श्रेणी के हैं, ५१·५ प्रतिशत पर्याप्त आयवाले है, २२·३ प्रतिशत कम आयवाले हैं, ७.५ प्रतिशत अर्ध बेकार हैं और ०·९ प्रतिशत बदनाम, शराबी, अर्ध अपराधी आदि हैं। बेकारी, पति की मृत्यु, बुढ़ापा, दुर्घटना, व्यावसायिक असफलता आदि कारणों से निर्धनता बढ़ती है। ४० लाख की आबादी वाले विश्व के सबसे बड़े नगर लंदन के इस सर्वेक्षण ने बड़ा प्रभाव डाला और स्कूलों, मजदूरों, बूढ़ों, अपाहिजों आदि के लिए अनेक कानूनों का मार्ग प्रशस्त किया।

बी० एस० राउण्ट्री ने इंगलैंड के यार्क नगर में मजदूरों की निर्धनता का विस्तृत अध्ययन किया और उनका न्यूनतम स्तर निर्धारित किया। उसकी पुस्तक 'पावर्टी' सन् १९०६ में प्रकाशित हुई। इसमें उसके सन् १९०० ई० के अध्ययन का विवरण है। ३६ वर्ष के उपरांत उसने पुनः अध्ययन किया। उसने १६३६२ परिवारों में से १६३६ परिवारों का, हर दसवें परिवार को आदर्श मानकर, अध्ययन किया। उसका कहना था कि १० प्रतिशत जनता अत्यंत अल्प आयवाली प्राथमिक निर्धनता की श्रेणी में थी और १८ प्रतिशत

जनता द्वितीयक श्रेणी में थी। उसकी निर्धनता का कारण विशेष रूप से अपव्यय था। १९३६ के उसके अध्ययन से पता चला कि ३६ वर्षों में निर्धनता आधी रह गई, और जीवन स्तर में ३६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्धनता में कमी के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसने कहा कि एक तो परिवारों के आकार में कमी हुई, दूसरे मजदूरों की आय में वृद्धि हुई और तीसरे सामाजिक सेवाओं का प्रसार हुआ। उसका मत था कि निर्धनता चक्रवत घूमती है। प्राथमिक श्रेणी में १२ वर्ष के बालक जब बड़े होते हैं और कमाने लगते हैं तो द्वितीयक श्रेणी में आ जाते हैं। परिवार बड़ा होता चलता है तो आर्थिक स्तर गिरता चलता है। राउण्ट्री के अध्ययन के परिणामस्वरूप सरकार की समाज सुधार की ओर दृष्टि गयी। १९०६ में स्कूली छात्रों को मुफ्त भोजन देने का कानून बना। १९०७ में छात्रों के स्वास्थ्य निरीक्षण का कानून बना। १९०९ में वृद्धों को पेंशन, न्यूनतम वेतन दर, नियोजन कार्यालय आदि के संबंध में कानून बने।

एन० पारमेली का अध्ययन 'पावर्टी एण्ड सोशल प्रोग्रेस', १९२१ में प्रकाशित हुआ। जे० गिलिन का अध्ययन 'पावर्टी एण्ड डिपेंडेंसी', १९२२ में प्रकाशित हुआ। आर. डी. मेकेंजी का अध्ययन 'दि नेबरहुड', १९२३ में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार के कुछ अन्य अध्ययनों ने भी निर्धनता की समस्या पर विशेष प्रकाश डाला।

अर्थशास्त्रीय विचारकों में समाजवादी विचारकों ने निर्धनता की समस्या पर गहराई से विचार किया। सेंट साइमन और सेंट साइमनवादी हों, ओवेन या फूर्ये हों, राडबर्ट्स या कार्लमार्क्स हों, संशोधनवादी या संघ समाजवादी हों, क्रोपाटकिन हों या फेबियनवादी हों, कार्लाइल, रस्किन, तोल्सताय हों या सामाज कल्याणवादी हों—प्रायः सभी को आर्थिक वैषम्य खटकता है और सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से निर्धनता की समस्या पर अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत किए हैं।

निर्धनता के सिद्धांत

यंत्र का आविष्कार और विकास होने पर ऐसी कल्पना की गयी थी कि वस्तुओं का बाहुल्य होने से वस्तुओं का अभाव मिटेगा और निर्धनता मिटेगी। परंतु यह आशा सफल न हो सकी। यंत्र के साथ पूंजीवाद बढ़ा, शोषण और दोहन बढ़ा, बेकारी और गरीबी बढ़ी। आर्थिक वैषम्य की खाई उत्तरोत्तर चौड़ी होने लगी। फलस्वरूप धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन होने लगे।

निर्धनता के संबंध में विचारकों ने जिन सिद्धांतों पर अधिक बल दिया है, उनमें माल्थस, मार्क्स और हेनरी जार्ज के सिद्धांत विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

माल्थस का सिद्धांत : माल्थस ने देखा कि यंत्रों की बदौलत एक ओर अत्यधिक उत्पादन और वस्तुओं का बाहुल्य है, दूसरी ओर अत्यधिक बेकारी है और वस्तुओं के खरीदारों का अभाव है। एक ओर अत्यधिक अमीरी है, दूसरी ओर अत्यधिक गरीबी है। इसका कारण खोजने में वह जुट गया। उसने अपना जनसंख्या का सिद्धांत निकाला। उसके मत से जनसंख्या १ : २ : ४ : ८ : १६ : ३२ : ६४ : १२८ : २५६ के क्रम में—ज्यामिति के अनुसार बढ़ती है, जबकि उपज की गति है १ : २ : ३ : ४ : ५ : ६ : ७ : ८ : ९। उपज गणित के क्रम से बढ़ती है। इसका परिणाम यह होगा कि २२५ वर्षों में जनसंख्या में जहाँ २५६ गुनी वृद्धि होगी, वहाँ खाद्यान्न की वृद्धि केवल ९ गुनी होगी। खाद्यान्न की पूर्ति के इस व्यापक अभाव का स्वाभाविक परिणाम होगा भुखमरी, बेकारी और बीमारी की वृद्धि। मांग और पूर्ति का संतुलन नष्ट होते ही निर्धनता का आना स्वाभाविक है।

माल्थस का जनसंख्या का सिद्धांत एकांगी ही माना जा सकता है। उसमें निर्धनता लानेवाले अन्य कारकों की उपेक्षा की गयी है। उसने जिस अनुपात से जनसंख्या की वृद्धि की बात कही थी, उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई, ऐसा भी लोगों का मत है। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि जनसंख्या की वृद्धि उत्तरोत्तर होती चल रही है और निर्धनता की वृद्धि में उसका भी हाथ है ही।

मार्क्स का सिद्धांत : गरीबों के मसीहा कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद और शोषण को ही निर्धनता का सबसे प्रधान कारण बताया है। उसने अर्थव्यवस्था में पूंजी और पूंजीवाद का गहरा अध्ययन करके श्रम के मूल्य सिद्धांत, एकाधिकार और संकट का विवेचन किया। उसने कहा कि पूंजीवादी समाज में पूंजीपति और श्रमिक, ऐसे दो वर्ग रहते हैं। एक के हाथ में पूरी पूंजी रहती है, दूसरा सर्वहारा होता है। इन दोनों वर्गों में संघर्ष चलता है। पूंजीवादी उत्पादन अतिरिक्त मूल्य के लिए किया जाता है। यह अतिरिक्त मूल्य शोषण का प्रतीक है। पूंजी संचय शोषण की प्रक्रिया का दूसरा पहलू है। पूंजीवादी प्रणाली व्यक्ति को स्वयं से, व्यक्तियों को भूमि और प्रकृति से और व्यक्ति को

व्यक्ति से दूर कर देती है।[१] यंत्रों के द्वारा शोषण की सामग्री भी बढ़ती है, शोषण की मात्रा भी बढ़ती है। पूंजीवाद के विकास में ही उसके विनाश के चिह्न छिपे रहते हैं।[२] पूंजी संचयन से यंत्रों की वृद्धि और तीव्रता से एक ओर संपत्ति का अंबार लगने लगता है, दूसरी ओर दरिद्रता बढ़ने लगती है। बेकारी बढ़ने लगती है। दैन्य, अत्याचार, दासता, पतन और शोषण में वृद्धि होने लगती है।[३] पूंजीपति श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी देता है कि वे ठीक से जीवनयापन नहीं कर पाते। फलतः निर्धनता बढ़ती जाती है।

मार्क्स ने निर्धनता का मूल कारण पूंजीवाद ही ठहराया है। उसने अन्य कारणों पर विशेष बल नहीं दिया, यद्यपि निर्धनता के लिए कुछ अन्य कारक भी उत्तरदायी हैं।

हेनरी जार्ज का सिद्धांत : हेनरी जार्ज ने सन् १८६९ से १८७९ तक, दस वर्ष तक निर्धनता की समस्या का गहन अध्ययन किया। उसने एक ओर संपन्नता को चरम सीमा पर जाते देखा और उसी के साथ-साथ दूसरी ओर निर्धनता और विपन्नता को भी चरम सीमा पर जाते देखा। इसके कारणों का विश्लेषण करते हुए उसने अपनी अमर रचना 'प्रोग्रेस एंड पावर्टी' में कहा है कि संपत्ति के साथ-साथ निर्धनता और दारिद्र्य की जो वृद्धि हो रही है, उसका कारण यही है कि भूमि पर व्यक्तियों का एकाधिकार है। भूमि ही सारी संपत्ति का कारण और सारे श्रम का क्षेत्र है। संपत्ति के असम और विषम वितरण को दूर करने का उपाय है—भूमि का समाजीकरण, भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर उसे सार्वजनिक संपत्ति बना देना।[४]

हेनरी जार्ज ने भूमि के एकाधिकार को ही निर्धनता का एकमात्र कारण बता कर उसे समाप्त करने का आंदोलन चलाया। भूमि उत्तरोत्तर मंहगी होती चलती है जिससे श्रमिक उसे खरीद नहीं सकते। भूस्वामियों का एकाधिकार ही निर्धनता का मूल कारण है। हेनरी जार्ज ने यद्यपि अत्यंत तर्कपूर्ण ढंग से अपनी दलील उपस्थित की है, फिर भी अनेक विचारक ऐसा मानते हैं कि उसका विश्लेषण भी एकांगी ही है। उसने निर्धनता के अन्य कारकों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

---

१. अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ९६
२. वही, पृष्ठ १०४—१०७
३. श्री कृष्णदत्त भट्ट : आर्थिक विचार धारा-उदय से सर्वोदय तक, पृष्ठ ३१५
४. हेनरी जार्ज : प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी, पृष्ठ ३२८

निर्धनता के इन सभी सिद्धांतों में आर्थिक पक्षों पर ही विशेष बल दिया गया है, जब कि केवल आर्थिक कारण ही निर्धनता के लिए उत्तरदायी नहीं। अन्य कारक भी उसके लिए कुछ-न-कुछ अंशों में उत्तरदायी हैं। सभी कारकों पर विचार करके ही इस समस्या की गहनता को हृदयंगम किया जा सकता है।

निर्धनता के कारण

निर्धनता की वृद्धि के लिए आर्थिक कारक अनेक अंशों में उत्तरदायी होते हैं, परंतु उनके अतिरिक्त अन्य कारक भी होते हैं जो निर्धनता बढ़ाते हैं। जैसे, भौगोलिक कारक, वैयक्तिक कारक, सामाजिक कारक, राजनीतिक कारक, जनसंख्यात्मक कारक आदि।

गिलिन और गिलिन ने निर्धनता के निम्नलिखित ५ कारक बताए हैं—

१. व्यक्ति की अकुशलता—आनुवंशिक कमजोरियाँ, रोग-बीमारी, निराशा, अपंगता, मानस विकृति आदि।

२. विपरीत भौतिक परिस्थितियाँ—प्राकृतिक साधनों का अभाव, उनकी प्रतिकूलता आदि।

३. आर्थिक परिस्थितियाँ—पूंजी का अभाव, तकनीकी ज्ञान का अभाव, धन-संपत्ति का असमान वितरण, व्यापारिक अपकर्ष, क्रांतिकारी तकनीकी परिवर्तन आदि।

४. सामाजिक संगठन में दोष—तीव्र तकनीकी परिवर्तनों के फलस्वरूप सामाजिक संघटन में असामंजस्य, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सुविधाओं में कमी, खाने-पीने रहने और काम की दुर्व्यवस्था आदि।

५. युद्ध—युद्ध से सामाजिक स्थिति में होनेवाली उथल-पुथल, विधवाओं, अपंगों की समस्या, रहन-सहन के स्तर की गिरावट और दयनीय स्थिति आदि।

ये कारक महत्त्वपूर्ण हैं। निर्धनता पर विचार करने के लिए हम इस प्रकार उनका विभाजन कर सकते हैं—

१. भौगोलिक या प्राकृतिक कारक,

२. आर्थिक कारक,

३. सामाजिक कारक,

४. राजनीतिक कारक,

५. जनसंख्यात्मक कारक,

६. वैयक्तिक कारक,

७. अन्य कारक।

प्राकृतिक साधनों का संपन्नता और विपन्नता से घनिष्ठ संबंध है। अनुकूल साधन रहते हैं तो देश की उपज बढ़ती है, सपन्नता बढ़ती है और देश में सुख-समृद्धि रहती है। प्राकृतिक साधन अनुकूल नहीं रहते, प्रतिकूल रहते हैं तो सहज ही विपन्नता आ जाती है। जलवायु अच्छी होती है, भूमि उर्वरा होती है, सिंचाई आदि के साधन प्रचुर रहते हैं तो जनता थोड़े से श्रम से ही पर्याप्त उत्पादन करके सुखी रहती है, अन्यथा कठोर श्रम करने पर भी विपन्न रहती है। पहाड़ी, कंकरीली, पथरीली भूमि, ऊसर भूमि, मरुभूमि. हिमाच्छादित भूमि हो तो वहाँ कैसी उपज होगी ? कोयला, लोहा जैसे खनिज पदार्थ, तेल, पैट्रोल जैसे स्नेहक पदार्थ जिन देश में रहते हैं, वह सहज ही संपन्न हो जाता है। जिन देशों को ऐसे आवश्यक पदार्थों के लिए दूसरों का मुंह जोहना पड़ता है, उनकी स्थिति अच्छी नहीं रहती। प्रतिकूल जलवायु, प्रतिकूल मौसम निर्धनता की वृद्धि में बहुत योगदान करता है। भूकंप, अनावृष्टि, अति-वृष्टि, सूखा, दुर्भिक्ष, टिड्डी दल, आंधी, तूफान, बाढ़, महामारी, ज्वालामुखी का विस्फोट जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ किसी भी देश को निर्धन और विपन्न बना डालती हैं। फसलों को नष्ट करनेवाले हानिकारक कीड़े सारी उपज को चौपट कर डालते हैं। ये भौगोलिक या प्राकृतिक कारक किसी भी देश की संपन्नता और निर्धनता को प्रभावित किए बिना नहीं रहते।

भौगोलिक कारक

आर्थिक कारक

आर्थिक कारकों में निर्धनता को बढ़ाने वाले प्रमुख कारक ये माने जा सकते हैं—

१. अपर्याप्त उत्पादन—देश की आवश्यकता भर के लिए जितनी उपज आवश्यक है, उतनी उपज का न होना।

२. कृषि का पिछड़ापन—दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था; छोटे-छोटे खेत; नवीन वैज्ञानिक साधनों का समुचित उपयोग न करना; प्राचीन पद्धति से कृषि; किसानों की ऋणग्रस्तता; भाग्यवादिता और अंधविश्वास आदि पुरातन संस्कारों के चलते उत्पादन वृद्धि की ओर से उदासीनता।

३. कृषि पर निर्भरता—पर्याप्त भूमि न होने पर भी कृषि पर ही अत्य-धिक अवलंबित रहना।

४. उद्योग धंधों की उपेक्षा—ग्राम और कुटीर उद्योगों का व्यापक विकास न होना; बड़े उद्योगों का असंतुलित विकास; पूंजीवाद का दुष्चक्र।

५. आर्थिक मंदी, महंगी—व्यापारिक अपकर्ष; मंदी का चक्र; मंहगी का चक्र; अनुत्पादक संचय आदि।

६. आर्थिक विषमता—संपत्ति का असमान वितरण; एक ओर संपत्ति का अंबार, दूसरी ओर निर्धन सर्वहारा लोगों का बाहुल्य।

सामाजिक कारक

समाज में यदि विवेकहीन सामाजिक प्रथाएँ चलती हैं, अंध विश्वास और अशिक्षा का प्रावल्य रहता है अथवा ऐसी शिक्षा का प्रचलन होता है, जो मानव को श्रम निष्ठ, स्वावलंबी और सच्चरित्र बनाने में सहायता नहीं करती, सच्चाई और ईमानदारी की ओर उन्मुख नहीं करती, भोगविलासमय जीवन की ओर झुकाती है तथा नैतिक मूल्यों की उपेक्षा सिखाती है, उसका परिणाम यही होता है कि देश और राष्ट्र निर्धनता और अपव्यय की ओर बढ़ता जाता है। भारत में दहेज, बाल विवाह, पर्दा, जाति-प्रथा, छुआ-छूत, मृतक भोज, विवाह भोज, श्राद्ध आदि के चलते गरीब दिन-दिन अधिक गरीब होते चलते हैं। निर्धनता बढ़ती चलती है।

राजनीतिक कारक

कभी-कभी राजनीतिक कारक भी निर्धनता के कारण बनते हैं। भारत जब अंग्रेजी शासन के अंतर्गत था तो ब्रिटेन की आदि से अंत तक यही नीति रही कि भारत का अधिकतम शोषण और दोहन किया जाय। उसने भारत की कृषि चौपट कर दी, ग्रामीण उद्योग-धंधे नष्ट कर दिये, बड़े उद्योगों का सर्वनाश कर दिया, भारत का व्यापार-वाणिज्य समाप्त कर दिया, आयात-निर्यात, मुद्रा-बैंकिंग, सेना, नौकरी आदि सभी क्षेत्रों में ऐसी ही नीति अपनायी जिससे भारत का शोषण और दोहन हो और ब्रिटेन मालोमाल बने। राजनीतिक सत्ता का यह दुरुपयोग भारत की भंयकर निर्धनता का प्रधान कारण बन बैठा। लोकतंत्र हो या तानाशाही, समाजवाद हो या साम्यवाद, राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग निर्धनता की वृद्धि का कारण बनता ही है।

जनसंख्या का कम होना अथवा अत्यधिक होना भी निर्धनता का कारण बनता और बन सकता है। कम जनसंख्या हो पर यदि वह उपार्जन में पूरी

शक्ति न लगाये तब भी निर्धनता आ सकती है। अधिक जनसंख्या हो, अपर्याप्त उत्पादन हो, खाद्य सामग्री तथा जीवन के लिए आवश्यक अन्य वस्तुओं की पर्याप्त व्यवस्था न हो, बेकारी और अर्द्धबेकारी अधिक हो तो निर्धनता का बढ़ना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। फिर यदि जनता आलसी, अशिक्षित, मन्द बुद्धि और भाग्यवादी हो तब तो निर्धनता का पार ही नहीं रहता।

जनसंख्यात्मक कारक

जनता के निर्देशक मूल्य यदि उत्तम और नीतिपूर्ण न हों, उसके जीवन के नैतिक आदर्श पवित्र और त्यागमय न हों तो उसका भोगविलास, चारित्रिक पतन और मद्यपान, जुआ आदि दुर्व्यसनों की ओर झुकना सरल हो जाता है। व्यक्ति जब आलस्य, पतन, दुर्व्यसन, बेईमानी आदि को बुरा नहीं मानता, पैसे के लिए ईमान को बेचने में उसे लज्जा नहीं लगती तो सहज ही वह पाप-पथ पर चल पड़ता है। चारित्रिक दोष और पतन ही अनेक अपराधों का कारण बनता है। शारीरिक अशक्तता, अपंगता, मानसिक दोष और विकृतियाँ भी मानव को निर्धनता की ओर घसीट ले जाती है। आलसी और दुर्व्यसनी लोग निर्धनता को बढ़ाने में अत्यधिक सहायक होते हैं। रोग-बीमारी, हीनता की भावना, ऋणग्रस्तता आदि कारण भी उसमें जुड़कर समस्या को विषम बनाते चलते हैं।

वैयक्तिक कारक

शान, फैशन, लाटरी, अपने को वास्तविक स्थिति से ऊंची स्थिति का बताने की लालसा, नामवरी और प्रतिष्ठा का लोभ, राजनीतिक दलबन्दी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, दुर्व्यसन, दूषित कर व्यवस्था, मंहगी आदि अनेक ऐसे कारक हैं जो निर्धनता को दिन-दिन बढ़ाते हैं।

अन्य कारक

'भारत धनी देश है जहाँ के निवासी निर्धन हैं'—यह लोकोक्ति बहुत प्रचलित है। लोग चकित हैं कि इतने सम्पन्न देश में निर्धनता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। चौधरी चरण सिंह 'इंडियाज पावर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन' पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—'भारत की निर्धनता चरम सीमा पर है। वह तो अब लोकोक्ति-सी बन गयी है। हमारे करोड़ों देशवासियों को भोजन, वस्त्र और आवास की परम आरम्भिक सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। एक औसत भारतीय और एक औसत युरोपीय (रूसी को छोड़कर) के बीच जीवन स्तर में

भारत में निर्धनता

१ और १२ का अनुपात है। सारे विश्व की दृष्टि से देखें तो सबका औसत भारत से तिगुना है। समय ज्यों-ज्यों बीतता है त्यों-त्यों यह अंतर बढ़ता चलता है। दो दशक पूर्व ऐसा माना जाता था कि भारत की निर्धनता के लिए ब्रिटिश शासन ही उत्तरदायी है। नेता भी इसी विचार से विदेशी शासन उखाड़ फेंकने को कृतसंकल्प थे। सोचते थे कि ब्रिटिश शासन को हटाते ही देश में पहले की भाँति ही दूध की नदियाँ बहने लगेंगी। परंतु वस्तुस्थिति कुछ और निकली। अब तो ऐसा लगता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना सरल था, अभाव, भूख, अज्ञान और रोग से छुटकारा पाना, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना उससे कहीं अधिक कठिन है। ....'

निर्धनता की कहानी

एक युग वह था जब भारत विश्व के समृद्धतम देशों में था। उसे 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था। विदेशी आक्रमणकारी मध्यकाल में कभी-कभी यहाँ आकर लूट-पाट कर चले जाते थे। पर भारतीयों की सुख-समृद्धि में कोई बाधा नहीं आयी थी। कृषि और उद्योग, व्यापार और वाणिज्य, कला और कौशल—सभी दिशाओं में भारत उन्नति के शिखर पर था। राजनीतिक उलट-फेर भी इस स्थिति को बिगाड़ नहीं सके। पर सत्तरहवीं शताब्दी में जब भारत के बाजार पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए ईष्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में आये हुए गोरे धीरे-धीरे भारत का साम्राज्य हथियाने को उत्सुक हो उठे तब से भारत के आर्थिक जीवन को राहु लग गया।

फूट की बेल—अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। भारत की तत्कालीन स्थिति में उनकी फूट की बेल खूब ही फली फूली। छल और बल, तलवार और धूर्तता, प्रवंचना और विश्वासघात—सब का आश्रय लेकर उन्होंने क्रमशः सारे भारत पर कब्जा कर लिया। न मराठे और हैदर-अली ही उनके आगे टिक सके, न टीपू सुलतान। फ्रांसीसी भी उनकी चालों से मात खाकर चुप बैठे रहे। सन् १८५६ तक भारत के अधिकांश भू-भाग पर यूनियन जैक फहराने लगा।

सत्तावन का विद्रोह—अंग्रेजी शासन के पैर फैलाते ही १८५७ का विद्रोह हो गया। फीरोजशाह, तातिया टोपे, महारानी लक्ष्मीबाई आदि के नेतृत्व में भारतीय जनता ने जो विद्रोह किया, उससे अंग्रेजी साम्राज्य की नींव थर-थरा उठी। अंग्रेजी राज्य उखड़ते-उखड़ते बचा। उसके बाद ही अंग्रेजों ने निरपराध स्त्री-बच्चों, जवानों और बूढ़ों को जिस बुरी तरह गोलियों से भूना

उसके प्रमाण पार्लमेण्ट के कागजों तक में दर्ज हैं। गोरों ने अपनी करतूतों से दिखा दिया कि वर्बरता में वे न तैमूरलंग से पीछे हैं, न नादिरशाह से।[१]

अंग्रेजों को भारत क्या मिला, सोने की चिड़िया ही हाथ लग गयी। उन्होंने भारत की कृषि नष्ट कर दी, उद्योग-धंधे चौपट कर दिये, व्यापार समाप्त कर दिया। भारत का खजाना, भारत का सोना, भारत के हीरे जवाहरात जहाजों में लद-लद-कर इंग्लैंड पहुंच गये और इस लूट के फल-स्वरूप कंपनी के भूखों मरने वाले दो कौड़ी के गुमास्ते लखपती, करोड़पती बनकर 'साम्राज्य निर्माता' का विल्ला लगाकर इंगलैंड पहुंचे, जहां उनका शानदार स्वागत किया गया, उनकी मूर्तियां खड़ी की गयीं और इतिहास की पोथियों में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा गया।

हर्बर्ट स्पेंसर ने लिखा है : 'कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भी यह बात स्वीकार की है कि भारत के आंतरिक व्यापार में जो अकूत धन कमाया गया है, वह सब ऐसे घृणित अन्यायों और अत्याचारों द्वारा प्राप्त किया गया है, जिनसे बढ़ कर अन्याय और अत्याचार कभी किसी ने सुने भी न होंगे'।[२]

शोषण का चक्र—व्यापार के क्षेत्र में ईस्ट इण्डिया कंपनी का एकाधिकार था ही, शासनाधिकार मिल जाने से उसे दोहरा सुविधा हो गयी। एक ओर उद्योगों का नाश किया गया, दूसरी ओर व्यापार पर पूरा नियंत्रण कर लिया गया। सारी व्यापारिक नीति का संचालन इस दृष्टि से किया गया कि इंग्लैंड के उद्योगों का विकास करना है। जकात और चुंगी, दर और महसूल, भाड़ा और किराया, सभी बातों में यही लक्ष्य अपने सम्मुख रखा गया।[३]

अंग्रेजों ने भारत का सर्वोत्कृष्ट वस्त्र उद्योग चौपट कर दिया।[४] अन्य उद्योग भी बुरी तरह नष्ट कर दिये। कृषि का नाश कर दिया। कृषक का ऋण भार १८९५ में जहां ४५ करोड़ था, वहां १९११ में ३०० करोड़ और १९३७ में १८०० करोड़ हो गया। १८९१ में जहां ६१·१ प्रतिशत लोग कृषि पर निर्भर थे, १९११ में ६६.५ प्रतिशत और १९४१ में ७४ प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर निर्भर हो गये।[५]

---

१. श्री कृष्ण दत्त भट्ट : भारत वर्ष का आर्थिक इतिहास, पृष्ठ २०१—२१३
२. हर्बर्ट स्पेंसर : सोशल स्टेटिसटिक्स, पृष्ठ ३६७
३. एन० जे० शाह : हिस्ट्री आफ इंडियन टैरिफ्स, अध्याय ४।
४. रामचन्द्र राव : डिके आफ इण्डियन इंडस्ट्रीज, पृष्ठ ६८
५. कन्हैयालाल मुंशी : दि रिडन दैट ब्रिटेन रॉट, पृष्ठ ४५—४६, ६१

भारत की लूट का धन ब्रिटिश बैंकों में जमा होने लगा। डिगबी कहता है कि प्लासी और वाटरलू के युद्धों के बीच भारत से १ अरब पौंड की रकम ब्रिटिश बैंकों में पहुंच गयी।[1] सत्ता हाथ में लेकर ब्रिटिश सरकार ने सार्वजनिक ऋण के नाम पर युद्धों का सारा व्यय भारत के मत्थे मढ़ दिया। होते-होते सन् १९२१ तक यह रकम १८०५ करोड़ से ऊपर हो गयी। कभी विनिमय के बहाने, कभी आयात-निर्यात के बहाने, कभी पौण्ड पावने के बहाने भारत के शोषण का चक्र पूरी गति से चलता रहा। ब्रिटिश काल का सारा आर्थिक इतिहास लूट, शोषण और अन्याय अत्याचार का ही भयंकर इतिहास है। इस शोषण का स्वाभाविक परिणाम था— भारत की निर्धनता और दरिद्रता।

दुर्भिक्षों का तांता : भारत की निर्धनता उत्तरोत्तर इतनी बढ़ती गयी कि देश में दुर्भिक्षों का तांता लग गया। सन् १८०० से १८२५ तक ५ दुर्भिक्षों में १० लाख; १८२५ से १८५० तक २ दुर्भिक्षों में ४ लाख; १८५० से १८७५ तक ६ दुर्भिक्षों में ५० लाख; १८७५ से १९०० तक १८दुर्भिक्षों में २६० लाख व्यक्ति मृत्यु के घाट उतरे, सन् १९४३ के बंगाल के दुर्भिक्ष ने तो इस भयंकरता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया, सरकारी दुर्भिक्ष कमीशन के हिसाब से उसमें १५ लाख और कलकत्ता विश्व-विद्यालय की रिपोर्ट के हिसाब से ३५ लाख व्यक्ति कीड़े-मकोड़ों की भाँति तड़प-तड़प कर मरे।[2]

अंग्रेजों की गवाही : भारत की निर्धनता जो देखता, आश्चर्यचकित और दुःखी होकर रह जाता। स्वयं अनेक प्रतिष्ठित अंग्रेजों ने इसपर तीव्र वेदना प्रकट की। इंगलैंड के प्रधान मंत्री जे० रेमजे मेकडानेल्ड कहते हैं—'भारत गरीबों का देश है। जिधर देखिये अस्थिकंकाल ही दीखते हैं। भारत की निर्धनता केवल कहने की वस्तु नहीं, वह एक वास्तविकता है।'[3] डाक्टर जोसिवा ओल्डफील्ड 'डेलीन्यूज' में आँखों देखा वर्णन लिखता है--"मैंने ब्रिटिश गांवों की दरिद्रता और लंदन के गंदी बस्तियों के निवासियों की दयनीय स्थिति देखी है, परंतु उनकी निर्धनता भारत के वीर, ईमानदार, परिश्रमी और मितव्ययी गरीबों की तुलना में कुछ भी नहीं है जो हफ्तों श्रम करने पर कठिनाई से बाजरा या ज्वार की मोटी रोटी और थोड़ा-सा मठ्ठा पाते हैं।'[4]

१. विलियम डिगबी : प्रासपरस ब्रिटिश इंडिया, पृष्ठ ३३
२. श्री कृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५०३-५०४
३. जे० आर० मेकडानेल्ड : दि अवेकनिंग ऑफ इंडिया, पृष्ठ १४०, १५६
४. विलियम डिगबी : दि रिडनिंग ऑफ इंडिया, पृष्ठ १५६

लंदन मिशनरी सोसाइटी का पादरी जे० नोवेल्स लिखता है—'मैंने स्वयं जाँच करके देखा है कि एक स्थान पर ३०० भारतीयों की औसत आय प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन एक पेंस से भी कम थी। वे जीते नहीं, किसी तरह सांस लेते हैं।'[१]

डाक्टर वी० एच० रदरफोर्ड ('माडर्न इंडिया' में), स्थान-स्थान पर भारत की निर्धनता का उल्लेख करता है। कहता है—'भारत के ग्रामवासियों की दयनीय स्थिति देख-देखकर मुझे घोर आश्चर्य और दुःख होता है। कारण मैं स्वयं अंग्रेज हूँ, मैं भी उनकी भौतिक दुरवस्था के लिए, तिल-तिलकर मौत के घाट उतरने की स्थिति के लिए जिम्मेदार हूँ, साथ ही मैं उस ब्रिटिश सरकार के लिए भी उत्तरदायी हूँ जो सिंचाई की अधिक योजनाएँ न बना कर और लगान का भार कम न करके दुर्भिक्षों को रोकने में असमर्थ रही।'[२]

हृदयवेधी आंकड़े

भारत की निर्धनता के संबंध में अर्थशास्त्रियों और विचारकों ने समय-समय पर जो अनुमान निकाले हैं, वे हृदयवेधी हैं—

सन्	विचारक	वार्षिक आय प्रति व्यक्ति रु०	पै०	
१८६७-७०	दादा भाई नौरोजी	२०		वार्षिक आय
१८८२	क्रोमर और बारबोर	२७		,, ,,
१८९८-९९	विलियम डिगबी	१७	५०	,, ,,
१९००	लार्ड कर्जन	३०		,, ,,
१९१३-१४	वाडिया और जोशी	४४	५०	,, ,,
१९२१	के० टी० शाह	६७		,, ,,
१९३१-३२	व्ही० के० आर० वी० राव	६२		,, ,,

कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी का कहना है कि कीमतों के हेरफेर को ध्यान में रखा जाय तो १९३१-३२ की प्रत्येक भारतवासी की ६२ रु० आय मुश्किल से १९ रु० ३७ पैसा ठहरती है,[३] जब कि अन्य देशों की प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार थी[४]—

अमरीका	१४०६ रु०	जर्मनी	६०३ रु०
ब्रिटेन	९८० रु०	जापान	२१८ रु०

१. विलियम डिगबी : प्राइपरस ब्रिटिश इंडिया, पृष्ठ १०६
२. रदरफोर्ड : माडर्न इंडिया, पृष्ठ १०६
३. कन्हैया लाल मुंशी : दि रिडन दैट ब्रिटेन रॉट, पृष्ठ ३६-३८
४. भारत की आर्थिक उन्नति की योजना, पृष्ठ २७

१९३८ के अपने बजट भाषण में सर जेम्स ग्रिग ने प्रत्येक भारतवासी की औसत वार्षिक आय ५६ रु० ही कूती थी।

सन् १९४५-४६ में प्रत्येक भारतवासी की औसत वार्षिक आय २०४ रु० और १९४६-४७ में २२८ रु० कूती गयी थी।[१] इसी सरकारी प्रकाशन के अनुसार अन्य देशों की स्थिति इस प्रकार थी—

	१९४५-४७			१९४८		
आस्ट्रेलिया	१,८६५ रु०	प्रति व्यक्ति	आय	२,६६७ रु०	प्रति व्यक्ति	आय
बेलजियम	१,७२२ रु०	,,	,,	२,१५२ रु०	,,	,,
कनाडा	२,४२९ रु०	,,	,,	३,२२५ रु०	,,	,,
लंका	२७५ रु०	,,	,,	३२० रु०	,,	,,
डेनमार्क	२,०४२ रु०	,,	,,	२,५९७ रु०	,,	,,
फ्रांस	१,७२१ रु०	,,	,,	२,१९४ रु०	,,	,,
न्यूजीलैंड	२,२१९ रु०	,,	,,	२,६२८ रु०	,,	,,
स्विट्जरलैंड	२,३५३ रु०	,,	,,	२,९२७ रु०	,,	,,
इंगलैंड	२,२६५ रु०	,,	,,	२,५७७ रु०	,,	,,
अमरीका	४,३४८ रु०	,,	,,	५,११९ रु०	,,	,,
भारत	२०४ रु०	प्रति व्यक्ति	आय	२२८ रु०	प्रति व्यक्ति	आय

भारत के स्वतंत्र होने के उपरांत प्रति व्यक्ति आय में पहले से कुछ वृद्धि हुई है। सरकारी आंकडे इस प्रकार हैं[२]—

वर्ष	चालू मूल्यों के आधार पर	१९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर
१९४८-४९	२४९ ६ रु०	२४९·६ रु०
१९५०-५१	२६६·५ रु०	२६७·५ रु०
१९५५-५६	२५५ ० रु०	२६७·८ रु०
१९६०-६१	३२६·० रु०	२९३·३ रु०
१९६५-६६	४२३·९ रु०	३०१·४ रु०
१९६७-६८	५४१·८ रु०	३२४·४ रु०

महालनवीस कमेटी : योजना आयोग ने प्रोफेसर पी० सी० महालनवीस की अध्यक्षता में १३ अक्टूबर १९६० को एक कमेटी नियुक्त की थी जो देश की राष्ट्रीय आय और संपत्ति आदि के संबंध में रिपोर्ट दे। इस कमेटी में प्रोफेसर वी० के० आर० वी० राव, पी० एस० लोकनाथन, बी० एन० गांगुली, डी०

१. इंडिया इन वर्ल्ड इकोनामी, भारत सरकार का प्रकाशन, पृष्ठ ३५, ३६
२. केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन,

एल० मजूमदार, बी० के० मदन, बी० एन० दातार, विष्णुसहाय जैसे लोग सदस्य थे। इस कमेटी ने २५ फरवरी १९६४ को अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री के पास भेजी।

महालनवीस कमेटी की इस रिपोर्ट से देश की आर्थिक और सांपत्तिक स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। कमेटी के अनुसार १९५३-५४ से १९५६-'५७ तक देश में कोई ८ करोड़ परिवार थे जिनमें ६ करोड़ ४० लाख ६५ हजार परिवार देहात में रहते थे और १ करोड़ ६८ लाख ५१ हजार परिवार नगरों में। इस परिवारों की आय इस प्रकार कूती गई[1]—

देहाती क्षेत्र	परिवार (हजारों में)	प्रतिशत	आय प्रति परिवार	
कम आयवाला समूह	६,२१,२६	९७·००	१,०४४ रु०	औसत
ऊँची आयवाला समूह	१९,३९	३·००	४,५६४ रु०	"
	६,४०,६५	१००·००	११५० रु०	"
नगरी क्षेत्र				
कम आयवाला समूह	१,४९,४९	८८·७	१,२१२ रु०	
ऊँची आयवाला समूह	१९,०३	११·३	५,९८५ रु०	
	१,६८,५२	१००·००	१,७५१ रु०	
कृषि क्षेत्र—				
कम आयवाला समूह	५,२४,८१	९७·००	८०७ रु०	
ऊँची आयवाला समूह	१६,३४	३·००	३,४७० रु०	
	५,४१,१५	१००·००	८८७ रु०	
गैर-कृषि क्षेत्र—				
कम आयवाला समूह	२,४५,९३	९१.८	१,६५१ रु०	
ऊँची आयवाला समूह	२२,०८	८·२	६,५९९ रु०	
	२,६८,०१	१००·००	२,०५९ रु०	

१. रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ओन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवेल्स ऑफ लिविंग, भाग १, १९६४, योजना आयोग, भारत सरकार, पृष्ठ ६८-६९

इस रिपोर्ट से पता चलता है कि ८ करोड़ में से ७ करोड़ ७० लाख अर्थात् ९५·३ प्रतिशत परिवारों की आय केवल १,०७६ रु० है। केवल ३८ लाख परिवारों की अर्थात् ४·७ प्रतिशत परिवारों की आय ५,२६८ रु० है। देहात में रहने वाले ९७ प्रतिशत परिवारों की आय १०४४ रु० है। कृषिक्षेत्र में ९७ प्रतिशत परिवारों की आय केवल ८०७ रु० वार्षिक है।

आय के आंकड़े

महालनवीस कमेटी की उक्त रिपोर्ट में (पृष्ठ ६६ पर) एन० एस० अयंगार और एम० मुखर्जी के जून १९६१ में द्वितीय इकोनोमैट्रिक सम्मेलन के समक्ष उपस्थित टिप्पणी भी प्रकाशित किया गया है। उसके अनुसार वार्षिक आय इस प्रकार बतायी गयी है—

परिवारों की व्यक्तिगत वार्षिक आय की सारणी

वार्षिक आय	१९५२-५३ परिवार प्रतिशत	१९५२-५३ आय प्रतिशत	१९५३-५४ परिवार प्रतिशत	१९५३-५४ आय प्रतिशत	१९५६-५७ परिवार प्रतिशत	१९५६-५७ आय प्रतिशत
१. ५०० रु० तक	८·२	२·६	८·६	३·५	९·३	३·८
२. ५०० रु० से १०००रु०	३१·४	१६·९	३१·९	१८·५	३८·०	२३·६
३. १०००रु० से १५००रु०	२७·६	२५·२	३०·७	२८·०	३०·०	२८·९
४. १५००रु० से २०००रु०	१३·९	१७ ८	१५·०	२१·५	१३·६	१९ ७
५. २०००रु० से २५००रु०	१२·२	१८·५	७·२	११·७	४·१	६ ९
६. २५००रु० और ऊपर	६·७	१९·०	६·८	१६·८	५·०	१७·१
	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०

इस सारणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में बहुसंख्यक परिवारों की वार्षिक आय ५०० रु० से १५०० रु० के भीतर है। ८ या ९ प्रतिशत परिवारों की आय तो ५०० रु० वार्षिक से भी कम है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के उन्नीसवें दौर में १९६४-६५ में प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय इस प्रकार बताया गया है—

ग्रामीण क्षेत्र	३२२ रु० वार्षिक
नगरी क्षेत्र	४३८ रु० वार्षिक
बड़े शहर	७१० रु० वार्षिक

जुलाई १९६४ से जून १९६५ के मासिक उपभोक्ता व्यय का अनुमान इस प्रकार था—

	ग्रामीण क्षेत्र	नगरी क्षेत्र	बड़े शहर
सभी खाद्य पदार्थ	१९ रु० २९ पैं०	२२ रु० ६८ पैं०	३२ रु० ३५ पैं०
अन्य पदार्थ	७ रु० १५ पैं०	१३ रु० ३५ पैं०	२५ रु० ९९ पैं०
	२६ रु० ४४ पैं०	३६ रु० ०३ पैं०	५८ रु० ३४ पैं०

भारतीय व्यापार मंडल--'फेरेडशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स' ने कुछ वर्ष पूर्व एक सर्वेक्षण कराया था। उसने निर्धनता की न्यूनतम व्यय रेखा मानी थी ग्रामीण क्षेत्र में २७ रु० मासिक व्यय और

निर्धनता की न्यूनतम रेखा नगरी क्षेत्र में ४० रु० ५ पैं० मासिक व्यय। आंकड़े जुटाने पर पता लगा कि भारत की ४१ प्रतिशत जनता इतना न्यूनतम व्यय करने में भी समर्थ नहीं है। उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और बिहार में आधी से अधिक जनता का स्तर इस न्यूनतम रेखा से भी नीचे का निकला। तीन-तीन मास में बढ़ती जानेवाली मंहगी के फलस्वरूप यह अनुपात और भी बढ़ता चल रहा है।

बी० एम० दाण्डेकर और नीलकण्ठ रथ ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी इन इंडिया' में १९६०-६१ के आंकड़ों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्येक ग्रामीण का औसत वार्षिक व्यय २६१'२ रुपया आता है। परंतु ६३'२६ प्रतिशत लोग इस सीमा से नीचे हैं। नगरी क्षेत्र का प्रति व्यक्ति व्यय ३५९ २ रु० आता है। वहाँ भी ६४ ५१ प्रतिशत लोग इस सीमा से नीचे हैं।

जून १९७० में तत्कालीन योजनामंत्री श्री सुब्रह्मण्यम ने अपने एक वक्तव्य में यह तथ्य स्वीकार किया था कि ३४ प्रतिगत लोग १५ रु० मासिक (प्रतिदिन ५० नये पैसे) से भी कम व्यय कर पाते हैं। औसत व्यय १० रु० मासिक या उससे भी कम है।

भारत के रिजर्व बैंक ने १९७० में एक सर्वेक्षण का निष्कर्ष प्रकाशित किया था जिसमें बताया था कि सन् १९६७-६८ में ७० प्रतिशत ग्रामीण जनता—लगभग २९ करोड़ जनता न्यूनतम सीमा रेखा से भी नीचे है।

भारत की निर्धनता के ये हृदयवेधी आंकड़े अपनी दुरवस्था की कहानी आप ही कहते हैं।

निर्धनता का क्षेत्र

भारत में निर्धनता का क्षेत्र देशव्यापी है। किसी राज्य में कुछ कम और किसी राज्य में कुछ अधिक भले हो, पर देश के सभी राज्य निर्धनता से ग्रस्त हैं। नगरों की अपेक्षा देहातों की स्थिति तो और अधिक दयनीय है। खेतिहर मजदूरों का हाल तो सबसे गया बीता है। १९५६-५७ के इन आंकड़ों से उसका अनुमान किया जा सकता है—

प्रतिशत खेतिहर मजदूरों का प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोक्ता व्यय

रुपयों में	उत्तर भारत	पूर्व भारत	दक्षिण भारत	पश्चिमी भारत	मध्य भारत	उत्तर पश्चिम भारत	समग्र भारत
१०० रु० तक	२७·७७	२२·६४	२९·९६	२३·७८	३३·१३	११·१२	२५·८८
१०१ से १५० रु०	३३·९२	२८·९२	२९·४१	३४·०७	३५·५२	२५·००	३१·०५
१५१ से २०० रु०	१९·२५	२१·६९	२०·२३	१९·१९	१५·३४	२२·५३	१९·९६
२०० से ऊपर	१९·०६	२६·७५	२०·४०	२२·९६	१६·०१	४१·३५	२३·११
	१००·००	१००·००	१००·००	१००·००	१००·००	१००·००	१००·००

भारत के किसी भी क्षेत्र पर दृष्टि डालते ही यहाँ की निर्धनता मुखरित हो उठती है। देहातों में तो वह स्पष्ट दीखती है, नगरों और शहरों की चका-चौंध के बीच गंदी बस्तियों के रूप में वह अपना दर्शन देती है। ५५ लाख से अधिक भिक्षुकों के रूप में वह मूर्तिमती जान पड़ती है। न खाने को अन्न है, न पहनने को वस्त्र, न रहने को आवास। भूखे, नंगे, अस्थिचर्मावशिष्ट भारतीय कंकाल देश के सभी भागों में विचरण करते दृष्टिगोचर होते हैं।

निर्धनता का प्रभाव खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन, सामुदायिक विघटन, अपराधों की

निर्धनता का प्रभाव

वृद्धि, बाल और किशोर अपराधों का बाहुल्य, वेश्यावृत्ति, दुर्व्यसनों की वृद्धि, भिक्षावृत्ति, ऋण-ग्रस्तता, हीनभावना, आत्महत्या आदि की घटनाएँ हमारी आँखों के आगे हैं। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् ?'

भारतीयों का गिरा हुआ जीवनसार, गिरा स्वास्थ्य, अपौष्टिक भोजन, अत्यन्त सीमित आय आदि—सभी बातें निर्धनता का प्रभाव दिखा रही हैं।

भारत की निर्धनता के कारण

निर्धनता के कारकों का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। विश्व के विभिन्न अंचलों में निर्धनता के ये कारक निर्धनता के कारण बन रहे हैं। भारत पर भी उनका प्रभाव है। यों भारत की स्थिति विशेष है। उसकी निर्धनता के कारण संक्षेप में इस प्रकार माने जा सकते हैं—

भौगोलिक या प्राकृतिक कारक

१. विस्तृत देश में नाना प्रकार की भूमि, जलवायु, वर्षा-अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आंधी, तूफान, सूखा आदि का समय-समय पर प्रकोप।

आर्थिक कारक

२. कृषि का पिछड़ापन, किसानों का अज्ञान, प्राचीन पद्धति से खेती, खेती के साधनों का अभाव, ऋणग्रस्तता आदि।

३. सिंचाई के साधनों का अभाव।

४. भूमि की दोषपूर्ण व्यवस्था। जमींदारी उन्मूलन के उपरांत भी जमीन का जोतनेवाले के हाथ में न होना।

५. छोटे-छोटे खेत। दूर-दूर पर छितरे खेत। कृषि पर निर्भर रहने-वालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि। खेती के लिए मुकदमेबाजी।

६. अपर्याप्त उत्पादन। बहुचर्चित हरित क्रांति के बावजूद खाद्यानों में स्वावलंबन का अभाव।

७. उद्योग धंधों की कमी।

८. बेकारी और अर्द्धबेकारी।

९. किसानों के लिए पूंजी और बैंकिंग की सुविधाओं की कमी। आवा-गमन, यातायात के साधनों की कमी।

१०. खेतिहर मजदूरों और अन्य मजदूरों की निम्न कार्य क्षमता।

११. संपत्ति का असमान वितरण। आर्थिक असमानता।

१२. व्यापारिक अपकर्ष रोकने के साधनों की कमी।

१३. पोषणहीन असंतुलित भोजन। गिरा हुआ स्वास्थ्य।

सामाजिक कारक

१४. सामाजिक कुरीतियाँ। दहेज, बाल विवाह, पर्दा, भोज, विवाह आदि में आडंबर और अपव्यय की अनेक प्रथाएँ, जाति प्रथा, छूआ-छूत आदि के कारण धन, शक्ति, स्वास्थ्य आदि का अपव्यय। सामाजिक असमानता।

१५. अशिक्षा, अज्ञान, कुशिक्षा।

१६. संयुक्त परिवार के गुणों का विकास न कर दोषों का विस्तार।

१७. स्वस्थ मनोरंजन का अभाव।

१८. फैशन, विलासपरायण जीवन की ओर झुकाव।

राजनीतिक कारक

१९. दलबंदी, गुटबंदी. जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद आदि को प्रोत्साहन।

२०. राजनीतिक भ्रष्टाचार।

जनसंख्यात्मक कारक

२१. जनवृद्धि

वैयक्तिक कारक

२२. आलस्य और

२३. भाग्यवाद पर विश्वास।

ऐसे अनेक कारक भारत की निर्धनता के लिए उत्तरदायी हैं। ब्रिटिश सरकार ने अपना शोपण और दोहन की जिस नीति का देश में विस्तार किया था, उसके कारण देश का आर्थिक विनाश तो हुआ ही, सामाजिक, नैतिक और चारित्रिक विनाश भी हुआ। स्वराज्य को २५ वर्ष हो गये, फिर भी देश अभी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका। देश को इतना खोखला बना दिया गया कि अभी उसे उन्नत और सशक्त होने में समय लगेगा।

निर्धनता निवारण के उपाय

निर्धनता निवारण के लिए उन सभी कारकों की ओर ध्यान देना पड़ेगा जो निर्धनता वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं। उन्हें मिटाने का यथासाध्य प्रयत्न करना होगा।

भौगोलिक या प्राकृतिक कारकों को दूर करना तो कठिन है, फिर भी जो उपाय भूमि सुधार, वर्षा और बाढ़ आदि को नियंत्रित करने के लिए किये जा सकते हैं, वे किये जाने चाहिए।

आर्थिक उपाय

आर्थिक कारक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दो वस्तुएँ सबसे मुख्य हैं—कृषि और उद्योग। कृषि का अधिकतम विकास और उद्योगों का अधिकतम विकास ही वह आधारशिला है जिसके बल पर राष्ट्र को उन्नत और संपन्न बनाया जा सकता है।

जिस देश की ८० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है, उसकी संपन्नता के लिए कृषि की ओर भरपूर ध्यान देना प्रथम आवश्यकता है। कृषि के विकास के लिए इन बातों की ओर मुख्य रूप से ध्यान देना होगा।

१. **जमीन जोतनेवाले को :** स्वराज्य के उपरांत जमींदारी, जागीरदारी, तालुकदारी आदि बुराइयाँ कानूनन समाप्त कर दी गई हैं, मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया गया है. पर वस्तुस्थिति यह है कि बहुत कम अंशों में जमीन जोतनेवाले को उपलब्ध हो सकी है। कहीं कानूनों में ऐसी त्रुटियाँ रह गई हैं, जिनके कारण ऐसा संभव नहीं हो सका। कहीं साधन संपन्न भूतपूर्व जमीदारों ने डण्डों और गुण्डों के बल पर जमीन अपने आधिपत्य में बना रखी है। बेचारा काश्तकार धन से भी हीन है, शक्ति से भी और कानूनी दाँवपेचों से भी। अतः वह अपने वैध अधिकारों से भी वंचित है।

भूमि पर स्वामित्व प्राप्त करने से कृषक के मानसिक भावों में जो उत्साह और प्रेरणा आती है, उसे कौन नहीं स्वीकार करता? उसके व्यक्तित्व के निखार के लिए, उसकी प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि के लिए, उत्पादन में पूरी शक्ति लगाने के लिए इस बात की पहली आवश्यकता है कि भूमि पर जोतने वाले का स्वत्व हो। उसकी पूरी उपज जब उसी के घर में आने को होती है, उसे कोई जब चाहे बेदखल नहीं कर सकता और समाज में भूमिस्वामी के रूप में उसका आदर होता है तो स्वतः ही उसे कृषि उत्पादन बढ़ाने का उत्साह होता है। वह फिर न दिन देखता है, न रात, न गर्मी देखता है न सर्दी, न जाड़ा देखता है न बरसात, आवश्यक क्षण में वह अपने खेत पर ही दिखाई पड़ता है। उसके बाल-बच्चे भी अपनी शक्ति भर कृषि उत्पादन में योगदान करते हैं। कृषि की उपज बढ़ाने के लिए कृषक का भूस्वामित्व परम आवश्यक है। इसके लिए उपयुक्त कानूनों की व्यवस्था तो होनी ही चाहिए,

कृषकों को उनकी जानकारी भी होनी चाहिए, साथ ही उन कानूनों के कार्यान्वयन की सरल और अचूक व्यवस्था भी होनी चाहिए।

२ **श्रम शक्ति का सदुपयोग** : अमरीका हो या कनाडा, आस्ट्रेलिया हो या न्यूजीलैंड, जहाँ श्रम शक्ति का अभाव है और भूमि की मात्रा पर्याप्त है, वहाँ की स्थिति की तुलना भारत से करने का कोई अर्थ नहीं है। भारत में तो भूमि सीमित है, उसका विस्तार कठिन है और श्रम शक्ति का अत्यधिक बाहुल्य है। यहाँ तो इसी बात की आवश्यकता है कि भूमि पर श्रम-शक्ति का अधिक सदुपयोग हो। यहाँ ट्रैक्टरों और बड़े पैमाने पर कृषि की बात न सोच कर छोटे-छोटे खेतों से अधिकतम उपज लेने की बात सोचनी चाहिए। उत्तम हल-बैलों से- उत्पादन यथाशक्ति बढ़ाने के प्रयत्न करने चाहिए। गहरी खेती और ऋषि खेती उसका अच्छा उपाय है।

थोड़ी भूमि में यदि अच्छे ढग से खेती की जाय तो अधिक उपज हो सकती है, इसके एक नहीं, अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सूरत के निकट रांदेड में भूदान कार्यकर्त्ता श्रीकांत आपटे ने चौथाई एकड़ भूमि में अपनी आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त वर्ष में ४०० रुपये का लाभ करके दिखाया। बिना किसी बैल के, बिना किसी विशेष साधन के। दो बकरियों की लैंडी उनकी खाद थी, ढाई मील दूर से कंधे पर पानी लाकर खेत की सिंचाई करते थे। ऋषि खेती द्वारा उन्होंने 3 फुट लंबी गाजर और ५-५ पौंड की मूलियाँ उगायीं और १॥, १॥। मन कपास।[१]

चौधरी चरण सिंह कहते हैं कि आपटे का यह उदाहरण चरम सीमा का उदाहरण भले कह लिया जाय, पर इससे इतना तो स्पष्ट है कि मशीनों और कृत्रिम रासायनिक खाद के बिना भी श्रम द्वारा अच्छी उपज की जा सकती है।[२]

३ **कृषि के जिए पूँजी की व्यवस्था** : 'भारतीय कृषक ऋण में ही जन्म लेता है, ऋण में पलता है और मरते समय भी ऋण ही छोड़ जाता है।' यह लोकोक्ति अत्यंत सारगर्भित है। पेट भरने के लिए पर्याप्त उपज होती नहीं, कृषि के लिए आवश्यक पूँजी कहाँ से आये ? फिर विवाह-शादी, मृतकभोज, दहेज, गहना, अन्य संस्कार—सभी खोपड़ी पर सवार हैं। जाति-बिरादरी में नक्कू बनने से बचने के लिए वह ऐसी रूढ़ियों के समक्ष नतमस्तक

---

१. हिन्दुस्तान टाइम्स, नयी दिल्ली, २९ जनवरी १९५७।

२. चरण सिंह : इंडियाज पावर्टी एण्ड इट्स सोल्यूसन, १९६४, पृष्ठ ६४

हो जाता है। फलतः उसका ऋणभार उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है। उससे छुटकारे का उसके पास कोई साधन नहीं। कृषि के लिए बीज, खाद, औजार, बैल, गोड़ाई, निराई, कटाई, मजदूरी आदि के अनेक व्यय आये दिन लगे ही रहते हैं। महाजन और साहूकार उसका शोषण और दोहन करने में कोई बात उठा नहीं रखते। पूरी उपज कौन कहे, आधी पद्धी उपज भी उसके घर नहीं आ पाती। ब्याज, चक्रवृद्धि ब्याज सुरसा के मुख की भाँति योजनों तक फैलता जाता है।

किसान को इस दुश्चक्र से मुक्त किये बिना कृषि का विकास होनेवाला नहीं और निर्धनता कम होनेवाली नहीं। उसको उत्पादन के लिए आवश्यक पूँजी—बीज, खाद, औजार, हल बैल आदि की ठीक समय पर उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए। उसकी फसल का उसे पूरा दाम मिले, इसके लिए भी भरपूर प्रबंध होना चाहिए। इसके लिए गाँव-गाँव में सेवा (साधन) सहकारी समितियों का जाल बिछा देना आवश्यक है जिससे किसान कृषि साधनों का पूरा लाभ उठा सकें और अपनी उपज का पूरा दाम पा सकें। पैदावार का अधिकांश मूल्य पेशगी मिलने की, गोदाम में खाद्यान्न आदि सुरक्षित रखने की और ठीक समय पर माल के विक्रय की समुचित व्यवस्था रहनी चाहिए। आवागमन और यातायात के उपयुक्त साधनों का भी विस्तार आवश्यक है।

४. **सिंचाई का विस्तार :** भारत में वर्षा अनिश्चित रहती है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि का प्रकोप हो जाता है। इससे रक्षा के लिए देश में सिंचाई की व्यवस्था का विस्तार आवश्यक है। केवल बड़े-बड़े बाँधों से ही काम नहीं चलेगा, लघु सिंचाई योजनाओं का ग्राम-ग्राम में विस्तार आवश्यक है। स्वतंत्र भारत मे इस ओर कुछ ध्यान दिया गया है, पंचवर्षीय योजनाओं में इस ओर दृष्टि रही है, फिर भी अभी सिंचाई की व्यवस्था बहुत कम है। उसका विस्तार तो आवश्यक है ही, सिंचाई विभाग में पनपते भ्रष्टाचार को रोकने की भी आवश्यकता है जिससे किसान ठीक समय पर अपने खेतों में पानी पहुँचा सकें।

५. **ग्राम और कुटीर उद्योग :** भारत में बेकारी और अर्द्धबेकारी का जो प्राबल्य है, उसका एकमात्र सफल उपचार है—ग्रामोद्योगों, कुटीरोद्योगों का अधिकतम विकास। गाँधी ने पचास साल पहले चरखे की जो रट लगायी थी, वह अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण रट थी। 'कातो चरखा मिले स्वराज्य'—की उनकी माँग बेकारी-निवारण, गरीबी-निवारण की परम महत्त्वपूर्ण माँग थी। वे कहते

थे : 'भारत के करोड़ों लोगों की बीमारी यह नहीं है कि उनके पास पैसा नहीं है, उनकी बीमारी यह है कि उनके पास काम नहीं है। श्रम स्वयं धन है, पैसा है, संपत्ति है। जो करोड़ों लोगों को उनके कुटीरों में सम्मानपूर्ण श्रम प्रदान करता है, वह उन्हें भोजन और वस्त्र अथवा पैसा ही प्रदान करता है। चरखा ऐसा ही सम्मानपूर्ण श्रम है। जब तक इससे उत्तम विकल्प न मिले तब तक चरखे को इस महत्त्वपूर्ण पद से अपदस्थ नहीं किया जा सकता'।[1] 'चरखा करोड़ों के लिए प्राणदायी आशापूर्ण संदेश है।'[2] 'मेरा पक्का विश्वास है कि हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धार में सबसे बड़ी मदद मिलेगी। करोड़ों आदमियों को खेती की आय में वृद्धि करने के लिए कोई सादा उद्योग चाहिए। बरसों पहले वह गृह उद्योग कताई का था। करोड़ों को भूखों से बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें और हर गांव को अपना ही बुनकर फिर से मिल जाय।'[3]

सात लाख गाँव के पुनरुद्धार का सबसे सशक्त साधन चरखा ही हो सकता है, इस पर बल देते हुए गाँधी जी कहते थे : 'चरखा हमारी गरीबी की समस्या को लगभग बिना कुछ खर्च किये और बिना किसी दिखावे के अत्यंत और स्वाभाविक ढंग से हल कर सकता है। वह ऐसी आवश्यक वस्तु है जो हर घर में होनी चाहिए। मैंने चरखे पर सारी बाजी लगा दी है, क्योंकि चरखे के हर तार में शांति, सद्भाव और प्रेम की भावना भरी है।'[4]

चरखे के साथ अन्य ग्रामोद्योग भी जुड़े हुए हैं, यह समझाते हुए गांधीजी कहते थे कि 'चरखा मुझे जन साधारण की आशाओं का प्रतीक मालूम होता है। चरखे को खोकर उन्होंने अपनी आजादी खो दी। चरखा देहात की खेती की पूर्ति करता था और उसे गौरव प्रदान करता था। वह विधवाओं का मित्र और सहारा था। वह देहातियों को आलस्य से बचाता था क्योंकि चरखे में पहले और पीछे के उद्योग—लोठाई, पिंजाई, ताना करना, मांड लगाना, रंगाई और बुनाई—आ जाते थे। इनसे गाँव के बढ़ई और लुहार काम में लगे रहते थे। चरखे से सात लाख गाँव आत्मनिर्भर रहते थे। चरखे के चले जाने पर तेल-

१. मो० क० गाँधी : 'यंग इंडिया', १८ जून १९२५
२. मो० क० गाँधी : 'यंग इंडिया', २७ अगस्त १९२५
३. मो० क० गाँधी : 'यंग इंडिया', २१ जुलाई १९२०
४. मो० क० गाँधी : 'यंग इंडिया', ८ दिसंबर १९२१

घानी आदि दूसरे ग्रामोद्योग भी खतम हो गये। गाँवों के विविध धंधे, उनकी उत्पादक प्रतिभा और उनसे होनेवाली थोड़ी आमदनी—सबका सफाया हो गया। इसलिए अगर ग्रामीणों को फिर से अपनी स्थिति में वापस लाना हो तो सबसे स्वाभाविक बात यह है कि चरखे और उसके साथ लगी हुई सब बातों का पुनरुद्धार हो।'[१]

भारत की निर्धनता और बेकारी के निवारण का अत्यंत सक्रिय साधन चरखा, खादी और अन्य ग्रामोद्योगों का अधिकतम प्रसार ही है। हर गाँव में, हर घर में जब चरखे की मधुर धुन गूँजेगी तभी देश की गरीबी मिट सकेगी।

६. **आर्थिक समानता**—गांधी जी को देश की निर्धनता बुरी तरह खलती थी। वे कहते थे—'आज की दयनीय स्थिति निश्चय ही असहनीय है। यह गरीबी और सर्वहारापन की स्थिति मिटनी चाहिए।'[२] आर्थिक असमानता को मिटाये बिना गति नहीं, इस तथ्य को वे भली-भांति समझते थे। उन्होंने आर्थिक असमानता को मिटाना अपने रचनात्मक कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग माना था।

गांधी जी कहते थे और ठीक कहते थे कि सिर्फ भारत की ही नहीं, सारे संसार की अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव का कष्ट न सहना पड़े। हर आदमी को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह आदर्श तभी कार्यान्वित हो सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देश में, बल्कि संसार के अन्य भागों में भी जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धांत की उपेक्षा है।[३]

आज गरीबों और अमीरों के बीच, निर्धनों और संपन्नों के बीच जो अत्यधिक चौड़ी खाई है, उसे कम करने की बड़ी आवश्यकता है। गांधी जी का कहना था कि 'आर्थिक समानता लाने का अर्थ है—पूंजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को सदा के लिए मिटा देना। एक ओर से उन मुट्ठी भर लोगों

---

१. मो० क० गांधी : 'हरिजन' (अंग्रेजी साप्ताहिक), १३ अप्रैल १९४०
२. मो० क० गांधी : यंग इण्डिया, २२ जुलाई १९२६
३. मो० क० गांधी : यंग इण्डिया, १५ नवम्बर १९२८

की संपत्ति कम करनी होगी जिनके पास राष्ट्र की संपत्ति का बड़ा भाग एकत्र हो गया है और दूसरी ओर से उन करोड़ों लोगों की संपत्ति बढ़ानी होगी जो अधपेट खाते और नंगे रहते हैं। जब तक मुट्ठी भर धनवानों और करोड़ों भूखे लोगों के बीच अपार अंतर बना रहेगा तब तक अहिंसा के आधार पर चलने वाली राज्य व्यवस्था कायम नहीं हो सकती।'[१]

यह आर्थिक असमानता मिटाने का उपाय क्या है ? इसके लिए गांधी जी ने मुख्यतः ३ उपाय सुझाये थे—

१. ट्रस्टी शिप अथवा विश्वस्त वृत्ति,

२. श्रमनिष्ठा और

३. स्वेच्छादारिद्रय।

१. ट्रस्टी शिप का सीधा सरल अर्थ यह है कि 'धनवान अपनी संपत्ति और बुद्धि के ट्रस्टी बन जाय और समाज की सेवा में उसका उपयोग करें।'[२] गांधी जी मानते थे कि आर्थिक वैषम्य मिटाये बिना देश का कल्याण होने वाला नहीं। वे कहते थे कि 'धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण प्राप्त होने वाली सत्ता को स्वयं राजी-खुशी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए यदि सबके साथ मिल कर बरतने को तैयार न होंगे तो यह निश्चित समझिये कि हमारे देश में हिंसक और खूंखार क्रांति हुए बिना नहीं रहेगी।'[३] आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी अधिक रखने का अधिकार नहीं है। इसका अहिंसक मार्ग यही है कि जितनी मान्य हो सकें उतनी आवश्यकताएं पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने आप को समाज का सेवक मानेगा, समाज के खातिर धन कमायेगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। धनिक भारत की गरीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके अपनी आवश्यकताएं कम करें। इमानदारी से धन कमाये। सट्टे की वृत्ति हो तो उसका त्याग करे और जीवन को हर प्रकार से संयमी बनाये।'[४]

---

१. मो० क० गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ ४०—४१

२. प्यारे लाल : लास्ट फेज, खण्ड १, पृष्ठ ६६

३. मो० क० गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ ४०—४१

४. मो० क० गांधी : हरिजन सेवक, २४ अगस्त १९४०

२. आर्थिक समानता के लिए गांधी जी श्रमनिष्ठा पर बहुत बल देते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति श्रम करे।[१] प्रत्येक कार्य के लिए समान वेतन दिया जाय। उसमें बड़े-छोटे, बौद्धिक या शारीरिक का भेद न किया जाय। भंगी हो या डाक्टर, वकील हो या अध्यापक, व्यापारी हो या अन्य कोई—दिन भर श्रम करने पर सबको एक समान वेतन मिलना चाहिए।[२]

३. स्वेच्छादारिद्रय पर गांधी जी का बहुत बल था। उन्होंने वैभव और विलास पर लात मार कर दरिद्रनारायण से तादात्म्य स्थापित करने के लिए स्वेच्छादारिद्रय स्वीकार किया था। वे कहते हैं कि 'जब मैंने अपने आप को राजनीतिक जीवन के भंवरों में खिचा हुआ पाया, तब मैंने अपने आपसे पूछा कि मुझे अनैतिकता से, असत्य से और जिसे राजनीतिक लाभ कहा जाता है उससे अछूता रहने के लिए क्या करना जरूरी है, तो मैं निश्चित रूप से इस नतीजे पर पहुँचा कि यदि मुझे उन लोगों की सेवा करनी है, जिनके बीच मेरा जीवन बितने वाला है और जिनकी कठिनाइयों को मैं दिन-प्रतिदिन देखता हूँ, तो मुझे समूची संपत्ति तथा सारे परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए। पहले पहल इस त्याग की प्रगति धीमी रही, बाद में ऐसा समय आया कि वस्तुओं का त्याग मेरे लिए निश्चित रूप से हर्ष का विषय हो गया और फिर तो किसी भी वस्तु का परिग्रह मेरे लिए कष्टदायक और भाररूप बन गया।'[३]

गरीबों की सेवा करने के लिए स्वयं गरीबी धारण करनी होगी, आवश्यकता से अधिक परिग्रह का त्याग करना होगा। आज हमें जिस वस्तु की आवश्यकता नहीं है, उसका भी संग्रह नहीं करना होगा। तभी स्वेच्छादारिद्रय माना जायगा।

सामाजिक उपाय

स्वराज्य से भारत में राजनीतिक क्रांति तो हुई, परंतु आर्थिक और सामाजिक क्रांति अभी भी नहीं हो सकी। जब तक यह त्रिमुखी क्रांति नहीं हो पाती, तबतक स्वराज्य का पूरा उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। पण्डित जवाहर लाल नेहरू कहते थे कि 'स्वतंत्रता का करोड़ों व्यक्तियों के लिए एक ही अर्थ है कि वस्तुतः जनता का राज हो, जनता के द्वारा हो और जनता

१. मो० क० गांधी : हरिजन, २३ फरवरी १९४७
२. मो० क० गांधी : हरिजन, १६ मार्च १९४७
३. डी. जी. तेंडुलकर : महात्मा, लाइफ आफ मो० क० गाँधी, खण्ड ३ पृष्ठ १५५—५७

के लिए हो और हमारी निर्धनता और दुरवस्था का, हमारी गरीबी और मुसीबत का खातमा हो। उसका अर्थ यह नहीं कि गोरों के स्थान पर बदल कर काले मालिक आ जायँ।'[1] इस गरीबी और मुसीबत को मिटाने के लिए जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए राज स्थापित करने के लिए यह परम आवश्यक था कि राजनीतिक क्रांति के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक क्रांति भी हो। पर ऐसा कहाँ हो पाया? प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नर मिरडाल कहता है कि 'जिस सामाजिक और आर्थिक क्रांति का इतना डंका पीटा गया था, वह क्रांति साकार नहीं हो सकी'।[2] 'सामाजिक असमानता संवैधानिक रूप से समाप्त कर दी गयी है, जनगणना में जाति का खाना हटा दिया गया है, खूब जोरदार शब्दों में घोषणा की जाती है कि जाति प्रथा मिट रही है, अस्पृश्यता मिटा दी गयी है पर समाज-शास्त्रियों का अनुभव इसके विपरीत है। एम० एन० श्रीनिवास जैसे समाज शास्त्री ('कास्ट इन माडर्न इंडिया एंड अदर एसेज' १९६२, पृष्ठ ४० में) कहते हैं कि 'पिछड़ा वर्ग आयोग स्वीकार करता है कि २३९९ समुदाय पिछड़े वर्ग में आते हैं जिनमें ९१३ की जनसंख्या ११ करोड़ ६० लाख है।' वे (इकोनामिक वीकली के जून १९६० के विशेषांक, पृष्ठ ८६७ में) कहते हैं कि आधुनिक भारत में जातिवाद की भावना और जातिगत संगठन पहले से बढ़ गए हैं।[3] इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन की ओर से हाल में एक अध्ययन में भी इस तथ्य का समर्थन किया गया है।[4]

लोकतंत्रात्मक भारत में विधान सभाओं, संसद तथा ग्राम पंचायतों, महापालिकाओं आदि के चुनावों में जातिवाद कितना खुल खेलता है, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जयप्रकाश नारायण जैसे लोगों का स्पष्ट मत है कि चुनावों ने जातिवाद, संप्रदायवाद आदि को जितना बढ़ावा दिया है, उतना संभवतः अन्य कारणों ने नहीं दिया है। विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव क्षेत्र में जातियों की संख्या के आधार पर उन्हीं उम्मीदवारों को टिकट देते हैं जिनका उस क्षेत्र में बाहुल्य होता है। जाति के आधार पर नौकरियों, पदोन्नतियाँ, परिवर्तन, नियुक्तियाँ की जाती हैं, अपराधी छुड़ाए जाते हैं।

---

१. जवाहर लाल नेहरू : डिस्कवरी आफ इंडिया; पृष्ठ ५४

२. गुन्नर मिरडाल : एशियन ड्रामा, खंड २, पृष्ठ ७७५-७७६

३. वही, पृष्ठ ७६३-७६४

४. ए० पी० बरनबास और सुभाष चन्द्र मेहता : कास्ट इन चेंजिंग इण्डिया, १९६५, पृष्ठ १६६५

और क्या-क्या नहीं होता ? ऊपर से देखने से भले ही जातियाँ मर रही हों, जातिवाद समाप्त हो रहा हो, परंतु वास्तविकता यही है कि जातिवाद, अस्पृश्यता, भेद भाव, पक्षपात आदि उत्तरोत्तर बढ़ता ही चल रहा है। भारत ने जिस समानता के लिए संविधान में प्रतिज्ञा कर रखी है, वह समानता दिन-दिन दूर होती चल रही है। सामाजिक असमानता कम होने और मिटने के स्थान पर उलटे बढ़ती पनपती चल रही है।

सामाजिक असमानता की वृद्धि के साथ ऊँची जातियों और वर्गों को आगे बढ़ने का अवसर मिलता है, नीची जातियों और वर्गों की अधिकाधिक उपेक्षा होती है। इससे आर्थिक विषमता भी बढ़ती है, निर्धनता और विवशता भी बढ़ती है। इस असमानता को दूर करने के लिए सरकारी प्रयत्न तो आवश्यक है ही, कानूनी तथा अन्य उपाय तो करने ही होंगे, जनता के मानस को भी परिवर्तन करना होगा। जनमानस से जातिवाद, ऊँच-नीच, छुआ-छूत आदि की भावना पूरी तरह से निकालनी होगी। यह कार्य समाजसेवी संस्थाओं के करने का है।

सामाजिक प्रथाओं का भी वही हाल है। जो प्रथाएं और रूढ़ियां अपव्यय, अंधविश्वास और कुसंस्कारों को बढ़ाती हैं, उन्हें यथाशीघ्र समाप्त करना होगा। दहेज हो, विवाह शादी, जन्म और मृत्यु के भोज हों, गहनों और आडंबरों की अन्य प्रथाएं हों, उन सब का बहिष्कार करना होगा। इन सब रूढ़ियों को समाप्त करने में कानून थोड़ी-सी सहायता कर सकता है, मूल आवश्यकता है लोकमत की। जागृत लोकमानस द्वारा ही ऐसे अपव्ययों को रोककर राष्ट्र की संपत्ति की रक्षा की जा सकती है।

एक ओर रूढ़ियां हैं, दूसरी ओर आज का भोग परायण नयी सभ्यता का जीवन है, फैशन है, शान है, अपने को अधिक ऊँचे स्तर का दिखाने की लालसा है। इसे भी नियंत्रित करने की परम आवश्यकता है। जिस देश में लाखों-करोड़ों व्यक्ति दो जून भरपेट अन्न नहीं पाते, पौष्टिक और संतुलित भोजन की तो बात ही क्या है, उस देश में विलासिता और फैशन, दिखावा और आडंबर भयंकर अपराध माना जाना चाहिए।

अज्ञान और अशिक्षा से तो मोरचा लेना है ही, कुशिक्षा से भोगपरायण जीवन की ओर उन्मुख करनेवाली शिक्षा से भी छुटकारा लेना होगा। श्रमनिष्ठा पर बल देनेवाली, कला-कौशल पर जोर देनेवाली, स्वावलंबन और ईमानदारी से पसीनें की कमाई की भावना भरनेवाली शिक्षा ही, चरित्र को

ऊपर उठानेवाली शिक्षा ही, देश और राष्ट्र के लिए आवश्यक है। फिर वह बुनियादी तालीम हो या अन्य कुछ, पर उसका उद्देश्य यही हो कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक सचाई, ईमानदारी और श्रम को अपना जीवन लक्ष्य माने तथा त्याग और तपस्या की ओर उन्मुख होने में गौरव का बोध करे।

राष्ट्र का सारा सामाजिक जीवन जब उच्च नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देगा, समाज के कर्णधार ही नहीं, समाज का प्रत्येक घटक, प्रत्येक संस्थान, प्रत्येक दल, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक व्यक्ति, जब इस दिशा में सक्रिय कदम उठायेगा तभी गरीबी और मुफलिसी से छुटकारा मिल सकेगा। तभी सामाजिक जीवन उन्नत और सशक्त बन सकेगा। सामाजिक क्रांति लाने के लिए समाज के वर्तमान ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा।

समाज का विकास ठीक ढंग से हो, हानिकर सामाजिक प्रथाएं नष्ट हों, शिक्षा-दीक्षा में, पढ़ाई-लिखाई में नौकरी का दृष्टिकोण न रहकर समाजसेवा का लक्ष्य हो, मनोरंजन स्वस्थ हो, जीवनक्रम स्वस्थ हो, वातावरण शुद्ध और पवित्र हो, तभी नये समाज की आधारशिला दृढ़ हो सकेगी।

निर्धनता निवारण के लिए कुछ राजनीतिक उपाय भी अपेक्षित हैं। भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना की बात चलती है। 'समाजवादी अर्थव्यवस्था' और 'समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था' की बात प्रायः कही जाती है। भारतीय कांग्रेस ने ऊटी गोष्ठी की अपनी रिपोर्ट में कहा था कि 'हमने अपने देश में जैसे राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की है, उसके लिए आर्थिक लोकतंत्र और सामाजिक न्याय अनिवार्य शर्तें हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाजवाद अथवा समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था आवश्यक है।'[1]

राजनीतिक उपाय

गांधी जी कहते थे कि 'समाजवाद' एक सुन्दर शब्द है। जहां तक मैं जानता हूँ, समाजवाद में समाज के सारे सदस्य बराबर होते हैं; न कोई नीचा होता है, न कोई ऊँचा। जिस तरह मनुष्य के शरीर के सारे अंग बराबर हैं, उसी तरह समाज रूपी शरीर के सारे अंग भी बराबर हैं। इस वाद में राजा और प्रजा, धनी और गरीब, मालिक और मजदूर,—सब बराबर हैं। समाजवाद की शुरुआत पहले समाजवादी से होती है। समाजवाद बड़ी शुद्ध चीज है। इसलिए इसे पाने के साधन भी शुद्ध होने चाहिए। राजा को मार

१. इंडिया कांग्रेस, रिपोर्ट आफ दि ऊटी सेमिनार, पृष्ठ १८

कर राजा और प्रजा एक से नहीं बन सकेंगे। मालिक का सिर काट कर मजदूर मालिक नहीं हो सकेंगे। केवल सत्यवादी, अहिंसक और पवित्र समाजवादी ही समाजवाद फैला सकता है।"[१]

भारत सरकार ने समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था के नाम पर इधर कुछ वर्षों में कुछ अधिनियम बनाये हैं। इसके लिए वह कुछ प्रयत्नशील भी है, पर केवल छोटे-मोटे कानूनों से देश में समाजवादी समाज व्यवस्था स्थापित हो जायगी, यह संभव नहीं है। धनी और निर्धन, मालिक और मजदूर, भूस्वामी और भूमिहीन का भेद मिटना इतना सरल नहीं है। उसके लिए सरकार और जनता, समाज सेवक और समाज के कर्णधार जब मिलकर संयुक्त प्रयत्न करेंगे, तभी कुछ हो सकेगा।

आज तो देश में राजनीतिक दलबंदी, गुटबंदी, जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद आदि का प्राबल्य है। इनके रहते कहाँ लोकतंत्र और कहाँ समाजवाद? राजनीतिक भ्रष्टाचार देश के कोने-कोने में खुल खेल रहा है। चोर बाजार, मंहगी, तस्करी, भ्रष्टाचार, अनाचार-सबका जाल सा बिछा हुआ है। पूंजीपति और भ्रष्ट अधिकारी, ठेकेदार और दलाल दिन-दिन सोने के महल खड़े करते जा रहे हैं। बेचारी जनता, करोड़ों की संख्या में निर्धनता और विपन्नता की चक्की में पिसती जा रही है। नैतिकता और ईमानदारी की कहीं पूछ नहीं। इसका भयंकर परिणाम देश में सर्वत्र दिखाई दे रहा है। इस अराजकता जैसी स्थिति को सुधारने के लिए यदि समुचित सशक्त उपाय नहीं किये जायेंगे तो देश का भविष्य अंधकारमय होते देर न लगेगी। राजनीतिक कर्णधारों और राजनीतिक दलों को इसका सफल उपाय निकालना चाहिए। केवल कुर्सियों के लिए लड़ते रहने से गरीबी नहीं मिटेगी।

जनवृद्धि का उपाय

जनसंख्या की उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धि भारत की निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। इस बाढ़ को नियंत्रित करने की आवश्यकता है। पर जिस प्रकार सरकार परिवार नियोजन और प्रजनन निरोध का कृत्रिम साधनों के प्रचार पर पानी की भांति पैसा बहा रही है, लूप और वंध्याकरण के लिए पुरस्कार बांट रही है, उस प्रकार परिवार नियोजन आंदोलन शायद ही सफल

१. मो० क० गांधी : हरिजन सेवक, १३ जुलाई, १९४७

हो सकेगा। कृत्रिम और वैज्ञानिक साधनों का एक सीमित उपयोग है और सब लोग ऐसे साधनों को पसन्द नहीं करते। संतति नियमन का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम मार्ग है—संयम और सदाचार। उसपर ध्यान देने की ओर परिवार नियोजकों का ध्यान ही नहीं है। उसे गांधी और विनोबा की 'सनक' कहकर उसका मखौल उड़ाया जाता है। पर भारत में ऐसे सनकियों का ही सर्वाधिक महत्व है। संयम और सदाचार की उनकी पद्धति ही भारत में सफल हो सकती है।

कृत्रिम साधन : गांधी जी कृत्रिम साधनों का तीव्र विरोध करते थे। कहते थे कि 'संतति-नियमन के पीछे जो विचार सारणी है, वह सारी भयंकर और भूलभरी है। संतति नियमन का समर्थन करनेवाले यह मानते हैं कि जननेन्द्रिय को संतुष्ट करने का मनुष्य को अधिकार है। इतना ही नहीं, ऐसा करना उसका धर्म है और इसका पालन न किया जाय तो जीवन विकास में बाधा पड़ती है। मुझे इस विचार में बड़ा दोष मालूम होता है। कृत्रिम उपायों का उपयोग करनेवालों से संयम की आशा करना व्यर्थ है। कामवासना का संयम असंभव है, यह मानकर तो संतति नियमन का प्रचार होता है। जननेंद्रिय के संयम को असंभव, अनावश्यक और हानिकारक मानना मेरे ख्याल से धर्म को न मानने जैसा है, क्योंकि धर्म की सारी रचना संयम की नींव पर खड़ी है।'[१]

ये कृत्रिम साधन पापाचार को कितना प्रश्रय देते हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। देश में बढ़ते हुए अनाचार में इसका भी बड़ा हाथ है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए गांधी जी कहते थे कि 'कृत्रिम उपायों के हिमायती कहते हैं कि गर्भाधान तो एक अकस्मात घटनेवाली घटना है और जबतक पति-पत्नी की इच्छा संतान उत्पन्न करने की न हो तबतक इस घटना को रोकना चाहिए। इस सिद्धांत का उपदेश किसी भी देश में करना अत्यंत भयानक बात है। भारत में जहाँ मध्यमवर्ग के पुरुष जनन-क्रिया का दुरुपयोग करके क्षीणवीर्य हो गये हैं वहाँ तो यह उपदेश घोर अनर्थकारी सिद्ध होगा। मुझे मालूम है कि गुप्त दुराचार ने पाठशालाओं के छात्र-छात्राओं का कैसा भयंकर विनाश किया है। ऐसी कुँवारी लड़कियाँ हैं जिनपर आसानी से किसी भी बात का प्रभाव पड़ सकता है। स्कूल-कालेज की ऐसी लड़कियाँ बड़ी उत्सु-

१. महादेव देसाई : महादेव भाई की डायरी, खंड१, पृष्ठ ३२०

कता से संतति निग्रह के साहित्य और पत्रिकाओं का अध्ययन करती हैं और उनके पास उसके साधन भी मौजूद हैं। इन साधनों के प्रयोग को विवाहित स्त्रियों तक सीमित रखना असंभव है। पाशविक विकार की तृप्ति ही जब विवाह का उद्देश्य और उसका श्रेष्ठ उपाय माना जाता है और उस दृष्टि के स्वाभाविक परिणाम से बचने की इच्छा रखी जाती है तब विवाह की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है!"[1]

भारत में जनवृद्धि रोकने का सरल और सफल साधन संयम और ब्रह्मचर्य पर बल देने का ही हो सकता है। परंतु उसके लिए देश के सारे वातावरण को एक नया मोड़ देना पड़ेगा। वासना और विलास की अभिवृद्धि करनेवाले दूषित वातावरण को उलटना पड़ेगा। ऐसे दूषित साहित्य पर, ऐसी पत्र-पत्रिकाओं पर, ऐसे चित्रों, फिल्मों पर, ऐसे नाटकों और उपन्यासों पर कड़ा नियंत्रण करना पड़ेगा। संयम सदाचार के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करके ही जनवृद्धि को रोकने की बात कही जा सकती है।

वैयक्तिक उपाय

निर्धनता की वृद्धि में वैयक्तिक कारक भी महत्त्व रखते हैं। उसके लिए अपंगों, अपाहिजों आदि को उन के उपयुक्त कला-कौशल आदि के प्रशिक्षण का तथा उनके भोजन, वस्त्र और आवास का समुचित प्रबंध करना होगा। जो लोग आलस्य और भाग्यवाद को लेकर पड़े रहते हैं, उन्हें काम की दिशा में प्रेरित करने के लिए, उनमें श्रमनिष्ठा और श्रम के गौरव की भावना भरनी होगी। यह काम केवल कानून अथवा भिक्षुक गृहों की व्यवस्था से नहीं होगा, इसके लिए जनजागरण आवश्यक है। साथ ही काम करने के अवसर और साधन भी बढ़ाने होंगे।

आज देश में 'गरीबी हटाओ' का नारा खूब प्रचलित है। नारा आकर्षक तो है ही, राजनीतिक कौशल का भी परिचायक है। परंतु आकर्षक नारों से

'गरीबी हटाओ' का नारा

गरीबी हटती तो कब की हट गयी होती। उसके पीछे जो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि संदर्भ हैं, उनपर गहराई से विचार करके समस्या की जड़ तक जाना होगा। सरकार और जनता तथा जनता की सेवा का दम भरने वाले लोगों को निर्धनता-निवारण के मूल

१. तेंदुलकर : महात्मा, खण्ड ४, पृष्ठ ७३

कारणों को देखकर सक्रिय रूप से गरीबी मिटाने का प्रयत्न करना होगा। उसके लिए सादगी, संयम, सदाचार, श्रमनिष्ठा, ईमानदारी और स्वेच्छा-दारिद्रय का व्रत ग्रहण करना होगा। एक ओर कृषि और उद्योगों का अधिकतम विकास करना होगा, दूसरी ओर अपव्यय, असमानता और विलास पर नियंत्रण रखना होगा। पूरी शक्ति से यदि प्रयत्न किया जाय तो गरीबी हट कर रहेगी। कोरी बातों से, कोरे नारों से कुछ होने वाला नहीं।

●

अध्याय : २६

भारत में अपराध

अपराधों की प्रकृति एक-सी होती है। भारत में हो या अन्यत्र, सामान्यतः सभी देशों में एक ही प्रकार के अपराध होते हैं। यह बात दूसरी है कि कहीं हत्या के अपराध अधिक होते हैं, कभी संपत्ति आदि के संबंध में होनेवाले अपराधों का बाहुल्य रहता है। ग्रामों में कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराध होते हैं, नगरों में उनसे कुछ भिन्न प्रकार के अपराध होते हैं। समाज-विरोधी, शांति और सुव्यवस्था विरोधी नाना प्रकार के कार्य अपराध माने जाते हैं।

भारत में अपराध

अन्य देशों की भांति भारत में भी असंख्य अपराध होते हैं। उनमें से अनेक अपराध पुलिस के पास पहुंचते ही नहीं। जो पहुँचते हैं, उनमें से भी कुछ विभिन्न कारणों से आगे नहीं बढ़ पाते हैं, उनके मुकदमे चलते हैं और प्रमाणित होने पर अपराधी दंड भोगते हैं।

अपराधों के आंकड़े

भारत में मोटे-मोटे अपराधों के आंकड़े इस प्रकार हैं :

सन् १९५८[१]

१. नगरपालिकाओं के नियमों का उल्लंघन	२६,२४,१३३
२. चोरी	२,८७,९९१
३. चोट पहुँचाना	१,८२,५०३
४. अनैतिक आचरण	४८,०४८
५. आक्रमण	४३,९८३
६. शांतिभंग	४२,०९८
७. शरारत	३९,३६०
८. जान की धमकी	३५,०५७

१. भारत सरकार, स्टैटिसटिकल एब्सट्रैक्ट, १९५८

९. ठगी	२७,१४३
१०. विश्वासघात	२७,००१
११. डकैती	१७,२७१
१२ अपहरण	८,२७७
१३. गबन	७,८४२
१४. दगा	४,७८८
१५. गर्भपात	२,९९०
१६. बलात्कार	२,६२१
१७. राज्य के विरुद्ध अपराध	१,५५०
१८. इकरार भंग	१,३७७
१९. खोटे सिक्के संबंधी अपराध	८८५
२०. षड्यंत्र	६४

	सन् १९६२[१]	सन् १९६७[१]
१. चोरी	२,२८,०००	३,१०,०००
२. सेंधमारी	१,३०,०३०	१,७४,०००
३. कत्ल	११,०७०	१३,०४०
४, अपहरण	७,०१०	८,०१०
५. डकैती	५,०००	६,०३०

राज्यों के अनुसार अपराध[१]

उत्तर प्रदेश	१७०·७	प्रति लाख पर
मध्यप्रदेश	१०२·८	,,
महाराष्ट्र	९८·३	,,
बिहार	८६·१	,,
प० बंगाल	८४ ४	,,
तमिलनाडु	६८·२	,,

१: दैनिक नवभारत टाइम्स, १६ फरवरी १९७० मुख पृष्ठ

आंध्र प्रदेश	३८·३	प्रति लाख पर
राजस्थान	३४·५	"
गुजरात	३२·६	"
मैसूर	३२·५	"
उड़ीसा	३०·७	"
असम	२२·३	"
केरल	२२·२	"
पंजाब	१३·५	"

सन् १९६९ और सन् १९७० के आंकड़े इस प्रकार हैं[१]—

हस्तक्षेप्य अपराध	सन् १९६९	सन् १९७०
१. कत्ल	१४७३२	१५७०८
२. अपहरण	८४६४	१०१११
३. डकैती	६०४९	९८३७
४. लूटमार	९९२२	१६९५८
५· सेंधमारी	१४५४२९	१६६३३९
६. पशुओं की चोरी	२२३५४	३३७२११ (६ और ७)
७. सामान्य चोरी	२७७७८६	
८. उपद्रव, दंगे	५५७९६	६८३३१
९. विश्वासघात	२१११८	२२६७९
१०. ठगी	१२००१	१२३३१
११. खोटे सिक्के संबंधी	७३९	६५०
१२. विभिन्न	२७०७७७	२९५२६७
कुल	८४५१६७	९५५४२२

१· भारत सरकार, क्राइम इन इंडिया, १९७०, पृ० २-३, सारिणी २

राज्यों के अनुसार १९७० में अपराधों की स्थिति इस प्रकार थी[१]—

राज्य	अपराध
१. आंध्र	४३९४२
२. असम	२५९०८
३. बिहार	८४०९१
४. गुजरात	३२२२५
५. हरियाणा	८९०२
६. हिमाचल प्रदेश	२३८१
७. जम्मू और कश्मीर	६४२१
८. केरल	३१६१७
९. मध्यप्रदेश	८३५३७
१०. महाराष्ट्र	९६५५२
११. मणिपुर	२१२२
१२. मैसूर	३५५६६
१३. नागालैंड	७४४
१४. उड़ीसा	३१५१४
१५. पंजाब	१२४७८
१६. राजस्थान	३६२३०
१७. तमिलनाडु	६३६१९
१८. त्रिपुरा	२७०४
१९. उत्तरप्रदेश	२३३७५४
२०. पश्चिमी बंगाल	८४५२८
कुल	९१८८३५

१. वही पृ० ९

केंद्रशासित राज्य

राज्य	अपराध
२१. अन्दमान निकोबार द्वीप	३०८
२२. चंडीगढ़	१४८४
२३. दादरा और नगरहवेली	१०६
२४. दिल्ली	३१२४१
२५. गोआ, दमन, द्यू	११९५
२६. लक्कद्वीप	२८
२७. पांडेचेरी	२२२५
	३६५८७
कुल भारत	९५५४२२

बड़े नगर

राज्य	अपराध
१. अहमदाबाद	३२६९
२. बंगलोर	७७७८
३. बंबई	२५७६३
४. कलकत्ता	१०५८८
५. दिल्ली	२८८९०
६. हैदराबाद	३४७०
७. कानपुर	८६५६
८. मद्रास	१०७९४
कुल	९९२०८

स्थानीय और विशेष कानूनों के अंतर्गत हस्तक्षेप्य अपराधों की स्थिति यों थी[1]—

अपराध	सन् १९६९	सन् १९७०	
१. शस्त्र कानून	२०,४८२	१९,७०१	
२. अफीम कानून	१०,६५९	१०,४६२	
३. जुआ कानून	१,३८,५८६	१,६३,८१५	
४ आबकारी/मद्यनिषेध कानून	२,५१,५५९	२,७८,६९५	
५. विस्फोटक कानून	१,८०४	३,१८२	
६. लड़कियों का अनैतिक व्यापार निरोध कानून	४,७५१	६,७३८	कश्मीर छोड़ कर
७, मोटर गाड़ी कानून	१०,०८,५४१	११,१२,६९४	कश्मीर, उ० प्र० छोड़ कर
८. अन्य	१३,५६,७६६	१२,८९,२३०	
कुल	२७,९३,१४८	२८,८४,५१७	

संपत्ति की चोरी संबंधी अपराधों के आंकड़े इस प्रकार हैं[2]—

सन् १९६६	१९ करोड़ १० लाख रुपया
१९६७	२५ करोड़ ६० लाख ,,
१९६८	२९ करोड़ ६० लाख ,,
१९६९	३० करोड़ ५० लाख ,,
१९७०	३६ करोड़ १३ लाख रुपया

१. वही, पृष्ठ ३४-३५

२. वहीं, पृष्ठ ५९

सन् १९७० में संपत्ति संबंधी चोरी की स्थिति यों थी[१]—

अपराध	कुल घटनाएं	चोरी गयी संपत्ति का मूल्य	वापस मिली संपत्ति
१. डकैती	७,८७८	२,४९,०२,००० रु०	२७,९४,००० रु०
२. लूटमार	१२,५५६	९९,६५,००० रु०	२०,०६,००० रु०
३. सेंध और चोरी	४,३३,३२६	२४,०२,२०,००० रु०	६,४३,९६,००० रु०
४. विश्वासघात	१६,५८१	५,४३,४८,००० रु०	५२,५१,००० रु०
५. अन्य	१६,२६७	३,२०,६२,००० रु०	५५,२९,००० रु०
	४,८६,६०८	३६,१३,९७,००० रु०	७,९९,७६,००० रु०

सन् १९७० में चोरी गयी संपत्ति में मोटर गाड़ियों का स्थान विशेष था। उसमें ६१ प्रतिशत वापस मिल गयीं।

संपत्ति	चोरी	वापस	वापसी प्रतिशत
मोटर गाड़ी और सामान	४,३७,१८,००० रु०	२,६४,७२,००० रु०	६०·६०
पशुधन	१,३८,२९,००० रु०	५२,५२,००० रु०	३८·००
तांबे का तार	१,३०,२३,००० रु०	१४,९८,००० रु०	११·५
साइकिल	६९,६०,००० रु०	१४,१७,००० रु०	२०·४
शस्त्रास्त्र और विस्फोटक	७,३२,००० रु०	२,२१,००० रु०	४२·९

उपरिलिखित आंकड़ों और उनके वर्गीकरण से अपराधों की दिशा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। बाल अपराधों की चर्चा 'बाल-अपराध' अध्याय में की गयी है। सन् १९७० के अपराधों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि संपत्ति संबंधी अपराध

अपराधों की दिशा

५९ प्रतिशत हुए, जिनमें चोरी और सेंधमारी के अपराधों का प्रतिशत ५२ था, डकैती और लूटमार का प्रतिशत ३ और विश्वासघात, ठगी आदि का प्रतिशत ४ था। कत्ल, अपहरण और उपद्रव जैसी शारीरिक हानि और आक्रमण की घटनाओं वाले अपराध १० प्रतिशत हुए। ३१ प्रतिशत अपराध विभिन्न प्रकार के हुए। इन विभिन्न प्रकार के अपराधों में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, करापहरण, चोर बाजारी, तस्करी, खाद्य पदार्थों में मिलावट, सफेदपोश अपराध, यौन अपराध, भ्रूण-हत्या, शिशुहत्या, सामाजिक कानूनों का उल्लंघन आदि सम्मिलित है।

१ वही, पृष्ठ ६०

प्रति लाख जनसंख्या पर अपराधों की संख्या का अनुपात सन् १९७० में राज्यवार इस प्रकार रहा[१]—

१. उत्तरप्रदेश	२५६·९
२. मध्यप्रदेश	२०४·७
३. महाराष्ट्र	१९२·५
४. मणिपुर	१८९·५
५. पश्चिमी बंगाल	१८७·९
६. त्रिपुरा	१७८·७
७. नागालैंड	१७१·८
८. असम	१६५·३
९. तमिलनाडु	१६०·८
१०. जम्मू-कश्मीर	१५८·५
११. केरल	१४८·१
१२. उड़ीसा	१४५·५
१३. बिहार	१४५·४
१४. राजस्थान	१३७·६
१५· गुजरात	१२१·१
१६. मैसूर	१२१·१
१७. आंध्रप्रदेश	१०१·४
१८. हरियाणा	८८·२
१९. पंजाब	८४·२
२०. हिमाचल प्रदेश	६५·७

औसत अपराध १६८·८ प्रति लाख जनसंख्या पर रहा। केंद्रशासित राज्यों में दिल्ली का अनुपात ७३६·६ है, चंडीगढ़ का ९३३·३ और पांडेचेरी का ४९५·५ प्रति लाख हैं। नगरों में दिल्ली नगर का अनुपात ७४०·४ प्रति लाख है, कानपुर का ६५९·३। अहमदाबाद में न्यूनतम २००·८ है।

अन्य देशों की तुलना में भारत के अपराध के आंकड़े कम ही हैं। अमरीका में १९५७ में ८३५·२ प्रति लाख अपराध हुए थे और १९५८ में ८९६·९ प्रति लाख। इसमें कत्ल, बलात्कार, लूटमार, हिंसक आक्रमण, सेंध, ५०

१. वही, पृष्ठ ६-७।

डालर से ऊपर की चोरी और आटो मशीन की चोरी सम्मिलित है।[1] वहाँ के नगरों में हजार पीछे अपराधियों की संख्या इस प्रकार थी[2]—

लास एंजिल्स	५१·७ प्रति हजार
अतलांता	४४·७ " "
सेंट लुई	४३·८ " "
डेनवर	३९·३ " "
डालस	३५·२ " "
सैंफ्रांसिस्को	३४·८ " "
न्यू आर्लियंस	२९·२ " "
क्लीवलैंड्	२३·० " "
न्यूयार्क	१७·७ " "
शिकागो	१२·९ " "

भारत में वड़े नगरों और औद्योगिक केंद्रों में अपराधों के भी केंद्र बनने लगे हैं। नगरों में जालसाजी, गबन, चोर वाजारी, घूसखोरी, खोटे सिक्के या नोट, गवन, खोटे बाट, तौल, मिलावट, यौन अपराध, बलात्कार, गर्भपात, विश्वासघात, शांतिभंग, उपद्रव, व्यसन संबंधी अपराध अधिक होते हैं। गांवों में मारपीट, कत्ल, व्यभिचार, जमीन-जायदाद के झगड़े, खेत खलिहान फूँक देना, शिशुहत्या, मद्य चुलाना, डकैती, अन्न और पशुओं कीं चोरी आदि के अपराध विशेष रूप से होते हैं। नगरों में सफेदपोश अपराधों का बाहुल्य रहता है, गाँवों में आनबानशान, वैर-द्वेष आदि के कारण होने वाले अपराध बहुत होते हैं। गाँवों में सीधे-सादे लोग पुराने धार्मिक और परंपरागत संस्कारों से प्रेरित होकर आवेश में अधिकतर अपराध कर बैठते हैं। नगरों में चतुर लोग बहुत सोच-समझकर दांव फेंकते हैं और अपनी गोटी बैठाने का प्रयत्न करते हैं।

इंगलैंड और अमरीका में जहाँ ३० प्रतिशत व्यक्ति अभ्यस्त अपराधी पाये जाते हैं, भारत में केवल ७ प्रतिशत ही ऐसे अपराधी रहते हैं। अधिकाश अपराधी प्रथम अपराधी ही होते हैं। भारत में गंभीर अपराध कम होते हैं, हल्के अपराध ही अधिक होते हैं।

१. अमरीकन न्याय विभाग, यूनीफार्म क्राइम रिपोर्ट्‌स, फेडरल व्यूरो ऑफ इनवैस्टीगेशन, पृष्ठ ३।

२. 'टाइम' पत्रिका, न्यूयार्क, ३० जून १९५८, पृष्ठ १८।

भारत में अपराधों के अनेक कारण हैं। कुछ सामाजिक और सांस्कृतिक कारण हैं, कुछ धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक। कुछ अपराध परिस्थितियों की विवशता के कारण होते हैं और कुछ स्वभावगत दोष आदि के कारण।

अपराधों के कारण

सामाजिक-सांस्कृतिक कारण : कुलीन विवाह, अनमेल विवाह, बाल-विवाह, दहेज प्रथा, कन्या हत्या, जैसी कितनी ही सामाजिक प्रथाएँ चालू हैं। कुलीन परिवार में ही कन्या दी जाय, इसके लिए जो होड़ और दहेज की मांग चलती है, वह किसी से छिपी नहीं। इसी के कारण अनेक अनमेल विवाह होते हैं। वृद्ध विवाह होते हैं। बाल विवाह होते हैं। अपने को ससुर और साला कहलाने से बचने के लिए, अपनी कुलीनता का 'अहम' बनाये रखने के लिए कितने ही माता-पिता, भाई-बहन जन्म लेते ही बेटी का गला घोंट देते हैं।

परिवारों में सास और ननद, देवर और अन्य घरवालों का अविवेकपूर्ण और मानवताशून्य व्यवहार अनेक अपराधों को जन्म देता है। पुरातन रूढ़ियाँ स्वस्थ दाम्पत्य जीवन के विकास में बाधक बनती हैं। पति-पत्नी में आये दिन तनाव और कलह की भूमिकाएँ बनती हैं। विधवा होते ही नारी का भाग्य फूट जाता है। उसे आजीवन जिस अपमान, लांछना और क्लेश को सहना पड़ता है, उसके चलते उसका पतन मार्ग पर चला जाना कठिन नहीं। उसे बहकानेवालों की भी कमी नहीं। यौवन की आंधी में बह जाने पर उसके सर्वनाश का पथ प्रशस्त हो जाता है। परिवारों के टूटने और विघटित होने से नाना प्रकार के अपराध बढ़ते चलते हैं। सम्पत्ति और उत्तराधिकार के कानूनों से भी कभी-कभी अपराधों को प्रोत्साहन मिलता है। स्वार्थवृत्ति आग में घी का काम करती है।

जातिप्रथा, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच की भावना और जातिवाद के फल-स्वरूप भी अनेक अपराध होते हैं। पुरातन रूढ़िग्रस्त समाज अपनी पुरातन परंपराओं के पालन पर बल देता है, जिसे आज का जाग्रत मानस स्वीकार नहीं करता। फलतः लड़ाई-झगड़े, मारपीट, दुर्व्यवहार, पक्षपात और रागद्वेष का चक्र चलता है। उसके कारण भावावेश में अनेक अपराध कर दिये जाते हैं।

आज संस्कृति और कला के नाम पर जो प्रदर्शन किये जाते हैं, सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे जाते हैं, उसमें भौतिक और विलासमय जीवन पर ही सर्वा-

धिक बल दिया जाता है। ऐसे कार्यक्रम, चित्रपट, नाटक, नौटंकी आदि दृश्यकाव्य आदि अपराधों की वृद्धि में सहायक होते हैं। नयी आयु के लोग बिना सोचे-समझे अनेक दूषित कार्यों, कृतियों, फैशन और वासना तथा अपराधमूलक बातों का अनुकरण करते हैं। रोमांसपूर्ण, अपराधी चित्रों से अपराधों में बाढ़-सी आ जाती है। बाल और किशोर मानस पर ऐसी बातों का विशेष रूप से कुप्रभाव पड़ता है।

धार्मिक कारण : धर्म मानव को ऊपर उठानेवाली वस्तु है। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए धर्म का उदय हुआ है, पर खेद है कि धर्म आज अनेक अपराधों का कारण बन बैठा है। विवेकानन्द के शब्दों में 'धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया गया है उतना अन्य कारणों को लेकर नहीं।' धार्मिक अंधविश्वास, उसके साथ जुड़ी उच्चता और श्रेष्ठता की भाव भूमि, विवेकहीन धार्मिक विश्वास आदि अनेक अपराधों के जन्मदाता बनते हैं। धर्म के नाम पर विधवाओं का उत्पीड़न, पति की मृत्यु पर बलात् सती बनाकर चिता पर बैठाकर भस्म करना, देवी-देवताओं पर जीभ या बच्चों की बलि चढ़ाना, देवदासी प्रथा आदि कुप्रथाएँ अनेक अनर्थ करती रही हैं। ढोंगी और पाखंडी लोग धर्म के नाम पर सीधीसादी सरल स्त्रियों को पतनोन्मुख करते हैं। उनका धन ही नहीं, उनका सतीत्व तक लूटने का प्रयत्न करते हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का विष खूब पनपाया जाता है, जिसकी लपेट में धन-जन की असंख्य हानि होती रहती है। जरा-जरा से कारणों को लेकर उपद्रव और दंगे होते रहते हैं।

आर्थिक कारण : १. निर्धनता—भारत में गरीबी और बेकारी भी अपराधों का एक प्रमुख कारण बन बैठी है। 'नहिं दरिद्र सम दुख जग मांही'। भूखे पेट की ज्वाला बुझाने के लिए कभी-कभी कुछ लोग चोरी तथा ऐसे ही अन्य अपराधों की दिशा में झुक जाते हैं। इटली के एतोरे फर्नासारी द वर्सी ने १८९४ में शोध की थी कि देश की ६० प्रतिशत जनता निर्धन है और जेल में ८५ से ९० प्रतिशत व्यक्ति निर्धन हैं, अतः दरिद्र ही अपराध करता है।[१] अपराधशास्त्री बोंगर कहता है कि पूँजीवादी रचना ही दरिद्रता की जननी है और यही दरिद्र समाज अपराध का घर है।[२]

---

१. परिपूर्णानन्द वर्मा : पतन की परिभाषा, पृ० ३१६।

२. डब्लु० ए० बोंगर : क्रिमिनालाजी एण्ड इकोनामिक कंडीशन्स, १९१६, पृ० ६४३।

बार्न्स और टीटर्स का कहना है कि 'आर्थिक अरक्षा, पुष्टिकारक भोजन का अभाव, आवश्यकता से कम वस्त्र, चिकित्सा साधनों की कमी आदि ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे अपराधी या विद्रोही भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः इसमें क्या आश्चर्य है कि अपराध और गरीबी का परस्पर संबंध जुड़ जाय।'[1] बर्ट कहता है कि 'लंदन के समूचे अपराधियों में गरीब मुहल्लों के निवासी १९ प्रतिशत हैं जब कि सारी जनसंख्या का ८ प्रतिशत गरीब मुहल्लों में निवास करता है। संक्षेप में आधे अपराधी दरिद्र परिवार के हैं, पर 'साधारणतः' संपन्न परिवारों के अधिकांश अपराधी पुलिस के चंगुल से अपने को बचा लेते हैं।'[2]

२. कृषि की दयनीय स्थिति—कृषि से दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था, खेतों की स्थिति, उत्पादन के साधनों का अभाव, अपर्याप्त उपज, ऋणग्रस्तता और प्राकृतिक प्रकोप आदि के कारण भी अपराध बढ़ते हैं। बाढ़ और सूखा का प्रकोप होने पर लोग भूख के मारे बिलबलाने लगते हैं। उस स्थिति में अपराधों की वृद्धि स्वाभाविक है।

३. औद्योगीकरण और नागरीकरण—कारखानों के आस-पास बड़े-बड़े नगर बस जाते हैं। वहाँ व्यसन, दुराचार, जुआ, चोरी, मकानों की तंगी, गंदी बस्तियां, होटल, सिनेमा आदि का बाहुल्य रहता है। कम-से-कम श्रम करके अधिक-से-अधिक पैसा पाने की वृत्ति बढ़ती रहने से अनेक अपराध सहज ही पनपने लगते हैं। पाकेटमारी, लूट-पाट, डकैती, जालसाजी, धोखा-देही तथा ऐसे अनेक अपराध बढ़ते रहते हैं। देहातों और ग्रामों के अनुपात से बड़े नगरों में अपराधों की मात्रा अनेक गुनी होती है, इसका प्रमाण पीछे दिये गये आंकड़ों से मिल जाता है।

४. सफेदपोश अपराध—पिछले कुछ वर्षों से भारत के नगरों में सफेद-पोश अपराधों की बाढ़-सी आ गयी है। जैसे भी हो, नीति-अनीति, उचित-अनुचित का कोई भी विचार किये बिना पैसा प्राप्त करने की हविस का यह दुष्परिणाम है कि बड़े-बड़े व्यापारी, सेठ साहूकार, बड़े-बड़े अफसर और सरकारी कर्मचारी मिलकर भ्रष्टाचार में और अनैतिक कार्यों में हाथ बंटाते

---

१. हैरीएलमर बार्न्स और नेगेली के० टीटर्स : न्यू होराईजन्स इन क्रिमिनॉलॉजी, १९५९, पृ० १६२।

२. सीरिल बर्ट : दि यंग डेलिनक्वेंट, १९३८ पृ० ६८-६९-९२।

हैं। मुनाफाखोरी, कालाबाजार, तस्करी, खाद्यपदार्थों में मिलावट, झूठे बाट-बटखरे आदि अनेक कार्य दिन-दिन बढ़ते चलते हैं।

राजनीतिक कारण : 'राजनीति गंदा खेल है'—यह लोकोक्ति अत्यंत सारगर्भित है। राजनीति में सफलता पाने के लिए मानव कितने नीचे स्तर तक चला जाता है, देखकर आश्चर्य होता है। विरोधियों को कुचलने के लिए गुंडागीरी, बदमाशी, प्रलोभन आदि सभी हथकंडे काम में लाये जाते हैं। दलबदलूपन ने पिछले दिनों अनैतिकता की सीमा लाँघ दी है। कोई सिद्धांत या आदर्श नहीं। एक ही लक्ष्य रहता है कि कैसे कुर्सी प्राप्त की जाय और अपने अधिकतम स्वार्थ की पूर्ति की जाय। राजनीतिक के अखाड़िये गुंडों, बदमाशों, लुटेरों और डाकुओं के बल पर जघन्य-से-जघन्य अपराध करते-कराते हैं और लोकतंत्र के नाम पर कलंक लगाते हैं।

शिक्षा और साहित्य : भारत में अपराधों की वृद्धि में शिक्षा के विकृत-स्वरूप का और अश्लील तथा गंदे साहित्य के विशेष प्रचार का भी बड़ा हाथ है। शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए मानव का सर्वांगीण विकास और सच्चरित्र का निर्माण। पर भारत की अंग्रेजी द्वारा प्रसारित शिक्षा-पद्धति इससे सर्वथा उल्टी दिशा में जाती रही है। भोग-विलासमय जीवन और नौकरी ही उसका लक्ष्य है। उसका परिणाम आँखों के समक्ष है। साहित्य की दिशा भी शोचनीय है। देश में गंदा साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रसारित हो रहा है। उसके कारण यदि उत्तरोत्तर अपराधों की संख्या बढ़ती चल रही है तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

जनसंख्या की वृद्धि : जनसंख्या की वृद्धि से भी अपराधों की वृद्धि होती है, पर जनसंख्या को संयम और सदाचार की घुटी पिलाकर नियंत्रित किया जाय और जनमानस में श्रमनिष्ठा की भावना भरी जाय तो अपराध की बाढ़ रोकी जा सकती है। अपराध तो इसलिए बढ़ते हैं कि लोगों के समक्ष बिना श्रम के मोटी कमाई का लक्ष्य रहता है, फिर भले ही उसके लिए सत्य और ईमानदारी की बलि चढ़ानी पड़े। यदि जनता के चरित्र की दिशा नैतिक मूल्यों की ओर मोड़ दी जाय तो स्थिति सुधरना कुछ कठिन नहीं। विनोबा कहते ही हैं कि "एक मुँह बढ़ता है तो दो हाथ भी तो बढ़ते हैं।" श्रमनिष्ठा और पसीने की कमाई की वृत्ति यदि पनपे तो अपराधों पर स्वतः रोक लग जाय।

अपराधों के नियंत्रण का एक सीधा सा साधन माना गया है दंड।

दंड का इतिहास भारत में दंड का इतिहास बहुत पुराना है। वैदिक काल से लेकर आजतक दंड की परंपरा चली आ रही है। संक्षेप में उसकी प्रगति इस प्रकार है।

वैदिक काल : ऋग्वेद में न्याय को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। उस युग में शासक न्याय दंड को हाथ में लेते समय प्रजा के हितों का पूरा ध्यान रखता था। चोरी आदि के छोटे-मोटे अपराध उस समय भी होते थे, पर उनकी मात्रा अत्यंत न्यून थी और उनके लिए दंड भी बहुत हलके देने की प्रथा थी।

बौद्धकाल : बौद्धकाल में छोटे-मोटे अपराधों का उल्लेख मिलता है। अपराधों के लिए जुर्माना, कोड़े मारना, जेल, अंगभंग करना, निष्कासन आदि के रूप में दंड दिया जाता था। बड़े जुर्मों के लिए कड़े दंडों की व्यवस्था थी।

स्मृतिकाल : मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में अपराध और दंड का विस्तृत विवेचन मिलता है। सेठना ने मनुस्मृति के कानूनों का दो भागों में वर्गीकरण किया है—व्यवहार कानून और अपराधी कानून।[1] व्यवहार कानून में मुख्यतः ऋण की पुनः प्राप्ति, जमा, रेहन, बिक्री, साझेदारी, मजदूरी रोकने, अनुबंध भंग करने, बंटवारा, स्त्री-पुरुष के कर्तव्य, सीमा विवाद आदि के संबंध में कानून है। अपराधी कानून में आक्रमण, हिंसा, निंदा, चोरी, जुआ, लूट, बलात्कार आदि के कानून हैं।

मनु ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दंडों की व्यवस्था की थी। उन्होंने दंड देते समय अपराध की गुरुता पर ध्यान देने पर बल दिया था। ब्राह्मण पर मनु की विशेष कृपा दृष्टि थी। प्राणदंड देना हो तो ब्राह्मण का मुण्डन कर देना ही पर्याप्त माना था। अन्य जाति और वर्ण के लोगों को अधिक कड़ा दंड देने का भी अधिक मात्रा में जुर्माना करने का विधान था।

दंड का महत्व : मनुस्मृति में दंड का बड़ा महत्व माना है। कहा है कि दंड से ही सारा संसार अपने भोग सुख में प्रतिष्ठित है और लोग धर्म से विचलित नहीं होते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ मनुस्मृति ७।१५

---

१. एम० जे० सेठना : सोसाइटी एण्ड दि क्रिमिनल १९५४ पृ० २०३।

हैं। मुनाफाखोरी, कालाबाजार, तस्करी, खाद्यपदार्थों में मिलावट, झूठे बाट-बटखरे आदि अनेक कार्य दिन-दिन बढ़ते चलते हैं।

राजनीतिक कारण : 'राजनीति गंदा खेल है'—यह लोकोक्ति अत्यंत सारगर्भित है। राजनीति में सफलता पाने के लिए मानव कितने नीचे स्तर तक चला जाता है, देखकर आश्चर्य होता है। विरोधियों को कुचलने के लिए गुंडागीरी, बदमाशी, प्रलोभन आदि सभी हथकंडे काम में लाये जाते हैं। दलबदलूपन ने पिछले दिनों अनैतिकता की सीमा ला दी है। कोई सिद्धांत या आदर्श नहीं। एक ही लक्ष्य रहता है कि कैसे कुर्सी प्राप्त की जाय और अपने अधिकतम स्वार्थ की पूर्ति की जाय। राजनीतिक के अखाड़िये गुंडों, बदमाशों, लुटेरों और डाकुओं के बल पर जघन्य-से-जघन्य अपराध करते-कराते हैं और लोकतंत्र के नाम पर कलंक लगाते हैं।

शिक्षा और साहित्य : भारत में अपराधों की वृद्धि में शिक्षा के विकृत-स्वरूप का और अश्लील तथा गंदे साहित्य के विशेष प्रचार का भी बड़ा हाथ है। शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए मानव का सर्वांगीण विकास और सच्चरित्र का निर्माण। पर भारत की अंग्रेजी द्वारा प्रसारित शिक्षा-पद्धति इससे सर्वथा उल्टी दिशा में जाती रही है। भोग-विलासमय जीवन और नौकरी ही उसका लक्ष्य है। उसका परिणाम आँखों के समक्ष है। साहित्य की दिशा भी शोचनीय है। देश में गंदा साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रसारित हो रहा है। उसके कारण यदि उत्तरोत्तर अपराधों की संख्या बढ़ती चल रही है तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ?

जनसंख्या की वृद्धि : जनसंख्या की वृद्धि से भी अपराधों की वृद्धि होती है, पर जनसंख्या को संयम और सदाचार की घुटी पिलाकर नियंत्रित किया जाय और जनमानस में श्रमनिष्ठा की भावना भरी जाय तो अपराध की बाढ़ रोकी जा सकती है। अपराध तो इसलिए बढ़ते हैं कि लोगों के समक्ष बिना श्रम के मोटी कमाई का लक्ष्य रहता है, फिर भले ही उसके लिए सत्य और ईमानदारी की बलि चढ़ानी पड़े। यदि जनता के चरित्र की दिशा नैतिक मूल्यों की ओर मोड़ दी जाय तो स्थिति सुधरना कुछ कठिन नहीं। विनोबा कहते ही हैं कि "एक मुँह बढ़ता है तो दो हाथ भी तो बढ़ते हैं।" श्रमनिष्ठा और पसीने की कमाई की वृत्ति यदि पनपे तो अपराधों पर स्वतः रोक लग जाय।

अपराधों के नियंत्रण का एक सीधा सा साधन माना गया है दंड। भारत में दंड का इतिहास बहुत पुराना है। वैदिक काल से लेकर आजतक दंड की परंपरा चली आ रही है। संक्षेप में उसकी प्रगति इस प्रकार है।

दंड का इतिहास

वैदिक काल : ऋग्वेद में न्याय को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। उस युग में शासक न्याय दंड को हाथ में लेते समय प्रजा के हितों का पूरा ध्यान रखता था। चोरी आदि के छोटे-मोटे अपराध उस समय भी होते थे, पर उनकी मात्रा अत्यंत न्यून थी और उनके लिए दंड भी बहुत हलके देने की प्रथा थी।

बौद्धकाल : बौद्धकाल में छोटे-मोटे अपराधों का उल्लेख मिलता है। अपराधों के लिए जुर्माना, कोड़े मारना, जेल, अंगभंग करना, निष्कासन आदि के रूप में दंड दिया जाता था। बड़े जुर्मों के लिए कड़े दंडों की व्यवस्था थी।

स्मृतिकाल : मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में अपराध और दंड का विस्तृत विवेचन मिलता है। सेठना ने मनुस्मृति के कानूनों का दो भागों में वर्गीकरण किया है—व्यवहार कानून और अपराधी कानून।[1] व्यवहार कानून में मुख्यतः ऋण की पुनः प्राप्ति, जमा, रेहन, बिक्री, साझेदारी, मजदूरी रोकने, अनुबंध भंग करने, बंटवारा, स्त्री-पुरुष के कर्तव्य, सीमा विवाद आदि के संबंध में कानून है। अपराधी कानून में आक्रमण, हिंसा, निंदा, चोरी, जुआ, लूट, बलात्कार आदि के कानून हैं।

मनु ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दंडों की व्यवस्था की थी। उन्होंने दंड देते समय अपराध की गुरुता पर ध्यान देने पर बल दिया था। ब्राह्मण पर मनु की विशेष कृपा दृष्टि थी। प्राणदंड देना हो तो ब्राह्मण का मुण्डन कर देना ही पर्याप्त माना था। अन्य जाति और वर्ण के लोगों को अधिक कड़ा दंड देने का भी अधिक मात्रा में जुर्माना करने का विधान था।

दंड का महत्व : मनुस्मृति में दंड का बड़ा महत्व माना है। कहा है कि दंड से ही सारा संसार अपने भोग सुख में प्रतिष्ठित है और लोग धर्म से विचलित नहीं होते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ मनुस्मृति७।१५

---

१. एम० जे० सेठना : सोसाइटी एण्ड दि क्रिमिनल १९६४ पृ० २७५।

दण्डःशास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।। मनु० ७।१८

दंड ही सब प्राणियों का शासन करता है। दंड ही सब की रक्षा करता है। सब सोते हैं तब भी दंड जगता रहता है। विद्वान् लोग दंड को ही धर्म मानते हैं।

राजा का कर्त्तव्य माना गया है कि वह दंडनीय अपराध को समुचित दंड प्रदान करे। दंड न हो तो बलवान लोग दुर्बलों को लोहे के कांटों में गुंथी मछलियों की भांति भून डालते—

यदि न प्रणयेद्राजा डण्डं दण्ड्ये स्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलस्वलवत्तराः ।। मनु० ७।२०

दंड के भेद : दंड के कई भेद किये गये हैं। सबको एक ही लाठी से हांकने का निषेध है। कहा गया है—

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डन्तु वधदण्डमतः परम् ।। मनु० ८।१२९

पहले मीठे वचन से शासन करे। उससे काम न चले तो उसके उपरांत धिक्कार या निंदा द्वारा शासन करे। वाक् दंड और धिक दंड के असफल होने पर अर्थ दंड दे और सबके अन्त में अंगभंग, शारीरिक दंड या वध दंड दे।

स्मृतियों में अपराध को पाप मानकर उसके लिए नाना प्रकार के 'प्रायश्चित्त' और 'पश्चात्ताप' भी बताये गये हैं। पश्चात्तापों द्वारा दंड के स्थान पर सुधार को प्रश्रय दिया गया था।

दंड देने के दस स्थान बताये गये हैं—उपस्थ, उदर, जिह्वा, दोनों हाथ, दोनों पैर, आँख, नाक, दोनों कान, धन और सारा शरीर—

उपस्थमुदरं जिह्वा पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ।। मनुस्मृति ८।१२५

सूत्र साहित्य में, कौटल्य के अर्थशास्त्र में हिंदू धर्म शास्त्रों के अनुकूल दंड का विधान मिलता है। मुसलमानों के शासन काल तक दंड की ऐसी ही व्यवस्था चलती रही।

मुस्लिम काल : भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य जमने पर कुरान शरीफ के आधार पर दंड की व्यवस्था चालू हुई। उसमें मुसलमानों के लिए थोड़ा बहुत पक्षपात रहता ही था। काजी, मुफ्ती, अदल न्यायाधिकारी थे। दंड कठोर दिया जाता था। हिंदुओं के दीवनी मुकदमों में हिंदू रीतिरिवाजों का ध्यान रखा जाता था।

मराठों के शासन काल में धार्मिक प्रथाएँ और परंपराओं के आधार पर ही मुख्य रूप से दंड की व्यवस्था की जातीं थी।

ब्रिटिश शासन काल : अंग्रेजों ने जैसे-जैसे भारत में अपने पैर फैलाने शुरू किये, वैसे-वैसे उन्होंने यहाँ अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा-दीक्षा और अपनी न्यायव्यवस्था आदि भी फैलानी शुरू की। उस समय भारत में कोई एक न्यायव्यवस्था नहीं थी। कहीं मनुस्मृति और हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार कुछ नियम-कायदे चल रहे थे, कहीं मुसलिम शरीयत के अनुसार। इंगलैंड में भी पहले कोई लिखित दंड विधान नहीं था। केवल अंग्रेजी नजीरें चलती थीं। अंग्रेजों ने इन सबको मिला-जुलाकर भारत के लिए दंड विधान की व्यवस्था की।

भारतीय दंड संहिता

लार्ड विलियम बैंटिंग ने न्यायव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए दीवानी और फौजदारी अदालतें पृथक्-पृथक् कर दीं। मजिस्ट्रेटों और जजों की नियुक्ति की।

कोड़ा मारने की प्रथा, बाल हत्या पर और ठगी पर नियंत्रण करने के लिए बैंटिंग ने विशेष व्यवस्था की। ठगी बंद करने का काम लार्ड स्वीमैन पर सौंपा, जिसने इस दिशा में अच्छा कार्य किया।

लार्ड मेकाले के परामर्श पर भारतीय दंड संहिता को व्यवस्थित रूप दिया गया। ६ अक्टूबर १८६० को सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत होकर १ जनवरी १८६२ से वह लागू हो गया। १८९१, १९३७, १९४८, १९५०, १९५१, १९५४, १९५७, १९५८ में उसमें अनेक संशोधन किये गये। स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय दंड संहिता में कितने ही महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए हैं। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की जो मूल भावना संविधान में रखी गयी है, उस दृष्टि से भारतीय दंड संहिता में समय-समय पर संशोधन हो रहे हैं। दंड की अपेक्षा सुधार पर अधिक बल देने के उद्देश्य से दंड

और जेल की व्यवस्था को पुनर्गठित करने का प्रबंध किया गया है। आये दिन उसमें विशिष्ट सुधार होते चल रहे हैं।

भारतीय दंड संहिता में अपराधों को ७ वर्गों में विभाजित किया है—

अपराधों का वर्गीकरण

(१) मानव शरीर के विरुद्ध अपराध, (२) संपत्ति के विरुद्ध अपराध, (३) लिखित प्रमाण के विरुद्ध, अपराध, (४) मस्तिष्क को प्रभावित करनेवाले अपराध, (५) सारी जनता को प्रभावित करनेवाले अपराध, (६) राज्य के विरुद्ध अपराध और (७) सरकारी कर्मचारियों द्वारा अपराध।

मानव शरीर के विरुद्ध अपराध : इस श्रेणी में गैर कानूनी मानव हत्या, आत्महत्या, आत्महत्या का प्रयत्न; गर्भपात, शिशु जन्म को छिपाना, साधारण या गंभीर चोट, वंध्याकरण, आँख, कान, दांत, अंग को विकृत या नष्ट करना, गलत प्रतिरोध, गलत रोक रखना, दूसरों के कार्य में बाधा डालना, आक्रमण, अपहरण, बलात्कार, अप्राकृतिक अपराध आदि आते हैं।

संपत्ति के विरुद्ध अपराध : इस श्रेणी में चोरी, अवैध धनापरण, लूट, डकैती, दूसरे की संपत्ति हड़पना, चोरी का माल लेना, धोखा, प्रकट, कपट संपत्ति का कुप्रबंध, मकान आदि में अपराधपूर्ण अतिक्रमण, मकान गिराना आदि आता है।

लिखित प्रमाण के विरुद्ध अपराध : इस श्रेणी में जाली चैक, हस्ताक्षर बनाना, गलत व्यापार चिह्नों का प्रयोग करना, जाली नोट छापना आदि आता है।

मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले अपराध : इस श्रेणी में किसी व्यक्ति को लिखकर, कहकर, प्रकाशित कर उसकी मानसिक शक्ति को प्रभावित करना, उसे बदनाम करना, शरीर या संपत्ति को नष्ट करने की धमकी देना, पीड़ा, बाधा या रुकावट डालना आदि आता है।

जनता को प्रत्यक्ष प्रभावित करनेवाले अपराध : इस श्रेणी में शांति और व्यवस्था को भंग करना, उत्तेजना फैलाना, गैरकानूनी संघ का सदस्य बनना, दंगा करना, विभिन्न वर्गों के बीच शत्रुता बढ़ाना, कलह करना, सार्वजनिक अशांति फैलाना, लाटरी केन्द्र खोलना आदि आता है।

राज्य के विरुद्ध अपराध : इस श्रेणी में शासक के विरुद्ध युद्ध चलाना,

राजद्रोह कराना, गदर उकसाना, गलत मुद्रा या टिकट बनाना, कानूनी आदेश का अवहेलना करना, गलत गवाही देना आदि आता है।

सरकारी कर्मचारियों द्वारा अपराध : इस श्रेणी में सरकारी कर्मचारियों द्वारा किये गये वे अपराध आते हैं जिनमें रिश्वत ली जाती है या ऐसे लेख-पत्र तैयार किये जाते हैं जिससे किसी को चोट पहुँचे अथवा गैरकानूनी ढंग से व्यापार करना या संपत्ति खरीदना आदि सम्मिलित हैं।

दंड व्यवस्था

भारतीय डंड संहिता में अपराधियों के लिए ७ प्रकार के दंड निर्धारित हैं—(१) मृत्यु, (२) देश निकाला, (३) समूह से पार्थक्य, आजीवन कारावास, (४) कारागार, (५) संपत्ति की जब्ती, (६) जुर्माना, (७) कोड़े लगाना और सामाजिक अप्रतिष्ठा।

प्राणदंड : हत्या, हत्या का प्रयास, आत्महत्या के लिए उकसाना, झूठी गवाही, डकैती, शासक के विरुद्ध भड़काना, गदर के लिए उकसाना आदि अपराधों के लिए मृत्युदंड का विधान है। स्वतंत्र होने के उपरांत मृत्युदंड उठाने के लिए कई बार प्रयत्न किये गये। २९ मार्च १९४९ को पहली बार प्राणदंड समाप्त करने का प्रश्न उठाया गया। २५ अप्रैल १९५८ को दूसरी बार, ८ सितंबर १९६१ को तीसरी बार लोकसभा में यह प्रश्न उठाया गया। १९६२ में फिर यह प्रश्न उठाया गया। अभीतक यह दंड उठाया नहीं जा सका, यों प्राणदंड की सजा का उपयोग उत्तरोत्तर कम हो रहा है।

देशनिकाला : ब्रिटिश शासन काल में काले पानी की सजा दी जाती थी। ऐसे अपराधियों को अंदमान निकोबार द्वीप में भेज दिया जाता था। देश की स्वतंत्रता के उपरांत देश निष्कासन की यह सजा बंद कर दी गयी है।

पार्थक्य : देश निष्कासन के बदले में दी जानेवाली इस सजा का उद्देश्य समूह से पृथक् रखना होता है जिससे अपराधी समाज में रह कर अपराध न कर सके। इसमें सपरिश्रम दंड की व्यवस्था रहती है।

कारागार: नाना प्रकार के अपराधों पर निश्चित अवधि के लिए कारागार की सजा दी जाती है। सादी और कठोर, ऐसे दो प्रकार इस सजा के होते हैं। सादी सजा में कोई काम नहीं करना पड़ता। कठोर सजा में श्रम करना पड़ता है।

सम्पत्ति दंड : इसके कई प्रकार हैं। जैसे, पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण, लाभ और किराये का अपहरण, विशिष्ट सम्पत्ति का अपहरण आदि।

जुर्माना और बेंत : सामान्य अपराधों के लिए कुछ रकम जुर्माने के रूप में वसूल की जाती है। जुर्माना न देने पर कैद काटने का विधान रहता है। साधारण अपराधों के लिए बेंत की सजा का भी प्रयोग किया जाता है। जेल में अपराध करने पर अपराधियों को भी बेंत की सजा दी जाती है। इन दंडों के साथ सामाजिक अप्रतिष्ठा तो जुड़ी ही है।

अपराध द्वारा कानून का उल्लंघन होता है, समाज की शांति और सुरक्षा में बाधा आती है; व्यक्ति का, परिवार का, समाज और समुदाय का विघटन होता है। सामाजिक ढांचे पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया होती है। इस संकट से बचाने के क्या उपाय हो सकते हैं, इसका निरोध हो सकता है क्या,—इन प्रश्नों पर विचारक और समाजशास्त्री शताब्दियों से विचार करते आ रहे हैं।

अपराध निवारण

अपराध के निरोध के लिए दंड की व्यवस्था आदि काल से चलती आ रही है। घोर-से-घोर भयंकर और कठोर दंड देकर देख लिया गया है। उनसे थोड़ा बहुत लाभ भले ही हुआ है, अपराध की समस्या का निराकरण नहीं हो सका है। उदाहरण तो ऐसे भी हैं कि जेब काटने जैसे अपराध पर सामने ही एक व्यक्ति को फांसी पर लटकाया जा रहा है और उसी दर्शक भीड़ में लोग जेब काट रहे हैं! दंड की व्यर्थता का इससे बढ़कर उदाहरण और क्या चाहिए?

अपराध निवारण के लिए प्रतिशोध, प्रतिरोध और निरोधात्मक सिद्धांत निकाले गये हैं। प्रतिशोध में दांत के लिए दांत,आँख के लिए आँख का सिद्धांत लागू किया जाता है। हत्या के कानूनी हत्या—फांसी और चोरी के लिए जुर्माना जैसा विधान है। प्रतिरोधात्मक सिद्धांत में कठोर दंड देकर, भय दिखलाकर अपराध रोकने का प्रयत्न किया जाता है। निरोधात्मक सिद्धांत में अपराधियों को समाज से दूर रखने के लिए जेल की व्यवस्था की जाती है अथवा प्राणडंड देकर उसे सदा के लिए परे हटा दिया जाता है। 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी'—सिद्धांत इसी तथ्य पर बल देता है।

पर इन सब प्रयोगों से कोई बहुत लाभ हुआ हो, ऐसा देखने में नहीं आता। अपराधों की संख्या में, अपराधों के अनुपात में उत्तरोत्तर वृद्धि ही

देखने में आ रही है। इससे अपराध शास्त्रियों और समाज शास्त्रियों को ऐसा लगा कि अपराध निवारण के ये सारे उपाय बहुत उपयोगी नहीं हैं।

अपराध के विभिन्न सिद्धांतों की असफलता ने सुधार का सिद्धांत खड़ा किया। सुधारात्मक सिद्धांत के प्रतिपादक मानते हैं कि एक तो समाज का वातावरण ऐसा बनाया जाय कि उसमें अपराधों का जन्म ही न हो। दूसरे, अपराधियों को इस प्रकार सुधारा जाय कि वे अपराध करें ही नहीं तथा अपने को समाज का योग्य नागरिक बनायें। प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप भी उसका एक साधन रहा है।

सुधार का मार्ग

अपराधी अपराध न करें, उनके मानस में पश्चात्ताप की भावना का उदय होकर उन्हें इतना अभिभूत कर ले कि वे अपना भावी जीवन सदाचारमय ही बनायें,—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अपराधी को सुधार की ओर उन्मुख करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनमें सुधारात्मक संस्थाओं और प्रक्रियाओं का विशेष स्थान है।

आज के विचारक यह मानने लगे हैं कि सामाजिक स्थिति, तथा मानसिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति ही अपराध के लिए मूल रूप से उत्तरदायी है। उसका निवारण कर दिया जाय तो अपराधों को सहज ही निर्मूल किया जा सकता है।

महात्मा गाँधी ने इस समस्या पर गहराई से विचार किया था। उनका कहना था कि 'हमारे कोश में 'अपराधी' शब्द के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। अथवा यों कहें कि हम सब अपराधी हैं। 'तुममें से जो सर्वथा निष्पाप हो, वह पहला पत्थर मारे'। परंतु पापिनी वेश्या पर पत्थर फेंकने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। जैसा एक जेलर ने एक बार कहा था कि भीतर से हम सब अपराधी हैं। यह कहा तो गया था आधे मजाक में, लेकिन इसमें गहरा सत्य भरा है। इसलिए हम सब अच्छे साथी बनें। ऐसा कहना आसान और करना कठिन है लेकिन सारे धर्म हमें ठीक ऐसा ही करने की शिक्षा देते है।'[१]

गाँधी की कल्पना

---

१. बापू के पत्र मीरा के नाम, १९५९ पृ० १८०।

जेलों का इतिहास

हुए कहा है कि 'उस समय की जेलें अत्यंत भयानक थीं। जेल की कोठरियों में वंदियों को जंजीरों और वजनी पदार्थों से जकड़कर और बांधकर रखा जाता था और सामान्य से बहाने पर कोड़े वरसाये जाते थे।'[१] मौर्य-काल, मुगलकाल, मराठा काल आदि में भी जेलों की स्थिति सामान्य थी। जेलों का उद्देश्य वंदी के प्रति कठोर व्यवहार करना ही रहता था।

सुधार का श्रीगणेश : इंग्लैंड के जान हावर्ड, एलिजावेथ फाइ ने जेलों की स्थिति सुधारने के अठारहवीं शताब्दी के अंत में विशेष प्रयत्न किए। अमेरिका में फिलाडेलफिया में क्वेकरों ने भी उसी समय इसके लिए विशेष जोर लगया। वंदियों को शांत और सदाचारी रहने के लिए जब उपदेशक वालनट स्ट्रीट जेल पर पहुँचे तो उपदेशक का सारा वहुमूल्य सामान रखा लिया गया और वंदियों के समक्ष भरी तोप लगा दी गयी कि यदि उन्होंने उपद्रव किया तो उनपर गोले वरसने लगेंगे। ऐसी स्थिति में सुधार की भेरी फूंकी गयी।[२] भारत में जेलों के सुधार का आरंभ जेल सुधार समिति, १८३६ के गठन से होता है। लार्ड मेकाले ने सवसे पहले इस ओर ध्यान दिया। १८३८ में बनी पहली जेल सुधार समिति ने जो सुझाव दिये, उनमें केंद्रीय जेल की स्थापना पर तथा सभी प्रांतों में जेल निरीक्षक की नियुक्ति तथा जेलों में वंदियों के निवास की समुचित व्यवस्था पर जोर दिया गया।

१८६२ में दूसरी जेल सुधार समिति वनी। उसके वाद तीसरी, चौथी और सुधार समितियां वनती गयीं। १८९४ में जेल अधिनियम बना जिसका कि जेलों को एक रूप बनाने में वड़ा हाथ रहा।

१९१९-२० में अलेक्जेंडर काड्यू की अध्यक्षता में भारतीय जेल समिति वनी। इस समिति ने बर्मा, जापान, फिलीपाइन, हांगकांग, इंगलैंड तथा भारत की अनेक जेलों की स्थिति का अध्ययन करके जो रिपोर्ट दी उसमें इस बात पर बल दिया कि वंदी 'जव तक जेलों में रहें तबतक उनपर ऐसे प्रभाव डालने चाहिए जिससे न केवल वे भविष्य में अपराध करने को अपने को विरत करें, अपितु उनके चरित्र पर भी सुधारात्मक प्रभाव पड़े।'

---

१. एम० जे० सेठना : सोसाइटी एण्ड दि क्रिमिनल, १९६४, पृ० २७५।

२. एडविन एच० सदरलैण्ड : प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी, १९५५, पृ० ४४६; स्कार्फ और वेस्टकाट : हिस्ट्री आफ फिलाडेलफिया, १८८४, पृ० ४४४-४४५।

इस समिति ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि कठोरता बरतने से अपराधी का सुधार संभव नहीं है। उसका सुधार तो केवल तभी हो सकेगा जब वह स्वयं महसूस करेगा कि उसने कोई गलत कार्य किया है।

काड्यू कमेटी ने बंदियों को पौष्टिक और उत्तम भोजन देने, दो जोड़ी वस्त्र देने, उनके लिए पुस्तकालय की व्यवस्था करने, उनको संबंधियों से मिलने, उनसे पत्र-व्यवहार करने, उनकी चिकित्सा का प्रबंध करने आदि के सुझाव दिये। कोड़े लगाने की सजा को अमानुषिक बताकर उसे बंद करने की संस्तुति की। उन्हें पैरोल पर छोड़ने और जेल से मुक्ति के समय कुछ आर्थिक सहायता देने आदि का भी सुझाव दिया।

पहले जेल केंद्रीय विषय था। १९१९ में भारत सरकार अधिनियम कार्यान्वित होने पर यह प्रांतीय विषय हो गया। इससे जेलों के प्रबंध में एकरूपता नहीं आ सकी। १९४६ में बनी जेल सुधार समिति ने अपराधियों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण करने पर बल दिया। जैसे,—बाल अपराधी, वयस्क अपराधी, महिला अपराधी, आकस्मिक अपराधी, अभ्यस्त अपराधी, मनोवैज्ञानिक अपराधी, अपंग अपराधी। समिति ने आदर्श जेलों की स्थापना पर बल दिया और बाल अपराधियों के प्रति विशेष प्रकार का व्यवहार करने का सुझाव दिया।

१९२० से लेकर १९४२ तक गाँधी जी के सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के फलस्वरूप भारी संख्या में सत्याग्रही जेलों में गये। उन्होंने जेलों की स्थिति का स्वयं रहकर उसका अध्ययन किया। बाद में इनमें से अनेक व्यक्ति उत्तरदायी पदों पर कार्य करने लगे। उन्होंने भी जेलों की स्थिति सुधारने में बड़ी रुचि ली।

स्वतंत्र भारत में जेलों की स्थिति सुधारने और बंदियों के सुधार की ओर राज्य सरकारों का विशेष ध्यान है।

सुधार कार्यक्रम

बंदियों और अपराधियों के सुधार के लिए उनके कारावास में रहते समय उनके प्रति सुधारवादी दृष्टि से व्यवहार करना, उन्हें मानवोचित सुख-सुविधाएँ देने और उन्हें योग्य नागरिक बनाने की तो आवश्यकता है ही, जेल से छूटने पर भी उनकी समुचित सहायता करने की आवश्यकता है। उन्हें ऐसे कला-कौशल सिखाने की आवश्यकता है कि वे बाहर आकर अपने पैरों पर खड़े हो सकें। उनमें ऐसे चारित्रिक गुणों का भी विकास करने की

आवश्यकता है कि वे अपराध से विरत रहें और अपने चरित्र और व्यवहार से उत्तम नागरिक बन सकें।

अपराध को निर्मूल करने के लिए ऐसा सुधार कार्यक्रम चलाना आवश्यक है कि अपराधी स्वयं अपनी भूल महसूस करे और भविष्य में अपने अपराध की पुनरावृत्ति न करे।

जेलों में रहते समय जेल के अधिकारियों को बंदियों के प्रति ऐसा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए जिससे उनके मानवीय गुणों का भरपूर विकास हो सके और वे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हो सकें। उनके प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था हो। उन्हें बौद्धिक और नैतिक शिक्षण ऐसा दिया जाय जिससे उनकी सुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो कर वे सन्मार्ग की ओर बढ़ सकें। जेलें उनके लिए शिक्षालय का काम करें।

वंदियों को अपने घरवालों से मिलने-जुलने की भी समुचित सुविधाएँ रहनी चाहिए जिससे जेल के एकांतवासी का उनपर कुप्रभाव न पड़े। प्रोवेशन और पैरोल आदि की व्यवस्थाएँ इस कार्य में अच्छी सहायक सिद्ध हुई हैं।

जेल में मनोवैज्ञानिक उपचार की भी व्यवस्था रहनी चाहिए। उसका अपराधियों के मानस पर अच्छा प्रभाव पड़ता और पड़ सकता है।

मानसोपचार

अमेरिका में अनेक जेलों में सामूहिक रूप से मानसिक उपचार का प्रवंध रहता है। इस उपचार में ४ वातें होती हैं—(१) वंदी की समस्याओं और वैयक्तिक विशेषताओं पर अंतरंग समुदाय मिलकर विचार करता है। उसमें एक मनोचिकित्सक भी रहता है जो वस्तुस्थिति के विश्लेषण और उसके मूल तक पहुंचने में सहायता करता है (२) वस्तुस्थिति समझने से अंतर्दृष्टि आती है। वंदी को 'दोष' का कुछ पता चलता है। (३) फिर वंदी को 'समाज के विधिनिषेधों' को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है। विचार विनिमय से इसका मार्ग प्रशस्त होता है। (४) क्रमानुसार सभी वंदियों का जब ऐसा विश्लेपण होता है तो सभी 'कानून का पालन करनेवाले व्यक्ति बनने को उत्सुक होते हैं।''[१] मानस चिकित्सा की ही एक प्रक्रिया मद्यपियों की 'एलकोहोलिक एनानीमस' संस्था द्वारा व्यवहृत आत्मनिर्देशन की प्रक्रिया है। इस

---

१. सदरलैण्ड: प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी, पृ० ४९२-४९६ 'ग्रुप थेरेपी'

संस्था ने मद्य-निषेध को सफल करने में बड़ी सहायता पहुँचायी है। इसका सदस्य जाता तो है अपने सुधार के लिए, पर अपने सुधार के साथ-साथ वह सुधारक बनकर आगे आता है ।[१] ऐसी मानसिक चिकित्साओं की जेलों में समुचित व्यवस्था होनी चाहिए जिनसे अपराधी आत्मसुधार के लिए कृत संकल्प हों और आत्मोद्धार में जी-जान से जुट जायँ ।

आदर्श कारागार, सुधार विद्यालय, रिमाण्डहोम, बोर्स्टल संस्थाएँ, निर्देशन अस्पताल, बंदी सहायता समिति, बाल कल्याण संस्था, महिला कल्याण संस्था, परिवार सलाहकार मंडल, सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य समिति, उत्तर संरक्षण समिति जैसी अनेक सुधारात्मक संस्थाएँ अपराधियों को नाना प्रकार से सहायता पहुँचाती हैं। सब अपने-अपने विशिष्ट कार्यक्रमों द्वारा अपराध निवारण का प्रयत्न करती हैं। उद्देश्य सभी के अच्छे हैं, परंतु उनमें सफलता उसी अंश में मिलती है, जिस अंश में उन सुधारात्मक संस्थाओं के अधिकारी सहानुभूति और करुणा से ओत-प्रोत होते हैं। कारण, इसमें मूल बात है— संवेदना। संवेदना, प्रेम, करुणा, उदारता और सहानुभूति की मात्रा जितना अधिक होगी, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त हो सकेगी।

सुधारात्मक संस्थाएँ

अपराधियों को अधिकतम स्वातंत्र्य देने के उद्देश्य से, उनमें मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा करने तथा उन्हें ऊपर उठाने के लिए अनेक वर्षों से भारत में स्थान-स्थान पर खुली जेलों का प्रयोग किया जा रहा है। उसका नवीनतम उदाहरण मध्यप्रदेश में मुंगावली की खुली जेल है, जिसका नाम रखा गया है 'नवजीवन शिविर'।

खुली जेल का प्रयोग

भुना से ५० किलोमीटर और बीना से ६८ किलोमीटर पर बीना-कोटा लाइन पर स्थित मुंगावली पहले ग्वालियर राज्य में थी। सौ साल पूर्व महाराजा माधव राव सिंधिया ने जरायम पेशा के मोगियों और बागड़ियों को यहाँ बसाने का प्रयोग किया था। वे भी इन लोगों को प्रतिष्ठित नागरिक बनाने को उत्सुक थे।

मई-जून १९६० में चम्बल के बेहड़ों में जब विनोबा का प्रेम अभियान चला तो मेजर यदुनाथ सिंह तथा कुछ सर्वोदय कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से २०

---

१. वही, पृष्ठ ४६६

दुर्दांत डाकुओं ने, जो अपने-आपको 'बागी' कहते हैं, विनोबा के समक्ष आत्म-संमर्पण किया। मानसिंह-रुपा दल का यह समर्पण विश्व को चमत्कृत करनेवाली घटना थी, परंतु सरकार और पुलिस के असहयोग के कारण उसकी फलश्रुति आगे न बढ़ सकी। स्वामी कृष्णानंद के शब्दों में 'पुलिस अधिकारियों ने अपना अपमान अनुभव किया। मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्य-मंत्री, गृहमंत्री और महा निरीक्षक, पुलिस श्री रुस्तम जी ने सहयोग तो दूर, समर्पण के कार्य के प्रति विरोधी रुख अपना कर वाणी और करनी से विरोध किया। इससे परिस्थिति प्रतिकूल बनी। समर्पण का कार्य आगे न बढ़ सका। एक युग बीत गया। समय ने करवट बदली। कालपुरुष की प्रेरणा से अप्रैल ७२ में बागियों के आत्म समर्पण कार्य आरंभ हुआ। जून १९७२ तक लगभग ४७५ दस्युओं ने आत्म समर्पण किया। परिस्थिति परिवर्तन, विचार परिवर्तन एवं हृदय परिवर्तन, तीनों का एक प्रकार से परिवर्तन होते देखा गया है।'[1] विनोबा के इशारे पर जयप्रकाश बाबू के समक्ष हुए इस व्यापक समर्पण ने देश के अपराध शास्त्र के इतिहास में एक नयी कड़ी जोड़ दी है। लाखों रुपयों के इनामवाले दस्युओं का यह समर्पण अनोखा है। मोहर सिंह पर २ लाख का इनाम था, माधोसिंह पर १॥ लाख का। १०-१०, १२-१२ हजार के कई थे।

१९६० में जब विनोबा के समक्ष २० बागियों में आत्मसमर्पण किया था तो वह समर्पण बिना शर्त्त का समर्पण था। इस समर्पण में बड़े-बड़े इनामी बागी यद्यपि फांसी पड़ने को भी प्रस्तुत थे फिर भी सरकारों से बात करके ऐसा आश्वासन दिया गया था कि फांसी किसी को नहीं दी जायगी। जयप्रकाश बाबू ने बागियों से कह दिया था कि 'चाहे अदालत की तरफ से किसी को मौत या फाँसी की भी सजा हो जाय, मैं किसी को फांसी नहीं पड़ने दूँगा। आपकी जान और अपनी जान मैंने एक तराजू पर रख दी है और अपनी जान की बाजी लगा दी है।'[2] सरकारों से बागियों की आत्म-समर्पण की भावना का आदर करते हुए जयप्रकाश बाबू ने यह भी मांग की थी कि उनके लिए खुली जेल की व्यवस्था की जाय। मुंगावली की खुली जेल उसी का परिणाम है।

---

१. स्वामी कृष्णानन्दः भूदान यज्ञ, ४ जून १९७३, लेख-तीन परिवर्तन एक साथ_ हुए।

२. प्रभाष जोशी, अनुपम मिश्र और श्रवण कुमार गर्ग: चम्बल की बंदूकें गांधी के चरणों में, अप्रैल १९७२ पृ० १०५

क्रांतिकारी कदम : १४ नवंबर १९७३ को मुंगावली की खुली जेल का उद्‌घाटन करते हुए जयप्रकाश जी ने कहा कि, 'मेरे लिए यह बड़े संतोष का विषय है कि मध्यप्रदेश शासन ने पूरा सोच-विचार करने के बाद खुली जेल के संबंध में मेरे आग्रह को स्वीकार कर लिया। सरकार का यह कदम सराहनीय और कल्याणकारी है। चबंल घाटी और बुंदेलखंड में बागियों के आत्म-समर्पण से जुर्म और मुजरिमों की कठिन समस्या का एक नया हल निकला जो समाज तथा मुजरिमों, दोनों के लिए वर्तमान प्रथा से अधिक कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। समर्पितों को दंड होने के बाद पुरानी किस्म की ही जेलों में यदि रखा जाता तो जो भी उनके मानस और हृदय पर नये संस्कार पड़े हैं, वे भी लुप्त हो जाते और वे पहले के मुकाबले में और भी खूंखार बनकर निकलते।'[१] बागियों के बीच बोलते हुए उन्होंने कहा कि 'हमें अपराध और दंड के प्रति अपनी दृष्टि बदलनी होगी। मुझे मालूम है कि डाकुओं के साथ किये जा रहे ऐसे व्यवहार कतिपय सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में जघन्य अपराधों के लिए दोषी पाये गये अपराधियों को लाड़-लड़ाना माना गया है। यह बड़े दुःख की बात है कि अपराध और दंड के मामले में कुछ नौकरशाह और राजनीतिक नेता बहुत ही दकियानूस और पिछड़े हुए हैं। वे अभी भी दाँत के लिए दाँत और मौत के लिए मौत के दर्शन से चिपके हुए हैं। उन्हें कोई अंदाज नहीं है कि दंडशास्त्र के ऐसे दर्शन की कितनी भारी और भयानक सामाजिक, नैतिक और भौतिक कीमत समाज को चुकानी पड़ती है। इन लोगों को अभी यह समझना है कि अपराधी एक बीमार आदमी की तरह होता है और समाज का काम उसे उसके रोग के लिए दंडित करना नहीं, बल्कि उसका इलाज करना है।'[२]

मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने खुली जेल के उद्‌घाटन के अवसर पर कहा कि 'खुली जेल का यह कदम समाज सुधार के क्षेत्र में भले ही एक परीक्षण है, लेकिन दंडविधान के क्षेत्र में क्रांति से कम नहीं। जिस राह पर हम चले हैं, वह काँटों से एकदम मुक्त नहीं, फिर भी यह रास्ता समाज-सुधार और मानव की सच्ची उन्नति का तो है ही, इस प्रदेश की सदियों पुरानी डाकू समस्या के स्थायी हल का भी एक मात्र उपाय यही है।'[३] कानून मंत्री कृष्णपाल सिंह ने खुली जेल की समस्या

१. जयप्रकाश नारायण : उद्‌घाटन भाषण, भूदान यज्ञ, १४ नवंबर १९७३ पृ० ५
२. जयप्रकाश नारायण : दान यज्ञ २६ नवंबर १९७३, पृ० ७५
३. प्रकाश चंद्र सेठी : भूदान यज्ञ, १४ नवंबर १९७३, पृ० ५

का विस्तृत अध्ययन किया, त्रिवेन्द्रम में इसका प्रयोग भी देखा और मुंगावली में इसे चालू करते समय कहा कि "मेरे मन में' यह है कि यहाँ से जो लोग निकलें वे मानवता के सिपाही बनकर निकलें।'[1]

अहिंसा का प्रयोग

अपराध निवारण के क्षेत्र में अभी तक हिंसा का ही प्राबल्य रहा है। डंडा, जेल और फांसी का रास्ता, निर्वासन, सामाजिक अप्रतिष्ठा और शारीरिक दंड का रास्ता अपराध-निवारण की दिशा में कुछ विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सका। गाली और गोली का रास्ता क्षण भर के लिए भले ही लोगों को आतंकित करके कुछ प्रभाव डाल ले, परंतु उसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। सताकर, प्रतिशोध लेकर अपराध को रोकने का तरीका गलत है। डंडा, जेल और फाँसी के रास्ते से आतंक पैदा किया जा सकता है, अपराधी का सुधार नहीं।[2]

बागियों का समर्पण : अपराध के निर्मूलन का स्थायी और सफल उपाय अहिंसा का ही हो सकता है। सुधारात्मक सिद्धांत प्रेम, दया और दुआ का रास्ता ही बताता है। गाँधी और विनोबा ने इसी मार्ग का प्रतिपादन किया। १९६० में चम्बल के बेहड़ों में इसी का प्रयोग किया गया। राज्य सरकारों और पुलिस प्रशासन का भरपूर सहयोग न मिल पाने के कारण उस समय केवल २० बागियों के समर्पण तक ही बात रह गयी। बारह साल बाद इस बीज में से पौधा फूटा और लगभग ४५० बागियों ने जयप्रकाश के समक्ष आत्म समर्पण करके चम्बल की डाकू सयस्या के निराकरण का एक उत्तम मार्ग प्रशस्त किया। इस शताब्दी का यह सबसे महान समर्पण है। उसमें अपराध शास्त्रियों के सोचने के लिए भी पर्याप्त सामग्री है, दंडशास्त्रियों के लिए भी।

चम्बल की समस्याओं में, गरीबी, वैमनस्य, आतंक, पारस्परिक झगड़े, पुलिस और पटवारी आदि का सम्मिलित कुचक्र है। हिंसा से उस समस्या का निराकरण हो सकता तो वारेन हेस्टिंग्स, लार्ड आकलैण्ड, कर्नल स्लीमैन जैसे लोग आज से एक शताब्दी पूर्व ही उसका निराकरण कर लिए होते। गाली और गोली सफल हो जाती, परंतु हुआ क्या, अहिरावण के रक्त की एक-एक बूंद से नये-नये अहिरावणों का जन्म होता गया। समस्या 'जस-की-तस' बनी रही।

---

१. भूदान यज्ञ, १४ नवंबर १९७३ पृ० १५

२. श्री कृष्णदत्त : चम्बल के बेहड़ों में, अक्तूबर १९६०, पृ० ३३५-३५१

सन् १९६० से चम्बल घाटी क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग आरंभ हुआ है। बारह वर्ष के भीतर उसकी जो उत्तम फलश्रुति हुई है, शांति सेना ने जो कार्य किया है, उससे इस बात की पूरी आशा बंधती है कि प्रेम, दया और दुआ का मार्ग प्रशस्त किया जायगा तो चम्बल क्षेत्र में डाकू जैसी समस्या का निराकरण होकर रहेगा।

अपराधी जनजातियाँ

चम्बल घाटी की बागी या डाकू समस्या की भांति ही भारत में अपराधी जन-जातियों की समस्या है। कुछ समय पहले तक ऐसा माना जाता था कि आदिवासी जन-जातियां अपराध करती हैं और उनके पूरे परिवार अपराधों में लिप्त रहते हैं। उनका व्यवसाय ही होता है अपराध करना। भोले-भाले आदिवासियों में मद्यपान जैसी कुछ सामाजिक सांस्कृतिक प्रथाएँ अवश्य रही हैं, गरीबी से वे पीड़ित रहते आये हैं, शिक्षा का भी उनमें अभाव रहा है, चोरी और आवेश में आकर हत्या करने की भी कुछ घटनाएँ उनके बीच घटती रही हैं, इन कारणों से उनकी सारी जातियों को अपराधी मान लिया गया था, यद्यपि ऐसा है नहीं।

१९७१ की जनगणना के अनुसार भारत की ५४ करोड़ ७९ लाख जनता में आदिवासियों की जनसंख्या ३ करोड़ ८० लाख है अर्थात् ६.९४ प्रतिशत। लक्षद्वीप में ९३·७५, नागालैंड ८८.६१, मेघालय में ८०·४३, अरुणाचल में ७९.०२, दादरा-नगरहवेली में ६६.८९ प्रतिशत है। मणिपुर में ३१.१७, त्रिपुरा में २८.९५, उड़ीसा में २३.११, मध्य प्रदेश में २०·१४, अंदमान में १५·५२, गुजरात में १३.९९, असम में १२.८४, राजस्थान में १२·१३, बिहार में ८·७६, महाराष्ट्र में ५·८६ और पश्चिम बंगाल में ५.७२ प्रतिशत है। जनसंख्या के बाहुल्य की दृष्टि से मध्यप्रदेश में ८३ लाख ८७ हजार, उड़ीसा में ५० लाख ७२ हजार, बिहार में ४९ लाख ३३ हजार, गुजरात में ३७ लाख ३४ हजार, राजस्थान में ३१ लाख २६ हजार, महाराष्ट्र में २९ लाख ५४ हजार और पश्चिम बंगाल में २५ लाख ३३ हजार व्यक्ति रहते हैं। इनमें ८९·३९ प्रतिशत हिंदू, ५·५३ प्रतिशत ईसाई लोग हैं। सारे भारत में ४२७ के लगभग जनजातियां हैं। जिनमें गोंड ४० लाख, भील ३९ लाख, संथाल ३२ लाख से कुछ अधिक हैं। ओंराव, मीणा, कुंडा, खोंड, कचारी, हो, नागा, सोरा, शबरा, कोल, कोली, खांसी, कंवार, मेव, भोमिया, भुइया, गारो, खसी, रेड्डी, चेंचु, कोरावा, चेट्टी, सोलागा आदि प्रमुख हैं।

अपराध के कारण : गिरी हुई आर्थिक दशाएँ, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक प्रथाएँ, पंचायतों की उनकी व्यवस्था, चोरी-डकैती, हत्या, मद्यपान जैसे अपराधों को अपराध न मानने के पुरातन संस्कार आदि मिलकर ऐसी जातियों में अपराध की वृत्ति बढ़ाते रहे हैं। उनमें कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि 'चोरी तो हमारी खेती है। जितना कष्ट उठायें उतना मिले। हम जानते भी नहीं, लक्ष्मी हमारे हाथ में स्वयं आ जाती है। लक्ष्मी तो धनवानों के घरों में बंदी होने से आकुल होकर पुकारती है—'मुझे यहाँ से छुड़ाओ।' हम तो उस लक्ष्मी को लाकर मुक्त कर देते हैं।'[१]

रविशंकर महाराज का प्रयोग

गुजरात के प्रसिद्ध लोक सेवक रविशंकर महाराज ने गुजरात की पाटण-वाडिया जैसी अपराधी गिनी जानेवाली जनजाति की सेवा में अपना सारा जीवन ही अर्पित कर दिया। सन् १९२२ में गांधी जी ने उनसे कहा था कि 'तू इस जाति की सेवा करेगा तो मुझे बहुत रुचेगा।" महाराज कहते हैं कि 'बापू के इतने शब्द मेरे लिए पर्याप्त थे। इन शब्दों के मूल में जो प्रेम था उसे देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मेरे सिर पर राजमुकुट रख दिया गया।'[२]

रविशंकर महाराज एक दिन अंधेरी रात में निर्भीक चले जा रहे थे कि एक-एक कर कई आदमियों ने उन्हें रोका। न मानने पर कई बंदूक धारियों ने उन्हें घेर लिया। पूछा—'कौन है तू ?' 'बोले मैं भी डाकू हूँ।' किस टोली का ?' 'महात्मा गांधी की टोली का !' बात बढ़ी तो महाराज ने कहा—'मैं तुम्हें 'डकैती' सिखाने आया हूँ। अंग्रेजी सरकार हमारे गरीब भाइयों को लूटकर खा गयी है। सच्ची डकैती तो उसके खिलाफ होनी चाहिए। तुम जैसी लूट करते हो उससे किसकी भूख मिटेगी ? जबतक बड़ा लुटेरा हमें रात-दिन लूटता रहेगा, तबतक अपने हाथ में कुछ नहीं आयेगा। गाँधीजी उसी लुटेरे को निकाल डालना चाहते हैं। तुम भी उनके साथ हो जाओ तो फिर लूट का कारण ही नहीं रह जायगा।'[३]

केवल मुट्ठी भर खिचड़ी पर गुजर करनेवाले रविशंकर महाराज ने गुजरात में अपराधी कही जानेवाली जनजातियों को अपराधमुक्त बनाने का जो

---

१. बबल भाई मेहता : गुजरात के महाराज, १९५९, पृ० ११२

२. वही, पृ० २४

३. वही, पृ० १०-१३; झवेरचन्द मेघाणी : मानवता के दीये, १९५६ पृ० १-१०

सफल प्रयोग किया, उससे स्पष्ट है कि तीव्र लगनवाले निस्वार्थ सेवक यदि अपराध निर्मूलन के कार्य में जुट जायँ तो पत्थर भी पसीज सकते हैं। अपनी तपस्या और सेवा से उन्होंने इन आदिवासियों के जीवन में सचाई, ईमानदारी, श्रम निष्ठा की अद्भुत भावना जाग्रत करके उनकी अपराध-वृत्ति तो छुड़ायी ही, उन्हें मद्यपान जैसे व्यसनों से भी मुक्त किया है: प्रेम और करुणा का यह मार्ग किस प्रकार हृदय परिवर्तन, समाज परिवर्तन और स्थिति परिवर्तन कर सकता है, इसका स्पष्ट उदाहरण रविशंकर महाराज का सारा जीवन है। निष्ठावान सेवक अहिंसा, प्रेम और दुआ के मार्ग से चमत्कार कर सकते हैं।

गरीबी और शोषण : अपराधों के मूल में गरीबी और शोषण रहता ही है। आदिवासियों को अपराधों की दिशा में उन्मुख करने में इन दोनों कारकों का बहुत बड़ा हाथ है। ब्रह्मदेव शर्मा कहते हैं और ठीक कहते हैं कि 'गरीबी और शोषण एक दूसरे के पोषक हैं। कह दिया जाता है कि बनवासी इस-लिए गरीब हैं कि वे लोग काम नहीं करते। यह मिथ्या है। पूरे देश में ऐसा कोई बनवासी क्षेत्र नहीं जहां कोई समृद्ध व्यक्ति बड़ी संपदा लेकर गया हो और बनवासियों की निजी साधनों से सहायता की हो? हुआ तो यही है कि जिनके पास कुछ नहीं था, वहाँ जाकर थोड़े समय में ही मालामाल हो गये। स्पष्ट है कि नयी व्यवस्था के सहारे बनवासी के श्रम का एक भाग ही हथिया लिया जाता है और फिर एक दुष्चक्र का निर्माण हो जाता है। कितने क्षेत्रों में अभी भी बंधक मजदूरी की प्रथा है। कभी शादी-विवाह या कुस-मय में भूख मिटाने के लिए सौ-पचास रुपये लिये तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके व्याज के एवज में सूखी रोटी पर मजदूरी! कैसे पनपे वह? और भी कई घुन लगे हैं। मद्यपान एक परंपरा है। शराब की भट्ठियों के सहारे उन्नत क्षेत्रों के सबसे निकृष्ट तत्व इन समाजों में पहुंचते हैं। उनका एक ही उद्देश्य है कि कैसे उसकी बिक्री बढ़े, कैसे वे रातोरात मालामाल हो जाय। और प्रारंभ हो जाता है एक शोषण का दौरा वन्य क्षेत्रों के साप्ताहिक बाजार। एक मायावी दुनिया। यहाँ स्वच्छंद राज है बिचौलियों का, व्यापारियों का। उसकी बहुमूल्य उपज की आधी कीमत भी मिल जाय तो बहुत है?'[१]

गम्भीरता से देखा जाय तो अपराधों के मूल में यही सब कारण हैं। इनके निवारण के लिए जबतक ठोस उपाय नहीं किये जाते, अल्पकालीन

---

१. डा० ब्रह्मदेव शर्मा: धर्मयुग, २ दिसम्बर १९७३, लेख—आदिवासी पगडंडी और राजपथ, पृ० ९

योजनाओं के साथ दीर्घकालीन स्थायी योजनाएं नहीं की जातीं तबतक अपराधों की मात्रा घटनेवाली नहीं। डाकू समस्या हो अथवा अपराधी जनजातियों की समस्या हो, चोरी की समस्या हो अथवा सेंधमारी की, कत्ल की हो अथवा हड़ताल की—सबके मूल तक जाना होगा। समाज के सामुदायिक विघटन को रोकने के लिए समुदाय की समस्याओं पर गहराई से विचार कर उपयुक्त हल निकालना पड़ेगा। आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक भ्रष्टाचार, पैसे की प्रतिष्ठा आदि को मिटाये विना काम चलनेवाला नहीं। सामाजिक कुरीतियां भी मिटानी होंगी। केवल कानून से या पत्थर का जवाव पत्थर से देने से सफलता नहीं मिलेगी। उसके लिए अहिंसा का मार्ग ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। निष्ठावान सेवक ही इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। सरकार उनकी यथाशक्ति सहायता करे।

अध्याय : २७

भ्रष्टाचार

सामाजिक विघटन की अनेक समस्याओं में जिस सर्वग्रासी समस्या का सारे लोकजीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वह है भ्रष्टाचार की समस्या। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति का क्षेत्र हो अथवा कृषि, व्यापार का क्षेत्र हो, उद्योग-धंधे का क्षेत्र हो अथवा सार्वजनिक क्षेत्र हो, खानपान का क्षेत्र हो या आवागमन का, कचहरी-अदालत का क्षेत्र हो या शिक्षा का ही क्यों न हो, जिस ओर देखिये भ्रष्टाचार का बोलवाला है। आर्थिक क्षेत्र हो या राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्र हो या सांस्कृतिक, सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार फैला है। छोटे-से-छोटे चपरासी से लेकर बड़े-से-बड़े अधिकारी तक के यहाँ इस रोग के कीटाणु जा पहुँचे हैं। व्यापारी और ठेकेदार, अफसर और कहीं-कहीं मंत्री तक इस अनैतिक कार्य में संलग्न देखे जाते हैं। कानून की आँखों में, सरकार की आँखों में धूल झोंककर अपनी हवेली खड़ी करने की जो भयंकर प्रतिस्पर्द्धा चल रही है, वह सारे राष्ट्र को पतन की दिशा में तीव्र गति से ढकेल रही है। परिस्थितियों से जकड़ी, आवश्यकताओं से विवश गरीब जनता इसके कराल पाश में जकड़ी त्राहि-त्राहि कर रही है, पर किसी को उसकी पुकार पर ध्यान देने की फुर्सत नहीं।

भ्रष्टाचार : अर्थ और प्रकृति

भ्रष्टाचार क्या है ? उसका अर्थ और उसकी प्रकृति का विवेचन एक कठिन समस्या है। भ्रष्टाचार की समस्या इतनी जटिल और पेचीदी है कि उसका स्पष्टीकरण कठिन है। यों सीधे-सादे शब्दों में अनैतिक, गैर-कानूनी ऐसे सभी कार्य इस श्रेणी में आते हैं जिनमें व्यक्तिगत या पारिवारिक स्वार्थ के लिए कर्त्तव्य की अवहेलना की जाती है। गैर-कानूनी ढंग पर कमाई करना, उसके लिए बेईमानी, छल-कपट, विश्वासघात, जालसाजी, अनैतिकता करना, पक्षपात करना, रिश्वत लेना, चोरी करना कराना, असत्य का आचरण करना आदि सब भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आता है। भ्रष्टाचार में रिश्वत लेना ही नहीं, रिश्वत

देना भी आता है। सरकारी कर्मचारी हों, व्यापारी और ठेकेदार हों, अथवा अन्य लोग—जो भी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनैतिक और गैरकानूनी आचरण करता है, भ्रष्टाचार का दोषी है।

परिभाषा

भ्रष्टाचार की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। भारतीय दण्ड विधान की धारा १६१ में भ्रष्टाचार के अत्यन्त प्रचलित स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है—

"कोई भी सार्वजनिक सेवक वैध पारिश्रमिक के अतिरिक्त अपने या अन्य किसी के लिए कोई आर्थिक लाभ इसलिए लेता है, जिससे किसी व्यक्ति के पक्ष या विपक्ष में कोई पक्षपातपूर्ण सरकारी निर्णय किया जाय, वह भ्रष्टाचारी है। केन्द्रीय या राज्य सरकारों के सेवक और संसद तथा विधान सभाओं के विधायक सभी पर यह बात लागू होती है।"

सन् १९४७ के भ्रष्टाचार निरोध अधिनियम की धारा ५१ के अंतर्गत किसी सरकारी कर्मचारी की कार्य में अवहेलना 'भ्रष्टाचार' है।

सन् १९५१ के जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अंतर्गत चुनाव में की जानेवाली अनियमितताएँ भ्रष्टाचार मानी गयी हैं। (धारा १२३)

'अपने अथवा अपने सगे-संबंधियों, परिवारवालों और मित्रों के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई आर्थिक अथवा अन्य लाभ उठाना 'भ्रष्टाचार' है।'[1]

आधुनिक समाज की जटिलताओं की वृद्धि के साथ-साथ भ्रष्टाचार के अनेक प्रकार विकसित हो रहे हैं।

भ्रष्टाचार के प्रकार

भ्रष्टाचार के एक नहीं, अनेक प्रकार हैं। चांदी के सिक्कों या रुपयों की थैली के रूप में ही नहीं, हुंडियों, चेकों, ड्राफ्टों के रूप में भी उसके दर्शन होते हैं, नौकरियों में नियुक्तियों, तबादलों आदि के रूप में भी। दुकानों की और आवश्यक वस्तुओं की परमिटों और लैसंसों के रूप में अथवा ट्रकों, कारों, स्कूटरों के क्रय-विक्रय के रूप में भी उसका प्रकटीकरण होता है। सुरा और सुन्दरियों के रूप में भी उसकी झांकी मिलती है, स्वागतों, उद्घाटनों के रूप में भी। क्लबों और होटलों की दावतों में भी उसके दर्शन किये जाते हैं,

१. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ५२०।

चुनाव प्रचार के चन्दे के रूप में भी। कहीं उसका कोई स्वरूप है, कहीं कोई। व्यक्ति की हैसियत, पद, प्रतिष्ठा के अनुरूप, उसको प्रत्यक्ष, कहीं परोक्ष डाली चढ़ायी जाती है। कभी-कभी तो लोगों को पता भी नहीं चलता और उनके नाम से हजारों रुपयों के, कभी लाखों के भी सौदे हो जाते हैं। दलाल महोदय उसमें से कितने पैसे अपनी जेब में डालते हैं और कितने सम्बद्ध व्यक्ति की जेब में, इसका भी पता नहीं चलता। कारण, अधिकांश मामले 'गोप्यं गोप्यं महागोप्यं' के रूप में तय होते हैं।

पान के पत्ते, चाय या शराब के प्याले से लेकर चमचमाती हुई कारों के रूप में भी भ्रष्टाचार पनपता है। 'साहब' को प्रसन्न करने के लिए 'हिज एक्सेलेंसी दि चपरासी' तक की जेब गरम की जाती है, मेम साहब को खुश किया जाता है। उपहारों और सौगातों के बण्डल-के-बण्डल बंगले पर पहुँचाये जाते हैं।

जालसाजी, विश्वासघात, करापहरण, चुंगी चोरी, चोरबाजारी, तस्करी, गबन, बेईमानी, झूठ—सभी कुछ भ्रष्टाचार के पेट में समा जाता है। अत्यन्त सामान्य वेतनभोगी कर्मचारी देखते-देखते लाखों की हवेली खड़ी कर लेते हैं, वेतन से कई गुना व्यय करते हैं, ऊँचे-से-ऊँचे जीवन स्तर पर रहते हैं, जब कि उनसे अधिक वेतन पानेवाले मँहगी के जमाने में दो जून सूखी रोटियाँ नहीं जुटा पाते। तीन साढे तीन सौ रुपये वेतन पानेवाले इंजीनियर के बेटे को दहेज में एक-एक लाख की सम्पत्ति मिलती है। क्यों? इसलिए कि उसे 'ऊपरी कमाई' खूब रहेगी!

भ्रष्टाचार का यह जाल नाना रूपों में व्यक्त होता है। कुछ उदाहरणों से उसका अनुमान किया जाता है :

अकाल के क्षेत्र में : भ्रष्टाचारी लोग जनता की विवशता का कैसा बेजा फायदा उठाते हैं, इसका उदाहरण हाल का राजस्थान का अकाल है—

रेखा जैन लिखती हैं कि आगरा के ६ मार्ग राजस्थान से मिलते हैं। राजस्थान अकाल क्षेत्र घोषित हुआ। कुछ जिलों में अन्न के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा। राजस्थान के चने का भाव १००) क्विटल था। आगरा में चने का भाव १५४) क्विटल था। बस, चोरबाजारियों के लिए आय का एक मार्ग खुला। मोटर ठेले ८०-८०, १००-१०० बोरे चने के भरने लगे। पहले प्रति बोरी का भाड़ा २॥) से ४) था, अब १५) हो गया। पहले एक मोटर ठेले से २००) से २५०) लिया जाता था, अब १२००) से १५००)

लिया जाने लगा। सीमा पर स्थित राजस्थान के चैक पोस्ट वालों को २५०) से ५००) और उत्तर प्रदेश के चैक पोस्ट वालों को ५०) से १००) दिया जाने लगा। ३५०) से ६५०) देकर भी पहले जहाँ १००) बचता था, वहाँ अब ८५०) बचने लगा। १५ अप्रैल से ३० जून १९७३ तक करीब ५० हजार टन चना राजस्थान से आगरा आया। २।। महीने में चोरबाजारियों ने दो करोड़ रुपये कमाये, मोटर ठेलावालों ने ९८ लाख कमाये, सरकारी कर्मचारियों ने ३० लाख।[1]

जुलाई १९५१ में योजना कमीशन ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में लिखा था कि 'चोरबाजार में कीमतें अभी भी नियंत्रण द्वारा निर्धारित कीमतों की अपेक्षा बहुत चढ़ी हुई हैं और तिस पर भी लोग इन ऊँची कीमतों पर काफी माल चोरबाजार से खरीदते हैं। यह बात संकेत करती है कि मांग और उपलब्धि के बीच में विषमता कितनी सुस्पष्ट है।[2] सरकार की इस स्वीकारोक्ति के बाइस साल बाद भी यह स्थिति है। सो भी तब जब किसी क्षेत्र में अकाल की घोषणा की जा चुकी है। यह अकाल भी कैसा है? इसी बीच गुजरात सर्वोदय मण्डल की ओर से किये गये गुजरात के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अन्न न मिलने पर खेत मजदूर वर्ग के लोग भूखे रहते हैं अथवा जंगली फल खाकर या चाय पीकर दिन काटते हैं। भुखमरी से मौतें तक हो रही हैं।[3]

बैंकों के काउण्टर पर : जनता को बैंकों से अधिकतम सुविधा मिल सके इस दृष्टि से बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट है कि ४ वर्षों में इन बैंकों ने ५९०६ नयी शाखाएँ खोलीं। १९६९ में जहाँ ८२६२ शाखाएँ थीं वहाँ १९७२ में १४,७३९ हो गयीं। अनुसूचित बैंकों की जमा राशि १९६९ जून में ४,६४६ करोड़ थी जो दिसम्बर १९७२ में ८,१४६ करोड़ हो गयी। १७ लाख २९ हजार खातों द्वारा कृषि, लघु उद्योग, सड़क, जल यातायात, व्यापार-व्यवसाय आदि में लगे व्यक्तियों को १,१६१ करोड़ रुपये अग्रिम ऋण दिये गये। जून १९६९ में इन क्षेत्रों में २ लाख ६० हजार खातों द्वारा केवल ४४१ करोड़ की रकम अग्रिम ऋण के रूप में दी गयी थी। इस चित्र का दूसरा पहलू यह है कि बैंकों में डकैती, घपले, जालसाजी और

---

१. रेखा जैन : 'भ्रष्टाचार कैसे होता है ?' लेख, नवभारत टाइम्स, नयी दिल्ली, ६ दि 'बर, '७३।

२. प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा का प्रारूप, १९५१, पृ० २९।

३. भूदान यज्ञ २९ अक्तूबर १९७३ पृ० ९-१०।

भ्रष्टाचार की मात्रा अत्यधिक बढ़ गयी है। लाखों रुपयों का गोलमाल हो रहा है। बैंक अधिकारियों और ऊंची आयवालों के बीच मिलीभगत है। जरूरतमन्दों को ऋण नहीं मिल पाता। दबाव और रिश्वत से ऋण दिये जाते हैं। अधिकारों का खूब दुरुपयोग होता है।[1]

सुकमाल जैन लिखते हैं कि एक बैंक के नयी दिल्ली स्थित क्षेत्रीय मुख्यालय ने १ करोड़ २० लाख के तथाकथित भण्डार को रेहन रखकर मैसर्स अमृतसर सुगर मिल्स को उसकी खाद्य तेल इकाई के लिए ९० लाख रुपये मई १९७२ में अग्रिम ऋण के रूप में दे दिये। बाद में पता चला कि कम्पनी की कुल जायदाद ४२-४३ लाख रुपये से ज्यादा की नहीं है। बहुत कोशिशों के बाद कम्पनी से केवल तीन लाख रुपये वसूल हो पाये जो ब्याज के बराबर है।...एक बैंक की श्रीनगर शाखा से एक लघु उद्योगपति ने अपनी सम्पत्तियों की गलत घोषणा करके साढ़े तीन लाख रुपये ज्यादा ले लिये। ...पिछले दिनों यह आरोप लगायी गयी थी कि बम्बई के फोर्ट क्षेत्र में एक राष्ट्रीय कृत बैंक ने ४००० वर्गफुट की जगह १४,०००) प्रति माह की दर से लीज पर ली थी, जब कि लीज देनेवाला किरायेदार उस जगह का केवल ४००) महीने किराया देता है। न केवल इतनी मंहगी दर पर लीज, बल्कि कहा गया था कि बैंक ने पांच वर्ष के अग्रिम किराये के रूप में लगभग साढ़े आठ लाख रुपये का अग्रिम भुगतान भी किया है। यह आरोप अक्सर लगाया जाता है कि राष्ट्रीयकरण के बाद खातेदारों के प्रति बैंकों के मन में उदासीनता बढ़ गयी है। सेवा स्तर में लगातार गिरावट का आरोप भी लगाया जाता है, बिना अतिरिक्त काम किये ओवरटाइम लेने, झूठे प्रमाण-पत्रों के आधार पर चिकित्सा खर्च लेने और झूठे यात्रा भत्ते प्राप्त करने आदि के रूप में भ्रष्टाचार फैलता जा रहा है।[2]

भवन निर्माण-बम्बई जैसे बड़े नगरों में मकान का अभाव है। कुछ कम्पनियों ने यह धंधा उठा रखा है कि वे मकानदारों से कहती हैं—मकान आपका, एक दो मंजिल हम बना देते हैं। उनमें किरायेदार भी बसा देंगे जो हर माह आपको किराया देते रहेंगे। आपको कुछ नहीं करना है। बनाने की झंझट हम उठायेंगे। ऐसी स्थिति में मकान मालिक को आपत्ति ही किस बात की? मुफ्त में मकान बन जाता है और किरायेदारों से मासिक आय

---

१. डाक्टर सुकमाल जैन, धर्मयुग, २ दिसम्बर १९७३, पृ० १८-१९।

२. वही, पृ० १८-१९।

भी मिलने लगती है। ये कम्पनियाँ ऐसी उदारता क्यों दिखाती हैं, यह पूछने पर हमें पता लगा कि नये किरायेदारों से 'पगड़ी' की मोटी रकम में उनका सारा खर्च निकलकर पर्याप्त आय भी हो जाती है !

काला धन : नगर के एक अधिकारी ने भवन निर्माण के लिए ११ हजार रुपये का कर्ज लिया। मकान खड़ा हुआ कई लाख का। यह पूछने पर कि यह कर्ज लेने की क्या आवश्यकता थी तो बताया गया कि काले धन के लिए आड़ तो चाहिये !

फिल्मों के कलाकारों के यहाँ तलाशियाँ होती हैं। हजारों-लाखों के नोट बरामद होते हैं। फिल्म कम्पनियों के साथ उनके ठेके होते हैं, जिनमें रकम कुछ लिखी जाती है, दी कुछ जाती है।

मकान और जमीन का क्रय-विक्रय होता है। सरकारी दस्तावेज में बहुत कम रकम लिखी जाती है। मोटी रकम वालावाला विक्रेता की जेब में पहुँच जाती है।

अभी हाल में कागज के कालेबाजार की कहानी पत्रों में प्रकाशित हुई है। सफेद कागज की काली कहानी सफेद चीनी की काली कहानी से कम रोमांचकारी नहीं है, पर राजनीतिक दल चुप हैं। चुनाव के लिए बहुत-से पैसे इन काले—सफेदपोश—भ्रष्टाचारियों की तिजोरी से ही आते हैं।

मिलावट : आज बाजार में शायद ही कोई वस्तु शुद्ध रूप में मिलें। घी-दूध-मक्खन आदि की तो बात ही क्या, आटा हो, मसाला हो, खाने-पीने का कोई भी सामान हो, उसमें मिलावट करनेवाले अपनी करामात दिखा ही देते हैं। चीनी में जहरीली सफेद खाद तक मिला दी जाती है। आटे में लकड़ी का चूरा और कड़ुए तेल में भड़भंड के तेल की भयंकर कहानियां किससे छिपी हैं ? और तो और, रोगियों के लिए अधिक-से-अधिक पैसे खर्च करने पर भी शुद्ध दवाएँ पाना कठिन ही नहीं, असम्भव हो रहा है। जन-जीवन के साथ यह खिलवाड़ बरसों से हो रही है, पर उसमें कमी नहीं आ रही है।

सार्वजनिक निर्माण : बाँध बनते हैं और बनते देर नहीं कि टूट जाते हैं। सड़कें बनती हैं, उनमें गड़हे पड़ जाते हैं। इमारतें खड़ी होते देर नहीं, उनमें दरारें पड़ जाती हैं। सड़क के लिए मंजूरी हुई कि २५ हजार रुपये की मिट्टी डाली जाय। मिट्टी डालने की जरूरत ही नहीं। रिपोर्ट पहुँच गयी

कि मिट्टी पड़ गयी। दूसरी रिपोर्ट पहुँच गयी कि बरसात में मिट्टी बह गयी। जहाँ-तहाँ थोड़े बहुत कंकड़ बिखेर कर २५ हजार जेब में डाल लिये गये।

तस्करी : सरकारी रिपोर्ट है कि जनवरी से अक्टूबर ७२ तक दस महीने के भीतर तस्कर अधिकारियों ने २० करोड़ १२ लाख का अवैध माल पकड़ा। इनमें सर्वाधिक मात्रा में कृत्रिम धागा पकड़ा गया। धागे और निर्मित कपड़े का मूल्य ७ करोड़ ९५ लाख रुपये था। घड़ियाँ ३ करोड़ ४ लाख की थीं। पकड़ा गया सोना १ करोड़ ३० लाख का था। मोटर गाड़ियाँ ८७ लाख की थीं, मुद्राएँ ७५ लाख की, विषैली दवाएँ ४४ लाख की थीं, चाँदी २४ लाख की। अन्य वस्तुएँ ६ करोड़ २३ लाख की थीं।[१] राँची की १० दिसंबर १९७२ की यू० न्यू० की रिपोर्ट है कि विदेशों को भारत से बढ़िया प्रकार के अभ्रक की तस्करी होने से भारत सरकार को २ करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा का नुकसान हो रहा है। अभ्रक के कुछ व्यापारी सीमा चौकियों के कर्मचारियों के साथ सांठ-गांठ करके सड़क और जल-मार्ग से अभ्रक को तस्करी से बाहर पहुँचा देते हैं। इस अभ्रक के मुख्य ग्राहक हैं चीन और ब्रिटेन।[२]

महाराष्ट्र में प्रतिवर्ष तस्करी से लायी गयी शराब का मूल्य ५ करोड़ रुपया है। महाराष्ट्र में दो दशक तक मद्यनिषेध चला और उसके साथ-साथ मद्य का तस्कर व्यापार भी चलता रहा धड़ल्ले से।[३] प्रतिवर्ष चोरी से आनेवाली १२ करोड़ की शराब में से ४ करोड़ की शराब पकड़ी जाती है। मध्य प्रदेश और गोआ से महाराष्ट्र में ८ करोड़ रुपये की शराब तस्करी से लायी जाती है। यह रिपोर्ट है महाराष्ट्र के मद्यनिषेध मंत्री डाक्टर मोहन लाल पोपट की। इसे रोकने के लिए शराबों पर आबकारी कर और बिक्री कर बहुत कम कर दिया गया है।[४]

स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार का जाल सर्वत्र फैला हुआ है। जीवन को स्पर्श करनेवाला कोई भी विभाग ऐसा नहीं है, जहाँ पर भ्रष्टाचार का प्रवेश न हुआ हो। उद्योग का क्षेत्र हो, व्यापार या ठेके का क्षेत्र हो, दफ्तर हो, कचहरी

---

१. एन० एन० एस०, 'आज' दैनिक, २२ दिसम्बर, १९७२।

२. 'हिन्दुस्तान' दैनिक, दिल्ली, ११ दिसम्बर १९७२, पृ० ८।

३. 'आज' दैनिक, २० दिसम्बर १९७२।

४. 'हिन्दुस्तान' दैनिक, दिल्ली, १३ दिसम्बर १९७२।

हो, अस्पताल हो, धर्म हो, राजनीति हो—सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला है। शिक्षा जैसा पवित्र क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रह सका है।

भ्रष्टाचार की वास्तविक स्थिति का ठीक अनुमान असंभव है। उस विषय में शोध न तो की ही जाती है और न शोध करना सरल ही है।[1] भेद की बातें कौन खोलकर बताने को प्रस्तुत होगा?

भ्रष्टाचार की स्थिति संतानम कमेटी ने भ्रष्टाचार की समस्या पर विचार करने के लिए फेडरेशन आफ इंडियन चेंबर्स आफ कामर्स—भारतीय व्यापार मंडल संघ—को आमंत्रित किया था कि वह इस संबंध में अपने विचार प्रकट करे और परामर्श दे, परंतु फेडरेशन ने कमेटी से मिलना तक स्वीकार नहीं किया।[2]

संतानम की भ्रष्टाचार निवारण कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि सरकारी कर्मचारियों के भीतर भ्रष्टाचार कितनी अधिक मात्रा में फैला हुआ है, इसका सही अंदाज लगाना बहुत कठिन है। सही अंदाज की बात तो दूर, इस बात का मोटा अंदाज लगाना भी संभव नहीं है कि कितने सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट हैं अथवा रिश्वत में कितनी भारी रकम ली जाती है। फिर भी निम्नांकित आँकड़ों से एक सामान्य अनुमान लगाया जा सकता है।[3]

१ अप्रैल, १९५६ से ३१ दिसंबर १९६२ तक प्राप्त भ्रष्टाचार की शिकायतें—

सन्	शिकायतें	जिन पर कार्रवाई हुई	प्रतिशत कार्रवाई
१९५६-५७	४,६७६	३,७१६	७९·४७
५७-५८	८,५४०	६,४६३	७५·६८
१·४·५८-३१·१२·५८	८,३१३	६,२२०	७४·८०
१९५९	१०,६४९	८,३६६	७८·५६
१९६०	१०,७२१	८,५४८	७९·७३
१९६१	१०,४८१	८,१४८	७७·७४
१९६२	२०,४६१	१६,१७८	७९·०६

१. गुन्नर मिरडाल : एशियन ड्रामा, खण्ड २, पृ० ९३८-९३९।
२. रिपोर्ट आफ दि कमेटी ओन प्रिवेंशन आफ करप्शन, भारत सरकार, १९६४, पृ० १२।
३. वही रिपोर्ट; पृ० १४-१६।

१ अप्रैल १९५७ से ३१ दिसंबर १९६२ तक ५,५८५ (१५४ राज्य-पत्रांकित—गजटेड और ५,४३१ अन्य) सरकारी कर्मचारियों पर कड़ी कार्रवाई की गयी। जैसे, बर्खास्तगी, निवृत्ति, बलात् निवृत्ति, पदह्रास आदि। ३८,६५० (१,३१९ राजपत्रांकित और ३७,३३१ अन्य) सरकारी कर्मचारियों को मामूली दंड दिया गया। राजपत्रांकित कर्मचारियों का विवरण इस प्रकार है—

१९५७	१९५८	१९५९	१९६०	१९६१	१९६२	कुल
१८१	१८५	२३४	१९४	१९५	२१२	१२०१

इन कर्मचारियों में पद के हिसाब से भ्रष्टाचार के दोषी इस प्रकार पाये गये—

अंडर सेक्रेटरी के ऊपर के अधिकारी	२०	प्रदाय, निर्वर्तन, कृषि आदि के विभाग निदेशक	४९
,, ,, नीचे के अधिकारी	१६	आयात-निर्यात नियंत्रक	३२
इंजीनियर—ई०ई० पद से ऊपर	१६१	आयकर अधिकारी	४७
,, ,, ,, से नीचे	२१९	आबकारी और तटकर अधिकारी	४६
रेलवे अफसर	६४	कारपोरेशन आदि के अधिकारी	४७
फौजी कमीशन प्राप्त अफसर	१२०	अन्य श्रेणी १ के अधिकारी	१६७
		,, २ ,,	२१३

दिल्ली की स्पेशल पुलिस ने १९५७ से १९६२ तक सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के ४६६९ मामलों की, आयात-निर्यात संबंधी ७७१ मामलों की और भिन्न-भिन्न लोगों और कम्पनियों के विरुद्ध चलाये गये ७५ मामलों की जाँच की। उसने इस बीच ३८६ जाल बिछाये और उसमें ४२९ सरकारी कर्मचारी फँसे, जिनमें राजपत्रांकित कर्मचारियों की संख्या १६ थी। १९६० में ६१ (२४ राजपत्रांकित), १९६१ में ९८ (२८ राजपत्रांकित), १९६२ में ९५ (२४ राजपत्रांकित) कर्मचारियों के विरुद्ध जाँच की कि उन्होंने कहाँ से इतनी अधिक संपत्ति एकत्र कर ली जो उनकी आमदनी के ज्ञात सूत्रों से कहीं अधिक थी।

दिल्ली की स्पेशल पुलिस ने १९५८ से १९६२ तक ४५१ फर्मों के विरुद्ध इस आरोप की जाँच की कि उन्होंने आयात-निर्यात के नियमों का उल्लंघन किया है। उन्होंने २,३८,२४,१६२ रुपये) के ६६० लैसंस गलत तरीके

से प्राप्त किये। इन ४५१ फर्मों में से ४३३ फर्में सूची से पृथक् कर दी गयीं।

२,३८,२४,१४२, रुपये के लैसंस गलत तरीकों से—जालसाजी आदि से प्राप्त किये गये—यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस पद्धति में किस सीमा तक भ्रष्टाचार पनप चुका है। सभी जानते हैं कि लैसंस बेचने पर लिखित मूल्य के दुगुने से पाँच गुने तक पैसे सरलता से मिल जाते हैं। इस प्रकार इस सौदे में १० करोड़ रुपये तक का बिना श्रम का मुनाफा सहज ही कमा लिया गया। उसका मोटा अंश सरकारी कर्मचारियों की जेब में गया ही होगा।

तामीरात और पूर्ति विभाग ने १९५७ में एक उपविभाग खोल रखा था—चीफ टैकनिकल एक्जामिनर्स आर्गेनाइजेशन। इसका उद्देश्य यह था कि इस विभाग का प्रशासन, तकनीकी आडिट और आर्थिक नियंत्रण ठीक ढंग से किया जा सके। दिसंबर १९६२ तक इस उपविभाग ने १५९३ ऐसे मामले पकड़े जिनमें ४३,६६,६६७, का अतिरिक्त भुगतान कर दिया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भवन निर्माण और सामान खरीद २८०० करोड़ रुपये की हुई। इस प्रकार के जो ठेके दिये जाते हैं, उनमें संबंधित अधिकारियों का निश्चित अंश रहता है। कमेटी को बताया गया कि भवननिर्माण के ठेकों में ७ से लेकर ११ प्रतिशत तक रकम सामान्यतः सरकारी कर्मचारियों को चुकायी जाती है। कुछ अन्य देशों में चालू 'विक्रेता कमीशन' १॥ से लेकर ३ प्रतिशत तक है। यदि यह मान लिया जाय कि तामीरात और सरकारी खरीद विभाग में इस बीच ५ प्रतिशत धन ऐसे भ्रष्ट आचरणों में लगाया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार को १४० करोड़ रुपये की हानि सहनी पड़ी।[१]

स्पष्ट है कि भारत में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है। पहले तो छोटे कर्मचारी ही भ्रष्टाचार करते थे, अब तो बड़े-बड़े भी, यहाँ तक कि मंत्री लोग तक उसमें हाथ बटाते हैं। संतानम कमेटी ने अत्यंत खेदपूर्वक इस तथ्य को स्वीकार किया है।[२]

---

१. वही रिपोर्ट, पृ० १७-१८।

२. वही रिपोर्ट, पृ० १२-१३।

भयंकर दुष्चक्र

भ्रष्टाचार का दुष्चक्र अत्यंत दुःखद है। पंडित जवाहरलाल नेहरू इस पर दुःखी होकर कहते थे कि 'केवल छत के मुंडेरे पर खड़े होकर यह चिल्लाने से काम न चलेगा कि हर आदमी भ्रष्ट है। इससे भ्रष्टाचार का वातावरण बनता है। लोग सोचते हैं कि हम भ्रष्टाचार के वातावरण में रह रहे हैं। इससे वे स्वयं भी भ्रष्ट बन जाते हैं। सामान्य व्यक्ति अपने तईं कहता है कि 'जब सब लोग भ्रष्ट ही दीखते हैं तो मैं भी क्यों न भ्रष्ट बन जाऊं ?' ऐसी प्रवृत्ति को हतोत्साह करने की आवश्यकता है।'[१]

भ्रष्ट वातावरण का भ्रष्ट लोग कैसा लाभ उठाते हैं, उसका उदाहरण देते हुए मिरडाल कहते हैं : "दिल्ली जिले में रहते हुए एक पुलिस अधिकारी से मैत्री हो गयी थी। एक दिन उससे हमने कहा कि 'यहाँ के टैक्सी ड्राइवर यातायात के नियमों का पालन नहीं करते। आप अपने कांस्टेबलों को इसके लिए क्यों नहीं आदेश देते ?' पुलिस अफसर बोला : 'मैं कैसे आदेश दूं ? यदि कोई कांस्टेबल किसी टैक्सी ड्राइवर से इस विषय में कुछ कहेगा तो वह जवाब देगा 'चले जाओ यहाँ से, वर्ना मैं लोगों से कहूँगा कि यह मुझसे १० रु० रिश्वत मांग रहा था !' यदि कांस्टेबल कहे कि मैं कहूँगा कि मैंने रिश्वत नहीं मांगी, तो ड्राइवर कह देगा– 'तेरी बात पर विश्वास कौन करेगा ?'"[२]

भ्रष्टाचार के इस दुष्चक्र में पड़ कर सीधे और सरल, सच्चे और ईमानदार व्यक्ति भी कभी-कभी बदनाम हो जाते हैं। कारण, "दूध कलारिन हाथ लखि मद समझैं सब कोय !" उनमें कुछ लोग यह सोचकर पतन मार्ग को स्वीकार कर लेते हैं कि अब तो बदनाम हो ही गये तो बहते दरिया में क्यों न हाथ धो लिया जाय ? उकसानेवाले उन्हें कह उठते हैं—'बाबरी जो पै कलंक-लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहीं अंक लगावे ?'

इसी प्रकार यह दुष्चक्र बढ़ता चलता है। सीधे-सादे लोग भी इस जाल में फँसते चले जाते हैं।

भ्रष्टाचार का इतिहास बहुत पुराना है। किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल में भी उसका अस्तित्व था। भारत में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उसका

---

१. आर० के० करंजिया : दि माइण्ड आफ मिस्टर नेहरू, लन्दन, १९६०, पृ० ६१।

२. गुन्नर मिरडाल : एशियन ड्रामा, खण्ड २, पृ० ९५१, पाद टिप्पणी।

इतिहास

उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार के लिए अनेक प्रकार के दंडों का विधान था। केवल भारत में ही भ्रष्टाचार रहा हो ऐसी बात भी नहीं। इंगलैंड, अमरीका तथा अन्य देश भी उसका अपवाद नहीं रहे हैं। इलीनोइस के सीनेट्-सदस्य पाल एच० डगलस ने 'एथिक्स आफ गवर्नमेंट' पुस्तक में लिखा है कि सौ वर्ष पूर्व तक इंगलैंड के सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार व्याप्त था और इस शताब्दी के आरंभ तक अमरीका का भी ऐसा ही हाल था। मिरडाल के अनुसार भारत में दक्षिण एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा कम भ्रष्टाचार है।[1] उसके मत से ब्रिटेन, हालैंड, स्कैंडेनेविया जैसे थोड़े-से देश भ्रष्टाचार से मुक्त हैं। कम्युनिस्ट देश भ्रष्टाचार को पूंजीवाद का परिणाम मानते हैं और उसके निर्मूलन में गौरव का बोध करते हैं तथा उनका यह गौरव औचित्यपूर्ण है।[2] वाटरगेट कांड जैसी घटनाएं अमरीका जैसे देशों की लिप्तता प्रमाणित करती है।

भारत में भ्रष्टाचार की पूर्वपीठिका बताते हुए संतानम कमेटी कहती है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक राजस्व, पुलिस, आबकारी और सार्वजनिक निर्माण विभागों में भ्रष्टाचार पर्याप्त मात्रा में व्याप्त था, परंतु केवल नीची श्रेणी के सरकारी कर्मचारियों में ही। उच्च श्रेणी के कर्मचारी इस विषय में अपेक्षाकृत मुक्त थे। पर १९३९ से १९४५ तक 'युद्ध प्रयत्नों' की जो बाढ़ आयी, उसमें अरबों रुपयों के वार्षिक व्यय होने लगे। उस समय पूर्ति और ठेकों का जो बाहुल्य मचा, नियंत्रणों, कंट्रोलों और अभावों की जो स्थिति बनी, उसने रिश्वत, भ्रष्टाचार, पक्षपात आदि का द्वार ही खुल गया।[3] बड़े-बड़े अधिकारी यहां तक कि अंग्रेज अधिकारी भी भ्रष्टाचार में लिप्त हो गये।[4]

स्वतंत्र भारत में : स्वराज्य के उपरांत सरकार के समक्ष जो समस्याएं विकट रूप से उपस्थित हुईं, उनमें भ्रष्टाचार भी एक समस्या थी। उसके निवारण की दृष्टि से सरकार ने कई कदम उठाये। जैसे,—

---

१. वही, पृ० ६४२-६४३।

२. वही, पृ० ६३८।

३. सन्तानम कमेटी की रिपोर्ट, पृ० ६-७।

४. मिरडाल : वही, पृ० ६४३-६४४।

१. दिल्ली विशेष पुलिस संस्थान अधिनियम, १९४६ द्वारा दिल्ली में भ्रष्टाचार निवारण के लिए स्थायी पुलिस संगठन की व्यवस्था।

२. भ्रष्टाचार निरोध अधिनियम का निर्माण। ११ मार्च, १९४७ से यह अधिनियम लागू हो गया।

३. सन् १९४९ में बखशी टेकचंद कमेटी की स्थापना। उससे कहा गया कि १९४७ के भ्रष्टाचार निरोध अधिनियम की कार्यान्विति के संबंध में वह आवश्यक सुझाव दे। सन् १९४९-५० में राजस्थान और विंध्य प्रदेश के कुछ मंत्री भी दंडित किये गये।

४. अक्टूबर १९५३ में आचार्य कृपालनी की अध्यक्षता में रेलवे भ्रष्टाचार जाँच कमेटी की स्थापना।

५. अगस्त १९५५ में प्रशासकीय सतर्कता डिवीजन और उसकी शाखाओं की स्थापना और विस्तार।

६. दिसंबर १९५६ में विवियन बसु आयोग की स्थापना।

इन सारे आयोगों, समितियों, पुलिस संगठनों ने कार्य आरंभ किया। कुछ सुझाव भी दिये। कुछ विशिष्ट और सामान्य अधिकारियों और अनेक कर्मचारियों पर मामले-मुकदमे चले, जाँचें हुईं, दंड भी दिये गये। पर समस्या में कुछ विशेष सुधार नहीं हो सका।

संतानम कमेटी

जून १९६२ में संसद में बहस के दौरान कई सदस्यों ने इस बात की शिकायत की कि शासन में भ्रष्टाचार अत्यंत तीव्र गति से बढ़ रहा है। तत्कालीन गृहमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने बहस का उत्तर देते हुए कहा कि भ्रष्टाचार की समस्या पर विचार करने के लिए मैंने कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की एक कमेटी बनाने की बात सोची है। उक्त निश्चय के अनुसार के० संतानम् की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी, जिसमें संतोष कुमार बसु, टीकाराम पालीवाल, आर० के० खाडिलकर, नाथ पई और शम्भूनाथ चतुर्वेदी—सभी संसद सदस्य, तथा एल० पी० सिंह, निदेशक प्रशासकीय सतर्कता विभाग और पुलिस इन्सपेक्टर जनरल डी० पी० कोहली सदस्य थे। कमेटी से कहा गया कि वह भ्रष्टाचार की समस्या पर विस्तार से विचार करके समुचित उपाय सुझाये।

संतानम कमेटी की पहली बैठक १० सितंबर १९६२ को हुई उसकी कुल ८७ बैठकें हुईं। कमेटी ने दो केंद्रीय मंत्रियों, दो मुख्यमंत्रियों, दो राज्य मंत्रियों, कुछ सचिवों, केंद्रीय राजस्व बोर्ड के सदस्यों, आयकर कमिश्नरों, रेलों के जनरल मैनेजर, कई सरकारी अफसरों, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं, व्यापारी प्रतिनिधियों, अवकाश प्राप्त सरकारी अफसरों और पत्रकारों से भेंट की। बंगलोर, कलकत्ता, बंबई आदि स्थानों पर जाकर भी जाँच की। ३१ मार्च, १९६४ को कमेटी ने अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। कमेटी ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये, जिन पर अमल करने से भ्रष्टाचार निरोध में अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है।

नंदा की घोषणा : ७ मई, १९६४ को केंद्रीय गृहमंत्री गुलजारीलाल नंदा ने आकाशवाणी पर घोषणा की कि 'प्रशासन और व्यापार के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार से राष्ट्रीय जीवन खोखला हो रहा है। इसमें सबसे बुरी बात यह है कि इसमें सुधार की संभावना के प्रति लोगों के मन में गहरी निराशा है और वे सोचते हैं कि देश को भ्रष्टाचार की बुराई से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। ये तथ्य और परिस्थितियाँ राष्ट्र के लिए वास्तविक खतरा भी हैं और गंभीर चुनौती भी। चारों ओर निराशा और अविश्वास का वातावरण है। संतानम कमेटी ने स्थिति का बारीकी से अध्ययन करके चिंताजनक स्थिति सामने रखी है। यह एक ऐसी बेचैनी पैदा करनेवाली तस्वीर है जो हमें बताती है कि सार्वजनिक धन का कितना अधिक दुरुपयोग हो रहा है और सार्वजनिक हित तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से राष्ट्र की कितनी अधिक हानि हो रही है।'

३० अक्टूबर, १९६४ को गृहमंत्री नंदा ने दो वर्ष के भीतर प्रभावशाली ढंग से इस समस्या के निर्मूलन की घोषणा की और यहाँ तक कह दिया कि यदि मैं अपने इस प्रयत्न में असफल रहा तो मैं मान लूँगा कि मैं अपने पद के सर्वथा अयोग्य हूँ।

नंदा जी ने अपने वादे के अनुसार भ्रष्टाचार के विरुद्ध जोरदार आंदोलन छेड़ दिया। संतानम कमेटी के सुझावों पर भी ध्यान दिया जाने लगा। स्थान-स्थान पर सदाचार समितियाँ बनीं और वे भ्रष्टाचार निवारण के लिए प्रयत्नशील हो उठीं।

नौ साल हो गये फिर भी भ्रष्टाचार घटने का नाम नहीं ले रहा है। इसका कारण क्या है? इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें गहराई से खोदे बिना, केवल कोंपलें काटने से काम नहीं चलेगा।

भ्रष्टाचार के कारण

भारत में भ्रष्टाचार वृद्धि के कुछ कारण आर्थिक हैं, कुछ प्रशासनिक और कुछ सामाजिक। मोटे तौर से उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :

आर्थिक कारण :

१. अवसर की अनुकूलता और जनता की विवशता।
२. नियंत्रणों का देशव्यापी जाल।
३. मंहगी का दुष्चक्र और कालाबाजार।
४. छोटे कर्मचारियों का अल्प वेतन।

प्रशासनिक कारण :

५. लालफीताशाही।
६. सरकारी कर्मचारियों का संरक्षण।
७. पद का दुरुपयोग।
८. दंड में ढिलाई।

सामाजिक कारण :

९. भाई-भतीजावाद।
१०. विलासी जीवन का आकर्षण, नागरीकरण का अभिशाप।
११. नैतिक मूल्यों का ह्रास,
१२. पैसे की अत्यधिक प्रतिष्ठा।

राजनीतिक कारण :

१३. राजनीतिक परिस्थिति।
१४. चुनाव और दलबंदी।
१५. सफेदपोश अपराधियों को प्रश्रय।
१६. कानून का खोखलापन।

भ्रष्टाचार में मुख्य बात होती है आर्थिक लाभ की। रुपया-पैसा, धन-दौलत, जमीन-जायदाद, तो उसमें आती ही है, पद-प्रतिष्ठा, सम्मान-आदर

आर्थिक कारण

भी उसमें जुड़ जाते हैं। नाना प्रकार के भोग-विलास और इंद्रियों का सुख भी उसमें सम्मिलित है। केवल अपने लिए ही नहीं, अपने घरवालों और

सगे-संबंधियों के लिए भी, हितू मित्रों के लिए भी। इन सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए जो अनैतिक, गलत और निंदनीय कार्य किये जाते हैं, वे सब भ्रष्टाचार की श्रेणी में आते हैं।

अनुकूल अवसर : चतुर-चालाक लोग अवसर का लाभ उठाते हैं। भ्रष्टाचार उस समय खूब बढ़ता-पनपता है, जब किसी प्रकार की तंगी, और जरूरतमंद की आवश्यकता सामने होती है। जनता की विवशता सामने देखकर भ्रष्ट आचरणवाले व्यक्ति उसका अधिकतम लाभ उठाते हैं। युद्ध हो, वस्तुओं का अभाव हो, तंगी हो, बाढ़ हो, सूखा हो, अकाल हो, जनता के कष्टों और दुःखों का यथासंभव अधिकाधिक लाभ लेना भ्रष्टाचारी अपना लक्ष्य बनाये रहते हैं। दक्षिण एशिया की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए मिरडाल कहते हैं कि 'यहाँ पद और सत्ता पर आरूढ़ अधिकारी अपने-अपने परिवार या अपने सामाजिक समूह के लाभ के लिए अपने पद का पूरा लाभ उठाते हैं, फिर चाहे वे मंत्री हों, विधायक हों, ऊँचे अफसर हों या मामूली क्लर्क—लिपिक हों। कोई भी अवसर चूकने के लिए तैयार नहीं। पूरा "बाजार" लगा है यहाँ पर।'[1]

जनता की विवशता : जनता में यह सामान्य धारणा बन गयी है कि भ्रष्टाचार के बिना गति नहीं है। काम कराना है तो रिश्वत देनी ही पड़ेगी। जहाँ पर कर का तखमीना लगाना है, कर वसूल करना है, लैसंस देना है, लैसंस के लिए उपयुक्त व्यक्ति या फर्म का चुनाव करना है, माल ठीक ढंग से दिया जाय, इसका निर्णय करना है, ठेका देना है, किये हुए काम की जांच करके उस पर स्वीकृति देनी है, पूर्ति को आदेशानुसार बताना है,—ऐसे सभी अवसरों पर भ्रष्टाचार के लिए बहुत मौका है। माल की पूर्ति के लिए, पार्सल भेजने के लिए, सागसब्जी, मछली जैसे शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तुओं की बुकिंग के लिए व्यवस्था करनी है, वहाँ रिश्वत एक अनिवार्य और सामान्य वस्तु बन बैठी है।[2]

नियंत्रणों का जाल : जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव है, चोरबाजारिये इस अभाव का बेजा फायदा न उठा सकें और जनता को सभी वस्तुएँ पर्याप्त परिमाण में उचित मूल्य पर मिल सकें, इस उद्देश्य से सरकार ने देश में नियंत्रणों को लागू किया। उद्देश्य तो बहुत अच्छा था, परंतु उसकी

१. गुन्नरमिरडाल : एशियन ड्रामा, खण्ड २, पृ० ९४८।

२. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृ० १०।

फलश्रुति देश के प्रत्येक नागरिक को ज्ञात है। नियंत्रण के अधिकारी और कंट्रोल के दुकानदार दिन-दिन मालदार होते चलते हैं। बेचारी जनता गल्ले और कपड़े के लिए, सीमेंट और लोहे के लिए, चीनी और मिट्टी के तेल के लिए त्राहि-त्राहि कर रही है। सारे देश में यह स्थिति लगभग एक-सी है। कहीं चार पैसे अच्छी है तो कहीं दस पैसे खराब।

नियंत्रणों के जाल में भ्रष्टाचार खूब फलता-फूलता है, फिर वह किसी भी देश में क्यों न हो। संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक सर्वेक्षण टीम का भी यही मत है, अन्य निष्पक्ष संस्थाओं का भी। मिरडाल के कथनानुसार यह स्थिति उस समय और भयंकर हो जाती है जब जाति, परिवार, आर्थिक और सामाजिक स्तर आदि की बातें उसमें जुड़ जाती हैं।[1]

मंहगी और काला बाजार : वस्तुओं के अभाव की पूर्ति के लिए नियंत्रण लगते हैं। पूर्ति हो नहीं पाती। वस्तुएँ प्रकारांतर से चोरबाजार में जा पहुँचती हैं। वहाँ वे उपलब्ध तो रहती हैं पर ऊँचे दामों पर। जीवन के लिए अनिवार्य होने से मनुष्य उन्हें ऊँची कीमत पर खरीदता है। जीना है तो खरीदना ही पड़ेगा। पर दाम उतना कहाँ से लाये? चोरबाजार में कीमतें बढ़ती हैं, उनकी प्रतिक्रिया खुले बाजार में ही नहीं, राशन की दुकानों पर भी दीखती है। गल्ला हो, चीनी हो, मिट्टी का तेल हो, कपड़ा हो,—सब का नियंत्रित मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है। उधर चोरबाजारियों के पास अंधाधुंध पैसे एकत्र होते चलते हैं, उनके सामने प्रश्न है कि बेईमानी की इस भारी कमाई को खपायें कैसे, रुपये की चीज के चार रुपये देने में उन्हें रत्ताभर झिझक नहीं। नतीजा यह होता है कि मंहगी बढ़ती जाती है, जनसाधारण पिसता जाता है। भ्रष्टाचार और काला बाजार बढ़ता जाता है।

अल्प वेतन : छोटे और मध्यम श्रेणी के कर्मचारियों का अल्प वेतन भी भ्रष्टाचार का कारण बनता है। एक ओर मंहगी बढ़ती है, वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है, उधर समय की गति के साथ परिवार के सदस्यों की संख्या और उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, इसका अल्प वेतनभोगी लोगों पर कुप्रभाव पड़ता है। उन्हें आय बढ़ाने के जब वैध साधन नहीं मिल पाते तो परिस्थितियों से विवश होकर वे सहज ही गलत मार्ग पर चल पड़ते हैं।

---

१. मिरडाल : एशियन ड्रामा, खण्ड २, पृ० ६३२, ६२६-६३१।

प्रशासन ऐसा तंत्र है जिसके साथ छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध आता है। विशेषत: जब अन्न-वस्त्र जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए भी सरकारी तंत्र का मुँह जोहना पड़ता हो। अंग्रेजी शासन काल ने भारत को जो सौगातें छोड़ी हैं उनमें नौकरशाही और लालफीताशाही आज भी पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी है। चेहरे भले ही बदल गये हैं; पर तन्त्र वैसा ही चल रहा है। उसके चलते भ्रष्टाचार को सहज ही पनपने का अवसर मिल रहा है। प्रशासनिक तन्त्र में मुख्य रूप से भ्रष्टाचार को इन कारणों से बल मिलता है।

प्रशासनिक कारण

लाल फीताशाही : सरकारी कार्यालयों में पत्र-व्यवहार में तथा फाइलों को आगे बढ़ने में जो अत्यधिक विलम्ब लगता है, उससे कौन अनभिज्ञ है। अधिकांश कर्मचारी अपने कर्तव्यपालन में ऐसी ढिलाई करते हैं कि देखकर आश्चर्य होता हैं। एक मेज से दूसरी मेज तक फाइल खिसकने में कभी-कभी महीनों लग जाते हैं। जिस व्यक्ति के निजी स्वार्थ पर इस विलम्ब के कारण आघात होता है, वह इस दुष्चक्र से मुक्त होने के लिए बाबू लोगों को भेंट-पूजा चढ़ाता है। संतानम कमेटी ने इस 'दक्षिणा' को 'स्पीडमनी' का नाम दिया है। फाइल जल्दी खिसकाने के लिए दिये जानेवाले इस धन 'स्पीडमनी' की बड़ी महिमा है।[१] यह 'स्पीडमनी' दीजिये तो फाइल आगे बढ़ेगी अन्यथा महीनों क्या, बरसों कोई उसकी खोज लेने वाला नहीं। संतानम कमेटी को सम्भवत: यह पता नहीं कि फाइलों को दबाये रखने के लिए भी भेंट-पूजा चढ़ायी जाती है और उसी प्रकार लंबी पूजा चढ़ायी जाती है। जिन लोगों का स्वार्थ फाइल को दबाये रखने में है, वे 'स्पीडमनी' के बजाय 'डिलेमनी' चढ़ाते हैं। कार्य में विलंब होने से अनेक आवश्यक कार्य अकाल में ही काल-कवलित हो जाते हैं, पर अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखनेवाले लोगों को इससे क्या ? वे तो मानों यह मानकर चलते हैं सरकार उन्हें केवल इसीलिए वेतन देती है कि वे दफ्तर में कुर्सी पर आकर आसीन भर हो जायें। किसी दरिद्र देश के लिए इससे बढ़कर दुर्भाग्य की और क्या बात होगी कि लाल फीताशाही की चपेट में पड़कर भ्रष्ट लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहें और गरीब लोग सताये जाते रहें।

---

१. सन्तानम कमेटी रिपोर्ट, पृ० ९

कर्मचारियों का संरक्षण : सरकारी कर्मचारियों के संरक्षण संबंधी कुछ नियम ऐसे हैं कि भ्रष्टाचार के दोषी कर्मचारियों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। संतानम कमेटी कहती है कि कितने ही विभागों के अध्यक्षों के मुख से यह सुनकर हमें दुःख हुआ कि वे जानते हैं कि उनके अधीनस्थ कर्मचारियों में अमुक कर्मचारी भ्रष्ट है, परंतु उसके विरुद्ध समुचित प्रमाण प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। वे अपनी गुप्त रिपोर्ट में भी उसके विरुद्ध कोई आक्षेप नहीं लिख सकते। विश्व के अधिक अग्रसर देशों की तुलना में भारत के सरकारी कर्मचारियों को कहीं अधिक संरक्षण प्राप्त है। संविधान की धारा ३११ का हमारे न्यायालयों ने जैसा अर्थ निकाला है, उसके चलते भ्रष्ट कर्मचारियों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करना अत्यन्त कठिन है।[१]

पद का दुरुपयोग : अपने सरकारी पदाधिकारी अपने पद का मनमाना दुरुपयोग करते हैं। उन्हें जो अधिकार प्राप्त हैं, उनके नाते वे अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय देते हैं। इन निर्णयों को अपने अनुकूल कराने के लिए व्यापारी, उद्योगपति, ठेकेदार आदि भरपूर रिश्वत देते हैं और अधिकारी कर्तव्यच्युत होकर अपने पद का दुरुपयोग करते हैं।

दण्ड में ढिलाई : भ्रष्टाचार के अपराध में दोषी पाये जानेवाले सरकारी कर्मचारियों को दंड देने में बड़ी नरमी बरती जाती है। बड़े-बड़े व्यापारियों और ठेकेदारों, दुकानदारों तथा सफेदपोश अपराधियों के प्रति भी नरमी बरती जाने से परिणाम यह आता है कि बेचारे छोटे कर्मचारी तो दंड भुगतते हैं, बड़े मगरमच्छों को कोई हाथ भी लगाने का साहस नहीं करता। इससे भ्रष्टाचार धड़ल्ले से पनपता है।

सामाजिक कारण

सामाजिक कारणों में मुख्य कारण यह है कि लोग देश के प्रति अनुरक्त होने के स्थान पर अपने घर-परिवार, मित्रों और सगे-संबंधियों के प्रति, जाति के प्रति अधिक अनुरक्त होते हैं। भाई-भतीजावाद खूब पनप रहा है। समाज में विलासी जीवन की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ता चल रहा है। नागरीकरण के दोष बढ़ रहे हैं। नैतिक मूल्यों का बुरी भाँति ह्रास हो रहा है। समाज में पैसे की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी है। 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते'। जिसके पास धन-संपत्ति है, जमीन-जायदाद है, उसकी

१. संतनम कमेटी रिपोर्ट, पृ० ९

पूजा होती है, भले ही वह धन चाहे जितने गर्हित कार्य करके एकत्र किया गया हो। श्रमनिष्ठा और पसीने की रोटी में लोगों की कोई रुचि नहीं रह गयी। प्रत्येक व्यक्ति 'येनकेन प्रकारेण' मालामाल बनना चाहता है। यह भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण है।

राजनीतिक परिस्थिति भी भ्रष्टाचार में सहायक बनती रही है। स्वतंत्रता के पूर्व ब्रिटिश सरकार की शोषण और दोहन की नीति से भारत में दरिद्रता का जो विस्तार हुआ, उसने देश को पतनोन्मुख किया। स्वतंत्रता के साथ-साथ देश का विभाजन, शरणार्थियों की रेल-पेल, चीन और पाकिस्तान के विरोधी कार्य, जनसंख्या में होनेवाली वृद्धि, बंगला देश का युद्ध आदि सबने मिलकर भयंकर परिस्थिति उत्पन्न कर दी। बाढ़, सूखा, आदि प्रकृति के प्रकोपों ने भी स्थिति को विषम बनाया। छात्रों, मजदूरों, सरकारी कर्मचारियों की हड़तालों, प्रदर्शनों, उपद्रवों आदि ने अशांति का वातावरण बनाने में कोई कसर नहीं रखी। चुनाव और राजनीतिक दलबंदी का तमाशा तो ऐसा है कि भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा। वोट पाने के लिए सिद्धांत और आदर्श उठाकर छप्पर पर रख दिये जाते हैं। जातिवाद, संप्रदायवाद, पैसा और डंडा ही अपना रंग दिखाता है। दलबदलुओं ने पदों और पैसों पर बिक-बिककर देश के लोकतंत्र को खिलौना बना दिया है। राजनीतिक भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया है कि लोकतंत्र की नींव ही हिलने जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

राजनीतिक कारण

राजनीतिक भ्रष्टाचार : सदरलैंड ने राजनीतिक भ्रष्टाचार का वर्णन करते हुए लिखा है कि (१) कानून भंग करनेवालों को प्रश्रय दिया जाता है, (२) निहित-स्वार्थों के विरुद्ध कानून बनने में अड़ंगे लगाये जाते हैं, (३) सार्वजनिक निर्माण के ठेकों आदि में खूब भ्रष्टाचार चलता है, (४) लोक प्रतिनिधि चुनाव के अवसर पर विभिन्न संस्थाओं आदि के समर्थन का आश्वासन देते हैं और चुने जाने पर उनके स्वार्थ की रक्षा करते हैं, (५) चुनाव में मतदान के तंत्र को हस्तगत करके सारे राजनीतिक तंत्र पर हावी होने का प्रयत्न किया जाता है। शिकागो में १९३३ के चुनाव में दुबारा मतगणना में देखा गया कि २९ प्रतिशत बैलट बक्सों में जालसाजी की गयी थी। कंसास सिटी में १९३६ के चुनाव में २७५ चुनाव अधिकारियों को जालसाजी के लिए खरीद लिया गया था। १९४८ में वहीं पर कांग्रेस के चुनाव में जैक्सन-

काउंटी कचहरी से बैलटों की चोरी करली गयी थी।[1] अमरीकी समाज में राजनीतिक भ्रष्टाचार और संगठित अपराध की मिली-जुली सांठ-गांठ है।[2] जो बात अमरीका की है, वही बात भारत में बड़े पैमाने पर चरितार्थ हो रही है। चम्बल के डाकू क्षेत्र में हमें प्रत्यक्ष बताया गया कि वहाँ के डाकुओं का चुनाव के अवसर पर राजनीतिक उपयोग किया जाता है। अन्यत्र भी गुंडों, बदमाशों को पाल कर सत्ता हथियाने का चक्र चलता रहता है।

सफेदपोश अपराधियों को प्रश्रय : आज की राजनीति में सफेदपोश अपराधियों को भरपूर आश्रय दिया जाता है। संतानम कमेटी ने सफेदपोश बदमाशों के निम्नलिखित अपराध गिनाये हैं।[3]

करापवंचन, कर चुकाने में टाल-टूल, शेयरों के मनमाने दाम चढ़ाना, शेयर मार्केट और कंपनियों के प्रबंध में अनुचित उपाय बरतना, एकाधिकारी नियंत्रण, सूदखोरी, गलत बीजक बनाना, बीजक में आवश्यकता के अनुसार या तो बहुत कम रकम चढ़ाना अथवा बहुत अधिक रकम चढ़ाना, वस्तुओं का संचय, मुनाफाखोरी, तामीरात के ठेकों में घटिया दर्जे का काम करना, सप्लाई का ठेका लेकर घटिया श्रेणी का माल सप्लाई करना, आर्थिक कानूनों को टालना, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, चुनाव में नाना प्रकार के अपराध और गलत काम आदि।

कानून का खोखलापन : राजनीतिक कारणों में कानून का खोखलापन भी भ्रष्टाचार वृद्धि का एक बड़ा कारण है। कानून का लक्ष्य है, जनता को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करना। परंतु होता उल्टा है। आज की कानून की व्यवस्था, उनके निर्माण की प्रक्रिया और उनकी कार्यान्विति मिलकर ऐसी बन गयी है कि जनता को लाभ तो दरकिनार, उलटे हानि-ही-हानि हो रही है। कानून बनते हैं एक उद्देश्य से, अमल में आते समय उनका बिलकुल दूसरा रूप दिखाई पड़ता है। कानून के भाष्यकार ऐसे-ऐसे अर्थ निकाल देते हैं कि कानून का उद्देश्य ही विफल हो जाता है।

किसानों के हित के लिए जमींदारी उन्मूलन संबंधी कानून बने हैं, परंतु राजनीतिज्ञों, प्रशासकों, जमींदारों अथवा साहूकारों ने उन कानूनों की मिट्टी पलीद कर दी है। तब यदि नक्सलवादी अशांति और उपद्रव करते हैं तो

---

१. सदरलैंड: प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी, पृ० १९९-२००

२. इलियट और मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, पृ० ५२४, ५२०-५३५

३. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृ० ११

जयप्रकाश पूछते हैं कि दूसरा उत्तरदायित्व किस पर है ? बड़े भूस्वामियों ने बनावटी बेनामों और बेनामी आदि के जरिये जोत की हदबंदी कानून को निष्फल कर दिया है। कुछ लोगों के सरकारी जमीन और ग्राम पंचायत की जमीन हड़प ली है। जमींदारों ने अपने बटाईदारों को उनके स्वत्व से वंचित कर रखा है और उन्हें बेदखलकर रखा है। उन्हें उनके मकानों से भी निकाल बाहर किया है। गरीबों से कहीं जालसाजी से लोगों ने जमीन छीन ली है, कहीं डंडे से। ऊंची जातिवालों ने हरिजनों के साथ दुर्व्यवहार किया है। साहूकारों ने खूब गहरा सूद लिया है और गरीबों और दुर्बलों की जमीन हड़प ली है। राजनीतिज्ञों, प्रशासकों तथा अन्य लोगों ने इन अन्यायों में भरपूर सहयोग किया है। इनके लिए और न्यायालयों की विलंबकारी नीति, मुकदमों का भारी व्यय और गरीबों को न्याय मिलने में भयंकर असुविधा आदि के लिए कौन जिम्मेदार है ? समाज के निम्नतम स्तर के लोगों की इस दुर्दशा की स्थिति में यदि हिंसा फूट पड़ती है तो उसके लिए किसे दोषी ठहराया जायगा ?[1]

स्पष्ट है भ्रष्टाचार के सर्वग्रासी रूप के लिए ये सभी कारण मिल-जुलकर उत्तरदायी बन बैठे हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासकीय—सभी कारणों ने मिलकर स्थिति इतनी विषम बना दी है कि विनोबा जैसे लोग कह उठे हैं कि 'भ्रष्टाचार तो अब 'शिष्टाचार' बन गया है।' संतानम कमेटी की रिपोर्ट ने इस सत्य को स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित कर दिया है। भारत के सामुदायिक विघटन में भ्रष्टाचार का बहुत बड़ा हाथ है।

सरकार के प्रायः सभी विभागों में भ्रष्टाचार पनप रहा है। राजस्व, पुलिस, आबकारी और तामीरात विभाग तो पहले से ही बदनाम रहे हैं,

भ्रष्टाचार का क्षेत्र

आयात-निर्यात, आयकर, तटकर, कृषि, पुरातत्व, रेलवे, सेना आदि अनेक विभागों में भी उसके पैर फैल गये हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा जैसे विभाग भी उससे अछूते नहीं रहे हैं। पूर्ति विभाग तो सबका सिरमौर बन बैठा है।

छोटे-बड़े उद्योग और व्यापार-वाणिज्य के ठेके, लैसंस, परमिट, ऋण, अनुदान आदि सभी में भ्रष्टाचार भली-भांति पनप रहा है। कोर्ट-

---

१. जयप्रकाश नारायण, लेख, फेसट फेद, दि इंडियन विलेज रैवोल्यूशन, 'रिस-र्जेंस', द्वैमासिक, लंदन, जनवरी-फरवरी १९७१, पृ० १२

कचहरी का तो कहना ही क्या ! चपरासी और पेशकार को मुंहमांगी भेंट चढ़ाये बिना तो रत्तीभर काम नहीं होता, यह तो कचहरी जानेवाले प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है। संतानम कमेटी को यह जानकर भारी दुःख हुआ कि सारे भारत में न्याय विभाग के निम्न स्तर पर तो भ्रष्टाचार चलता ही है, कहीं-कहीं उच्च स्तर में भी उसका प्रवेश हो गया है।[1] कमेटी ने भ्रष्टाचार की शिकायतों वाले विभागों की निम्न तालिका दी है—[2]

१. उद्योग-वाणिज्य, २. सामुदायिक विकास और सहकारिता, ३. सुरक्षा सेना, ४. शिक्षा, ५. परराष्ट्र, ६. अर्थ—आबकारी, तट कर सुरक्षा, आर्थिक विकास, व्यय, आयकर, राजस्व, ७. खाद्य और कृषि, ८. स्वास्थ्य, ९. गृह, १०. सूचना और ब्राडकास्ट, ११, सिंचाई और विद्युत, १२. श्रम, रोजगार, १३. न्याय, १४. खान १५. रेलवे, १६. वैज्ञानिक शोध और संस्कृति, १७. इस्पात, भारी उद्योग, १८. यातायात, संचार, १९. डाक,तार, २०. पुनर्वास, २१. तामीरात, २२. राष्ट्रपति का सचिवालय, २३. प्रधानमंत्री का सचिवालय, २४. योजना आयोग, २५. संघीय सार्वजनिक सेवा आयोग।

तीसरी लोकसभा में सार्वजनिक लेखा समिति—पब्लिक एकाउंट्स कमेटी ने अपनी छठी रिपोर्ट उपस्थित करते हुए आयकर विभाग में अपने परीक्षण का उल्लेख किया। बताया कि कंट्रोलर और आडिटर जनरल ने केवल १६ प्रतिशत मामलों के नमूने का परीक्षण किया तो पता चला कि ऐसे मामलों की बहुत बड़ी संख्या है, जहां उचित से बहुत कम आय निर्धारित की गयी। देश के १३१० वार्डों में से केवल २३५ वार्डों का परीक्षण किया गया। इसी में १ करोड़ २० लाख ७७ हजार रुपये की रकम उचित से कम निर्धारित की गयी।[3]

आयकर जांच आयोग ने १०५८ मामलों की जांच करके पाया कि ४२ करोड़ रुपये की रकम छिपा ली गयी थी। १९५१ में जब स्वेच्छया इस रकम को प्रकट करने का आह्वान किया गया तो ७० करोड़ रुपये की छिपी हुई रकम प्रगट हुई थी जो कि आरंभ में बतायी रकम से ६ गुनी थी। आयकर की भांति तटकर आदि भ्रष्टाचार का व्यापक क्षेत्र है। १९६२ में

१. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृ० १०८
२. वही रिपोर्ट, पृ० १९—२३
३. वही रिपोर्ट, पृ० १८

४ करोड़ ३५ लाख रुपये का अवैध सोना चांदी आदि पकड़ा गया, परंतु सभी जानते हैं कि तटवर्ती तस्करी का यह क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और यहां पर चलनेवाला चोर व्यापार कई गुना अधिक होता है। कुछ तटकर अधिकारी उसमें निश्चित रूप से हाथ बंटाते हैं।[1]

भ्रष्टाचार का प्रभाव

भ्रष्टाचार का प्रभाव चतुर्मुखी होता है। भ्रष्टाचार करने वालों पर उसका एक ढंग का प्रभाव पड़ता है, भ्रष्टाचार न करनेवालों पर दूसरे ढंग का। देश की स्थिति पर उसका एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जनमानस पर दूसरे प्रकार का।

भ्रष्टाचारी—फिर वे उद्योगपति हों, व्यापारी हों, ठेकेदार हों, सरकारी कर्मचारी हों, डाक्टर या वकील हों, शिक्षाधिकारी हों, या प्राइवेट स्कूल कालेजों के संचालक हों,— भ्रष्टाचार की बदौलत पूरा लाभ उठाते हैं। वे आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अन्य लाभ भी उठाते हैं। उद्योगपति, व्यापारी, ठेकेदार आदि तो वेईमानी से अंधाधुंध कमाई करते हैं। उसका कुछ प्रतिशत बीच के दलालों आदि को दे देते हैं। इससे कालाधन, चोर बाजार खूब पनपता है।

जो लोग ईमानदार हैं, जो लोग इस निश्चय पर दृढ़ हैं कि भले ही काम बिगड़ जाय, हम अनैतिक कार्य नहीं करेंगे, उन्हें नाना प्रकार की असुविधाएं भुगतनी पड़ती हैं, अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। उनके कार्यों में पग-पग पर वाधाएं पड़ती हैं। उन्हें मूर्ख और बुद्धू भी कहा जाता है।

देश की स्थिति भ्रष्टाचार के कारण उत्तरोत्तर बिगड़ती जा रही है। कालाधन और चोर वाजार से मंहगी बढ़ती है, मुद्रास्फीति होती है। गरीबों और मध्यम वर्गीय लोगों का जीवन उत्तरोत्तर कष्टमय बनता जाता है। मंहगी सहन न होने पर देश में उपद्रव और अशान्ति बढ़ती है। हड़तालें होती हैं, तालाबंदी होती है, अग्निकाण्ड होते हैं। राष्ट्र की अपार सम्पत्ति नष्ट होती है। उत्पादन घटता है, सरकारी आय घटती है। राष्ट्र की आय घटती है। अपराधों में वृद्धि होती है। युवकों में, सफेदपोशों में अपराध खूब बढ़ता है।

---

१. वही रिपोर्ट, पृ० १८, १९

भ्रष्टाचार के चलते नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है। जालसाजी, वेईमानी, झूठे बही-खाते, हर वस्तु में मिलावट, उत्तम नमूना दिखाकर घटिया माल देना, झूठे विल, झूठे वाउचर, झूठा कारवार खूब चलता है। ईमानदार लोग सताये जाते हैं। वेईमान गुलछर्रे उड़ाते हैं। अर्थ-व्यवस्था, न्याय व्यवस्था पंगु हो जाती है। शांति-सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है।

सफेदपोश अपराधों का भ्रष्टाचार से घनिष्ठ संबंध है। ये सफेदपोश बदमाश राजनीतिक नेताओं और सत्ताधारियों की आड़ में खूब पनपते हैं। अच्छे और ईमानदार अधिकारियों के चरित्र, रुचियों और कमजोरियों का सूक्ष्म अध्ययन करके ये उन्हें भी भ्रष्टाचार के मार्ग पर घसीट ले जाते हैं। इस प्रकार वे अपना काम बनाने में समर्थ हो जाते हैं।[१]

भ्रष्टाचार का सबसे बुरा प्रभाव जनमानस पर पड़ता है। सामान्य चपरासी और क्लर्क से लेकर मंत्री जैसे उच्च अधिकारी को भ्रष्ट होते देखकर उसे घोर निराशा होती है। संतानम कमेटी बड़े दुःख के साथ कहती है कि जनता की यह अपेक्षा थी कि भारत का शासन जब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के शिष्यों के हाथ में आयेगा और उसका नियंत्रण उन लोगों के हाथ में होगा जो अपने उच्च चरित्र, त्याग और योग्यता के लिए प्रख्यात रहे हैं तो केंद्र में और राज्यों में निश्चय ही ऐसी सरकारें बनेंगी जो राजनीतिक और प्रशासनिक, दोनों ही दृष्टियों से अपनी ईमानदारी का अतुलतनीय उदाहरण उपस्थित करेंगी। परंतु खेद की बात है कि जनता की यह अपेक्षा पूरी नहीं हो सकी।[२]

सफेदपोश अपराध—प्रोफेसर सदरलैंड ने अमरीका के २०० बड़े संस्थानों में से ७० संस्थानों और शक्ति तथा विद्युत के १५ निगमों की स्थिति का विशेष अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि व्यापारिक गतिरोध, सर्वाधिकार और व्यापार चिह्न का उल्लंघन, अन्यायपूर्ण श्रम पद्धति, वित्तीय विश्वासघात, करापवंचन, युद्ध सामग्रियों में व्यापारिक बाधा आदि युद्ध विधानों का उल्लंघन करने में इन संस्थानों और निगमों का बड़ा हाथ रहा है। वालरस्टेज और वाइल द्वारा भी विशेष अध्ययन किया गया। १६९८ व्यक्तियों में से, जिनमें १०२० पुरुष और ६७८ स्त्रियाँ थीं, ९१ प्रतिशत ने

---

१. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृ० १२

२. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृष्ठ १३,

यह स्वीकार किया कि उन्होंने चोरी, रिश्वत आदान-प्रदान, ठगी, लूट, दंगा करापवंचन, अभद्रता, हिंसा आदि अपराध किये हैं।

सदरलैंड ने इन अध्ययनों के अधार पर सामान्य और सफेदपोश, इस, प्रकार दो कोटि के अपराधी बताये। उसका कहना था कि पूर्ण स्वार्थवाद उच्च प्रतिष्ठा और गोपनीय बने रहने की सुविधा से, जन जागरूकता की कमी, कानून की अनभिज्ञता, अज्ञानता और दंड से बच जाने के कारण सफेदपोश अपराध होते हैं। उच्च प्रतिष्ठाप्राप्त सफेदपोश लोग ऐसे अपराध करते रहते हैं, हजारों-लाखों रुपये बनाते रहते हैं और दंड से भी बचे रहते हैं। दंड देनेवाले उनके उच्च सामाजिक स्तर और बड़े-बड़े अधिकारियों और मंत्रियों तक से उनकी सांठ-गाँठ देखकर उनके विरुद्ध कोई कदम उठाने में हिचकते हैं। ऐसे अपराध होते तो बहुत हैं, परंतु पुलिस की रिपोर्टों में कदाचित ही उनका नाम आता है।[1] भारत में भी सफेदपोश अपराध धड़ल्ले से हो रहे हैं, पर उन्हें पकड़े कौन ? बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे ? जो ऐसा साहस करेगा उसकी जान की खैर नहीं।

विरोधी को गोली—हमारे एक मित्र का पुत्र सामुदायिक विकास अधिकारी—बी० डी० ओ० था। भ्रष्टाचार को वह गलत मानता था। इससे उसके अधीन कर्मचारी उससे जलते थे। एक दिन ऐसी ही एक घटना पर उसने एक चपरासी को मुअत्तल कर दिया। शीघ्र ही एक दिन किसी ने उसकी पीठ पर कोई तरल पदार्थ फेंका। वह जबतक पीछे देखे तबतक जलती सलाई ने उसके कपड़ों को पकड़ लिया। बेचारा नौजवान कुछ घंटों के भीतर ही काल-के-गाल में समा गया !

एक सर्वोदयी कार्यकर्ता सच्चिदानन्द साइक्लोस्टाइल से एक साप्ताहिक पत्र—'पर्सनैलिटी' निकालते थे। निर्भीकता से भ्रष्टाचार के विरुद्ध, शोषण के विरुद्ध लिखते थे। एक बार एक क्लर्क के गले में हाथ डालकर उन्होंने रिश्वत के नोट बरामद करा दिये थे। सफेदपोश निहित स्वार्थी उनके विरुद्ध थे। एक संध्या को वे गोलियों से उड़ा दिये। उनके दूसरे साथी गोविन्द रेड्डी उनकी ओर दौड़े तो उन्हें भी गोलियों से भून दिया गया। ऐसा है भ्रष्टाचार का चक्र।

भ्रष्टाचार गलत है। भ्रष्टाचार दूर होना चाहिए। इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं। परंतु यह सर्वग्रासी समस्या कितनी विषम है, यह कौन

---

१. सदरलैण्ड: प्रिंसिपल्स आफ क्रिमिनालाजी, पृष्ठ ३८–४७

भ्रष्टाचार निवारण

नहीं जानता ? भ्रष्टाचार निवारण के लिए स्थान-स्थान पर कमेटियाँ बनी हैं। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोग इन कमेटियों के सदस्य हैं। परंतु भ्रष्टाचार घटने का नाम नहीं लेता। क्यों ? कुछ लोगों का यह आरोप है कि भ्रष्टाचार निवारण के लिए बनी कमेटियों में भी बहुत से लोग भ्रष्ट हैं। तब भ्रष्टाचार कैसे दूर हो सकता है ? साथ ही, यह बात तो स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार का विरोध करनेवालों की खैर नहीं रहती। स्वयं संतानम कमेटी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भ्रष्टाचार संबंधी शिकायत करनेवाले को इस बात का पूरा अश्वासन रहना चाहिए कि उसकी रक्षा की जायगी और शिकायत उचित होगी तो अपराधी को शीघ्र और समुचित दंड दिया जायगा।[१]

संतानम कमेटी के सुझाव

भ्रष्टाचार निवारण के लिए संतानम कमेटी ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। उनमें से कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं—

१. सरकारी कर्मचारियों की आचार संहिता संबंधी नियम सर्वत्र एक से नहीं हैं। यह ठीक नहीं। सरकार ने समय-समय पर ऐसे नियम बनाये हैं जिनसे भ्रष्टाचार पर अंकुश लगे, पर ये सारे नियम पुराने ढर्रे के हैं। इन नियमों के द्वरा राजपत्रांकित और अन्य कर्मचारियों का ऋण लेना-देना, उपहार लेना, जमीन-जायदाद खरीदना, एक जगह छोड़कर अन्यत्र काम करना, कंपनियाँ खोलना, निजी व्यापार करना और निवृत्तहोने पर व्यापारी पेढ़ियों में नौकरी करना रोका गया है। सरकार ने इन नियमों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किया। निरीक्षण संबंधी पदों पर कार्य करनेवाले कर्मचारियों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की ईमानदारी पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को अपने कार्यों और आदेशों की पूरी जिम्मेदारी माननी चाहिए। वे अपनी अचल संम्पत्ति का जो वार्षिक विवरण देते हैं, उसके स्थान पर समय-समय पर उनसे उनके देने-पावने का पूरा विवरण लेना चाहिए। उस विवरण में दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को छोड़कर चल संपत्ति और जवाहरात आदि का विस्तृत विवरण रहना चाहिए।

२. अनुशासन की कार्रवाई करने में संविधान की धारा ३११ से बड़ी बाधा पड़ती है। उसमें समुचित संशोधन किया जाय।

---

१. संतानम कमेटी की रिपोर्ट, पृष्ठ ४९

३. भ्रष्टाचार रोकने के लिए प्रशासनिक, कानूनी, सामाजिक, आर्थिक और सामाजिक—सभी प्रकार के उपाय करने चाहिए। उनकी बड़ी सावधानी से योजना बनाकर प्रभावशाली ढंग से अमल में लानी चाहिए।

४. भ्रष्टाचार निवारण के लिए अभी तक जितने नियम, कानून, पद्धतियां और प्रथाएँ चालू हैं, सबकी विधिवत जांच करके उनमें उपयुक्त संशोधन करने चाहिए।

५. लैसंस और परमिट किसी स्वीकृत व्यापार संस्था के सदस्य होने पर ही दिये जायँ। दुरुपयोग करने पर उक्त संस्था का भी सहयोग लेकर विरुद्ध कार्रवाई की जाय।

६. लालफीताशाही बंद की जाय। निर्णयों में विलंब होने के कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर किया जाय। उच्च अधिकारी बराबर देखते रहें कि फाइलें बीच में न अटकें।

७. नागरिकों को शिक्षण दिया जाय कि वे अपनी शिकायतें लेकर सीधे सरकार के पास पहुँचे। दलालों के फेर में न पड़ें।

८. सरकारी कर्मचारियों के निवास, चिकित्सा, बच्चों की शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

९. उच्च प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति के पूर्व यह देख लिया जाय कि ईमानदार व्यक्ति ही ऐसे पदों पर रखे जायँ।

१०. जो समाचार गुप्त न हों वे जनता को सहज उपलब्ध होनी चाहिए।

११. आयकर का हिसाब छिपाकर रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

१२. बैनामे में कम पैसा लिखकर अधिक कीमत पर संपति की बिक्री की जाती है। ऐसे बैनामों को खरीदने के लिए सरकार या कोई विशेष निगम प्रस्तुत रहे तो स्टाम्प ड्यूटी पूरी लगेगी और काले धन पर अंकुश होगा। मकानों की 'पगड़ी' रोकने के लिए कुछ कड़े उपाय बरतने चाहिए।

१३. व्यापारी पेढ़ियों के प्रतिनिधियों से दफ्तर में ही मुलाकात हो और उनकी बात-चीत की डायरी रखी जाय।

१४. कंपनियों और व्यापारियों को इस बात के लिए विवश किया जाय कि वे अपने व्यय का विस्तृत विवरण रखें।

१५. भ्रष्टाचार के विरुद्ध विधिवत प्रचार किया जाय। जो कर्मचारी

इस कारण बर्खास्त किये जायँ, उनका और उनके कारनामों का व्यापक प्रचार किया जाय।

१६. भारतीय दंड विधान १८६० से कुछ संशोधनों के साथ चला आ रहा है। उसमें आज की आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तन होने चाहिए।

१७. भारतीय संविधान में एक नया अध्याय जोड़कर ऐसे सभी सामाजिक अपराधों के लिए समुचित दंड व्यवस्था की जाय—(१) ऐसे अपराध जो देश के आर्थिक विकास में बाधा डालते हैं, (२) करों को टालने या बचाने के प्रयत्न, (३) ठेके, लैसंस, परमिट, सार्वजनिक संपत्ति का विक्रय करने आदि में सरकारी कर्मचारियों द्वारा पद का दुरुपयोग, (४) सरकारी ठेके में बताये गये नमूने के अनुसार अच्छा माल न देना, (५) मुनाफाखोरी, चोर बाजारी और खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं का संचय, (६) खाद्य-पदार्थों और दवाइयों में मेल-मिलावट, (७) सार्वजनिक संपत्ति की चोरी और गलत इंदराज और (८) लैसंसों-परमिटों आदि में सौदेबाजी।

१८. 'सरकारी कर्मचारी' के अंतर्गत मंत्रीलोग, महापालिकाओं के सदस्य, सरकारी सहायता प्राप्त शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य संस्थाओं के कर्मचारी भी सम्मिलित किये जाने चाहिए।

१९. रिश्वत देना या देने का प्रयत्न दंडनीय अपराध माना जाना चाहिए। भारतीय दंड विधान के नवें अध्याय के अंतर्गत जो भी अपराध आते हैं, उनमें गिरफ्तार व्यक्ति जमानत पर न छोड़े जायँ।

२०. भ्रष्टाचार के जुर्म में गिरफ्तार कर्मचारी मुअत्तल कर दिये जायँ।

२१ गैर सरकारी संस्थाओं को सहायता देते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाय कि वे संस्थाएँ ठीक ढंग से काम करें।

२२. भ्रष्टाचार रोकने के लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण बनाया जाय।

२३. मंत्रियों और विधायकों के लिए उपयुक्त आचार संहिता होनी चाहिए। उनकी ईमानदारी और सच्चरित्रता से ही अच्छा वातावरण बन सकेगा।

२४. राजनीतिक दल आय-व्यय का पूरा हिसाब रखें और प्रत्येक व्यक्ति से प्राप्त होनेवाले चंदे का विवरण प्रकाशित करें।

२५. राजनीतिक उद्देश्य के लिए दान या चंदा देनेवाले इसका पूरा हिसाब रखें।

२६. समाचार पत्रों में छपी भ्रष्टाचार की शिकायतों की पूरी जाँच की जाय। गैर जिम्मेदार और झूठी शिकायतें छापने वाले पत्रों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की जाय।

२७. समाज विरोधी कार्य करने वालों के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार किया जाय।

२८. सरकार के विभिन्न विभागों के अतिरिक्त सेना, न्यायालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, अंतर्विश्वविद्यालय बोर्ड आदि को भी भ्रष्टाचार रोकने के लिए पूरी सतर्कता बरतनी चाहिए।

संतानम कमेटी ने ऐसे अनेक सुझाव दिये हैं। सरकार उनपर जितना अधिक ध्यान देकर उपयुक्त कार्रवाई करेगी, उतना ही इसका अच्छा परिणाम आयेगा।

भ्रष्टाचार के मूल में मूल बात है नैतिक मूल्यों का ह्रास। सत्य और ईमानदारी, अस्तेय और अपरिग्रह, सादगी और त्याग जैसे नैतिक मूल्य ही किसी भी राष्ट्र को ऊपर उठाते हैं। भारत ने इस दिशा में प्राचीन काल में जो उन्नति की थी, वह इसलिए थी कि ये मूल्य भारत के सामाजिक जीवन के मूलाधार थे। भारत की वर्ण व्यवस्था, भारत की समाज व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ स्थान इसलिए नहीं दिया जाता था कि उसका जन्म ब्राह्मण माता-पिता के घर में हुआ था, अपितु इसलिए कि वह नैतिक मूल्यों का, त्याग और तपस्या का मूर्तिमान प्रतीक होता था। नैतिक मूल्यों का विकास आज की पहली आवश्यकता है।

नैतिक मूल्यों का विकास

शिलोञ्छ वृत्ति वाला ब्राह्मण अथवा 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' संन्यासी समाज में सर्वाधिक आदर पाते थे। इसका कारण यही था कि सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह, वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा का त्याग उनका आदर्श था। तभी तो चक्रवर्ती सम्राट् उनके चरणों में प्रतिपात करने में गौरव का बोध करते थे और कहते थे—'अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई।' समाज का मार्ग दर्शन ऐसे ही त्यागी और तपस्वियों के हाथ में था। बौद्ध भिक्षु, जैनमुनि भी भारत में इसीलिए पूज्य माने जाते रहे हैं कि उनके जीवन में त्याग और तपस्या को प्रमुख स्थान था। गाँधी और विनोबा की भारत में इसीलिए पूजा होती है कि ये लोग भी उसी लंगोटी वाली परंपरा को अक्षुण्ण रखे हैं।

एक भूल का परिणाम : भारत का स्वतंत्रता संग्राम त्याग और तपस्या का ही अद्भुत उदाहरण है। सत्याग्रह आंदोलन नैतिक मूल्यों का ही आंदोलन था। तदनुकूल ही उसका उज्ज्वल परिणाम हुआ। परंतु स्वराज्य की प्रतिष्ठा के समय ही एक भूल हो गयी, उसी के कारण भ्रष्टाचार को पनपने का अवसर मिल गया।

भूल यह हुई कि भारत ने कांग्रेस के कराची प्रस्ताव की उपेक्षा कर दी। सर्वसेवा संघ के भूतपूर्व प्रधान मंत्री अण्णा साहब सहस्रबुद्धे बता रहे थे कि स्वराज्य प्राप्ति के एक दिन पहले जान मथाई अपनी पत्नी से चर्चा कर रहे थे कि कांग्रेस ने प्रस्ताव कर रखा है कि अधिकतम वेतन ५०० ही होगा और वेतनमानों में अधिक अंतर नहीं रहेगा। तो हमलोगों का क्या होगा ? दंपति ने निश्चय किया कि हमलोग ५०० मासिक में ही गुजर करेंगे। बंगला छोड़कर छोटे मकान में रह लेंगे। माली आदि को हटा देंगे। कार के स्थान पर साइकिल से दफ्तर चले जायँगे। देश के लिए जब कांग्रेस नेताओं ने इतना त्याग किया है तो हम क्या इतना भी नहीं कर सकते ?

यह भावना थी उस समय इंडियन सिविल सर्विस के अफसरों की। मंत्री लोग यदि इस क्षण का ठीक ढंग से सदुपयोग करते तो आनन-फानन भारत का नक्शा बदल जाता। पर ऐसा हुआ नहीं। मंत्रियों ने आलीशान बंगलों में शानदार ढंग से रहना और चमचमाती कारों में अनावश्यक आडंबर के साथ घूमना आरंभ कर दिया। दरिद्र देश के चुने-माने नेताओं ने जब वैभव और विलास का मार्ग स्वीकार कर लिया, शान-शौकत का जीवन अपना लिया, ऊँचे जीवन स्तर का नारा बुलंद किया तो उनके अधीनस्थ अफसरों और कर्मचारियों को क्या पड़ी थी कि वे त्याग के मार्ग की ओर झुकते।

इस भूल का मुआवजा है—भ्रष्टाचार।

सभी नेताओं ने ऐसा किया, यह बात नहीं। कुछ ने सादगी की बात भी सोची, पर उनकी चली नहीं। परिणाम यह हुआ कि पैसे और शान-शौकत को प्राथमिकता मिल गयी, वैभव और विलास को वरीयता प्राप्त हो गयी। फिर तो भ्रष्टाचार को पनपना था ही। उसका विकृततम रूप आज समाज के समक्ष उपस्थित है।

सामाजिक और सामुदायिक विघटन के लिए अनेक अंशों में उत्तरदायी इस भ्रष्टाचार समस्या का निदान क्या है ? यह विकृति कैसे मिटे, यह एक ज्वलंत प्रश्न है। संतानम कमेटी ने इसके निदान के लिए अच्छे सुझाव

मिरडाल के सुझाव

दिये हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नर मिरडाल ने एशियाई देशों की दरिद्रता का विस्तार से विश्लेषण करते हुए संतानम कमेटी के अनेक सुझावों का समर्थन किया है। भ्रष्टाचार निवारण के लिए उन्होंने निम्नलिखित सुझावों को अच्छा माना है।[१]

१. लैसंस, परमिट आदि के संबंध में निर्णय करने का अधिकार इस प्रकार से नियंत्रित किया जाय कि भ्रष्टाचार न हो।

२. अल्प वेतन भोगी कर्मचारियों का वेतन, सामाजिक स्तर और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी जाय।

३. भ्रष्टाचार निरोध के लिए सतर्कतामूलक कारंवाई बढ़े।

४. कानून ऐसे बनें कि भ्रष्टाचार के अपराधियों को शीघ्र ही कड़ा दंड मिल सके।

५. व्यक्तिगत क्षेत्र के जो लोग अधिकारियों को रिश्वत देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने को प्रयत्नशील होते हैं, उनके विरुद्ध कड़ी कारवाई की जाय।

६. आयकर और आय-व्यय के विवरण गुप्त न रहें। गुप्तता कम की जाय।

७. मंत्री और उच्च अधिकारी लोगों की ईमानदारी संदेह से परे हो।

८. व्यापारी पेढ़ियों द्वारा राजनीतिक चंदों पर रोक लगे।

९, शिकायतियों की रक्षा की जाय।

१०. भ्रष्टाचार संबंधी झूठी रिपोर्टें छापनेवाले समाचारपत्रों के विरुद्ध कड़ी काररवाई की जाय आदि।

मिरडाल का कहना है कि ब्रिटेन, हालैंड, स्कैंडेनेविया देशों में २०० वर्ष पूर्व बड़ी मात्रा में भ्रष्टाचार व्याप्त था। आज ये देश भ्रष्टाचार से मुक्त हैं। ऐसा कैसे हुआ—इस बात का भली-भाँति अध्ययन किया जाना चाहिए। राजनीतिक और आर्थिक इतिहासकारों ने इस दिशा में विशेष रुचि नहीं दिखायी है। संभवतः इसका कारण यही है कि नैतिक मूल्यों का विकास किया गया है। विशेषतः उच्च स्तरवाले लोगों में नैतिकता की वृद्धि की गयी है और निम्नस्तर वालों के वेतन में वृद्धि की गयी है और प्रायः ऐसा कर दिया गया है कि परंपरया दी जानेवाली रिश्वत को वैध,

---

१. गुन्नर मिरडाल : एशियन ड्रामा, खंड २, पृ० ९५५-९५६।

फीस का स्वरूप दे दिया गया है।[1] मिरडाल ने एक आशंका की ओर ध्यान दिलाया है कि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का जिन देशों को चस्का लग गया था, उन पूँजीवादी राष्ट्रों के लोग और व्यापारी भ्रष्टाचार द्वारा दक्षिण एशियाई देशों के राजनीतिज्ञों और उच्च अधिकारियों की ईमानदारी नष्ट करने के षड्यंत्र में तत्पर हैं।[2]

एशिया के अर्थशास्त्री सम्मेलन में मिरडाल ने अभी हाल में कहा था कि 'भ्रष्टाचार को मिटाना जरूरी है। भ्रष्टाचार और पक्षपात के विरुद्ध कड़े कदम उठाना सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है।'' औद्योगिक विकास को एक नयी दिशा देने की आवश्यकता है। इसके लिए उच्चतर वर्गों द्वारा विलासिता की वस्तुओं के उपभोग पर अंकुश लगाना जरूरी है। भारत जैसे देश में इसका अर्थ औद्योगिक लैसंस देने की पद्धति में किसी सीमा तक आमूल परिवर्तन होना चाहिए। महात्मा गांधी समृद्ध वर्गो से उपभोग और जीवन पद्धति में इसी प्रकार की सादगी की मांग कर रहे थे।[3]

समस्या का निदान भ्रष्टाचार की समस्या के विश्लेषण से अंततः हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. भ्रष्टाचार करनेवाले और विशेषतः सफेदपोश अपराधियों को कड़े दंड दिये जायँ और उनकी सामाजिक अप्रतिष्ठा की जाय।

२. अल्प वेतनभोगी कर्मचारियों के वेतन आदि में समुचित वृद्धि की जाय। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ायी जाय।

३. मंत्रीगण तथा उच्चपदस्थ अधिकारियों को संदेह से परे होना चाहिए। उनकी ईमानदारी अक्षुण्ण होनी चाहिए। यदि उनकी ईमानदारी संदिग्ध हो तो उन्हें कड़े-से-कड़ा दंड मिलना चाहिए।

४. पैसे को दी गयी असामान्य प्रतिष्ठा घटायी जाय।

५. समाज में सदाचार, सादगी, ईमानदारी के विकास के लिए, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए जनांदोलन करना चाहिए। उसके लिए जनमत जाग्रत करना चाहिए।

---

१. वही पृ० ६५७।

२. वही, पृ० ६५८।

३. मिरडाल : आर्थिक विकास के मानवीय आयाम, भूदानयज्ञ, ग्राम स्वराज्य विशेषांक, १६ अप्रैल १९७३।

सदाचार समितियाँ

भ्रष्टाचार निवारण के लिए संयुक्त सदाचार समितियाँ बनी हैं। उनके सदस्य प्रतिज्ञा करते हैं कि "मैं किसी भी रूप में घूस नहीं लूँगा या नहीं दूँगा और न-घूस लेने-देने वालों का साथ ही दूँगा। मैं भ्रष्टाचार मिटाने के लिए सभी प्रकार की संभव सहायता करूँगा।"

ये सदाचार समितियाँ यदि सक्रिय होकर भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन चलायें, भोग-विलासमय जीवन के स्थान पर त्याग और सादगीपूर्ण जीवन को प्रश्रय दें तो भ्रष्टाचार निवारण में बड़ी सहायता हो सकती है। इसके लिए सतत प्रयत्न और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। मंत्रियों के लिए बनी आचार संहिता और शासन में सुधार की उत्सुकता यदि सोडावाटर के जोश जैसी क्षणिक हो तो उसमें कोई लाभ नहीं होनेवाला है।[१] नैतिक मूल्यों की समाज में प्रतिष्ठा के विना भ्रष्टाचार की समस्या का निराकरण असंभव है। त्याग और सादगी ही इसका एकमात्र उपाय है।

---

१. मिरडाल : एशियन ड्रामा, खंड २, पृ० ६५६।

खंड : ३

पुनर्निर्माण

समाज सेवा : समाज कल्याण

अध्याय : २८

समाज-सेवा : समाज-कल्याण

सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।

'सेवा धर्म परम गहन है । योगियों के लिए भी उसका पालन करना कठिन है ।' —इस उक्ति में सेवा धर्म की कठिनाइयों की ओर संकेत किया गया है । सेवा का मार्ग वस्तुतः कठिनाइयों से ओतप्रोत रहता है । कष्ट और संकट, निन्दा और तिरस्कार, अपमान और उपेक्षा सेवाव्रती का उपहार है । त्याग और तपस्या उसका पाथेय है ।

सेवा का भारतीय आदर्श

सेवा के पुजारी विनोबा ने सेवा का भारतीय आदर्श बताते हुए एक सूत्र ही बना लिया है—'सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की ।'[1] वे कहते हैं—"जीवन में मैंने सार्वजनिक सेवा के सिवा न तो कुछ किया है, न करने की इच्छा है । मैं तो उन लोगों में हूँ जो मूक सेवा करना चाहते हैं । मेरा सेवा का उद्देश्य भक्ति भाव है । मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, 'सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की ।' व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढ़ती है । इसलिए भक्ति समाज की । सेवा समाज की करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते । सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं । समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है । सेवा के लिए विशाल क्षेत्र चाहते हैं । पर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपने को सेवा में खपा देना है तो किसी देहात में चले जाओ । ऊँची या गहरी सेवा वहाँ खूब हो सकती है । एक देहात की जनता को भी हमने निर्भर कर दिया, तो हमने बहुत बड़ा काम कर दिया । वहाँ के अर्थशास्त्र में कुछ व्यवस्था कर दी तो बहुत कुछ हो गया । हमारा तरीका अहिंसा का हो, प्रेम का हो । हमें खूब तोल-तोलकर मुँह से शब्द निकालने चाहिए । वाद-विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं । हम तो सेवा करते-करते ही खतम हो जायँ । दूसरों के दोष बताने और बताने

1 वियोगी हरि (सं०) : विनोबा और उनके विचार, १९५२, पृ० १५

रखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। माँ अपने बच्चे के दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसा ही प्रेममयी सेवा का होता है।'

ग्राम सेवा

ग्राम सेवा और ग्राम धर्म बताते हुए विनोबा कहते हैं[१] —'जब हम सेवा का हेतु लेकर देहात में जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्य का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहात में जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाज की तरफ। सारे समाज के समीप पहुँचना सम्भव भी नहीं है। बापूजी (महात्मा गाँधी) के लेख मुझे कम ही याद आते हैं, लेकिन उनके हाथ का परोसा भोजन मुझे हमेशा याद आता है और मैं मानता हूँ कि उससे मेरे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवा का प्रभाव। व्यक्तियों की सेवा में समाज-सेवा का निषेध नहीं है। समाज गीता की भाषा में अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार। अतः व्यक्ति की सेवा करना आसान है।

'हमें देहातियों के सामने ग्राम सेवा की कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्रधर्म की। ग्रामधर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्रधर्म नहीं। आपस के झगड़े मिटाना, गाँव की सफाई और स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आयात-निर्यात की वस्तुओं और ग्राम के पुराने उद्योगों की जाँच करना तथा नये उद्योग खोज निकालना आदि गाँव के जीवन व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली हरेक चीज ग्रामधर्म में आ जाती है। पुरानी पंचायत पद्धति नष्ट हो जाने से देहात की बड़ी हानि हुई है। झगड़े मिटाने में पंचायत का बहुत उपयोग होता था।

'तीसरी बात। सेवक की आवश्यकताएँ देहातियों से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम सेवा कर सकता है, लेकिन ये आवश्यकताएँ विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिए। देहात में रहकर वह दूध ले सकता है। सुगंधित साबुन देहात में पैदा होनेवाली चीज नहीं, वह विजातीय है। सेवक को उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। देहात में उपलब्ध होनेवाले साधनों से

---

१. वही, पृ० १२०-१२४।

ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए।

'खादी उत्पत्ति के लिए चर्खा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र स्वावलम्बन के लिए तकली ही उपयुक्त है। उसे मैं सवा लाख का चर्खा मानता हूँ।

'देहात में सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिन तक यह काम करने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्वधर्म समझ कर ही हम काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर उसका दुःख हमें नहीं होगा। यह सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियों की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी। परन्तु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसीलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है।

'औषधि वितरण में एक बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियों को पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उन्हें तो स्वावलम्बी बनाना है। उन्हें स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाना है। रोग की दवाइयाँ देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पाये। यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है।'

सेवा का आचार धर्म : सेवा का आचार धर्म बताते हुए विनोबा कहते हैं[१] —'देहात के लोग यानी किसान और शहराती, रंक और श्रीमान्—इनका अन्तर जितना कम होगा, उतना ही देश का कदम आगे बढ़ेगा। अन्तर दो तरह से मेटा जा सकता है—ऊपर वालों के नीचे उतरने से और नीचेवालों के ऊपर चढ़ने से। परन्तु दोनों ओर से ऐसा नहीं होता। हम 'सेवक' कहलाते हैं लेकिन किसान-मजदूरों की तुलना में तो चोटी पर ही हैं। देहातों में जाकर हमें अपनी आवश्यकताएँ कम करनी चाहिए।

'हममें आलस्य बहुत है। उसे दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। देहात म निन्दा करने का रोग उग्र रूप में फैल गया है। कार्यकर्त्ताओं को शपथ ले लेनी चाहिए कि वे न तो निन्दा करेंगे, न सुनेंगे। हमेशा ठीक बोलना चाहिए। सचाई का सूक्ष्म अभ्यास करना चाहिए। देहातियों को वचन, नियम या व्रत में नहीं बांधना चाहिए।

---

१. वियोगी हरि : बिनोवा और उनके बिचार, पृ० १६६-१७६।

जो नयी बात कहनी हो वह नौजवानों से, नयी पीढ़ी से कहनी चाहिए। कार्य शुरू करते ही फल की आशा नहीं रखनी चाहिए। समाज में सेवा के लिए जाना चाहिए। बाकी समय स्वाध्याय और आत्म परीक्षण में बिताना चाहिए। स्त्रियों की सेवा करो। उनके लिए महीन सूत कातो। आगे चलकर वे ही तुम्हारे लिए सारे कपड़े तैयार कर देंगी।'

इस प्रकार विनोबा ने सेवा का आदर्श, उसका धर्म और उसका आचार बता दिया है। भारत में समाज सेवा और ग्राम सेवा मुख्यत: ऐसे ही आदर्शों पर पुष्पित-पल्लवित होती रही है। सेवा को परम पवित्र और उच्चतम स्थान दिया जाता रहा है। महात्मा गाँधी का कहना था कि 'सेवक को शून्यवत रहना होता है। शून्यवत होकर रहने का मतलब है—अच्छा लेने में सबसे पीछे रहना। सब की सेवा करना, उपकार की आशा न रखना और कष्ट सहन करने में दूसरों से पहल करना। जो इस तरह शून्यवत् रहेगा, वह अपने कर्तव्यों में तो डूबा रहेगा ही।'[१]

पर दुःख कातरता

सेवा का लक्षण है—पर दुःख कातरता। सेवा की ही यह प्रतिष्ठा है कि वैष्णव का सबसे प्रधान और प्रथम लक्षण बताया गया—परायी पीर समझना—'वैष्णवजन तो तेणे कहीए, जे पीर पराई जाणे रे!' भक्त कहता है कि मुझे न राज्य चाहिए, न स्वर्ग चाहिए, न पुनर्भव। मुझे तो दुःख-ताप से पीड़ितों की सेवा करनी है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

स्कंद पुराण (अध्याय १३) में आता है

को नु मे स्यादुपायो हि येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्त: प्रविश्य भूतानां भवेयं सर्वदुःखभुक्॥

'मेरे लिए ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे मैं दुःखी चित्तवाले सभी जीवों के भीतर घुसकर अकेला ही सबके दुःखों को भोगता रहूँ?'

धर्म और सन्तों की सारी परम्परा पर दुःख कातरता पर बल देती आयी है। बाबा मलूक दास कहते हैं

---

१. महादेव भाई की डायरी, खंड १, पृ० २६६।

दाया करे धरम मन राखै, मन में रहै उदासी ।
अपना सा दुःख सबका जानै ताहि मिलै अविनासी ।।
सहै कुसब्द वाद हू त्यागै छाँड़ै गरव गुमाना ।
यही रीझ मेरे निरंकार की, कहत 'मलूक' दिवाना ।।

सेवा को जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति अथवा परमेश्वर की प्राप्ति का साधन माना गया है । इससे बढ़कर सेवा का और क्या महत्त्व हो सकता है ?

बुद्ध हों या महावीर, ईसा हों या मुहम्मद, सभी धर्म प्रवर्तक एक स्वर से सत्य, प्रेम और करुणा पर बल देते आये हैं । प्राणिमात्र को सुख पहुंचाना, चींटी तक को न सताना अहिंसा की कसौटी रही है । सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये का, छोटे और बड़े का, गरीब और अमीर का, पापी और पुण्यात्मा का कोई भेद नहीं रखा गया । भेद करनेवाले को अनुदार कहा गया है, छोटा कहा गया है—

अयंनिजः परोवेत्ति गणना या लघु चेतसाम् ।
उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

समाज सेवा की अवधारणा

भारत की समाज सेवा की अवधारणा इतने व्यापक आदर्श को लेकर विकसित हुई है । उसमें समाज के केवल दुर्बल पक्ष की सेवा ही नहीं, अपितु सारे समाज की सर्वांगीण और निःस्वार्थ सेवा की भावना ओत-प्रोत है । नगर हो या ग्राम, कस्बा हो या झोंपड़ी—सभी की सेवा, सभी का उत्थान और विकास उसका लक्ष्य रहा है । आर्थिक और सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी दिशाओं में मानव का सर्वांगीण विकास करना उसका उद्देश्य रहा है । नैतिकता और आध्यात्मिकता तो उसकी आधारशिला ही रही है । भारतीय समाज के संगठन का जो वर्णन पीछे किया गया है, उससे समाज सेवा की सारी भूमिका स्पष्ट हो जाती है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में समाज सेवा का इतिहास अत्यंत प्राचीनकाल से आरंभ होता है । वैदिक काल से लेकर पुराणेतिहास काल तक जो धार्मिक साहित्य विकसित हुआ, उसमें सेवा के मूलतत्व—'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्' पर सर्वाधिक बल दिया गया । केवल निर्धन और अभावग्रस्त लोगों की ही नहीं, सारे समाज की सेवा का विधान था । परिवार संस्था हो अथवा आश्रम

संस्था, वर्ण संस्था हो अथवा संस्कारों की परंपरा हो, सब में सर्वत्र व्यक्ति, समुदाय, समाज, राष्ट्र की सेवा के लिए नाना प्रकार के विधान दिखाई पड़ते हैं।

मध्यकालीन युग में भी समाज सेवा की यह परंपरा अक्षुण्ण दीखती है। धर्म का आधार ही था दान और दया। आश्रम, मठ, मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, सदाव्रत आदि का बाहुल्य था। साधु-संतों, त्यागियों, संन्यासियों की सेवा समाज धर्म का अंग माना जाता था। मजूमदार के अनुसार 'राजा और जमींदार, व्यापारी और अन्य लोग समाज सेवा के कार्यों में प्रतिद्वंद्विता करते थे।'[१] 'दान, विश्व-प्रेम और पारस्परिक सहायता के मूल्यों पर अत्यधिक बल दिया जाता था।'[२]

मुसलिम शासन काल में कुरान शरीफ के अनुसार शासन व्यवस्था चलाने का प्रयत्न किया गया था। उसमें भी जकात-दान, शिक्षा संस्थाओं की सहायता, मंदिरों-मसजिदों का निर्माण, धर्मशाला, आराम घर, अस्पताल आदि बनाने का कार्य चलता रहता था। उदाहरण तो ऐसे भी उपलब्ध हैं जब मुसलिम शासकों ने मंदिरों के निर्माण के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान की थी। एकाध शासक को छोड़कर अन्य मुसलिम शासक अत्यन्त उदारतापूर्वक हिंदू-मुसलिम प्रजा के विकास और सहायता के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

ब्रिटिश काल तक आते-आते भारत के सामाजिक जीवन में अनेक विकृतियाँ आ गयी थीं। जाति प्रथा, पर्दा, बाल विवाह, सती प्रथा, अनेक अंधविश्वास और रूढ़ियाँ पनप उठी थीं। अंग्रेज मिशनरी धर्मपरिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हो उठे। जनता कुछ कट्टरपंथी मुसलमान शासकों से त्रस्त होकर पहले से ही अनेक सामाजिक कुरीतियों का शिकार बन चुकी थी। परिणाम यह हुआ कि सामाजिक जीवन विघटन की दिशा में बढ़ने लगा।

समाज-सुधार : उसी समय राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) जैसे समाज-सुधारकों ने समाज-सुधार आंदोलन आरंभ किया। कुछ धार्मिक सुधार, कुछ शैक्षणिक सुधार, कुछ सामाजिक सुधार होने लगे। द्वारकानाथ

---

१. आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री एंड फिलासफी आफ सोशल वर्क, १९६१, पृ० २२

२. एम० एस० गोरे और आई० ई० सोर्स: सोशल वैलफेयर इन इंडिया, १९६०, पृ० २

ठाकुर, देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे सुधारक आगे बढ़े। ब्रह्मसमाज ने मूर्ति पूजा के विरुद्ध, जाति प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी। विधवाओं की स्थिति सुधारने, शिक्षा का प्रसार करने आदि के लिए लोग प्रयत्नशील हुए। बम्बई महाराष्ट्र में 'परमहंस सभा' (१८४९ ई०) नाम से एक समाज जाति-प्रथा को नष्ट करने के लिए बना। 'प्रार्थना समाज' बना। विधवा विवाह के लिए आंदोलन चला। रानाडे (१८४२-१९०१) जैसे शक्तिशाली सुधारक अनेक रूढ़ियों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। स्वामी दयानद सरस्वती (१८२४-१८८३) जैसे सशक्त व्यक्ति ने 'आर्य समाज' खड़ा किया और हिंदू समाज की अनेक रुढ़ियों पर प्रहार किया। उधर रामकृष्ण परम हंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद (१८६२-१९०२) ने 'रामकृष्ण मिशन' स्थापित किया। मद्रास में 'थियासाफिकल सोसाइटी' बनी। अलीगढ़ में सर सैयद अहमद खां के प्रयत्न से 'मुसलिम शिक्षा सम्मेलन' सक्रिय हुआ।

इस समाज-सुधार आंदोलन ने धीरे-धीरे अपने पैर फैलाने आरंभ किये। देश के सभी अंचल इससे प्रभावित होने लगे। समाज-सेवियों में बड़े-बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे, जिनका जनमानस पर अच्छा प्रभाव पड़ने लगा। आगरकर, कर्वे, भंडारकर, कोल्हटकर, चन्द्रावरकर, रामकली चौधरी, शशिपद बनर्जी जैसे सामाजिक नेता देश के विभिन्न अंचलों में अपने-अपने ढंग पर समाज सुधार करने लगे। अनेक समाज सेवी संस्थाएँ भी खुल गईं और वे प्रगति करने लगीं।

अब समाज सुधार के यत्र-तत्र बिखरे कार्य को एक में मिलाने का प्रयत्न आरंभ हुआ। 'भारतीय समाज सुधारक संस्था' मद्रास से बम्बई लायी गयी। उसके अहमदाबाद अधिवेशन में अध्यक्ष पद से चंद्रावरक ने इस बात पर जोर दिया कि समाज सुधारक का कार्य पूरी गति से चलना चाहिए। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की व्यापक और सर्वांगपूर्ण योजना बननी चाहिए।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

यद्यपि सर्वांगपूर्ण योजना के लिए प्रयत्न तो हुआ, फिर भी भारत दलित वर्ग संघ, महिला संघ, सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसाइटी तथा ऐसी ही अनेक समाज सुधारक संस्थाएँ पृथक्-पृथक् कार्य करती रहीं। उधर ह्यूम साहब के प्रयत्न से भारतीय कांग्रेस का जन्म भी हो चुका था जो धीरे-धीरे राजनीतिक सुधारों की मांग भी करने लगी थी। उसकी मांगें पहले तो प्रस्तावों तक ही और सो भी बहुत नम्र प्रस्तावों तक ही सीमित थीं, परंतु

जब मोहन दास करमचंद गांधी ने अफ्रिका से लौटकर उसकी बागडोर सम्हाली तो देश में वस्तुतः राष्ट्रीय निर्माण का सूत्रपात हुआ।

गाँधी जी ने असहयोग, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य, खादी और हरिजन उद्धार आदि सभी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं के निराकरण के लिए सशक्त आंदोलन छेड़ा। स्वराज्य की मांग के साथ सामाजिक क्रांति का बिगुल भी फूक दिया और उसका परिणाम यह हुआ कि 'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे' वाली स्थिति भारत में उत्पन्न हो गयी। समाज सुधार की जो बातें जनता में धीरे-धीरे प्रभाव दिखा रही थीं, गाँधी जी के असहयोग, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह आंदोलनों के साथ तीव्र गति से जनमानस को प्रभावित करने लगीं। अहिंसा और सत्य के पुजारी ने निर्भयता पूर्वक विदेशी शासन सत्ता के साथ लोहा लिया और पर्याप्त उतार-चढ़ावों के उपरांत देश को राजनीतिक स्वतंत्रता दिला ही दी। स्वराज्य के उपरांत उसने भारत में जिस 'रामराज्य' की स्थापना का सपना देखा था, वह अभी तक साकार नहीं हो सका। वह जिस दिन साकार हो जायगा, उस दिन राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य सम्पन्न हो जायगा और उसी के साथ-साथ भारतीय सामाजिक विघटन की समस्याओं का निराकरण हो जायगा।

ब्रिटिश शासन काल में समाज सेवियों के प्रयत्न से समाज के उपेक्षित वर्गों—महिलाओं, हरिजनों, बालकों-बालिकाओं, वन्य जातियों, पिछड़े लोगों, अपंगों, असमर्थों आदि की सहायता और उनकी स्थिति सुधारने के लिए थोड़ा सा कार्य हुआ। कुछ कल्याणकारी सामाजिक अधिनियम भी बने। १९३७ से ३९ तक कांग्रेस मंत्रीमण्डलों ने सत्तारूढ़ होते ही इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया। सामाजिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिए पूरी शक्ति लगा दी। मद्यनिषेध के कार्य को आगे बढ़ाया, अनेक कल्याणकारी योजनाएँ आरंभ कीं, परंतु युद्ध छिड़ते ही कांग्रेस के पद त्याग करने पर उन में से अनेक योजनाएँ जहाँ की तहाँ पड़ी रहीं। समाज कल्याण की अनेक योजनाएँ स्वतंत्र होने के बाद ही बड़े पैमाने पर कार्यान्वित की जा सकीं।

एक युग था जब राजा और महराजा, नवाब और जमींदार ही सब कुछ थे। मुट्ठीभर गिने-चुने लोगों का ही विश्व पर आधिपत्य था। उन्हीं की

लोक कल्याणकारी राज्य

सुख-सुविधा की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता था। जनता को कोई पूछता नहीं था। बहुत हुआ तो गरीबों और भिखारियों के लिए चंद तांबे के टुकड़े फेंक दिये अथवा इंगलैंड की तरह 'पूअर ला'

(गरीबों की सहायता का कानून) बना दिया अथवा अमरीका की तरह निर्धनता-निवारक समिति—'सोसाइटी फॉर दि प्रिवेंशन आफ पॉपरिज्म'—खोल दी, राजकीय दान मंडल —'बोर्ड आफ चेरिटीज' बना दिया, 'आल्मस हाउस (भिक्षा गृह) और 'वर्क हाउस' (कामघर) खोल दिये, कुछ पूंजीपति अथवा शासक अपनी उदारता प्रदर्शित करने के लिए ऐसे थोड़े-बहुत काम कर देते थे। धीरे-धीरे यह भावना बदली और दान और भिक्षा प्रदान की वृत्ति में परिवर्तन हुआ, समाजवादी विचार-धारा पनपी और यह अनुभव किया जाने लगा कि गरीबों की सहायता का विचार समाप्त कर मानवीय जन सहायता का कार्यक्रम आरंभ किया जाय। इंगलैंड में १९०५ के निर्धन-अविनियम आयोग—'पूअर ला कमीशन' ने इस तथ्य पर पूरा जोर दिया। उसकी रिपोर्ट १९०९ में प्रकाशित हुई। उसने यह भी सिफारिश की कि वृद्धों को पेंशन, सरकारी नौकरों को ग्रेच्युटी और समाजिक बीमा, बीमारों को चिकित्सा की सुविधा आदि भी मिलनी चाहिए। इस बीच ऐसे कुछ कानून बने भी। पर सामाजिक सुरक्षा के विचार को १९४४ में बेवरिज रिपोर्ट से बहुत बल मिला। बेवरिज ने अभाव, बीमारी, अज्ञान, गंदी बस्ती और आलस्य के विरुद्ध बड़े पैमाने पर युद्ध की सिफारिश की। अमेरिका में बेकारों को काम दिलाने, ग्रामों का कल्याण करने, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक बीमा, जन सहायता, स्वास्थ्य आदि का कल्याण संबंधी कार्यक्रम १९३३ के बाद जोर पकड़ने लगा। आज बीसवीं शताब्दी में विश्व के सभी प्रमुख राज्य अपने को कल्याण कारी राज्य बताने के लिए प्रयत्नशील हैं। अनाथ, अबला, विधवा, हरिजन, तन-मन से अस्वस्थ, अपंग-लूले, लंगड़े, बहरे, अंधे, कोढ़ी, भिखारी, अपराधी, वेश्या, शराबी, मजदूर आदि समाज के निर्बल वर्गों के कल्याण की ओर आज विशेष ध्यान दिया जाता है और सारी जनता का कल्याण करना राज्य अपना विशेष दायित्व मानता है।

परिभाषा

टी. डब्लू. केण्ट कहता है कि 'नागरिकों के लिए विस्तृत सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करनेवाला राज्य 'लोक कल्याणकारी राज्य' है। मार्क अब्राहम कहता है कि 'लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य की शक्ति का उपभोग देश की सामान्य आर्थिक गति को ऐसी दिशा में मोड़ने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को आय का समान अंश उपलब्ध हो सके तथा उसकी मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।'

भारत में कल्याणकारी राज्य

भारतीय संविधान के चतुर्थ भाग में प्रेरक सिद्धांत बनाते हुए ३८ वें धारा में कहा है —'राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह जनता के कल्याण को अधिकाधिक बढ़ाने का प्रयत्न करे। यह तभी संभव है जब राष्ट्र एक ऐसा सामाजिक विधान बनाये जिसके अनुसार राष्ट्र की प्रत्येक संस्था तथा राष्ट्र के प्रत्येक संगठन में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय अनुप्राणित हो। हमारा राष्ट्र इस प्रकार का लोक कल्याणकारी सामाजिक विधान बनायेगा।'

संविधान की ३९ वीं धारा में कहा गया है कि 'राष्ट्र के शासन की प्रेरक भावना यह रहेगी कि (क) राष्ट्र के स्त्री-पुरुष नागरिकों को आजीविका के साधनों पर समान और पर्याप्त अधिकार रहेगा। (ख) राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति पर स्वामित्व इस प्रकार बंटा रहेगा कि सबका कल्याण हो। (ग) राष्ट्र का आर्थिक ढांचा ऐसा नहीं होना चाहिए कि साधन और सम्पत्ति का केंद्रीयकरण हो और दूसरों को हानि होने लगे। (घ) एक सरीखे काम के लिए स्त्री-पुरुष को समान वेतन मिलना चाहिए। (ङ) स्त्री-पुरुष और कोमल वयस्क बालकों के स्वास्थ्य और शरीर बल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। (च) राष्ट्र की युवाशक्ति की असहाय स्थिति का कोई लाभ नहीं उठा सकेगा उनकी भौतिक और नैतिक आवश्यकता का ध्यान रखना राष्ट्र का कर्त्तव्य होगा।

संविधान की अगली धाराओं में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया है कि वह राष्ट्र से रोजगार की, काम-धंधे की आशा करे (४२)। अपंगता, बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी आदि की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र से सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। बच्चों को निःशुल्क शिक्षण प्राप्त करने का भी अधिकार है (४५)। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि राष्ट्र की ओर से उसे काम के ऐसे साधन मिलें जिनसे वह स्वयं पौष्टिक भोजन पा सके और अपने आश्रित परिवारवालों को भी दे सके (४७)। समाज के निर्बल वर्ग को सुरक्षा का भी अधिकार है (४६)।

कल्याण कार्यक्रम

कल्याणकारी राज्य के कार्य के ४ अंग माने गये हैं—समाज कल्याण, पारस्परिक सहायता, सामाजिक न्याय और समाज सुधार। समाज कल्याण कार्यक्रम में आज निम्नलिखितकार्यक्रम सम्मिलित किये जाते हैं—

१. बाल कल्याण
२. महिला कल्याण
३. शिक्षा
४. आवास
५. स्वास्थ्य
६. संस्कृति और मनोरंजन
७. व्यावसायिक व्यवस्थापन
८. पिछड़े वर्गों का कल्याण
९. विकलांगों का कल्याण
१०. अप्रत्याशित घटनाओं के अवसर पर सहायता आदि।

भारत में समाज कल्याण के निम्न कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

१. बाल कल्याण
२. युवक कल्याण
३. महिला कल्याण
४. परिवार कल्याण
५. नगर सामुदायिक कल्याण
६. ग्रामीण सामुदायिक विकास
७. श्रम कल्याण
८. पिछड़े वर्गों का कल्याण
९. आवास कल्याण

भारत में समाज कल्याण

भारत में समाज कल्याण के लिए जो कार्यक्रम रख गये हैं, उन पर पर्याप्त व्यय किया जा रहा है। उसके संचालन के लिए वैधानिक, स्वैच्छिक और पारस्परिक कल्याण,—ऐसी तीन श्रेणियां भी कर दी गयी हैं। वैधानिक समाज कल्याण को पंचवर्षीय योजनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसपर व्यय की व्यवस्था इस प्रकार है[१]—

प्रथम पंचवार्षिक योजना	१ करोड़ ६० लाख रुपया
द्वितीय ,, ,,	१३ करोड़ ४६ लाख ,,
तृतीय ,,	१९ करोड़ ४० लाख ,,
वार्षिक योजनाएँ (१९६६-१९६९)	१२ करोड़ ८ लाख ,,
चतुर्थ पंचवार्षिक योजना	४१ करोड़ ३८ लाख रुपया

सामाजिक रक्षा का कार्यक्रम

सरकार ने सामाजिक रक्षा कार्यक्रम के अंतर्गत ये कार्यक्रम रखे हैं—

बाल अधिनियमों के अंतर्गत उपेक्षित और अपराधी वृत्तिवाले बालकों का सुधार और सुरक्षा; परिवीक्षा (प्रोवेशन) सेवाएँ; नैतिक तथा सामाजिक

१. भारत १९७१-७२, पृ० १०१।

स्वास्थ्य विज्ञान कार्यक्रम तथा महिलाओं के अनैतिक व्यापार को रोकना और भीख मांगने की रोकथाम। केंद्रीय सुधार सेवा कार्यालय बारह वर्ष से कार्य कर रहा है। यह अपराध की रोकथाम तथा सुधारात्मक उपायों के विषय में आवश्यक सहायता और परामर्श देता है। यह 'सोशल-डिफेंस' नामक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित करता है।

केंद्रीय समाज कल्याण मंडल

अगस्त १९५३ में दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में केंद्रीय समाज कल्याण मंडल की स्थापना हुई। उसका प्रमुख कार्य स्वैच्छिक संगठनों द्वारा चलायी जानेवाली समाज कल्याण की योजनाओं को प्रोत्साहित करना है। उनकी आवश्यकताओं का सर्वेक्षण करना, उनके कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं की जांच करना; केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता का समन्वय करना, स्वयसेवी संगठनों की स्थापना में योग प्रदान करना और सुपात्र संस्थाओं को वित्तीय सहायता देना आदि इस मंडल के कार्य हैं।

इस मंडल में ३० सदस्य रहते हैं जिनमें राज्यीय प्रतिनिधियों के अतिरिक्त लोक सभा के २ और राज्यसभा के भी एक सदस्य रहते हैं। कोई प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्री इसकी अध्यक्ष होती है। १९६८ के मार्च में बेगम अली जहीर इसकी अध्यक्ष बनीं। सारे देश में २६ राज्य समाज कल्याण परामर्श मंडल हैं।

समाज कल्याण कार्य को उपेक्षितों का पुनरुद्धार बताते हुए दुर्गाबाई देशमुख कहती हैं—'भारतीय इतिहास का वर्तमान युग वस्तुतः पीड़ित मानवता की मुक्ति का युग है। राजनीतिक आंदोलनों की ही भाँति सामाजिक विषमताओं और निर्योग्यताओं को मिटाने के लिए चलाये गये आंदोलनों का भी अपना इतिहास है। सामाजिक क्षेत्र में ऐसी क्रांति संपन्न हो रही है जिसका उदाहरण इतिहास में खोजना दुर्लभ है। सदियों पुरानी वर्ग वैषम्य की दुर्भेद्य दीवारें ढह रही हैं और शोषितों तथा पीड़ितों का उद्धार हो रहा है। शताब्दियों से 'स्त्री वर्ग' के नाम से संबोधित इस देश की आधी मानवता शोषण और दमन के चक्र में पिसती रही है। आज इस देश के लोग इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि एक सबल और सम्पुष्ट राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न तबतक पूरा नहीं हो सकता जब तक प्रत्येक राष्ट्र जन को स्वतंत्रता प्राप्त न हो। इस अलक्षित रूप से होनेवाली क्रांति का यह चक्र स्त्रियों और

बच्चों के साम्पत्तिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि समस्त देश में बाधितों, पीड़ितों और सामाजिक विषमताओं के शिकार लोगों के प्रति एक स्वस्थ, बौद्धिक संगति तथा मानवीय भावनाओं से युक्त दृष्टिकोण का आविर्भाव हो रहा है। आज से पहले शारीरिक तथा मानसिक रूप में बाधितों, तिरस्कृत महिलाओं और विधवाओं के कल्याण का कार्य कुछेक पारमार्थिक संस्थाओं द्वारा की जानेवाली सेवाओं के सहारे ही चलता था। भारतीय इतिहास में यह पहला अवसर है कि इन अभागे इंसानों की सेवा करने और उन्हें प्रतिष्ठा पूर्ण सामाजिक जीवन जी सकने योग्य बना देने का दायित्व राष्ट्र के द्वारा अपना पुण्य उत्तरदायित्व स्वीकार किया गया है। देश के कोने-कोने में उपेक्षितों के पुनरुद्धार का यह धर्म चक्र चल रहा है और उसके सुपरिणाम हमारे समक्ष प्रकट हो रहे हैं।'[1]

सरकारी कार्यक्रम : भारत सरकार अपने पांच मंत्रालयों द्वारा विशेष रूप से समाज कल्याण का कार्यक्रम चला रही है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. **शिक्षा मंत्रालय :** केंद्रीय समाज कल्याण मंडल; युवक कल्याण और मनोरंजन सेवाएँ; शिक्षा तथा अंधे, बहरे, अपंग, मानसिक विक्षिप्त आदि विकलांगों का कल्याण; समाज कार्य प्रशिक्षण और शोध; समाज शिक्षा।

२. **स्वास्थ्य मत्रालय :** मातृत्व तथा बालकल्याण; चिकित्सा कार्य; शारीरिक और मानसिक हीनतावालों, कोढ़ियों, क्षयरोगियों का पुनर्वास; स्कूली बालकों की स्वास्थ्य सेवाएँ और परिवार नियोजन।

३. **गृह मंत्रालय :** अनुसूचित जातियों, वन्य जातियों और पिछड़े लोगों का कल्याण; भिक्षावृत्ति, भगेड़ूपन; बाल अपराध और 'प्रोबेशन'; कैदियों का कल्याण; सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य का कार्यक्रम; सुधारात्मक और अन्य संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों का कल्याण; संकटकालीन सहायता आदि।

४. **सामुदायिक विकास और पंचायत राज मंत्रालय :** ग्रामीण क्षेत्रों में महिला एव शिशु कल्याण; समाज शिक्षा; ग्राम नेतृत्व प्रशिक्षण; सहकारिता; पंचायतों के माध्यम से कल्याण कार्य।

---

१. दुर्गाबाई देशमुखः प्राक्कथन, 'समाज कल्याण तथा सुरक्षा' (सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार) १९६०।

५. श्रम एवं रोजगार मंत्रालय : राज्य कर्मचारी बीमा व्यवस्था; श्रम कल्याण; सामाजिक सुरक्षा संबंधी परियोजनाएँ, जैसे, असमर्थों को पेंशन, मातृत्व लाभ श्रमिक क्षतिपूर्ति, शिक्षा, चिकित्सा, पेंशन, वोनस, प्राविडेंट फंड आदि।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में समाज कल्याण के कार्यक्रम को विशिष्ट स्थान दिया जाता रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ४१ करोड़ ३८ लाख रुपये का जो प्रावधान है, उसमें केंद्रीय सरकार २७ करोड़ ४३ लाख, राज्य सरकारें १० करोड़ ५४ लाख और अन्य ३ करोड़ ४१ लाख दे रही हैं। केंद्रीय सरकार के प्रावधान में परिवार और बालकल्याण परियोजनाओं पर ७ करोड़ रुपये का, केंद्रीय समाज कल्याण मंडल द्वारा स्वयंसेवी संगठनों को ६ करोड़ रुपये का अनुदान, वाल वाड़ियों में पोषक आहार के लिए ६ करोड़ रुपये की सहायता अनाथ वच्चों और स्त्रियों के स्वयंसेवी संगठनों के सहायतार्थ ३ करोड़ का, विकलांग कल्याण के लिए २॥ करोड़ रुपये का प्रावधान है। इस विवरण से समाज कल्याण की वहुमुखी दिशाओं का अनुमान किया जा सकता है।

समाज कल्याण के लिए भारत में जो कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं, उनमें असमर्थ व्यक्तियों को सहायता की व्यवस्था तो रखी ही गयी है, साथ ही उनके द्वारा ऐसी समाज व्यवस्था खड़ी करने का भी प्रयास किया जा रहा है जिसमें व्यक्ति के जीवन में असमर्थता की स्थिति ही न आने पाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उक्त कार्यक्रम में कई व्यवस्थाएँ रखी गयी हैं। वैसे, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमा, सामाजिक प्रतिरक्षा आदि।

समाजसेवा के क्षेत्र में 'समाज कल्याण' 'समाज कार्य' और 'समाज सेवा' —इन तीनों शब्दों का प्रयोग अदल-बदल कर किया जाता है। डाक्टर मदन के अनुसार व्यावसायिक समाज-कार्यकर्त्ताओं द्वारा भी इन शब्दों में साधारणतया भेद नहीं किया जाता।[१] इसका मूल कारण यह है कि समाजकार्य की अभी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं बनी है। हेलेन क्लार्क कहती है कि 'वहुत कम लेखकों ने समाज कार्य की परिभाषा दी है।

समाज कल्याण और समाज कार्य

१. जी० आर० मदनः भारत में समाज कार्य और सामाजिक पुनर्निर्माण, १९६४, पृ० १२

अधिकांश लेखक इसके इतिहास, कार्यों, लक्ष्यों और प्रकृति की विवेचना ही करते हैं। कुछ लेखक समाज कार्य और समाज-कल्याण में कोई भेद नहीं करते और इन शब्दों का प्रयोग अदल-बदल कर एक ही अर्थ में करते हैं। समाज कार्य अन्य व्यवसायों में सबसे नया है। इसलिए इसकी विशेषताओं और सीमाओं के विषय में भ्रम होना स्वाभाविक है।'[1] देश-देश में समाज कार्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ हैं। सन् १९५० में संयुक्त राष्ट्र संघ ने ३२ देशों की जो परिभाषाएँ एकत्र की थीं, उनसे यह प्रकट होता हैं कि समाज कार्य अभी विकास की विभिन्न स्थितियों में है। कहीं वह संगठित हुआ है, कहीं संगठित होने की दिशा में है, कहीं संगठित ही नहीं हुआ है। जहाँ संगठित नहीं है, वहाँ पीड़ितों को व्यक्तिगत दान देने के रूप में ही है। जहाँ संगठित होने की दिशा में है, वहाँ वह आर्थिक समस्याओं के निराकरण में लग रहा है। वहाँ अस्थायी सहायता, रक्षा और पुनर्वास संबंधी सहायता और व्यक्ति के निम्नतम स्तर की भी प्राप्ति में बाधक बाधाओं को रोकने के रूप में है। जहाँ वह पूर्णतया संगठित है, वहाँ उसने व्यावसायिक सेवा का रूप धारण कर लिया है और समाज कार्य से समाज के प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेद-भाव के सेवा प्राप्त होती है।[2] विभिन्न देशों की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए राष्ट्र संघ कहता है कि 'समाज कार्य की वर्तमान प्रवृत्तियों से ऐसा लगता है कि समाज कार्य असंगठित रूप से व्यक्तिगत दान द्वारा अकिंचन और सर्वहारा लोगों की सेवाओं से बढ़ते-बढ़ते ऐसी व्यावसायिक सेवा के रूप में विकसित हो रहा है जो समाज के प्रत्येक सदस्य को उपलब्ध हो।'[3]

समाज कार्य की परिभाषा समाज कार्य की अभी कोई सर्वमान्य परिभाषा निश्चित नहीं हुई। भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं।

हेलेन क्लार्क—'ज्ञान और दक्षता से मिली जुली वह व्यावसायिक सेवा 'समाज कार्य' कहलाती है, जिसके कुछ भाग समाज कार्य के लिए विशिष्ट हैं और कुछ भाग विशिष्ट नहीं हैं; वह जहाँ एक ओर व्यक्ति के सामाजिक

---

१. हेलेन क्लार्क : प्रिंसिपल्स एंड प्रैक्टिस आफ सोशल वर्क, १९४७, पृ० ६

२. युनाइटेड नेशन्स, डिपार्टमेंट आफ सोशल अफेयर्स, न्युयार्क: ट्रेनिंग फार सोशल वर्क एन इंटरनेशनल सर्वे, १९५०, पृ० ८-११

३. वही, पृ० १३

वातावरण की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है, वहाँ दूसरी ओर वह यथासम्भव व्यवधानों को दूर करने का प्रयत्न करती है जिससे लोग अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकें।'[1]

हेलेन एल० विटमेर—'समाज-कार्य' वह कार्य है जिसका उद्देश्य व्यक्तियों को समाज का सदस्य होने के नाते अथवा मानवता के नाते उनकी कठिनाइयों में सुविधा या सहायता पहुँचाना है।[2]

फ्रीडलेंडर—समाज कार्य वह कला है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह और समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन वैज्ञानिक पद्धति से इस प्रकार जुटाये जाते हैं कि व्यक्ति स्वयं अपनी सहायता करने में समर्थ हो सके।[3]

ऐंडरसन—समाज कार्य वह व्यावसायिक सेवा है जो समुदाय की भावना के अनुकूल, व्यक्तियों को व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से संतुष्टि दायक संबंधों और जीवनस्तर की प्राप्ति में सहायता देती है।[4]

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समाज कार्य की कोई सर्वसम्मत स्वीकृत परिभाषा नहीं बनती। जहाँ संगठित समाज कार्य है, वहाँ ये तीन तत्व अवश्य प्राप्त होते हैं।[5]

१. समाज कार्य एक सहायता देनेवाली क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों, परिवारों और समुदायों को उनकी समस्याओं के निराकरण में सहायता प्राप्त होती है।

२. समाज कार्य एक सामाजिक क्रिया है, जिसका उद्देश्य समुदाय के सदस्यों को लाभ पहुँचाना है। यह सहायता सरकारी और गैर-सरकारी, दोनों सूत्रों द्वारा पहुंचायी जाती है और इसमें कार्यकर्ता अपने व्यक्तिगत लाभ की ओर दृष्टि नहीं रखते।

३. समाज कार्य एक सम्पर्कस्थापक क्रिया है, जिसके द्वारा लोग समुदाय के साधनों द्वारा अपनी असंतुष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होते हैं।

---

१. हेलन क्लार्क: प्रिंसिपल्स एण्ड प्रैक्टिस आफ सोशल वर्क, पृ० १६

२. हेलेन विटमेर: सोशल वर्क, एन एनेलिसिस आफ ए सोशल इंस्टीट्यूशन, १९५२, पृ० ३ १०

३. एच० एच० स्टूप: सोशल वर्क एन इंट्रोडक्शन टु दि फील्ड, १९५३, पृ० १

४. ऐंडरसन: सोशल वर्क ईयर बुक, १९५४, पृ० ५०६

५. ट्रेनिंग फार सोशल वर्क-एन इंटरनेशनल सर्वे, पृ० १३

अमरीका में समाज कार्य का पिछले वर्षों में अधिक विकास हुआ है। उसका स्वरूप व्यावसायिक बनता चला जा रहा है। व्यवसाय को जो प्रतिष्ठा है, वही प्रतिष्ठा समाज कार्य के साथ जुड़ जाने पर अनेक व्यक्ति उसे स्वीकार करने में गौरव का बोध करते हैं। ई० एल० ब्राउन ने इस विषय का उत्तम विवेचन किया है। वे कहते हैं कि लोग अपने पेशे को व्यवसाय इसलिए कहना चाहते हैं कि इसके साथ कुछ आदर जुड़ा हुआ है। समाज कार्य में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सर्वसाधारण के साथ संबंध रहता है।[1]

समाज कार्य का व्यावसायिक रूप

भारत में समाज सेवा का कार्य अत्यन्त उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर चलता आया है। समाज कार्य का व्यावसायिक रूप लोगों को जँचता नहीं। निःस्वार्थ सेवा, मूक सेवा और त्यागपूर्ण सेवा ही यहाँ पर वरेण्य रही है। विनोबा ने इसका अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है—

'मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार होते हैं—भिक्षा, पेशा और चोरी। (१) भिक्षा अर्थात् समाज की अधिक से अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीर-धारण भर को कम से कम लेना; और वह भी हारे दर्जे और उपकृत भावना से, (२) पेशा अर्थात् समाज की विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माँग लेना। ३. चोरी अर्थात् समाज की कम से कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाज से ज्यादा से ज्यादा भोग लेना। प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे खूनी और उन्हीं के जैसे वे 'इन्तजाम' करनेवाले पुलिस, सोल्जर, हाकिम वगैरह; सरकारी नौकर; इन्तजाम के बाहर के वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरह। उच्च उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापारी—ये सब तीसरे वर्ग में आते हैं।'[2]

विनोबा का मानना है और ठीक मानना है कि 'पहले वर्ग में दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगन के साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं, और उन्हीं के बल पर दुनिया टिकी है।'

सेवा करने के लिए सेवकों की आवश्यकता तो है ही। सेवक में नम्रता निःस्वार्थता, कष्ट सहिष्णुता आदि गुण तो चाहिए; इसके अतिरिक्त सेवा

---

१. ई० एल० ब्राउन : सोशल वर्क एज ए प्रोफेशन, १९४२, पृ० २४

२. वियोगी हरि : विनोबा और उनके विचार, पृ० १५-१६

सेवक प्रशिक्षण

कार्य के लिए उसका हृदय प्रेम से ओत-प्रोत होना चाहिए ही, इसके अतिरिक्त सेवा कार्य का कुछ प्रशिक्षण भी आवश्यक है। इस प्रशिक्षण के लिए अमरीका, इंगलैंड आदि में बीसवीं शताब्दी के आरंभ से कुछ सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं।

समाज कल्याण का कार्य करनेवाली सरकारों को अपने अनेक विभागों में प्रशिक्षित सेवकों की आवश्यकता होती है। फिर वे फैक्टरी इंसपेक्टर हों या परसनल आफीसर, हैल्थमिनिस्टर हों या प्रोवेशन आफिसर। जनता से संपर्क रखनेवाले, श्रमिकों से संबंध रखनेवाले विभागों में पद-पद पर ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए भी प्रशिक्षित सेवक चाहिए। सरकार का इस ओर ध्यान है और उसने स्थान-स्थान पर सेवकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था कर रखी है। ताता इंस्टीच्यूट आफ सोशल साइंसेज, काशी विद्यापीठ का समाजसेवा विद्यालय, गाँधी विद्या संस्थान, गांधी स्मारक निधि आदि संस्थाएँ सेवक-सेविकाओं के प्रशिक्षण में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। यहाँ सेवाशास्त्र का व्यापक शास्त्रीय अध्ययन भी कराया जाता है और व्यावहारिक क्षेत्र कार्य भी।

सामाजिक पुनर्निर्माण

समाज जब विघटन की दिशा में अग्रसर होता है तो अनेक सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। भारत में आज वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन और सामुदायिक विघटन की अनेक समस्याएँ उग्र रूप धारण करने लगी हैं। उनके चक्रव्यूह में फंसा भारत त्राहि-त्राहि कर रहा है।

इस चक्रव्यूह से मुक्ति पाने का उपाय है—सामाजिक पुनर्निर्माण। उसके लिए दो बातें मुख्य हैं—

(१) सामाजिक परिवर्तन और

(२) सामाजिक न्याय।

सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए तीन बातें आवश्यक मानी गयी हैं—सामाजिक नीति, सामाजिक सुधार और सामाजिक कानून। सरकार और समाजसेवक सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

सामाजिक न्याय जबतक नहीं आता तबतक समाज में असमानता और

सामाजिक न्याय

वैषम्य मिटनेवाला नहीं। जब हर व्यक्ति समान रीति से अपना सर्वांगीण विकास करने में समर्थ हो सकेगा तभी देश, समाज, समुदाय, परिवार और व्यक्ति सुखी और प्रसन्न हो सकेगा।

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र भारत पचीस वर्षो से प्रयत्नशील है। सरकार, विभिन्न राजनीतिक दल, स्वयंसेवी संस्थाएँ और समाज सेवक अपनी-अपनी पद्धति से इसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

देश के सर्वांगीण विकास के लिए सरकार ने पंचवर्षीय योजनाएँ चला रखी हैं। उन पर लाखों-करोड़ों ही नहीं, अरबों रुपये व्यय हो चुके हैं। परंतु

पंचवर्षीय योजनाएँ

अभी तक सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय का कोई दर्शनीय चित्र उभर नहीं पाया है। नगरों में तो केवल २० प्रतिशत जनता निवास करती है, ८० प्रतिशत जनता देहातों में रहती है। उसके विकास के लिए सरकार ने सामुदायिक विकास आंदोलन छेड़ा और उसमें पूरी शक्ति लगायी उसकी प्रगति और सफलताओं-असफलताओं पर हम आगे विचार करेंगे।

सर्वोदय सेवकों ने देश में सामाजिक क्रांति लाने और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए भूदान, ग्रामदान आंदोलन छेड़ रखा है। उसकी प्रगति पर भी हम आगे विचार करेंगे और देखेंगे कि भारत के सामाजिक विघटन को रोक कर सामाजिक पुनर्निर्माण की उसमें कैसी क्या शक्यताएँ हैं।

सामाजिक पुर्ननिर्माण द्वारा ही भारत की सामाजिक विघटन की समस्याओं का निराकरण हो सकेगा।

अध्याय : २९

सामुदायिक विकास आंदोलन

भारत ग्राम प्रधान देश है। सन् १९२१ में देश की ८८·६ प्रतिशत आबादी ग्रामों में निवास करती थी। १९३१ में ८७·९ प्रतिशत और १९४१ में ८६.? प्रतिशत निवासी ग्रामों में रहते थे। १९५१ में ३५ करोड़ ७० लाख की जनसंख्या में २९½ करोड़ अर्थात् ८२.७ प्रतिशत लोग ५,५८,०८९ ग्रामों में निवास करते थे और ६ करोड़ २० लाख अर्थात् १७.३ प्रतिशत लोग ३०१८ नगरों और कस्बों में। १९६१ में ग्रामों की संख्या ५,६६,८७८ और नगरों की २६९९ थी। १९७१ में ५४ करोड़ ७४ लाख की जनसंख्या में ४३ करोड़ ८६ लाख लोग ग्रामों में निवास करते थे। २० प्रतिशत लोग नगरों में रहते थे। औद्योगीकरण और नगरीकरण के कारण देहातों की जनसंख्या नगरों की ओर दौड़ती चली आ रही है, फिर भी ८० प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में अब भी निवास करती ही है।

भारत के ग्राम

ग्रामों की इस बढ़ती जनसंख्या का अपना महत्त्व है। इंगलैंड में ५ में से ४ भाग नगरवासी है जबकि भारत में इसके सर्वथा विपरीत ५ में ४ भाग ग्रामवासी है। देश का पुनर्निर्माण करने के लिए यह परम आवश्यक है कि ग्रामों का सर्वाधिक विकास किया जाय। ग्राम समुदाय का भली-भाँति विकास किये बिना भारत का विकास और पुनर्निर्माण संभव ही नहीं है।

ग्राम समुदाय

भारत के ग्रामों में ८० प्रतिशत या उससे अधिक जनता निवास करती है, उसकी जनसंख्या का तो अपना महत्त्व है ही, उसके अतिरिक्त भारत के ग्राम समुदाय में अपनी कुछ विशिष्टताएँ भी हैं जिनका महत्त्व कम नहीं माना जा सकता।

जिसबर्ग ने निश्चित भूभाग में रहनेवाली अथवा साथ-साथ भ्रमण करने वाली उस जनसंख्या को समुदाय माना है जो उसके जीवन को नियंत्रित करनेवाले नियमों से बंधी रहती है।

एंडरसन कहता है कि ग्राम समुदाय वह समुदाय है जिसमें सामान्य हितों और उद्देश्यों के प्रति भक्ति रहती है और जीवन के मुख्य कार्यों को एक साथ मिलकर करने की क्षमता होती है। उसके मत से ग्राम समुदाय एक पूर्ण समुदाय होता है। कारण, वहाँ का जीवन समान आधारों पर, आत्मनिर्भर रहते हुए एक निश्चित भूभाग में व्यतीत होता है। ग्राम समुदाय में सामुदायिक व्यवहार के सभी तथ्य आ जाते हैं। ग्राम समुदाय की जनता अपने सभी कार्य सामूहिक रूप में. सामान्य रुचि के साथ संपन्न करती है।

किसान का चित्र

ग्रामों की एक निराली शोभा होती है। प्रकृति की गोद में स्वच्छ सरल श्रमनिष्ठ जीवन। छोटे-छोटे घर—'लिपे-पुते हैं, स्वच्छ सुघर हैं'। गृहवाटिकाएँ अद्भुत छटा दे रही हैं। कहीं-कहीं लौकियां लटक रही हैं, कहीं कद्दू की बेले हैं। खुला आकाश, खुले खेत, खुले मैदान। सारा जीवन खुला-ही-खुला। न कहीं कृत्रिमता, न कहीं बनावट। सरदार पूर्ण सिंह ने किसान का कितना यथार्थ वर्णन किया है—

हल चलाने और भेड चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत इनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाख-लाख दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुत हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन, पत्ते में, फूल-फूल में फल बिखेर रहा है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज, और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप-तप यह नहीं करता, ज्ञान-ध्यान का इसे कुछ पता नहीं, केवल सागपात खाकर ही यह अपनी भूख का निवारण कर लेता है। ठंढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेल कर बड़े हो जाते हैं। इसको और

इसके परिवार को बैल और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे तो इसका उसे ज्ञान नहीं होता। इसकी खेती हरी-भरी है। गाय इसको दूध देती है। स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है। मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, खिलाना-पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उसके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने को नहीं। इनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छन कर इनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पांव, एक टोपी सिर पर, एक लंगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिये गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने वाला और सिंहासन पर बैठानेवाला, भूखों और नंगों को पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।'

ग्रामसमुदाय की विशेषताएँ

इन किसानों से गठित ग्राम समुदाय अपनी अनेक विशिष्टताओं से संपन्न रहा है। भारत के ग्राम समुदाय में मुख्यतः ये विशेषताएँ रही हैं—

१. सरल प्राकृतिक जीवन, अकृत्रिम व्यवहार

२. छोटी इकाई

३. वैयक्तिक संबंध

४. सामुदायिक भावना, सद्भाव, मैत्री

५. मूल व्यवसाय-कृषि और कुटीर उद्योग

६. परिवार का प्राधान्य

७. संयुक्त परिवार

८. ग्रामीण संस्कृति

९. पंचायत व्यवस्था

१०. जाति प्रथा और प्राचीन रूढ़ियाँ

११. भाग्यवादिता

सरल जीवन

ग्राम समुदाय का जीवन अत्यंत सरल और अकृत्रिम रहता है। प्रकृति की गोद में ही सभी लोग रहते और बढ़ते-पनपते हैं। खेत-खलिहानों, जंगलों-मैदानों में ही जाड़ा, गर्मी, बरसात बिताते हुए ग्रामीण लोग अपना सारा जीवन काटते हैं।

छोटी इकाई

ग्रामों की छोटी-छोटी इकाइयाँ होती हैं। थोड़ी जमीन, थोड़ी ही जन संख्या रहती है। सन् १९६१ में देश में कुल गावों की संख्या ५,६६,८७८ थी जिनमें से ३,५१,६५० गांवों की जनसंख्या ५०० से भी कम थी। अधिकांश ग्रामों में १००-१५० एकड़ ही भूमि रहती है। बड़े ग्रामों में अवश्य ही १०००-१५०० एकड़ तक भूमि रहती है। अधिकांश गाँव छोटे ही रहते हैं।

वैयक्तिक संबंध

ग्राम समुदाय प्राथमिक समुदाय होता है। सब एक दूसरे के निकट रहते हैं। पास-पड़ोस में रहते हैं। एक दूसरे से भली-भांति परिचित रहते हैं, परस्पर घुले-मिले रहते हैं। सभी निवासी प्रेम की रज्जु में बंधे रहते हैं। घर परिवार की भाँति गाँव के सभी निवासी चाचा, ताऊ, भाई-भतीजे आदि के रूप में रहते हैं। गाँव की बेटी सबकी बेटी और गाँव की बहू सबकी बहू मानी जाती है और उसी प्रकार का पारस्परिक व्यवहार होता है।

सामुदायिक भावना

ग्राम समुदाय में सामुदायिक भावना, परस्पर पड़ोसी होने की और सब मिलकर एक हैं, ऐसी भावना कूट-कूट कर भरी रहती है। यह 'हम' की भावना ही सामुदायिक जीवन का प्राण है। सद्भाव और मैत्री इसकी आधारशिला होती है।

कृषि और कुटीर उद्योग

ग्राम समुदाय में मूल व्यवसाय कृषि ही होता है। अधिकांश व्यक्ति कृषि पर आश्रित रहते हैं। लुहार, बढ़ई आदि भी कृषि कार्य में सहायता करते हैं और किसानों से प्राप्त खाद्यान्न से ही उनकी जीविका चलती है। कृषि के साथ-साथ कुटीर उद्योग भी चलते हैं।

परिवार का प्राधान्य

ग्राम जीवन में परिवार ही सबका केंद्र रहता है। सब लोग एक साथ रहते हैं। साथ-साथ खेतों में काम करते हैं। खलिहानों में काम करते हैं। खाना-पीना, सोना, रहना —सब परिवार के भीतर ही होता है। परिवार में सब बंधे रहते हैं। परिवार ही उनका नियंत्रक होता है। वहाँ व्यक्ति की प्रतिष्ठा परिवार की प्रतिष्ठा का अंग होती है।

संयुक्त परिवार

ग्राम समुदाय में परिवार का प्राधान्य रहने से संयुक्त परिवार प्रथा खूब फली-फूली है। सभी लोग मिलकर कमाते हैं। मिल बाँटकर खाते हैं। बच्चे और बूढ़े, अशक्त और अपाहिज, विधवाएँ और निराश्रित सभी लोग परिवार की छत्रछाया में बढ़ते और पनपते हैं। परिवार में सबका आदर-सम्मान रहता है। परिवार के सभी कार्य, विवाह-शादी, जन्म, उपनयन आदि सभी उत्सव परिवार की संयुक्त संपत्ति से होते हैं। उसमें व्यक्तिवाद और स्वार्थ की भावना नहीं रहती।

ग्रामीण संस्कृति

ग्राम समुदाय में ग्रामीण संस्कृति भली-भाँति परिपुष्ट हुई। रहन-सहन, वेशभूषा, नृत्य-संगीत, कथा-कहानी आदि में वह पगपग पर मुखरित होती है। अतिथि सत्कार हो या दीन-दुःखियों की सेवा हो, सरल श्रद्धालु ग्रामीण बड़े आदर से उसमें योगदान करते हैं। पारस्परिक व्यवहार हो, सामुदायिक कार्य हो– सबमें प्रेम और सद्भाव की झांकी देखने को मिलती है।

पंचायत व्यवस्था

'पंच बोले परमेश्वर'—यह भारतीय लोकोक्ति शताब्दियों से चलती आ रही है। भारत की पंचायत व्यवस्था का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन, मध्यकालीन युग तक उसका प्राधान्य रहा है। वर्तमान युग में अंग्रेजी शासन काल में भारत की पंचायत व्यवस्था पर प्रहार हुआ। भारत के पुनर्निर्माण में पंचायत व्यवस्था को पुनः जीवित करने का प्रयत्न हो रहा है।

जाति प्रथा और रूढ़ियाँ

ग्राम समुदाय में जाति प्रथा का प्रभाव अभी तक अक्षुण्ण रूप से चलता आया है। जाति प्रथा के दोष भी उसके साथ पनपते रहे हैं। अन्य सामाजिक रूढ़ियाँ भी उसके साथ बढ़ती-पनपती आयी हैं।

भाग्यवादिता

दीर्घकाल तक निर्धनता, बेकारी और शोषण में पिसते रहने से, अज्ञान और अशिक्षा के फेर में पड़े रहने से ग्राम समुदाय में भाग्यवादिता का विकास हो गया। 'हुइहै सोइ जो राम रचि राखा' यह भावना ग्राम समुदाय के मानस में बुरी तरह जड़ जमा बैठी है।

भारत का ग्राम समुदाय उपरिलिखित विशेषताओं से सम्पन्न रहता आया है। उसके चलते उसका जीवन सुख, संतोष और शांति से संपन्न था। आर्थिक समृद्धि भी थी, मानसिक संतोष भी। प्राचीन युग में ऐसी ही स्थिति थी। मध्यकालीन युग में स्थिति कुछ बिगड़ी। परन्तु वर्तमान युग में

सम्पन्नता से विपन्नता

आते ही ब्रिटिश शासन सत्ता के भारत में पैर फैलाते ही ग्राम समुदाय की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। जिस देश को लोग 'सोने की चिड़िया' कहते थे, उसी के निवासी विश्व के दरिद्रतम लोगों में गिने जाने लगे। अंग्रेजों के शोषण, दोहन और अत्याचारों के फलस्वरूप भारत का ग्राम समुदाय विपन्नता की चरम सीमा पर पहुँच गया। उसकी कृषि नष्ट हो गयी, उसके कुटीर उद्योग नष्ट हो गये, उसकी शिक्षा, उसका स्वास्थ्य, उसका सामाजिक और आर्थिक जीवन पूर्णतः चौपट हो गया।

भारत के ग्राम समुदाय का चतुर्मुखी विघटन आरम्भ हो गया। लोगों का वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन और सामुदायिक जीवन बुरी भाँति विघटित होने लगा। नयी अर्थ व्यवस्था, नयी न्याय व्यवस्था, स्वार्थवाद,

चतुर्मुखी विघटन

औद्योगीकरण, नागरीकरण, पूंजीवाद, जमींदारी प्रथा, पाश्चात्य प्रभाव आदि सबने मिलकर ग्राम समुदाय को निकृष्टतम स्थिति में पहुँचा दिया। व्यसन और अपराध, जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, बेकारी, निर्धनता, भ्रष्टाचार, राजनीतिक दलबंदी आदि समस्याएँ ग्राम समुदाय में प्रविष्ट होकर उसकी स्थिति को दिन-दिन विषम और भयंकर बनाने लगीं। व्यक्ति पर, परिवार पर, कृषि पर, उद्योग पर, रहन-सहन पर, मनोरंजन पर, सामाजिक संगठन पर, जीवन के सभी क्षेत्रों पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा। कृत्रिमता और बनावट बढ़ने लगी। प्राचीन नैतिक मूल्य समाप्त होने लगे और असंख्य समस्याएँ उत्पन्न होकर ग्राम समुदाय को नष्ट करने लगीं।

कहते हैं कि 'प्रत्येक अंधकार में रूपहली रेखा बीच-बीच में चमक उठती है।' ग्राम समुदाय की इस दयनीय स्थिति को देखकर समाजसेवकों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार ग्राम समुदाय के पुनर्निर्माण का प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

पुनर्निर्माण का प्रयत्न समाज सेवकों के इन प्रयत्नों को देखकर सरकार का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। स्वतंत्रता के पूर्व सरकारी प्रयत्न का विशेष परिणाम देखने में नहीं आया। स्वतंत्र होने के उपरांत सरकार ने इस दिशा में विशेष बल लगाया। सामुदायिक विकास का उसने आंदोलन ही छेड़ दिया। पंचायत राज और सहकारिता को भी अधिकतम व्यापक बनाने के लिए उसने प्रयत्न आरंभ कर दिया।

समाज सेवकों के प्रयत्न ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए जिन समाज सेवकों ने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ठोस प्रयत्न किया उनमें मोहन दास करमचन्द गाँधी का नाम सर्वोपरि आता है।

महात्मा गाँधी के प्रयत्न : सन् १९१५ ई० के आरंभ में गाँधी जी अफ्रीका से भारत लौटे। फिर उन्होंने सारे देश का दौरा करके निर्धनता और बेकारी का प्रत्यक्ष दर्शन किया। देश की राजनीतिक स्थिति तो उन्हें व्यग्र कर ही रही थी, आर्थिक और सामाजिक स्थिति भी उन्हें पीड़ित करने लगी। ग्राम समुदाय की बेकारी और गरीबी के समाधान के लिए वे कोई उपयुक्त साधन खोजने लगे। यों वे १९०८ से ही हाथ करघे के कपड़े के समर्थक थे पर तबतक चरखा उनके हाथ नहीं लगा था। अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं—'१९१५ में आश्रम स्थापना के बाद हाथ कते सूत का विचार होने लगा। क्योंकि मैंने देखा कि मिल के कते हुए सूत के कपड़े का उपयोग हमें सूत कातने वाली मिल का विना वेतन का एजेंट बना रहा है। इस बंधन से मुक्ति तभी मिल सकती है जब हम अपने पुराने चरखे का पुनरुद्धार कर सकें। मैं इस पुनरुद्धार के काम में लग गया। गंगा बहन मजूमदार ने चरखे की खोज में घूमने की प्रतिज्ञा की। दमयंती जिस तरह नल की खोज में घूमी थी उसी तरह घूमने पर उसे गायकवाड के बीजापुर गाँव में चरखा मिल गया। फिर उसने धुनिया ढूँढ़ निकाला। मैंने रूई की भीख मांगी। अब आश्रम में भी चरखे दाखिल करने में देर न लगी। मगनलाल गाँधी ने अपनी अन्वेषणशक्ति से चरखे में सुधार किए और चरखे तथा तकुए आश्रम में तैयार हुए। मोटे

कच्चे सूत की खादी बनी। अब मैं एकदम खादीमय होने के लिए अधीर हो उठा। गंगा बहन ने एक महीने के भीतर ही मुझे ५० इंच अर्ज धोती का जोड़ा ला दिया।'[1]

यह चरखा गांधीजी के हृदय का हार बन बैठा। उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि चरखा देश में आर्थिक क्रांति का वाहक बन सकता है। वे उसके प्रचार में तनमन से जुट गए। कहने लगे—'चरखा तो लंगड़े की लाठी है। भूखे को दाना देने का साधन है। निर्धन स्त्रियों के सतीत्व का रक्षक है। 'चरखा ही वह साधन है जो भारत के लाखों आदमियों को पेट भरने का साधन मुहैया कर सकता है।'

इसी समय कांग्रेस का नेतृत्व गाँधीजी के हाथ में आ गया। इस सशक्त माध्यम से देश में चरखे का तीव्र गति से प्रचार होने लगा। बेजवाड़ा कांग्रेस में २० लाख चरखे देश में चलाने की मांग की गयी थी। जुलाई १९२१ ई० के अंत में बम्बई कांग्रेस महासमिति की बैठक होने तक देश में २० लाख चरखे चलने लगे थे। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार आरंभ हुआ। स्थान-स्थान पर उसकी होली जलायी जाने लगी। खादी का कार्य विद्युत् गति से सारे देश में फैलने लगा। 'अखिल भारत चरखा संघ' की स्थापना हुई। धीरे-धीरे सारे देश में चरखा, खादी और अन्य ग्रामोद्योगों का कार्य व्यापक पैमाने पर फैलने लगा। गांधी जी कहते थे—'भारत को कोई दलील चरखे की ओर खींच रही है तो वह है—भूख। चरखे की पुकार दूसरी सब प्रकारों से मधुर है, क्योंकि यह प्रेम की पुकार है और प्रेम ही स्वराज्य है।'[2]

सन् १९२१ से कांग्रेस ने अपने कार्यक्रम में चरखे को स्थान दिया। सन् १९२३ में अखिल भारत चरखा संघ इसी उद्देश्य से स्थापित किया गया कि वह अपने उत्पादन केंद्रों और बिक्री भंडारों द्वारा देश में खादी का उत्पादन और प्रसार करें जिससे ग्राम समुदाय के लोग वस्त्र के मामले में स्वावलंबी बन सकें।[3] गाँधीजी कहते थे कि 'चरखा मुझे जनसाधारण की आशाओं का प्रतीक मालूम होता है। चरखा खोकर हमने अपनी आजादी खो दी। चरखा देहात की खेती की पूर्ति करता था। वह विधवाओं का मित्र और सहारा

---

१. मोहन दास करमचंद गाँधी : संक्षिप्त आत्मकथा, १९६९, पृष्ठ १९४–१९५

२. हरिभाऊ उपाध्याय : बापू कथा (१९२०-१९४८), १९६९, पृष्ठ ३५

३. एम० वी० नानावती और जे० जे० अंजरिया : इंडियन रूरल प्राब्लम्स, १९४७, पृष्ठ २४९

था। वह देहातियों को आलस्य से बचाता था, क्योंकि चरखे में पहले और पीछे लोढ़ाई, पिंजाई, ताना करना, मांड लगाना, रंगाई और बुनाई आदि उद्योग भी आ जाते थे। इनसे गाँव के बढ़ई और लुहार काम में लगे रहते थे। चरखे से सात लाख गाँव आत्म निर्भर थे। चरखे के चले जाने पर घानी आदि दूसरे उद्योगों का भी सफाया हो गया।''[१]

'गाँव चलो'—एक ओर गाँधीजी ने चरखा और खादी की रट लगायी, दूसरी ओर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सेवाभावी युवक गाँवों में जा कर बैठें और ग्रामसेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लें। ऐसा करने पर ही ग्रामों का पुनर्निर्माण हो सकेगा। युवकों का इस कार्य के लिए आह्वान करते हुए वे कहते थे—''गाँवों में जाकर काम करने से हम चौंकते हैं। हम शहरी लोगों को देहाती जीवन अपनाना बहुत कठिन मालूम होता है। बहुत लोगों के शरीर ही गाँव की कठिन चर्चा को सहन करने से इनकार कर देते हैं। परंतु यदि हम स्वराज्य की स्थापना जनता की भलाई के लिए करना चाहते हैं तो इस कठिनाई का मुकाबला हमें साहस के साथ ही नहीं, वीरता के साथ, अपने प्राणों की बाजी लगाकर करना होगा। उनके जीवन का पोषण करने के लिए हमें मरना होगा। हमारा बलिदान हमें और हमारे साथ समूचे राष्ट्र को ऊपर उठाएगा।[२]

गाँधीजी की इस पुकार का अच्छा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों युवक सब कुछ त्यागकर ग्राम सेवा के क्षेत्र में कूद पड़े। निष्ठा और लगनवाले कार्यकर्ताओं की सेवा का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका एक उदाहरण देते हुए कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं—'मध्य प्रांत के सागर जिले में अनन्तपुर गाँव है। कुल घरों की संख्या १७७, आबादी ८८५। तार घर तो क्या, डाकघर भी नहीं है। ३४ मील तक कोई रेलवे स्टेशन नहीं। गाँव वाले साल में ८ महीने बेकार रहते हैं। खेती का काम सिर्फ ४ महीने को होता है। सन् १९२९ में जेठालाल गोविंद जी नाम के एक उत्साही लोक सेवी ने इस गाँव को अपना सेवा केंद्र बनाया। ये सज्जन अंग्रेजी नहीं जानते, गुजराती के भी विद्वान नहीं हैं। फिर भी अपने इसायियों को लेकर वे घर-घर चरखे का प्रचार करने में जुट गए। वे गाँव के हर झोपड़े में जाते और लोगों से ओटना, कातना, धुनना, बुनना और रंगना सीखने के लिए कहते। लोगों के चरखे

१. मो० क० गांधी, हरिजन (अं० साप्ता०), १३ अप्रैल, १९४०

२. मो० क० गांधी; यंग इंडिया (अं० साप्ता०) १७ अप्रैल, १९२४

का सुधार गाँव के ही सामान से सुधार देते। तीन वर्ष में उन्होंने अनन्तपुर के चारों ओर ५ मील के घेरे में १७ गाँवों की सेवा के लिए कार्यकर्ता पैदा कर लिए। एक पैसे के सूत से खद्दर का धंधा शुरू किया। उसी से घरभर के कपड़े तैयार कर लेते हैं। ४००० से ऊपर लोगों ने धुनना सीख लिया, सौ से अधिक ने बुनना।''[१]

अखिल भारत चरखा संघ, अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ, गो सेवा संघ, तालीमी संघ आदि अनेक संस्थाएँ महात्मा गाँधी की प्रेरणा से स्थापित और परिपुष्ट हुईं। गाँधी सेवा संघ जैसे अर्पित सेवकों के संघ ने और विभिन्न रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने देश के कोने-कोने से ग्रामों के पुनर्निर्माण का कार्य आरंभ कर दिया। अपनी निष्ठा, लगन, त्याग और सेवा की वृत्ति से इन कार्यकर्ताओं ने ग्रामों की अतुलनीय सेवा की।

हरिजनों की सेवा के लिए अखिल भारत हरिजन सेवक संघ सन् १९३२ ई० में स्थापित हुआ। हरिजनों की सेवा के लिए तो गाँधीजी ने समय-समय पर प्राणों की बाजी तक लगा दी थी। कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में रखे गये ये कार्यक्रम स्पष्ट बताते हैं कि गांधीजी ग्राम समुदाय और नगर समुदाय सभी के पुनर्निर्माण के लिए पूर्ण सचेष्ट थे—

१. सांप्रदायिक एकता, २. अस्पृश्यता निवारण, ३. मद्य निषेध, ४. खादी, ५. अन्य ग्रामोद्योग, ६. ग्राम सफाई, ७. बुनियादी तालीम, ८. प्रौढ़ शिक्षा, ९. स्त्रियों का उत्थान, १०. स्वास्थ्य, ११. राष्ट्रभाषा और अन्य प्रांतीय भाषाओं का विकास, १२. आर्थिक समानता, १३ किसानों, मजदूरों, आदिवासियों का विकास, १४ कुष्ठ सेवा आदि।

समाज के निम्न माने जाने वाले, दुर्बल और उपेक्षित वर्गों के विकास की ओर गाँधीजी का पहला ध्यान था। उनकी सर्वोदय की विचारधारा का श्रीगणेश अन्त्योदय से ही होता है। सारे समाज को सत्य, प्रेम और अहिंसा के मार्ग से ऊपर उठाना ही गांधीजी का लक्ष्य था। विभिन्न संगठनों और रचनात्मक संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने सारे देश में रचनात्यक कार्य का जाल बिछा दिया।

गुरुदेव के प्रयत्न : गुरुदेव विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर गाँधीजी के समकालीन महापुरुष थे। भारत के ये दोनों महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र में

---

१. श्री कृष्णदत्त पालीवाल : सेवाधर्म और सेवामार्ग, १९४१, पृष्ठ ९६-९७

अद्वितीय थे। दोनों में परम आत्मीयता थी। गाँधीजी को रवीन्द्र नाथ ने 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया और गाँधी जी ने 'गुरुदेव' की उपाधि से रवीन्द्र को अलंकृत किया। एक त्याग और तपस्या का भव्य प्रतीक, दूसरा ज्ञान और कला का मूर्तिमान स्वरूप। लुई फिशर लिखता है—'गाँधीजी गेहूँ के खेत थे तो रवीन्द्र गुलाव का फूल। गाँधी जी श्रमपूत हाथ थे तो रवीन्द्र संगीतमय स्वर। गाँधी जी सेनापति थे तो रवीन्द्र अग्रगामी दूत। गाँधीजी मुण्डित मस्तक कृश तपस्वी थे तो रवीन्द्र लंवे श्वेत बाल और भव्य दाढ़ीवाले विशालकाय पितृतुल्य दैदीप्यमान चेहरे वाले मनस्वी रईस। गाँधीजी शुद्ध त्याग के उदाहरण थे तो रवीन्द्र स्वतंत्रता के आह्लाद से ओतप्रोत मनीषी।" दोनों ही महापुरुष भारत की सेवा के लिए तथा समग्र मानवता की सेवा के लिए तन-मन-प्राण से न्योछावर थे।

गुरुदेव ने शांतिनिकेतन में शिक्षा के लिए तो विश्वभारती खोल ही रखी थी, उसके अतिरिक्त निकटवर्ती ग्राम समुदाय की प्रत्यक्ष सेवा के लिए श्री निकेतन नाम की भी एक संस्था खोल रखी थी। छात्र ग्रामीणों की समस्याओं का अध्ययन करते थे, कक्षा में आकर उन पर विचार करते थे। फिर जो समाधान निकलता था, उसे ग्रामवासियों को बताकर उन्हें कार्यान्वित करके देखते थे कि समाधान कहाँ तक उपयोगी है। ग्रामीणों को खाद्यान्न, साग-सब्जी उत्पादन के लिए नये उपाय और साधन बताते थे। पशुपालन के उत्तम-उत्तम उपाय समझाते थे। कला, शिल्प आदि का शिक्षण देते थे। सामुदायिक जीवन, सहयोग, सद्‌भाव आदि गुणों के विकास का भी प्रयत्न करते थे। ग्राम वासी अपनी उपज कैसे बढ़ायें और उस उपज का उचित मूल्य किस प्रकार प्राप्त करें तथा उनके जीवन में सुख की अभिवृद्धि किस प्रकार से हो—इसी उद्देश्य से श्री निकेतन की विकास योजना कार्यान्वित की गयी थी। इस विषय के विशेषज्ञ ल्योनार्ड एल्महर्स्ट का सहयोग गुरुदेव को प्राप्त था। उनके मार्ग दर्शन में श्रीनिकेतन में ग्राम विकास का कार्य चलता था। ग्राम समुदाय के विकास की यह योजना श्रीनिकेतन तक ही सीमित रहे। अन्यत्र व्यापक नहीं हुई। परंतु उसके अनुभवों का अन्य लोगों को भी लाभ होता रहा।

सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी : गोपाल कृष्ण गोखले ने ग्राम समुदाय की सेवा के लिए १९०५ में ही सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी की स्थापना कर रखी थी। क्रमशः भारत के अनेक प्रांतों में उसके कार्य का विस्तार हुआ। विभिन्न केंद्रों में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, कृषि के उन्नत उपायों का

प्रशिक्षण, मुर्गीपालन, शिशु कल्याण, प्रसूतिगृह आदि कार्य चलने लगे। कहीं-कहीं पर बुनाई, पशुपालन और कृषि के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी। इन विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी सेवक समाज की ओर से प्रकाशित की जाती थी। इस संस्था का उद्देश्य यों तो राजनीतिक था, परंतु समाज सुधार और समाज सेवा का भी लक्ष्य इसमें सम्मिलित था। सामाजिक कुरीतियों को मिटाने, दलित वर्ग की सामाजिक स्थिति सुधारने और शिक्षा के प्रसार आदि की दिशा मे भी सेवक समाज ने अच्छा काम किया। मद्रास में मयानूर के ग्रामीण केंद्र ने ग्राम सेवा के कार्य में विशेष योगदान किया।

हेमिल्टन के प्रयत्न : सर डेनियल हेमिल्टन ने बंगाल के सुंदर वन में—गोसावा में कोई २२ हजार एकड़ वनभूमि प्राप्त कर ली। उस भूमि का जंगल काटकर उसे कृषि के योग्य बनाया गया। सर डेनियल ने यहाँ पर किसानों की बस्ती बसायी। सन् १९१६ ई० में किसानों को कम व्याज पर पूंजी देने के लिए एक सोसाइटी भी खड़ी की। इस क्षेत्र में सहकारिता का कार्य फैलाने का भी प्रयत्न किया। १९३४ में सर डेनियल ने युवकों को कृषि, सहकारिता, बुनाई, गोपालन, मुर्गी पालन आदि का तथा हिसाब-किताब आदि का प्रशिक्षण देने के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण-संस्थान भी खोला। स्वास्थ्य, शिक्षा, आदि के विकास की ओर भी ध्यान दिया। उपभोक्ता भंडार, विपणन समिति, चावल मिल आदि खोलकर किसानों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया।

ईसाई मिशनों के कार्य : ईसाई मिशनों ने भारत में लोगों को ईसाई बनाने का कार्य तो किया ही, पर उनके द्वारा की गयी समाज-सेवा प्रशंसनीय है। रोगी-बीमारों की सेवा करने में उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। शिक्षा के विस्तार में भी उन्होंने काम किया है और ग्राम समुदाय की सेवा के क्षेत्र में भी। यंगमैन क्रिश्चियन असोसियेशन, नेशनल क्रिश्चियन कौंसिल आदि की ओर से कई स्थानों पर रूरल सर्विस कमेटियाँ बनाकर अच्छा काम किया गया। ग्राम सेवा के लिए मद्रास के मार्तंडम, मलाबार के अरीकोड, नीलोर में इंदुकुरपेट, नीलगिरि में रामनाथपुरम् आदि में कई केंद्र खोले गये जहाँ पशुपालन, मुर्गी-पालन, पशुनस्ल सुधार, मधुमक्खी पालन आदि की तो व्यवस्था की ही गयी, सहकारी समितियों, पंचायतों आदि के विस्तार का भी प्रयत्न किया गया। कृषि और उद्योग, विपणन आदि के विकास के लिए भी योजनावद्ध कार्य किया गया। डाक्टर स्पेंसर हैच के मार्ग-दर्शन में

मार्तंडम योजना ने अच्छी सफलता प्राप्त की उनके ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण शिविर ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

बंगाल के उषाग्राम क्षेत्र में भी ईसाई मिशनों द्वारा अच्छा सामुदायिक सेवा का कार्य किया गया।

ग्वालियर में ग्राम योजना : कर्नल शीतोलेकी पोहरी (ग्वालियर) जागीर के २३२ ग्रामों में जी० के० पुराणिक मार्गदर्शन में ग्राम पुनर्निर्माण केंद्रों की सन् १९२८ में स्थापना की गयी। इन केंद्रों में ग्रामवासियों को कम्पोस्ट खाद बनाने, गहरी जुताई करने, पशुओं की नस्ल सुधारने आदि की बातें तो सिखायी ही जाती थीं, उत्तम बीज केंद्र, ग्रामोद्योगों का विकास, ग्राम सफाई, स्वास्थ्य सुधार, अपव्यय घटाने आदि के लिए भी प्रयत्न किया जाता था। ग्रामीण ऋण कम करने के लिए व्यावहारिक उपाय सुझाये जाते थे। प्रत्येक ग्रामवासी की आय में ५ रु० की वृद्धि का लक्ष्य रख कर यह योजना प्रारंभ की गयी थी। कृषि, उद्योग, सिंचाई, भूमिसुधार और मितव्ययिता आदि के माध्यम से इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न किया जाता था।

अन्य प्रयत्न : इसी प्रकार अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों ने स्थान-स्थान पर ग्राम समुदाय की सेवा के कार्य चलाये। आगरा में कृषि जीवी संघ दिसंबर सन् १९२९ ई० से कार्यशील हुआ। अचल ग्राम सेवा संघ सन् १९३१ ई० से ग्राम सेवा कार्य करने लगा। दक्षिणी कृषि संघ १९३१ से पूना जिले के खेड शिवपुर गांव में सेवा करने लगा। पूना में ग्राम सेवा शिक्षा केंद्र, मद्रास में सहयोग समिति, बंबई में सहकारी इंस्टीट्यूट, हैदराबाद में ग्राम सेवा केंद्र, नयी दिल्ली में जंगपुरा ग्रामोत्थान समिति जैसी अनेक सेवा संस्थाएँ काम करने लगी।

गुड़गाँव का प्रयोग : पंजाब के गुड़गांव जिले में वहाँ के डिप्टी कमिश्नर एफ० एल० ब्रेन ने ग्राम सेवा का अच्छा प्रयोग किया। ग्राम समुदाय की निम्नलिखित बुराइयां उन्हें बहुत खटकीं—

१. कृषि पद्धति का दोषपूर्ण होना,
२. ग्रामीणों का गंदगी, धूल, रोग बीमारी और कष्ट में रहना,
३. महामारियों का प्रकोप,
४. धन का अपव्यय,
५. महिलाओं के प्रति दासी जैसा व्यवहार,

६. अपनी स्थिति सुधारने में उपेक्षा,
७. मूर्खता, निरक्षरता और प्रत्येक परिवर्तन का विरोध।

ब्रेन साहब ने इन दोषों के निवारण के लिए ये उपाय सुझाये—

१. कृषि सुधार :

१. अच्छी नस्ल के पशु रखो। हिसार के सांड़ और अच्छी चुनी गौएं रखकर उनके दूध का हिसाब रखो।
२. गुड़गांव के हल और सुधरे यंत्रों का प्रयोग करो।
३. अच्छे बीज बोओ। जैसे, ८ ए गेहूँ, रोजी बाटला कपास, आस्ट्रेलियन बाजरा, कोयम्बतूर गन्ना।
४. पारसी रहट लगाओ।
५. खाद गड्हे खोदो।
६. उपलों को जलाना बंद कर उसकी खाद बनाओ।
७. बैंकों का लाभ उठाओ।
८. खेतों में दौलीबंदी, क्यारीबंदी करो।
९. खेतों की चकबंदी करो।
१० साल भर खेती की योजना बनाकर खेती करो। गेहूँ, जौ के अतिरिक्त जीरा, लहसुन, गन्ना, कपास, बैंगन, तरबूज, तंबाकू, मिर्च, साग, फल आदि।
११. वृक्ष लगाओ। कोई जमीन खाली न पड़ी रहने दो।
१२. पशुओं को टीके लगाकर रोग से बचाओ।
१३. खेतों में लगनेवाले चूहों आदि को नष्ट करो। 'मूसों की मौरूसी न होने दो। बंदरों, साँपों, अन्य कीड़े-मकोड़ों से फसल की रक्षा करो।
१४. चरागाह बनाओ।
१५. खेतों में चरी भी लगाओ।
१६. नहरों को साफ रखो।

'जमींदार की बेअक्ली और परमेश्वर का कसूर'—कहावत यहाँ के लिए बनी है। इसलिए अक्ल से काम लो और अकाल, भुखमरी, तूफान, पशुओं की बीमारी से बचो।

२. सफाई और स्वास्थ्य :

१. गाँव साफ रखो। ग्रामीणों को सफाई की आदत लगाओ।

२. घरों में खिड़कियाँ खोलो।

३. चेचक, हैजा, कालरा, मलेरिया से बचने के लिए पहले से टीका और कुनैन तथा सफाई की व्यवस्था कर लो।

३. अपव्यय बंद करो :

१. 'काज' (मृतक श्राद्ध) में धन नष्ट न कर पारसी चरसा, कुआं, अच्छी नाली आदि बना दो।

२. गहनों में पैसा मत लगाओ। १९२५ में ६० करोड़ रुपयों का सोना विदेश से आया था। उसका व्याज ही ६ करोड़ रुपया हो जाता है। स्त्रियों को सुंदरता बढ़ानी ही है तो बेलबूटा, नक्काशी काढ़े, घर के आस-पास फूलों के पौधे लगाये।

३. शादी-विवाह आदि में आडंबर आदि पर खर्च न करें।

४. लड़ाई-झगड़ा, मुकदमेबाजी में पैसा नष्ट न करें।

४. सुंदर गृह :

१. स्त्रियों को स्वच्छ, प्रसन्न, स्वस्थ और विशाल दृष्टि संपन्न बनाओ।

२. बच्चों को स्वच्छ, प्रसन्न और स्वस्थ बनाओ।

३. मकानों को स्वच्छ बनाओ।

४. गाँवों को स्वच्छ बनाओ।

५. सब लोग शांतिपूर्वक रहो।

स्त्रियों को वर्तमान दासता से मुक्त करो। लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी पढ़ाओ। बचपन में विवाह मत करो।

उपलों के बदले लकड़ी जलाओ।

चक्की पिसाई का काम बैलों से कराओ।

माताएँ बच्चों को स्वच्छ रखें। पढ़ें। कपड़े सिलें। घर को सुंदर बनायें। फूल-पौधों से सजायें।

चार बातें :

ग्रामवासियों को ४ बातें सिखानी हैं।

१. श्रम की प्रतिष्ठा,

२. नारी की प्रतिष्ठा,

३. सफाई की प्रतिष्ठा और

४. सेवा की प्रतिष्ठा।[1]

ब्रेन साहब अपनी पूरी शक्ति से गुड़गांव जिले में ग्राम समुदाय के विकास के लिए जुट गये। उनके अधीनस्थ कर्मचारी, जिला बोर्ड के अधिकारी, सहकारी समितियों के अधिकारी, पढ़े-लिखे, सम्पन्न और उदार व्यक्ति सभी मिलकर प्रयत्नशील हुए। व्याख्यान, मैजिक लालटेन, गश्ती बाइस्कोप, रेडियो, पर्चे आदि प्रचार के सभी साधन काम में लाये गये। सहयोग समितियाँ, जीवन-सुधार समितियाँ, पाठशालाएँ, खाद और टट्टी के लिए गड़हे, ग्राम सेवा शिक्षा स्कूल, गृह प्रबंध शास्त्र, शिक्षण पाठशाला, पशुओं की नस्ल-सुधार, कृषि-सुधार आदि सभी बातों पर पूरा बल दिया गया। १९२०-२१ से १९२६-२७ तक ६ वर्ष के भीतर इसकी फलश्रुति के मोटे आँकड़े इस प्रकार रहे[2]—

फलश्रुति

अच्छे बैल	५५७	अच्छी बछियाँ	१२३	घोड़े	१६
लोहे के हल	१६००	पारसी चरस	८००	पशु मेले	११

वृक्ष आरोपण	१,३२५ एकड़	(१९२०-२१ में)	६७८० एकड़	(१९२६-२७ में)
८ ए गेहूँ का क्षेत्र			३६,७५० एकड़	"
रोजी बाटला कपास			४,१७० एकड़	"
सहकारी समितियाँ	१५३	(१९२०-२१ में)	८२२	(१९२६-२७ में)
सदस्य " "	३,३०३	"	१९,१२६	"
चालू पूँजी	१,३६,२२४ रु०	"	२२,८८,०४१	"
सेंट्रल बैंक	१	"	४	"
अस्पताल	११	"	२४	"
बीमार	१२७,०००	"	२,८८,५१०	"
स्वास्थ्यकेंद्र			८	"
टीका (प्रतिवर्ष)	१२,९२६	"	४२,४२७	"
खाद के गड़हे			४०,०००	"

१. एफ० एल० ब्रेन : विलेज अपलिफ्ट इन इंडिया, १९२७, पृष्ठ १-३३

२. वही, पृष्ठ १८१-१८३

हाई स्कूल	२	(१९२०-२१ में)	४	(१९२६-२७)
छात्र	१०,८३९	"	२६,७४४	"
छात्राएँ			१३३४	"
रात्रिपाठशालाएँ			१५२	"
स्काउट दल			९५	"
स्काउट बच्चे			३,०००	"

'काज' बहुत कम। उपला बनाना बंद अनेक ग्रामों में। बैलों की चक्की चालू। १'५० गांवों से गंदगी सर्वथा मिट गई आदि।

ब्रेन साहब ने अपनी योजना का भरपूर प्रचार किया। रसिया, देहाती गीत, 'सुकरात जिला गुड़गाँव के एक गाँव में' ऐसा प्रचार-साहित्य खूब प्रसारित किया। ग्रामवासियों के अनुरूप साहित्य तैयार कराया। जैसे—

रसिया

बंक में पैसे अपने धरियो
छाँव से साहूकार की डरियो
पूरा है होशियार, साजन हो जइयो हुशियार ॥[१]

उपलों की फरयाद :

क्यों थाप-थाप गोबर उपले बना रहे हैं,
फिर डालकर जमीं पर हमको सुखा रहे हैं ?
चुनचुन के ऊँचे-ऊँचे टीले लगा रहे हैं
क्यों बेजबाँ समझ कर हमको जला रहे हैं ?
कह दो ये उनसे जाकर जंगल से लायें लकड़ी,
चूल्हे में मेरे बदले कह दो जलायें लकड़ी !
गोबर से बढ़ के दुनिया में खाद कम मिलेगा,
मुझको बरतनेवाला बर्बाद कम मिलेगा।
गोबर के खाद से वह कैसी खड़ी है खेती,
दाता ने जैसे अपने हाथों जड़ी है खेती।...[२]

ब्रेन साहब की तत्परता सराहनीय थी। उनकी लगन का परिणाम अच्छा आया। ग्राम समुदाय की स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ा। परंतु पंजाब

१ वही, पृष्ठ २०५
२ वही, पृष्ठ २०६-२०७

सरकार के सहयोग विभाग के भूतपूर्व रजिस्ट्रार सी० एफ० स्ट्रिकलैंड ने 'रिव्यू ऑफ रूरल वैलफेयर एक्टिविटीज इन इंडिया—१९३२' में लिखा कि ये सुपरिणाम स्थायी नहीं हुए।[1]

भारत में ग्राम समुदाय के विकास के कार्यक्रम प्राचीन काल से ग्राम पंचायतों के माध्यम से चलते आ रहे थे। ब्रिटिश शासन सत्ता ने कृषि, उद्योग आदि को नष्ट करने के साथ-साथ ग्राम-पंचायत संस्था को भी नष्ट कर दिया। भूमि राजस्व से ग्राम कोष को मिलाने वाला अनुदान बंद कर दिया। भूमि व्यवस्था बदल दी और कचहरियों का जाल बिछाकर नई न्याय-व्यवस्था चालू कर दी। औद्योगिक क्रांति को बल देने के लिए भारत की नीति को ऐसी दिशा में मोड़ा कि लंकाशायर और मानचेस्टर की मिलों को काम मिले, भारत के उद्योग-धंधे चौपट हों तो हों। कृषि के विकास की ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। जमीदारों का जो नया वर्ग खड़ा किया उसने किसानों का शोषण किया। फलस्वरूप किसानों पर ऋणभार बढ़ता गया, उनकी जमीन के टुकड़े होते गए और उनकी जमीन उनके हाथ से निकलती चली गई। किसान उत्तरोत्तर दरिद्र और असहाय बनते गए। साहूकार, महाजन, जमींदार, पुलिस, पटवारी सभी किसान को लूटते और सताते रहे।

सरकारी प्रयत्न

कृषि आयोग : उन्नीसवीं शताब्दी में इन सब कारणों से भारत में दुर्भिक्षों का तांता लग गया। कृषि और सिंचाई के विकास के लिए बार-बार मांग की जाने लगी। परंतु कोई उल्लेखनीय प्रगति इस दिशा में हो नहीं सकी। बहुत रोने-चिल्लाने पर १९२६ ई० में राजकीय कृषि आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने पहली बार भारत की कृषि समस्या पर गंभीरता से विचार कर कुछ उपयोगी सुझाव दिये।

उक्त राजकीय कृषि आयोग ने कहा कि भारत में कृषि की उन्नति की समस्या मूल समस्या है। इसके लिए भारत के ग्रामीण जीवन को ऊपर उठाने की आवश्यकता है। कृषि क्षेत्र में सर्वतोमुखी विकास किए बिना काम नहीं चलेगा। सरकार को इस दिशा में पहल करनी चाहिए। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि 'प्रश्न ५ लाख गाँवों के विकास का है। इतने गाँव में सरकार का पहुँचना संभव नहीं। यदि भारत के किसान समूह को उत्तम बीज, सुधरे कृषि साधन, उत्तम नस्ल के पशुपालन, और खेती को कीड़ों और

---

१. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल : सेवाधर्म और सेवामार्ग, पृष्ठ ९५।

रोगों से बचाकर कृषि-उत्पादन बढ़ाने की बात समझानी है तो इसके लिए किसानों का अपना ही संगठन होना आवश्यक है। आत्मोद्धार के लिए वे यदि कमर कस लें तो चमत्कार हो सकता है। पुरानी परिपाटी त्याग कर किसान आधुनिक ढंग से खेती करने लगें, ऐसा जनमत जाग्रत करना आवश्यक है'।[१]

उस समय तक देश में यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत ग्रामों के सामुदायिक विकास का सरकारी कार्य आरंभ हुआ था। जैसे, संयुक्त प्रांत में 'रूरल डेवलपमेंट बोर्ड'—ग्रामोत्थान बोर्ड। प्रत्येक जिले में उसकी शाखाएँ खोलने की योजना तो बनी थी, परंतु वह लागू नहीं की गई। ऐसा माना गया कि अभी इसके लिए उपयुक्त समय नहीं आया है। फिर भी कुछ जिलों के अधिकारियों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। बनारस, लखनऊ, फैजाबाद, प्रतापगढ़, आदि जिलों में ग्राम पुनरुत्थान संघ और उनके केंद्र स्थापित किए गए, बनारस में गुड़गाँव के ढंग की ग्राम-शिक्षा पाठशाला खोली गई। फतेहगढ़, मेरठ, पीलीभीत, बुलंदशहर, फतेहपुर, गोंडा आदि जिलों में सरकारी अफसरों ने कुछ विकास कार्य चलाया। कहीं ग्रामहितैषी सभाएँ बनीं, कभी उत्तम जीवन सभाएँ खुलीं। पंजाब, मध्यप्रदेश, बंबई, मद्रास, त्रिवांकुर आदि में इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय कार्य आगे बढ़ाया गया।

यों राजकीय कृषि आयोग की संस्तुतियाँ १९२८ ई० के कृषि सम्मेलन में स्वीकार कर ली गयीं। उसने आर्थिक संस्तुतियों को कार्यान्वित करने में अपनी कठिनाई व्यक्त की। उसके बाद भीषण मंदी का दौर आया जिसने विश्व के अन्य देशों के साथ-साथ भारत को भी बुरी भाँति प्रभावित किया।

स्वतंत्रता का उदय : १९३५ ई० में जब कुछ स्थिति सुधरने लगी तभी भारत सरकार का १९३५ ई० का अधिनियम आ गया। उसी के उपरांत देश में लोकप्रिय मंत्रिमंडल बने। १९३७ ई० से काँग्रेस सत्तारूढ़ हुई। काँग्रेसी मंत्रिमंडलों ने किसानों की समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान देना प्रारंभ किया। किसानों की स्थिति सुधारने की ओर वे तत्परता से प्रयत्नशील हुए। ग्रामों का उत्थान, भूमि-व्यवस्था का सुधार, ऋण-व्यवस्था में सुधार, साहूकारी पर नियंत्रण, प्रशासनिक सुधारों के साथ-साथ सामाजिक कल्याण आदि की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। परंतु अभी कार्य का श्रीगणेश ही हो रहा था कि विश्वयुद्ध छिड़ गया। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने युद्ध प्रयत्नों में योगदान करने से इनकार कर दिया और अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया।

१. रिपोर्ट आफ दि रायल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर, पृष्ठ ४९८

१९४३ ई० में बंगाल में जब दुर्भिक्ष से पीड़ित असंख्य लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह कुत्तों की मौत मरे और सारे देश में विरोध की लहर फैल गई तो सरकार ने दुर्भिक्ष जाँच आयोग नियुक्त किया। खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशों के अनुसार 'अधिक अन्न उपजाओ' आंदोलन छेड़ा। वह आंदोलन विशेष सफल नहीं हो सका। इधर देश में काँग्रेस का स्वातंत्र्य संग्राम भी चल ही रहा था। अंततः १९४७ ई० में भारत स्वतंत्र हो गया। देश के निर्माण और उत्थान का सारा दायित्व जनता और उसके चुने प्रतिनिधियों पर आ गया। देश के कर्णधार जी-जान से इस प्रयत्न में संलग्न हो गए कि देश को शीघ्र-से-शीघ्र सबल और पुष्ट, स्वावलंबी और स्वयंपूर्ण बनाया जाय।

विकास का श्रीगणेश

योजनाबद्ध होकर कार्य करना आज के युग की विशेषता है। काँग्रेस ने १९३७ ई० में ही एक योजना समिति बनाई थी। विश्वयुद्ध के उपरांत कई योजनाओं की कल्पना की गई। बंबई योजना, जनता की योजना, गांधी योजना आदि कई योजनाएँ बनीं। स्वतंत्र भारत की सरकार ने २९ मार्च, १९५० ई० को योजना आयोग की स्थापना की और देश के सर्वांगीण विकास का कार्य उसे सौंपा।

योजना आयोग : सरकार ने योजना आयोग के कार्य-क्षेत्र की सीमाएँ इस प्रकार निर्धारित कीं।[१]

भारत के संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा और राज्य के लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि के लिए राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करेगा जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाएँ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की भावना द्वारा अनुप्राणित हों। सभी नागरिक नर-नारियों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन मिलें, समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण साधारण हित का सर्वोत्तम साधन बने और आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि धन और उत्पादन के साधन सर्वसाधारण के लिए अहितकारी रूप से केंद्रित न हों; देश के साधनों के कुशलतापूर्वक सदुपयोग से उत्पादन में वृद्धि हो, हर किसी को समाज की

---

१. प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा का प्रारूप, जुलाई, १९५१, प्राक्कथन, पृष्ठ क-ख

सेवा के कार्य में रोजी पाने का अवसर मिले और जनता का जीवन स्तर तेजी से ऊपर उठे—इस उद्देश्य से यह योजना कमीशन—

१. देश के भौतिक, आर्थिक और मानवीय श्रम साधनों के सही आँकड़ों का संकलन करेगा और अपर्याप्त साधनों को बढ़ाने की संभावनाओं पर विचार करेगा।

२. साधनों का अत्यन्त सार्थक तथा संतुलित उपयोग करने के लिए योजना तैयार करेगा।

३. प्राथमिक आवश्यकताओं की दृष्टि से कार्यों के पूर्व-अपर क्रम निर्धारित कर योजना की कार्यान्विति की मंजिलें निश्चित करेगा।

४. आर्थिक विकास में बाधक तत्त्वों की ओर संकेत करेगा और सफलता के लिए आवश्यक परिस्थितियों को स्थापित करेगा।

५. योजना की प्रत्येक मंजिल की सफलता के लिए आवश्यक तंत्र का रूप निश्चित करेगा।

६. समय-समय पर योजना की प्रगति का मूल्यांकन करेगा।

७. उपयुक्त सिफारिशें करेगा।

पंद्रह मास तक देश के सामाजिक और आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाली प्रमुख समस्याओं का परीक्षण करने के उपरांत योजना आयोग ने अपना प्रथम प्रारूप उपस्थित किया। उसपर विचार-विमर्श के उपरांत प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५२ ई० से १९५५-५६ ई०) प्रारंभ की गई।

सामुदायिक विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना पर पहले २०६९ करोड़ व्यय करने का लक्ष्य रखा गया था जो बाद में बढ़ाकर २३५६ करोड़ रु० कर दिया गया। पर उस पर कुल व्यय १९६० करोड़ हुआ। इसमें कृषि तथा सामुदायिक विकास पर कुल २९१ करोड़ अर्थात् १५ प्रतिशत व्यय हुआ।

सामुदायिक विकास के लिए पहले कुछ क्षेत्रीय प्रयोग किये गये। जैसे, इटावा की परियोजना जो अमरीकी विशेषज्ञों के मार्गदर्शन में चलायी गयी; बंबई की सर्वोदय योजना; मद्रास की फिरका विकास योजना। पंजाब में नीलीखेरी, उत्तर प्रदेश में गोरखपुर में भी कुछ प्रयोग किये गये। इन प्रयोगों में मिली सफलता के उपरांत सामुदायिक विकास कार्यक्रम को विस्तृत करने का निश्चय किया गया। २ अक्टूबर १९५२ से उसका श्रीगणेश हुआ।

मूल सिद्धान्त : सामुदायिक विकास योजना के मूल सिद्धांत दो थे—(१) विकास और सुधार के लिए चालक शक्ति जनता में स्वतः उत्पन्न हो। गांवों में बिखरी अथाह जनशक्ति को रचनात्मक दिशा में मोड़ना चाहिए। और (२) ग्रामीण जीवन की विविध समस्याओं के निराकरण के लिए सहकारिता के सिद्धांत को अपनाया जाय। इस कार्यक्रम के प्रति प्रत्येक व्यक्ति सजग रहे।

विकास का उद्देश्य : सामुदायिक विकास का उद्देश्य यह माना गया कि उपलब्ध भौतिक और मानवीय साधनों द्वारा संपूर्ण ग्राम समुदाय की आर्थिक और सामाजिक प्रगति हो और परस्पर सहयोग द्वारा वे ही उस प्रगति के वाहक बनें। विकास का उद्देश्य मुख्य रूप से यह थी—

१. ग्रामवासियों के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जाय।

२. ग्रामीण समुदाय को आत्मनिर्भरता और प्रगति की दिशा में अग्रसर किया जाय।

३. ग्रामीण समुदाय में सक्रिय एवं उत्तरदायी नेतृत्व का विकास किया जाय।

४. ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का विकास किया जाय।

५. ग्रामीण जनता के रहन-सहन और स्वास्थ्य का स्तर उठाया जाय, और

६. ग्रामों में शिक्षा तथा उत्पादन की उन्नत विधियों का अधिकतम प्रसार किया जाय।

विकाश का कार्यक्रम : समुदायिक विकास के कार्यक्रम में मुख्य रूप से निम्नलिखित ८ बातें मानी गयीं—

१. कृषि का विकास—भूमि को कृषि योग्य बनाना; सिंचाई के साधनों को बढ़ाना; उत्तम बीज, खाद आदि की व्यवस्था करना; पशु-संपत्ति का विकास; भूमिक्षरण पर रोक लगाना; फल और शाकसब्जी की उपज बढ़ाना; वृक्षारोपण आदि।

२. यातायात—सड़कों, पुलों आदि का निर्माण।

३. शिक्षा-प्रसार—साक्षरता का प्रसार; पाठशालाओं की संख्या बढ़ाना; समाज शिक्षा कार्यक्रम का विस्तार करना।

४. स्वास्थ्य और सफाई—स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था; संक्रामक रोगों की रोकथाम; स्वास्थ्य-सफाई की आदतों का विस्तार; पौष्टिक भोजन संबंधी शिक्षा का प्रसार; औषधालयों की व्यवस्था।

५. प्रशिक्षण—ग्रामवासियों को कला-कौशल और उद्योग-धंधों का प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना।

६. रोजगार की सुविधाओं का विस्तार।

७. आवास व्यवस्था—अच्छे, सस्ते, हवादार मकानों के लिए डिजाइनें देना, विधियाँ बताना और निर्माण सामग्री सुलभ करना।

८. समाज कल्याण—ग्राम समुदाय के मनोरंजन; खेल-कूद, सामाजिक शिक्षण, पुस्तकालय, रेडियो आदि की व्यवस्था।

विकास कार्यक्रम का प्रसार : आरंभ में देश के विभिन्न राज्यों में ५५ सामुदायिक परियोजना क्षेत्रों में कार्य का श्रीगणेश किया गया। एक-एक परियोजना में ३०० के लगभग ग्राम, १३०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र और २ लाख की आबादी ली गयी। एक परियोजना में एक-एक सौ गाँवों के तीन विकास क्षेत्र बनाये गये। इन ५५ परियोजनाओं के लिए ४० करोड़ रुपये की रकम स्वीकृत की गयी। इसके लिए अमरीका से भी ४ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता मिली।

सामुदायिक परियोजनाएँ २ अक्तूबर, १९५२ से आरंभ हुईं। एक वर्ष के उपरांत राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाएँ भी प्रारंभ कर दी गयीं। पहले विकास खंड तीन श्रेणियों में विभक्त थे—(१) राष्ट्रीय प्रसार सेवा खंड, (२) सघन विकास खंड और सघनोत्तर विकास खंड। बलवन्तराय अध्ययन दल की सिफारिश पर १९५७ में विकास खंड के लिए नयी व्यवस्था की गयी। इनके अनुसार पहले एक वर्ष पूर्व प्रसार अवस्था रहती है जिसमें केवल कृषि विस्तार होता है। उसके बाद विकास खंड प्रथम चरण में प्रवेश करता है। पाँच वर्ष यह स्थिति रहती है। उसके उपरांत ५ वर्ष तक की स्थिति द्वितीय चरण की मानी जाती है।

विकास की प्रगति : संशोधित कार्यक्रम के अनुसार प्रत्येक विकास खंड में १०० ग्राम रहते हैं, ४००-५०० वर्गमील क्षेत्र और ६० से ७० हजार जनसंख्या। इन खंडों की अवधि १० वर्ष की होती है। विकास के पहले चरण के लिए १२ लाख रुपये की राशि दी जाती है, दूसरे चरण के लिए ५ लाख की। सामुदायिक विकास खंड सारे देश में फैल गये हैं। २ अप्रैल, १९७० को

स्थिति के अनुसार देश में ५,२६५ सामुदायिक विकास खंड हैं। इनमें ४९५ प्रथम चरण में हैं। २४२१ द्वितीय चरण में और २३४८ दूसरा चरण पार कर चुके हैं। ४९२ आदिवासी विकास खंड हैं।

विकास खंडों की राज्यवार सारणी[1]

राज्य	खंड संख्या	जनसंख्या (लाख)	गाँव	कुल क्षेत्रफल (वर्गकिलो)
असम	१६०	११८	२५,७००	१,२२,०००
आंध्रप्रदेश	४४५	३३४	२७,१००	२,७४,९००
उड़ीसा	३०७	१७४	४६,५००	१,५५,८००
उत्तरप्रदेश	८९९	६९०	१,१२,६००	२,९३,६००
केरल	१४३	१६२	१,६००	३८,७००
गुजरात	२२४	१९४	१८,६००	१,८७,०००
जम्मूकश्मीर	७०	३२	६,६००	१,२२,३००
तमिलनाडु	३७५	३०३	१४,१००	१,३०,२००
नागालैंड	२१	४	८००	१६,५००
पंजाब	११६	९१	१२,९००	६१,७००
पश्चिम बंगाल	३४१	३०१	३८,५००	८७,४००
बिहार	५७५	४५२	६७,७००	१,७३,९००
मध्यप्रदेश	४१६	३०९	७०,४००	४,४३,१००
महाराष्ट्र	४२५	३२८	३५,९००	३,०६,६००
मैसूर	२६८	२१७	२६,४००	१,९२,०००
राजस्थान	२३२	१८९	३२,२००	३,४२,३००
हरियाणा	८२	७०	७,१००	४३,६००
हिमाचल प्रदेश	६९	४५	११,७००	४४,८००
संघीय क्षेत्र	९७½	३३.१	१०,४५०	१२८,७००
कुल भारत	५,२६५½	४०,४६	५,६६,९००	३१,६६,१००

भारत के ग्राम समुदाय के सर्वांगीण विकास को लक्ष्य में रखकर जनता के सहयोग से उन्हें आत्मनिर्भर बनाने और किसानों की कृषि, उद्योग आदि

१. भारत १९७१-७२, पृष्ठ २१८-२१९,

में नये तकनीकी ज्ञान का लाभ देने की दृष्टि से सरकार ने सामुदायिक विकास का कार्य आरंभ किया और उत्तरोत्तर उसका विकास करती गयी। सरकारी संगठन का पूरा उपयोग इस कार्य के लिए किया गया। इस कार्य में अमरीका से भी समुचित सहायता ली गयी। भारत और अमरीका के बीच १९५२ में 'तकनीकी कारपोरेशन' समझौता हुआ। फोर्ड फाउंडेशन ने भी पर्याप्त सहायता प्रदान की। पंचवर्षीय योजनाओं में सामुदायिक विकास के लिए पर्याप्त अर्थ-व्यवस्था की गयी। विकास योजना के विस्तार में, सामुदायिक विकास को आंदोलन का रूप देने में सरकार ने पूरी शक्ति लगायी।

योजना की प्रगति

पंचवर्षीय योजना	विकास क्षेत्र	लाभान्वित ग्राम	लाभान्वित जनता
१. प्रथम योजना (१९५१-५६)	१०७५	१,४३,०००	६,७०,००,०००
२. द्वितीय योजना (१९५६-६१)	३१३७	३,४६,०००	२४,६८,००,०००
३. तृतीय योजना (१९६१-६६)	५१३७	५,६७,०००	४०,५०,००,०००

व्यय की व्यवस्था

प्रथम और द्वितीय योजना में कुल व्यय	२ अरब ३३ करोड़ १० लाख रुपया
तृतीय योजना में व्यय	२ अरब ६९ करोड़ १० लाख रुपया
सन् १९६७-६८ में व्यय	३० करोड़ ४७ लाख रु०
१९६८-६९ ,,	२० करोड़ ८१ लाख रु०
१९६९-७० ,, (अस्थायी)	२९ करोड़ ८० लाख रु०
चतुर्थ योजना में परिव्यय की व्यवस्था	८९ करोड़ रु०

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक सामुदायिक विकास खंडों के लिए धन की व्यवस्था करने का दायित्व केंद्रीय सरकार पर था, किंतु चतुर्थ योजना से यह दायित्व राज्य सरकारों पर आ गया है। दिसंबर, १९६८ में सामुदायिक विकास के लिए एक उच्च स्तरीय परामर्श समिति का गठन किया गया। उसके अध्यक्ष केंद्रीय खाद्य तथा कृषिमंत्री हैं। सदस्यों में राज्यों के सामुदायिक विकास मंत्री, संस्थाओं के प्रतिनिधि, संसद् सदस्य तथा कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं।

संगठन

राज्यों में राज्य विकास समितियाँ सामुदायिक विकास कार्य चलाती हैं। मुख्यमंत्री समिति का अध्यक्ष होता है, उसमें विकास विभागों के मंत्री रहते

हैं। विकास आयुक्त सचिव रहता है। जिलों के विकास कार्य का दायित्व जिला परिषदों पर होता है, जिनमें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि, खंड पंचायत समितियों के अध्यक्ष, जिलों के संसद सदस्य तथा विधायक रहते हैं।

खंड स्तर पर खंड पंचायत समिति कार्यक्रम चलाती है। इसमें निर्वाचित सरपंच, महिलाओं, पिछड़े वर्गों और अनुसूचित नीतियों के प्रतिनिधि रहते हैं। खंड विकास अधिकारी तथा कृषि, सहकारिता, पशुपालन आदि के विशेषज्ञ आठ विस्तार अधिकारी पंचायत समिति के निर्देशन में काम करते हैं। जहाँ पंचायती राज नहीं है, वहाँ खंड विकास समितियाँ विकास-कार्य का संचालन करती हैं।

विकास की सफलताएँ सरकारी आँकड़ों के अनुसार जून, १९७० को समाप्त होनेवाले वर्ष में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलताएँ इस प्रकार रहीं[१]—

कार्यक्रम की सफलताएँ—(१९७० जून)

१. कृषि

बाँटे गये सुधरे बीज	५४,४५,५००	क्विंटल
" " रासायनिक उर्वरक	५,८३,३४,८००	"
" " कीटनाशक	५,१९,००८	"
" " सुधरे औजार	५,१३,६१०	"
खेती संबंधी प्रदर्शन	३,९६,३००	"
खोदे गये खाद के गड्ढे	१७,८६,१००	"

२. भूमि-सुधार

सिचाई की संभावना वाला शुद्ध अतिरिक्त क्षेत्र	१५,४८,६९१	हेक्टर
साफ की गयी कृषियोग्य भूमि	३,४३,९०१	"
बंध और मेंड़दार क्षेत्र	१०,७०,९०९	"

३. पशुपालन

सुधरी नस्ल के पशु बाँटे गये	२३,५२८
" " पक्षी " "	१८,५७,४६८
बधिया किये गये पशु	३१,०५,३००
पशुओं का कृत्रिम गर्भाधान	१५,८०,२०४

१. भारत, १९७१-७२, पृष्ठ २२५-२२६

४. स्वास्थ्य तथा ग्राम सफाई

ग्राम शौचालय बनाये गये	४८,००८
पक्की नालियां बनायी गयीं	९,७९,९३० वर्ग मीटर
पक्की की गयी ग्रामीण गलियां	२०,५९,३६० "
सोख्ते गड्ढे बनाये गये	९१,७१४ "
पीने के पानी के कुएं खोदे गये	१८,९१४ "
" " कुओं की मरम्मत	२४,३८३ "

५. समाज शिक्षा

प्रौढ़ साक्षरता केंद्र खोले गये	२०,७२३
साक्षर बनाये गये वयस्क	१३,८९,७९७
आयोजित कार्यशील ग्राम सहायक शिविर	७,२०१
कार्यशील नेता प्रशिक्षित किये गये	२,२८,१२६

६. संचार साधन

नयी कच्ची सड़कें बनायी गयीं	१९,६७० किलो मीटर
वर्तमान कच्ची सड़कों का सुधार	४०,४५६ " "

७. ग्राम तथा लघु उद्योग

बांटे गये सुधारे औजारों का मूल्य

लोहे के औजार	१,३७,४१६
लकड़ी के औजार	२,९२,७४९

एक वर्ष की यह प्रगति अच्छी ही मानी जायगी। २०-२२ साल की प्रगति का इससे मोटा अनुमान लगाया जा सकता है।

उतार-चढ़ाव : सामुदायिक विकास आंदोलन के विगत बीस-बाईस वर्ष पर्याप्त उतार-चढ़ाव के वर्ष रहे हैं। देश की राजनीतिक स्थिति, युद्ध, उपद्रव अशांति आदि के कारण प्रगति में जो बाधाएं पड़ती रहीं सो तो पड़ती ही रहीं, उनके अतिरिक्त भी कुछ बाधाएँ पड़ीं। ये बाधाएँ थीं—स्थानीय कठिनाइयाँ, कार्यकर्ताओं की लापरवाही, प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव, सरकारी विभागों में समन्वय की कमी, उचित नियोजन में कमी, जनता से भरपूर सहयोग न मिलना आदि। कुल मिलाकर सामुदायिक विकास आंदोलन आशा के अनुरूप सफल होने में असमर्थ रहा।

आशाओं के महल

सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरंभ होने के बाद ही प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने १९५३ में कहा था—"सामुदायिक विकास कार्यक्रम वह डाइनेमो-विद्युत यंत्र है जो पंचवर्षीय योजनाओं के सफल कार्यान्वयन की प्रेरक शक्ति है।"[1]

योजना आयोग के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री० टी० कृष्णमाचारी कहते थे—"ग्रामीण जीवन का सर्वांगीण विकास और प्रत्येक परिवार के निकट पहुँचने का प्रयास नयी बात है। योजना आयोग ने अपनी स्थापना के उपरांत यह अद्वितीय देन सामुदायिक विकास आंदोलन के रूप में प्रस्तुत की है। मैं इस बात का पूरा प्रयत्न करूँगा कि यह आंदोलन ठीक ढंग से, ठीक लक्ष्य और ठीक भावना से चले। देहातों में जो होगा, उसीपर भारत का लोकतंत्र पुष्ट होगा। जब देश का प्रत्येक परिवार दरिद्रता के विरुद्ध जमकर लोहा लेगा और अपने जीवन-स्तर को ऊपर उठायेगा, तभी देहातों में सामाजिक और नैतिक उत्थान हो सकेगा। राष्ट्रीय एकता के लिए यही एक आधारशिला हो सकती है।'[2]

मंत्री सामुदायिक विकास एस० के० दे कहते थे—'सामुदायिक विकास योजना सामुदायिक कार्यों के विकास के लिए अत्यंत विवेकपूर्ण योजना है'

विकास कार्यक्रम की असफलताएँ

अच्छा लक्ष्य, अच्छा उद्देश्य होते हुए तथा सरकारी पूरा तंत्र अरबों रुपये व्यय करके भी इस 'विवेकपूर्ण' सामुदायिक विकास आंदोलन को सफल नहीं बना सका। कार्यक्रम की मूल्यांकन रिपोर्टें आरंभ से ही बताने लगीं कि आंदोलन सफलता की दिशा में नहीं जा रहा है। उसकी दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं—सभी रिपोर्टें यही कहती हैं।

अमीरों को लाभ : सामुदायिक विकास कार्यक्रम बनाया गया था इस उद्देश्य से कि देहात की गरीब जनता की स्थिति में सुधार होगा, परंतु हुआ उल्टा। देहाती क्षेत्र में जो लोग अपेक्षाकृत संपन्न स्थिति के थे, वे ही इस कार्यक्रम से अधिकतम लाभ उठा सके। गरीब जहाँ-के-तहाँ दयनीय स्थिति में

---

१. मालवीय : विलेज पंचायत इन इंडिया, पृष्ठ ७५६

२. कृष्णमाचारी : प्लानिंग इन इंडिया, १९६१, पृष्ठ २६४

पड़े रहे। उत्तम फलश्रुति दिखाने के लोभ में विकास के अधिकारियों ने केवल संपन्न कृषकों का ही पक्षपात नहीं किया, अपितु संपन्न और उपजाऊ ग्रामों का भी पक्षपात किया। उपजाऊ भूमिवाले ग्रामों में उर्वरक, जापानी खेती और उन्नत बीजों के प्रयोग से अच्छा परिणाम आने ही वाला था।[१]

चतुर्थ मूल्यांकन रिपोर्ट कहती है—"भूमिहीन लोग उस प्रतिष्ठा से वंचित हैं जो भूमि होने से उन्हें प्राप्त होती। भूमि का पुनर्वितरण अभी दूर की कल्पना है। अनेक प्रखंडों में अभी तक भूमि की हदबंदी, चकबंदी, भूमिहीनों को भूमि प्रदान, सहकारी कृषि और भूमि संबंधी सुधार पहुँच ही नहीं सके हैं। फलतः सामुदायिक विकास कार्यक्रमों से आर्थिक और सामाजिक उन्नति का लाभ मुख्यतः वे ही लोग उठा रहे हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति पहले अच्छी है। यह सामुदायिक विकास कार्यक्रम के भविष्य के लिए एक चिंतनीय विषय है।'[२]

जनता में उत्साह का अभाव : सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया गया था कि जनता में आत्मोद्धार की प्रेरणा जगेगी, उसमें उत्साह आयेगा, परंतु अनुभव यह आया कि स्वैच्छिक कार्यक्रमों में जनता को कोई उत्साह ही नहीं। चतुर्थ मूल्यांकन रिपोर्ट (पृष्ठ २०१) भी यही कहती है और पंचम मूल्यांकन रिपोर्ट (पृष्ठ १५) भी यही कहती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से भारत में जो मूल्यांकन दल आया, उसकी भी यही अनुभूति रही। वह कहता है कि श्रमदान में उच्च जातिवालों ने बहुत ही कम सहयोग प्रदान किया। उसका मूल उद्देश्य ही विफल हो गया।[३]

अफसरों का सेवातंत्र : अफसर तो अफसर! बिरले अफसर ही अपना दायित्व मानकर 'सिविल सर्वेण्ट'—जनता के सेवक—का नाम सार्थक करते हैं। अधिकांश तो जीपों पर सैर-सपाटा करने और जनता पर अपना रोब जमाने के ही चक्कर में रहते हैं। फिर जब पैसा बाँटने की खुली छूट उनके हाथ में हो तो कहना ही क्या! मिरडाल का कहना है कि 'सामुदायिक विकास मुख्यतः नकद अनुदान और वैतनिक सरकारी कर्मचारियों के प्रयत्नों पर निर्भर रहा

---

१. तृतीय मूल्यांकन रिपोर्ट, पृष्ठ ६-७; पंचम मूल्यांकन रिपोर्ट, १९५८, पृष्ठ १६-२१

२. चतुर्थ मूल्यांकन रिपोर्ट, १९५७, पृष्ठ १८

३. यूनाइटेड नेशन्स : रिपोर्ट आफ ए कम्युनिटी डेवलपमेंट इवैलुएशन मिशन इन इंडिया, पृष्ठ २३

है, ग्रामीण स्वयंसेवकों के प्रयत्न पर नहीं। यह निम्नवर्ग के भीतर स्वावलंबन की भावना विकसित करनेवाला कार्यक्रम नहीं रहा। यह मुख्यतः एक ऐसा साधन बन गया जिससे देहात के अधिक संपन्न लोगों को सरकारी आर्थिक सहायता मिल जाय। सोचा गया था कि इस कार्यक्रम से देहाती जनता में सामुदायिक भावना जाग्रत होगी, परंतु हुआ उसका उल्टा।'[1]

विकास जनांदोलन नहीं बना : मिरडाल ने इस प्रश्न पर गहराई से चिन्तन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता की जड़ें बहुत गहरी हैं। भारतीय ग्रामों के आर्थिक और सामाजिक समूहों में स्वार्थों के अनेक संघर्ष हैं। ऐसे आंदोलन को चलाने का दायित्व ग्राम नेताओं का होना चाहिए था सो मिल गया सिविल कर्मचारियों को। यह कार्यक्रम भूमि सुधार को साथ लेकर चलना चाहिए था, वह भी नहीं हुआ। अतः इस कार्यक्रम का बुरा हाल हो गया।'[2]

अंततः सरकार का सामुदायिक विकास आंदोलन असफल हो गया। उसकी केंद्रीय व्यवस्था आदि में भी तदनुकूल परिवर्तन किये गये। सन् १९६७ ई० में एरिका लिंटन से एक समाज विज्ञानशाला के निदेशक ने कहा— 'हमलोग भी कोई नया आधार खोज रहे हैं। सामुदायिक विकास असफल हुआ। हमारी दृष्टि अब गांधीवादी रचनात्मक कार्य की ओर लगी है। समाज में आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए हम उनकी पद्धतियों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करना चाहते हैं।'[3]

भारत के सामाजिक और सामुदायिक विघटन की समस्याओं के निराकरण के लिए सामुदायिक विकास आंदोलन से बड़ी आशाएँ थीं, परंतु वे आशाएँ पूरी नहीं हो सकीं। भूदान-ग्रामदान आंदोलन इस दिशा में क्या कर सकता है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

१. गुन्नार मिरडाल : एशियन ड्रामा, खंड २, पृ० १३३९-१३४३

२. वही, पृ० १३४४

३. एरिका लिंटन : फ्रेगमेंट्स आफ ए विजन, १९७१, पृ० २५८

अध्याय : ३०

भूदान-ग्रामदान आंदोलन

महात्मा गाँधी स्वप्नद्रष्टा थे। अहिंसा और सत्य के पुजारी होने के नाते वे सारे विश्व में अहिंसा और सत्य को प्रतिष्ठित होते देखना चाहते थे। मानव मात्र को वे अपने प्रेम में शराबोर कर देने के लिए उत्सुक थे। सत्य, प्रेम और करुणा के वे मूर्तिमान प्रतीक थे। उनकी कल्पना यही थी कि सारा संसार सुखी और प्रसन्न रहे। जब सारा विश्व सुख और शांति का उपभोग करेगा तो भारत भी सुखी हुए बिना न रहेगा।

गाँधी के सपनों का भारत

भारत के संबंध में गाँधीजी ने जो सपना देखा था, उसमें यही कल्पना थी कि देश में रामराज्य की स्थापना हो। शोषण-हीन, वर्गविहीन ग्रामोद्योग प्रधान व्यवस्था हो। ग्राम-ग्राम में ग्रामस्वराज्य स्थापित हो। वे कहते हैं :

'मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा जिसमें गरीब-से-गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि यह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व है। उसमें ऊँचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा। उसमें विविध संप्रदायों में पूरा मेल होगा। उसमें अस्पृश्यता या शराब और दूसरी नशीली चीजों के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं होगा। उसमें स्त्रियों को भी वही अधिकार होंगे जो पुरुषों को। चूँकि शेष सारी दुनिया के साथ हमारा संबंध शांति का होगा, यानी न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे, इसलिए हमारी सेना छोटी-से-छोटी होगी। ऐसे सब हितों का, जिनका करोड़ों मूक लोगों के हितों से कोई विरोध नहीं है, पूरा सम्मान किया जायगा, फिर वे देशी हों या विदेशी।'[1]

---

१. मो० क० गाँधी : मेरे सपनों का भारत, १९६९, पृ०, ४

'मेरे सपने के स्वराज्य में जाति-धर्म के भेदों को कोई स्थान नहीं हो सकता। उसपर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए, सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, लूले, लंगड़े, अंधे और भूख से मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं।"[१]

'मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही गरीबों को भी सुलभ होनी चाहिए। जीवन की सामान्य सुविधाएँ गरीबों को भी अवश्य सुलभ होनी चाहिए।'[२]

'हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है। ऐसे स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता। जनता की सलाह में हरएक अपना अभीष्ट योग देता है। सब लिख-पढ़ सकते हैं। बीमारी कम-से-कम हो ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता। मजदूरी चाहनेवाले को काम मिल जाता है। उसमें जुआ, शराबखोरी, दुराचार या वर्ग-विद्वेष को कोई स्थान नहीं होता।'[३]

'स्वराज्य में ऐसा नहीं होना चाहिए कि चंद अमीर तो रत्नजटित महलों में रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोपड़ियों में, जिनमें हवा और प्रकाश का प्रवेश न हो। उसमें न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा अतिक्रमण नहीं हो सकता और किसी को कोई अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं हो सकते।'[४]

'जब राज्यसत्ता जनता के हाथ में आ जाती है, तब प्रजा की आजादी में होने वाले हस्तक्षेप की मात्रा कम-से-कम हो जाती है। लोकशाही नीचे से हरएक गाँव के लोगों के द्वारा चलायी जानी चाहिए। स्वराज का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना। यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दें तो वह स्वराज्य सरकार किसी काम की नहीं होगी।'[५]

---

१. वही, पृ० ५
२. वही पृ० ६
३. वही, पृ० ६–७
४. वही, पृ० ८
५. वही, पृ० ८-९

'लोकतांत्रिक स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ हर किस्म की सत्ता होनी चाहिए।'

'ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा और परस्पर सहयोग से काम लेगा। अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर लेगा। ढोरों के लिए चरागाह, खेल के मैदान रखेगा। उपयोगी फसलें भी जमीन बचने पर बोयेगा पर गांजा, तम्बाकू, अफीम आदि की खेती से बचेगा। गाँव का शासन चलाने के लिए गाँव की पंचायत चुनी जायगी। वह स्वयं ही धारा सभा, न्यायसभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम करेगी।'[१]

स्पष्ट है कि गाँधीजी ने जिस स्वराज्य का सपना देखा था उसमें सामाजिक विघटन की किसी समस्या की गुंजाइश ही नहीं थी। अहिंसा और सत्य की कसौटी पर चढ़कर विघटन की सारी समस्याओं का स्वतः निराकरण हो जायगा।

वस्तुतः गाँधीजी सामाजिक क्रांति के अभिलाषी थे। राजनीतिक क्रांति तो उसका एक छोटा पर आवश्यक पहलू था; आर्थिक और सामाजिक क्रांति उसके अन्य पहलू थे। आर्थिक क्रांति की उनकी कल्पना में 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना' की अर्थात् आर्थिक वैषम्य की समाप्ति की बात थी और सामाजिक क्रांति की उनकी कल्पना में सामाजिक वैषम्य की समाप्ति की बात थी। कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं, कोई व्यसनी नहीं, कोई दुराचारी नहीं। कोई चोर नहीं, कोई अपराधी नहीं। जहाँ आर्थिक समानता है, जहाँ सामाजिक समानता है, जहाँ राजनीतिक समानता है, जहाँ संयम और सदाचार, सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह जैसे नैतिक मूल्य ही सब कुछ हैं, वहाँ दुःख और क्लेश, अशांति और असंतोष का प्रश्न ही कहाँ रहता है? जहाँ सभी लोग अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य के लिए सचेष्ट हैं, वहाँ सुख और शांति के अतिरिक्त और होगा ही क्या?

सामाजिक क्रांति

गाँधीजी ने सारे समाज को अहिंसा के आधार पर संघटित करने की, ट्रस्टीशिप की, धनिकों के हृदय-परिवर्त्तन की जो बातें कहीं, अहिंसक समाज

---

१. वही, पृ० १४-१५

अहिंसक पद्धति

रचना पर जो बल दिया, उसका खूब ही मजाक उड़ाया गया। उन्हें 'कल्पनालोक में उड़नेवाला' बताया गया, 'युटोपिया' की उपाधि दी गयी, परंतु उन्होंने इन सब बातों के उत्तर में यही कहा कि मैं 'व्यावहारिक आदर्शवादी' हूँ। वे कहते थे कि 'आजकल यह कहना एक फैशन हो गया है कि समाज को अहिंसा के आधार पर न तो संघटित किया जा सकता है और न चलाया जा सकता है। मैं इस कथन का विरोध करता हूँ। परिवार में जब पिता अपने पुत्र को अपराध करने पर थप्पड़ मार देता है तो पुत्र उसका बदला लेने की बात नहीं सोचता। वह अपने पिता की बात इसलिए स्वीकार कर लेता है कि इस थप्पड़ के पीछे वह अपने पिता के प्यार को आहत हुआ देखता है, इसलिए नहीं कि थप्पड़ उसे वैसा अपराध दुबारा करने से रोकता है। मेरी राय में समाज की व्यवस्था जिस तरह की होनी चाहिए, उसका यह छोटा रूप है।'[१] 'मेरी धारणा है कि अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है। वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणों की तरह उसका भी बड़े पैमाने पर, विस्तार किया जाना चाहिए।'[२] 'मेरा यह पक्का विश्वास है कि जिस चीज को हिंसा कभी नहीं कर सकती, वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा की जा सकती है। और अंत में उससे अत्याचारियों का हृदय परिवर्त्तन भी हो सकता है।'[३] 'मैं जमींदारों और दूसरे पूँजीपतियों का अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्त्तन करना चाहता हूँ और इसलिए वर्गयुद्ध की अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। जमीन पर मेहनत करनेवाले किसान और मजदूर ज्यों ही अपनी ताकत पहचान लेंगे, त्यों ही जमींदारों की बुराई का बुराईपन दूर हो जायगा।'[४]

भूदान आन्दोलन : गाँधी प्रवर्तित अहिंसा के मार्ग से भारत ने स्वराज्य की प्राप्ति कर ली, यह गाँधीजी की अहिंसक पद्धति की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे चाहते थे कि अहिंसा की यह पद्धति सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए भी उपयोग में लाई जाय। अपने विचारों को वे मूर्त्त रूप नहीं दे पाये, पर उन्होंने इस सूत्र को जहाँ छोड़ा था, वहीं से विनोबा ने उसे

---

१. मो० क० गांधी, 'हरिजन' (अं० सं०), ३ दिसम्बर, १९३८

२. मो० क० गाँधी; 'हरिजन', ७ जनवरी, १९३९

३. मो० क० गांधी, 'हरिजन सेवक', २० अप्रैल, १९४०

४. मो० क० गांधी, 'हरिजन', ५ दिसम्बर, १९३६

ग्रहण कर लिया। भूदान-ग्रामदान आंदोलन अहिंसक पद्धति से ही समाज परिवर्तन के व्यापक कार्य में संलग्न है।

नेहरू का समर्थन : सरकार का सामुदायिक विकास आंदोलन जिस कार्य को करने में सफल नहीं हो सका, उसको सफल बनाने की शक्यता भूदान, ग्रामदान आंदोलन में है, इस तथ्य को जवाहर लाल नेहरू ने भी स्वीकार किया था। भूदान की उपयोगिता स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा था—[१]

'यह बात तो साफ है कि कोई भी सरकार लोगों से जाकर यह नहीं कहेगी कि वे अपनी जमीन दान में दे दें। सरकार की ऐसी नीति नहीं हो सकती। परंतु मुझे इस बात में रत्ती भर भी संदेह नहीं कि आचार्य विनोबा के आन्दोलन का बहुत बड़ा महत्त्व है। व्यावहारिक रूप से उसकी उपलब्धि को तथा भूमि और जोत के संबंध में वह जिस नये मनोविज्ञान की रचना कर रहा है, उसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की लोगों में जो भयंकर भूख है, उसे यह आंदोलन कम करता है, यह बहुत अच्छी बात है। इसलिए मैं अपनी ओर से और कुछ दूसरों की ओर से भी इसका स्वागत करता हूँ। मैं अपनी सहानुभूति द्वारा इसे प्रोत्साहित करना चाहता हूँ। विनोबा का आंदोलन अनिवार्यत: उचित दिशा में है,—उपलब्धियों की दृष्टि से भी और उस प्रसन्नता की दृष्टि से भी जिसे वह लोगों के बीच बिखेरता है। विनोबा का आदर्श मेरा भी आदर्श है।'

भूदान का अर्थ

'भूदान' का सीधा-सादा अर्थ है—भू = भूमि + दान = दान। जमीन का दान, भूमि का दान। जिसके पास भूमि नहीं है, जो भूमिहीन है, उसके लिए भूमि का दान करना 'भूदान' है। दान की प्रक्रिया यज्ञ की प्रक्रिया है। अत: विनोबा ने इसे 'भूदान यज्ञ' का नाम दिया है।

परिभाषा

उत्तर प्रदेश के भूदान यज्ञ अधिनियम में 'भूदान यज्ञ' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

"भूदान यज्ञ' वह आंदोलन है जो आचार्य विनोबा भावे ने भूमिहीनों के बीच भूमि वितरण करने के लिए चलाया है और जिसमें दाता स्वेच्छा से भूमि अर्पित करता है जिससे भूमिहीन उसे प्राप्त कर सकें।

१. जवाहरलाल नेहरू; ओन कम्यूनिटी डेवलपमेंट, १६५८, पृ० ४८

" 'भूमिहीन' वह व्यक्ति है—

१. जिसके पास अपनी कोई भूमि नहीं है,

२. जिसके पास भूमि पर काम करने के अतिरिक्त जीविकोपार्जन का अन्य कोई साधन नहीं है,

३. जो भूमि पर कार्य करने में समर्थ है, और

४. जो स्वयं भूमि पर कार्य करने के लिए प्रस्तुत है ।"

स्पष्ट है कि भूमिहीन के लिए स्वेच्छा से भूमि अर्पित करने का नाम भूदान है । जिस व्यक्ति के पास अपनी कोई भूमि नहीं है, जिसके पास भूमि की सेवा के अतिरिक्त जीविका चलाने का अन्य कोई साधन नहीं है, जो भूमि की सेवा करने में समर्थ भी है और उसके लिए प्रस्तुत भी है, उस व्यक्ति को उसकी जीविका के लिए भूमि देने की प्रक्रिया ही 'भूदान' या 'भूमिदान' कहलाती है ।

जन्म और विकास

भारत कृषि प्रधान देश है । लगभग ८० प्रतिशत लोगों की जीविका का आधार कृषि है । परंतु लाख ही नहीं, करोड़ों व्यक्ति भूमि के स्वामी नहीं रहते आये हैं । भूमि जोतते वे अवश्य रहे हैं, पर जोत पर उनका अधिकार नहीं रहा है । भूमिहीनों को भूमि दिलाना भूदान का उद्देश्य रहा है, जिसके लिए वह बीस-बाईस वर्ष से प्रयत्नशील है ।

अप्रैल, १९५१ की बात है । आंध्र के शिवरामपल्ली स्थान में सर्वोदय सम्मेलन हुआ । साथियों के आग्रह पर विनोबा पदयात्रा करते हुए सम्मेलन में पहुँचे थे । उन दिनों तेलंगाना में भूमि समस्या को लेकर कम्युनिस्टों ने भयंकर अशांति मचा रखी थी । कितने ही जमींदारों की हत्या की जा चुकी थी । कम्युनिस्टों को लोग 'रात का राजा' कहते थे । गाँववाले उनसे थर-थर काँपते थे । रात में कम्युनिस्ट उन्हें सताते थे, दिन में पुलिस ।

विनोबा ने सम्मेलन से वर्धा लौटने के पूर्व इस अशांत क्षेत्र की यात्रा करने की इच्छा प्रकट की । सोचा कि इस अशांति का शमन करने के लिए कोई अहिंसक मार्ग निकाला जा सकता है क्या ? हैदराबाद जेल में जाकर उन्होंने कम्युनिस्टों से भेंट भी की और स्थिति का प्रत्यक्ष अध्ययन करने की दृष्टि से तेलंगाना क्षेत्र की यात्रा आरंभ कर दी । १५ अप्रैल को रामनवमी पड़ती थी, उसी दिन से उनकी यात्रा चालू हो गयी ।

१८ अप्रैल को विनोबा का चौथा पड़ाव था पोचमपल्ली में। कम्यु-निस्टों का गढ़ था यह गाँव। ७ सौ घरों की ३ हजार की वस्ती, जिसमें दो हजार के पास अपनी एक धुर भी जमीन न थी। ६४३ बुनकर थे और २१९ हरिजन। सेंदी-ताड़ी खूब चलती थी। रोज १५० रु० की सेंदी लोग पी जाते थे। पोचमपल्ली में ४ हत्याएँ हो चुकी थीं। दो वर्षों के भीतर आसपास में मिलाकर २० व्यक्ति मृत्यु के घाट उतार दिए गए थे। कम्युनिस्ट लोगों के विषय में जो भी व्यक्ति सूचना देता, वह गोलियों से भून दिया जाता। केवल दस-बारह कम्युनिस्ट ही इस क्षेत्र में अशांति मचाए हुए थे, जिनकी खोज के लिए हथियार वन्द पुलिस डेरा डाले पड़ी थी।

पड़ाव पर पहुँचने के बाद पहला काम विनोबा का होता था हरिजनों की बस्ती का निरीक्षण। पोचमपल्ली में हरिजन बस्ती से जैसे ही वे लौटने लगे कि हरिजनों ने उन्हें घेरकर कहा—बाबा, न तो हमारे पास पूरा काम या रोजगार ही है, न जमीन ही है जिसे खोदखाद कर हम जी सकें। हमें कुछ जमीन मिल जाती तो आमदनी का एक स्थायी जरिया मिल जाता।

'कितनी जमीन से तुम्हारा काम चल जायगा ?'—पूछने पर हरिजनों ने हिसाब लगाकर वताया कि ४० एकड़ तरीवाली और ४० एकड़ सूखी जमीन मिल जाय तो हमारा काम चल सकता है।

पहले तो विनोबा ने सोचा कि सरकार से इसके लिए प्रार्थना करके देखा जायगा, पर बाद में उनके मन में आया कि क्यों न मैं यहीं के गाँववालों से हरिजनों के लिए भूमि का दान माँगू ?

गंगोत्री प्रकटी : पड़ाव पर उपस्थित गाँववालों के समक्ष विनोबा ने अपनी यह मांग रख दी। तभी रामचन्द्र रेड्डी नामक सज्जन ने खड़े होकर कहा—वावा, अपने स्वर्गीय पिता की इच्छा के अनुसार मैं सौ एकड़ भूमि—५० एकड़ तरीवाली और ५० एकड़ सूखी जमीन इन हरिजन भाइयों को अर्पित करता हूँ।

यों १८ अप्रैल, १९५१ को पोचमपल्ली में भूदान की गंगोत्री निकल पड़ी। अश्रुसिक्त कंठ से विनोबा ने कहा—'अगर ऐसे सज्जन हर गाँव में मिल जायँ तो कम्युनिस्टों का मसला हल ही समझो।'

उस रात विनोबा सो नहीं सके। सोचते रहे कि भूदान की इस घटना में अवश्य ही परमेश्वर का हाथ है। मांगी ८० एकड़, मिली १०० एकड़।

मेरा राम मुझसे काम लेना चाहता है। उन्होंने हिसाब लगाकर देखा तो लगा कि ५ करोड़ एकड़ जमीन भूदान में मिल जाय तो देश से भूमिहीनता की समस्या हल हो सकती है। पर क्या इतनी भूमि भूदान में मिल सकती है ? विनोबा ने अपने से ही तर्क किया कि यदि नहीं मिल सकती तो ऐसी घटना क्यों घटती ? जो घटना पोचमपल्ली में घट सकती है, वह अन्य ग्रामों में क्यों नहीं घट सकती ? पर इतना बड़ा काम उठाने की मेरी सामर्थ्य है क्या ?

विनोबा की श्रद्धा बोली—तू कौन होता है काम उठाने वाला ? परमेश्वर चाहेगा तो तुझसे यह काम लेगा। तू तो उसके इशारे पर चलता चल।

दूसरे दिन से विनोबा गाँव-गाँव के लोगों को समझाने लगे—हमारे देश की भूमि समस्या एक अत्यंत विकट समस्या है। जमीनवाले यदि प्रेमपूर्वक अपनी भूमि का कुछ अंश भूमिहीनों को अर्पित करेंगे तो गाँव-गाँव में प्रेम का विस्तार होगा और देश की अशांति समाप्त हो जायगी।

विनोबा की भूमिदान की पुकार अपना प्रभाव दिखाने लगी, वे सवा दो महीने तेलंगाना में घूमे और इस बीच उन्हें वहाँ १२ हजार एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त हो गयी।

धीरे-धीरे भारत के अन्य क्षेत्रों में भी भूदान की गंगा प्रवाहित होने लगी। पंडित जवाहर लाल नेहरू के आमंत्रण पर प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारूप पर विचार-विनिमय के लिए विनोबा पौनार से दिल्ली के लिए पद-यात्रा पर ११ सितंबर, ५१ को निकले तो उन्होंने कहा कि 'यदि लोग यह मानते हों कि तेलंगाना में हमें भूमि केवल इसलिए मिली कि वहाँ पर कम्युनिस्टों का आतंक था, तो हमें भारत में अहिंसक क्रांति की सारी आशाएँ त्याग देनी चाहिए। परंतु यदि हम भूदान यज्ञ की मूलभूत कल्पना को ग्रहण कर सकें तो मुझे आशा है कि धनवान भाई गरीबों का अवश्य ही आदर करेंगे और उन्हें भूमि प्रदान करेंगे। यदि यह आशा सफल हुई तो अहिंसक क्रांति को बहुत बड़ा बल मिलेगा।'

दिल्ली की इस यात्रा में भी विनोबा भूदान मांगते गए। उनके वहाँ पहुँचने तक १९ हजार एकड़ भूमि भूदान में मिल चुकी थी। मथुरा में उत्तर प्रदेश के कार्यकर्ताओं ने संकल्प किया कि भूदान की पहली किस्त के रूप में हम १ वर्ष के भीतर ५ लाख एकड़ भूमि एकत्र करेंगे। १३ से १६ अप्रैल, १९५२ तक सेवापुरी में सर्वोदय सम्मेलन हुआ। उसमें सर्व सेवा संघ

ने भूदान आंदोलन का दायित्व स्वयं उठा लिया और यह संकल्प किया कि सत्य और अहिंसा के आधार पर वर्गविहीन, शोषणहीन समाज की स्थापना के लिए हम भूमिहीनों के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त करने का प्रत्यन करेंगे और उसकी पहली किस्त के रूप में दो वर्ष के भीतर २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त करेंगे।

विनोबा की भूदान पदयात्रा चलने लगी। देश के सभी राज्यों में सर्वोदय कार्यकर्ता अपनी पूरी शक्ति से भूदान आंदोलन में जुट गये।

मई दिवस पर फैजाबाद में विनोबा ने कहा कि 'भूदान आंदोलन किसान-मजदूरों का ही आंदोलन है। जो लोग सबसे कमजोर हैं, बेजमीन हैं, बेजबान हैं, कृषक-मजदूर हैं, उन्हीं का यह आंदोलन है। ये लोग समाज में सबसे नीची श्रेणी के माने जाते हैं। सबसे नीचे स्तर के लोगों का सवाल उठाना ही, अन्त्योदय ही सर्वोदय का, अहिंसा का तरीका है। मैं अहिंसक तरीके से मालिक और मजदूर का भेद मिटाकर ऐसा वातावरण बनाना चाहता हूँ जिससे समता, न्याय, भूतदया और सहानुभूति की हवा फैल जाय और उससे शेष सभी मसले अपने आप हल हो जायँ।'

उत्तर प्रदेश में विनोबा ने ३७५० मील यात्रा की, २५७ गाँवों में पड़ाव किये। आम चुनाव के बावजूद भूदान आंदोलन चालू रहा। इस बीच १२ हजार दाताओं से २,९५,०२८ एकड़ भूमि भूदान में मिली। तबतक सारे देश में ४ लाख एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी थी। ११ सितंबर ५२ को काशी विद्यापीठ से निकलकर १३ सितंबर को विनोबा ने बिहार में प्रवेश किया।

ग्रामदान का श्रीगणेश

२३ मई, १९५२ को विनोबा उरई से निकलकर जब हमीरपुर की ओर बढ़े तो उन्होंने मंगरौठ गाँव के पास बेतवा नदी पार की। जलपान करके चलते समय उन्होंने मंगरौठवासियों को हाथ जोड़कर कहा—'सबै भूमि गोपाल की।'

मंगरौठ के प्रसिद्ध सेवक दीवान शत्रुघ्न सिंह ने अपने गाँव में विनोबा का पड़ाव नहीं रखा था। वे महीनों से गाँव वालों को समझा रहे थे कि हम लोग अपने गाँव की पूरी-की-पूरी भूमि भूदान में अर्पण करें। परंतु लोग झिझक रहे थे। विनोबा को हमने कुछ अर्पित नहीं किया, यह कसक मंगरौठ वालों को साल रही थी। दीवान साहब को लेकर वे अपने गाँव पर एकत्र हुए। खूब हृदयमंथन किया और दूसरे दिन सबने मिलकर भूदान के इतिहास में एक नया मोड़ ला दिया—ग्रामदान का। ६५ में से ६४ व्यक्तियों के दानपत्र

लाकर विनोबा को अर्पित करते हुए दीवान साहब बोले—लो बाबा, पूरे मंग-रौठ ग्राम का दान।[1]

जयप्रकाश नारायण ग्रामदान को साकार होते देख गद्‌गद हो गये—"जमीन का ग्रामीकरण! कैसी अद्‌भुत क्रांति!"[2]

भूदान तो सारे देश में अपने पैर पसार ही रहा था, अब ग्रामदान भी फैलने लगा। उत्तर प्रदेश की चिनगारी सबसे पहले उड़ीसा में जाकर जग-मगाने लगी।

आंदोलन का प्रवाह

जाड़ा, गर्मी, वरसात में अनवरत रूप से विनोबा की पदयात्रा चलती रही। 'चरैवेति, चरैवति' मंत्र के अनुसार वे धर्मचक्र प्रवर्तन करने लगे। दिन के मास और मास के वर्ष बनते चले। उत्तर से दक्षिण और कन्याकुमारी से कश्मीर—विनोबा की यात्रा भिन्न-भिन्न राज्यों में चलती रही।

फलश्रुति : ६ अप्रैल, १९६४ को तेरह साल बाद विनोबा ने अपनी प्रथम भारत यात्रा पूरी की। यह पदयात्रा ७ मार्च १९५१ को सेवा ग्राम से आरंभ की गयी थी और वहीं पर यह पूरी हुई। इस भूदान ग्रामदान पदयात्रा की फलश्रुति इस प्रकार रही—

भूदान में प्राप्त कुल भूमि	४२,२७,४७६ एकड़
,, ,, ,, भूमि में से वितरित भूमि	१०,७०,१६६ एकड़
ग्रामदानों की प्राप्ति	६८०७ ग्राम

पाकिस्तान में भूदान : १९६२ में सितंबर में असम से लौटते समय विनोबा का पाकिस्तान से होकर आने की अनुमति मिल गयी थी। ५ सितंबर से २१ सितंबर तक विनोबा ने पाकिस्तान में भी प्रेम का संदेश फैलाया। पहले पड़ाव पर विनोबा ने कहा—'पिछले साढ़े ग्यारह साल से मैं पदयात्रा कर रहा हूँ। सारे भारत का मैंने भ्रमण किया है। इस वृद्धावस्था (६७ वर्ष) में भी मैं पैदल चल रहा हूँ। मेरा उत्साह घटता नहीं, क्योंकि मैं दुःखियों का दुःख सुखियों के आगे रखता हूँ। सुखियों से मैं कहता हूँ कि दुःखियों का दुःख दूर करो और भूखे को भोजन पैदा करने का साधन दो। जिन लोगों के पास जमीन है, वे उसका कुछ हिस्सा गरीबों को दे दें। अब तक मुझे ४० लाख एकड़ जमीन मिली है। इसे भूमिहीनों में बाँटा जा रहा

१. श्रीकृष्ण दत्त भट्ट : चलो चलें मंगरौठ

२. जयप्रकाश नारायण : समता की खोज में, पृष्ठ ५४ ५६

है। ईश्वर को 'रहमानुर रहीम'—दयालु करुणामय—कहा जाता है। हम यदि दूसरों के दु:ख पर दया न करें, तब भगवान की दया किस तरह पायेंगे ?

विनोबा की अपील पर अब्दुल खलिक मुंशी उनके पास आकर बोले—"मेरे पास कुल चार एकड़ जमीन है, घर में कई लोगों का पालन करना है। फिर भी मैं एक बीघा जमीन दूँगा।" दानपत्र लिखते समय वे बोले—"एक बीघा के बजाय एक एकड़ लिखिये। एक एकड़ न होने से जमीन पाने वाले का काम कैसे चलेगा ? उसके पास तो रहने को भी जमीन नहीं है!" दाता ने जमीन की रजिस्ट्री की फीस १२ रु० देना भी स्वीकार किया।

दानपत्र मिलने पर विनोबा ने दाता के कंधे पर हाथ रखकर कहा—'मैं अल्लाह से दुआ करूँगा कि वह आपको आशीर्वाद दे!' यह सुनकर दाता की आँखों से अश्रुधारा बह निकली।

पाकिस्तान यात्रा के बीच ३७ दाताओं से १७५॥ बीघा जमीन भूदान में मिली जो उसी समय आदाताओं में वितरित कर दी गयी।

ग्रामदान से राज्यदान

ग्रामदान आंदोलन भूमि के स्वामित्व के विसर्जन का आंदोलन है। पूरा ग्राम जब अपने ग्रामवासियों की पृथक्-पृथक् मालकियत का त्याग कर ग्राम-सभा की मालकियत स्वीकार कर लेता है और उसमें से भूमिहीनों की समस्या समाप्त करने का संकल्प कर लेता है तो ग्रामदान होता है। किसी प्रखंड में जब अधिक मात्रा में ग्रामदान होने लगते हैं और एक निश्चित प्रतिशत तक हो जाते हैं तो प्रखंडदान मान लिया जाता है। इसी तरह जिला दान और फिर राज्यदान का प्रयत्न किया जाता है। अगस्त ६५ से विनोबा की प्रेरणा से बिहार में ग्रामदान तूफान चला। उसके चलते २०-२९ अक्टूबर, १९६९ को राजगृह सर्वोदय सम्मेलन में बिहारदान की घोषणा की गयी। जुलाई १९७१ तक १,६८,०५८ ग्रामदान और १२४९ प्रखंड दान हो चुके थे।

पंचविधदान

विनोबा ने जब भूदान की रट लगायी तो कुछ लोग उनसे पूछने लगे कि उनके पास भूमि नहीं है, तो वे भूदान यज्ञ में किस प्रकार योगदान करें ? विनोबा ने कहा कि भूमि नहीं तो चिंता करने की बात नहीं। धन से भूमि खरीद कर दान की जा सकती है। नहीं तो संपत्ति का दान किया जा सकता है, श्रम का दान किया जा सकता है बुद्धि का दान किया जा सकता है,

प्रेम का दान किया जा सकता है। जिसके पास जो संपत्ति है उसमें का कोई अंश वह दान कर सकता है। मनुष्य के पास पाँच प्रकार की संपत्तियाँ हैं— अचल संपति जैसे भूमि; चल संपत्ति जैसे रुपया, पैसा, सोना, चाँदी; शरीर, बुद्धि, और हृदय। हर आदमी के पास इनमें से एक या अधिक संपत्तियाँ होती हैं। जो लोग शरीर से अपंग हों, निर्धन हों, बेजमीन हों, बुद्धिहीन हों, हृदय उनके पास भी तो होता ही है। हृदय में प्रेम का जो सागर लहराता है, उसका आश्चर्यजनक सदुपयोग किया जा सकता है। प्रेमदान तो सबसे बढ़कर दान है।

संपत्तिदान—विनोबा ने संपत्तिदान में सामान्य दानों से कुछ विशिष्टताएँ रखी हैं। जैसे, आय या व्यय में से कुछ अंश देना; दाता पर ही विनियोग का दायित्व; दाता द्वारा यह अनुभूति कि मुझे समाज की सेवा का यह अवसर मिला, यह समाज का मुझ पर उपकार हुआ। वह अपने दान के वार्षिक व्यय का हिसाब भूदान समिति या विनोबा को भेजता रहता है। संपत्ति दान में गरीब और अमीर, दोनों ही मालकियत का विसर्जन करते हैं और सपत्ति को समाज की संपत्ति मानते हैं।

१९५२-१९५३ से फरवरी, १९६२ तक १ लाख ६७ हजार रुपये का संपत्तिदान प्राप्त हुआ। आज भी संपत्तिदान की यह धारा बह रही है। भूमि प्राप्त करने वालों को साधन दान देने में, हरिजन सेवा में, ग्रामोद्योगों के प्रसार आदि में उसका विनियोग होता है।

श्रमदान—जिसके पास शरीर है, उससे विनोबा श्रमदान माँगते हैं। कुदाली हो या चरखा, श्रमदान द्वारा पुनर्निमाण का बहुत कार्य हो रहा है।

बुद्धिदान—जिनके पास विद्या, बुद्धि है, ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग के लोग दीन-दुःखियों की सेवा के लिए नाना प्रकार से अपनी बुद्धि का दान करते हैं। पढ़े-लिखे लोग विद्यादान देते हैं। वकील शोषितों और पीड़ितों की निःशुल्क पैरवी करते हैं। डाक्टर गरीबों की मुफ्त में चिकित्सा करते हैं।

प्रेमदान—भूदान आंदोलन प्रेम की नींव पर ही प्रतिष्ठित है। इस प्रेम का जितना अधिक विस्तार होता चलेगा; उतना ही यह आंदोलन व्यापक और गहरा होता जायगा। 'अहिंसक क्रांति के लिए जीवन समर्पण'—जीवन-दान करना इस दान का सर्वोत्तम कलश है।

भूदान, संपत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान, प्रेमदान, जीवनदान तो चल ही रहे हैं, विनोबा का नवीनतम प्रयास है—उपवास

उपवास दान

दान। महीने में एक या दो दिन उपवास करना और बची हुई रकम सर्व सेवा संघ को भेजना 'उपवास दान' है। सर्व सेवा संघ आगे इसी उपवास दान पर चलना चाहता है।

दान की प्रक्रिया

प्रत्येक दान के लिए दाता को तदनुकूल संकल्प करना पड़ता है, और उसके लिए दानपत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ता है। यही इस दान धारा की मूल प्रक्रिया है।

भूदान का दानपत्र

भूदान के दानपत्र मे दाता अपनी भूमि का विवरण देते हुए लिखता है की अमुक जमीन पर मेरा कानूनी हक है। इसमें से मैं अमुक खेत या अमूक खेत का अमुक अंश विनोबा जी द्वारा आरंभ किये गये भूदान यज्ञ में विचार-पूर्वक अपनी खुशी से दान दे रहा हूँ। इस दान में दी हुई जमीन पर आयंदा मेरा या मेरे खानदान या वारिसान का कोई हक या दावा नहीं रहेगा। यह जमीन गरीबों की भलाई के लिए विनोबा जी जिस तरह चाहें उपयोग में ला सकते हैं।

ग्रामदान का दानपत्र

ग्राम के ७५ प्रतिशत भूमिवालों और ७५ प्रतिशत व्यस्क स्त्री-पुरुषों के दानपत्र पर हस्ताक्षर होने पर 'ग्रामदान' लिया जाता है। ग्रामदान के घोषणा पत्र में उसका जिला, अंचल, थाना आदि देते हुए घोषणा की जाती है कि हम इस ग्राम के निवासी विनोबा जी द्वारा प्रवर्तित ग्राम स्वराज्य के विचार को अच्छी तरह समझ-बूझकर अपने गाँव के लिए ग्रामदान करते हैं और इस उद्देश्य के निमित्त—

१. हम अपनी कृषि योग्य भूमि का कम-से-कम बीसवाँ भाग यानी बीघे में एक कट्ठा या हमारे गाँव के सब भूमिहीनों को गुजारे लायक भूमि मिले, इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर ग्राम सभा जो ठहराये, उतनी भूमि अपने गाँव के भूमिहीन भाइयों के लिए देते हैं।

२. हम अपनी भूमि की मालकियत का अधिकार ग्राम सभा को समर्पित करते हैं, लेकिन भूमिहीनों के लिए कम-से-कम बीसवाँ भाग या जो ग्राम

सभा ठहराये, उतना निकाल देने के बाद जो भूमि हमारे पास रहेगी, वह हमारी या हमारी संतति की सम्मति के बिना हस्तांतरित नहीं की जा सकेगी, इस जमीन की न तो अब बिक्री हो सकेगी और न वह बंधक रखी जा सकेगी।

३. हम अपनी दखल वाली भूमि की उपज का चालीसवाँ भाग ग्राम कोष या ग्राम निधि के लिए ग्राम सभा को देंगे। इस पूँजी से गाँव के निराश्रितों, और अनाथों के लिए व्यवस्था, शिक्षा का प्रबंध तथा गाँव की आर्थिक उन्नति के लिए ग्रामोद्योग आदि की स्थापना और उसका विकास किया जायगा।

४. गाँव के प्रत्येक परिवार से एक व्यक्ति अथवा गाँव के प्रत्येक वयस्क को सम्मिलित कर हम ग्राम सभा का गठन करते हैं। यह ग्राम सभा ग्राम माता की तरह गाँव के सब लोगों की देखभाल करेगी। ग्राम सभा का संचालन सर्वसम्मति अथवा सर्वानुमति से होगा।

त्रिविध परिवर्तन

भूदान के आरंभिक दिनों में भूदान के लक्ष्य की व्याख्या करते हुए विनोबा कहते थे कि भूदान द्वारा मैं त्रिविध परिवर्तन करने को उत्सुक हूँ—

१. हृदय-परिवर्तन,

२. जीवन-परिवर्तन और

३. समाज-रचना में परिवर्तन।

सर्वोदय का लक्षण

विनोबा ने सर्वोदय के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

सबै भूमि गोपाल की।
सारा गाँव साफ-सुथरा।

झगड़ा नहीं। व्यसन नहीं।
सब मिलकर एक परिवार।
मुख में नाम। हाथ में काम।
यह है सर्वोदय का लक्षण।

इसमें भूमि का स्वामित्व विसर्जन, चरखा, खादी और ग्रामोद्योगों का प्रसार, स्वास्थ्य और सफाई, झगड़ा मुक्ति, व्यसन मुक्ति पारिवारिक भावना, ईश्वर निष्ठा और श्रमनिष्ठा आदि वे सभी बातें आ जाती हैं जो सच्चे सामुदायिक विकास के लिए आवश्यक हैं।

गाँधी के सपनों के भारत में ग्राम-स्वराज्य की जो कल्पना थी; वह कल्पना भूदान ग्रामदान आंदोलन में मूर्तिमान हो रही है। इस आंदोलन का ग्रामीण जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ रहा है।

ग्राम-स्वराज्य

गाँधी विद्या संस्थान और सर्व सेवा संघ के एक अध्ययन दल ने ग्रामदान और प्रखंडदान के संबंध में १९६९ ई० में जो रिपोर्ट प्रकाशित की हैं, उससे स्पष्ट है कि इस आंदोलन में ग्राम समुदाय के सर्वांगीण विकास की शक्यताएँ हैं।[१] बिहार, उड़ीसा और तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों का इन लोगों ने वैज्ञानिक अध्ययन करके अपने निष्कर्ष निकाले हैं। इनमें से कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. तीनों राज्यों के प्रत्यार्थी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ग्राम का *सर्वांगीण विकास ग्रामदान के साथ जुड़ा हुआ है।*

२. ग्रामदान का उद्देश्य है : धनवान की अवहेलना न करते हुए सामाजिक और आर्थिक समता लाते हुए गरीब को लाभ पहुँचाना।

३. ग्रामदान है—विकेंद्रित, कल्याणाभिमुख, समतावादी, सामाजिक लक्ष्यों पर आधृत समाज-रचना का प्रयत्न।

ग्रामदान का प्रभाव

'ग्रामदान का ग्रामीण जीवन के किन पक्षों पर विशेष भाव पड़ता है?'—इस प्रश्न के उत्तर में अध्ययन दल को प्रत्यार्थियों ने बताया—

१. ग्रामदान से गरीबों का लाभ होता है।

२. भूमिहीनों को भूमि प्राप्त होती है।

३. गाँव का सुसंयोजित और सर्वांगीण विकास होता है।

४. आर्थिक उन्नति होती है। बेकारों को काम मिलता है। कृषि में सुधार होता है। अन्न तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

५. राजनीतिक और सामाजिक प्रगति होती है।

६. लोक शक्ति शक्तिशाली बनती है।

'ग्रामदान से किन परिवर्तनों की अपेक्षाएँ हैं?'—इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया—

१. शक्ति और सत्ता जनता के हाथ में आयेगी।

---

१. बिश्ववंधु चटर्जी आदि, ग्रामदान एण्ड पीपुल, : १९६९,

२. सामाजिक असमानता मिटेगी ।

३. आर्थिक असमानता मिटेगी । कृषि में उन्नति होगी । ग्रामोद्योग पनपेंगे । ग्रामीण बेकारी मिटेगी ।

४. भूमिहीनों को भूमि मिलेगी ।

५. सामान्य जीवन स्तर सुधरेगा । स्वास्थ्य-सफाई में सुधार होगा । सार्वजनिक सुविधाएँ बढ़ेंगी ।

६. शिक्षा की स्थिति में सुधार होगा ।

७. सामुदायिक सद्‌भाव बढ़ेगा । सहकारिता, अभिक्रम, सहयोग और पारस्परिक विश्वास बढ़ेगा ।

८. नैतिक उन्नति होगी । परहित की भावना बढ़ेगी ।

९. लोक नेतृत्व पनपेगा ।

१०. अंधविश्वास, बाल अपराध, यौन अपराध, आदि कम हो कर सद्-गुणों का विकास होगा ।

११. ग्रामदान-प्रखंडदान से ग्राम स्वराज्य की प्राप्ति में सहायता मिलेगी ।

जो कार्यकर्ता प्रत्यक्ष रूप से भूदान आंदोलन में रात-दिन संलग्न हैं, उन्होंने एकमत से यह स्वीकार किया कि इस आंदोलन से—

१. ग्रामीण जीवन में आमूल परिवर्तन होगा ।

२. इससे निर्धनता, मतभेद, पारस्परिक झगड़े मिटेंगे । ग्रामीण बेकारी का अन्त होगा ।

३. भूमिहीनों को भूमि मिलेगी । गाँवों की आर्थिक उन्नति होगी ।

४. ग्राम कोष से ग्रामीणों का लाभ होगा ।

५. ग्राम समुदाय को ऋण से, सरकारी सहायता से, रिश्वत से और शोषण से मुक्ति मिलेगी ।

६. ग्रामवासी अपने भाग्य का स्वयं निर्णय कर सकेंगे और एक नवीन समाज-व्यवस्था का सृजन होगा ।

यह अवश्य है कि भूदान-ग्रामदान आंदोलन जनाधारित आंदोलन है, उसके पास पैसों की भी कमी है, कार्यकर्ताओं की भी । साधनों की भी कमी

है। फिर भी उसने सारे देश में व्यापक रूप से समाज परिवर्तन की हवा फैला दी है, यह उसके कार्यकर्ताओं की निष्ठा का प्रमाण है। जनता इस आंदोलन से प्रभावित होकर आत्म-निर्भरता की दिशा में बढ़ रही है। अपने पैरों पर खड़ी होकर लोक शक्ति का विकास कर रही है। सर्वसम्मति अथवा सर्वानुमति के द्वारा निर्णय करने की पद्धति से राजनीति को नयी दिशा मिल रही है।

शांति सेना

भूदान-ग्रामदान आंदोलन का त्रिविध कार्यक्रम है। उसमें सुलभ ग्रामदान, खादी और शांति सेना का विस्तार और विकास है। ग्रामदान और ग्रामोद्योगों का विस्तार होने से ग्रामस्वराज्य का मार्ग प्रशस्त होगा और शांति सेना से अशांति का शमन होगा। शांति सेना अहिंसक सेना है जिसका लक्ष्य सभी प्रकार के तनावों, संघर्षों और उपद्रवों का अहिंसक रीति से शमन करना है। शांति सैनिक अपने प्राणों पर खेल कर शांति की रक्षा करेगा। शांति सेना का कार्य दिन-दिन सारे देश में व्यापक हो रहा है। उसने युवकों को इस दिशा में मोड़ने के लिए 'तरुण शांति सेना' का कार्य भी आरंभ कर दिया है।

विश्वशांति

भूदान-ग्रामदान आंदोलन भारत में ग्राम स्वराज्य की स्थापना से ही संतुष्ट नहीं होगा, उसका लक्ष्य है—सारे विश्व में शांति की स्थापना। आज विश्व के विभिन्न अंचलों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सामुदायिक, धार्मिक आदि अनेक तनाव और संघर्ष हैं। भारत के शांति सैनिक केवल भारत में ही नहीं, सारे विश्व में शांति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। शांति सेना मंडल समय-समय पर अपने शांति सैनिकों को विश्व के विभिन्न देशों में शांति कार्य के लिए भेजता रहता है। विनोबा ने सर्वोदय पात्र की जो योजना चालू की है, उसमें एक मुट्ठी अन्न डालने की मांग को उन्होंने विश्वशांति का ही वोट माना है।

स्पष्ट है कि भूदान-ग्रामदान आंदोलन में भारत के ग्राम समुदाय के पुनर्निर्माण की भरपूर शक्यताएँ हैं। उससे देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का निराकरण होगा और अनैतिकता की समाप्ति होकर सत्य, प्रेम और करुणा का राज्य होगा। अभीतक की भूदान की उपलब्धियाँ

इस बात के प्रमाण हैं। आवश्यकता है इस आंदोलन की कमियों और कमजोरियों को दूर करने की। जनता का यह आंदोलन जनता द्वारा परिपुष्ट होकर केवल भारत का नहीं, सारे विश्व का कल्याण करने में समर्थ होगा। उसका लक्ष्य ही है सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न रहे। कोई रोगी न रहे। सब सुखी हों—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख आप्नुयात्॥

●